hpq.3

Q11
152L2·4
१४६६
दयानन्द सरस्वती, भाषा
...ंड४

Q11 पुस्तक नं- ६८२
152L2·4 १४५६६

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त
तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर
प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

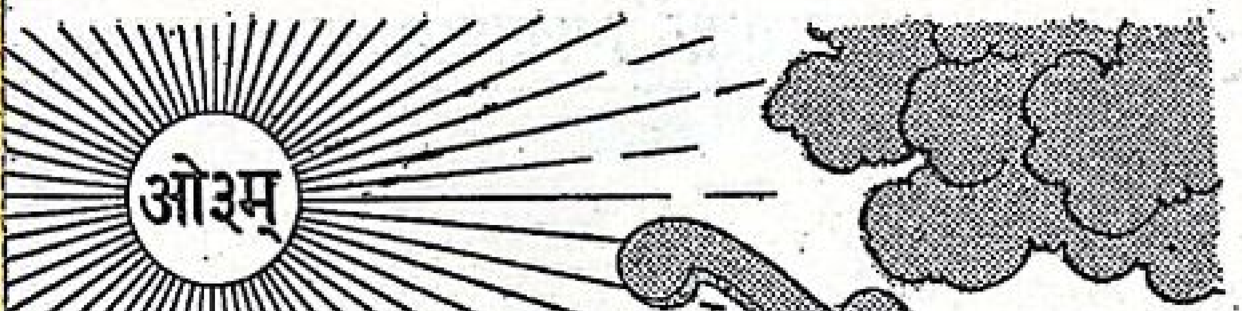

ऋग्वेद

भाषा भाष्य

पुस्तक नं. ८८२

आर्यसमाज स्थापना-शताब्दी-प्रकाशन

811
152L2·4

प्रकाशक
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१

[४]

ऋग्वेद (आर्यभाषा-भाष्य)

(सप्तम-अष्टम मण्डल)

आर्यसंवत् १९७२९४९०७४
विक्रमाब्द २०३१
दयानन्दाब्द १५०

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वाराणसी।
आगत क्रमांक...... 1666
दिनांक......... 18/12/80

मूल्य ३० रुपये

मुद्रक
सार्वदेशिक प्रेस
पटौदी हाऊस, दरियागंज, दिल्ली-६

प्राक्कथन

श्रीमती सार्वदेशिक आ० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी-वेदभाष्य-ग्रन्थमाला का यह चतुर्थ भाग पाठकों के हाथों में आ रहा है। इस ग्रन्थमाला के इस चौथे भाग में महर्षिदयानन्दकृत ऋग्भाष्य (मण्डल ७, सूक्त ६१ मंत्र २) से आगे शेष ७वें मण्डल का तथा ८वें मण्डल का भाषा-भाष्य दिया गया है। स्व० पं० आर्यमुनिजीकृत वेदभाष्य ७वें मण्डल तथा ८वें मंण्डल के २९वें सूक्त तक उपलब्ध है; इससे आगे ८१वें सूक्त तक (कुछ सूक्तों व मंत्रों को छोड़कर) का भाष्य स्व० पं० शिवशङ्कर जी का उपलब्ध है; इन स्वर्गीय आर्य पण्डितों के उपलब्ध भाष्यों में से इन मंत्रों का भाषाभाष्य लिया गया है। ८वें मण्डल के शेष ५०० मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद श्री पं० हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार को सौंपा गया था। इस संग्रह में पं० हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार-कृत जिन मन्त्रों का भाषानुवाद प्रकाशित किया गया है वे इस प्रकार हैं:—सम्पूर्ण सूक्त—३०, ३२—३४, ३६—३८, ४०, ४९—५९ तथा ८२—१०३। विविध मन्त्र—सूक्त ३१ मं० सं० १; सू० ४६ मं० सं० २७ से ३३ तक; सूक्त ६९ मं० सं० १० से १८ तक; तथा सूक्त ७२ मं० सं० ४—१८ तक। सभा माननीय पण्डितजी के इस सहयोग के लिये आभारी है।

आर्यजनों से विशेष निवेदन है कि वे महर्षि दयानन्द की इस कल्पना को कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, इसका पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है" साकार रूप देने में सार्वदेशिक सभा को सक्रिय सहयोग देते हुए, वेदों को 'प्रत्येक आर्य' परिवार, स्कूल-कालेज पुस्तकालय आदि में पहुँचाये और वेदों के नित्य स्वाध्याय में रुचि उत्पन्न करने के निमित्त प्रत्येक आर्यसमाज अपने यहां संस्कृत भाषा के अध्ययन तथा वेदोपदेश की समुचित व्यवस्था करे। सभा अपने परिश्रम को तभी सफल अनुभव करेगी जब कि आर्य ही नहीं अपितु अन्य जन भी अपने हितार्थ वेदों का नित्य स्वाध्याय करने को अपना परम धर्म समझने लगें।

ओम्प्रकाश त्यागी

मन्त्री, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली—१

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

अथर्व०१९-७१-१

स्तुति करते हम वेद ज्ञान की,
जो माता है प्रेरक~पालक,
पावन करती मनुज मात्र को।
आयु, बल, सन्तति, पशु कीर्ति,
धन, मेधा, विद्या का दान।
सब कुछ देकर हमें दिया है,
मोक्ष मार्ग का पावन ज्ञान।

शुक्ल

हे कृपानिधे !

सर्वात्मा सच्चिदानन्दो-
ऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः ।
भूयात्तमां सहायो नो
दयालुः सर्वशक्तिमान् ॥१॥

व्याख्या—जो परमात्मा, सबका आत्मा, सत् चित् आनन्दस्वरूप, अनन्त, अज, न्यायकारी, निर्मल, सदा पवित्र, दयालु, सब सामर्थ्यवाला, हमारा इष्टदेव है वह हमको सहाय नित्य देवे, जिससे महाकठिन काम भी हम लोग सहज से करने को समर्थ हों । हे कृपानिधे ! यह काम हमारा आप ही सिद्ध करने वाले हो, हम आशा करते हैं कि आप अवश्य हमारी कामना सिद्ध करेंगे ।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

* ओ३म् *

ऋग्वेद-भाषाभाष्यम् ॥

—:०❀:❀:०❀०❀०:—

सप्तमं मण्डलम् ॥

—: ❀ :—

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।

यद्भद्रं तन्न आसुव ॥१॥

अब परमात्मा अध्यापक तथा उपदेशकों के कर्तव्य कर्मों का उपदेश करते हैं ॥

प्रोरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः प्रदिव ऋष्वाद्बृहतः सुदानू ।

स्पशो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वृधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा ॥३॥

पदार्थः—(मित्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम (प्रोरोः) विस्तृत (पृथिव्याः) पृथिवी और (ऋष्वात्) बड़े (प्रदिवः) द्युलोक की विद्याओं का वर्णन करो (यतः) क्योंकि आप लोग (बृहतः) बड़े-बड़े (सुदानू, स्पशः) दानी महाशयों के भावों को (दधाथे) धारण किये हुए हो, और (ओषधीषु) ओषधियों द्वारा (अनिमिषं) निरन्तर (विक्षु) संपूर्ण संसार की (रक्षमाणा) रक्षा करो ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम सत्य का प्रचार तथा ओषधियों=अन्नादि द्वारा प्रजा का भले प्रकार रक्षण करो अर्थात् अपने सदुपदेश द्वारा मानस रोगों की और ओषधियों द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा करके संसार में सर्वथा सुख फैलाने का उद्योग करो ॥३॥

शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा ।

अयन्मासा अयज्वनामवीराः प्रयज्ञमन्मा वृजनं तिराते ॥४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम (मित्रस्य, वरुणस्य, धाम) अध्यापक तथा उपदेशकों

के पदों को (शंस) प्रशंसित करो। (शुष्मः) जिनका बल (रोदसी) द्युलोक तथा पृथ्वीलोक में (महित्वा) महत्त्व के लिए (ववृधे) संसार की मर्य्यादा बांधे (अयज्वनां) अयज्ञशील—अकर्मी (अवीराः) वीर सन्तानों से रहित होकर (मासाः) दिन (अयन्) व्यतीत करें और (प्रयज्ञमन्मा) विशेषता से यज्ञशील सत्कर्मी पुरुष (वृजनं) सब विपत्तियों से मुक्त होकर (तिराते) जगत् का उद्धार करें ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! संसार में सबसे उच्च पद अध्यापक तथा उपदेशकों का है, तुम लोग इनके पद की रक्षा के लिए यत्नवान् होओ ताकि इनका बल बढ़कर संसार के सब अज्ञानादि पापों का नाशक हो, और संसार मर्यादा में स्थिर रहे ॥४॥

अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम् ।

द्रुहः सचंते अनृता जनानां न वां निण्यान्यचिते अभूवन् ॥५॥

पदार्थः—(यासु) जिन उपदेशक तथा अध्यापकों की क्रिया में (चित्रं) विचित्र शक्तियें (न, ददृशे) नहीं देखी जातीं (न, यक्षं) न जिनमें श्रद्धा का भाव है वे (विश्वा) सम्पूर्ण संसार में (इमाः, वृषणौ) अपनी वाणी की वृष्टि (न) नहीं कर सकते, और जो (वां) तुम्हारे उपदेशक तथा अध्यापक (जनानां) मनुष्यों की (अनृता, द्रुहः, सचंते) निन्दा वा दुश्चरित्र कहते हैं उनकी (निण्यानि) वाणियें (अचिते, अभूवन्) अज्ञान की नाशक नहीं होतीं, इसलिये (अमूरा) तुम लोग पूर्वोक्त दोषों से रहित होओ, यह परमात्मा का उपदेश है ॥५॥

भावार्थः—जिन अध्यापक वा उपदेशकों में वाणी की विचित्रता नहीं पाई जाती और जिनकी वेदादि सच्छास्त्रों में श्रद्धा नहीं है उनके अज्ञान-निवृत्तिविषयक भाव संसार में कभी नहीं फैल सकते और न उनकी वाणी वृष्टि के समान सद्गुणरूप अंकुर उत्पन्न कर सकती है, इसी प्रकार जो अध्यापक वा उपदेशक रात्रि दिन निन्दास्तुति में तत्पर रहते हैं वह भी दूसरों की अज्ञानग्रन्थियों का छेदन नहीं कर सकते, इसलिए उचित है कि उपदेष्टा लोगों को निन्दास्तुति के भावों से सर्वथा वर्जित रहकर अपने हृदय में श्रद्धा के अंकुर दृढ़तापूर्वक जमाने चाहियें, ताकि सारा संसार आस्तिक भावों से विभूषित हो ॥५॥

अब परमात्मा उपदेशकों के वेदवाणीयुक्त होने का उपदेश करते हैं ॥

समु वां यज्ञं महयं नमोभिर्हुवे वां मित्रावरुणा सबाधः ।

प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ॥६॥

पदार्थः—(मित्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशको (सबाधः) मैं जिज्ञासु (वां) तुम्हारे (महयं, यज्ञं) प्रशंसनीय यज्ञ को (सं, उ) भले प्रकार (नमोभिः) सत्कारपूर्वक (हुवे) ग्रहण करता हूँ। (वां) आपके (नवानि) नये (मन्मानि) व्याख्यान (प्र ऋचसे) पदार्थ ज्ञान के बढ़ाने वाले हैं, और (वां) आपके (कृतानि) दिये हुए (इमानि) ये व्याख्यान (ब्रह्म,जुजुषन्) परमात्मा के साथ जोड़ते हैं ॥६॥

भावार्थः—हे अध्यापक तथा उपदेशको ! मैं जिज्ञासु तुम्हारे यज्ञों को सत्कारपूर्वक स्वीकार करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि आपके उपदेश मुझे ब्रह्म की प्राप्ति करायें ॥६॥

इ॒यं दे॑व पु॒रोहि॑तिर्यु॒वभ्यां॑ य॒ज्ञेषु॑ मित्रावरुणावकारि ।

विश्वा॑नि दु॒र्गा पि॑पृतं ति॒रो नो॑ यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥७॥

पदार्थः—(मित्रावरुणौ, युवभ्यां) अध्यापक और उपदेशक आप दोनों (यज्ञेषु) यज्ञों में (इयं, देव, पुरोहितिः) सब विद्वानों के हित करने वाली वाणी (अकारि) कथन करें और (नः) हमारी (विश्वानि, दुर्गा) सब प्रकार की विषमता को (तिरः) तिरस्कार करके (पिपृतं) नष्ट करें, (यूयं) आप लोग (नः) हमको (सदा) नित्यप्रति (स्वस्तिभिः) अपनी मंगलप्रद वाणियों से (पात) कल्याणदायक उपदेश करते रहें ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों प्रकार के यज्ञों में अध्यापक तथा उपदेशक ही पुरोहित का कार्य करते और यही जनता=जनसमूह को सब विघ्नों से बचाकर उसकी रक्षा करते हैं, इसलिए जनता को समष्टिरूप से इनसे स्वस्ति की प्रार्थना करनी चाहिए ॥७॥

सप्तम मण्डल में इकसठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्य द्विषष्टितमस्य सूक्तस्य १-६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १-३ सूर्यः । ४-६ मित्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१,२,६ विराट्त्रिष्टुप् । ३,४,५ निचृत्त्रिष्टुप् ॥धैवतः स्वरः॥

अब इस सूक्त में सर्वप्रकाशक परमात्मा का वर्णन करते हैं ॥

उत्सूर्यो॑ बृ॒हद॒र्चींष्य॑श्रेत्पु॒रु विश्वा॒ जनि॑म॒ मानु॑षाणाम् ।

स॒मो दि॒वा द॑दृशे॒ रोच॑मान॒ः क्रत्वा॑ कृ॒तः सुकृ॑तः क॒र्तृभि॑र्भूत् ॥१॥

पदार्थः—(सूर्यः) सब के उत्पादक परमात्मा का (बृहत्, अर्चींषि) बड़ी ज्योतियां (अश्रेत्) आश्रय करती हैं जो (विश्वा, मानुषाणां) निखिल ब्रह्माण्ड में

स्थित मनुष्यों के (पुरु, जनिम) अनन्त जन्मों को (दद्दशे) जानता और (समः, दिवा) सदा ही (रोचमानः) स्वतःप्रकाश है, वही (क्रत्वा कृतः) यज्ञरूप है और (कर्तृभिः) इस चराचर ब्रह्माण्ड की रचना ने जिसको (सुकृतः, भूत्) सर्वोपरि रचयिता वर्णन किया है ॥१॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम उसी एकमात्र परमात्मा का आश्रयण करो जो सब मनुष्यों के भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान जन्मों को जानता, सदा एकरस रहता और जिसको इस चराचर ब्रह्माण्ड की रचना प्रतिदिन वर्णन करती है, वही स्वतःप्रकाश परमात्मा मनुष्यमात्र का उपास्यदेव है। इसी भाव से "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च०" यजु० १३।४६ में परमात्मा का सूर्य नाम से वर्णन किया है ॥१॥

अब परमात्मप्राप्ति के साधन कथन करते हैं ॥

स सूर्य प्रति पुरो न उद्गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः ।
प्र नो मित्राय वरुणाय वोचोऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च ॥२॥

पदार्थः—(सूर्य) हे परमात्मन् (सः) आप (एभिः, स्तोमेभिः) इन यज्ञों से (नः) हमारे (प्रति, पुरः) हृदय में (उद्गाः) प्रकट हों। (एतशेभिः) जो निष्काम कर्म द्वारा साधन किये जाते हैं उनका (एवैः) निश्चय करके (नः) हमारे (मित्राय, वरुणाय) अध्यापक, उपदेशक (अर्यम्णे) न्यायकारी (च) और (अग्नये) विज्ञानी पुरुषों के लिये (प्र, वोचः) उपदेश करें कि तुम (अनागसः) संसार में निष्कामता का प्रचार करो जिससे विद्वानों के समक्ष निर्दोष सिद्ध हो ॥२॥

भावार्थः—जपयज्ञ, योगयज्ञ तथा ध्यानयज्ञ इत्यादि यज्ञ परमात्म-प्राप्ति के साधन हैं जिनके द्वारा निष्कामकर्मी को परमात्मा की प्राप्ति होती है, इस मन्त्र में परमात्मा अध्यापक, उपदेशक तथा विज्ञानी पुरुषों को उपदेश करते हैं कि तुम लोग इन यज्ञों का प्रचार करो ताकि निष्कामता फैलकर संसार का उपकार हो ॥२॥

वि नः सहस्रं शुरुधो रदन्त्वृतावानो वरुणो मित्रो अग्निः ।
यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कमा नः कामं पूपुरन्तु स्तवानाः ॥३॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (स्तवानाः) यथार्थगुणसम्पन्न (वरुणः) उपदेशक (मित्रः) अध्यापक (अग्निः) विज्ञानी (चन्द्राः) प्रसन्नता देने वाले विद्वान् (नः, कामं) हमारी कामनाओं को (पूपुरन्तु) पूर्ण करें (आ) और (वि) विशेषता से (नः) हमको

(सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के (शुरुधः) सुख (यच्छन्तु) दें (ऋतावानः) सत्यवादी विद्वान् (नः) हमको (उपमं, अर्कं) अनुपम परमात्मा का ज्ञान (रदन्तु) प्रदान करें ॥३॥

भावार्थः—इस मंत्र में प्रकाशस्वरूप परमात्मा से यह प्रार्थना है कि हे भगवन्! आप,हमको अध्यापक, उपदेशक, ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानों द्वारा सत्य का उपदेश करायें और अनन्त प्रकार का सुख, सत्यादि धन और जीवन में पवित्रता दें ताकि हम शुद्ध होकर आपकी कृपा के पात्र बनें ॥३॥

द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नो ये वां जज्ञुः सुजनिमान ऋष्वे ।
मा हेळे भूम वरुणस्य वायोर्मा मित्रस्य प्रियतमस्य नृणाम् ॥४॥

पदार्थः—(द्यावाभूमि) हे प्रकाशस्वरूप, सर्वाधार, (अदिते) अखण्डनीय परमात्मन्! आप (नः) हमारी (त्रासीथां) रक्षा करें, (ऋष्वे) हे सर्वोपरिविराजमान जगदीश्वर! (ये, सुजनिमानः) जो मनुष्यजन्म वाले हमने (वां) आपको (जज्ञुः) जाना है, इसलिए (वरुणस्य, वायोः) अपान वायु (नृणां, प्रियतमस्य) जो मनुष्यों को प्रिय है उसका कोप (मा) न हो और (मित्रस्य) प्राण वायु का भी (हेळे) प्रकोप (मा, भूम) मत हो ॥४॥

भावार्थः—हे सर्वोपरि वर्त्तमान परमात्मन्! आप सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, हमने मनुष्यजन्म पाकर आपको लाभ किया है इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि हम पर प्राणवायु का कभी प्रकोप न हो और न ही हम पर कभी अपानवायु कुपित हो, इन दोनों के संयम से हम सदैव आपके ज्ञान का लाभ उठायें अर्थात् प्राणों के संयमरूप प्राणायाम द्वारा हम आपके ज्ञान की वृद्धि करते हुए प्राणापान वायु हमारे लिये कभी दुःख का कारण न हो, यह प्रार्थना करते हैं ॥४॥

अब स्वभावोक्ति अलंकार से प्राणापान को संबोधन करके
इन्द्रियसंयम की प्रार्थना करते हैं ॥

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन ।
आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा ॥५॥

पदार्थः—(मित्रावरुणा) हे प्राणापानरूप वायो! आप (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के लिये (प्र) विशेषता से (बाहवा, सिसृतं) प्राणापानरूप शक्ति को विस्तारित करें (आ) और (नः) हमारी (गव्यूतिं) इन्द्रियों को (घृतेन, उक्षतं) अपनी स्निग्धता से सुमार्ग में सिंचित करें। हे प्राणापान! आप नित्य (युवाना) युवावस्था

को प्राप्त हैं इसलिये (नः, जने) हमारे जैसे मनुष्यों में (अवयतं) ज्ञानगति बढ़ायें (आ) और (मे) हमारी (इमा, हवा) इन प्राणापानरूप आहुतियों को (श्रुतं) प्रवाहित करें ॥५॥

भावार्थः—मनुष्य की स्वाभाविक गति इस ओर होती है कि वह अपने मन, प्राण तथा इन्द्रियों को संबोधन करके कुछ कथन करे। साहित्य में इसको स्वभावोक्ति-अलंकार और दार्शनिकों की परिभाषा में उपचार कहते हैं। यहाँ पूर्वोक्त अलंकार से प्राणापान को संबोधन करके यह कथन किया है कि प्राणापान द्वारा हमारी इन्द्रियों में इस प्रकार का बल उत्पन्न हो जिस से वह सन्मार्ग से कभी च्युत न हों अर्थात् अपने संयम में तत्पर रहें, और इनको "युवाना" विशेषण इसलिये दिया है कि जिस प्रकार अन्य शारीरिक तत्त्व वृद्धावस्था में जाकर जीर्ण हो जाते हैं, इस प्रकार प्राणों में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, नित्य नूतन रहने के कारण इनको "युवा" कहा गया है ॥५॥

नु मित्रो वरु॑णो अर्य॒मा न॒स्त्मने॒ तो॒काय॒ वरि॑वो दधंतु ।
सु॒गा नो॒ विश्वा॑ सुपथा॑नि संतु यूयं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥६॥

पदार्थः—(नु) निश्चय करके (मित्रः) अध्यापक (वरुणः) उपदेशक (अर्यमा) न्यायकारी ये सब विद्वान् (नः) हमारे (त्मने) आत्मा के लिये और (तोकाय) सन्तान के लिये (वरिवः) ऐश्वर्य को (दधंतु) दें और (नः) हमारे (विश्वाः) सम्पूर्ण (सुपथानि) मार्ग (सुगाः) कल्याणरूप (संतु) हों, और (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचन आदि वाणियों से (नः) हमारी (सदा) सर्वदा (पात) रक्षा करें ॥६॥

भावार्थः—अध्यापक, उपदेशक तथा अन्य अन्य विषयों के ज्ञाता विद्वानों को यजमान लोग अपने अपने यज्ञों में बुलायें और सन्मानपूर्वक उन से कहें कि हे विद्वद्गण ! आप हमारे कल्याणार्थ स्वस्तिवाचनादि वाणियों से प्रार्थना करें और हमारे लिये कल्याणरूप मार्गों का उपदेश करें ॥६॥

सप्तम मण्डल में ६२ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्य त्र्यष्षष्टितमस्य सूक्तस्य १—६ वसिष्ठः ऋषिः ॥ १—४, ५[१] सूर्यः । ५[२], ६ मित्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१, ६ विराट् त्रिष्टुप् । २, ३, ४, ५ निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

अब प्राणायामादि संयमों द्वारा ध्येय परमात्मा का वर्णन करते हैं ॥

उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्मेव यः समविव्यक्तमांसि ॥१॥

पदार्थः—(यः, देवः) जो दिव्यरूप परमात्मा (मित्रस्य, वरुणस्य) अध्यापक तथा उपदेशकों को (चक्षुः) मार्ग दिखलाने वाला और जो (तमांसि) अज्ञानों को (चर्म, इव) तुच्छ तृणों के समान (सं) भले प्रकार (अविव्यक्) नाश करता है, वही (मानुषाणां) सब मनुष्यों का (साधारणः) सामान्यरूप से (सूर्यः) प्रकाशक, (विश्वचक्षाः) सर्वद्रष्टा और (सुभगः) ऐश्वर्य्यसम्पन्न है, वह परमात्मदेव प्राणायामादि संयमों से (उद्वेति) प्रकाशित होता है ॥१॥

भावार्थः—परमात्मदेव ही अध्यापक तथा उपदेशकों को सन्मार्ग दिखलाने वाला, सब प्रकार के अज्ञानों का नाशक है; वह सर्वद्रष्टा, सर्वप्रकाशक तथा सर्व ऐश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मा प्राणायामादि संयमों द्वारा हमारे हृदय में प्रकाशित होता है, इसी भाव को "चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य" यजु० ७।४२ में प्रतिपादन किया है कि वही परमात्मा सब का प्रकाशक और सन्मार्ग दिखलाने वाला है, "साधारणः" शब्द सामान्य भाव से सर्वत्र व्याप्त होने के अभिप्राय से आया है जिसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है ॥१॥

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य ।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन्यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥२॥

पदार्थः—वह परमात्मा (जनानां) सब मनुष्यों का (प्रसवीता) उत्पादक, (महान्) सबसे बड़ा, (केतुः) सर्वोपरि विराजमान, (अर्णवः) अन्तरिक्ष तथा (सूर्यस्य) सूर्य्य के (समानं, चक्रं, परि, आविवृत्सन्) समान चक्र को एक परिधि में रखने वाला है । (धूर्षु) इनके धुराओं में (युक्तः) युक्त हुई (यत्) जो (एतशः) दिव्यशक्ति (वहति) अनन्त ब्रह्माण्डों का चालन कर रही है, वह सर्वशक्तिरूप परमात्मा (उद्वेति) संयमी पुरुषों के हृदय में प्रकाशित होता है ॥२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा को सर्वोपरि वर्णन करते हुए यह वर्णन किया है कि सबका स्वामी परमात्मा जो सम्राट् के केतु = झंडे के समान सर्वोपरि विराजमान है, वह सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष आदि कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों को रथ के चक्र समान अपनी धुराओं पर घुमाता

हुआ सबको अपने नियम में चला रहा है उस परमात्मा को संयमी पुरुष ध्यान द्वारा प्राप्त करते हैं ॥२॥

विभ्राजमान उषसामुपस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः ।
एष मे देवः सविता चच्छंद यः समानं न प्रमिनाति धाम ॥३॥

पदार्थः—(विभ्राजमानः) वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा (उषसां) सब प्रकाशित पदार्थों में (उपस्थात्) स्थिर होने से (रेभैः) उद्गातादि स्तोतृपुरुषों द्वारा (अनुमद्यमानः) गान किया हुआ (उदेति) प्रकाशित होता है। (एषः) यह (सविता) सब का उत्पन्न करने वाला (देवः) परमात्मा (मे) मेरी कामनाओं को (चच्छन्द) पूर्ण करता है और (यः) वह (नूनं) निश्चय करके (धाम) सब स्थानों को (समानं) समान रूप से (प्रमिनाति) जानता है अर्थात् न किसी से उसका राग और न किसी से द्वेष है ॥३॥

भावार्थः—भाव यह है कि वह परमात्मदेव प्रत्येक मनुष्य के हृदयरूपी धाम को समानभाव से जानता है; उस में न्यूनाधिक भाव नहीं अर्थात् वह पक्षपात किसी के साथ नहीं करता; परमात्मभावों को अपने हृदयगत करना ही उसके प्रकाश होने का साधन है; वही सब ज्योतियों का ज्योति, सर्वोपरि विराजमान और वही सब का उपास्यदेव है; उसी की उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं ॥३॥

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरेअर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥४॥

पदार्थः—(तरणिः) सब का तारक (भ्राजमानः) प्रकाशस्वरूप (दूरेअर्थः) सर्वत्र परिपूर्ण (दिवः, रुक्म) द्युलोक का प्रकाशक (उरुचक्षाः) सर्वद्रष्टा परमात्मा उन लोगों के हृदय में (उदेति) उदय होता है जो (जनाः) पुरुष (नूनं) निश्चय करके (सूर्येण) परमात्मा के वतलाये हुए (अयन्) मार्गों पर चलते हुए (प्रसूताः) नूतन जन्म वाले (अर्थानि) सार्थक (अपांसि) कर्म (कृणवन्) करते हैं ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! वह सन्मार्ग दिखलाने वाला प्रकाशस्वरूप परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और चमकते हुए द्युलोक का भी प्रकाशक है; वह स्वतःप्रकाश प्रभु उन पुरुषों के हृदय में प्रकाशित होता है जो उस की आज्ञा का पालन करते और वेदविहित कर्म करके सफलता को प्राप्त होते हैं ॥४॥

यत्रा॑ च॒क्रुर॒मृता॑ गा॒तुम॑स्मै श्ये॒नो न दीय॒न्नन्वे॑ति॒ पाथ॑: ।
प्रति॑ वां॒ सूर॒ उदि॑ते विधेम॒ नमो॑भिर्मित्रावरु॒णोत ह॒व्यैः ॥५॥

पदार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि (मित्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (वां) तुम्हारी कृपा से हम (नमोभिः) नम्रभावों से (उदिते, सूरे) सूर्य्य के उदय होने पर उस परमात्मा की (विधेम) उपासना करें, जो (श्येनः) विद्युत् के (न) समान गतिवाले पदार्थों की न्याईं (दीयन्) शीघ्र (पाथः, अन्वेति) पहुँचा हुआ है। और जिसको (गातुं) प्राप्त होने के लिये (अमृताः) मुक्त पुरुष (चक्रुः) मुक्ति के साधन करते हैं। (अस्मै) उस स्वतःप्रकाश परमात्मा के लिये (वां) तुम लोग (प्रति) प्रतिदिन प्रातःकाल उपासना करो (उत) और (हव्यैः) हवन द्वारा अपने स्थानों को पवित्र करके (यत्र) जिस जगह मन प्रसन्न हो वहाँ प्रार्थना करो ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा अध्यापक तथा उपदेशकों को आज्ञा देते हैं कि तुम लोग प्रातःकाल उस स्वयं ज्योतिःप्रकाश की उपासना करो जो विद्युत् के समान सर्वत्र परिपूर्ण है और जिस ज्योति की प्राप्ति के लिए मुक्त पुरुष अनेक उपाय करते रहे हैं; तुम लोग उस स्वयंप्रकाश परमात्मा की प्रतिदिन उपासना करो अर्थात् प्रातःकाल ब्रह्मयज्ञ तथा देवयज्ञ करके ध्यान द्वारा उसको सत्कृत करो ॥५॥

नू मि॒त्रो वरु॑णो अर्य॒मा न॒स्त्मने॑ तो॒काय॒ वरि॑वो दधंतु ।
सु॒गा नो॒ विश्वा॑ सु॒पथा॑नि संतु यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥६॥

पदार्थः—(नु) निश्चय करके (मित्रः) सबका मित्र (वरुणः) वरणीय=सबका प्राप्य स्थान (अर्यमा) न्यायकारी परमात्मा (नः) हमारे (त्मने) आत्मा के (तोकाय) सुखप्राप्त्यर्थ (वरिवः) सब प्रकार का ऐश्वर्य्य (दधंतु) धारण करायें अथवा अन्न धन आदि से सम्पन्न करें ताकि (विश्वा) सब (सुगा) मार्ग (नः) हमारे लिये (सुपथानि) सुमार्ग (सन्तु) हों और हे भगवन् ! (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याण-युक्त वाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना है कि हे प्रभो ! आप हमारे लिये सर्वदा=सब काल में कल्याणदायक हों और आप की कृपा से हमको सब ऐश्वर्य्य तथा सुखों की प्राप्ति हो। इस मन्त्र में जो मित्र, वरुण तथा अर्यमा शब्द आये हैं वह सब परमात्मा के नाम हैं, "शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा" यजु० ३६।९ में मित्रादि सब नाम परमात्मा के हैं ॥६॥

सप्तम मण्डल में ६३ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य चतुष्षष्टितमस्य सूक्तस्य १–५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ मित्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः–१, २, ३, ४ त्रिष्टुप् । ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब राजसूययज्ञ का निरूपण करते हैं ॥

दिवि क्षयंता रजसः पृथिव्यां प्र वां घृतस्यं निर्णिजो ददीरन् ।
हव्यं नो मित्रो अर्यमा सुजातो राजा सुक्षत्रो वरुणो जुषंत ॥१॥

पदार्थः—(दिवि, क्षयंता) द्युलोक में क्षमता रखने वाले (पृथिव्याम्) पृथिवी लोक में क्षमता रखने वाले (रजसः) राजस भावों के जानने वाले अध्यापक तथा उपदेशक राजा तथा प्रजा को सदुपदेशों द्वारा सुशिक्षित करें और (प्र वां) उन अध्यापक तथा उपदेशकों के लिये प्रजा तथा राजा लोग (घृतस्य, निर्णिजः) प्रेम भाव का (ददीरन्) दान दें और (नः) हमारे (हव्यं) राजसूय यज्ञ को (मित्रः) सब के मित्र (अर्य्यमा) न्यायशील (सुजातः) कुलीन (सुक्षत्रः) क्षात्रधर्म के जानने वाले (वरुणः) सब को आश्रयण करने योग्य राजा लोग (जुषन्त) सेवन करें ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो तुम द्युलोक तथा पृथिवी लोक की विद्या जानने वाले अध्यापक तथा उपदेशकों में प्रेम भाव धारण करो और राजसूय यज्ञ के रचयिता जो क्षत्री लोग हैं उनका प्रीति से सेवन करो ताकि तुम्हारे राजा का पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में सर्वत्र ऐश्वर्य्य विस्तृत हो जिससे तुम सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त होकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो अर्थात् जो सब का मित्र, न्यायकारी, कुलीन और जो डाकू चोर तथा अन्यायकारियों के दुःखों से छुड़ाने वाला हो ऐसे राजा की प्रेमलता को अपने स्नेह से सिंचन करो ॥१॥

आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिंधुपती क्षत्रिया यातमर्वाक् ।
इळां नो मित्रावरुणोत वृष्टिमव दिव इन्वतं जीरदानू ॥२॥

पदार्थः—(राजाना) हे राजा लोगो ! तुम (महः, ऋतस्य, गोपा) बड़े सत्य के रक्षक (सिन्धुपती) सम्पूर्ण सागर प्रदेशों के पति (आ) और (क्षत्रिया) सब प्रजा को दुःखों से बचाने वाले हो (अर्वाक्, यातं) तुम शीघ्र उद्यत होकर (नः) अपने (मित्रावरुणा) अध्यापक तथा उपदेशकों की (इलां, वृष्टि) अन्न धन के द्वारा (अव) रक्षा करो (उत) और (जीरदानू) शीघ्र ही (दिवः) अपने ऐश्वर्य्य से (इन्वतं) इनको प्रसन्न करो ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा लोगो ! तुम सदा

सत्य का पालन करो और एकमात्र सत्य पर ही अपने राज्य का निर्भर रक्खो; सब प्रजावर्ग को दुःखों से बचाने का प्रयत्न करो और अपने देश में विद्याप्रचार तथा धर्मप्रचार करने वाले विद्वानों का धनादि से सत्कार करो ताकि तुम्हारा ऐश्वर्य्य प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो ॥२॥

मित्रस्तन्नो वरुणो देवो अर्यः प्र साधिष्ठेभिः पथिभिर्नयंतु ।
ब्रवद्यथा न आदरिः सुदासं इषा मंदेम सह देवगोपाः ॥३॥

पदार्थः—हे राजा तथा प्रजाजनो ! तुमको (तत्) वह (मित्रः) अध्यापक (वरुणः) उपदेशक (अर्यः) न्यायाधीश (देवः) विद्वान् (प्र साधिष्ठेभिः, पथिभिः) भले प्रकार शुभ साधनों वाले मार्गों से (नयन्तु) ले जायं ताकि (सह, देवगोपाः) राजा तथा प्रजाजन साथ-साथ (इषा, मदेम) ऐश्वर्य्य का सुख लाभ करें (सुदासे) उत्तम दान के लिये (अरिः) न्यायकारी परमात्मा (नः) हमको (यथा) जिस प्रकार (आत्) सदैव (ब्रवत्) उत्तम उपदेश करते हैं उसी प्रकार आप (नः) हमको उपदेश करें ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा तथा प्रजाजनो तुम उस सर्वोपरि न्यायकारी परमात्मा की आज्ञा का यथावत् पालन करो जिससे तुम मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय को प्राप्त कर सको, तुमको तुम्हारे अध्यापक, उपदेष्टा तथा न्यायाधीश सदैव उत्तम मार्गों से चलायें जिससे तुम्हारा ऐश्वर्य्य प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो ॥३॥

यो वां गर्तं मनसा तक्षदेतमूर्ध्वां धीतिं कृणवद्धारयंच ।
उक्षेथां मित्रावरुणा घृतेन ता राजाना सुक्षितीस्तर्पयेथाम् ॥४॥

पदार्थः—(यः) जो (राजाना) राजा लोग (मित्रावरुणा) अध्यापक तथा उपदेशकों को (घृतेन) स्नेह से (उक्षेथां) सिंचन करते हैं (ता) वह (सुक्षितीः) सम्पूर्ण प्रजा को (तर्पयेथां) तृप्त करते हैं (च) और जो (वां) अध्यापक तथा उपदेशकों के (गर्तं) गूढ़ाशयों को (मनसा) मन से (तक्षत्) विचार कर (एवं) उन (ऊर्ध्वां, धीतिं) उन्नत कर्मों को (धारयत्) धारण करके (कृणवत्) करते हैं वह सदैव उन्नत होते हैं ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो राजा लोग अपनी प्रजा में विद्या तथा धार्मिक भावों के प्रचारार्थ अध्यापक और बड़े बड़े विद्वान् धार्मिक उपदेशकों का अपने स्नेह से पालन-पोषण करते हैं वह अपनी प्रजा को उन्नत करते हैं और जो प्रजाजन उक्त महात्माओं के उपदेशों को मन

से विचार कर अनुष्ठान करते हैं वह कभी अवनति को प्राप्त नहीं होते प्रत्युत सदा उन्नति की ओर जाते हैं ॥४॥

एष स्तोमो॑ वरुण मित्र तुभ्यं॒ सोमः॑ शुक्रो न वायवे॑ऽयामि ।

अवि॑ष्टं धियो॑ जिगृतं पुरं॑धी यूयं पा॑त स्वस्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥५॥

पदार्थः—(मित्र, वरुण) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (तुभ्यं) तुम्हारे लिये (एषः, स्तोमः) यह विद्यारूपी यज्ञ (सोमः शुक्रः) शीघ्र तथा बल के देने वाला हो और तुम्हें (वायवे, न अयामि) आदित्य के समान प्रकाशित करे (धियः) तुम्हारी बुद्धि (अविष्टं) श्रेष्ठ कर्मों में (जिगृतं) सदा वर्त्तें जिससे तुम (पुरंधीः) ऐश्वर्यशाली होओ (यूयं) तुम लोग (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादि वाणियों से (नः) हमको (पात) पवित्र करो, ऐसा कथन किया करें ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! विद्यारूपी यज्ञ तुम्हारे लिये बल तथा प्रकाश देने वाला हो और यह यज्ञ तुम्हारे सम्पूर्ण कर्मों को सफल करे, तुम्हारी बुद्धियें सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें, तुम इस यज्ञ की पूर्णाहुति में सदा यह प्रार्थना किया करो कि परमात्मा मंगलमय भावों से सदैव हमको पवित्र करे ॥५॥

सप्तम मण्डल में चौसठवां सूक्त समाप्त हुआ।

अथ पञ्चर्चस्य पंचषष्टितमस्य सूक्तस्य १—५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ मित्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१, ५ विराट् त्रिष्टुप् । २ त्रिष्टुप् । ३, ४ निचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

॥ अब सूर्योदय समय में परमात्मा का उपासन कहते हैं ॥

प्रति॑ वां॒ सूर॒ उदि॑ते सूक्तैर्मि॒त्रं हु॑वे॒ वरु॑णं पू॒तद॑क्षम् ।

ययो॑रसु॒र्य१॒॑मक्षि॑तं॒ ज्येष्ठं॒ विश्व॑स्य॒ याम॑न्ना॒चिता॑ जिग॒त्नु ॥१॥

पदार्थः—(वां) हे राजा तथा प्रजाजनसमुदाय ! तुम सब (सूरे, उदिते) सूर्योदय काल में (मित्रं) सबका मित्र (वरुणं) सबका उपासनीय (पूतदक्षं) पवित्र नीति वाले परमात्मा के (प्रति) समक्ष (सूक्तैः) मन्त्रों द्वारा (हुवे) उपासना करो (ययोः) जो उपासक राजा तथा प्रजाजन (अक्षितं, असुर्यं) अपरिमित बल वाले (ज्येष्ठं) सब से बड़े (विश्वस्य, यामन्) संसार भर के संग्रामों में (आचिता) वृद्धि वाले देव की उपासना करते हैं वे (जिगत्नु) अपने शत्रुओं को संग्रामों में जीत लेते हैं ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो तुम सब सूर्योदय-

काल में वेद मन्त्रों द्वारा सर्वपूज्य परमात्मा की उपासना करो जिससे तुम्हें अक्षत बल तथा मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति होगी और तुम संग्राम में अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करोगे । यहां द्विवचन से राजा तथा प्रजा दोनों का ग्रहण है अर्थात् राजा और प्रजा दोनों उपासनाकाल में प्रार्थना करें कि हे भगवन् ! आप हमको अक्षत बल प्रदान करें जिससे हम शत्रुओं को जीत सकें ॥१॥

ता हि दे॒वाना॒मसु॑रा॒ ताव॒र्या ता नः॑ क्षि॒तीः क॑रत॒मूर्जय॑न्तीः ।

अ॒श्याम॑ मित्रावरुणा व॒यं वां॒ द्यावा॑ च॒ यत्र॑ पी॒पय॒न्नहा॑ च ॥२॥

पदार्थः—(हि) निश्चय करके (ता) वही (तौ) राजा तथा प्रजा (देवानां) देवों के मध्य (असुरा) बल वाले होते, (अर्या) वही श्रेष्ठ होते और (ता) वही (नः) हमारी (क्षितीः) पृथिवी को (ऊर्जयंतीः, करतं) उन्नत करते हैं जो (मित्रावरुणा) सब के मित्र तथा वरणीय परमात्मा की उपासना करते हुए यह प्रार्थना करते हैं कि (वयं) हम लोग (अश्याम) परमात्मपरायण हों (च) और (यत्र) जहां (वां) राजा प्रजा दोनों (अहा) प्रतिदिन (पीपयन्) वृद्धि की प्रार्थना करते हैं वहां (द्यावा) द्युलोक तथा पृथिवी लोक दोनों को ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम प्रतिदिन परमात्मपरायण होने के लिये प्रयत्न करो, जो लोग प्रतिदिन परमात्मा से प्रार्थना करते हुए अपनी वृद्धि की इच्छा करते हैं वे द्युलोक तथा पृथिवी लोक के ऐश्वर्य्य को प्राप्त होते हैं, इसलिये तुम सदैव अपनी वृद्धि के लिये प्रार्थना किया करो ॥२॥

ता भूरि॑पाशा॒वनृ॑तस्य॒ सेतू॑ दुर॒त्येतू॑ रि॒पवे॒ मर्त्या॑य ।

ऋ॒तस्य॑ मित्रावरुणा प॒था वा॑म॒पो न ना॒वा दु॑रि॒ता त॑रेम ॥३॥

पदार्थः—(ऋतस्य) सत्य का (पथा) मार्ग जो (मित्रावरुणा) सब का मित्र तथा वरणीय परमात्मा है वह (वां) हम राजा प्रजा को (अपः) जल की (नावा) नौकाओं के (न) समान (दुरिता) पापों से (तरेम) तारे, वह परमात्मा (मर्त्याय) मरणधर्मा मनुष्यों के (रिपवे) रिपुओं के लिये (भूरिपाशौ) अनन्त बलयुक्त और (ता) पूर्वोक्त गुणों वाले भक्तों के लिये (अनृतस्य) अनृत से तराने का (सेतु) पुल है जिसके द्वारा उसका भक्त सब प्रकार के विघ्नों से (दुरत्येतू) तर जाता है ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! जल की नौकाओं के समान तुम्हारे तराने का एकमात्र साधन परमात्मा ही है, इसलिये तुम

सेतु के समान उस पर विश्वास करके इस संसार रूप भवसागर को जिसमें रिपु आदि अनेक प्रकार के दुरित रूप नक्र और असत्यादि अनेक प्रकार के भंवर हैं, इन सब से बचकर पार होने के लिये तुम्हें एकमात्र जगदीश्वर का ही अवलम्बन करना चाहिये अन्य कोई साधन नहीं ॥३॥

आ नो मित्रावरुणा हव्यजुंष्टिं घृतैर्गव्यूंतिमुक्षतमिळांभिः ।
प्रतिं वामत्र वरमा जनांय पृणीतमुद्नो दिव्यस्य चारोंः ॥४॥

पदार्थः—(मित्रावरुणा) हे परमात्मन् ! (नः) हमारे (हव्यजुष्टिं गव्यूतिं) यज्ञ भूमि को (आ) भली भांति (घृतैः, इळाभिः) घृत तथा अन्नों से (उक्षतं) पूर्ण करें (वां) दोनों राजा प्रजा को (अत्र) यहां (वरं) श्रेष्ठ (आ) और (चारोः दिव्यस्य) चरणशील द्युलोकस्थ प्रदेशों के विचरने वाले बनायें और (नः, जनाय) हम लोगों को (उद्नः) प्रेम भाव (पृणीतं) प्रदान करें, हमारी आप से (प्रति) प्रतिदिन यही प्रार्थना है ॥४॥

भावार्थः—हे दिव्यशक्ति सम्पन्न परमात्मन्! आप हमारी यज्ञभूमि को अन्न तथा स्निग्ध द्रव्यों से सदैव सिंचन करते रहें और हम को द्युलोकादि दिव्य स्थानों में विचरने के लिये उत्तम साधन प्रदान करें जिससे हम अव्याहतगति होकर आप के लोकलोकान्तरों में परिभ्रमण कर सकें, यह हमारी आप से प्रार्थना है ॥४॥

एष स्तोमों वरुण मित्र तुभ्यं सोमंः शुक्रो न वायवेंऽयामि ।
अविष्टं धियों जिगृतं पुरंधीर्यूयं पांत स्वस्तिभिः सदां नः ॥५॥

पदार्थः—(वरुण, मित्र) हे वरणीय तथा सब के प्रियतम परमात्मन् ! (एषः, स्तोमः) यह विज्ञानमय यज्ञ (तुभ्यं) तुम्हारे निमित्त (अयामि) किया गया है, आप हमें (सोमः) सौम्यस्वभाव (शुक्रः) बल (वायवे, न) आदित्य के समान प्रकाश (अयामि) प्रदान करें, यह यज्ञ (धियः, अविष्टं) बुद्धि की रक्षा (जिगृतं) जागृति (पुरंधीः) स्तुत्यर्थ है (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणकारक पदार्थों के प्रदान द्वारा (नः) हमको (सदा) सदा (पातं) पवित्र करें ॥५॥

भावार्थः—इस विज्ञानमय यज्ञ में स्नेह तथा आकर्षणरूप शक्तिप्रधान परमात्मा से यह प्रार्थना की गयी है कि हे भगवन् ! आप हमें सौम्यस्वभाव, बलिष्ठ तथा आदित्य के समान तेजस्वी बनायें और हमारी बुद्धि की सब

ओर से रक्षा करें ताकि हम सदा प्रबुद्ध और अपने उद्योगों में तत्पर रहें आपसे यही प्रार्थना है कि आप सदैव हम पर कृपा करते रहें ॥५॥

सप्तम मण्डल में ६५ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकोनविंशत्यृचस्य षट्षष्टितमस्य सूक्तस्य १—१६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १–३, १७–१६ मित्रावरुणौ, ४–१३ आदित्याः । १४—१६ सूर्यो देवता ॥ छन्दः— १, २, ४, ६ निचृद्गायत्री । ३ विराड् गायत्री । ५-७, १८, १६ आर्षी गायत्री । ८ स्वराड् गायत्री । १७ पादनिचृद् गायत्री । १० निचृद् बृहती । ११ स्वराड् बृहती । १२ आर्ची स्वराड् बृहती । १३, १५ आर्षी भुरिग् बृहती । १४ आर्षी-विराड्बृहती । १६ पुर उष्णिक् ॥ स्वरः—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १७, १८, १६ षड्जः । १०—१५ मध्यमः । १६ ऋषभः ॥

अब पूर्वोक्त विज्ञान यज्ञ को प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं:—

प्र मित्रयोर्वरुणयोः स्तोमो न एतु शूष्यः । नमस्वान्तुविजातयोः ॥१॥

पदार्थः—(मित्रयोः, वरुणयोः) हे प्रेममय सर्वाधार परमात्मन् ! (नः) हमारा (प्र, स्तोमः) यह विस्तृत विज्ञान यज्ञ (शूष्यः) सब प्रकार की वृद्धि करने वाला (एतु) हो (तु) और (विजातयोः) हे जन्म-मरण से रहित भगवन् ! यह यज्ञ (नमस्वान्) बृहदन्न से सम्पन्न हो ॥१॥

भावार्थः—"विगतम् जातम् यस्मात्स विजात:"=जिससे जन्म विगत हो उसको "विजात" कहते हैं, अर्थात् विजात के अर्थ यहां आकृति-रहित के हैं अथवा "जननं जातम्"=उत्पन्न होने वाले को "जात" और इससे विपरीत जन्मरहित को "अजात" कहते हैं । इस मन्त्र में जन्म तथा मृत्यु से रहित मित्रावरुण नामक परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि हे भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें जिससे हमारा यह विज्ञानरूपी यज्ञ सब प्रकार के सुखों का देने वाला और प्रभूत अन्न से समृद्ध हो ॥१॥

या धारयन्त देवाः सुदक्षा दक्षपितरा । असुर्याय प्रमहसा ॥२॥

पदार्थः—हे ज्ञानस्वरूप प्रभो ! आपको (देवाः) विद्वान् लोग (धारयन्त) धारण करते हैं (या) जो आप (सुदक्षा) विज्ञानी हो (दक्षपितरा) विज्ञानियों की रक्षा करने वाले हो; (प्रमहसा) प्रकृष्ट तेज वाले आप (असुर्याय) हमारे सब के लिए सहायक हों ॥२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में भी द्विवचन अविवक्षित है अर्थात् "या" से "यौ" के अर्थों का ग्रहण नहीं किन्तु यह अर्थ है कि हे परमात्मन् ! आपको

विद्वान् लोग धारण करते हैं, आप सर्वोपरि दक्ष और दक्षों के भी रक्षक हैं, आप हमारे इस विज्ञान यज्ञ में अपनी दक्षता से सहायक हों ॥२॥

ता नः स्तिपा तनूपा वरुण जरितॄणाम् । मित्र साधयतं धियः ॥३॥

पदार्थः—(मित्र) हे मित्र परमात्मन् ! आप (जरितृणां) क्षणभंगुर=शरीर वाले मनुष्यों की (धियः) बुद्धि को (साधयतं) साधन सम्पन्न करें। (वरुण) हे वरणीय परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (स्तिपा) घरों को पवित्र करें, क्योंकि (ता) उक्त गुणों वाले आप (तनूपा) सब प्रकार के शरीरों को पवित्र करने वाले हैं ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में "तनूपा" परमात्मा से सब प्रकार की पवित्रता के लिये प्रार्थना की गई है कि हे भगवन् ! आप हम को सब प्रकार से पवित्र करें अथवा स्तिपा, तनूपा आदि सब परमात्मा के नाम हैं, जो गृहादि स्थानों को पवित्र करे उसका नाम "स्तिपा" और जो शरीरों को पवित्र करें उसको "तनूपा" कहते हैं, इत्यादि नामयुक्त परमात्मा से पवित्रता की प्रार्थना करके पश्चात् विज्ञानयज्ञ में क्रियाकौशल की सिद्धि के लिये बुद्धि को साधन सम्पन्न करने की प्रार्थना की गई है ॥३॥

यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा । सुवाति सविता भगः ॥४॥

पदार्थः—(यत्) जो धन (अद्य) आज (सूरे, उदिते) सूर्य के उदय होने पर आता है वह सब (अनागाः) निष्पाप (मित्रः) सबके प्रिय (अर्यमा) न्यायकारी (सुवाति) सर्वव्यापक (सविता) सर्वोत्पादक (भगः) ऐश्वर्यसम्पन्न इत्यादि गुणों वाले परमेश्वर की कृपा से आता है ॥४॥

भावार्थः—मनुष्यों को जो प्रतिदिन धन तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह सब परमेश्वर की कृपा से मिलता है, मानो वह सत्कर्मियों को अपने हाथ से बाँटता है और दुष्कर्मी हाथ मलते हुए देखते रहते हैं। इसलिये भग=सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा से सत्कर्मों द्वारा उस ऐश्वर्य की प्रार्थना कथन की गई है कि आप कृपा करके हमें भी प्रतिदिन वह ऐश्वर्य प्रदान करें ॥४॥

सुप्रावीरस्तु स क्षयः प्र नु यामन्त्सुदानवः ।
ये नो अंहोऽतिपिप्रति ॥५॥

पदार्थः—(सुदानवः) हे यजमान लोगो ! तुम्हारे (यामन्) मार्ग (सः) वह परमात्मा (क्षयः) विघ्न रहित करें (नु) और (सुप्रावीः, अस्तु) रक्षायुक्त हों।

तुम लोग यह प्रार्थना करो कि (ये) जो (नः) हमारे (अंहः) पाप हैं उनको आप (अतिपिप्रति) हम से दूर करें ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि दानी तथा यज्ञशील यजमानों के मार्ग सदा निर्विघ्न होते हैं और उनके पापों का सदैव क्षय होता है। अर्थात् जब वह अपने शुद्ध हृदय द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! आप हमारे पापों का क्षय करें तब उनके इस कर्म का फल अवश्य शुभ होता है। यद्यपि वैदिक मत में केवल प्रार्थना का फल मनोभिलषित पदार्थों की प्राप्ति नहीं हो सकता तथापि प्रार्थना द्वारा अपने हृदय की न्यूनताओं को अनुभव करने से उद्योग का भाव उत्पन्न होता है जिसका फल परमात्मा अवश्य देते हैं, या यों कहो कि अपनी न्यूनताओं को पूर्ण करते हुए जो प्रार्थना की जाती है वह सफल होती है ॥५॥

उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये। महो राजान ईशते ॥६॥

पदार्थः—(ये) जो (राजानः) राजा लोग (अदब्धस्य, महः, व्रतस्य,) अखण्डित महाव्रत को (ईशते) करते हैं वह (स्वराजः) सब के स्वामी (उत) और (अदितिः) सूर्य के समान प्रकाश वाले होते हैं ॥६॥

भावार्थः—न्यायपूर्वक प्रजाओं का पालन करना राजाओं का "अखण्डित महाव्रत" है। जो राजा इस व्रत का पालन करता है अर्थात् किसी पक्षपात से न्याय नियम को भंग नहीं करता वह स्वराज्य = अपनी स्वतंत्र सत्ता से सदा विराजमान होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि "स्वयं राजते इति स्वराट्"=जो स्वतंत्र सत्ता से विराजमान हो उसका नाम "स्वराट्" और "स्वयं राजते इति स्वराजः"=जो स्वयं विराजमान हो उसको "स्वराज" कहते हैं। और यह बहुवचन में बनता है। यहां "स्वराज" शब्द "राजानः" का विशेषण है। अर्थात् वही राजा लोग स्वराज का लाभ करते हैं जो न्याय-नियम से प्रजापालक होते हैं, अन्य नहीं ॥६॥

प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम्। अर्यमणं रिशादसम् ॥७॥

पदार्थः—(वां) हे राजा तथा प्रजाजनो! तुममें से (सूरे, उदिते) सूर्योदय काल में (प्रति) प्रत्येक मनुष्य (मित्रं) सर्वप्रिय (वरुणं) सब के उपासनीय परमात्मा की (गृणीषे) उपासना करे जो (अर्यमणं) न्यायकारी और (रिशादसं) अज्ञान का नाशक है ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा तथा प्रजा के लोगो ! तुम्हारा सब का यह कर्तव्य है कि तुम प्रातःकाल उठकर पूजनीय परमात्मा की उपासना करो, जो किसी का पक्षपात नहीं करता और वह स्वकर्मानुसार सबको शुभाशुभ फल देता है। ऐसे न्यायाधीश को लक्ष्य रख कर उपासना करने से मनुष्य स्वयं भी न्यायकारी और धर्मात्मा बन जाता है ॥७॥

राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे । इयं विप्रा मेधसातये ॥८॥

पदार्थः—(विप्राः) हे विद्वान् लोगो ! तुम्हारी (इयं) यह (मतिः) बुद्धि (अवृकाय) अहिंसाप्रधान हो और (इयं) यह मति (शवसे) बल की वृद्धि, (मेधसातये) यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति तथा (हिरण्यया, राया) ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली हो ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम ऐसी बुद्धि उत्पन्न करो जिससे किसी की हिंसा न हो और जो बुद्धि ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ, तथा कर्मयज्ञ आदि सब यज्ञों को सिद्ध करने वाली हो। इस प्रकार की बुद्धि के धारण करने से तुम बलवान् तथा ऐश्वर्यसम्पन्न होगे। इसलिए तुमको "धियो यो नः प्रचोदयात्" इस गायत्री तथा अन्य मंत्रों द्वारा सदैव शुभ मति की प्रार्थना करनी चाहिए ॥८॥

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह । इषं स्वश्च धीमहि ॥९॥

पदार्थः—(वरुण) हे सब के पूजनीय (मित्र) परमप्रिय (देव) दिव्यस्वरूप भगवन् ! (ते) तुम्हारे उपासक (स्याम) ऐश्वर्ययुक्त हों, न केवल हम ऐश्वर्ययुक्त हों किन्तु (ते) तुम्हारे (सूरिभिः) तेजस्वी विद्वानों के (सह) साथ (इषं) ऐश्वर्य (स्वश्च) और सुख को (धीमहि) धारण करें ॥९॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि यजमान लोगो ! तुम इस प्रकार प्रार्थना करो कि हे परमात्मदेव ! हम लोग सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त हों, न केवल हम किन्तु ऋत्विगादि सब विद्वानों के साथ हम आनन्द लाभ करें ॥९॥

बहवः सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः ।
त्रीणि ये येमुर्विदथानि धीतिभिर्विश्वानि परिभूतिभिः ॥१०॥

पदार्थः—(सूरचक्षसः) सूर्यसदृश प्रकाश वाले (अग्निजिह्वाः) अग्निसमान वाणी वाले (ऋतावृधः) सत्यरूप यज्ञ के बढ़ाने वाले (ये) जो (परिभूतिभिः,

धीतिभिः) शुभ कर्मों द्वारा (विदधानि) कर्मभूमि को बढ़ाते हैं वह (त्रीणि) कर्म, उपासना तथा ज्ञान को प्राप्त हुए (बह्वः) अनेक विद्वान् (विश्वानि) सम्पूर्ण फलों को (येमुः) प्राप्त होते हैं ॥१०॥

भावार्थः—जो विद्वान् पुरुष अपने शुभकर्मों द्वारा कर्म क्षेत्र को विस्तृत करते हैं। वही सब प्रकार के फलों को प्राप्त होते और कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप फलचतुष्टय को प्राप्त हैं। इस प्रकार के विद्वान् सूर्यसमान प्रकाश को लाभ करते हैं और अग्नि के सदृश उनकी वाणी असत्यरूप समिधाओं को जलाकर सदैव सत्य-रूपी यज्ञ करती है। अर्थात् सत्कर्मी, अनुष्ठानी तथा विज्ञानी विद्वानों का ही काम है कि वह परस्पर मिलकर कर्मभूमि को विस्तृत करें, या यों कहो कि कर्मयोग के क्षेत्र में कटिबद्ध हों ॥१०॥

वि ये दधुः शरदं मासमादहर्यज्ञमक्तुं चादृचम् ।

अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत ॥११॥

पदार्थः—(ये) जो विद्वान् (शरदं, मासं) शरद मास के प्रारम्भिक (अहः, अक्तुं, यज्ञं) दिन रात के यज्ञ को (ऋचं) ऋग्वेद की ऋचाओं से (वि दधुः) भले प्रकार करते हैं। वह (अनाप्यं) इस दुर्लभ यज्ञ को करके (वरुणः) सबके पूजनीय (मित्र) सर्वप्रिय (अर्यमा) न्यायशील तथा (राजानः) दीप्तिमान होकर (क्षत्रं) क्षात्र धर्म को (आशत) लाभ करते हैं ॥११॥

भावार्थः—शरद् ऋतु के प्रारम्भ में जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम "शारद" यज्ञ है। यह यज्ञ रात्रि दिन अनवरत किया जाता है। जो विद्वान् अनुष्ठानपरायण होकर इस वार्षिक यज्ञ को पूर्ण करते हैं वह दीप्तिमान होकर सबके सत्कारार्ह होते हैं ॥११॥

तद्वो अद्य मनामहे सूक्तैः सूर उदिते ।

यदोहते वरुणो मित्रो अर्यमा यूयमृतस्य रथ्यः ॥१२॥

पदार्थः—(तत्) वह परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! वह तुम उन विद्वानों का (अद्य) आज (सूरे, उदिते) सूर्योदय काल में (सूक्तैः) सुन्दर वाणियों द्वारा (मनामहे) आवाहन करो। (यत्) जो (ओहते) सुमार्ग दिखलाने वाले हैं और उनसे प्रार्थना करो कि (वरुणः) हे सर्वपूज्य (मित्रः) सर्वप्रिय (अर्यमा) न्यायपूर्वक वर्तने वाले (रथ्यः) सन्मार्ग के नेता लोगो (यूयं) आप ही (ऋतस्य) सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने वाले हैं ॥१२॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह उपदेश है कि हे जिज्ञासु जनो ! तुम अपने प्रातःस्मरणीय विद्वानों को सूर्योदय समय सत्कारपूर्वक आवाहन=बुलाओ और उनसे प्रार्थना करो कि आप न्यायादिगुणसम्पन्न होने से हमारे पूज्य हैं। कृपा करके हमें भी सन्मार्ग का उपदेश करें, क्योंकि स्वयं अनुष्ठानी तथा सदाचारी विद्वान् ही अपने सदुपदेशों द्वारा सन्मार्ग को दर्शा सकते हैं। सो आप हमें भी कल्याणकारक उपदेशों द्वारा कृतकृत्य करें ॥१२॥

अब उपर्युक्त विद्वानों के गुण वर्णन करते हैं ॥

ऋतावा॑न ऋ॒तजा॑ता ऋ॒ता॒वृधो॑ घो॒रासो॑ अनृत॒द्विषः॑ ।

तेषां॑ वः सु॒म्ने सु॑च्छ॒र्दिष्ट॑मे नरः॒ स्याम॒ ये च॑ सू॒रयः॑ ॥१३॥

पदार्थः—(ऋतवानः) सत्यपरायण, (ऋतजाताः) सत्य की शिक्षा प्राप्त किये हुए, (ऋतावृधः) सत्यरूप यज्ञ की वृद्धि करने वाले (घोरासः अनृतद्विषः) और असन्मार्ग के अत्यन्त द्वेषी विद्वानों के (सुच्छर्दिष्टमे) सुखतम (सुम्ने) मार्ग में (वः) तुम लोग चलो (च) और (तेषां) उन विद्वानों से (ये) जो अपने गुणगौरव द्वारा (सूरयः) तेजस्वी हैं (नरः) तुम लोग प्रार्थना करो कि हम भी (स्याम) उक्त गुण-सम्पन्न हों ॥१३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम अनृत से द्वेष करने वाले तथा सत्य से सदा प्यार करने वाले सत्पुरुषों का सत्संग करो और उनसे नम्रतापूर्वक वर्तते हुए प्रार्थना करो कि हे महाराज ! हमें भी सन्मार्ग का उपदेश करो ताकि हम भी उत्तम गुणसम्पन्न हों ॥१३॥

अब उपर्युक्त विद्वानों के सत्संग से शुद्ध हुए अंतःकरण द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का कथन करते हैं ॥

उदु॒ त्यद्द॑र्श॒तं वपु॑र्दि॒व ए॑ति प्रतिह्व॒रे ।

यदी॑मा॒शुर्वह॑ति दे॒व एत॑शो॒ विश्व॑स्मै॒ चक्ष॑से॒ अर॑म् ॥१४॥

पदार्थः—(त्यत्, दर्शतं, वपुः, उत्) और उस अमृत पुरुष का दर्शनीय स्वरूप (यत्) जो (दिवः, प्रतिह्वरे) प्रकाशमान अंतःकरण में (एति) प्रकाशित होता है, उस (विश्वस्मै, चक्षसे) सम्पूर्ण संसार के द्रष्टा (देवः) देव को (एतशः, ईं) यह गमनशील अन्तःकरण की वृत्तियें (आशु, वहति) शीघ्र ही प्राप्त कराने में (अरं) समर्थ होती हैं। मंत्र में "उ" पादपूर्ति के लिये है ॥१४॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह उपदेश किया है कि अनृत से द्वेष तथा

सत्य से प्यार करने वाले पुरुषों के सत्संग से शुद्धान्तःकरण पुरुष उस परमात्मदेव को प्राप्त करते हैं। अर्थात् उनके अन्तःकरण की वृत्तियां उस सर्वद्रष्टा देव को प्राप्त करने के लिए शीघ्र ही समर्थ होती हैं और उन्हीं के द्वारा वह देव प्रकाशित होता है; मलिनान्तःकरण पुरुष उसको प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। इसलिये, हे सांसारिक जनो ! तुम सत्संग द्वारा उस अमृतस्वरूप को प्राप्त करो जो तुम्हारा एक मात्र आधार है ॥१४॥

अब परमात्मप्राप्ति के लिए और साधन कथन करते हैं ॥

शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगंतस्तस्थुषस्पतिं समया विश्वमा रजः ।

सप्त स्वसारः सुविताय सूर्यं वहंति हरितो रथे ॥१५॥

पदार्थः—(रथे) योगिजनों के मार्ग में विचरने वाली (हरितः) अन्तःकरण की वृत्तियें (सूर्यं) उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को (वहंति) प्राप्त कराती हैं जो (सुविताय) इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करके (जगतः, तस्थुषः पतिं) जंगम तथा स्थावर का पति है (आ) और जो (रजः, विश्वं) परमाणुओं से लेकर सम्पूर्ण संसार को (समया) अनादि काल से रचता है। उसकी प्राप्ति का हेतु (शीर्ष्णः, शीर्ष्णः,) प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में (स्वसारः सप्त) निरन्तर स्वयं चलने वाली सप्त इन्द्रियों की वृत्तियें हैं ॥१५॥

भावार्थः—इस मंत्र में उस परमात्मा की प्राप्ति का उपाय कथन किया है जो स्थावर तथा जंगमरूप इस ब्रह्माण्ड का एकमात्र पति है। उसी परमात्मदेव को यहां "सूर्यं" कथन किया गया है, जो इस भौतिक सूर्य का वाचक नहीं किन्तु उस स्वतःप्रकाश परमात्मा का बोधक है। जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाला है, उसकी प्राप्ति का साधन मस्तिष्क में सप्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं अर्थात् दो आँख, दो कान, दो नासिका के छिद्र और एक मुख, इस प्रकार यह सप्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं। "स्वयं सरन्तीति स्वसारः"=जो स्वयं गमन करें उनको "स्वसा" कहते हैं। जब यह वृत्तियें सदसद्विवेचन करने वाली हो जाती हैं तब उस ज्ञानगम्य परमात्मा की प्राप्ति होती है। अथवा पांच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि, इन सातों द्वारा चराचर ब्रह्माण्ड के पति परमात्मा की रचना को ज्ञानगम्य करके मनुष्य उस प्रकाशस्वरूप को प्राप्त होता है, जहां "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्"=न सूर्य का प्रकाश पहुंच सकता और न चन्द्र तथा तारागण अपना प्रकाश पहुँचा सकते हैं। इस भाव से यहां

वृत्तियों का वर्णन किया है अर्थात् योगी पुरुषों के अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही उस परमज्योति को प्राप्त कराने में समर्थ होती हैं ॥१५॥

अब उस सर्वद्रष्टा परमात्मा से प्रार्थना करने का प्रकार कथन करते हैं ॥

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥१६॥

पदार्थः—(तत्) वह परमात्मा जो (चक्षुः) सर्वद्रष्टा (देवहितं) विद्वानों का हितैषी (शुक्रं) बलवान् (उच्चरत्) सर्वोपरि विराजमान है, उसकी कृपा से हम (जीवेम, शरदः, शतं) सौ वर्ष पर्यन्त प्राणधारण करें, और (पश्येम, शरदः शतं,) सौ वर्ष पर्यन्त उसकी महिमा को देखें अर्थात् उसकी उपासना में प्रवृत्त रहें ॥१६॥

भावार्थः—सर्वप्रकाशक, सबका हितकारी तथा बलस्वरूप परमात्मा ऐसी कृपा करे कि हम सौ वर्ष जीवित रहें और सौ वर्ष तक उसको देखें। यहाँ "पश्येम" के अर्थ आँखों से देखने के नहीं किन्तु ध्यान द्वारा ज्ञान-गोचर करने के हैं, जैसा कि "दृश्यते त्वग्रया बुद्धया" कठ० ३।१२ इस वाक्य में "दृश्यते" के अर्थ बुद्धि से देखने के हैं अथवा उसकी इस रचना-रूप महिमा को देखते हुए उसकी महत्ता का अनुभव करके उपासन में प्रवृत्त हों, यह आशय है ॥१६॥

अब यज्ञ में सोमादि सात्विक पदार्थों द्वारा देव=विद्वानों का सत्कार कथन करते हैं ॥

काव्येभिरदाभ्या यातं वरुण द्युमत् । मित्रश्च सोमपीतये ॥१७॥

पदार्थः—(वरुण) हे सर्वपूज्य (मित्रः) सर्वप्रिय (अदाभ्या) संयमी (च) तथा (द्युमत्) तेजस्वी विद्वानो ! आप लोग (सोमपीतये) सोमपान करने के लिये (काव्येभिः) यानों द्वारा (आ, यातं) भले प्रकार आयें ॥१७॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा ने शिष्टाचार का उपदेश किया है कि हे प्रजाजनो, तुम सर्वपूज्य, विद्वान्, जितेन्द्रिय तथा वेदोक्त कर्मकर्त्ता विद्वानों को सुशोभित यानों द्वारा सत्कारपूर्वक अपने घर वा यज्ञमण्डप में बुलाओ और सोमादि उत्तमोत्तम पेय तथा खाद्य पदार्थों द्वारा उनका सत्कार करते हुए उनसे सदुपदेश श्रवण करो ॥१७॥

दिवो धामभिर्वरुण मित्रश्चा यातमद्रुहा । पिबतं सोममातुजी ॥१८॥

पदार्थः—(वरुण, मित्रः) हे पूजनीय तथा परमप्रिय विद्वान् पुरुषो ! आप

लोग (अद्रुहा) राग द्वेष को त्याग कर (विवः, धामभिः) ज्ञान से प्रकाशित हुए मार्गों से (आ, यातं) उत्साह पूर्वक आओ (च) और (आतुजी, सोमं) शान्ति प्रदान करने वाले सोमरस को (पिबतं) पीओ ॥१८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे ज्ञान के प्रकाश से सदा तेजस्वी तथा रागद्वेषादि भावों से रहित विद्वान् पुरुषो ! तुम यजमानों से निमन्त्रित हुए उनके पवित्र घरों में आओ और सोमादि सात्विक पदार्थों का सेवन करते हुए उनको पवित्र धर्म का उपदेश करो ताकि वह गृहस्थाश्रम के नियमपालन में विचल न हों ॥१८॥

आ यांतं मित्रावरुणा जुषाणावाहुंतिं नरा ।

पातं सोमंमृतावृधा ॥१९॥

पदार्थः—(ऋतावृधा) हे ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ, कर्मयज्ञ आदि यज्ञों के बढ़ाने वाले (मित्रावरुणा, नरा) मित्र वरुण विद्वान् लोगो ! तुम (आ, यातं) सत्कारपूर्वक आओ और हमारी इस शान्ति की (आहुतिं) आहुति को (जुषाणौ) सेवन करते हुए (सोमं, पातं) पवित्र सोम का पान करो ॥१९॥

भावार्थः—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे ज्ञानादि यज्ञों के अनुष्ठानी विद्वानो ! तुम सत्कार पूर्वक अपने यजमानों को प्राप्त होओ और सोमपान करते हुए उनके हृदय को शांतिधाम बनाओ अर्थात् अपने अनुष्ठानरूप ज्ञान से उनको ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ तथा कर्मयज्ञादि वैदिक कर्मों का अनुष्ठानी बनाकर पवित्र करो और शांति की आहुति देते हुए संसार भर में शान्ति फैलाओ जो तुम्हारा कर्तव्य है ॥१९॥

सप्तम मण्डल में ६६ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य सप्तषष्टितमस्य सूक्तस्य १—१० वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, २, ६, ७, ८, १० निचृत्त्रिष्टुप् । ३, ५, ९ विराट् त्रिष्टुप् । ४ आर्षीत्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब परमात्मा इस सूक्त में राजधर्म का उपदेश करते हैं ॥

प्रतिं वां रथं नृपती जरध्यै हविष्मंता मनंसा यज्ञियेन ।

यो वां दूतो न धिष्ण्यावजींगरच्छा सूनुर्न पितरां विवक्मि ॥१॥

पदार्थः—(वां) हे अध्यापक वा उपदेशको ! (रथं) तुम्हारे मार्ग को (नृपती) राजा (हविष्मता) हवि वाले (मनसा) मानस (यज्ञियेन) याज्ञिक भावों से (प्रति,

जरध्यै) प्रतिदिन स्तुति करे, मैं (वां) तुम लोगों को (दूतः) दूत के (न) समान (यः) जो (विवक्मि) उपदेश करता हूं उसको (अच्छ) भलीभांति सुनो (पितरा) पितर लोग (सूनुः) अपने पुत्रों को (न) जिस प्रकार (अजीगः) जगाते हैं इसी प्रकार (धिष्ण्यौ) धारणा वाले तुम लोग उपदेश द्वारा राजाओं को जगाओ ॥१॥

भावार्थः—हे धारणा वाले अध्यापक तथा उपदेशको ! मैं तुम्हें दूत के समान उपदेश करता हूं कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को सुमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये सदुपदेश करता है इसी प्रकार तुम लोग भी वेदों के उपदेश द्वारा राजाओं को सन्मार्गगामी बनाओ ताकि वह ऐश्वर्य्यप्रद यज्ञों से वेदमार्ग का पालन करें अथवा ध्यानयज्ञों से तुम्हारे मार्ग को विस्तृत करें ॥१॥

अब उपदेश का समय कथन करते हैं ॥

अशोच्यग्निः समिधानो अस्मे उपो अदृश्रन्तमसश्चिदन्ताः ।
अचेति केतुरुषसः पुरस्ताच्छ्रिये दिवो दुहितुर्जायमानः ॥२॥

पदार्थः—(अस्मे) जब (पुरस्तात्, श्रिये) पूर्वदिशा को आश्रयण किये हुए (दिवः, दुहितुः उषसः) द्युलोक से अपनी दुहिता उषा को लेकर (जायमानः) उदय होता हुआ (केतुः) सूर्य्य (अचेति) जान पड़े, और (तमसः, चित्, अंताः) अंधकार का भले प्रकार अंत=नाश (उपो, अदृश्रन्) दीखने लगे तब (समिधानः, अग्निः, अशोचि) समिधाओं द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करो ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे उपदेशको ! अन्धकार के निवृत्त होने पर सूर्योदयकाल में अपने सन्ध्या अग्निहोत्रादि नित्य कर्म करो और राजा तथा प्रजा को भी इसी काल में उक्त कर्म करने तथा अन्य आवश्यक कर्मों के करने का उपदेश करो, क्योंकि उपदेश का यही अत्युत्तम समय है, इस समय सबकी बुद्धि उपदेश ग्रहण करने के लिये उद्यत होती है ॥२॥

अभि वां नूनमश्विना सुहोता स्तोमैः सिषक्ति नासत्या विवक्वान् ।
पूर्वीभिर्यातं पथ्याभिरर्वाक् स्वर्विदा वसुमता रथेन ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनाधीश राजपुरुषो (वां) तुम लोग (नूनं) निश्चय करके (सुहोता) उत्तम होता बनकर (स्तोमैः) यज्ञानुष्ठान (सिषक्ति) करते हुए शिक्षा प्राप्त करो कि (नासत्या, विवक्वान्) तुम कभी असत्य न बोलो (पूर्वीभिः,

पथ्याभिः, अर्वाक्) सनातन मार्गों को अभिमुख करके (स्वर्विदा, वसुमता) ऐश्वर्य्य तथा धन प्राप्त होने वाले (रथेन) मार्ग से (यातं) चलो ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा राजपुरुषों को उपदेश करते हैं कि तुम लोग वैदिक यज्ञ करते हुए सत्यवक्ता होकर सदा सनातन सन्मार्गों से चलो जिससे तुम्हारा ऐश्वर्य्य बढ़े और तुम उस ऐश्वर्य्य के स्वामी होकर सत्यपूर्वक प्रजा का पालन करो ॥३॥

अवो॑र्वां नू॒नम॑श्विना यु॒वाकु॑र्हु॒वे यद्वां॑ सु॒ते माध्वी वसू॒युः ।

आ वां॑ वहन्तु॒ स्थवि॑रासो॒ अश्वाः॒ पिबा॑थो अ॒स्मे सुषु॑ता॒ मधू॑नि ॥४॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनापति तथा न्यायाधीश राजपुरुषो ! (नूनं) निश्चय करके (वां) तुम लोग (अवोः) हमारी रक्षा करने वाले हो, (युवाकुः) तुम्हारी कामना करते हुए हम लोग (हुवे) तुम्हें आवाहन करते हैं (यत्) क्योंकि (वां) तुम लोग (माध्वी) मधुविद्या में (सुते) कुशल हो, इसलिये (वां) आप लोग हमको (वसूयुः) धन से सम्पन्न करो (स्थविरासः) परिपक्व आयु वाले (अश्वाः) शीघ्र कार्य्यकर्त्ता आप लोग (अस्मे) हम लोगों को (आ, वहन्तु) भले प्रकार शुभमार्गों में प्रेरें ताकि (सुषुता, मधूनि) संस्कार किये हुए मधुर द्रव्यों को (पिबाथः) ग्रहण करके सुखी हों ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे प्रजाजनो ! तुम उन राजशासन-कर्त्ताओं से इस प्रकार प्रार्थना करो कि हे राजपुरुषो ! आप हमारे नेता बनकर हमें उत्तम मार्गों पर चलायें ताकि हम सब प्रकार की समृद्धि को प्राप्त हों, हम में कभी रागद्वेष न हो और हम सदा आपकी धर्मपूर्वक आज्ञा का पालन करें, परमात्मा आज्ञा देते हैं कि तुम दोनों मिलकर चलो, क्योंकि जब राजा तथा प्रजा में प्रेमभाव उत्पन्न होता है तब वह मधुविद्या = रसायन विद्या को प्राप्त होते हैं अर्थात् दोनों का एक लक्ष्य हो जाने से संसार में कल्याण की वृद्धि होती है ॥४॥

अब ऐश्वर्य्यप्राप्ति के लिये शुभ बुद्धि की प्रार्थना करते हैं ॥

प्राचीमु॑ देवाश्विना॒ धियं॒ मेऽमृ॒ध्रां सा॒तये॑ कृतं वसू॒युम् ।

विश्वा॑ अविष्टं॒ वाज॒ आ पुर॑न्धीस्ता नः शक्तं शचीपती॒ शची॑भिः ॥५॥

पदार्थः—(शचीपती) कर्मों का स्वामी (देवा) परमात्मदेव (शचीभिः) अपनी दिव्य शक्ति द्वारा (नः) हमको (शक्तं) सामर्थ्य दे ताकि हम (ता) उस (पुरंधीः) शुभ बुद्धि को (आ) भले प्रकार प्राप्त होकर (विश्वाः, वाजे) सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य के

स्वामी हों, (अश्विना) हे परमात्मदेव, (अविष्टं) अपने से सुरक्षित (मे) मुझे (ऊं) विशेषतया (सातये, वसूयुं, कृतं) ऐश्वर्य्य तथा धनादि की प्राप्ति में कृतकार्य्य होने के लिये (प्राचीं. अमृध्रां) सरल और हिंसारहित (धियं) बुद्धि प्रदान करें ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में जगत्पिता परमात्मदेव से यह प्रार्थना की गई है कि हे भगवन् ! आप हमारी सब प्रकार से रक्षा करते हुए अपनी दिव्य-शक्ति द्वारा हमको सामर्थ्य दें कि हम उस शुभ, सरल तथा निष्कपट बुद्धि को प्राप्त होकर ऐश्वर्य्य तथा सब प्रकार के धनों को सम्पादन करें, या यों कहो कि हे कर्मों के अधिपति परमात्मन् ! आप हमको कर्मानुष्ठान द्वारा ऐसी शक्ति प्रदान करें जिससे हम साधनसम्पन्न होकर उस बुद्धि को प्राप्त हों जो धन तथा ऐश्वर्य के देने वाली है अथवा जिसके सम्पादन करने से ऐश्वर्य्य मिलता है ॥५॥

अब मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय की प्रार्थना करते हैं ॥

अविष्टं धीष्वश्विना न आसु प्रजावद्रेतो अह्रयं नो अस्तु ।
आ वां तोके तनये तूतुजानाः सुरत्नासो देववीतिं गमेम ॥६॥

पदार्थः—(वां, अश्विना) हे सन्तति तथा ऐश्वर्य्य के दाता परमात्मन् ! (धीषु, अविष्टं) कर्मों में सुरक्षित (नः) हमको (प्रजावत्) प्रजा उत्पन्न करने के लिये (अह्रयं) अमोघ (रेतः) वीर्य्य प्राप्त (अस्तु) हो (आ) और (नः) हमको (तोके) हमारे पुत्रों को (तनये) उनके पुत्र पौत्रादिकों के लिये (सुरत्नासः तूतुजाना) सुन्दर रत्नों वाला यथेष्ट धन दें ताकि हम (देववीतिं, गमेम) विद्वानों की संगति को प्राप्त हों ॥६॥

भावार्थः—हे भगवन् ! प्रजा उत्पन्न करने का एकमात्र साधन अमोघ वीर्य्य हमें प्रदान करें ताकि हम इस संसार में सन्ततिरहित न हों और हमको तथा उत्पन्न हुई सन्तान को धन दें ताकि हम सुख से अपना जीवन व्यतीत कर सकें ॥६॥

एष स्य वां पूर्वगत्वेव सख्ये निधिर्हितो माध्वी रातो अस्मे ।
अहेळता मनसा यातमर्वागश्नन्ता हव्यं मानुषीषु विक्षु ॥७॥

पदार्थः—(वां) हम लोग (माध्वी) संसार में मधुरता फैलाने वाले (एषः) इस (हव्यं) होम को (सख्ये) मित्र के सन्मुख (पूर्वगत्वा, इव) भेंट के समान (रातः) आपको अर्पण करते हैं जो (निधिः, हितः) आरोग्यता का देने वाला है, (स्यः) आप इसको (मानुषीषु, विक्षु) मनुष्य प्रजाओं में (आ, यातं) सर्वत्र विस्तृत करें,

(अस्मे) हमारी इस भेंट को (अहेळता) शान्त (मनसा) मन से (अर्वाक्, अश्नंता) हमारे सन्मुख स्वीकार करें ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा से यह प्रार्थना है कि हे देव ! जिस प्रकार अपने स्वामी वा मित्र के सन्मुख नैवेद्य रक्खा जाता है, इसी प्रकार हम लोग आहुतिरूप हव्य को जो नीरोगता की निधि तथा मनुष्यमात्र का हितकारक है, आप के सन्मुख रखते हैं, आप कृपा करके इसको स्वीकार करें और सब प्राणिवर्ग में तुरन्त पहुंचा दें ताकि विकारों से दूषित न हों ॥७॥

एकस्मिन्योगे भुरणा समाने परि वां सप्त स्रवतो रथो गात् ।

न वायंति सुभ्वो देवयुक्ता ये वां धूर्षु तरणयो वहंति ॥८॥

पदार्थः—(वां) हे देव तथा मनुष्यो ! (भुरणा, समाने) मनुष्यमात्र के लिये समान (एकस्मिन्, योगे) एक योग में (सप्त, स्रवतः) ज्ञानेन्द्रियों के सात प्रवाह (रथः, गात्) उस मार्ग को प्राप्त कराते हैं (ये) जो (परि) सब ओर से परिपूर्ण हैं (वां) तुम दोनों के (धूर्षु) धुराओं में लगे हुए (तरणयः) युवावस्था को प्राप्त (देवयुक्ताः) परमात्मा में युक्त (सुभ्वः) दृढ़ता वाले (वायंति, न) थकित न होने वाले उस मार्ग में (वहंति) चलाते अर्थात् उस मार्ग को प्राप्त कराते हैं ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे दिव्यशक्तिसम्पन्न विद्वानो तथा साधारण मनुष्यो ! तुम दोनों के लिये=परमात्मस्वरूप में जुड़ना समान है अर्थात् देव, साधारण तथा प्राकृतजन सभी उसको प्राप्त हो सकते हैं; वह एक सबका उपास्यदेव है, उसकी प्राप्ति के लिये बड़े दृढ़ सात साधन हैं जिनके संयमद्वारा पुरुष उस योग को प्राप्त हो सकता है, वह सात साधन इस प्रकार हैं—पांच ज्ञानेन्द्रिय जिनसे जीवात्मा बाह्यजगत् के ज्ञान को उपलब्ध करता अर्थात् संसार की रचना देखकर परमात्मसत्ता का अनुमान करता है, मन से मनन करता और सदसद्विवेचन करने वाली बुद्धि से परमात्मा का निश्चय करता है, इनमें श्रोत्रेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि, यह तीनों परमात्मप्राप्ति में अन्तरंगसाधन हैं, इसी अभिप्राय से उपनिषदों में वर्णन किया है कि "आत्मा वा रे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" वह परमात्मा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने योग्य है, वेदवाक्यों द्वारा परमात्मविषयक सुनने का नाम "श्रवण", सुने हुए अर्थ को युक्तियों द्वारा मन से विचारने का नाम "मनन" और उस मनन किये हुए को निश्चित बुद्धिद्वारा धारण करने का नाम "निदिध्यासन" है, तीन यह और चार अन्य यह सातों ही देव का समीपी बनाते हैं जो सब का उपास्य है ॥८॥

अब परमात्मप्राप्ति के अधिकारियों का वर्णन करते हैं ॥

असश्चतां मघवद्भ्यो हि भूतं ये राया मघदेयं जुनन्ति ।
प्र ये बंधुं सूनृताभिस्तिरंते गव्या पृंचंतो अश्व्या मघानि ॥९॥

पदार्थः—(हि) निश्चय करके (ये) जो (राया) धन द्वारा (मघदेयं) हव्यादि पदार्थ (जुनन्ति) नियुक्त करते (असश्चता) किसी विषय में आसक्त न होकर (मघवद्भ्यः) ऋत्विगादिकों को (भूतं) बहुतसा धन दान देते (ये) जो (प्र) प्रसन्नतापूर्वक (बंधुं) अपने बन्धुओं को (सुनृताभिः) सुन्दर वाणियों द्वारा (तिरंते) बढ़ाते, और जो (गव्या) गौयें (मघानि) धन (अश्व्या) घोड़े (पृंचंतः) अर्थियों को देते हैं वह परमात्मप्राप्ति के अधिकारी होते हैं ॥९॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो यम नियमादिकों से सम्पन्न अर्थात् किसी विषय में फंसे हुए नहीं, सत्पुरुषों को धनादि पदार्थ देने में उदार, प्रसन्न चित्त से मीठी वाणी बोल कर अपने सम्बन्धियों को प्रसन्न रखते और सत्यभाषण तथा सत्य का प्रचार करते हैं वह उदार पुरुष परमात्मपद के अधिकारी होते हैं ॥९॥

अब मनुष्य का कर्तव्य वर्णन करते हैं ॥

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् ।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१०॥

पदार्थः—(नू) निश्चय करके (मे) मेरे (हवं) इस कल्याणदायक वचन को (आ) भले प्रकार (शृणुतं) सुनो (युवाना) हे युवा पुरुषो ! तुम (अश्विनौ) गुरु शिष्य दोनों (इरावत्) हवनयुक्त (वर्तिः) स्थान को (यासिष्टं) प्राप्त होओ (च) और (सूरीन्) तेजस्वी विद्वानों को (धत्तं, रत्नानि) रत्नादि उत्तम पदार्थों को धारण कराओ, ताकि वह (जरतं) वृद्धावस्था को प्राप्त (यूयं) तुमको (स्वस्तिभिः) मंगलवाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें, और तुम प्रार्थना करो कि (नः) हमको सदा शुभ आशीर्वाद दो ॥१०॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे युवापुरुषो ! तुम्हारा मुख्य कर्तव्य यह है कि तुम गुरुशिष्य दोनों मिलकर यज्ञरूप अग्न्यागारों अथवा कलाकौशलरूप अग्निगृहों में जहां अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रादिकों की विद्या सिखलाई जाती है जाओ और वहां जाकर आध्यात्मिक विद्या के विद्वानों तथा शिल्पविद्याविशारद देवों को प्रसन्न करो अर्थात् उनको विविध प्रकार का धन प्रदान करो ताकि उनकी प्रसन्नता से तुम्हारा सदा के

लिये कल्याण हो, और तुम सदा उनसे नम्रभाव से वर्त्तो ताकि वह तुम्हारा शुभचिन्तन करते रहें ॥१०॥

सप्तम मण्डल में ६७ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ नवर्चस्य अष्टषष्टितमस्य सूक्तस्य १—९ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः–१, ६, ८, साम्नी त्रिष्टुप् । २, ३, ५, साम्नी निचृत् त्रिष्टुप् । ४, ७, साम्नी भुरिगासुरी विराट् त्रिष्टुप् । ९ निचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब प्रकारान्तर से राजधर्म का उपदेश करते हैं ॥

आ शुभ्रा यातमश्विना स्वश्वा गिरो दस्राजुजुषाणा युवाकोः ।

हव्यानि च प्रतिभृता वीतं नः ॥१॥

पदार्थः—(स्वश्वा, अश्विना) हे उत्तम अश्वों वाले राजपुरुषो ! आप (दस्रा) शत्रुओं के नाश करने वाले (शुभ्रा) तेजस्वी (युवाकोः) बलवान् हैं, (गिरः) हमारी वाणियें आपके लिये (आ) भले प्रकार (जुजुषाणा) सत्कार वाली हों (यातं) आप आकर (नः) हमारे यज्ञ को सुशोभित करें (च) और (हव्यानि) यज्ञीय पदार्थों का जो (प्रतिभृता) हविशेष है उसका (वीतं) उपभोग करें ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि याज्ञिक लोगो ! तुम अपने न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषों का सन्मान करो, उनको अपने यज्ञों में बुलाओ और मधुरवाणी से उनका सत्कार करते हुए हविशेष से उनको सत्कृत करो ताकि राजा तथा प्रजा में परस्पर प्रेम उत्पन्न होकर देश का कल्याण हो ॥१॥

प्र वामन्धांसि मद्यान्यस्थुररं गंतं हविषो वीतये मे ।

तिरो अर्यो हवनानि श्रुतं नः ॥२॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो ! (नः) हमारे वचनों को (श्रुतं) सुनो; (अर्यः) हमारे शत्रुओं की (हवनानि) शक्तियों को (तिरः) तिरस्कार करके (मे, हविषः) हमारे यज्ञों की (वीतये) प्राप्ति के लिये (गंतं) आयें; (वां) तुम्हारे (अंधांसि, मद्यानि) मद करने वाले राजमद (प्र, अस्थुः, अरं) भले प्रकार दूर हों ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम्हारा परम कर्तव्य है कि तुम राजमद त्याग कर प्रजा के धार्मिक यज्ञों में सम्मि-लित होओ और धार्मिक प्रजा का विरोधी जो शत्रुदल है उसका सदैव

तिरस्कार करते रहो ताकि यज्ञादि धार्मिक कार्यों में विघ्न न हो, अथवा राजा को चाहिये कि वह मादक पदार्थों के अधीन होकर कोई प्रमाद न करे और अपने राजमद को सर्वथा त्याग कर प्रेमभाव से प्रजा के साथ व्यवहार करे, वेदवेत्ता याज्ञिकों को चाहिये कि वह राजपुरुषों को सदैव यह उपदेश करते रहें ॥२॥

प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजांस्यश्विना शतोतिः ।
अस्मभ्यं सूर्यावसू इयानः ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! (वां) तुम्हारा (रथः) यान (सूर्यावसू) जो सूर्य्य तक वेग वाला (इयानः) गतिशील (मनोजवाः) मन के समान शीघ्रगामी (शतोतिः) अनेक प्रकार की रक्षा के साधनों वाला है वह (रजांसि, तिरः) लोक-लोकान्तरों को तिरस्कृत करता हुआ (अस्मभ्यं) हमारे यज्ञ को (प्र, इयर्ति) भले प्रकार प्राप्त हो ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक पुरुषो ! तुम उक्त प्रकार के रथ=यानों वाले राजपुरुषों को अपने यज्ञ में बुलाओ जिनके यान नभोमण्डल में सूर्य्य के साथ स्थिति वाले हों और जिनमें रक्षाविषयक अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लगे हुए हों । यहाँ रथ के अर्थ पहियों वाले भूमिस्थित रथ के नहीं किन्तु "रमन्ते यस्मिन् स रथः"=जिसमें भले प्रकार रमण किया जाय उसका नाम "रथ" है, सो भली भांति रमण आकाश में ही होता है भूमिस्थित रथ में नहीं, और न यह सूर्य्य तक गमन कर सकता है, इत्यादि विशेषणों से यहाँ विमान का कथन स्पष्ट है ॥३॥

अयं ह यद्वां देवया उ अद्रिरूर्ध्वो विवक्ति सोमसुद्युवभ्याम् ।
आ वल्गू विप्रो ववृतीत हव्यैः ॥४॥

पदार्थः—(वां, देवया) हे दिव्यशक्तिसम्पन्न राजपुरुषो ! तुम्हारा (अयं) यह (सोमसुद्) चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर यान (यद्) जब (उ) निश्चय करके (अद्रिः, ऊर्ध्वः) पर्वतों से ऊंचा जाकर (विवक्ति) बोलता है तब हर्षित हुए (वल्गू, विप्रः) बड़े बड़े विद्वान् पुरुष (आ) सत्कार पूर्वक (युवभ्यां) तुम दोनों को (हव्यैः) यज्ञों में (ववृतीत) वरण करते हैं ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! जब तुम्हारे यान पर्वतों की चोटियों से भी ऊंचे जाकर गर्जते

और सुन्दरता में चन्द्रमण्डल का मान मर्दन करते हैं तब ऐश्वर्य्य से सम्पन्न तुम लोगों को अपनी रक्षा के लिये बड़े बड़े विद्वान् अपने यज्ञों में आह्वान करते अर्थात् ऐश्वर्य्यसम्पन्न राजा का सब पण्डित तथा गुणीजन आश्रय लेते हैं और राजा का कर्तव्य है कि वह गुणीजनों का यथायोग्य सत्कार करे ॥४॥

चित्रं ह यद्वां भोजनं न्वस्ति न्यत्रये महिष्वंतं युयोतम् ।

यो वामोमानं दधते प्रियः सन् ॥५॥

पदार्थः—(वां) हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! (नु) निश्चय करके (यत्) जब (चित्रं, भोजनं) विविध प्रकार के अन्न राज्य में (अस्ति) होते हैं तब (वां) तुमको (ओमानं) रक्षायुक्त जानकर (नि) निरन्तर सब लोग (प्रियः, सन्) प्यार करते हुए (दधते) धारण करते हैं, क्योंकि (यः) जो (अत्रये) रक्षा के लिये (महिष्वंतं) बड़ा होता है (ह) प्रसिद्ध है कि उसी से सब लोग (युयोतं) जुड़ते हैं ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम अन्न का कोष और विविध प्रकार के धनों को सम्पादन करके पूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त होओ, तुम्हारे ऐश्वर्य्य सम्पन्न होने पर सब लोग तुम्हारे शासन में रहते हुए तुम से मेल करेंगे, क्योंकि ऐश्वर्य्ययुक्त पुरुष से सब प्रजाजन मेल रखते तथा प्यार करते हैं, अतएव प्रजापालन करने वाले राजा का मुख्य कर्तव्य है कि वह सब प्रकार के यत्नों से ऐश्वर्य्य लाभ करे ॥५॥

उत त्यद्वां जुरते अंश्विना भूच्च्यवानाय प्रतीत्यं हविर्दे ।

अधि यद्वर्प इतऊति धत्थः ॥६॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! (वां) तुम्हारे (जुरते) उत्साह के (उत) और (च्यवानाय) देशान्तर में गमन के लिये (प्रतीत्यं) प्रति दिन (हविः, दे) हवि देते हैं (यत्) जिससे (त्यत्) तुम्हारा कल्याण हो, सब प्राणियों को सुख (भूत्) हो और तुम (वर्पः, धत्थ) उस नूतन रूप को धारण करो जिससे (इतः) प्रजा की (अधि, ऊति) सब ओर से रक्षा हो ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! तुम्हारे याज्ञिक लोग तुम्हारी उन्नति तथा प्रजा के कल्याणार्थ प्रतिदिन यज्ञ करें जिससे तुम्हारा शुभ हो और तुम वैदिक कर्मों द्वारा बलयुक्त होकर शत्रुओं पर चढ़ाई के लिये सदा सन्नद्ध रहो जिससे प्रजा की रक्षा हो ॥६॥

अब राजा के लिये समुद्रयात्रा का वर्णन करते हैं ॥

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे ।
निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः ॥७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! तुम (त्यं) उस (भुज्युं) भोक्ता सम्राट् को (सखायः) मित्रता की दृष्टि से देखो, (दुरेवासः) जो एक स्थान में रहने वाले दुःखरूप वास को (जहुः) त्यागकर (समुद्रे, मध्ये) समुद्र के मध्य में गमन करता (उत) और (यः) जो (युवाकुः) तुम लोगों को (निः) निरन्तर (ईं, आरावा) उत्तम आचरणों की शिक्षा अथवा तुम्हारी रुकावटों को दूर करता हुआ (पर्षत्) तुम्हारी रक्षा करता है ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा शिक्षा देते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! तुम्हारा और प्रजा का वही सम्राट् सच्चा मित्र हो सकता है जो किसी रुकावट के विना समुद्र में यात्रा करता हुआ देश-देशान्तरों का परिभ्रमण करके अपने राज्य को उन्नत करता, अपनी प्रजा तथा राजकीय सैनिक पुरुषों में धार्मिक भावों का संचार करता और उनके सब दुःख तथा रुकावटों को दूर करके प्रेमपूर्वक वर्तता है। "दुरेवासः, जहुः" के अर्थ दुरवस्था को छोड़ देने के हैं। वास्तव में अपनी दुरवस्था को छोड़ने योग्य वही सम्राट् होता है, जो उद्योगी बनकर समुद्रयात्रा करता हुआ नाना प्रकार के धनोपार्जन करके अपनी प्रजा के दुःख दूर करता है। आलसी राजा मित्रता के योग्य नहीं, क्योंकि वह प्रजा को पीड़ित करके धन लेता और बड़े-बड़े कर लगाकर राजकीय व्यवहारों की सिद्धि करता है ॥७॥

वृकाय चिज्जसमानाय शक्तमुत श्रुतं शयवे हूयमाना ।
यावघ्न्यामपिन्वतमपो न स्तर्यं चिच्छक्त्यश्विना शचीभिः ॥८॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! (वृकाय) आदित्य के समान (चित्, शक्तं) प्रकाशमान ऐश्वर्य्यसम्पन्न (जसमानाय) सत्कर्मों से विभूषित (श्रुतं) बहुश्रुत (उत) और (शयवे) विज्ञानी राजा की (चित्, शक्ती) ऐश्वर्य्यरूप शक्ति को (यौ) तुम लोग (शचीभिः; हूयमाना) शुभकर्मों तथा प्रतिदिन हवनादि यज्ञों द्वारा बढ़ाओ, और (अघ्न्यां) सर्वदा रक्षा करने योग्य गौयें (अपः) अपने दुग्धों द्वारा (अपिन्वतं) उसके ऐश्वर्य्य को बढ़ायें (न, स्तर्यं) जो वृद्धा न हों ॥८॥

भावार्थः—"वृणक्ति यः स वृकः"=जो अन्धकार का नाशक हो उसका नाम यहां "वृक" है । परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! अविद्यादि अन्धकार के नाशक, विद्यादि गुणों से सम्पन्न और जो हनन करने योग्य नहीं ऐसी "अघ्न्या=सर्वदा रक्षायोग्य गौयें दुग्ध द्वारा जिसके ऐश्वर्य्य को बढ़ाती अर्थात् शरीरों को पुष्ट करती हैं ऐसे राजा के ऐश्वर्य्य को आप लोग सत्कर्मों द्वारा बढ़ायें ॥८॥

अब राजा की वृद्धि के लिये प्रजा की प्रार्थना कथन करते हैं ॥

एष स्य कारुर्जरते सूक्तैरग्रे बुधान उषसां सुमन्मा ।

इषा तं वर्धदघ्न्या पयोभिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥९॥

पदार्थः—(कारुः) सदाचारी (सुमन्मा) बुद्धिमान् (उषसां) उषाकाल से (अग्रे) पहले (बुधानः) जागने वाला (एषः, स्यः) यह वेदवेत्ता पुरुष (सूक्तैः) वेदों के सूक्तों से (तं) राजा के अर्थ (इषा, वर्धत्) अन्नों द्वारा बढ़ने के लिये प्रार्थना करे (अघ्न्या पयोभिः,) गौओं के दुग्ध द्वारा परमात्मा बढ़ावे, यह प्रार्थना करे और (यूयं) आप लोग (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचक वाणियों से यह प्रार्थना करें कि (नः) हमारा (सदा) सर्वदा (पात) कल्याण हो ॥९॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे वेदवेत्ता पुरुषो ! तुम प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ कर अपने आचार को पवित्र बनाने का उपाय विचारो और स्वाध्याय करते हुए राजा तथा प्रजा के लिये कल्याण की प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! पुष्कल अन्न वस्त्र तथा दुग्धादि पदार्थों से आप हमारी रक्षा करें । परमात्मा आज्ञा देते हैं कि राजा तथा प्रजा तुम दोनों के ऐसे ही सद्भाव हों जिससे तुम्हारी सदैव वृद्धि हो, और हे वैदिक कर्मों के अनुष्ठानी पुरुषो, तुम सदैव ऐसा ही अनुष्ठान करते रहो ॥९॥

सप्तम मण्डल में ६८ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टर्चस्यैकोनसप्ततितमस्य सूक्तस्य १–८ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः–१, ४, ६, ८ निचृत्त्रिष्टुप् । २,७, त्रिष्टुप् । ३ आर्चीस्वराट् त्रिष्टुप् । ५ विराट्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब इस सूक्त में परमात्मा राजपुरुषों को सन्मार्ग का उपदेश करते हैं ॥

आ वां रथो रोदसी बद्बधानो हिरण्ययो वृषभिर्यात्वश्वैः ।

घृतवर्तनिः पविभी रुचान इषां वोळ्हा नृपतिर्वाजिनीवान् ॥१॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो ! (वां रथः) तुम्हारा रथ (हिरण्ययः) जो ज्योति = प्रकाशवाला (वृषभिः, अश्वैः) बलवान् घोड़ों वाला (घृतवर्तनिः) स्नेही की बत्ती से प्रकाशित (पविभिः, रुचानः) दृढ़ अस्थियों से बना हुआ (इषां, वोळ्हा, वाजिनीवान्) और जो सब प्रकार का ऐश्वर्य्य तथा बलों का देने वाला है उसमें तुम्हारा बैठा हुआ (नृपतिः) आत्मारूप राजा (रोदसी) अव्याहतगति होकर (आ, बद्बोधानः) सब ओर से भली भांति विजय करता हुआ (यातु) गमन करे ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में रथ के रूपकालङ्कार से परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम्हारा शरीररूपी रथ जिसमें इन्द्रियरूप बलवान् घोड़े जुते हुए हैं, जो दृढ़ अस्थियों से बना हुआ है, जिसमें वीर्यरूप स्नेह से सनी हुई वर्तिका = बत्ती जल रही है, जो सब प्रकार के ऐश्वर्य्य तथा बलों का बढ़ाने वाला है उसमें स्थित आत्मारूप राजा अव्याहत-गति = विना रोक टोक सर्वत्र गमनशील हो अर्थात् तुम लोग पृथिवी और द्यु लोक के मध्य में सर्वत्र गमन करो, यह हमारा तुम्हारे लिये आदेश है ॥१॥

स पंप्रथानो अभि पंच भूमां त्रिवंधुरो मनसा यांतु युक्तः ।

विशो येन गच्छंथो देवयंतीः कुत्रां चिद्याममश्विना दधांना ॥२॥

पदार्थः—(सः) वह रथ जो (पप्रथानः) विस्तृत (पंच, भूमा, अभि, युक्तः) पांच भूतों से बना हुआ, और (त्रिवंधुरः) तीन बन्धनों से बंधा हुआ है (येन) जिससे (विशः) मनुष्य यात्रा करते हुए (देवयंतीः, गच्छथः) दिव्य ज्योति की ओर जाते हैं, (अश्विना) हे राजपुरुषो ! (यामं) ऐसे दिव्य रथ को (मनसा, दधाना) मनसे धारण करते हुए (कुत्र, चित्) सर्वत्र (यातु) विचरो ॥२॥

भावार्थः—हे राजपुरुषो ! वह शरीररूपी रथ क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु इन पांच तत्वों = भूतों से बना हुआ जानो और जिसमें सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के बन्धन लगे हुए हैं अर्थात् इनसे जगह-जगह पर बंधा हुआ है, जिससे यात्रा करते हुए मनुष्य उस दिव्य ज्योति परमात्मा को प्राप्त होते हैं जो मनुष्यजीवन का मुख्य उद्देश्य है। परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे संसार के यात्री लोगो ! तुम इस दिव्य रथ को मन से धारण करते हुए सर्वत्र विचरो अर्थात् मन को दमन करते हुए इस रथ में इन्द्रिय-रूप बड़े बलवान् घोड़े जुते हुए हैं जो मनरूप रासों को दृढ़ता से पकड़े विना कदापि वशीभूत नहीं हो सकते, इसलिये तुम मनरूप रासों को दृढ़ता से पकड़ो अर्थात् मन की चंचल वृत्तियों को स्थिर करो ताकि यह इन्द्रियरूप

घोड़े इस शरीररूपी रथ को विषम मार्ग में ले जाकर किसी गर्त में न गिरायें ॥२॥

स्वश्वा यशसा यातमर्वाग्दस्रा निधिं मधुमन्तं पिबाथः ।

वि वां रथो वध्वा३ यादमानोऽन्तान्दिवो बाधते वर्तनिभ्याम् ॥३॥

पदार्थः—(दस्रा, यशसा) हे शत्रुओं को दमन करने वाले यशस्वी राजपुरुषो! (वां) तुम्हारा (स्वश्वा) बलिष्ठ घोड़ों वाला (रथः) रथ (मधुमंतं, निधिं) मधुररस वाले देशों की निधियों को (पिबाथः) पान करता हुआ (वध्वा) अपने उद्देश्य रूप लक्ष्य में स्थिर (वर्तनिभ्यां) गतिशील पहियों से (वि, बाधते) सब बाधा = रुकावटों को भले प्रकार दूर करता हुआ (दिवः अन्तान्) द्युलोक के अंत तक पहुँच कर (अर्वाक्, यातं) मेरे सन्मुख आवे ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम्हारा इन्द्रिय रूप बलवान् घोड़ों वाला रथ जिसका सारथी बुद्धि वर्णन की गई है, जिसमें मनरूप रासें और पवित्र कर्मों वाला जीवात्मा जिसका रथी है, वह अपने सदाचार से देशदेशान्तरों को विजय करके, अर्थात् सम्पूर्ण दुराचारों के त्यागपूर्वक अमृत पान करता हुआ धर्म की अन्तिम सीमा पर पहुंच कर मुझे प्राप्त हो ॥३॥

युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम् ।

यद्देवयन्तमवथः शचीभिः परि घ्रंसमोमना वां वयो गात् ॥४॥

पदार्थः—(युवोः) हे युवावस्था को प्राप्त राजपुरुषो, (सूरः, दुहिता) शूरवीरों की कन्यायें (परितक्म्यायां) वेदियों के स्वयंवरों में (योषा) स्त्रियें बनकर तुम्हारी (श्रियं) शोभा को (परि, अवृणीत) भले प्रकार बढ़ावें, और (यत्) जो तुम (शचीभिः) अपने शुभकर्मों द्वारा (देवयंतं) क्षात्रधर्मरूप यज्ञ की (अवथः) रक्षा करते हो, इसलिये (वां) तुमको (घ्रंसं, ओमना, वयः) दीप्ति वाला धनादि ऐश्वर्य्य (परि, गात्) सब ओर से प्राप्त हो ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे क्षात्रधर्म को प्राप्त राजपुरुषो ! तुम ब्रह्मचर्य्यादि नियमों का पालन करते हुए युवावस्था को प्राप्त होकर इस सर्वोपरि क्षात्रधर्म का पालन करो जिससे सुरक्षित हुए सब यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होते हैं, यदि तुम अपने जीवन से क्षात्रधर्म को उच्च मान कर इस की भले प्रकार रक्षा करोगे तो दिव्यगुणसम्पन्न देवियां तुम्हें स्वयंवरों में वरेंगीं और तुम्हें धनरूप ऐश्वर्य्य प्राप्त होगा ॥४॥

यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्रा रथो युजानः परियाति वर्तिः ।
तेन नः शं योरुषसो व्युष्टौ न्यश्विना वहतं यज्ञे अस्मिन् ॥५॥

पदार्थः—(अश्विना) हे शूरवीर राजपुरुषो (वां) तुम (ह) निश्चय करके (अस्मिन्, यज्ञे) इस यज्ञ में (नि) निरन्तर (शंयोः) सुख को (वहतं) प्राप्त होओ (तेन) उस यज्ञ से (नः) हमको (उषसः, व्युष्टौ) प्रातःकाल उद्बोधन करो, और (यः) जो (रथिरा) रथी = आत्मा रथ से (वस्ते) आच्छादित है (स्यः) वह (रथः, युजानः) रथ के साथ जुड़ा हुआ (उस्रा) तेजस्वी बनकर (वर्तिः, परियाति) तुम्हारे मार्गों को सुगम करे ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम क्षात्रधर्मरूप यज्ञ को भले प्रकार पालन करते हुए सुख को प्राप्त होओ अर्थात् अपने उस रथीरूप आत्मा को जिसका वर्णन पीछे कर आये हैं यम नियमादि द्वारा तेजस्वी बनाओ और सब प्रजा को उद्बोधन करो कि वे प्रातः उषाकाल में उठकर अपने कर्तव्य का पालन करें, यदि तुम इस प्रकार संस्कृत आत्मा द्वारा संसार की यात्रा करोगे तो तुम्हारे लिये सब मार्ग सुगम हो जावेंगे जिससे तुम द्युलोक के अन्त तक पहुंच कर मुझे प्राप्त होगे ॥५॥

नरा गौरेव विद्युतं तृषाणास्माकमद्य सवनोप यातम् ।
पुरुत्रा हि वां मतिभिर्हवन्ते मा वामन्ये नि यमन्देवयन्तः ॥६॥

पदार्थः—(नरा) हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम (विद्युतं) विद्युत् के आकर्षण से आकर्षित हुई (गौरा, इव) पृथिवी के समान (तृषाणा) आकर्षित हुए (अद्य) आज (अस्माकं) हमारे (सवना, उप, यातं) इस यज्ञ को आकर प्राप्त हो, (हि) क्योंकि (वां) तुमको (पुरुत्रा) कई स्थानों में (मतिभिः, हवन्ते) बुद्धिद्वारा बोधन किया जाता है। (वां) तुम लोग (नि) निश्चय करके (अन्ये) किसी अन्य मार्ग में (देवयन्तः) दीन होकर (मा, यमन्) मत चलो ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! जिस प्रकार विद्युदादि शक्ति से आकर्षित हुआ पृथिवीमण्डल सूर्य्य की ओर खिंचा चला आता है इसी प्रकार तुम लोग क्षात्र धर्म रूपी यज्ञ की ओर आकर्षित होकर आओ, यद्यपि तुम्हारी वासनायें तुम्हें दीन बनाने के लिये दूसरी ओर ले जाती हैं परन्तु तुम उनसे सर्वथा पृथक् रह कर इस क्षात्रधर्म रूप यज्ञ में ही दृढ़ रहो, क्योंकि शूरवीर क्षत्रिय ही इस यज्ञ का होता बन सकता है अन्य भीरु तथा कायर पुरुष इस यज्ञ में आहुति देने का अधिकारी नहीं ॥६॥

युवं भुज्युमर्वविद्धं समुद्र उदूहथुरर्णसो अस्रिधानैः ।
पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिर्दंसनाभिरश्विना पारयन्ता ॥७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे शूरवीर राजपुरुषो, (समुद्रे, अवविद्धं) समुद्र में गिरे हुए (युवं, भुज्युं) अपने युवा सम्राट् को (अस्रिधानैः, पतत्रिभिः) न डूबने वाले जहाजों (उत्) और (अव्यथिभिः, दंसनाभिः, अश्रमैः) अपने अनथक शारीरिक परिश्रमों द्वारा (अर्णसः) जलप्रवाहों से (ऊहथुः) निकालकर (पारयन्ता) पार करो ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम्हारी राज्यरूप श्री का भुज्यु = भोक्ता सम्राट् समुद्र में स्थित है अर्थात् 'समुद्द्रवन्त्यस्मादापः स समुद्रः" = जिसमें भले प्रकार जल भरे हों अथवा जो जलों का धारण करने वाला हो उसको "समुद्र" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से सागर तथा आकाश दोनों अर्थों में समुद्र शब्द प्रयुक्त होता है जिसके अर्थ ये हैं कि हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम्हारे राज्य की श्री जो युवावस्था को प्राप्त अर्थात् चमकती हुई दोनों समुद्रों के मध्य विराजमान है, तुम लोग उसको जलकी यात्रा करने वाले जहाजों द्वारा अथवा आकाश की यात्रा करने वाले विमानों द्वारा निकालो ॥७॥

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् ।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

पदार्थः—(युवाना, अश्विनौ) हे युवावस्था को प्राप्त राजपुरुषो ! (नु) निश्चय करके (मे) मेरे (हवं) इस उपदेश को (आ) भली-भांति (शृणुतं) सुनो (इरावत्, वर्तिः, यासिष्टं) तुम लोग ऐश्वर्य्यशाली देशों के मार्गों को जाओ, और वहां (सूरीन्, जरत) शूरवीरों को उपलब्ध करके (रत्नानि, धत्त) रत्नों को धारण करो (च) और परमात्मा से प्रार्थना करो कि (यूयं) आप (नः) हमको (स्वस्तिभिः) कल्याणदायक उपदेशों से (सदा) सदैव (पात) पवित्र करें ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे युवा शूरवीर योद्धाओ ! तुम धनधान्य से पूरित ऐश्वर्य्यशाली देशों की ओर जाओ और वहां के शूरवीरों को विजय करके विविध प्रकार के धनों को लाभ करो, और विजय के साथ ही परमात्मा से प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! आप अपने सदुपदेशों

से हमें सदा पवित्र करें ताकि हम से कोई अनिष्ट कर्म न हो और आप हमारी इस विजय में सदा सहायक हों ॥८॥

सप्तम मण्डल में ६९ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य सप्ततितमस्य सूक्तस्य—१–७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ५, ७ विराट्त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

अब ज्ञानी तथा विज्ञानियों द्वारा यज्ञों का सुशोभित होना कथन करते हैं ॥

आ विश्ववाराश्विना गतं नः प्र तत्स्थानमवाचि वां पृथिव्याम् ।

अश्वो न वाजी शुनपृष्ठो अस्थादा यत्सेदथुर्ध्रुवसे न योनिम् ॥१॥

पदार्थः—(विश्ववारा, अश्विना) हे वरणीय विद्वज्जनो ! (आगतं) आप आकर (नः) हमारे यज्ञ को (आ) भले प्रकार सुशोभित करें (वां) तुम्हारे लिये (तत्) उस (पृथिव्यां) पृथिवी में (शुनपृष्ठः) सुखपूर्वक बैठने के लिये (स्थानं) स्थान = वेदि (अवाची) बनाई गई है (यत्) जो (योनिं, न) केवल बैठने को ही नहीं किन्तु (ध्रुवसे, सेदथुः) दृढ़ता में स्थिर करने वाली है आप लोग (प्र) हर्षपूर्वक (वाजी, अश्वः, न) बलवान् अश्व के समान (अस्थात्) शीघ्रता से आयें ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक लोगो ! तुम अपने यज्ञों में ज्ञानी और विज्ञानी दोनों प्रकार के विद्वानों को सत्कारपूर्वक बुलाकर यज्ञवेदि पर बिठाओ और उनसे नाना प्रकार के सदुपदेश ग्रहण करो, क्योंकि यह वेदि केवल बैठने के लिये ही नहीं किन्तु यज्ञकर्मों की दृढ़ता में स्थिर कराने वाली है ॥१॥

सिषक्ति सा वां सुमतिश्चनिष्ठातापि घर्मो मनुषो दुरोणे ।

यो वां समुद्रान्त्सरितः पिपर्त्येतग्वा चिन्न सुयुजा युजानः ॥२॥

पदार्थः—(सुयुजा, युजानः) ज्ञानादि यज्ञों के साथ भली भांति जुड़े हुए याज्ञिक लोगो, (वां) तुम (सा, सुमतिः) उस उत्तम बुद्धि द्वारा (चनिष्ठा) अनुष्ठानी बनकर (सिषक्ति) इस यज्ञ को सिंचन करो (यः) जो (मनुषः) मनुष्य का (घर्मः) यज्ञ सम्बन्धी स्वेद है वह (दुरोणे) यज्ञगृह में (अतापि) तपा हुआ (वां) तुम्हारे (समुद्रान्, सरितः) समुद्र को नदियों के समान तुम्हारी आशाओं को (पिपर्ति) पूर्ण करता है (न, चित्, एतग्वा) अन्यथा कभी नहीं ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक लोगो ! तुम उत्तम बुद्धि द्वारा अनुष्ठानी बनकर यज्ञ का सेवन करो, क्योंकि तुम्हारे तप

से उत्पन्न हुआ स्वेद मानो सरिताओं का रूप धारण करके तुम्हारे मनोरथ-रूपी समुद्र को परिपूर्ण करता है अर्थात् जब तक पुरुष पूर्ण तपस्वी बनकर अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उद्यत नहीं होता तब तक उस लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती, इसलिए आप लोग अपने वैदिक लक्ष्यों की पूर्ति तपस्वी बनकर ही कर सकते हो अन्यथा नहीं ॥२॥

यानि स्थानान्यश्विना दधाथे दिवो यह्वीष्वोषधीषु विक्षु ।

नि पर्वतस्य मूर्धनि सदन्तेषं जनाय दाशुषे वहन्ता ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे ज्ञानी विज्ञानी विद्वानो, (यानि, स्थानानि, दधाथे) जिन जिन स्थानों को आप लोग धारण करते हैं वह (दिवः) द्युलोक सम्बन्धी हों (यह्वीषु, ओषधीषु) चाहे अन्न तथा ओषधियों विषयक हों (विक्षु) चाहे प्रजासम्बन्धी हों (नि) निश्चय करके (पर्वतस्य, मूर्धनि) पर्वतों की चोटियों पर हों, इन सब स्थानों में (सदन्ता) स्थिर हुए आप (दाशुषे, जनाय) दानी याज्ञिक लोगों के (इषं) ऐश्वर्य को (वहन्ता) बढ़ाओ ॥३॥

भावार्थः—ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानों के लिए परमात्मा आज्ञा देते हैं कि जिन-जिन स्थानों में प्रजाजन निवास करते हैं उन स्थानों में जाकर प्रजा के लिए ऐश्वर्य की वृद्धि करो, नानाप्रकार की ओषधियों के तत्त्वों को जानकर उनका प्रजा में, प्रजाओं को संगठन की नीतिविद्या अथवा उच्च प्रदेशों के ऊपर स्थिर होने के लिए विमानविद्या की शिक्षा दो, विद्याओं को उपलब्ध करते-कराते हुए अपने याज्ञिकों का ऐश्वर्य बढ़ाओ ॥३॥

चनिष्टं देवा ओषधीष्वप्सु यद्योग्या अश्नवैथे ऋषीणाम् ।

पुरूणि रत्ना दधतौ न्यस्मे अनु पूर्वाणि चख्यथुर्युगानि ॥४॥

पदार्थः—(चनिष्टं, देवा) हे योग्य विद्वान् पुरुषो ! (ओषधीषु, अप्सु) ओषधियों तथा जलों में (ऋषीणां) ऋषियों के तात्पर्य को (यत्) जो (अश्नवैथे) जानते हो वह (नि) निश्चय करके हमारे प्रति कहो, क्योंकि आप (योग्याः) सब प्रकार से योग्य हैं (अस्मे) हमारे लिए (पुरूणि, रत्ना) अनेक प्रकार के रत्न (दधतौ) धारण कराओ, जिनको (अनु, पूर्वाणि, युगानि) पूर्वकालिक सब विद्वानों ने (चख्यथुः) कथन किया है ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक लोगो ! तुम उन ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानों से यह प्रार्थना करो कि आप सब प्रकार की

विद्याओं में कुशल हो, इसलिए ओषधियों तथा जलीय विद्या सम्बन्धी ऋषियों के अभिप्राय को हमारे प्रति कहो, और जो प्राचीन रसायन विद्यावेत्ता विद्वानों ने रत्नादि निधियों को निकाला है उनका ज्ञान भी हमें कराओ अर्थात् पदार्थ विद्या के जानने वाले ऋषियों के तात्पर्य को समझाकर हमें निधिपति बनाओ ॥४॥

शुश्रुवांसां चिदश्विना पुरूण्यभि ब्रह्माणि चक्षाथे ऋषीणाम् ।
प्रति प्र यातं वरमा जनायास्मे वामस्तु सुमतिश्चनिष्ठा ॥५॥

पदार्थः—(शुश्रुवांसा, अश्विना) हे सुशिक्षित विद्वानो ! (ऋषीणां, पुरूणि, अभि, ब्रह्माणि) ऋषियों सम्बन्धी अनेक वैदिक ज्ञानों को हमारे प्रति (आ) भले प्रकार (चक्षाथे) कथन करो (वां) तुम्हारी (चनिष्ठा, सुमतिः) अनुष्ठानिक उत्तम बुद्धि (अस्मे, जनाय) हम लोगों के लिए (अस्तु) शुभ हो, और (वरं, प्रति) हमारे श्रेष्ठ यज्ञस्थान को आप (प्र, यातं) गमन करें ॥५॥

भावार्थः—हे याज्ञिक लोगो ! तुम उन वेदविद्यापारग विद्वानों से यह प्रार्थना करो कि आप उन पूर्वकालिक मंत्रद्रष्टा ऋषियों से उपलब्ध किये ज्ञान का हमें उपदेश करें जिससे हमारी बुद्धि निष्ठायुक्त होकर वेद के गूढ भावों को ग्रहण करने योग्य हो, कृपा करके आप हमारे यज्ञीय पवित्र स्थान को सुशोभित करें ताकि हम आपसे वेदविषयक ज्ञान श्रवण करके पवित्र भावों वाले हों ॥५॥

यो वां यज्ञो नासत्या हविष्मान्कृतब्रह्मा समर्यो३ भवाति ।
उप प्र यातं वरमा वसिष्ठमिमा ब्रह्माण्यृच्यन्ते युवभ्याम् ॥६॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो, (समर्यः) ईश्वर की उपासनायुक्त (हविष्मान्) हविवाला (वां) तुम्हारा (यः) जो (यज्ञः) यज्ञ, जिसमें (कृतब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्रह्मा (भवति) बनाया गया है। इस यज्ञ में (युवभ्यां) तुम्हारे द्वारा (इमा) इन (ब्रह्माणि, ऋच्यन्ते) वेदों का प्रचार (आ) भले प्रकार किया जायेगा इसलिए (वरं, वसिष्ठं) अतिश्रेष्ठ इस यज्ञ को (उप, प्रयातं) आप आकर सुशोभित करें ॥६॥

भावार्थः—हे ब्रह्मप्रतिपादक वेद के प्रचारक विद्वानो ! आप इस श्रेष्ठ यज्ञ में आकर इसकी शोभा को बढ़ावें, जो परमात्मा की उपासना के निमित्त किया गया है, हे आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचारक विज्ञानी देवो !

आप हमको इस पवित्र यज्ञ में परमात्मविषयक उपदेश करें जो मनुष्यजीवन का एकमात्र लक्ष्य है ॥६॥

अब परमात्मस्तुति का उपदेश करते हैं ॥

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।

इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(वृषणा) हे विद्यादि की कामनाओं को पूर्ण करने वाले (अश्विना) ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानो ! (इयं, मनीषा) यह बुद्धि (इयं, गीः) यह वाणी (इमां, सुवृक्ति) इन परमात्म स्तुतियों को (जुषेथां) आप सेवन करें (युवयूनि) जो तुम से सम्बन्ध रखती हैं और (इमा, ब्रह्माणि) यह ब्रह्मप्रतिपादक स्तोत्र (अग्मन्) तुम्हें प्राप्त हों, और तुम सदैव यह प्रार्थना करो कि (वः) हमको (यूयं) आप (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (पात) पवित्र करें ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो! तुम इस वेदवाणी का सदा सेवन करो जो विद्या की बुद्धि द्वारा सब कामनाओं के पूर्ण करने वाली है, और तुम सदैव वेद के उन स्तोत्रों का पाठ करो जिनमें परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का वर्णन किया गया है जिससे तुम्हारा जीवन पवित्र होकर परमात्मप्राप्ति के योग्य हो ॥७॥

सप्तम मण्डल में ७०वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्यैकसप्ततितमस्य सूक्तस्य—१-६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, ५ त्रिष्टुप् । २, ३, ४, ६ विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

अब इस सूक्त में ब्राह्ममुहूर्त्तकाल में उपदेश श्रवण करने का विधान करते हैं ॥

अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ।

अश्वामघा गोमघा वां हुवेम दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम् ॥१॥

पदार्थः—(अश्वामघा, गोमघा) हे अश्व तथा गोरूप धन सम्पन्न (वां) अध्यापक तथा उपदेशको ! हम आप से (हुवेम) प्रार्थना करते हैं कि आप (दिवा, नक्तं) दिन रात्रि (अस्मत्) हमसे (शरुं) हिंसारूप पाप को (युयोतं) दूर करें । (नक्) और जिस समय (कृष्णीः) रात्रि (स्वसुः, उषसः) अपनी उषारूपी पुत्री का (अप,

जिहीते) त्याग करके (अरुषाय, पंथां, रिणक्ति) सूर्य के लिए मार्ग देती है उस समय उपदेश करें ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे प्रजाजनो ! तुम उन ऐश्वर्यसम्पन्न अध्यापक तथा उपदेशकों से यह प्रार्थना करो कि आप अपने सदुपदेशों द्वारा हमको पवित्र करते हुए हिंसारूप पापपंक को हमसे सदैव के लिए छुड़ा कर शुद्ध करें, और हे विद्वानो ! आप हम लोगों को उषाकाल=ब्राह्ममुहूर्त्त में उपदेश करें जिस समय प्रकृति का सम्पूर्ण सौन्दर्य अपनी नूतन अवस्था को धारण करता और जिस समय पक्षीगण मधुर स्वर से अपने-अपने भावों द्वारा जगन्नियन्ता जगदीश के भावों को प्रकाशित करते हैं ॥१॥

उपायातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता ।
युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः ॥२॥

पदार्थः—(अश्विना) हे विद्वज्जनो ! (रथेन, वामं, उपायातं) अपने आभा वाले शीघ्रगामी यानों द्वारा हमें प्राप्त होकर (मर्त्याय, दाशुषे) हम यजमानों की मनोकामना (वहंता) पूर्ण करते हुए (अस्मत्) हमसे (अनिरां, अमीवां) दरिद्रता तथा सब प्रकार के रोगों को (युयुतं) पृथक् करो और (माध्वी) हे मधुरभाषी विद्वानो ! (नक्तं, दिवा) रात्री दिन (नः) हमारी (त्रासीथां) सब ओर से रक्षा करो ॥२॥

भावार्थः—हे प्रजाजनो ! तुम उन विद्वानों से यह प्रार्थना करो कि हे भगवन्, आप हमें प्राप्त होकर हमको वह उपाय बतलावें जिससे हमारी दरिद्रता दूर हो, हमारा शरीर नीरोग रहे, हम मधुरभाषी हों और ईर्ष्या द्वेष से सर्वथा पृथक् रहें अर्थात् अपनी चिकित्सारूप विद्या द्वारा हमको नीरोग करके ऐसे साधन बतलावें जिससे हम रोगी कभी न हों, और पदार्थ विद्या के उपदेश द्वारा हमें कला कौशलरूप ज्ञान का उपदेश करें जिससे हमारी दरिद्रता दूर हो, हम ऐश्वर्यशाली हों और साथ ही हमें आत्मज्ञान का भी उपदेश करें जिससे हमारा आत्मा पवित्रभावों में परिणत होकर आपकी आज्ञा का सदैव पालन करने वाला हो ॥२॥

आ वां रथमवमस्यां व्युष्टौ सुम्नायवो वृषणो वर्तयन्तु ।
स्यूमगभस्तिमृतयुग्भिरश्वैराश्विना वसुमन्तं वहेथाम् ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे विद्वानो ! आप (ऋतयुग्भिः, अश्वैः) दो प्रकार के ज्ञानों से हमको (आ) भले प्रकार (वसुमंतं, वहेथां) ऐश्वर्यसम्पन्न करें, ताकि हम (सुम्नायवः) सुखपूर्वक (वृषणः वर्तयन्तु) आनन्द को अनुभव कर सकें (वां, रथं) आप अपने रथ=यानों को (अवमस्यां, व्युष्टौ) विघ्नरहित मार्गों में चलायें, और वह सुन्दर रथ (स्यूमगभस्ति) ऐश्वर्य की रासों वाले हों ॥३॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मा ! आप हमारे उपदेशकों को ऐश्वर्य की रासों वाले रथ प्रदान करें अर्थात् वह सब प्रकार से सम्पत्तिसम्पन्न हों दरिद्र न हों ताकि वह हमको ऐहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख का उपदेश करें अर्थात् हम उनसे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करके आनन्द अनुभव कर सकें ॥३॥

यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिबन्धुरो वसुमाँ उस्रयामा ।
आ न एना नासत्योप यातमभि यद्वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ॥४॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सत्यवादी विद्वानो ! (वां) आप (नः) हमको (एना) उस मार्ग द्वारा (उपयातं) प्राप्त हों, (यः) जो (विश्वप्स्न्यः) परमात्मा ने (जिगाति) कथन किया है। (नृपती) हे मनुष्यों के पति विद्वानो, (वां) आपका (यत्) जो (रथः) रथ (वोळ्हा, आ) तुम्हें भले प्रकार लाने वाला है, वह (त्रिबन्धुरः) तीन बन्धनोंवाला (वसुमान्) ऐश्वर्यवाला, और (उस्रयामा) आकाशमार्ग में चलनेवाला (अस्तु) हो ॥४॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे विद्वज्जनो ! आप परमात्मा के कथन किये हुए मार्ग द्वारा हमें प्राप्त हों अर्थात् परमात्मा ने उपदेशकों के लिए जो कर्तव्य कथन किया है उसका आप पालन करें, या यों कहो कि आप हमें परमात्मपरायण करके हमारे जीवन को उच्च बनावें और हमें वेदों का उपदेश सुनावें जो परमात्मा ने हमारे लिए प्रदान किया है ॥४॥

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम् ।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः ॥५॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! (युवं) तुम्हारा (जरसः, अमुमुक्तं) जीर्णता से रहित (च्यवानं) ज्ञान (नि) निरन्तर (पेदवे) हमारी रक्षा के लिए हो, और (निः)

निस्सन्देह (अश्वं, आशु, ऊहथुः) राष्ट्र को शीघ्र प्राप्त कराये (अंधसः तमसः) अज्ञानरूप तम से (अत्रिं) अरक्षित राष्ट्र को (जाहुषं) निकाले और उसके (शिथिरे) शिथिल होने पर (अंतः, धातं) आत्मा बनकर धारण करे ॥५॥

भावार्थः—हे विद्वानो ! आपका जीर्णता से रहित नित नूतन ज्ञान हमारी सब ओर से रक्षा करे और वह पवित्र ज्ञान हमें राष्ट्र=ऐश्वर्य प्राप्त कराये, और आपके ज्ञान द्वारा हम अपने गिरे हुए राष्ट्र को भी पुनर्जीवित करें ॥५॥

अब सब प्रजाजन, अध्यापक तथा उपदेशक मिलकर परमात्मा की इस प्रकार प्रार्थना, उपासना करो ॥

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।
इमा ब्रह्माणि युवयून्यंग्मन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

पदार्थः—(वृषणा) हे विद्यादि की कामनाओं को पूर्ण करने वाले (अश्विना) अध्यापक तथा उपदेशको, (इयं, मनीषा) यह बुद्धि (इयं, गीः) यह वाणी (इमां, सुवृक्ति) इन परमात्मस्तुतियों को (जुषेथां) आप सेवन करें, (युवयूनि) जो तुमसे सम्बन्ध रखती हैं, और (इमा, ब्रह्माणि) यह ब्रह्मप्रतिपादक स्तोत्र (अग्मन्) तुम्हें प्राप्त हों, और तुम सदैव यह प्रार्थना करो कि (नः) हमको (यूयं) आप (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (पात) पवित्र करें ॥६॥

भावार्थः—हे श्रोताजन तथा उपदेशको ! तुम मिलकर वैदिक स्तोत्रों से परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना करते हुए यह वर मांगो कि हे जगदीश्वर ! हम वेदों के अनुसार अपना आचरण बनावें जिससे हमारा जीवन पवित्र हो ॥६॥

सप्तम मण्डल में ७१वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य द्वासप्ततितमस्य सूक्तस्य—१-५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, २, ३, ४ निचृत् त्रिष्टुप् । ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब इस सूक्त में यज्ञों का वर्णन करते हुए यजमानों की प्रार्थना कथन करते हैं ॥

आ गोमता नासत्या रथेनाश्वावता पुरुश्चन्द्रेण यातम् ।
अभि वां विश्वा नियुतः सचन्ते स्पार्हया श्रिया तन्वा शुभाना ॥१॥

पदार्थः—(नासत्या) सत्यवादी अध्यापक तथा उपदेशक, (गोमता) प्रकाशवाले (अश्ववता) शीघ्रगामी (पुरुश्चन्द्रेण) अत्यन्त आनन्द उत्पन्न करनेवाले (रथेन) रथ=यान द्वारा (आयातं) हमारे यज्ञ में आयें, और (श्रिया, तन्वा) सुशोभित शरीर से (शुभाना) शोभा को प्राप्त हुए (वां) उनको (अभि) सब ओर से (स्पार्हया) प्रेमयुक्त (विश्वाः) सम्पूर्ण (नियुतः) स्तुतियें (सचंते) संगत हों ॥१॥

भावार्थः—हे यजमानो ! आप लोग सदैव मन, वाणी तथा शरीर से ऐसे यत्नवान् हों जिससे तुम्हारे यज्ञों को सत्यवादी विद्वान् आकर सुशोभित करें और आप लोग सब ओर से उनकी स्तुति करते हुए अपने आचरणों को पवित्र बनायें क्योंकि सत्यवादी विद्वानों की संगति से ही पुरुषों में उच्चभाव उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं ॥१॥

आ नो॑ दे॒वेभि॒रुप॑ यातम॒र्वाक् स॒जोष॑सा नास॒त्या रथे॑न।
यु॒वोर्हि नः॑ स॒ख्या पित्र्या॑णि समा॒नो बन्धु॑रु॒त तस्य॑ वित्तम् ॥२॥

पदार्थः—(देवेभिः) दिव्यशक्तिसम्पन्न (नासत्या) सत्यवादी विद्वान् (रथेन) यानद्वारा (नः) हमको (आ) भले प्रकार (उपयातं) प्राप्त हों (उत) और (अर्वाक्, सजोषसा) अपनी दिव्यवाणी से (नः) हमें (तस्य, वित्तं) उस ज्ञानरूप धन को प्रदान करें (हि) निश्चय करके (युवोः) तुम्हारी (सख्या) मैत्री (पित्र्याणि, बन्धुः) पिता तथा बन्धु के (समानः) समान हो ॥२॥

भावार्थः—हे यजमानो ! तुम सत्यवादी विद्वानों का भले प्रकार सत्कार करो और उनको पिता तथा बन्धु की भांति मान कर उनसे ब्रह्मविद्यारूप धन का लाभ करो जो तुम्हारे जीवन का उद्देश्य है अर्थात् तुम उन अध्यापक तथा उपदेशकों की सेवा में प्रेमपूर्वक प्रवृत्त रहो, जिससे वह प्रसन्न हुए तुम्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें ॥२॥

अब उन सत्यवादी विद्वानों का उपदेश कथन करते हैं ॥

उदु॒ स्तोमा॑सो अ॒श्विनो॑रबुध्रञ्जा॒मि ब्रह्मा॑ण्यु॒षस॑श्च दे॒वीः।
आ॒विवा॑स॒न्रोद॑सी॒ धिष्ण्ये॒मे अच्छा॒ विप्रो॒ नास॑त्या विवक्ति ॥३॥

पदार्थः—(अश्विनोः) अध्यापक तथा उपदेशक (अबुध्रन्) बोधन करते हैं कि (जामि) हे सम्बन्धिजनो ! तुम लोग (उषसः) उषाकाल में (ब्रह्माणि, देवीः) वेद की दिव्यवाणी का (आविवासन्) अभ्यास करो (उत्) और (इमे) इन (स्तोमासः) वेद के स्तोत्रों को (अच्छ) भली-भांति (रोदसी) द्यु लोक तथा पृथिवी लोक के मध्य

(धिष्ण्ये) फैलाम्रो (च) और (विप्रः) मेधावी पुरुष (नासत्या, विवक्ति) सत्यवादी विद्वानों को उपदेश करें ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वज्जनो! तुम लोग ब्रह्म-मुहूर्त्त में वेद की पवित्र वाणी का अभ्यास करते हुए वैदिक स्तोत्रों का उच्चस्वर से पाठ करो और वेद के ज्ञाता पुरुषों को उचित है कि वह विद्वानों को इस वेदवाणी का उपदेश करें ताकि अज्ञान का नाश होकर ज्ञान की वृद्धि हो ॥३॥

अब अध्यापक तथा उपदेशकों के लिये उपदेश का काल कथन करते हैं ॥

वि चेदुच्छंत्यश्विना उषासः प्र वां ब्रह्मांणि कारवों भरन्ते ।

ऊर्ध्वं भानुं संविता देवो अंश्रेद्बृहदग्नयः समिधा जरंते ॥४॥

पदार्थः—(अश्विनौ) हे अध्यापक तथा उपदेशको (चेत्) जब (वि) विशेष-तया (सविता, देवः) परमात्मदेव (भानुं) सूर्य्य को (ऊर्ध्वं, अश्रेत्) ऊपर को आश्रय = उदय करता (उच्छंति, उषसः) जब उषाकाल का विकाश होता, जब (बृहत्, अग्नयः) बड़ी अग्नि (समिधा, जरंते) समिधाओं द्वारा प्रज्वलित की जाती, और जब (कारवः) स्तोता लोग (ब्रह्माणि) वेद को (प्र, भरन्ते) भले प्रकार धारण करते हैं, उस काल में (वां) आप लोग ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मदेव उपदेश करते हैं कि हे विद्वान् उपदेशको! आपका कर्तव्य यह है कि आप प्रातः सूर्य्योदयकाल में जब प्रजाजन अग्निहोत्र करते तथा स्तोता लोग वेद का पाठ करते हैं उस काल में अज्ञान का मार्जन करके जिज्ञासुओं को सत्योपदेश करो जिससे वह विद्या-ध्ययन तथा वेदोक्त कर्तव्यपालन में सदा तत्पर रहें, इस मन्त्र में परमात्मा ने ब्रह्मविद्याध्ययन का सूर्योदय काल ही बतलाया है अर्थात् यह उपदेश किया है कि प्रजाजन उषाकाल में निद्रा से निवृत्त होकर शरीर को शुद्ध करके सन्ध्या अग्निहोत्र के पश्चात् ब्रह्मविद्या के अध्ययन तथा उपदेश-श्रवण में तत्पर हों ॥४॥

अब विद्वान् उपदेशकों द्वारा मनुष्यमात्र का कल्याण कथन करते हैं ॥

आ पश्चातांन्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदंक्तात् ।

आ विश्वतः पांचजन्येन राया यूयं पांत स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो! तुम लोग (आ, पश्चातात्)

भले प्रकार पश्चिम दिशा से (आ, पुरस्तात्) पूर्वदिशा से (अधरात्) नीचे की ओर से (उदक्तात्) ऊपर की ओर से (आ, विश्वतः) सब ओर से (पाँचजन्येन) पाँचों प्रकार के मनुष्यों का (राया) ऐश्वर्य्य बढ़ाओ, और (अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको! आप लोग पाँचों प्रकार के मनुष्यों को (आ) भले प्रकार (यातं) प्राप्त होकर सब यह प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् ! (यूयं) आप (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) मंगल-रूप वाणियों द्वारा (नः) हमारे ऐश्वर्य्य को (पात) रक्षा करें ॥५॥

भावार्थः—मन्त्र में जो "पंचजना" पद आया है वह वैदिक सिद्धान्तानुसार पांच प्रकार के मनुष्यों को वर्णन करता है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पांचवें दस्यु जिनको निषाद भी कहते हैं, वास्तव में वर्ण ही हैं परन्तु मनुष्यमात्र का कल्याण अभिप्रेत होने के कारण पांचवें दस्युओं को भी सम्मिलित करके परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे सत्यवादी विद्वानो ! आप लोग सब ओर से मनुष्यमात्र को प्राप्त होकर वैदिक धर्म का उपदेश करो जिससे सब प्रजाजन सुकर्मों में प्रवृत्त होकर ऐश्वर्य्यशाली हों ॥५॥

सप्तम मण्डल में ७२ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्य त्रिसप्ततितमस्य सूक्तस्य—१–५ वसिष्ठ ऋषिः । अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, ५ विराट्त्रिष्टुप् । २–४ निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

अब यज्ञविद्या जानने वाले विद्वानों से याज्ञिक बनने के लिये प्रार्थना कथन करते हैं ॥

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति स्तोमं देवयन्तो दधानाः ।
पुरुदंसा पुरुतमा पुराजामर्त्या हवते अश्विना गीः ॥१॥

पदार्थः—(अश्विना) हे यज्ञविद्या जानने वाले विद्वानो ! आप लोग हमको (अस्य) इस संसार के (तमसः, पारं) अज्ञानरूप तम से पार को (अतारिष्म) तरायें, (प्रति, स्तोमं, देवयंतः) इस ब्रह्मयज्ञ की कामना करते हुए हम लोग (दधानाः) उत्तम गुणों को धारण करें, (गीः) हमारी वाणी पवित्र हो, और हम (पुरुदंसा) कर्मकाण्डी, (पुरुतमा) उत्तम गुणों वाले, (पुराजा) प्राचीन, और (अमर्त्या) मृत्युराहित्यादि सद्गुणों को धारण करते हुए (हवते) यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहें ॥१॥

भावार्थः—हे यजमानो ! तुम लोग यज्ञविद्या जानने वाले विद्वानों से याज्ञिक बनने के लिये जिज्ञासा करो और उनसे यह प्रार्थना करो कि आप

हमको याज्ञिक बनायें जिससे हम इस अविद्यारूप अज्ञान से निवृत्त होकर ज्ञानमार्ग पर चलें, हम उत्तम गुणों के धारण करने वाले हों और अन्ततः हमको मुक्ति प्राप्त हो, क्योंकि यज्ञ ही मुक्ति का साधन है और याज्ञिक पुरुष ही चिरायु होकर अमृत पद को प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि जो पुरुष कर्म तथा ज्ञान दोनों साधनों से जिज्ञासा करता है वही अमृत रूप पद का अधिकारी होता है, इस लिये मुक्ति की इच्छावाले पुरुषों को सदा ही यज्ञ का अनुष्ठान करना श्रेयस्कर है ॥१॥

न्युं प्रियो मनुंषः सादि होता नासत्या यो यजते वंदते च ।

अश्नीतं मध्वों अश्विना उपाक आ वां वोचे विदथेषु प्रयस्वान् ॥२॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो ! (यः) जो (होता) जिज्ञासु (यजते) यज्ञ करता (च) और (वंदते) वन्दना करता है वह (प्रियः) परमात्मा का प्रिय (मनुषः) पुरुष (नि, सादि) उसी में स्थित होकर (अश्नीतं, मध्वं) मधुविद्या का रस पान करता अर्थात् मधुविद्या का जानने वाला होता है । (अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! वह पुरुष (विदथेषु) यज्ञों में (प्रयस्वान्) अन्नादि पदार्थों का पान करके (वां) तुम्हारा (वोचे) आह्वान करता (आ) और (उपाके) तुम्हारे समीप स्थिर होकर ब्रह्मविद्या का लाभ करता है ॥२॥

भावार्थः—जो पुरुष यज्ञादि कर्म करता हुआ परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त रहता है वह परमात्मा का प्रिय पुरुष परमात्माज्ञापालन करता हुआ मधुविद्या का रसपान करने वाला होता है । मधुविद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन "बृहदारण्यकोपनिषद्" में किया गया है, विशेष जानने वाले वहां देखलें, यहां विस्तार भय से उद्धृत नहीं किया । वही पुरुष ऐश्वर्य्यशाली होकर यज्ञों में दानदेनेवाला होता, वही विद्वानों का सत्कार करने वाला होता और वही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है, इससे सिद्ध है कि याज्ञिक पुरुष ही ब्रह्म का समीपी होता है अन्य नहीं ॥२॥

अब परमात्मा यज्ञकर्त्ता पुरुष को वेदाध्ययन का विधान करते हैं ॥

अहेम यज्ञं पथामुराणा इमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।

श्रुष्टीवेव प्रेषितो वामबोधि प्रति स्तोमैर्जरमाणो वसिष्ठः ॥३॥

पदार्थः—(उराणाः) हे वेदवाणियों के वक्ता याज्ञिक लोगो तुम (इमां, सुवृक्ति) इस सुन्दर वाणी को (जुषेथां) सेवन करते हुए (यज्ञं, पथां, अहेम) यज्ञ के मार्ग को बढ़ाओ, और (वसिष्ठः) सर्वोत्तम गुणों वाला (श्रुष्टीवेव, प्रेषितो) सर्वत्र

व्यापक और (वृषणा) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला परमात्मा (स्तोमैः, जरमाणः) जो वेदवाणियों द्वारा वर्णन किया जाता है वह (वां, प्रति) तुम्हारे प्रति (अबोधि) बोधन करे ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव स्पष्ट है अर्थात् यज्ञनिधि परमात्मा याज्ञिक लोगों को उपदेश करते हैं कि तुम लोग वेदों का अध्ययन करते हुए यज्ञ की वृद्धि करो अर्थात् यज्ञ के सूक्ष्मांशों को वेद के अभ्यास द्वारा जानकर यज्ञविषयक उन्नति में प्रवृत्त होओ, और सर्वगुणसम्पन्न तथा सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले परमात्मा की उपासना करते हुए प्रार्थना करो कि वह हमारी इस कामना को पूर्ण करे ॥३॥

अब दुष्टों से रक्षार्थ उपदेश करते हैं ॥

उप त्या वह्नी गमतो विशं नो रक्षोहणा संभृता वीळुपाणी ।
समन्धांस्यग्मत मत्सराणि मा नो मर्धिष्टमा गतं शिवेन ॥४॥

पदार्थः—(रक्षोहणा) हे राक्षसों के हन्ता (वीळुपाणी) दृढ़ भुजाओं वाले विद्वानो ! (त्या) आप लोग (संभृता) उत्तम गुण सम्पन्न (नः) हमारी (विशं) प्रजा को (गमतः) प्राप्त होकर (वह्नी) प्रज्वलित अग्नि में (उप) भले प्रकार (अन्धांसि, अग्मत) उत्तमोत्तम हवि प्रदान करते हुए (मा, मत्सराणि) मदकारक द्रव्यों से हमारी रक्षा करें (नः) हमारी (सं, मर्धिष्टं) किसी प्रकार भी हिंसा न करें (शिवेन) कल्याण-रूप से (आगतं) हम को सदा प्राप्त हों ॥४॥

भावार्थः—हे शूरवीर विद्वानो आप लोग धार्मिक प्रजा को प्राप्त होकर उत्तमोत्तम पदार्थों से नित्य यज्ञ कराओ, प्रजा को सदाचारी बनाओ, मदकारक द्रव्यों से उन्हें बचाओ, उन में अहिंसा का उपदेश करो और दुष्ट राक्षसों से सदा उनकी रक्षा करते रहो जिससे उनके यज्ञादि कर्मों में विघ्न न हो अर्थात् आप लोग प्रजा को सदा ही कल्याणरूप से प्राप्त हों ॥४॥

अब परमात्मा समष्टिरूप से उन्नति करने का उपदेश करते हैं ॥

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात् ।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादी अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम लोग (आ, पश्चातात्) भले प्रकार पश्चिम दिशा से (आ, पुरस्तात्) पूर्वदिशा से (अधरात्) नीचे की ओर से (उदक्तात्) ऊपर की ओर से (आ, विश्वतः) सब ओर से (पांच-जन्येन) पांचों प्रकार के मनुष्यों का (राया) ऐश्वर्य्य बढ़ाओ और (अश्विना) हे

अध्यापक तथा उपदेशको ! आप लोग पांचों प्रकार के मनुष्यों को (आ) भले प्रकार (यातं) प्राप्त होकर सब प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! (यूयं) आप (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) मंगलरूप वाणियों द्वारा (नः) हमको (पात) पवित्र करें ॥५॥

भावार्थः—मन्त्र में "पंचजना" शब्द से ब्राह्मणादि चारों वर्ण और पांचवें दस्युओं से तात्पर्य है, जैसा कि पीछे लिख आये हैं। परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे अध्यापक तथा उपदेशको ! आप लोग सब ओर से सम्पूर्ण प्रजा को प्राप्त होकर अपने उपदेशों द्वारा मनुष्य मात्र की रक्षा करो, और सब यजमान मिलकर कल्याणरूप वेदवाणियों से यह प्रार्थना करो कि हमारे उपदेशक हमको अपने सदुपदेशों से सदा पवित्र करें ॥५॥

सप्तम मण्डल में ७३ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्य चतुःसप्ततितमस्य सूक्तस्य १—६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, ३ निचृद् बृहती । २, ४, ६ आर्षी भुरिग् बृहती । ५ आर्षी बृहती ॥ मध्यमः स्वरः ॥

अब परमात्मा विद्युत् तथा अग्निविद्यावेत्ता उपदेशकों
का सर्वत्र प्रचार करना कथन करते हैं ॥

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवंते अश्विना ।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ॥१॥

पदार्थः—(शचीवसू) विद्युत् तथा अग्निविद्या में कुशल (अश्विना) अध्यापक तथा उपदेशको (दिविष्टय) स्वर्ग की कामना वाले (उस्रा) यजमान (वां) तुम्हारा (हवंते) आवाहन करते हैं, तुम (इमाः) इस विद्या का (वां) उनको उपदेश करो (अ) और (हि) निश्चय करके (गच्छथः) गमन करते हुए (विशं विशं) प्रत्येक प्रजा को विद्वान् बनाओ जिससे (अयं) यह (अवसे) अपनी रक्षा करें, और (अह्वे) तुम्हारा आवाहन करते रहें ॥१॥

भावार्थः—हे विद्वानो ! तुम सुख की इच्छा वाले यजमानों को प्राप्त होकर उनको विद्युत् तथा अग्निविद्या का उपदेश करो जिससे वह कला कौशल बनाने में प्रवीण हों और प्रत्येक स्थान में घूम-घूम कर प्रजाजनों को इस विद्या का उपदेश करो जिससे वह कलायंत्र बनाकर ऐश्वर्य्यशाली हों या यों कहो कि प्रजाजनों में विज्ञान और ऐश्वर्य्य का उपदेश करो जिससे उनके शुभ मनोरथ पूर्ण हों ॥१॥

युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते ।

अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥२॥

पदार्थः—(युवं) हे विद्वानो ! तुम (चित्रं, भोजनं) नाना प्रकार के भोजन (ददथुः) धारण = भक्षण करो (नरा) सब प्रजाजन (सूनृतावते) सुन्दर स्तोत्रों में (चोदेथां) तुम्हें प्रेरित करें, ताकि तुम (अर्वाक्, रथं) उनके सन्मुख उत्तम वेद-वाणियों को (समनसा) अच्छे भावों से (नियच्छतं) प्रयोग करते हुए (सोम्यं) सुन्दर (मधु, पिबतं) मीठे रसों का पान करो ॥२॥

भावार्थः—हे यजमानो ! तुम विद्वान् उपदेशकों को नाना प्रकार के भोजन और मीठे रसों का पान कराके प्रसन्न करो ताकि वेद-वाणियों का तुम्हारे प्रति उपदेश करें और वह तुम्हारे सन्मुख मानस यज्ञों द्वारा अनुष्ठान करके तुम्हें शान्ति का मार्ग बतलायें जिससे तुम लोग परस्पर एक दूसरे की उन्नति करते हुए प्रजा में धर्म का प्रचार करो ॥२॥

अब जलविद्या के जानने वाले उपदेशकों का सत्कार कथन करते हैं ॥

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना । 0.11 1526.2.4

दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम् ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (आयातं) आप हमारे यज्ञ को आकर (उप, भूषतं) भले प्रकार सुशोभित करें (आगतं) शीघ्र आयें (मध्वः, पिबतं) मधुरस का पान करें (जेन्यावसू) हे धनों के जय करने वाले आप (वृषणा) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं (पयः, दुग्धं) वृष्टि द्वारा दुहे हुए (नः) हमारे ऐश्वर्य्य को (मर्धिष्टं, मा) हनन मत करो ॥३॥

भावार्थः—हे जलविद्या के जानने वाले अध्यापक तथा उपदेशक ! आप शीघ्र आकर हमारे यज्ञ को सुशोभित करें अर्थात् हमारे यज्ञ में पधार कर हमें जलों की विद्या में निपुण करें ताकि हम अपने ऐश्वर्य को बढ़ावें, हम आप का मधु आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सत्कार करते हैं, आप सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले धन के स्वामी हैं। कृपा करके हमारे उपार्जन किये हुए धन का नाश न करें किन्तु हमारी वृद्धि करें जिससे हम यज्ञादि धर्मकार्यों में प्रवृत्त रहें ॥३॥

अश्वासो ये वामुप दाशुषो गृहं युवां दीयन्ति बिभ्रतः ।

मक्षूयुभिर्नरा हयेभिरश्विना देवा यातमस्मयू ॥४॥

... पुस्तकालय
वाराणसी 1466
आगत क्रमांक........

पदार्थः—(देवा) हे दिव्यगुणसम्पन्न (अश्विना) विद्वानो (युवां) आप (अस्मयू) हमारे यज्ञ में (आयातं) आयें (नरा) हे अध्यापक तथा उपदेशको (वां) आप लोग (मक्षुयुभिः) शीघ्रगामी (हयेभिः) घोड़ों द्वारा (उप) आकर (दाशुषः, गृहं, दीयंति) यजमानों के घरों को दीप्तिमान करें (ये) जो (अश्वासः) कर्मकाण्डी और (बिभ्रतः) गृहस्थधर्मों के धारण करने वाले हैं ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि कर्मकाण्डी तथा वेदानुयायी सद्गृहस्थ यजमानों को चाहिये कि वह विद्वान् उपदेशकों को अपने गृह में बुलाकर उनकी खानपानादि से भले प्रकार सेवा करके उनसे नर, नारी सदुपदेश ग्रहण करके अपने जीवन को पवित्र करें और उन विद्युदादिविद्या-वेत्ता विद्वानों से शीघ्र गति वाले यानादि की शिक्षा प्राप्त करके ऐश्वर्य-सम्पन्न हों ॥४॥

अब विद्वानों से यश और ऐश्वर्य्य ग्रहण करने का उपदेश कथन करते हैं ॥

अधा ह यंतो अश्विना पृक्षः सचंत सूरयः ।

ता यंसतो मघवद्भ्यो ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या ॥५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो ! आप (अस्मभ्यं) हम लोगों को (यशः, छर्दिः) यश उत्पन्न करने वाले स्थान दें (मघवद्भ्यः) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न विद्वानो ! हमें आप की कृपा से (पृक्षः, यंसतः) अन्नादि ऐश्वर्य्य प्राप्त हों, और (ता) आप हमें (ध्रुवं) दृढ़ता प्रदान करें ताकि हम (सूरयः) शूरवीर बनकर (सचंत) आप लोगों की सेवा में तत्पर रहें (अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको आप (अध, यंतः) हमको प्राप्त होकर सदुपदेश करें, (ह) यहां प्रसिद्धार्थ का वाचक है ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यश तथा ऐश्वर्य की कामना वाले यजमानो ! तुम विद्वान् उपदेशकों को प्राप्त होकर उनसे सदु-पदेश ग्रहण करते हुए यशस्वी और ऐश्वर्यशाली होओ, और अपने व्रत में दृढ़ रहो अर्थात् ऐश्वर्यसम्पन्न होने पर भी अपने व्रत से कदापि विचलित न हो ॥५॥

प्र ये ययुरवृकासो रथा इव नृपातारो जनानाम् ।

उत स्वेन शवसा शूशुवुर्नर उत क्षियंति सुक्षितिम् ॥६॥

पदार्थः—(ये) जो यजमान (अवृकासः) कुटिलताओं को छोड़कर (प्रययुः) वेदमार्ग को प्राप्त होते हैं वह (नृपातारः, रथा इव) राजाओं के रथ समान सुशोभित होते (उत) और (जनानां) प्रजाओं को (स्वेन) अपने (शवसा) यश से

(शुशुभुः) सुशोभित करते हैं (उत) और (नराः) वही मनुष्य (सुक्षितिं, क्षियंति) उत्तम भूमि को प्राप्त होते हैं ॥६॥

भावार्थः—जो यजमान वेदमर्यादा पर चलते हुए अपने ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं वे विजयप्राप्त राजाओं के रथ के समान सुशोभित होते हैं अर्थात् जब राजा विजयी होकर अपने देश को आता है उस समय उसकी प्रजा उसका मान हार्दिक भावों से करती है इसी प्रकार प्रजा उन नरों का सत्कार अपने हार्दिक भावों से करती है जो विद्वानों से उत्तम शिक्षा प्राप्त करके तदनुकूल अपने आचरण करते हैं, वही अपने यश से सुशोभित होकर प्रजा को सुशोभित करते और वही उत्तम भूमि को प्राप्त होते हैं ॥६॥

सप्तम मण्डल में ७४ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टर्चस्य पञ्चसप्ततितमस्य सूक्तस्य १–८ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४, ५ विराट् त्रिष्टुप् । ३ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ६, ७ आर्षी त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए उषा = ब्रह्ममुहूर्त्त काल में ब्रह्मोपासना का विधान कथन करते हैं ॥

व्युरुषा आवो दिविजा ऋतेनाविष्कृण्वाना महिमानमागात् ।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीगः ॥१॥

पदार्थः—(उषाः) उषा = ब्रह्ममुहूर्त्त काल के सूर्य्य का विकास (दिविजाः) अंतरिक्ष को प्रकाशित करता हुआ (ऋतेन) अपने तेज से (आविष्कृण्वाना) प्रकट होकर (महिमानम्, आ अगात्) परमात्मा की महिमा को दिखलाता, और (वि) विशेषतया (तमः) अंधकार को (अपद्रुहः) दूर करता हुआ (आवः) प्रकाशित होकर (अंगिरस्तमा) मनुष्यों के आलस्य को निवृत्त करके (अजुष्टं) परमात्मा के साथ जोड़ता हुआ (पथ्याः, अजीगः) पथ्य = शुभमार्ग का प्रेरक होता है ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा की महिमा वर्णन करते हुए यह उपदेश किया है कि हे सांसारिक जनो ! सूर्य द्वारा परमात्मा की महिमा का अनुभव करते हुए उनके साथ अपने आपको जोड़ो अर्थात् ब्रह्ममुहूर्त्त काल में जब सूर्य द्युलोक को प्रकाशित करता हुआ अपने तेज से उदय होता है उस काल में मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह आलस्य को त्याग कर परमात्मा की महिमा को अनुभव करते हुए ऋत=सत्य के आश्रित हों, उस महान्

प्रभु की उपासना में संलग्न हों और याज्ञिक लोग उसी काल में यज्ञों द्वारा परमात्मा का आह्वान करें अर्थात् मनुष्य मात्र को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें जिससे सब प्राणी परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हुए सुखपूर्वक अपने जीवन को व्यतीत करें, यह परमात्मा का उच्च आदेश है ॥१॥

अब परमात्मा उषा काल में सौभाग्य प्राप्ति तथा धन-प्राप्ति के लिये प्रार्थना करने का उपदेश करते हैं ॥

म॒हे नो॑ अ॒द्य सु॑वि॒ताय॑ बो॒ध्यु॒षो॑ म॒हे सौभ॑गाय॒ प्र यं॑धि ।
चि॒त्रं र॒यिं य॒शसं॑ धेह्य॒स्मे देवि॒ मर्ते॑षु मानुषि श्र॒व॒स्युम् ॥२॥

पदार्थः—(उषः) ब्रह्ममुहूर्त्त में (बोधि) उठकर (सुविताय) अपने सुख के लिये प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् (महे) आप अपनी महत्ता से (अद्य) आज=सम्प्रति (नः) हमको (महे, सौभगाय) बड़े सौभाग्य के लिये (प्रयंधि) प्राप्त होकर (चित्रं, रयिं, यशसं, धेहि) नाना प्रकार का धन और यश दें, (देवि) हे दिव्यस्वरूप परमात्मन् (मर्तेषु) इस मनुष्य लोक में (अस्मे) हमें (मानुषी) मनुष्यों के कर्मों में प्रवृत्त करें और हम (श्रवस्युं) पुत्र पौत्रादि परिवार से युक्त हों ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम प्रातःकाल में उठकर अपने सौभाग्य के लिये प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् ! इस मनुष्यलोक में आप हमें नाना प्रकार का धन, यश, बल, तेज प्रदान करें, हमें पुत्र पौत्रादि परिवार दें और हमको अपनी महत्ता से उच्च कर्मों वाला बनावें ॥२॥

अब उषाकाल में जागृति वाले पुरुष के लिये फल कथन करते हैं ॥

ए॒ते त्ये भा॒नवो॑ द॒र्श॒ताया॑श्चि॒त्रा उ॒षसो॑ अ॒मृता॑स॒ आगुः॑ ।
ज॒नयं॑तो॒ दैव्या॑नि व्र॒तान्या॑पृ॒णंतो॑ अं॒तरि॑क्षा॒ व्य॑स्थुः ॥३॥

पदार्थः—(उषसः) प्रातःकाल की उषा के (चित्राः) जो चित्र (दर्शतायाः) दृष्टिगत होते हैं (एते, त्ये) वे सब (भानवः) सूर्य की रश्मियों द्वारा (अमृतासः) अमृतभाव को (आ, अगुः) भले प्रकार प्राप्त होते हैं, और (दैव्यानि) दिव्य भावों को (जनयंतः) उत्पन्न करते हुए (अंतरिक्षा, वि, अस्थुः) एक ही अंतरिक्ष में बहुत प्रकार से स्थिर होकर (व्रतानि, आपृणंतः) व्रतों को धारण करते हैं ॥३॥

भावार्थः—"उषा" सूर्य की रश्मियों का एक पुंज है । जब वह रश्मियें इकट्ठी होकर पृथिवीतल पर पड़ती हैं तब एक प्रकार का अमृत भाव उत्पन्न

करती हुई कई प्रकार के व्रत धारण कराती हैं अर्थात् नियमपूर्वक सन्ध्या करने वाले उषाकाल में सन्ध्या के व्रत को और नियम से हवन करने वाले हवन व्रत को धारण करते हैं, इसी प्रकार सूर्य्योदय होने पर प्रजाजन नाना प्रकार के व्रत धारण करके अमृत भाव को प्राप्त होते हैं। अतएव मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रातः उषाकाल में अपने व्रतों को पूर्ण करे, व्रतों का पूर्ण करना ही अमृतभाव को प्राप्त होना है ॥३॥

अब उषा को रूपकालंकार से वर्णन करते हैं ॥

एषा स्या युंजाना पराकात्पंच क्षितीः परि सद्यो जिगाति ।
अभिपश्यंती वयुना जनानां दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ॥४॥

पदार्थः—(एषा) यह उषा (जनानां) मनुष्यों को (वयुना) प्राप्त होकर (अभिपश्यन्ती) भले प्रकार देखती हुई (दिवः, दुहिता) द्युलोक की कन्या और (भुवनस्य, पत्नी) संसार की पत्नी रूप है। (स्या) वह उषा (युजाना, स्या) योग को प्राप्त होती हुई (पराकात्) दूर देश से (पंच, क्षितीः) पृथिवीस्थ पांच प्रकार के मनुष्यों को (परि, सद्यः) सदा के लिये (जिगाति) जागृति उत्पन्न करती है ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उषा को द्युलोक की कन्या और संसार की पत्नीस्थानीय माना गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि इसको द्युलोक से उत्पन्न होने के कारण "कन्या" और पृथिवीलोक पर आकर सर्वभोग्या=सब के भोगने योग्य होने से "पत्नी" कथन की गई है। उषा में पत्नीभाव का आरोप करने से तात्पर्य यह है, कि यह प्रतिदिन प्रातःकाल सब संसारी जनों को उद्बोधन करती है कि तुम उठकर जागो, परमात्मा में जुड़ो और अपनी दिनचर्या में प्रवृत्त होकर अपने-अपने कार्यों को विधिवत् करो, यह मन्त्र का भाव है। पृथिवीस्थ पांच प्रकार के मनुष्यों का वर्णन पीछे कर आये हैं इस लिये यहां आवश्यकता नहीं ॥५॥

अब उषा को अन्नादि ऐश्वर्य की देने वाली कथन करते हैं ॥

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम् ।
ऋषिष्टुता जरयंती मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना ॥५॥

पदार्थः—(उषाः) यह उषा देवी (वाजिनीवती) अन्नादि पदार्थों के देने वाली (चित्रामघा) नाना प्रकार के ऐश्वर्य वाली (वसूनां, रायः, ईशे) वसुओं के धन की स्वामिनी (मघोनी) ऐश्वर्य वाली (वह्निभिः) याज्ञिक कर्मों में प्रेरक (ऋषिस्तुता)

ऋषियों द्वारा स्तुति को प्राप्त और (उच्छति) प्रकाश को प्राप्त होकर (जरयंती) अन्धकारादि दोषों को निवृत्त करती हुई (सूर्य्यस्य, योषा) सूर्य के स्त्रीभाव को (गृणाना) ग्रहण करती है ॥५॥

भावार्थः – इस मन्त्र में रूपकालंकार से उषा को सूर्य की स्त्री वर्णन किया गया है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि प्रातःकाल पूर्वदिशा में जो रक्त-वर्ण की दीप्ति सूर्योदय के समय उत्पन्न होती है उसका नाम "उषा" है, द्युलोक उसका पितास्थानीय और सूर्य्य पतिस्थानीय माना गया है, क्योंकि वह द्युलोक में उत्पन्न होती और सूर्य्य उसका भोक्ता होने के कारण उसका पतिरूप से वर्णन किया है, या यों कहो कि सूर्य्य की रश्मिरूप उषा सूर्य्य की शोभा को बढ़ाती और सदैव उसके साथ रहने के कारण उसको योषारूप से वर्णन किया गया है, और जो कई एक मन्त्रों में उषा को सूर्य्य की पुत्री वर्णन किया गया है वह द्युलोक के भाव से है, सूर्य्य के अभिप्राय से नहीं ॥५॥

प्रति॑ द्युता॒नाम॑रु॒षासो॒ अश्वा॑श्चि॒त्रा अ॑दृश्रन्नु॒षसं॒ वह॑न्तः ।
याति॑ शु॒भ्रा वि॑श्व॒पिशा॒ रथे॑न॒ दधा॑ति॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥६॥

पदार्थः—(उषसं) उषाकाल को (वहन्तः) धारण करता हुआ सूर्य (विश्व-पिशा) संसार के अन्धकार को मर्दन करने वाले (शुभ्रा) सुन्दर (रथेन) वेग से (याति) गमन करता और (रत्नं, दधाति) रत्नों को धारण करता हुआ (जनाय) मनुष्यों के लिए (विधते) विभाग करता है (चित्राः, अश्वाः) जिसमें विचित्र वेगवाली किरण (अदृश्रन्) देखी जाती हैं, और जो (प्रति, द्युतानां) प्रत्येक दीप्ति के लिए (अरुषासः) प्रकाश करने वाली हैं ॥६॥

भावार्थः—उषाकाल का आश्रय सूर्य प्रत्यक्ष रूप से नानप्रकार की किरणों को धारण करता हुआ संसार में अव्याहत गति होकर विचरता और उसकी दीप्ति से नानाप्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं इसको रत्नों का विभाग करने वाला कथन किया गया है अर्थात् सूर्य के प्रकाश होने पर ही सब प्राणीवर्ग अपना-अपना भरण-पोषण करते और कर्मानुसार रत्नादि धनों की प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं ॥६॥

स॒त्या स॒त्येभि॑र्मह॒ती म॒हद्भि॑र्दे॒वी दे॒वेभि॑र्यज॒ता यज॑त्रैः ।
रु॒जद्दृ॒ळ्हानि॒ दद॑दु॒स्रिया॑णां॒ प्रति॒ गाव॑ उ॒षसं॑ वावशन्त ॥७॥

पदार्थः—(देवी) दिव्यगुणयुक्त (सत्या) सत्यरूपा (सत्येभिः) सत्यवादियों से मान को प्राप्त (महती) बड़ी (महद्भिः, देवेभिः, यजता) बड़े-बड़े विद्वानों से वर्णित (यजत्रैः) याज्ञिक लोगों से सेवित (दृह्वानि, रुजत्) बड़े अन्धकार को दूर करने वाली (उस्रियाणां, प्रति) अधिकारियों के प्रति (गावः, ददत्) किरणों को देने वाली (उषसं) उषा की (वावशंत) सब प्राणी कामना करते हैं ॥७॥

भावार्थः—इस मंत्र में "उषा" का महत्त्व वर्णन किया गया है, क्योंकि विद्वान् लोग उषाकाल में ही परमात्मा की स्तुति करते, बड़े-बड़े याज्ञिक, महात्मा इसी काल में यज्ञ करते, गोपाल लोग गौओं का सत्कार करते और सब कर्मकाण्डी पुरुष उषाकाल की इच्छा करते हैं, क्योंकि इसी काल में सब वैदिक कर्मों का प्रारम्भ होता है अर्थात् सन्ध्या, अग्निहोत्र, जप तप आदि सब अनुष्ठान इसी काल में किये जाते हैं, इसलिये यह उषा सब के कामना करने योग्य है ॥७॥

अब उषाकाल में प्रार्थना का विधान कथन करते हैं ॥

नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नमुषो अश्वावत्पुरुभोजो अस्मे ।
मा नो बर्हिः पुरुषता निदे कर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (अस्मे) हमारे लिये (अश्वावत्) अश्वों वाले यान दें (पुरुभोजः) अनेक प्रकार के भोग प्रदान करें (नु) निश्चय करके (नः) हमको (गोमत्, वीरवत्) पुष्ट इन्द्रियोंवाले वीर पुरुष और (रत्नं, उषः) रत्न तथा ऐश्वर्य (धेहि) प्रदान करें, और (पुरुषता) पुरुषसमूह में (नः) हमारे (बर्हिः) यज्ञ की (निदे) निन्दा (मा) मत (कः) हो और (नः) हमको (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक तथा विद्वान् ! पुरुषो ! तुम सदा उषाकाल में यह प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! आप हमें विविध प्रकार के यानादि पदार्थ और दृढ़ इन्द्रियोंवाली पुत्र, पौत्रादि सन्तति प्रदान करें, हमारे यज्ञ की कोई निन्दा न करे प्रत्युत सब अनुष्ठानी बनकर हमारे सहकारी हों, हम निन्दित कर्मों के अपयश से सदैव भयभीत रहें, आप ऐसी कृपा करें कि हम आप से प्रार्थना करते हुए सदा अपना कल्याण ही देखें । यह उपासक की प्रार्थना करने का प्रकार है ॥८॥

सप्तम मण्डल में ७५वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य षट्सप्ततितमस्य सूक्तस्य १—७ वशिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २ विराट्त्रिष्टुप् । ३, ४, ५, ६, ७—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब उषा=ब्रह्ममुहूर्त में यज्ञकर्मानन्तर परमात्मा की स्तुति करना कथन करते हैं ॥

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत् ।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः ॥१॥

पदार्थः—(ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप (अमृतं) मृत्युरहित (विश्वजन्यं) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आदि कारण (विश्वानरः) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक (सविता) सब का उत्पत्ति स्थान (देवः) दिव्यगुणस्वरूप परमात्मा का हम लोग (अश्रेत्) आश्रयण करें, जो (देवानां) विद्वानों को (क्रत्वा) शुभ मार्गों में प्रेरित करके (अजनिष्ट) उत्तम फलों को उत्पन्न करता है (भुवनं, विश्वं) सम्पूर्ण भुवनों का (उषाः) प्रकाशक (उत्) और (आविः, चक्षुः) चराचर का चक्षु जो परमात्मदेव है हम उसकी (अकः) स्तुति करें ॥१॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा की स्तुति वर्णन की गई है कि जो परमात्मदेव सब ब्रह्माण्डों में ओतप्रोत हो रहा है और जो सब का उत्पत्ति-स्थान तथा विद्वानों को शुभमार्ग में प्रेरित करने वाला है, उसी देव का हम सब को आश्रयण करना चाहिए और उसी की उपासना में हमें संलग्न होना चाहिए, जो चराचर का चक्षु और हमारा पितास्थानीय है ॥१॥

प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः ।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥२॥

पदार्थः—(अमर्धन्तः) सब को अभयदान देने वाला (वसुभिः इष्कृतासः) सूर्य चन्द्रमादि वसुओं से अलंकृत (उषसः) सम्पूर्ण ज्योतियों का (केतुः) शिरोमणि परमात्मा (हर्म्येभ्यः) सुन्दर ज्योतियों में (पुरस्तात्) प्रथम (प्रतीची) पूर्वदिशा को (आ) भले प्रकार (अधि, अगात्) आश्रयण करके (अभूत्) प्रकट होता है उसको (अदृश्रन्) देखकर (प्र) हर्षित हुए उपासक लोग कहते हैं कि (देवयानाः पंथाः) यह देवताओं का मार्ग (मे) मुझे प्राप्त हो ॥२॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा की स्तुति वर्णन की गई है कि जब उपासक प्रथम परमात्मज्योति को देख कर ध्यानावस्थित हुआ, उस परमात्मदेव का ध्यान करता और ध्यानावस्था में उस ज्योति को सम्पूर्ण

चन्द्रमादि वसुओं से अलंकृत सब से शिरोमणि पाता है तब मुक्तकंठ से यह कहता है कि देवताओं का यह मार्ग मुझ को प्राप्त हो, या यों कहो कि परमात्मरूप दिव्यज्योति जो सब वसुओं में देदीप्यमान हो रही है उस का ध्यान करने वाले उपासक देवमार्ग द्वारा अमृतभाव को प्राप्त होते हैं, इसी भाव को "प्राचीदिगग्निरधिपति०" इत्यादि सन्ध्या मंत्रों में वर्णन किया है कि प्राची आदि दिशा तथा उपदिशाओं का अधिपति एक परमात्मदेव ही है जो हमारा रक्षक, शुभकर्मों में प्रेरक और सम्पूर्ण ऐश्वर्य का दाता है उसी की उपासना करनी योग्य है अन्य की नहीं ॥२॥

तानीदहा॑नि बहु॒लान्या॑सन्या प्रा॒चीन॒मुदि॑ता॒ सूर्य॑स्य ।

यतः॒ परि॑ जा॒र इ॑वा॒चर॑न्त्यु॒षो द॑दृ॒क्षे न पुन॑र्य॒तीव॑ ॥३॥

पदार्थः—(तानि, इत्, अहानि) वह दिन के समान प्रकाशरूप (बहुलानि) अनेक प्रकार के तेज (आसन्) दृष्टिगत होते हैं (या) जो (सूर्यस्य) स्वतःप्रकाश परमात्मा के (प्राचीनं) प्राचीन स्वरूप को (उदिता) प्राप्त हैं (यतः) जिससे (परि-जारः, इव) अग्नि के समान(उषः) तेज (आचरंती) निकलते हुए (ददृक्षे) देखे जाते हैं (यतीव) व्यभिचारी पदार्थों के समान (पुनः न) फिर नहीं ॥३॥

भावार्थः—जिस प्रकार अग्नि से सहस्रों प्रकार की ज्वालायें उत्पन्न होती रहती हैं इसी प्रकार स्वतःप्रकाश परमात्मा के स्वरूप से तेज की रश्मियें सदैव देदीप्यमान होती रहती हैं, या यों कहो कि स्वतःप्रकाश पर-मात्मा की ज्योति सदैव प्रकाशित होती रहती है, जैसे पदार्थों के अनित्य-गुण उन पदार्थों से पृथक् हो जाते वा नाश को प्राप्त हो जाते हैं इस प्रकार परमात्मा के प्रकाशरूप गुण का उस से कदापि वियोग नहीं होता अर्थात् परमात्मा के गुण विकारी नहीं, यह इस मंत्र का भाव है ॥३॥

अब ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का कर्तव्य कथन करते हैं ॥

तइ॒द्दे॒वानां॑ सध॒माद॑ आस॒न्नृ॒तावा॑नः क॒वयः॒ पूर्व्या॑सः ।

गू॒ळ्हं ज्योतिः॑ पि॒तरो॒ अन्व॑विन्दन्त्स॒त्यम॑न्त्रा अजनयन्नु॒षास॑म् ॥४॥

पदार्थः—(देवानां, सधमादः) विद्वानों के समुदायरूप यज्ञ में (ते, इत्) वह ही (ऋतावानः) सत्यवादी (कवयः) कवि (पूर्व्यासः) प्राचीन (आसन्) माने जाते थे जो (गूळ्हं) गहन ज्योतिप्रकाश परमात्मा को (अनु, अविदन्) भले प्रकार जानते थे, (सत्यमंत्राः) वह सत्य का उपदेश करने वाले (पितरः) पितर (उषसं) परमात्म-प्रकाश को (अजनयन्) प्रकट करते थे ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! विद्वानों के यज्ञ में वही सत्यवादी, वही कवि, वही प्राचीन उपदेष्टा और वही पितर माने जाते हैं जो परमात्मा के गुप्तभाव को प्रकाशित करते हैं अर्थात् विद्वत्ता तथा कवित्व उन्हीं लोगों का सफल होता है जो परमात्मा के गुणों को कीर्तन द्वारा सर्वसाधारण तक पहुँचाते हैं ।।४।।

समान ऊर्वे अधि संगतासः संजानते न यतंते मिथस्ते ।

ते देवानां न मिनंति व्रतान्यमर्धंतो वसुभिर्यादमानाः ।।५।।

पदार्थः—(देवानां) जो विद्वानों के (व्रतानि) व्रतों को (न, मिनन्ति) नहीं मेटते (ते) वह (अमर्धन्तः) अहिंसक होकर (वसुभिः) वेदवाणी रूपी धनों से (याद-मानाः) यात्रा करते हुए (मिथः) परस्पर मिलकर (यतंते) यत्न करते हैं (ते) वह (संजानते) प्रतिज्ञा ही (न) नहीं करते किन्तु (संगतासः) संगत होकर (अधि, ऊर्वे) बलपूर्वक इन्द्रियों के संयम में (समाने) समान भाव से यत्न करते हैं ।।५।।

भावार्थः—जो पुरुष विद्वानों के नियमों का पालन करते हुए अहिंसक होकर अर्थात् अहिंसादि पांच यमों का पालन करते हुए संसार में विचरते हैं वह यत्नपूर्वक अपने अभीष्ट फल को प्राप्त होते हैं या यों कहो कि वैदिक नियमों का वही पुरुष पालन करते हैं जो अहिंसक होकर वेदवाणी का प्रचार करते और आपस में समान भाव से इन्द्रियों का संयम करते हुए औरों को ब्रह्मचर्यव्रत का उपदेश करते हैं, स्मरण रहे कि उपदेश उन्हीं का सफल होता है जो अनुष्ठानी बनकर यात्रा करते हैं अन्यों का नहीं ।।५।।

अब उषा काल में अनुष्ठान का विधान करते हैं ।।

प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः ।

गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व ।।६।।

पदार्थः—(उषः, बुधः) उषाकाल में जागने वाले (वसिष्ठाः) विद्वान् (स्तोमैः) यज्ञों द्वारा (त्वा, प्रति) तेरे लिये (ईळते) स्तुति करते हैं (सुभगे) हे सौभाग्य के देने वाली (गवां, नेत्री) तू इन्द्रियों को संयम में रखने के कारण (तुस्तुवांसः) स्तुति योग्य है (वाजपत्नी) हे सब प्रकार के ऐश्वर्य की स्वामिनी (जरस्व) अन्धकार को जलाकर (नः) हमारे लिये (उच्छ, उषः) अच्छा प्रकाश कर क्योंकि तू (प्रथमा) सब दीप्तियों में मुख्य (सुजाते) सुन्दर प्रादुर्भाव वाली है ।।६।।

भावार्थः—इस मंत्र में रूपकालंकार से उषाकाल का वर्णन करते

हुए परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो पुरुष उषाकाल में उठकर सन्ध्यावन्दन तथा हवनादि अनुष्ठानार्ह कार्यों में प्रतिदिन प्रवृत्त रहते हैं वह सब धनों के देने वाली तथा इन्द्रियसंयम का मुख्य साधनरूप उषाकाल से परमलाभ उठाते हैं अर्थात् जो पुरुष अपनी निद्रा त्याग उषाकाल में उठकर अपने नित्य-कर्मों में प्रवृत्त होते हैं वह सौभाग्यशाली पुरुष इन्द्रियों का संयम करते हुए ऐश्वर्यशाली होकर सब प्रकार का सुख भोगते हैं, क्योंकि इन्द्रियसंयम का मुख्य साधन उषाकाल में ब्रह्मोपासन है, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि जब पूर्वदिशा में सूर्य की लाली उदय हो उसी काल में ब्रह्मोपासन रूप अनुष्ठान करें ॥६॥

अब उषाकाल में स्वस्तिवाचनों द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ॥

एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छंती रिभ्यते वसिष्ठैः ।
दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(एषा, उषाः) यह उषा काल (राधसः, नेत्री) आराधनशील विद्वानों के मार्ग को (सूनृतानां) वेदवाणियों द्वारा (उच्छंती) प्रकाश करनेवाला (वसिष्ठैः, रिभ्यते) सर्वोपरि गुणसम्पन्न विद्वानों से स्तुति योग्य है, इसी काल में (दीर्घश्रुतं) चिरकालीन सर्वज्ञाता परमात्मा (अस्मे) हमें (रयिं, दधाना) धन प्राप्त करायें, और (नः) हमारे धन को (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (सदा) सदा (पात) रक्षा करें ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विचारशील विद्वानो ! तुम उषाकाल में अपने कर्तव्य कर्मों से निवृत्त होकर स्वस्तिवाचनों से प्रार्थना करो कि आप हमें और हमारे यजमानों को ऐश्वर्यसम्पन्न करें और आपका दिया हुआ ऐश्वर्य पवित्र हो ॥७॥

सप्तम मण्डल में ७६वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्य सप्तसप्ततितमस्य सूक्तस्य १—६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २, ३, ४, ५ निचृत् त्रिष्टुप् । ६ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब परमात्मा को चराचर जीवों की जननी रूप से कथन करते हैं ॥

उपो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवंती चरायै ।
अभूदग्निः समिधे मानुषाणामकर्ज्योतिर्बाधमाना तमांसि ॥१॥

पदार्थः—(तमांसि) अज्ञानरूप तम को (बाधमाना) नाश करती हुई (अग्निः ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप ज्योति (मानुषाणां, समिधे, अकः) मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रकट हुई, जिसने (प्रसुवंती) प्रसूतावस्था में (विश्वं, चरायै, जीवं) विश्व के चराचर जीवों को (अभूत्) प्रकट किया, वह ज्योति (उषो) इस संसार में (युवतिः) युवावस्थावाली (रुरुचे) प्रकाशित हुई (न योषा) स्त्री के समान नहीं ॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा को ज्योतिरूप से वर्णन किया गया है अर्थात् जगज्जननी ज्योतिरूप परमात्मा जो जीवमात्र का जन्मदाता है उसने आदि सृष्टि में विश्व के चराचर जीवों को युवावस्था में प्रकट किया, और वह परमात्मारूप शक्ति भी युवावस्था में प्रकट हुई स्त्री के समान नहीं ॥१॥

विश्वं प्रतीची सप्रथा उदस्थाद्रुशद्वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत् ।
हिरण्यवर्णा सुदृशीकसंदृग्गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि ॥२॥

पदार्थ—(सप्रथा) सब प्रकार से (विश्वं) सम्पूर्ण विश्व को (प्रतीची) प्रथम (अस्मात्) उत्पन्न करनेवाली (रुशत्) दिव्य शक्ति (वासः) उस दीप्तिवाले स्वरूप (उत्) और (शुक्रं) बल को (बिभ्रती) धारण करती हुई जो (अश्वैत्) सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, (हिरण्यवर्णा) दिव्यस्वरूप (सुदृशीक) सर्वोपरि दर्शनीय (संदृक्) सर्वज्ञात्री (गवां, माता) सब ब्रह्माण्डों की जननी और (अह्नां, नेत्री) सूर्यादि सब प्रकाशों की प्रकाशक (अरोचि) सब को प्रकाशित कर रही है ॥२॥

भावार्थः—जो दिव्य शक्ति सम्पूर्ण विश्व को धारण करके कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों को चला रही है वही दिव्य शक्तिरूप परमात्मा सब ब्रह्माण्डों की जननी और वही सब का अधिष्ठान होकर स्वयं प्रकाशमान हो रहा है ॥२॥

अब उस दिव्य शक्ति को सम्पूर्ण विश्व का आधार कथन करते हैं ॥

देवानां चक्षुः सुभगा वहंती श्वेतं नयंती सुदृशीकमश्वम् ।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ॥३॥

पदार्थः—(देवानां, चक्षुः) सब दिव्य शक्तियों की प्रकाशक (सुभगा) सर्वैश्वर्यसम्पन्न (श्वेतं, अश्वं, वहंती) श्वेतवर्ण के गतिशील सूर्य को चलानेवाली (सुदृशीकं) सर्वोपरिदर्शनीय (अदर्शि, रश्मिभिः, नयंती) नहीं देखे जाने वाली रश्मियों की चालिका (व्यक्ता) सब में विभक्त (चित्रामघा) नाना प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न

(उषः) परमात्मरूप शक्ति (विश्वं) सम्पूर्ण संसार को (अनु) आधेय रूप से आश्रय करके (प्रभूता) विस्तृतरूप से विराजमान हो रही है ॥३॥

भावार्थः—जो दिव्यशक्ति सूर्यादि सब तेजों का चक्षुरूप, सब प्रकाशक ज्योतियों को प्रकाश देनेवाली, गतिशील सूर्य चन्द्रादिकों को चलानेवाली और जो सम्पूर्ण संसार को आश्रय करके स्थित हो रही है वही दिव्य शक्ति सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान है ॥३॥

अब उक्त ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा से शत्रु निवारण तथा सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्ति की प्रार्थना कथन करते हैं ॥

अंतिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः ।

यावय द्वेष आ भरा वसूनि चोदय राधो गृणते मघोनि ॥४॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (अन्तिवामा) आप हमें अन्न तथा पशुओं से सम्पन्न करें अर्थात् प्रशस्तसमृद्धि युक्त करें "वामइति प्रशस्तनामसु पठितम् (निघण्टु ३।८)" (अमित्रं, दूरे, उच्छ) हमारे शत्रुओं को हमसे दूर करें (उर्वीं, गव्यूतिं) विस्तृत पृथ्वी का हमको अधिपति बनावें (नः) हमको (अभयं, कृधि) भयरहित करें (मघोनि) हे दिव्यशक्तिसम्पन्न भगवन् ! (गृणते) आप अपने उपासकों को (राधः) ऐश्वर्य की ओर (चोदय) प्रेरित करें और (यवय, द्वेषः) हमारे द्वेष दूर करके (वसूनि, आ, भर) सम्पूर्ण धनों से हमें परिपूर्ण करें ॥४॥

भावार्थ—हे सब धनों से परिपूर्ण तथा ऐश्वर्यसम्पन्न स्वामिन् ! आप हमें अन्न तथा गवादि पशुओं का स्वामी बनावें, आप हमें विस्तीर्ण भूमिपति बनावें, हमारे शत्रुओं को हम से दूर करके सब संसार का हमें मित्र बनावें अर्थात् द्वेषबुद्धि को हम से दूर करें जिससे कोई भी हमसे शत्रुता न करे। अधिक क्या आप उपासकों को शीलसम्पन्न करें सब प्रकार का धन दें जिससे हम लोग निरन्तर आपकी उपासना तथा आज्ञापालन में तत्पर रहें ॥४॥

अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्वि भाह्युषो देवि प्रतिरंती न आयुः ।

इषं च नो दधती विश्ववारे गोमदश्वावद्रथवच्च राधः ॥५॥

पदार्थः—(उषः, देवि) हे ज्योतिस्वरूप तथा दिव्यगुणसम्पन्न परमेश्वर ! (अस्मे) हमें (श्रेष्ठेभिः, भानुभिः) सुन्दर प्रकाशों से (विभाहि) भले प्रकार प्रकाशयुक्त करें (नः) हमारी (आयुः, प्रतिरंती) आयु को बढ़ावें (विश्ववारे) हे विश्व के उपास्य देव ! (नः) हमें (इषं) ऐश्वर्य (दधती) धारण करावें (च) और (गोमत्)

गौओं से युक्त (अश्ववत्) अश्वों वाला (रथवत्) यानों वाला (च) और (राधः) सम्पूर्ण धनों वाला करें ॥५॥

भावार्थः—मंत्र का भाव स्पष्ट है, इसमें यह वर्णन किया है कि हे परमात्मन् ! आप हमें दीर्घ आयु दें और सब प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न करें ॥५॥

अब वेदवेत्ता ऋषियों द्वारा प्रार्थना कथन करते हैं ॥

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः ।
सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

पदार्थः—(दिवः, दुहितः) द्युलोक की दुहिता (उषः) उषा के (वर्धयन्ति) उदय होने पर अथवा बढ़ने पर (मतिभिः, वसिष्ठाः) बुद्धिमान् ऋषि लोग (सुजाते) सुजन्मवाली उषा को लक्ष्य रख कर भले प्रकार परमात्मा को ज्ञानगोचर करके (यां त्वा) जिस आपका ध्यान करते हैं, (सा) वह आप (अस्मासु) हम लोगों को (ऋष्वं) ऐश्वर्ययुक्त करें, (बृहन्तं, रयिं) सब से बड़े धन को (धाः) धारण करावें और (नः) हमको (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणयुक्त वाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥६॥

भावार्थः—हे परमात्मा ! उषा काल में विज्ञानी ऋषि महात्मा अपनी ब्रह्मविषयिणी बुद्धि द्वारा आप को ज्ञानगोचर करते हुए आपका ध्यान करते हैं, वह आप हमारे पूजनीय पिता हमें धनसम्पन्न तथा ऐश्वर्ययुक्त करते हुए सब प्रकार से हमारा कल्याण करें ॥६॥

सप्तम मण्डल में ७७वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य अष्टसप्ततितमस्य सूक्तस्य १—५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१, २ त्रिष्टुप् । ३, ४, निचृत्त्रिष्टुप् ॥ ५, विराट्त्रिष्टुप् ॥ धैवतःस्वरः ॥

अब परमात्मा का स्वरूप वर्णन करते हैं ॥

प्रति केतवः प्रथमा अदृश्रन्नूर्ध्वा अस्या अञ्जयो वि श्रयन्ते ।
उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि ॥१॥

पदार्थः—हे परमात्मन्, (अस्याः) आपकी इस महती शक्ति के (प्रथमाः) पहले (केतवः) अनेक हेतु (ऊर्ध्वाः) सब से ऊंचे (प्रति) हमारे प्रति (अंजयः) प्रसिद्ध

(अदृश्रन्) देखे जाते हैं अर्थात् हमें स्पष्ट दिखाई देते हैं जो (विश्रयंते) विस्तारपूर्वक फैले हुए हैं (उषः) हे ज्योतिस्वरूप भगवन् ! (अर्वाचा) आप हमारे सन्मुख आयें अर्थात् हमें अपने दर्शन का पात्र बनायें, और (ज्योतिष्मता) अपने तेजस्वी (बृहता) बड़े (रथेन) ज्ञान से (अस्मभ्यं) हमको (वामं) ज्ञानरूप धन (वक्षि) प्रदान करें ॥१॥

भावार्थः—जब हम इस संसार में दृष्टि फैलाकर देखते हैं तो सब से पहले परमात्मस्वरूप को बोधन करनेवाले अनन्त हेतु इस संसार में हमारे दृष्टिगत होते हैं जो सबसे उच्च परमात्मस्वरूप को दर्शा रहे हैं, जैसा कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और यह अद्भुत रचना आदि चिह्नों से स्पष्टतया परमात्मा के स्वरूप का बोधन होता है, हे सर्वशक्तिसम्पन्न भगवन् ! आप अपने बड़े तेजस्वी स्वरूप का हमें ज्ञान करायें जिससे हम अपने आपको पवित्र करें ॥१॥

अब परमात्मस्वरूप का महत्त्व कथन करते हैं ॥

प्रति षीमग्निर्जरते समिद्धः प्रति विप्रासो मतिभिर्गृणंतः ।

उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरितापं देवी ॥२॥

पदार्थः—(देवी) परमात्मा का दिव्यस्वरूप (दुरिता, अप) पापों को दूर करता, तथा (विश्वा, तमांसि) सब प्रकार के अज्ञानों को (बाधमाना) निवृत्त करता हुआ (ज्योतिषा) अपने ज्ञान से (उषाः) उच्च गति को (याति) प्राप्त है । (विप्रासः) वेदवेत्ता ब्राह्मण उसको (मतिभिः) स्व बुद्धियों से (गृणंतः) ग्रहण करते हैं । (प्रति) उनको परमात्मस्वरूप (समिद्धः) सम्यक् रीति से प्रकाशित होता, और (अग्निः) ज्योतिस्वरूप परमात्मा (सीं) भलीभांति (प्रति, जरते) प्रत्येक पदार्थ में व्यापकभाव से प्रकाशित हो रहा है ॥२॥

भावार्थः—ज्ञानस्वरूप परमात्मा का दिव्यस्वरूप सदैव प्रकाशमान हुआ अज्ञानरूप अंधकार को निवृत्त करके ज्ञानरूप ज्योति का विस्तार करता अर्थात् उषारूप ज्योति के समान उच्चभाव को प्राप्त होता है, वह वेदवेत्ता ब्राह्मणों की बुद्धि का विषय होने से उनके प्रति प्रकाशित होता अर्थात् वे परमात्मस्वरूप को अपनी निर्मल बुद्धि से भलीभांति अवगत करते हैं । अधिक क्या उसका दिव्यस्वरूप संसार के प्रत्येक पदार्थ में ओतप्रोत हो रहा है, इसलिए सब पुरुषों को उचित है कि वह परमात्मस्वरूप को अपने-अपने हृदय में अवगत करते हुए अपने जीवन को उच्च बनावें, अर्थात् जिस प्रकार उषा काल अन्धकार को निवृत्त करके प्रकाशमय हो जाता है इसी प्रकार

परमात्मा अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके अपने प्रकाश से विद्वानों के हृदय को प्रकाशित करता है ॥२॥

एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः ।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम् ॥३॥

पदार्थः—(उषसः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा (ज्योतिः, यच्छंतीः) ज्ञान का प्रकाश करता हुआ (विभातीः) प्रकाशित होता, और उसका ज्ञान (प्रति) मनुष्यों के प्रति (पुरस्तात्, अदृश्रन्) सब से पूर्व देखा जाता है, (एताः त्याः) ये परमात्मशक्तियें (सूर्यं, यज्ञं, अग्निं) सूर्य, यज्ञ तथा अग्नि को (अजीजनन्) उत्पन्न करती (उ) और (अजुष्टं, तमः) अप्रिय तम को (अपाचीनं) दूर करके (अगात्) ज्ञानरूप प्रकाश का विस्तार करती हैं ॥३॥

भावार्थः—ज्ञानस्वरूप परमात्मा का ज्ञान सब से पूर्व देखा जाता है। वह अपने ज्ञान का विस्तार करके पीछे प्रकाशित होता है, क्योंकि उसके जानने के लिए पहले ज्ञान की आवश्यकता है और उसी परमात्मा से सूर्य चन्द्रादि दिव्य ज्योतियां उत्पन्न होतीं, उसी से यज्ञ का प्रादुर्भाव होता और उसी से अग्नि आदि तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वही परमात्मा अज्ञानरूप तम का नाश करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अपने ज्ञानरूप प्रकाश का विस्तार करता है, इसलिए सबका कर्तव्य है कि उसी ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होकर ज्ञान की वृद्धि द्वारा अपने जीवन को उच्च बनावें ॥३॥

अचेति दिवो दुहिता मघोनी विश्वे पश्यन्त्युषसं विभातीम् ।
आस्थाद्रथं स्वधया युज्यमानमा यमश्वासः सुयुजो वहन्ति ॥४॥

पदार्थः—(सुयुजः) सुन्दर दीप्तिवाली परमात्मशक्तियें (अश्वासः) शीघ्र गति द्वारा (यं, रथं) जिस रथ को (आ) भले प्रकार (वहंति) चलाती हैं, उससे (युज्यमानं) जुड़ी हुई (दिवः, दुहिता) द्युलोक की दुहिता (उषसं) उषा को (विश्वे, पश्यंति) सब लोग देखते हैं, जो (अचेति) दिव्यज्योतिसम्पन्न (मघोनी) ऐश्वर्यवाली (विभाती) प्रकाशयुक्त (स्वधया) अन्नादि पदार्थों से सम्पन्न, और जो (आ) भले प्रकार (अस्थात्) दृढ़तावाली है ॥४॥

भावार्थः—मंत्र का आशय यह है कि इस ब्रह्माण्ड रूपी रथ को परमात्मा की दिव्यशक्तियें चलाती हैं, उसी रथ में जुड़ी हुई द्युलोक की दुहिता उषा को विज्ञानी लोग देखते हैं जो अन्नादि ऐश्वर्यसम्पन्न बड़ी दृढ़तावाली है, इस शक्ति को देखकर विज्ञानी महात्मा इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परिपूर्ण

परमात्मा का अनुभव करते हुए उसी की उपासना में प्रवृत्त होकर अपने जीवन को सफल करते और परमात्मा की अचिन्त्य शक्तियों को विचारते हुए उसी में संलग्न होकर अमृतभाव को प्राप्त होते हैं ॥४॥

अब ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा की स्तुति कथन करते हुए प्रार्थना करते हैं ॥

प्रति॑ त्वाद्य सु॒मन॑सो बुधं॒तास्माका॑सो म॒घवा॑नो व॒यं च॑ ।
ति॒ल्वि॒ला॒यध्व॑मुषसो विभा॒तीर्यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (त्वा, प्रति) आपके प्रति (अद्य) आज (सुमनसः) सुन्दर मनों वाले विज्ञानी और (अस्माकासः) हमारे ऋत्विगादि (मघवानः) ऐश्वर्य-सम्पन्न आपको (बुधंत) बोधन करते (च) और (वयम्) हम लोग आपके महत्त्व को समझते हैं। हे परमात्मन् ! आप (तिल्विलायध्वं) हम में परस्पर प्रेम भाव उत्पन्न करें क्योंकि आप (उषसः) प्रकाशरूप ज्ञान से (विभातीः) सदा प्रकाशमान हैं। (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचन रूप वेदवाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥५॥

भावार्थः—हे भगवन् ! आपको शान्तमनवाले योगीजन बोधन करते तथा बड़े-बड़े ऐश्वर्यसम्पन्न आपके यज्ञ को वर्णन करते हैं और आपकी प्रेममय रज्जू से बंधे हुए भक्तजन आपका सदैव कीर्तन करते हैं, कृपा करके हमको कल्याणरूप वाणियों से सदा के लिए पवित्र करें ॥५॥

सप्तम मण्डल में ७८वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य एकोनाशीतितमस्य सूक्तस्य १—५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१, ४ निचृत्त्रिष्टुप् । २, ३ विराट् त्रिष्टुप् । ५ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब परमात्मा की स्वयं प्रकाशता कथन करते हुए उसीसे अज्ञाननिवृत्ति का वर्णन करते हैं ॥

व्यु१॒षा आ॑वः प॒थ्या॒३ जना॑नां॒ पंच॑ क्षि॒तीर्मानु॑षीर्बो॒धयं॑ती ।
सु॒सं॒दृग्भि॑रु॒क्षभि॑र्भा॒नुम॑श्रे॒द्वि सूर्यो॒ रोद॑सी॒ चक्ष॑सा वः ॥१॥

पदार्थः—(सूर्यः) स्वतःप्रकाश परमात्मा (रोदसी) पृथ्वी तथा द्युलोक के मध्य में (चक्षसा) अपने प्रकाश से (आवः) सबको प्रकाशित करता हुआ (वि, उषाः) अपने विशेष ज्ञान से (पंच, जनानां) पांचों प्रकार के मनुष्यों को (क्षितीः) इस पृथ्वी पर

(मानुषीः) मनुष्यता का (बोधयंती) उपदेश कर रहा है, जो (प्रावः पथ्या) सब के लिए विशेषरूप से पथ्य है, हम सब प्रजाजनों का (वि) विशेषता से मुख्य कर्तव्य है कि हम (उक्षभिः) अत्यन्तबलयुक्त (सुसंदृग्भिः) अपने सत्य ज्ञान से (भानुं,अश्रेत्) उस स्वयंप्रकाश को आश्रयण करें ॥१॥

भावार्थः—वह पूर्ण परमात्मा जो अपनी दिव्य ज्योति से सम्पूर्ण भूमण्डल को प्रकाशित करता हुआ अपने विशेष ज्ञान से "पंच जनाः"= ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और दस्यु, इन पाचों प्रकार के मनुष्यों को सत्यज्ञान का उपदेश कर रहा है जो सब के लिए परम उपयोगी है, हमारा कर्तव्य है कि हम यत्नपूर्वक उस स्वतःप्रकाश परमात्मा के स्वरूप को जान कर उसी का आश्रयण करें ॥१॥

व्यंजते दिवो अंतेष्वक्तून्विशो न युक्ता उषसो यतन्ते ।

सं ते गावस्तम आ वर्तयंति ज्योतिर्यच्छंति सवितेव बाहू ॥२॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! आप (दिवः अंतेषु) द्युलोकपर्यंन्त प्रदेशों में (अक्तून्) सूर्यादि प्रकाशों के (न) समान (विशः, अंजते) सम्पूर्ण प्रजाओं को प्रकट करते (वि) भले प्रकार (उषसः युक्ताः) प्रकाशयुक्त (यतंते) कर रहे हैं (ते, गावः) तुम्हारा ज्ञान-रूप प्रकाश (तमः) अज्ञान रूप तम को (आ) भले प्रकार (वर्तयंति) दूर करता है (सविता, इव, बाहू) सूर्य्य की किरणों के समान (ज्योतिः) तुम्हारी ज्योति (सं, यच्छंति) सब को प्रकाशित करती है ॥२॥

भावार्थः—हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप द्युलोकपर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रजाओं को अपनी दिव्य ज्योति से प्रकाशित कर रहे हैं अर्थात् आप अपने ज्ञानरूप तप से प्रजाओं को रचकर सूर्य्य की किरणों के समान अज्ञानरूप तम को छिन्नभिन्न करके मनुष्यों को ज्ञानयुक्त बनाते हैं, जैसाकि "यस्य ज्ञानमयं तपः" इत्यादि उपनिषदवाक्यों में इसी मन्त्र को आश्रय करके कहा है कि उस परमात्मा का ज्ञान ही एक प्रकार का तप है, उसी ज्ञानरूप तप से परमात्मा इस ब्रह्माण्ड की रचना करके सब को यथावस्थित नियम में चला रहे हैं ॥२॥

अब उस दिव्यज्ञान की प्राप्ति के लिये परामात्मा से प्रार्थना करते हैं ॥

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत्सुविताय श्रवांसि ।

वि दिवो देवी दुहिता दधात्यंगिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रतमा) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आपका (वि) विस्तृत ज्ञान

(सुविताय) हमारे कल्याणार्थं (उषाः,अभूत्) प्रकाशित हो (मघोनी) हे सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न भगवन् ! आप (श्रवांसि) अपनी ज्ञानशक्ति को(अजीजनत्) प्रकाशित करें, हे ज्योतिः-स्वरूप ! (दिवः, देवी) द्युलोक की देवी (दुहिता) तुम्हारी दुहितारूप दिव्यशक्ति जो (अंगिरः, तमा) अत्यन्त गमनशील तमनाशक है वह (सुकृते) हमारे पुण्यों के लिये (वसूनि, दधाति) धनों को धारण करावे ॥३॥

भावार्थः—हे सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मन् ! आपकी दुहितारूप विद्युतादि शक्तियें हमारे लिये कल्याणकारी होकर हमें अनन्त प्रकाश का धन धारण करावें, और आपका ज्ञान हमारे हृदय को प्रकाशित करे ॥३॥

तावदुषो राधो अस्मभ्यं रास्व यावत्स्तोतृभ्यो अरदो गृणाना ।
यां त्वां जज्ञुर्वृषभस्या रवेण वि दृळ्हस्य दुरो अद्रेरौर्णोः ॥४॥

पदार्थः—(उषः) हे ज्ञान स्वरूप परमात्मन् (अस्मभ्यं) हम लोगों को (अरदः) प्रथम (तावत्, राधः, रास्व) उतना धन प्रदान करें (यावत्) जितने से हम (गृणाना) आपको ग्रहण करने वाले (स्तोतृभ्यः) स्तोता विद्वानों को प्रसन्न कर सकें (यां, त्वा) जो आप को (वृषभस्य, रवेण, जज्ञुः) वृषभ के समान उच्चस्वर से प्रकट कर रहे हैं अर्थात् आप की स्तुति करते हैं, और हमारे लिये (दृळ्हस्य, दुरः, अद्रेः) दृढ़तायुक्त कठिन से कठिन मार्गों को (वि) भली-भांति (और्णोः) खोल दें ॥४॥

भावार्थः—हे सर्वपालक भगवन् ! आप हमको ऐश्वर्य्यसम्पन्न करें जिससे हम अपने वेदवेत्ता स्तोता आदि विद्वानों को प्रसन्न करें जो हमारे प्रति आपकी स्तुति उच्चस्वर से वर्णन करते हैं या यों कहो कि परमात्मस्तुतिकीर्तन करते हुए हमको आपकी उपासना में प्रवृत्त करते हैं,हे भगवन्! आप हम में ऐसी शक्ति प्रदान करें कि हम कठिन से कठिन मार्गों के द्वारों को खोलकर आप का दर्शन कर सकें ॥४॥

अब धनप्राप्ति की प्रार्थना करते हैं ॥

देवंदेवं राधसे चोदयंत्यस्मद्र्यक्सूनृता ईरयंती ।
व्युच्छंती नः सनये धियो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् (देवं देवं) सब श्रोताओं को (राधसे) धनप्राप्ति के लिये (चोदयन्ती) प्रेरित करें (अस्मद्र्यक्) हम यजमानों को (सूनृताः) उत्तम वेदवाणियों की ओर (व्युच्छंती) उत्साहित करें, और (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (सनये) दान के लिये (धाः) धारण कराते हुए (ईरयंती) उस ओर प्रेरें, जिससे हम दान में

समर्थ हों, और (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणरूप वाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥५॥

भावार्थः—हे दिव्यशक्तिसम्पन्न परमात्मन् ! आप सब स्तोताओं को धनधान्यादि से भले प्रकार समृद्ध करें ताकि वह उत्तमोत्तम वेदवाणियों द्वारा आप का सदा स्तवन करते हुए हमारी बुद्धियों को आप की ओर प्रेरित करें, और हे भगवन्! आप हमें दानशील बनावें ताकि हम उत्साहित होकर स्तोता आदि अधिकारियों को दान देने में समर्थ हों, और आप हमें सदा के लिये पवित्र करें, यह प्रार्थना है ॥५॥

सप्तम मण्डल में ७९ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

ऋचस्याशीतितमस्य सूक्तस्य १–३ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः–१ त्रिष्टुप् २ विराट् त्रिष्टुप् ३–निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ।

अब सब भुवनों तथा दिव्य पदार्थों की रचना परमात्मा
से होना कथन करते हैं ॥

प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् ।
विवर्तयंती रजसी समंते आविष्कृण्वती भुवनानि विश्वा ॥१॥

पदार्थः—(विश्वा,भुवनानि) इस संसार के सम्पूर्ण भुवनों की (आविः कृण्वती) रचना करते हुए परमात्मा ने (विप्रासः) वेदवेत्ता ब्राह्मणों को (अबुध्रन्) बोधन किया, और (वसिष्ठाः) उन विशेषगुणसम्पन्न विद्वानों ने (प्रति उषसं) प्रत्येक उषा काल में (स्तोमेभिः, गीर्भिः) यज्ञरूप वाणियों द्वारा परमात्मा का स्तवन किया, और (समंते) अंत समय में (रजसी) रजोगुणप्रधान परमात्मशक्ति (विवर्तयंती) इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को लय करती है ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का वर्णन किया गया है अर्थात् संसार की उक्त तीनों अवस्थाओं का कारण एकमात्र परमात्मा है, वह परमात्मा इस संसार की रचना काल में प्रथम ऋषियों को वेद का ज्ञान देता है जिससे सब प्रजा उस रचयिता परमात्मा के नियमों को भले प्रकार जानकर तदनुसार ही आचरण करते हुए संसार में सुखपूर्वक विचरें, वही परमात्मा सब संसार का पालक पोषक और अन्त समय में वही सब का संहार करने वाला है ॥१॥

एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि ।
अग्रं एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत्सूर्यं यज्ञमग्निम् ॥२॥

पदार्थः—(अग्रे) सृष्टि रचना से प्रथम (एषा, गूढ्वी) यह परमात्मा की गुह्य-शक्ति (ज्योतिषा, तमः) प्रकाशरूप ज्योति से तम का नाश करके (सूर्यं, यज्ञं, अग्निं) सूर्य, यज्ञ तथा अग्नि को (प्र) भले प्रकार (अचिकितत्) रचती और (उषा, अबोधि) उषा काल का बोधन करती हुई वह (अह्रयाणा,युवतिः) प्रकाशवती सदा युवावस्था-सम्पन्न रहती है (स्या) वह शक्ति (नव्यं, आयुः, दधाना) नवीन आयु को धारण करती हुई (एति) उसी परमात्मा में लय हो जाती है ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा की दिव्य शक्ति जिससे सृष्टि के आदि काल में पुनः रचना होती है वह परमात्मा की प्रकाशरूप ज्योति से प्रथम अन्धकार का नाश करती है, क्योंकि प्रलयकाल में यह सब संसार अन्धकारमय होता है, तत्पश्चात् सूर्य्य, अग्नि और यज्ञ को रचकर उषाकाल का बोधन कराती है जिससे सब प्रजागण परमात्मा का स्तवन करते हुए अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, परमात्मा की उस दिव्य शक्ति में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता, वह युवावस्था को प्राप्त हुई मनुष्यों को कर्मानुसार सदा बल, बुद्धि आदि नूतन भावों को प्रदान करती रहती है और अन्त में उसी परमात्मा में लय हो जाती है ॥२॥

अब इस सूक्त के अंत में परमात्मा के दिव्य गुणों का वर्णन
करते हुए उससे स्वस्ति की प्रार्थना करते हैं ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥

पदार्थः—हे परमात्मन्! आप (अश्ववातीः) सर्वगतियों का आश्रय (गोमतीः) सब ज्ञानों का आधार (वीरवतीः) सब वीरतादि गुणों का आश्रय हो (नः) हमको (उषसः) प्रकाश वाले (भद्राः) भद्र गुण (सदं) सदा के लिये (उच्छंतु) प्राप्त करायें, आप (विश्वतः) सब ओर से (घृतं) प्रेम को (दुहानाः) उत्पन्न करने वाले (प्रपीताः) सब के आश्रय भूत हैं (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा का वर्णन करते हुए यह कथन किया है कि जिस प्रकार वर्तिका=बत्ती सब ओर से स्नेह=चिकनाई को अपने में

लीन करके प्रकाश करती है इसी प्रकार सब प्रेमी पुरुषों को परमात्मा प्रकाश=ज्ञान प्रदान करते हैं, वही परमात्मा वीरता, धीरता, ज्ञान तथा गति आदि सब सद्गुणों का आधार और प्रेममय पुरुषों का एकमात्र गति-स्थान है ॥३॥

सप्तम मण्डल में ८० वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षष्ठोध्यायः

—ः❀ः—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

अथ षड्चस्य एकाशीतितमस्य सूक्तस्य १–६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः–१ विराड् बृहती । २ भुरिग्बृहती । ३ आर्षीबृहती । ४, ६ आर्षीभुरिग्बृहती । ५ निचृद्बृहती । मध्यमः स्वरः ॥

अब सर्वप्रेरक तथा सर्वप्रकाशक परमात्मा का वर्णन करते हैं ॥

प्रत्यु अदर्श्यायत्यु१च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥

पदार्थः—(ज्योतिः) सब का प्रकाशक (महि) बड़े (तमः) अंधकार को (व्ययति) नाश करने वाला (चक्षसे) प्रकाश के लिये (दिवः, दुहिता) उषा का (प्रति, उ, अदर्शि) प्रत्येक स्थान में प्रकाशित करने वाला (सूनरी, आयती) सुन्दर प्रकाश को विस्तृत आकाश में (उच्छंती) फैलाकर (अपो) जलों द्वारा सब दुःखों को दूर करता है ॥१॥

भावार्थः–दिव्यशक्तिसम्पन्न परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से उषादि ज्योतियों का विकाश करता हुआ संसार के अंधकार को दूर करता और

विज्ञानी लोगों के लिए अपने प्रभूत ज्ञान का प्रकाश करता है, वही अपनी दिव्य शक्ति से वृष्टि द्वारा संसार का भरण-पोषण करता और वही सबको स्थिति देने वाला है ॥१॥

उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत् ।

तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥२॥

पदार्थः—(सूर्यः) सब का उत्पन्न करने वाला परमात्मा (उस्रियाः, सृजते) तेजोमंडल को रचता (उत्) और (सचा) साथ ही (नक्षत्रं) नक्षत्रों को (उत् यत्) उत्पन्न करता हुआ (अर्चिवत्) प्रकाशित करता है (तव, इत्, उषः) तुम्हारा वही तेज (व्युषि) हमको प्रकाशित करे, ताकि हम (सूर्यस्य) स्वतःप्रकाश आपको (सं, भक्तेन) भलेप्रकार श्रद्धापूर्वक (गमेमहि) प्राप्त हों ॥२॥

भावार्थः—हे सबको उत्पन्न करने वाले परमात्मन् ! आपका तेजोमयस्वरूप जो सूर्य चन्द्रादि लोकों को प्रकाशित कर रहा है वह हमको भी ज्ञान से प्रकाशित करे ताकि हम आपको भक्तिभाव से प्राप्त हों अर्थात् हम लोग सदैव आपके ही स्वरूप का चिन्तन करते हुए अपने जीवन को पवित्र करें ॥२॥

प्रति त्वा दुहितर्दिव उषो जीरा अभुत्स्महि ।

या वहसि पुरु स्पार्हं वनन्वति रत्नं न दाशुषे मयः ॥३॥

पदार्थः—(वनन्वति) हे सर्वभजनीय परमात्मन् ! (दिवः, दुहितः, उषः) द्युलोक की दुहिता उषा के द्वारा (जीराः) शीघ्र ही (त्वा, प्रति) आपको (अभुत्स्महि) भलेप्रकार जान, और (या) जो आप (पुरु, स्पार्हं, वहसि) बहुत धन सबको प्राप्त कराते और (दाशुषे) यजमान के लिए (रत्नं) रत्न (मयः) सुख देते हैं (न) उसीके समान हमें भी प्रदान करें ॥३॥

भावार्थः—हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मदेव ! आप ऐसी कृपा करें कि हम उषाकाल में अनुष्ठान करते हुए आपके समीपी हों, आप ही सब सांसारिक रत्नादि ऐश्वर्य तथा आत्मसुख देनेवाले हैं, कृपा करके हमको भी अपने प्रिय यजमानों के समान अभ्युदय और निश्श्रेयसरूप दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त करायें। यहां मंत्र में "मयः" शब्द से आध्यात्मिक आनन्द का ग्रहण है, जैसाकि "नमः शम्भवाय च मयोभवाय च" इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है, इसी आनन्द की यहां परमात्मा से प्रार्थना की गई है ॥३॥

उच्छंती या कृणोषि मंहना महि प्रख्यै देवि स्वर्दृशे ।
तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः ॥४॥

पदार्थः—(देवि) हे दिव्यस्वरूप परमात्मन्, (दृशे) विज्ञानियों के ज्ञानगोचर (या) जो आप (स्वः, प्रख्यै) अपनी ख्याति के लिये (मंहना) स्वमहिमा से (महि, कृणोषि) जगत् को रचकर (उच्छंती) अज्ञानरूप अंधकार का नाश करके अपने तेजोमय ज्ञान का प्रकाश करते हो (वयं) हम लोग (मातुः) माता के (सूनवः) बच्चों के (न) समान (स्याम) हों, और (तस्याः) पूर्वोक्तगुणसम्पन्न (ते) तुम्हारी (ईमहे) उपासना करते हुए (रत्नभाजः) रत्नों के पात्र बनें ॥४॥

भावार्थः—हे परमपिता परमात्मन् ! आपको ज्ञान द्वारा विज्ञानी पुरुष ही उपलब्ध कर सकते हैं साधारण पुरुष नहीं । हे दिव्यस्वरूप भगवन्! आप हमारे ज्ञानार्थ ही अपनी अपूर्व सामर्थ्य से इस जगत् की रचना करते हैं, आप माता के समान हम पर प्यार करते हुए हमारी सब प्रकार से रक्षा करें और हमें ज्ञानसम्पन्न करके अपनी उपासना का अधिकारी बनावें ताकि हम आपके अनुग्रह से धनधान्य से भरपूर हों ॥४॥

तच्चित्रं राध आ भरोषो यद्दीर्घश्रुत्तमम् ।
यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनं तद्रास्व भुनजामहै ॥५॥

पदार्थः—(उषः) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (यत्) जो (दीर्घश्रुत्तमं) घोर अन्धकाररूप अज्ञान है (तत्) उसको आप दूर करके (चित्रं, रायः, आ, भर) नाना प्रकार का उत्तम धन प्रदान करें, और (यत्) जो (ते) तुम्हारा (दिवः दुहितः) दूर देशों में हित करने वाला सामर्थ्य है उससे (मर्तभोजनं) मनुष्यों का भोजनरूप धन (रास्व) दीजिये ताकि (तत्) वह (भुनजामहै) हमारे उपभोग में आवे ॥५॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! आप महामोहरूपघोर अज्ञान का नाश करके हमें उत्तम ज्ञान की प्राप्ति करायें जिससे हम अपने भरण-पोषण के लिए धन उपलब्ध कर सकें । हे भगवन् ! कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों में आपका सामर्थ्य व्याप्त हो रहा है, आप हमारें पालनकर्ता और नाना प्रकार के ऐश्वर्यदाता हैं कृपा करके हमारे भोजन के लिए अन्नादि धन दें ताकि हम आपकी उपासना में प्रवृत्त रहें ॥५॥

श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनं वाजाँ अस्मभ्यं गोमतः ।
चोदयित्री मघोनः सूनृतावत्युषा उच्छदप स्रिधः ॥६॥

पदार्थः—हे भगवन् (सूरिभ्यः श्रवः) विद्वानों के लिए यश, (अमृतं) अमृत (वसुत्वनं) उत्तम धन, तथा (वाजान्) नानाप्रकार के अन्न प्रदान करें, और (अस्मभ्यं) हमको (गोमतः) ज्ञान के साधन कलाकौशलादि (चोदयित्री) सबको प्रेरण करने वाली शक्ति (उषाः, मघोनः) उषा काल में यज्ञ करने का सामर्थ्य, और (सूनृतावती) उत्तम भाषण करने की शक्ति दें, और (अप, स्निधः) हमसे संताप को (उच्छत्) दूर करें ॥६॥

भावार्थः—हे सर्वशक्तिसम्पन्न भगवन् ! आप शूरवीरों को वीरता-रूप सामर्थ्य देने वाले, विज्ञानियों को विज्ञानरूप सामर्थ्य देते, आप ही नानाप्रकार के अन्न तथा ज्ञान के साधन कलाकौशलादि के प्रदाता हैं, आपही सब शोकों को दूर करके अमृत पद देने वाले हैं अर्थात् आप ही अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्रकार के उपभोग देते हैं ॥६॥

सप्तम मण्डल में ८१ वां सूक्त समाप्त हुआ ।

अथ दशर्चस्य द्व्यशीतितमस्य सूक्तस्य १—१० वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१, २, ६, ७, ९—निचृज्जगती । ३ आर्ची भुरिग्जगती ॥ ४, ५, १० आर्षी विराड्जगती ॥ ८ विराड्जगती ॥ निषादः स्वरः ॥

अब परमात्मा प्रजाजनों को राजधर्म का उपदेश करते हैं ॥

इन्द्रावरुणा युवमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम् ।
दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः ॥१॥

पदार्थः—(दुः,ढ्यः) दुर्बुद्धि लोग (पृतनासु) युद्धों में (यः) जो (वनुष्यति) अनुचित व्यवहार द्वारा जीतने की इच्छा करते और (दीर्घप्रयज्युम्) प्रयोग न करने योग्य पदार्थों का (अति) प्रयोग करते हैं उनको (वयं, जयेम) हम जीतें (इन्द्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशको (युवं) आप (नः) हमारे (अध्वरा) संग्रामरूपयज्ञ और (विशे, जनाय) प्रजाजनों के लिये (महि, शर्म) बड़ा शान्तिकारक साधन (यच्छतं) दें, जिससे हम उनको विजय कर सकें ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम युद्ध में अप्रयुक्त पदार्थों का प्रयोग करने वाले दुष्ट शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करो और युद्धविद्यावेत्ता अध्यापक तथा उपदेशकों से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें युद्ध के लिए उपयोगी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों की शिक्षा दें जिससे तुम दुष्ट शत्रुओं का हनन करके जगत् में शान्ति फैलाओ ॥१॥

सम्राळन्य स्वराळन्य उच्यते वां महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू ।
विश्वे देवासः परमे व्योमनि सं वामोजो वृषणा सं बलं दधुः ॥२॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो ! तुम (अन्यः) एक को (सम्राट्) सम्राट् (अन्यः, स्वराट्) एक को स्वराट् बनाओ । (महान्तौ) हे महानुभाव (इन्द्रा वरुणा) अध्यापक तथा उपदेशको (वां) तुम्हें (उच्यते) यह उपदेश किया जाता है कि (वां) तुम (विश्वे, देवासः) सम्पूर्ण विद्वान् (ओजः) अपनी सामर्थ्य से (परमे, व्योमनि) इस विस्तृत आकाशमण्डल में (सं) उत्तमोत्तम (महावसू) बड़े धनों के स्वामी होओ, और (वृषण) आप सब लोग मिलकर (सं) सर्वोपरि (बलं, दधुः) बल को धारण करो ॥२॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा ने राजधर्म के संगठन का उपदेश किया है कि हे राजकीय पुरुषो, तुम अपने में से एक को सम्राट्=प्रजाधीश और एक को स्वराट् बनाओ, क्योंकि जब तक उपरोक्त दोनों शक्तियें अपने-अपने कार्यों को विधिवत् नहीं करतीं तब तक प्रजा में शान्ति का भाव उत्पन्न नहीं होता और न प्रजागण अपने-अपने धर्मों का यथावत् पालन कर सकते हैं "सम्यक् राजत इति सम्राट्"=जो भलीभांति अभिषेक करके राजा बनाया गया हो वह "सम्राट्" और "स्वयं राजत इति स्वराट्"=जो अपने कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय करे उसका नाम "स्वराट्" अर्थात् प्रजातन्त्र का नाम "स्वराट्" है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक अपने लिए सुख-दुःख का विचार कर सके, इस प्रकार सम्राट् और स्वराट् जब परस्पर एक दूसरे के सहायक हों तभी दोनों बलों की सदैव वृद्धि होती है ॥२॥

अन्वपां खान्यतृंतमोजसा सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम् ।
इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिनोऽपिन्वतमपितः पिन्वतं धियः ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे राजपुरुषो ! तुम (अस्य, मदे) इस राज्यप्रभुत्व में (धियः, पिन्वतं) अपने आपको कर्मयोग से पुष्ट करो (अनु) तदनन्तर (ओजसा) अपने तेज से (अपां, खानि) शत्रु के जलदुर्गों को (आ, अतृन्तं) भले प्रकार नष्ट भ्रष्ट करके (दिवि, प्रभुं) दिन के प्रभु (सूर्यं) सूर्य को (ऐरयतं) अपने धूम्रवाणों से आच्छादन कर (मायिनः) मायावी शत्रुओं को (अपितः) सब ओर से (अपिन्वतं) परास्त करो ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम अपने उग्र कर्मों द्वारा शक्तिसम्पन्न होकर मायावी शत्रुओं का मर्दन करो अर्थात्

प्रथम अपनी जलयंत्र विद्या द्वारा उनके जलदुर्गों को विजय करो तदनन्तर अपनी पदार्थ विद्या से सूर्य के तेज को आच्छादन करके अर्थात् यंत्रों द्वारा दिन को रात्रि बनाकर शत्रुओं का विजय करो जो संसार में न्याय का भंग करते हुए अपनी माया से प्रजाओं में नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करते हैं, उनका सर्वनाश तथा श्रेष्ठों का रक्षण करना तुम्हारा परम कर्तव्य है ॥३॥

युवामिद्युत्सु पृतनासु वह्नयो युवां क्षेमस्य प्रसवे मितज्ञवः ।
ईशाना वस्व उभयस्य कारव इन्द्रावरुणा सुहवा हवामहे ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे विद्वान् पुरुषो ! मैं तुम्हें (सुहवा) प्रेमपूर्वक (हवामहे) बुलाकर उपदेश करता हूँ कि तुम लोग (कारवः) कर्मशील बनकर (उभयस्य) राजा तथा प्रजा दोनों के कल्याण में (वस्वः) प्रयत्न करो, और (ईशाना) ऐश्वर्य-सम्पन्न होकर (मितज्ञवः) व्यायामसाधित लघु शरीर वाले (क्षेमस्य, प्रसवे) सबके लिए सुख की वृद्धि करो (युवां) आप लोगों को उचित है कि (पृतनासु) युद्धों में (वह्नयः) उत्साही होकर (युत्सु) राज्य के संगठन में (युवां) तुम्हारा (इत्) ज्ञान वृद्धि को प्राप्त हो ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे अध्यापक तथा उपदेशको ! मैं तुम्हें बुलाकर अर्थात् ज्ञान द्वारा मेरे समीप स्थित हुए तुम्हें उपदेश करता हूं कि तुम अनुष्ठानी बनकर राजा तथा प्रजा दोनों के हित में प्रयत्न करो क्योंकि अनुष्ठानशील पुरुष ही उपदेशों द्वारा संसार का कल्याण कर सकता है अन्य नहीं, हे विद्वानो ! तुम युद्धविद्या के ज्ञाता बनकर सदैव अपने ज्ञान को बढ़ाते रहो, और युद्ध में उत्साहपूर्वक शत्रुओं का दमन करते हुए राज्य के संगठन में सदा प्रयत्न करते रहो ॥४॥

इन्द्रावरुणा यदिमानि चक्रथुर्विश्वा जातानि भुवनस्य मज्मना ।
क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यति मरुद्भिरुग्रः शुभमन्य ईयते ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रवरुणा) हे अग्नि तथा जलविद्यावेत्ता विद्वानो ! तुम लोग (मज्मना) अपने आत्मिक बल से (विश्वा, जातानि) सम्पूर्ण विश्व के अनुभव द्वारा (क्षेमेण) कुशलपूर्वक (भुवनस्य) संसार की रक्षा करो । (यत्) जो (इमानि, चक्रथुः) यह युद्धविद्याविषयक कार्य करते हो वह (मित्रः) संसार को सुखकारक हो, और (वरुणं) सबको आच्छादन करने वाली जलमय वायु को (दुवस्यति) दूर करके (उग्रः) युद्धविद्या में निपुण सैनिक पुरुष (मरुद्भिः) आकाश मण्डल में फैलने वाली वायुओं

द्वारा शत्रुओं को जीतें (अन्यः) अन्य सैनिक पुरुष (शुभं) शुभ साधनों द्वारा शत्रु को (ईयते) प्राप्त हों अर्थात् उसके सम्मुख जायें ॥५॥

भावार्थः—हे आग्नेय तथा जलीय अस्त्र-शस्त्रों के वेत्ता विद्वानो ! तुम लोग अपने अनुभव द्वारा राज्य विरोधी शत्रुओं को विजय करके सम्पूर्ण संसार की रक्षा करो, तुम कलाकौशल के ज्ञान द्वारा युद्धविषयक अस्त्र-शस्त्र निर्माण करो, और ऐसे अस्त्रों का प्रयोग करो जो आकाशमण्डल में फैलजाने वाली वायुओं द्वारा शत्रु का विजय करें अर्थात् प्रबल शत्रु को आग्नेयास्त्र तथा वारुणास्त्र द्वारा विजय करो और साधारण शत्रु को शुभ साधनों से अपने वश में करो जिससे उसको घोर कष्ट न हो ॥५॥

म॒हे शु॒ल्काय॒ वरु॑णस्य॒ नु त्वि॒ष ओजो॑ मिमाते ध्रु॒वम॑स्य॒ यत्स्वम् ।
अजा॑मिम॒न्यः श्न॒थय॑न्त॒मात॑िर॒द्द॒भ्रेभि॑र॒न्यः प्र वृ॑णोति॒ भूय॑सः ॥६॥

पदार्थः—(वरुणस्य) वरुणास्त्र का प्रयोग करने वाला पुरुष (नु) निश्चय करके (महे, शुल्काय) बड़े ऐश्वर्य के लिए (त्विषे, ओजः) अपने तेज तथा बल द्वारा (मिमाते) शीघ्र ही शत्रु का (अतिरत्) हनन करता (अस्य) उसका (यत्) जो (ध्रुवं) निश्चल (स्वं) धन है वह (अजामि) शत्रु को (श्नथयंतं) नाश करदेता और (अन्यः) अन्य जो बल है वह (अतिरत्) हनन करता है, वह (अन्यः) अन्य (दभ्रेभिः) अल्प साधनों से ही (भूयसः) बहुत से शत्रुओं को (प्र, वृणोति) भले प्रकार अपने वश में कर लेता है ॥६॥

भावार्थः—वारुणास्त्र का प्रयोग करने वाला विद्वान् अल्प साधनों से ही शत्रुसेना का विजय करके उसकी सामग्री पर अपना अधिकार जमा लेता है, उसका शस्त्र-अस्त्ररूप धन शत्रुओं के नाश का कारण होता है अर्थात् उसके इस अपूर्व धन के सन्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता, वह अनेक शत्रुओं को विजय करके बड़ा ऐश्वर्यसम्पन्न होता है ॥६॥

अब दुराधर्ष राजा की विभूति कथन करते हैं ॥

न तमंहो॒ न दु॑रि॒तानि॒ मर्त्य॒मिन्द्रा॑वरुणा॒ न तपः॑ कुत॑श्च॒न ।
यस्य॑ देवा॒ गच्छ॑थो वी॒थो अ॑ध्व॒रं न तं मर्त॑स्य नशते॒ परि॑ह्वृतिः ॥७॥

पादर्थः—(यस्य) जिस राजा के (अध्वरं) यज्ञ को (देवा) शस्त्रास्त्रादिविद्या-सम्पन्न विद्वान् (वीथः) संगत होकर (गच्छथः) जाते हैं (तं) उस राजा को अथवा (मर्तस्य) मरणधर्मा मनुष्य को (परिह्वृति) कोई बाधा (नशते, न) नाश नहीं कर

सकती, और (न) न ही (कुतः, चन) किसी ओर से (तपः) कोई ताप उसका नाश कर सकता है। (मर्त्यं) जिस मनुष्य को(इन्द्रावरुणा) विद्युत् तथा जलीय विद्या जानने वाले विद्वान् प्राप्त होते हैं (तं) उसको (न, अंहः) न कोई पाप (न, दुरितानि) न कोई दुष्कर्म नाश कर सकता है ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा तथा यजमानो ! तुम लोग अस्त्रशस्त्रविद्यासम्पन्न विद्वानों को अपने यज्ञों में बुलाओ, क्योंकि वरुणास्त्र तथा अग्नेयास्त्र आदि अस्त्र विद्या वेत्ता विद्वान् जिस राजा वा यजमान के यज्ञ में जाते हैं अथवा जिनका उपरोक्त विद्वानों से घनिष्ट संबंध होता है उनको न कोई शत्रु पीड़ा दे सकता और न कोई पाप उनका नाश कर सकता है अर्थात् विद्वानों के सत्संग से उनके पाप क्षय होकर जीवन पवित्र हो जाता है, इसलिए राजाओं को उचित है कि विद्वानों का सत्कार करते हुए उनको अपना समीपी बनावें जिससे वह किसी विपत्ति को न देखें ॥७॥

अर्वाङ् नरा दैव्येनावसा गतं शृणुतं हवं यदि मे जुजोषथः ।

युवोर्हि सख्यमुत वा यदाप्यं मार्डीकमिन्द्रावरुणा नि यच्छतम् ॥८॥

पदार्थः—(नरा) हे मनुष्यो ! तुम (अर्वाक्) मेरे सन्मुख आओ (उत) और (दैव्येन, अवसा) दिव्य रक्षा से (आगतं) आये हुए तुमको (हवं) उपदेश करता हूँ जिसको (शृणुतं) ध्यानपूर्वक सुनो (इन्द्रावरुणा) हे विद्वानो ! (यत्) जो आप (यदि) यदि (नियच्छतम्) निष्कपट भाव से मनोदान देकर (मे) मेरे में (जुजोषथः) जुड़ोगे= प्रीति करोगे तो मैं (हि) निश्चय करके (युवोः, सख्यं) तुम्हारी मैत्री का पालन करूंगा (वा) अथवा (आप्यं) तुम्हें प्राप्त होने योग्य (मार्डीकं) सुख दूंगा ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि आग्नेयास्त्र तथा वारुणास्त्र आदि अस्त्र-शस्त्रों की विद्या में निपुण विद्वानो ! तुम सरलभाव से मेरे में प्रीति करो अर्थात् शुद्ध हृदय से वेदाज्ञा का पालन करते हुए मेरे सन्मुख आओ मैं तुम्हें सखसम्पन्न करूंगा ॥८॥

अस्माकमिन्द्रावरुणा भरेभरे पुरोयोधा भवतं कृष्ट्योजसा ।

यद्वां हवंत उभये अध स्पृधि नरस्तोकस्य तनयस्य सातिषु ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे विद्वानो ! तुम (भरे-भरे) प्रत्येक संग्राम में (अस्माकम्) हमारे (पुरोयोधा) सन्मुख योद्धा (भवतं) होओ (कृष्टचोजसा) हे शत्रुओं के नाशक बलवालो ! (यत्) जो (नरः) नेता (वां) तुम्हारा (स्पृधि) युद्ध में (तोकस्य,

तनयस्य, सातिषु) पुत्र पौत्र की रक्षा के निमित्त (हवन्ते) आह्वान करते हैं तुम उनकी रक्षा करो ॥९॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! तुम प्रत्येक संग्राम में मेरे सन्मुख होओ अर्थात् मुझसे विजयप्राप्ति के लिये प्रार्थना करो क्योंकि मेरी सहायता के विना कोई किसी को जय नहीं कर सकता, हे बड़े बलवान् योद्धाओ ! जो तुम्हारे साथ ईर्ष्या करते हैं वह भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये है परन्तु प्रजा और धर्म की रक्षा करना तुम्हारा मुख्य कर्तव्य होने से तुम किसी का पक्षपात मत करो, सदा राजधर्म का पालन करना और राजा की आज्ञा में सदैव रहना तुम्हारा धर्म है जिसका अनुष्ठान करते हुए परमात्मा के समीपी होओ ॥९॥

अब राजपुरुषों से धन और परमात्मा से रक्षा की प्रार्थना करते हैं ॥

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः ।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्रः) वैद्युतविद्यावेत्ता (वरुणः) जलीयविद्या के ज्ञाता (मित्रः) सबके मित्र (अर्यमा) न्याय करने वाले, जो राजकीय पुरुष हैं वे (अस्मे) हमें (द्युम्नं) ऐश्वर्य्य (यच्छन्तु) प्राप्त करायें, और (सप्रथः, महि, शर्म) सब से बड़ा सुख (ज्योतिः) स्वयंप्रकाश परमात्मा हमको नित्य प्रदान करें (अवध्रं) हमको नाश न करें ताकि हम (अदितेः) अखण्डनीय (ऋतावृधः) सत्यरूपयज्ञ के आधार (देवस्य) दिव्यशक्तिसम्पन्न (सवितुः) स्वतःप्रकाश परमात्मा के (श्लोकं) यश को (मनामहे) सदा गान करते रहें ॥१०॥

भावार्थः—इस मन्त्र का आशय यह है कि जिस प्रकार ऋग्, यजु, साम, अथर्व यह चारों वेद परमात्मा की आज्ञा पालन कराने के लिये चार विभागों में विभक्त हैं इसी प्रकार राज्यशासन भी चार विभागों में विभक्त जानना चाहिये अर्थात् आग्नेयास्त्र तथा वारुणास्त्रविद्या जानने वालों से सैनिक रक्षण और राजमन्त्री तथा न्यायाधीश इन दोनों से राज्यप्रबन्ध इस प्रकार उक्त चारों से धन की याचना करते हुए सदा ही इनके कल्याण का शुभचिन्तन करते रहो अर्थात् सम्राट् के राष्ट्रप्रबन्ध के उक्त चारों से सांसारिक सुख की अभिलाषा करो और दिव्यशक्तिसम्पन्न परमात्मा से नित्य सुख की प्रार्थना करते हुए उनके दिव्य गुणों का सदा गान करते रहो जिससे तुम्हें सद्गति प्राप्त हो ॥१०॥

सप्तम मण्डल में ८२ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य त्र्यशीतितमस्य सूक्तस्य वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१, ३, ९ विराड्जगती । २, ४, ६ निचृज्जगती । ५ आर्ची जगती । ७, ८ १० आर्षीजगती ॥ निषादः स्वरः ॥

अब राजधर्म का वर्णन करते हुए सैनिक पुरुषों से रक्षा की प्रार्थना करते हैं ॥

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः ।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे शूरवीर योद्धाओ ! (युवां) तुम (आप्यं) सबको प्राप्त होने योग्य अर्थात् सब के रक्षक होओ । (पश्यमानासः) तुम्हारी वीरता देखकर (पृथुपर्शवः) सब ओर से हृष्ट पुष्ट वीर (नरा) मनुष्य (गव्यंतः) अपना आत्मसमर्पण करते हुए (ययुः) तुम्हें प्राप्त होते हैं (च) और (प्राचा, दासा) प्राचीन सेवक (च) और (आर्याणि) आर्य्य पुरुष भी तुम्हारी शरण चाहते हैं । तुम (वृत्रा, हतं) शत्रुओं का हनन करके (अवसा) रक्षा करते हुए (अवतं, सुदासं) दयावान् राजा को प्राप्त हो ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे शूरवीर विद्वानो ! तुम दास=शूद्र और आर्य्य=कर्मानुष्ठानपरायण पुरुषों की रक्षा करो, तुम इनके शत्रुओं का हनन करके इन्हें अभयदान दो, क्योंकि इनके होने से प्रजा-जन वैदिकमर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते, सब अपनी मर्यादा में रह कर धर्म का पालन करते हैं, और हृष्ट-पुष्ट शूरवीर तुम्हें प्राप्त होकर युद्ध द्वारा आत्मसमर्पण करते हुए तुम्हारे उत्साह को बढ़ाते हैं, इसलिये इन्हें भी सुरक्षित रखो, क्योंकि शूरवीरों के अभाव से भी प्रजा में अनेक प्रकार के अनर्थ फैल जाते हैं जिससे मनुष्यों के जीवन में पवित्रता नहीं रहती ॥१॥

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम् ।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम् ॥२॥

पदार्थः—(यत्र) जिस संग्राम में (नरः) मनुष्य (कृतध्वजः) ध्वजा उठाये हुए (समयंते) भले प्रकार आगमन करते (यस्मिन्, आजा) जिस संग्राम में (किंचन, प्रियं, भवति) कुछ सुख हो (यत्र) जिस संग्राम में बड़े-बड़े योद्धा (भयंते) भयभीत होते, और (स्वर्दृशः, भुवना) जहां देवता लोग स्वर्गप्राप्ति को भी अधिक नहीं मानते (इन्द्रावरुणा) हे युद्धविद्या में निपुण विद्वानो ! (तत्र) वहां (नः) हमको (अधिवोचतं) भले प्रकार उपदेश करें ॥२॥

भावार्थः—जिस संग्राम में शत्रु लोग ध्वजा उठाये हुए हम पर आक्रमण करते हों अथवा जिस संग्राम में हमारा कुछ प्रिय हो, या यों कहो कि जब शत्रु हम पर चढ़ाई करें वा हम दुष्टों के दमन अथवा प्रजा का प्रिय करने के लिये शत्रु पर चढ़ाई करे, हे अस्त्रशस्त्रवेत्ता विद्वानो ! उक्त दोनों अवस्थाओं में आप हमारी शत्रु से रक्षा करे ॥२॥

सं भूम्या अंता ध्वसिरा अंदृक्षतेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत् ।

अस्थुर्जनानामुप मामरातयोऽर्वागवसा हवनश्रुता गंतम् ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे युद्धविद्या में निपुण राजपुरुषो, (घोषः, दिवि, आरुहत्) तुम्हारे शस्त्रों का शब्द आकाश में व्याप्त हो (सं, भूम्याः, अंताः) सम्पूर्ण भूमि का अंत (ध्वसिराः) योद्धाओं से विनाश होता हुआ (अदृक्षत) देखा जाय (अरातयः) शत्रु (मां) मुझको (जनानां) सब मनुष्यों के समक्ष (उप, अस्थुः) आकर प्राप्त हो और (अवसा) रक्षा चाहते हुए (हवनश्रुता) वैदिकवाणियों के श्रवण द्वारा (अर्वाक्, आगतम्) हमारे सन्मुख आवें ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजधर्म का पालन करने वाले विद्वानो ! तुम शत्रुसेना पर ऐसा घोर आक्रमण करो कि तुम्हारे अस्त्रशस्त्रों का शब्द आकाश में गूंज उठे जिससे तुम्हारे शत्रु वेदवाणी का आश्रयण करते हुए तुम्हारी शरण को प्राप्त हों अर्थात् अपने दुष्टभावों का त्याग करते हुए सब प्रजाजनों के समक्ष वेद की शरण में आवें, और तुम्हारे योद्धा लोग सीमान्तों में विजय प्राप्त करते हुए शत्रुओं के दुर्गों को छिन्नभिन्न करके सर्वत्र अपना अधिकार स्थापन करें जिससे प्रजा वैदिकधर्म का भले प्रकार पालन करसके ॥३॥

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वंता प्र सुदासमावतम् ।

ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत्पुरोहितिः ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे राजधर्म का पालन करने वाले विद्वानो ! तुम (वधनाभिः) अनन्त प्रकार के शस्त्रों द्वारा (अप्रति, भेदं) प्रबल शत्रुओं को (वन्वंता) हनन करके (सुदासं, आवतं) भली-भांति नम्रभाव को प्राप्त राजा को प्राप्त होओ, और (एषां, तृत्सूनां) इन विद्वानों के (ब्रह्माणि) वेदपाठों को (शृणुतं) श्रवण करते हुए (पुरोहितिः) हितकारी बनो जिससे (हवीमनि) यज्ञों में (सत्या, अभवत्) सत्यरूप फल हो ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम वेद से बहि-

मुंख शत्रुओं का हनन करके वेदवेत्ता विद्वानों का सत्कार करो और उनका निरन्तर हित करते हुए उनके सत्संग से अपने जीवन को उच्च बनाओ, उनके यज्ञों की रक्षा करो जिससे उनका सत्यरूप फल प्रजा के लिये शुभ हो ॥४॥

इन्द्रावरुणावभ्या तपंति माघान्यर्यो वनुषामरातयः ।

युवं हि वस्वं उभयंस्य राजथोऽध स्मा नोऽवतं पार्ये दिवि ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणौ) हे विद्यासम्पन्न राजपुरुषो, (मा) मुझको (अर्यः) शत्रु और (अरातयः, वनुषां) हिंसक शत्रुओं के (अघानि) पापरूपशस्त्र (अभि, आतपंति) चारों ओर से तपाते हैं (हि) निश्चय करके (युवं) आप लोग (वस्वः) उनका सर्वस्व हरण करके (उभयस्य, राजथः) दोनों प्रकार के बलवान् शत्रुओं को (अध) नीचे गिरायें, और (नः, स्म, अवतं) हमारी उनसे रक्षा करते हुए (पार्ये, दिवि) विजयरूप पार को प्राप्त करायें ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे इन्द्र तथा वरुणसमान युद्ध-विशारद विद्वानो ! तुम हिंसक तथा अन्य शत्रुओं का सर्वस्व हरण करके उनका नाश करो जो वेदविहित मर्यादा पर चलने वाले विद्वानों को तपाते=दुःख देते हैं, हे भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें कि उन शत्रुओं का युद्ध में अधःपतन हो और हम विजयरूप पार को प्राप्त हों ॥५॥

युवा हवंत उभयांस आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये ।

यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र तथा वरुणरूप योद्धाओ ! (युवां) आपको हमलोग (उभयासः, आजिषु)दोनों प्रकार के युद्धों में (हवंते) बुलाते हैं । (इन्द्रं, च, वस्वः) इन्द्र को धन के लिये (च) और (वरुणं, सातये) वरुण को विजयप्राप्ति के लिये (यत्र) जिस युद्ध में (दशभिः, राजभिः) दशप्रकार के राजाओं से (निबाधितं) पीड़ा को प्राप्त (तृत्सुभिः, सह) तीनों प्रकार के ज्ञानियों के साथ (सुदासं) योग्य राजा को (आवतं) प्राप्त होओ ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे इन्द्र तथा वरुणरूप विद्वानो ! तुम युद्धों में विजय प्राप्त करते हुए कर्मानुष्ठानी तथा वेदविद्या-प्रकाशक विद्वानों की रक्षा करो अर्थात् कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा भक्ति-भाव को प्राप्त पुरुषों की सेवा में सदा तत्पर रहो जिससे उन्हें कोई कष्ट प्राप्त न हों ॥६॥

अब वेदानुयायी योद्धा का अपरिमित बल कथन करते हैं ॥

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः ।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन्देवहूतिषु ॥७॥

पदार्थः—(अयज्यवः) अवैदिक (दश, राजानः) दश राजा (समिताः) इकट्ठे होकर (सुदासं) वेदानुयायी राजा से (न, युयुधुः) युद्ध नहीं कर सकते। (देवहूतिषु) युद्धों में (अद्मसदां, देवाः) यज्ञशील विद्वान् पुरुष (एषां) इन (नृणां) वेदानुयायी पुरुषों की (सत्या) सत्यरूप से (उपस्तुतिः) स्तुति (अभवन्) करते हैं (इन्द्रावरुणा) हे विद्यासम्पन्नराजपुरुषो ! तुम ऐसे साधनसम्पन्न पुरुषों की सहायता करो ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यह उपदेश किया है कि राजा तथा राजकीय पुरुषों को सदा वैदिक धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि व्रत, तप तथा अनुष्ठानशील राजा को दश राजा भी मिलकर युद्ध में पराजित नहीं कर सकते, दृढव्रती, कर्मकाण्डी तथा धीर वीर राजा की सब विद्वान् प्रशंसा करते और वही अपने सब कार्यों को विधिवत् करता हुआ संसार में कृतकार्य्य होता है, ऐसे धर्मज्ञ राजा की सब विद्वानों को सहायता करनी चाहिये ॥७॥

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ।
श्वित्यंचो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवंतो असपंत तृत्सवः ॥८॥

पदार्थः—(यत्र) जिस युद्ध में (नमसा) प्रभुता से (कपर्दिनः) उत्तम अलंकारयुक्त (धीवंतः) बुद्धिमान् (तृत्सवः) कर्मकाण्डी (श्वित्यंचः) सदाचारी (असपन्त) युद्धरूप कर्म में (धिया) बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है, उस युद्ध में (विश्वतः) सब ओर से (दाशराज्ञे, परियत्ताय) दश राजाओं के आक्रमण करने पर (सुदासे) वेदानुयायी राजा को (इन्द्रावरुणौ) हे अस्त्र-शस्त्रों की विद्या में कुशल विद्वानो, (अशिक्षतं) बल प्रदान करो ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा लोगो! तुम कर्मकाण्डयुक्त तथा सदाचारसम्पन्न होकर अपने कार्यों को विधिवत् करो और युद्धरूप कर्म में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होओ, जो सदाचारसम्पन्न राजा बुद्धिपूर्वक युद्ध करता है उसको अनेक राजा सब ओर से आक्रमण करने पर भी विजय नहीं कर सकते, परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे धनुर्विद्यासम्पन्न अध्यापक

तथा उपदेशको ! तुम ऐसे धर्मपरायण राजा की सदा सहायता करो जिससे वह शीघ्र कृतकार्य्य हो ॥८॥

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा ।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम् ॥९॥

पदार्थः—(अन्यः, समिथेषु) एक शूरवीर युद्धों में (वृत्राणि, जिघ्नते) शत्रुओं को विजय करता (अन्यः) एक (सदा) सदैव (अभि) सर्वप्रकार से (व्रतानि) नियमों की (रक्षते) रक्षा करता है । (इन्द्रावरुणा) इन्द्र तथा वरुणरूप योद्धाओ, (वां) आप (अस्मे) हमको (शर्म, यच्छतं) सुख प्राप्त करायें, क्योंकि आप (वृषणा) युद्ध की कामना पूर्ण करने वाले और (सुवृक्तिभिः) शुभ मार्गों में प्रवृत्त कराने वाले हैं, इसलिये (हवामहे) हम आपका आह्वान करते हैं ॥९॥

भावार्थः – जो राजा लोग व्रतों की रक्षा करते और दुष्ट शत्रुओं का दमन करते हैं, हे अस्त्रशस्त्रविद्यावेत्ता विद्वानो !, तुम उनकी सहायता करो, क्योंकि व्रतपालन तथा दुष्टदमन किये विना प्रजा में सुख का संचार कदापि नहीं हो सकता ॥९॥

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः ।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्रः) वैद्युतविद्यावेत्ता (वरुणः) जलीयविद्या के ज्ञाता (मित्रः) राजमन्त्री (अर्यमा) न्यायाधीश (अस्मे) हमको (द्युम्नं) दीप्ति वाला (महि) बड़ा (सप्रथः) विस्तृत (शर्म) सुख (यच्छन्तु) प्राप्त करायें । (ज्योतिः) हे दिव्यस्वरूप (अवध्रं) नित्य (अदितेः) अखण्डनीय (ऋतावृधः) सत्यस्वरूप (देवस्य) दिव्य स्वरूप (सवितुः) सब के उत्पादक परमात्मन् ! मैं आपकी (श्लोकं) स्तुति (मनामहे) करता हूँ ॥१०॥

भावार्थः—हे न्यायाधीश परमात्मन् ! आप इन्द्रादि विद्वानों द्वारा हमको नित्य सुख की प्राप्ति करायें, और ऐसी कृपा करें कि हम आपके सत्यादि गुणों का गान करते हुए सदैव आपकी स्तुति में तत्पर रहें ॥१०॥

सप्तम मण्डल में ८३ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य चतुरशीतितमस्य सूक्तस्य वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१, २, ४, ५, निचृत्त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब परमात्मा प्रकारान्तर से राजधर्म का उपदेश करते हैं॥

आ वां राजानावध्वरे ववृत्यां हव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।
प्र वां घृताची बाह्वोर्दधाना परि त्मना विषुरूपा जिगाति॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे इन्द्र तथा वरुण! (वां राजानौ) प्रकाश वाले आप दोनों (अध्वरे) संग्राम में (ववृत्यां) आवें। (हव्येभिः, नमोभिः)हम नम्र वाणियों द्वारा आपका सत्कार करते हैं (वां) आपको (बाह्वोः) हाथों में (प्र) भले प्रकार (घृताची) स्रुवा (दधाना) धारण कराते हुए (परि, त्मना) शुभसंकल्प से (विषुरूपा) नाना प्रकार के द्रव्यों द्वारा (जिगाति) उद्बोधन करते हैं॥१॥

भावार्थः परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यजमानो! तुम अग्नि-विद्यावेत्ता तथा जल वायु आदि तत्वों की विद्या जानने वाले विद्वानों को दुष्ट दमनरूप संग्राम में बुलाओ और नम्रवाणियों द्वारा उनका सत्कार करते हुए उनको उद्बोधन करो कि हे भगवन्! जिस प्रकार घृतादि पदार्थों से अग्नि देदीप्यमान होती है इसी प्रकार आप हमारे सन्मानादि भावों से देदीप्यमान होकर शत्रुरूप समिधाओं को शीघ्र ही भस्म करें जिससे हमारी शुभ कामनायें पूर्ण हों॥१॥

अब प्रेम-रज्जू से बंधे हुए राष्ट्र की दृढ़ता का वर्णन करते हैं॥

युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौर्यौ सेतृभिररज्जुभिः सिनीथः।
परि नो हेळो वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्रः कृणवदु लोकम्॥२॥

पदार्थः—(युवोः) हे राजा तथा राजपुरुषो! तुम्हारा (राष्ट्रं) राज्य (द्यौः, बृहत्, इन्वति) द्युलोकपर्य्यन्त बड़ा विस्तृत हो (यौ) तुम दोनों (परि) सब ओर से (सेतृभिः, अरज्जुभिः सिनीथः) प्रेमरूप रज्जुओं में बंधे हुए (नः)हमको प्राप्त होओ (उ) और (लोकं) तुम्हारे लोक को (इन्द्रः) विद्युदविद्यावेत्ता विद्वान् (कृणवत्) रक्षा करें (वरुणस्यः, हेळः) जलविद्यावेत्ता विद्वान् का आक्रमण (वृज्याः) तुम पर न हो, और तुम प्रार्थना करो कि (नः) हमको (उरुम्) विस्तृत लोकों की प्राप्ति हो॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो! तुम सदैव अपने राष्ट्र की वृद्धि में लगे रहो और उनको प्रेमरूप रज्जु के बन्धन से ऐसा बांधो कि वह किसी प्रकार से भी शिथिलता को प्राप्त न हो, अधिक क्या, जिनके राष्ट्र दृढ़ बन्धनों से बंधे हैं उन पर न कोई जलयानों द्वारा आक्रमण कर सकता और न कोई विद्युत् आदि शक्तियों से उनको हानि पहुंचा सकता है, जो राजा अपने राष्ट्र को दृढ़ बनाने के लिये प्रजा में प्रेम

उत्पन्न करता अर्थात् अन्याय और दुराग्रह का त्याग करता हुआ अपने को विश्वासार्ह बनाता है तब वह दोनों परस्पर उन्नत होते और पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्य्यन्त सर्वत्र उनका अटल प्रभाव हो जाता है, इस लिये उचित है कि राजा अपने राष्ट्र को दृढ़ बनाने के लिये प्रजा में प्रेम उत्पन्न करे, प्रजा में प्रेम का संचार करने वाला राजा ही अपने सब कार्यों को विधिवत् करता और वही अन्ततः परमात्मा को प्राप्त होता है ॥२॥

कृतं नो यज्ञं विदथेषु चारुं कृतं ब्रह्माणि सूरिषु प्रशस्ता ।
उपो रयिर्देवजूतो न एतु प्र णः स्पार्हाभिरूतिभिस्तिरेतम् ॥३॥

पदार्थः—हे विद्वान् राजपुरुषो ! (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ को (विदथेषु) गृहों में (चारुं, कृतं) सुन्दर बनायें (ब्रह्माणि) वैदिकस्तोत्रों को (सूरिषु) शूरवीरों में (प्रशस्ता, कृतं) प्रशंसनीय बनाओ (नः) हमारे (देवजूतः) आपकी रक्षा से (उपो, एतु, रयिः) उत्तमोत्तम पुष्कल धन प्राप्त हो, और (नः) हमको (प्र) सर्व प्रकार की (स्पार्हाभिः) अभिलषित (ऊतिभिः) रक्षाओं से (तिरेतं) उन्नत करो ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! तुम प्रजाजनों को प्राप्त होकर उनके घरों को यज्ञों द्वारा सुशोभित करो और शूरवीरों को वैदिकशिक्षा दो ताकि वह वेदवाणिरूप ब्रह्मस्तोत्रों का प्रजा में भली-भांति प्रचार करें और राजा तथा प्रजा दोनों ऐश्वर्य्ययुक्त पदार्थों से भरपूर हों, और प्रजाजन भी उन विद्वानों से प्रार्थना करें कि हे भगवन् ! आपकी रक्षा से हमको पुष्फल धन प्राप्त हो और हम आपकी रक्षा में रहकर मनोभिलषित उन्नति करें ॥३॥

अस्मे इन्द्रावरुणा विश्ववारं रयिं धत्तं वसुमन्तं पुरुक्षुम् ।
प्र य आदित्यो अनृता मिनात्यमिता शूरो दयते वसूनि ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) इन्द्र=परमैश्वर्य्ययुक्त तथा वरुण=सब का उपास्यदेव परमात्मा (विश्ववारं) सबको रुचिकर (वसुमंतं) सब प्रकार के धनों से युक्त (रयिं, धत्तं) सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य को धारण करने वाला (पुरुक्षुं) नाना प्रकार के अन्नों से युक्त, और (यः) जो (प्र) भले प्रकार (आदित्यः) अज्ञान का नाश करने वाला है वह (अनृता, मिनाति) असत्यवादियों को दण्ड देता, और (शूरः) शूरवीरों को (अमिता, वसूनि, दयते) यथेष्ट धन देता है (अस्मे) कृपा करके हमें भी ऐश्वर्य्ययुक्त करें ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो! तुम सब प्रकार

के ऐश्वर्य्यं तथा धन की याचना उसी परमात्मा से करो, क्योंकि वही पर-मैश्वर्य्ययुक्त, नानाप्रकार के अन्नरूप धनों का स्वामी और वही सब संसार को यथाभाग देने वाला है, वह अनृतवादियों को दण्ड देता और धर्मात्मा शूरवीरों को यथेष्ट धन का स्वामी बनाता है, इसलिये उचित है कि सब प्रजाजन सत्यपरायण होकर परमात्मा से ही धन की प्रार्थना करें ॥४॥

इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः प्रावत्तोके तनये तूतुजाना ।

सुरत्नासो देववीतिं गमेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थः—(मे) मेरी (इयं) यह (गीः) वेदरूप वाणी (इन्द्रं, वरुणं) सर्वैश्वर्य्य-युक्त तथा सर्वोपरि परमात्मा को (अष्ट) प्राप्त हो (तूतुजाना) यह ईश्वरीय वाणी (तोके) पुत्र (तनये) पौत्र के लिये (प्र, आवत्) भले प्रकार रक्षा करे. और हम लोग (सुरत्नासः) धनादि ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर (देववीतिं) विद्वानों की यज्ञशालाओं को (गमेम) प्राप्त हों, और हे परमात्मन् ! (यूयं) आप (नः) हमको (स्वस्तिभिः) आशीर्वादरूप वाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यजमान की ओर से प्रार्थना कथन की गई है कि हे भगवन्! हमारा किया हुआ स्वाध्याय तथा वैदिककर्मों का अनुष्ठान, यह सब आप ही का यश है, क्योंकि इन्हीं कर्मों के अनुष्ठान से हमारे पुत्र पौत्रादि सन्तानों की वृद्धि होती और हम ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर आपके भक्तिभाजन बनते हैं अर्थात् वैदिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा ही मनुष्य को पुत्र-पौत्रादि सन्तति प्राप्त होती और इसी से धनादि ऐश्वर्य्य की वृद्धि होती है, इसलिये जिज्ञासुओं को उचित है कि वह धनप्राप्ति तथा ऐश्वर्य्यवृद्धि के लिये वैदिक कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करें और सन्तति-अभिलाषियों के लिये भी यही कर्म उपादेय है ॥५॥

सप्तम मण्डल में ८४ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य पंचाशीतितमस्य सूक्तस्य १—५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१, ४ आर्चीत्रिष्टुप् । २, ३, ५, निचृत् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब राजधर्म का वर्णन करते हुए सैनिक पुरुषों के सहायतार्थ सोमादि द्रव्यों का प्रदान कथन करते हैं ॥

पुनीषे वामरक्षसं मनीषां सोममिन्द्राय वरुणाय जुह्वत् ।

घृतप्रतीकामुषसं न देवीं ता नो यामन्नुरुष्यतामभीके ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम (अभीके) इस धर्मयुद्ध में (इन्द्रस्य, वरुणस्य) इन्द्र तथा वरुण के लिए (सोमं, जुह्वत्) सोमरस प्रदान करके यह कथन करो कि (वां) आपको (अरक्षसं) आसुरभावरहित (घृत प्रतीकां) घृत के समान स्नेह वाली (मनीषां) बुद्धि द्वारा प्रार्थना करके (पुनीषे) पवित्र करें (उषसं) उषा के (न) समान (देवीं) दिव्यरूपा (ता) बुद्धि द्वारा (यामन्) युद्ध की चढ़ाई के समय (नः) हमको (उरुष्यतां) सेवन करें ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे प्रजाजनो ! तुम इन्द्र=परमैश्वर्ययुक्त शूर वीर तथा वरुण=शत्रुसेना को शस्त्रों द्वारा आच्छादन करने वाले वीर पुरुषों का सोमादि उत्तमोत्तम पदार्थों से सत्कार करके उन्हें प्रसन्न करते हुए अपनी स्नेहपूर्ण शुद्ध बुद्धि द्वारा सदैव उनकी रक्षा के लिए प्रार्थना करो, जिससे वह शत्रुओं को पराजय करके तुम्हारे लिए सुखदायी हों, तुम युद्ध में चढ़ाई के समय उनके सहायक बनो और उनको सदा प्रेम की दृष्टि से देखो, क्योंकि जहां प्रजा और राजपुरुषों में परस्पर प्रेम होता है वहां सदैव आनन्द बना रहता है, इसलिए तुम दोनों परस्पर प्रेम की वृद्धि करो ॥१॥

अब अन्यायकारी शत्रुओं को परास्त करने का उपदेश करते हैं ॥

स्पर्धन्ते वा उं देवहूये अत्र येषु ध्वजेषु दिद्यवः पतन्ति ।
युवं ताँ इन्द्रावरुणावमित्रान्हतं पराचः शर्वा विषूचः ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणौ) हे इन्द्र तथा वरुण ! तुम (अमित्रान्) शत्रुसेना को (पराचः) पराजय करके (शर्वा, विषूचः) हिंसक शस्त्रों से (हतं) उनको हनन करो, और (देवहूये) इस देवासुर संग्राम में (येषु, ध्वजेषु) जिन ध्वजाओं में (दिद्यवः, पतंति) शत्रुओं के फेंके हुए शस्त्र गिरते हैं (वै) निश्चय करके (अत्र) उन स्थलों में ध्वजाओं की रक्षा करो, और जो (युवं) तुम दोनों से (स्पर्धन्ते) ईर्ष्या करते हैं उनका (ऊ) भली भांति हनन करो ॥२॥

भावार्थः—इन्द्र=विद्युत् की शक्ति जानने वाला, वरुण=जलयानों की विद्या जानने वाला, हे विद्युत् तथा जलीय विद्याओं के जानने वाले सेनाध्यक्षो ! तुम असुर सेना के हनन करने के लिए सदा उद्यत रहो, और युद्ध करते हुए अपनी सेना के झंडों की बड़े प्रयत्न से रक्षा करो, और अपने साथ ईर्ष्या करने वालों को सदा परास्त करते रहो ताकि कोई अन्यायकारी पुरुष तुम्हें कभी दबाकर अन्याय न कर सके, यह तुम्हारे लिए ईश्वरीय आदेश है ॥२॥

आपश्चिद्धि स्वयंशसः सदःसु देवीरिन्द्रं वरुणं देवता धुः ।
कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हंति ॥३॥

पदार्थः—हे सेनाधीश (हि) निश्चय करके (आपः, चित्) सर्वत्र व्यापक होकर (स्वयशसः) अपने यश से (सदःसु) उपासनीय स्थानों में (देवीः) दिव्यशक्तिसम्पन्न (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान् (वरुणं) सबको स्वशक्ति में रखने वाले परमात्मा की (देवता) दिव्यशक्तियों को (धुः) धारण कर (अन्यः) कोई (कृष्टीः) प्रजा को (धारयति) धारण करता है जो (प्रविक्ताः) भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों के कर्मों को जानता है (अन्यः) अन्य (वृत्राणि) मेघों के समान नभोमण्डल में फैले हुए (अप्रतीनि) वश में न आने वाले शत्रुओं को (हंति) हनन करता है ॥३॥

भावार्थः—जो पुरुष परमात्मशक्तियों को धारण करके भिन्न-भिन्न कर्मों के ज्ञाता हैं वह परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा की उपासना करते हुए न्यायाधीश के पद पर स्थित होते हैं और जो बुद्धिविद्याविशारद होते हैं वह आकाशस्थ शत्रु की सेना को मेघमण्डल के समान अपने प्रबल वायुसदृश वेग से छिन्नभिन्न करते हैं अर्थात् दिव्यशक्तिसम्पन्न राजपुरुष न्यायाधीश बनकर प्रजा में उत्पन्न हुए दोषों को नाश करके उसको धर्मपथ पर चलाते और दूसरे सेनाधीश बनकर वश में न आने वाले शत्रुओं को विजय करके प्रजा में शान्ति फैलाते हुए परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हैं ॥३॥

स सुक्रतुर्ऋतचिदस्तु होता य आदित्य शवसा वां नमस्वान् ।
आववर्तदवसे वां हविष्मानसदित्स सुवितायं प्रयस्वान् ॥४॥

पदार्थः—(सः) वह पुरुष (सुक्रतुः) उत्तम कर्मों के करने वाला (ऋतचित्) वही सत्यवादी (होता) वही यज्ञ करने वाला (अस्तु) है (यः) जो (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्वी होकर (शवसा) अपने सामर्थ्य से (वां) इन्द्र तथा वरुण शक्ति को (नमस्वान्) सबसे बड़ी समझता और जो (वां) इन्द्र तथा वरुण शक्ति को (अवसे) रक्षा के लिए (आववर्तत्) वर्ताव में लाता है, और जो (हविष्मान्) सदैव यज्ञादि-कर्म करता है (सः) वह (इत्) निश्चय करके (प्रयस्वान्) ऐश्वर्ययुक्त होकर (सुवि-ताय) संसार में यशस्वी (असत्) होता है ॥४॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम इन्द्र=विद्युत् तथा वरुण=वायुरूपशक्ति को काम में लाओ, जो इन शक्तियों को व्यवहार में लाता है वह ऐश्वर्यसम्पन्न होकर सम्पूर्ण संसार में

फैलता अर्थात् उसकी अतुल कीर्ति होती है और वही पुरुष तेजस्वी बनकर अमित्र सेना का हनन करने वाला होता है ॥४॥

अब उक्त शक्तिसम्पन्न होने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ॥

इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः प्रावत्तोके तनये तूतुजाना ।

सुरत्नासो देववीतिं गमेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थः—(मे) मेरी (इयं) यह (गीः) वेदरूपवाणी (इन्द्रं, वरुणं) इन्द्र तथा वरुणरूप शक्ति को (अष्ट) प्राप्त हो (तूतुजाना) यह प्रार्थनारूप वाणी (तोके, तनये) पुत्र-पौत्रों के लिए (प्र, आवत्) भले प्रकार सफल हो, और हम लोग (सुरत्नासः) धनादि ऐश्वर्यसम्पन्न होकर (देववीतिं) विद्वानों की यज्ञशालाओं को (गमेम) प्राप्त हों, और हे परमात्मन् ! (यूयं) आप (नः) हमको (स्वस्तिभिः) आशीर्वादरूप वाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥५॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर ! हम आपकी कृपा से विद्युत् तथा वायुरूप शक्तियों की विद्या जानने वाले विद्वानों को सदैव प्राप्त होते रहें अर्थात् ऐसी कृपा करें कि हम उन विद्वानों के संग से उक्त विद्या की वृद्धि द्वारा अपने जीवन को उच्च बनावें और हमारा किया हुआ वेदपाठ तथा यज्ञादि सत्कर्म हमारी सन्तानों को पवित्र करें और आप हमको मंगलमय वाणियों से सदैव पवित्र करते रहें, यह हम यजमानों की प्रार्थना है ॥५॥

सप्तम मण्डल में ८५ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टर्चस्य षडशीतितमस्य सूक्तस्य—१-८ वसिष्ठ ऋषि ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः १, ३, ४, ५, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ७ विराट् त्रिष्टुप् । ६ आर्षीत्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब वरुणस्वरूप परमात्मा की उपासना से मनुष्यजीवन की पवित्रता कथन करते हैं ॥

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।

प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥१॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (वि) भलीभांति (रोदसी) द्युलोक (चित्) और (उर्वी) पृथ्वी लोक को (तस्तंभ) थामे हुए है, और जो (बृहंतं) बड़े-बड़े (नक्षत्रं) नक्षत्रों को (च) और (भूम) पृथिवी को (पप्रथत्) रचता, तथा (नाकं) स्वर्ग (ऋष्वं)

नरक को (द्विता) दो प्रकार से (ननुदे) रचता है (तु) निश्चय करके (अस्य) इस वरुणरूप परमात्मा को (धीरा) पुरुष (महिना) महत्त्व द्वारा (जनूंषि) जानते अर्थात् उसके ज्ञान को लाभ करते हैं ॥१॥

भावार्थः—जो परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रचयिता है और जिसने कर्मानुसार स्वर्ग=सुख और नरक=दुःख को रचा है उसके महत्त्व को धीर पुरुष ही विज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं, जैसा कि अन्यत्र भी वर्णन किया है ॥१॥

अब परमात्मा की उपासना का प्रकार कथन करते हैं ॥

उत स्वया तन्वा३सं वंदे तत्कदा न्वं१तर्वरुणे भुवानि ।

किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥२॥

पदार्थः—(उत) अथवा (स्वया, तन्वा) अपने शरीर से (सं)भले प्रकार (तत्) उस उपास्य के साथ (वेद) आलाप करूं (कदा) कब (नु) निश्चय करके (वरुण, अंतः) उस उपास्यदेव के स्वरूप में (भुवानि) प्रवेश करूंगा (किं) क्या परमात्मा (मे) मेरी (हव्यं) उपासनारूप भेंट को (अहृणानः) प्रसन्न होकर (जुषेत) स्वीकार करेंगे (कदा) कब (मृळीकं) उस सर्व सुखदाता को (सुमनाः) संस्कृत मन द्वारा (अभि, ख्यं) सब ओर से ज्ञानगोचर करूंगा ॥२॥

भावार्थः—उपासक पुरुष उपासना काल में उस दिव्यज्योति परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करें कि मैं आपके समीप होकर आपसे आलाप करूं, हे सर्वनियन्ता भगवन् ! आप मेरी उपासना रूप भेंट को स्वीकार करके ऐसी कृपा करें कि मैं सर्वसुख-दाता आपको अपने पवित्र मन द्वारा ज्ञानगोचर करूं, आप ही की उपासना में निरन्तर रत रहूँ और एकमात्र आप ही मेरे सन्मुख लक्ष्य हों अर्थात् उपासक पुरुष नानाप्रकार के तर्क-वितर्कों से यह निश्चय करता है कि मैं ऐसे साधन सम्पादन करूं जिनसे उस आनन्दस्वरूप में निमग्न होकर आनन्द का अनुभव करूं ॥२॥

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।

समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥३॥

पदार्थः—(वरुण) हे सर्वरक्षक परमात्मन्, (तत्) वह (एनः) पाप (पृच्छे) आपसे पूछता हूं (उपो, दिदृक्षु) आपके दर्शन का अभिलाषी मैं (चिकितुषः) सर्वथा बन्धनरहित होकर (एमि) आपको प्राप्त होऊं (कवयः) विद्वान् पुरुष (विपृच्छं)

भले प्रकार पूछने पर (समानं) आपके विषय में (मे) मुझको (चित्) निश्चयपूर्वक (आहुः) यह कहते हैं (ह) प्रसिद्ध है कि (अयं) यह (वरुणः) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (तुभ्यं) उपासकों को (इत्) निश्चय करके (हृणीते) पापों से उभारकर सुख की ओर ले जाना चाहता है ॥३॥

भावार्थः—हे सर्वव्यापक ! मैं उन पापों को कैसे जानूं जिनके कारण आपके दर्शन से वंचित हूं, हे सर्वपालक ! ऐसी कृपा कर कि मैं उन पापों से छूटकर आपको प्राप्त होऊं, यह प्रसिद्ध है कि वेदों के ज्ञाता विद्वान् पुरुष पूछने पर निश्चयपूर्वक यह कहते हैं कि परमात्मा सबका मंगल, कल्याण चाहते हैं, यदि उपासक अंशमात्र भी उनकी ओर झुके तो वह दयालु भगवान् स्वयं उसका उद्धार करते हैं, इसलिये पुरुष को चाहिये कि वह साधनसम्पन्न होकर परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त हो तभी उसका उद्धार हो सकता है अन्यथा नहीं ॥३॥

किमाग॑ आस वरुण॒ ज्येष्ठं॒ यत्स्तो॒तारं॒ जिघां॑ससि॒ सखा॑यम् ।

प्र तन्मे॑ वोचो दूळभ स्वधा॒वोऽव॑ त्वा॒नेना॒ नम॑सा तु॒र इ॑याम् ॥४॥

पदार्थः—(वरुण) हे मंगलमय परमात्मन् ! वह (किं) क्या (ज्येष्ठं) बड़े (आगः) पाप (आस) हैं (यत्) जिनके कारण (सखायं) मित्ररूप आप (स्तोतारं) उपासकों को (जिघांससि) हनन करना चाहते हैं (तत्) उनको (प्र) विशेषरूप से (मे) मेरे प्रति (वोचः) कथन करें (दूळभ) हे सर्वोपरि अजेय परमात्मन् (त्वा) आप (स्वधावः) ऐश्वर्यसम्पन्न हैं, इसलिये (अनेनाः) ऐसे पापों से (अव) रक्षा करें, ताकि मैं (नमसा) नम्रतापूर्वक (तुरः) शीघ्र ही (इयां) आपको प्राप्त होऊं ॥४॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपासक अपने पापों के मार्जननिमित्त परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे महाराज ! वह मैंने कौन बड़े पाप किये हैं जिनके कारण मैं आपको प्राप्त नहीं हो सकता अथवा आपकी प्राप्ति में विघ्नकारी हैं, हे मित्ररूप परमेश्वर ! आप मेरा हनन न करते हुए अपनी कृपा द्वारा उन पापों से मुझे निर्मुक्त करें ताकि मैं शीघ्र ही आपको प्राप्त होऊं ॥४॥

अब पैत्रप्रकृति द्वारा आये हुए पापों के मार्जनार्थ प्रार्थना कथन करते हैं ॥

अव॑ द्रु॒ग्धानि॒ पित्र्या॑ सृजा॒ नोऽव॒ या व॒यं च॑कृ॒मा त॒नूभिः॑ ।

अव॑ राजन्पशु॒तृपं॒ न ता॒युं सृ॒जा व॒त्सं न दाम्नो॒ वसि॑ष्ठम् ॥५॥

पदार्थः—(राजन्) हे सर्वोपरिविराजमान जगदीश्वर ! आप (द्रुग्धानि, पित्र्या) माता-पिता की प्रकृति से (नः) हम में आये हुए दोष और (या) जिनको (वयं) हमने (तनूभिः) शरीर द्वारा (चकृम) किया है और जो (पशुतृपं) पशुओं के समान हमारी विषयवासनारूप वृत्ति तथा (तायुं, न) चोरों के समान हमारे भाव हैं उनको (अवसृज) दूर करके (दाम्नः) रज्जु के साथ बंधे हुए (वत्स) वत्स के (न) समान (वसिष्ठं) विषय वासनाओं में लिप्त मुझको (अव, सृज) मुक्त करें ॥५॥

भावार्थः—इस मंत्र में विषयवासना में लिप्त जीव की ओर से यह प्रार्थना की गई है कि हे जगदीश्वर ! जो स्वभाव मेरे माता-पिता की ओर से मुझ में आया है अथवा मैंने अपने दुष्कर्मों से जो प्रकृति बनाली है उसको आप अपनी कृपा से दूर करके मुझको अपना समीपी बनावें, जिस प्रकार रज्जु से बंधा हुआ वत्स अपनी माता का दूध नहीं पी सकता इसी प्रकार विषयवासनारूप रज्जु में बंधा हुआ मैं आपके स्वरूपरूपी कामधेनु का दुग्ध पान नहीं कर सकता, हे प्रभो ! आपसे विमुख करने वाले विषय-वासनारूप बन्धनों से मुक्त करके मुझको आनन्द का भोक्ता बनायें, यह मेरी आपसे प्रार्थना है ॥५॥

प्रारब्धजन्य कुप्रवृत्ति से आये हुए पापों के मार्जनार्थ प्रार्थना कथन करते हैं ॥

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ॥६॥

पदार्थः—(वरुण) हे सबको स्वशक्ति में वेष्टन करने वाले परमात्मन्, (स्वः) अपनी प्रकृति से जो (दक्षः) कर्म किया जाता है (सः) वही पापप्रवृत्ति में कारण (न) नहीं होता, किन्तु (ध्रुतिः) मन्दकर्मों में जो दृढ़ प्रवृत्ति है (सा) वह (सुरा) मद के तुल्य होने से (मन्युः) क्रोध, पापप्रवृत्ति का कारण है, और (विभीदकः) द्यूतादि व्यसन तथा (अचित्तिः) अज्ञान (अस्ति) है (ज्यायान्, कनीयसः, उपरे) इस तुच्छ जीव के हृदय में अन्तर्यामी पुरुष भी है जो शुभकर्मी को शुभकर्मों की ओर उत्साह देता और मन्दकर्मी को मन्दप्रवाद की ओर प्रवाहित करता है (स्वप्नः, चन, इत्) स्वप्न का किया हुआ कर्म भी (अनृतस्य, प्रयोता) अनृत की ओर लेजाने वाला होता है ॥६॥

भावार्थः—इस मन्त्र का आशय यह है कि अपने स्वभाव द्वारा किया हुआ कर्म ही पाप की ओर नहीं लेजाता किन्तु (१) जीव की प्रकृति=स्व-भाव (२) मन्दकर्म (३) अज्ञान (४) क्रोध (५) ईश्वर का नियमन, यह

पांच जीव को सद्गति वा दुर्गति में कारण होते हैं, जैसाकि कौषोतकी उप० में वर्णन किया है कि "एष एव साधुकर्म कारयति, तं यमधो निनीयते" कौ० ३।३।८=जिसको वह देव अधोगति को प्राप्त करना चाहता है उसको नीचे की ओर लेजाता, और जिसको उच्च बनाना चाहता है उसको उन्नति के पथ पर चलाता है । यहां यह शंका होती है कि ऐसा करने से ईश्वर में वैषम्य तथा नैर्घृण्यरूप दोष आते हैं अर्थात् ईश्वर ही अपनी इच्छा से किसी को नीचा और किसी को ऊंचा बनाता है । इसका उत्तर यह है कि ईश्वर पूर्वकृत कर्मों द्वारा फलप्रदाता है और उस फल से स्वयंसिद्ध ऊंच-नीचपन आजाता है, जैसे किसी पुरुष को यहां नीचकर्म करने का दण्ड मिला, उतने काल में जो वह स्वकर्म करने से वंचित रहा इससे वह दूसरों से पीछे रह गया, इस भाव से ईश्वर जीव की उन्नति तथा अवनति का हेतु है, वास्तव में जीव के स्वकृतकर्म ही उसकी उन्नति तथा अवनति में कारण होते हैं, इसी भाव से जीव को कर्म करने में स्वतंत्र और भोगने में परतंत्र माना है । कर्मानुसार फल देने से ईश्वर में कोई दोष नहीं आता ॥६॥

अब जीव ईश्वर से स्वकल्याण की प्रार्थना करता है ॥

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥७॥

पदार्थः—(अहं) मैं (अनागाः) निष्पाप होकर (देवाय) परमात्मदेव से (दासः, न) दास के समान (अरं, कराणि) अपनी कामनाओं के लिये प्रार्थना करता हूं (मीळ्हुषे) वह कर्मों का फलप्रदाता (अचितः, अचेतयत्) अज्ञानियों को मार्ग बतलाने वाला (अर्यः) सबका स्वामी (देवः) दिव्यगुणस्वरूप और (कवितरः) सर्वज्ञ परमात्मा (गृत्सं) यजन करने वालों को (राये, जुनाति) ऐश्वर्य्य की ओर प्रेरित करे ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा के अज्ञानियों का पथप्रदर्शन होने से जीव अपने कल्याण की प्रार्थना करता हुआ यह कथन करता है कि हे परमात्मदेव ! मैं आप के निमित्त यजन करता हुआ प्रार्थी हूं कि कृपा करके आप मेरे कल्याणार्थ मुझे ऐश्वर्य्यसम्पन्न करें ॥७॥

अब परमात्मा जीवों को उनके योगक्षेम के लिये प्रार्थना करने का प्रकार कथन करते हैं ॥

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

पदार्थः—(वरुण) हे सर्वोपरि वरणीय परमात्मन् ! (तुभ्यं) आपको (अयं) यह (सु, स्तोमः) सुन्दर यज्ञ (उपश्रितः, अस्तु) प्राप्त हो। (स्वधावः) हे अन्नादि के दाता (चित्) चेतनस्वरूप (हृदि) यह मेरी आपसे हार्दिक प्रार्थना है कि आप (नः) हमारे लिये (शं) सुखकारी हों (ऊ) और (योगे, क्षेमे) योग=अप्राप्त की प्राप्ति तथा क्षेम=प्राप्त की रक्षा कीजिये जिससे (नः) हमको (स्वस्तिभिः) मंगलमय-वाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ।।८।।

भावार्थः—इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन् ! यह हमारा किया यज्ञ आपको प्राप्त हो, आप कृपा करके हमारे योगक्षेम की रक्षा करते हुए हमारे भावों को पवित्र करें। अधिक क्या, जो परमात्मा में सदैव रत रहते हैं उनके योग-क्षेम-निर्वाह के लिये परमात्मा स्वयं उद्यत होते हैं ।।८।।

सप्तम मण्डल में ८६ वां सूक्त समाप्त हुआ ।।

अथ सप्तर्चस्य सप्ताशीतितमस्य सूक्तस्य १–७ वसिष्ठ ऋषिः ।। वरुणो देवता ।। छन्दः–१ विराट्त्रिष्टुप् । २, ३, ५ आर्षी त्रिष्टुप् ।४, ६, ७ त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

अब परमात्मा से सूर्य्य चन्द्रादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति कथन करते हैं ।।

रदत्पथो वरुणः सूर्याय प्राणांसि समुद्रिया नदीनाम् ।
सर्गो न सृष्टो अर्वतीर्ऋतायञ्चकार महीरवनीरहभ्यः ।।१।।

पदार्थः—(वरुणः) सब का अधिष्ठान परमात्मा (सूर्याय) सूर्य्य के लिये (पथः) मार्ग (रदत्) देता और (प्र) भले प्रकार (समुद्रिया, अर्णांसि) अंतरिक्षस्थ जल तथा (नदीनां) नदियों को (सर्गः, न) घोड़े के समान (अवतीः) वेगवाली (ऋतायन्) शीघ्र गमन की इच्छा से (सृष्टः) रचता, और उसी ने (अहभ्यः) दिन से (महीः) महान् (अवनीः) चन्द्रमा को (चकार) उत्पन्न किया ।।१।।

भावार्थः—सब संसार को वशीभूत रखने वाले परमात्मा ने चन्द्रमा, अंतरिक्षस्थ जल और शीघ्रगामिनी नदियों को रचा, और उसी ने तेजपुञ्ज सूर्य्य को रचकर उसमें गति प्रदान की जिससे सम्पूर्ण भूमण्डल में गति उत्पन्न हो जाती है ।।१।।

आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत्पशुर्न भूर्णिर्यवसे ससवान् ।
अंतर्मही बृहती रोदसीमे विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि ।।२।।

पदार्थः—(वरुण) हे वरुणरूप परमात्मन् (वातः) वायु (ते) तुम्हारा (आत्मा) आत्मवत् है, आप ही (रजः) जलों को (आ) भले प्रकार (नवीनोत्) नवीन भावों द्वारा प्रेरित करते हैं। (न) जिस प्रकार (यवसे) तृणादिकों से (पशुः) पशु (ससवान्) सम्पन्न होता है इसी प्रकार प्राणरूप वायु सब जीवों का (भूर्णिः) पोषक होता है। (बृहती मही) इसी बड़ी पृथिवी और (रोदसी) द्युलोक के (अंतः) मध्य में (इमे,विश्वा) यह सब विश्व (ते) तुम्हारे (धाम) स्थान हैं जो (प्रियाणि) सब जीवों को प्रिय हैं ॥२॥

भावार्थः—"वृणोति सर्वमिति वरुणः"=जो इस चराचर ब्रह्माण्ड को अपनी शक्तिद्वारा आच्छादन करे उसका नाम "वरुण" है। एकमात्र परमात्मा ही ऐसा महान् है जो सब विश्ववर्ग को अपनी शक्तिद्वारा आच्छादन करके महत्ता से सर्वत्र ओतप्रोत हो रहा है इसीलिये उसका नाम वरुण है, जैसाकि "ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्" यजु० ४०।१॥ इत्यादि मन्त्रों में अन्यत्र भी वर्णन किया है कि इस संसार में जो कुछ वस्तुमात्र दृष्टिगत हो रहा है वह सब ईश्वर की सत्ता से व्याप्त है, यही भाव इस मन्त्र में प्रकारान्तर से वर्णन किया है कि वायु इस वरुण परमात्मा के प्राणसमान और यह निखिल ब्रह्माण्ड उसके स्थान हैं जो जीवमात्र को प्रिय हैं ॥२॥

परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके।

ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इषयन्त मन्म ॥३॥

पदार्थः—(ये) जो (ऋतावानः) सत्यवादी (यज्ञधीराः) कर्मकाण्डी (प्रचेतसः) मेधावी (कवयः) विद्वान् (मन्म, इषयंत) ईश्वर की स्तुति करते हैं उनको (उभे, रोदसी) द्युलोक तथा पृथिवी लोक दोनों (पश्यन्ति) देखते हैं जो (सुमेके परि) देखने में सर्वोपरि सुन्दर अर्थात् दिव्यदृष्टि वाले होने से (वरुणस्य) परमात्मा के (स्मदिष्टा) प्रशंसनीय (स्पशः) दूत हैं ॥३॥

भावार्थः—जो पुरुष परमात्मपरायण होते हैं उनका यश पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में फैल जाता है इसी अभिप्राय से उक्त लोकों को साक्षीरूप से वर्णन किया है, लोकों का देखना यहां उपचार से वर्णन किया गया है वास्तविक नहीं, क्योंकि वास्तव में देखने तथा साक्षी देने का धर्म पृथिवी तथा द्युलोक में न होने से तत्रस्थ मनुष्यों की लक्षणा कर लेनी चाहिये। पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में सब प्राणीवर्ग उन मनुष्यों की साक्षी देते हैं जो सदाचारी तथा ईश्वरपरायण होते हैं अर्थात् वह कभी छिप नहीं सकते, इसलिये प्रत्येक पुरुष को उचित है कि वह ईश्वरपरायण हो कर संसार में अपना यश विस्तृत करे ॥३॥

अब परमात्मा की ओर से इक्कीस प्रकार की यज्ञीयवाणी
का उपदेश कथन करते हैं॥

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नामाघ्न्या बिभर्ति ।
विद्वान्पदस्य गुह्या न वोचद्युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥४॥

पदार्थः—(वरुणः) सर्वविद्याभाण्डार परमात्मा (मे) मुझे (मेधिराय) मेधावी शिष्य को (उवाच) बोला कि (त्रिः, सप्त, नाम) इक्कीस नामों को (अघ्न्या, बिभर्ति) वेदवाणी ने धारण किया है, (न) और (विद्वान्) सब विद्याओं के वेत्ता परमात्मा ने (पदस्य) मुक्तिधाम के (गुह्या) गुप्त मार्गों का उपदेश करते हुए (वोचत्) कहा कि (विप्रः, युगाय) हे मेधावी योग्य शिष्य ! मैं तुझे (उपराय) अपनी समीपता के लिये (शिक्षन्) यह उपदेश करता हूं ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा अपने ज्ञान के पात्र मेधावी भक्तों को अपनी भक्ति का मार्ग बतलाते हुए उपदेश करते हैं कि तुम इक्कीस नामों वाले यज्ञ, जिन को वेदवाणी ने धारण किया है उनका, अनुष्ठान करो अर्थात् ब्रह्मयज्ञादि पांच महायज्ञ और उपनयनादि षोडशसंस्काररूप यज्ञ, इन इक्कीस यज्ञों का करने वाला मुक्तिधाम का अधिकारी होता और वही परमात्मा की समीपता को उपलब्ध करके सुख का अनुभव करता है। यह परमात्मा का उपदेश मनुष्यमात्र के लिये ग्राह्य है कि उक्त इक्कीस यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए अपने जीवन को उच्च बनावें ॥४॥

अब परमात्मविभूति कथन करते हैं॥

तिस्रो द्यावो निहिता अंतरस्मिन्तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः ।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेंखं हिरण्ययं शुभे कम् ॥५॥

पदार्थः—(तिस्रः, द्यावः) तीन प्रकार का द्युलोक (अस्मिन्) इस परमात्मा के (अंतः) स्वरूप में (निहिताः) स्थिर है (तिस्रः, भूमीः) तीन प्रकार की पृथिवी जिसके (उपराः) ऊपर (षड्विधानाः) षड्ऋतुओं का परिवर्तन होता है (एतं) इन सबको (गृत्सः) परमपूजनीय (वरुणः) सबको वश में रखने वाले (राजा) प्रकाशस्वरूप परमात्मा ने (दिवि, प्रेंखं) द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में (हिरण्ययं) ज्योतिर्मय सूर्य्य को (शुभे, कं) दीप्ति=प्रकाशार्थ (चक्र) बनाया ॥५॥

भावार्थः—एकमात्र परमात्मा का ही यह ऐश्वर्य्य है जिसने नभोमण्डल में अणुरूपबालु, अंतरिक्षनिर्वातस्थान तथा द्युलोक प्रकाशस्थान, यह तीन प्रकार का द्युलोक और उपरितल, मध्य तथा रसातल यह तीन प्रकार की

पृथिवी जिस में षड् ऋतुएं चक्रवत् घूम-घूम कर आती हैं, और पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में सब से विचित्र तेजोमण्डलमय सूर्य्यलोक का निर्माण किया जो सम्पूर्ण भूमण्डल तथा अन्य लोकलोकान्तरों को प्रकाशित करता है, इत्यादि विविध रचना से ज्ञात होता है कि परमात्मा का ऐश्वर्य्य अकथनीय है। इस मन्त्र में विभूतिसम्पन्न वरुण को विराट्रूप से वर्णन किया गया है ॥५॥

अब परमात्मा की शक्ति का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं ॥

अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान् ।
गंभीरशंसो रजसो विमानः सुपारक्षत्रः सतो अस्य राजा ॥६॥

पदार्थः—(द्यौरिव) सूर्य के समान स्वतःप्रकाश (वरुणः) परमात्मा (सिन्धुं) समुद्र को (अव स्थात्) भले प्रकार मर्यादा में रखता (न, द्रप्सः) वह चलायमान नहीं होता, वह (श्वेतः) शुद्धस्वरूप (तुविष्मान्) कुटिलगति वालों के लिये (मृगः) सिंहसमान है (गंभीरशंसः) वह अकथनीय है, वह (रजसः, विमानः) सूक्ष्म से सूक्ष्म जलकणों का भी निर्माता है, जिसका (सुपारक्षत्रं) राज्य बल अपार और जो (सतः, अस्य, राजा) सत्=विद्यमान जगत् का स्वामी है ॥६॥

भावार्थः—वह पूर्ण परमात्मा जिसने समुद्रादि अगाध जलाशयों की मर्यादा बांध दी है, वह रेणु आदि सूक्ष्म पदार्थों का निर्माता, वह अनन्तशक्तिसम्पन्न और वही इस सद्रूप जगत् का राजा है।

स्मरण रहे कि जो इस संसार को मिथ्या मानते हैं वह "सतो अस्य राजा" इस वाक्य से शिक्षा लें जिसमें वेद भगवान् ने मिथ्यावादियों के मत का स्पष्ट खण्डन किया है कि यह जगत् सद्रूप है मिथ्या नहीं ॥६॥

अब परमात्मा निष्पाप होने का प्रकार कथन करते हैं ॥

यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः ।
अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (आगः, चक्रुषे) अपराध करते हुए को (चित्) भी (मृळयाति) अपनी दया से क्षमा कर देता है उस (वरुणे) वरुणरूप परमात्मा के समक्ष (वयं) हम (अनागाः) निरपराध (स्याम) हों (अदितेः) उस अखण्डनीय परमात्मा के (व्रतानि) नियमों को (अनु, ऋधंतः) निरन्तर पालन करते हुए प्रार्थना करें कि हे परमात्मन् (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) मंगल वाणियों से (सदा) सदैव (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में जो यह वर्णन किया है कि वह अपराध करते हुए को अपनी दया से क्षमा कर देता है, इसका आशय यह है कि वह अपने सम्बन्ध में हुए पापों को क्षमा कर देता है परन्तु जिन पापों का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है उनको कदापि क्षमा नहीं करता, जैसे कोई प्रमादवश किसी दिन सन्ध्या न करे तो प्रार्थना करने पर उस पाप को वह क्षमा कर सकता है परन्तु चोरी अथवा असभ्य भाषणादि पापों को वह कदापि क्षमा नहीं करता; उसका दण्ड अवश्य देता है, यद्यपि परमात्मा में इतनी उदारता है कि वह अपराधों को क्षमा भी कर सकता है परन्तु हमको उसके समक्ष सदैव निरपराध होकर जाना चाहिये, जब हम उस परमात्मा के नियमों को पालन करते हुए उससे क्षमा की प्रार्थना करते हैं तभी वह हमारे ऊपर दया कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥७॥

सप्तम मण्डल में ८७ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य अष्टाशीतितमस्य सूक्तस्य-१–७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः–१, २, ३, ६, निचृत् त्रिष्टुप्। ४, ५, ७ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब ईश्वर की भक्ति कथन की जाती है ॥

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं वसिष्ठ मीळ्हुषे भरस्व ।
ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम् ॥१॥

पदार्थः—(वसिष्ठ) हे सर्वोत्तम गुण वाले विद्वान्! आप (वरुणस्य) सर्वाधार परमात्मा (मीळ्हुषे) जो भरण-पोषण करने वाला है, उसके लिए (प्रेष्ठाम्) प्रेममयी (शुन्ध्युवम्) अविद्या के नाश करने वाली (मतिम्) बुद्धि को (प्र, भरस्व) धारण करें। (यः) जो परमात्मा (यजत्रम्) प्राकृतयज्ञ करने वाले (सहस्रामघम्) अनन्त प्रकार के बल को देने वाले (वृषणम्) वृष्टि करने वाले (बृहन्तम्) सब से बड़े (ईं, अर्वाञ्चम्) इस प्रत्यक्षसिद्ध सूर्य को जो (करते) उत्पन्न करता है तुम एकमात्र उसी की उपासना करो ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे स्नातक विद्वानो! तुम उसकी उपासना करो जिसने सूर्य-चन्द्रमा का निर्माण किया है, और जो इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण है, जिसके भय से अग्न्यादि तेजस्वी पदार्थ अपने-अपने तेज को धारण किये हुए हैं, जैसा कि "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥"

(कठ० ६, ३ ।) उसके भय से अग्नि तपती है और उसीके भय से सूर्य प्रकाश करता है, विद्युत् और वायु इत्यादि शक्तियाँ उसी के बल से परिभ्रमण करती हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋग् मं० १० सू० १९०। ३) जिसने सूर्यचन्द्रादि पदार्थों को रचा है उसी धाता सब के निर्माता परमात्मा की उपासना पूर्व मन्त्र में कथन की गयी है ॥१॥

अधा न्वस्य सन्दृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि ।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥२॥

पदार्थः—(अध) अव (नु) शीघ्र (अस्य) उक्त परमात्मा के (संदृशम्) साक्षात्कार को (जगन्वान्) अनुभव करता हुआ (वरुणस्य, अग्नेः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा के (अनीकम्) स्वरूप को (मंसि) प्राप्त करता हूँ (अश्मन्) [अश्नुते व्याप्नोति सर्वमिति अश्मा परमात्मा, जो व्यापक परमात्मा है उसका नाम यहां अश्मा है,] हे अश्मन् परमात्मन् ! (अधिपाः) सबके स्वामिन् ! (अन्धः) सर्वाधिष्ठान ! (ऊं) और (यत्, स्वः) जो आपका आनन्दस्वरूप है वह (मा) मुझको (अभि) भली भांति (वपुः) उस स्वरूप की (दृशये) प्राप्ति के (निनीयात्) योग्य बनायें ॥३॥

भावार्थः—हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आप मेरी चित्तवृत्ति को निर्मल करके अपने स्वरूपप्राप्ति के योग्य बनायें ॥२॥

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥३॥

पदार्थः—(यत्) जब हम (वरुणः, च) परमात्मा की (नावं) इच्छा पर (आ, रुहाव) आरूढ़ होते हैं और (यत्) जब (समुद्रम्) कर्मों के अधिष्ठाता परमात्मा के (मध्यं) स्वरूप का (ईरयाव) अवगाहन करते हैं और (यत्) जब (अपां) कर्मों के (स्नुभिः) प्रेरक परमात्मा की (प्रेंखे) इच्छाओं में (चराव) विचरते हैं तब (प्र,) प्रकर्षता से (शुभे) उस मङ्गलवासना में (कं) ब्रह्मानन्द को (ईंखयावहै) अनुभव करते हैं ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्मयोग का वर्णन किया है कि जब पुरुष अपनी इच्छाओं को ईश्वराधीन कर देता है वा यों कहो कि जब निष्काम कर्मों को करता हुआ उनके फल की इच्छा नहीं करता तब परमात्मा के भावों में विचरता हुआ पुरुष एक प्रकार के अपूर्व आनन्द को अनुभव करता है ॥३॥

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः ।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः ॥४॥

पदार्थः—(वरुणः) सर्वपूज्य परमात्मा (वसिष्ठं) उत्तमगुण वाले विद्वान् को (नावि) कर्मों के आधार पर (आधात्) स्थिर करता है। (ह) निश्चय करके (ऋषिं) ऋषि (चकार) बनाता है और (महोभिः) उत्तम साधनों द्वारा (स्वपाः) सुन्दर कर्मों वाला बनाता है, (विप्रः) मेधावी परमात्मा (स्तोतारं) स्तुति करने वाला बनाता है और (अह्नां) उक्त विद्वान् के दिनों को (सुदिनत्वे) अच्छे दिनों में परिणत करता है तथा ((उषसः) प्रातःकाल के प्रकाशों को और (द्यावः) दिन के प्रकाश को (नु) अच्छी तरह (यात्) प्राप्त करता हुआ (ततनन्) विस्तार करता है ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा जिस पुरुष के शुभ कर्म देखता है उसको उत्तम विद्वान् बनाता है और कर्मानुसार ही परमात्मा ऋषि, विप्र, ब्राह्मणादि पदवियें प्रदान करता है। इस मन्त्र में वर्णव्यवस्था भी गुणकर्मानुसार कथन की गई है। यही भाव 'तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणं' ऋग् अ० ८ अ० ६ व० ४ "तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्" ऋ० ८।७।११।५ इत्यादि मन्त्रों में भी है कि कर्मानुसार परमात्मा की कामना से ही ब्राह्मणादि पदवियें प्राप्त होती हैं। उपनिषद में भी कर्मानुसार ही ऊंच, नीच व्यवस्था कथन की है। जैसा कि "एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष-मेवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" कौ० ३।८ परमात्मा कर्मों द्वारा ही ऊंच नीच अवस्था को प्राप्त कराता है यही व्यवस्था उक्त मन्त्र में कथन की है ॥४॥

क्व १ त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् (त्यानि) वह (नौ) हमारी (सख्या) मैत्री (क्व) कहां (बभूवुः) है, (यत्) जो (पुरा) पूर्वकाल में (अवृकं) हिंसारहित थी (सचावहे) उसकी हम सेवा करें (चित्) और (ते) तुम्हारे (सहस्रद्वारं) अनन्त ऐश्वर्य वाले (गृहं) स्वरूप को (जगम) प्राप्त हों, जो (बृहन्तं, मानम्) सीमारहित है (स्वधावः, वरुण) हे अनन्तैश्वर्ययुक्त परमात्मन् ! हम आपके उक्त स्वरूप को प्राप्त हों ॥५॥

भावार्थः—जो जिज्ञासु सब कर्मों को हिंसारहित करता है और पर-मात्मा के साथ निष्पापादि गुणों को धारण करके उसकी मैत्री को उप-लब्ध करता है वह उसके अनन्त ऐश्वर्ययुक्त स्वरूप को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि जब तक जिज्ञासु अपने आपको उसकी कृपा का पात्र नहीं बनाता तब तक वह उसकी स्वरूपप्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता ॥५॥

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृणवत्सखा ते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन्भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥६॥

पदार्थः—(वरुण) हे परमात्मन् ! (ते) तुम्हारे साथ (प्रियः, सन्) प्यार करता हुआ (यः) जो पुरुष (नित्यः) सर्वदा (ते) तुम्हारे साथ (सखा, आपिः) सखिभाव रखता हुआ (आगांसि) पाप (कृणवत्) करता है, (यक्षिन्) हे यजनीय परमात्मन् ! वह (एनस्वन्तः) पापों में (मा) मत प्रविष्ट हो, (विप्रः) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (स्तुवते) स्तुति करने वाले उस पुरुष के लिए (वरूथं) वरणीय सर्वोपरि अपने स्वरूप को (यंधि) आप प्रकाश करें ताकि हम लोग आपके ब्रह्मानन्द का (भुजेम) भोग करें ॥६॥

भावार्थः—जो पुरुष कुछ भी परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह यदि स्वभाववश कभी पाप में भी पड़ जाता है तो परमात्मा की कृपा से फिर भी उन पापों से निकल सकता है क्योंकि परमात्मा के आराधन का बल उसे पापप्रवाह से निकाल सकता है । इसी अभिप्राय से कहा है कि परमात्मा परमात्मपरायण पुरुषों के लिए अवश्यमेव शुभस्थान देते हैं ॥६॥

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्य१स्मत्पाशं वरुणो मुमोचत् ।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(ध्रुवासु, त्वासु, क्षितिषु) इस दृढ़ और नित्य पृथिवी में (क्षियन्तः) निवास करते हुए (अस्मत्पाशं) हम लोगों के बन्धनों को (वरुण) सर्वपूज्य परमात्मा (वि) अवश्य (मुमोचत) मुक्त करें (अदितेः) इस अखण्डनीय मातृभूमि के (उपस्थात) अङ्क में रहते हुए हम लोगों को (अवः) आप रक्षा करें और विद्वान् लोगों से हम सदैव (वन्वानाः) भजन करते हुए यह प्रार्थना करें कि (यूयं) आप लोग सदैव (स्वस्तिभिः) कल्याणप्रद वाणियों से (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में जो पृथिवी को नित्य कथन किया है इससे यह तात्पर्य है कि यह संसार मिथ्या नहीं क्योंकि ध्रुव पदार्थ मिथ्या नहीं होता किन्तु दृढ़ होता है ॥७॥

सप्तम मण्डल में ८८वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्यैकोननवतितमस्य सूक्तस्य १—५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः १–४ आर्षी-गायत्री । ५ पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः १-४षड्जः ५ निषादः ॥

अब इस सूक्त में परमात्मा जीव को ऐश्वर्यप्राप्ति का उपदेश करते हैं ॥

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् । मृळा सुक्षत्र मृळय ॥१॥

पदार्थः—(वरुण) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! (मृन्मयं) मृत्तिका के (गृहं) घर आप हमको मत दें (राजन्) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन्, हम मिट्टी के गृहों में (मोषु) मत निवास करें (मृळय)हे जगदीश्वर आप हम को सुख दें (सुक्षत्र) हे सब के रक्षक परमात्मन्, (मृळय) आप हम पर सदैव दया करें ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा ने उक्त ऐश्वर्य का उपदेश किया है कि हे जीवो, तुम सदैव अपने जीवन के लक्ष्य को ऊंचा रक्खा करो और तुम यह प्रार्थना किया करो कि हम मिट्टी के घरों में मत रहें किन्तु हमारे रहने के स्थान अति मनोहर स्वर्णजटित सुन्दर हों तथा उनमें परमात्मा हमको सब प्रकार के ऐश्वर्य दें ॥१॥

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः । मृळा सुक्षत्र मृळय ॥२॥

पदार्थः—(यद्) जो मैं (दृतिः) धौंकनी के (न) समान (ध्मातः) दूसरों की वा॰ुरूप बुद्धि से प्रेरित किया गया (एमि) अपनी जीवनयात्रा करता हूँ वह यात्रा (स्फुरन्निव) केवल श्वासोच्छ्वासरूप है उसमें जीने का कुछ प्रयोजन नहीं (अद्रिवः) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन्, (मृळ) आप हमारी रक्षा करें (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक परमात्मन्, (मृळय) आप हमको सुख दें ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो पुरुष मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों से विहीन हैं वे पुरुष लोहनिर्माता की धोंकनी के समान केवल श्वासमात्र से जीवित प्रतीत होते हैं, वास्तव में वे पुरुष चर्मनिर्मित (दृतिः) चमड़े की खाल के समान निर्जीव हैं। इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह सदैव उद्योगी और कर्मयोगी बनकर सदैव अपने लक्ष्य के लिए कटिबद्ध रहे, अपुरुषार्थी होकर जीना केवल चर्मपात्र के समान प्राणयात्रा करना है। इस अभिप्राय से इस मन्त्र में उद्योग = अर्थात् कर्मयोग का उपदेश किया है ॥२॥

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे । मृळा सुक्षत्र मृळय ॥३॥

पदार्थः—(समह) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन्, (क्रत्वः) सत्कर्मों के आचरण

से (दीनता) दीनता करके (प्रतीपं) मैं प्रतिकूल आचरण करता रहा, (मृळ) हे परमात्मन् आप मेरी रक्षा करें (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक परमात्मन्, आप (मृळय) मुझे योग्य बनायें ताकि मैं कर्मों का अनुष्ठान कर सकूं ॥३॥

भावार्थः—पुरुष अपनी निर्बलता से शुभकर्मों को जानता हुआ भी उनका अनुष्ठान नहीं कर सकता, प्रत्युत अपनी दीनता से उनके विरुद्ध आचरण करता है, इसलिए इस मन्त्र में परमात्मा ने उपदेश किया है कि हे वैदिक धर्मानुयायी पुरुषो ! तुम उद्योगी बनने के लिए परमात्मा से सदैव प्रार्थना करो कि हे परमात्मन्, आप हमको आत्मिक बल दें ताकि हम कर्मानुष्ठानी बनकर अकर्मण्यतारूप दोष को दूर करके सत्कर्मी बनें ॥३॥

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।

मृळा सुक्षत्र मृळय ॥४॥

पदार्थः—(अपां) कर्मों के (मध्ये) मध्य में (जरितारं) वृद्धावस्था को प्राप्त (तस्थिवांसं) स्थित मुझको (तृष्णा, अविदत्) तृष्णा व्याप्त हो गयी है (मृळ) हे परमात्मन् ! आप मुझको इससे सुखी करें (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक परमात्मन्, आप मुझे (मृळय) सुखी बनाएं ॥४॥

भावार्थः—कर्मों के मनोरथरूपी सागर में पड़ा-पड़ा मनुष्य बूढ़ा हो जाता है और कर्मों का अनुष्ठान नहीं कर सकता। जिस पर परमात्मदेव की कृपा होती है वही कर्मों का अनुष्ठान करके कर्मयोगी बनता है अन्य नहीं; वा यों कहो कि उद्योगी पुरुष को ही परमात्मा अपनी कृपा का पात्र बनाते हैं अन्य को नहीं। इसी अभिप्राय से परमात्मा ने इस मन्त्र में कर्मयोग का उपदेश किया है। कई एक लोग उक्त मन्त्र का यह अर्थ करते हैं कि समुद्र के जल में डूबता हुआ पुरुष इस मन्त्र में वरुण देवता की उपासना करता है, और यह कहता है कि "लवणोत्कटस्य समुद्रजलस्य पानानर्हत्वात्" कि मैं समुद्र के जल के क्षार होने के कारण इसे पी नहीं सकता। यह अर्थ सर्वथा वेद के आशय से बाह्य है, क्योंकि यहां जल में डूबने का क्या प्रकरण, यहां तो इससे प्रथम मन्त्र में कर्मों के प्रतिकूल आचरण का प्रकरण था इसलिए यहां भी यही प्रकरण है ॥४॥

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।

अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥५॥

पदार्थः—(वरुण) हे परमात्मन्, (दैव्ये, जने) मनुष्यसमुदाय में (यत्, किञ्च) जो कुछ (इदं) यह (अभिद्रोहं) द्वेष का भाव (मनुष्याः) हम मनुष्य लोग (चरामसि) करते हैं और (अचित्ती) अज्ञानी होकर (यत्) जो (धर्मा) धर्मों को (युयोपिम) त्यागते हैं, (तस्मादेनसः) उन पापों से (देव) हे देव, (नः) हमको (मा, रीरिषः) मत त्यागिये ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उन पापों से क्षमा मांगी गई है जो अज्ञान से किये जाते हैं अथवा यों कहो कि जो प्रत्यवायरूप पाप हैं उनके विषय में यह क्षमा की प्रार्थना है। परमात्मा ऐसे पाप को क्षमा नहीं करता जिससे उसके न्यायरूपी नियम पर दोष आवे, किन्तु यदि कोई पुरुष परमात्मा के सम्बन्ध-विषयक अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता उस पुरुष के अपने सम्बन्धविषयक पाप परमात्मा क्षमा कर देता है। अन्य विषयक किये हुए पाप की क्षमा करने से परमात्मा अन्यायी ठहरता है ॥५॥

सप्तम मण्डल में ८९ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य नवतितमस्य सूक्तस्य १—७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १–४ वायुः । ५–७ इन्द्रवायू देवते ॥ छन्दः—१, २ ७, विराट् त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् । ४, ५, ६ निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

अब वायुविद्या को जानने वाले विद्वान् का ऐश्वर्य वर्णन करने हैं ॥

प्र वी॑र॒या शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तासः॑ ।

वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥१॥

पदार्थः – (वायो) हे वायुविद्या के वेत्ता विद्वान् आप (सुतस्य) संस्कार किये हुए (अन्धसः) अन्नों के रसों को (मदाय) आह्लाद के लिये (पिब) पियें, और (नियुतः) अपने पद पर नियुक्त हुए (अच्छ) भली प्रकार (वह) सर्वत्र प्राप्त होओ तथा (याहि) विना रोकटोक के सर्वत्र जाओ, क्योंकि (प्र) भली भांति (वीरया) वीरता के लिये (वाम्) तुम को (अध्वर्युभिः) वैदिक लोगों ने (मधुमन्तः) मीठे (सुतासः) सुन्दर-सुन्दर (शुचयः) पवित्र (दद्रिरे) उपदेश दिये हैं ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे वायु आदि तत्त्वों की विद्या को जानने वाले विद्वान् पुरुषो ! आप वैदिक पुरुषों से उपदेश लाभ करके सर्वत्र भूमण्डल में अव्याहत गति होकर विचरें ॥१॥

ईशानाय प्रहुंतिं यस्त आनट् शुचिं सोमं शुचिपास्तुभ्यं वायो ।
कृणोषि तं मर्त्येषु प्रशस्तं जातोजातो जायते वाज्यस्य ॥२॥

पदार्थः—(वायो) हे वायुविद्यावेत्ता विद्वन्, (शुचिपाः) सुन्दर पदार्थों को पान करने वाले (तुभ्यं) तुम्हारे लिए (सोमं) सोम रस (शुचिं) जो पवित्र है उसका (यः) जो (ते) तुम्हारे लिए (आनट्) देता है (तं) उसको मैं (मर्त्येषु) मनुष्यों में (प्रशस्तं) उत्कृष्ट बनाता हूँ (जातः जातः) जन्म-जन्म में (अस्य) उसको (वाजी) बहुत बल वाला (जायते) उत्पन्न करता हूँ और जो (ईशानाय) ईश्वर के लिए (प्रहुतिं) ऐश्वर्य अर्पण करता है उसको मैं (कृणोषि) ऐश्वर्यशाली बनाता हूँ ॥२॥

भावार्थः—जो लोग विद्वानों को धन देते हैं वह सर्वदा ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं और जो लोग ईश्वरार्पण कर्म करते हैं अर्थात् निष्काम कर्म करते हैं, परमात्मा उनको सदा ऐश्वर्यशाली बनाता है ॥२॥

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम् ।
अधं वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुंधितिं निरेके ॥३॥

पदार्थः—(यं) जिस पदार्थविद्यावेत्ता पुरुष को (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वीलोक ने (राये) ऐश्वर्य के लिए उत्पन्न किया है और (देवं) जिस दिव्यशक्तिसम्पन्न पुरुष को (धिषणा) स्तुतिरूप (देवी) दिव्य शक्ति (धाति) धारण करती है (वायुं) उस पदार्थविद्यावेत्ता विद्वान् को (नि युतः) जो पदार्थ विद्या के लिये नियुक्त किया गया है (सश्चत) तुम सेवन करो (उत) और (निरेके) दरिद्रता को दूर करने के लिए (अध) और (श्वेतं) पवित्र (वसुधितिं) धन को (स्वाः) उस आत्मभूत विद्वान् के लिए तुम उत्पन्न करने का यत्न करो ॥३॥

भावार्थः—स्वभावोक्ति अलंकार द्वारा इस मंत्र में परमात्मा यह उपदेश करते हैं कि मानो प्रकृति ने ही ऐसे पुरुष को उत्पन्न किया है जो संसार की दरिद्रता का नाश करता है ऐसा पुरुष जिस देश में उत्पन्न होता है उस देश में अनैश्वर्य और दरिद्रता का गन्ध भी नहीं रहता ॥३॥

उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥४॥

पदार्थः—जो लोग उक्त वायुविद्यावेत्ता विद्वान् की संगति में रहते हैं उनके (उषसः) प्रभातवेलाओं सहित (सुदिनाः) सुन्दर दिन (अरिप्राः) निष्पाप (उच्छन्) व्यतीत होते हैं और वे (दीध्यानाः) ध्यान करते हुए (उरु) सर्वोपरि (ज्योतिः)

ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म को जान लेते हैं और (प्रदिवः) द्युलोक (आपः) जलों की (सस्रुः) वृष्टि करते हैं तथा विद्वान् लोग (तेषाम्) उनको (अनु वव्रुः) सुन्दर उपदेश करते हैं ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो, जो लोग वायुवत् सर्वत्र गतिशील विद्वानों की संगति में रहते हैं उनके लिये सूर्योदय काल सुन्दर प्रतीत होते हैं और उनके लिए सुवृष्टि और सम्पूर्ण ऐश्वर्य उपलब्ध होते हैं। बहुत क्या, योगी जनों की संगति करने वाले पुरुष ध्यानावस्थित होकर उस परम ज्योति को उपलब्ध करते हैं जिसका नाम परब्रह्म है ॥४॥

अब विद्युद्विद्यावेत्ता और वायुविद्यावेत्ता दोनों प्रकार के विद्वानों के गुण वर्णन करते हैं ॥

ते स॒त्येन॒ मन॑सा॒ दीध्या॑ना॒: स्वेन॑ यु॒क्तास॒: क्रतु॑ना वहन्ति ।

इन्द्र॑वायू वी॒र॒वा॒हं॒ रथं॑ वामीशा॒नयो॑र॒भि पृक्ष॑: सचन्ते ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे विद्युत् और वायुविद्या को जानने वाले विद्वानो, (वाम्) आप लोगों को (ईशानाय) जो ईश्वर की विद्या जानने वाले हैं अभी चारों ओर से (पृक्षः) ऐश्वर्य (सचन्ते) संगत होते हैं और आपके बनाये हुए (रथम्) यान (वीरवाहम्) वीरता को प्राप्त करने वाले होते हैं और (ते) वे (सत्येन) सत्य (मनसा) मन से (दीध्यानाः) दीप्त हुए (स्वेन युक्तासः) ऐश्वर्य के साथ जुड़े हुए (क्रतुना) यज्ञों द्वारा (वहन्ति) उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! विद्युत् विद्या के जानने वाले तथा वायु आदि सूक्ष्म तत्त्वों के जानने वाले विद्वान् जिन यानों को बनाते हैं वे यान उत्तम से उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं और वीर लोगों को नभोमण्डल में ले जाने वाले एक मात्र वही यान कहला सकते हैं, अन्य नहीं ॥५॥

ई॒शा॒नासो॒ ये दध॑ते॒ स्व॑र्णो॒ गोभि॒रश्वे॑भि॒र्वसु॑भि॒र्हिर॑ण्यैः ।

इन्द्र॑वायू सू॒रयो॒ विश्व॒माये॒र्ब॑द्भि॒र्वीरैः॒ पृत॑नासु सह्युः ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे विद्युत् और वायु आदि तत्वों की सूक्ष्म विद्या जानने वाले विद्वानो ! तुम (ईशानासः) ईश्वरपरायण लोगों को ऐश्वर्यसम्पन्न करो (ये) जो लोग (गोभिः) गौओं द्वारा (अश्वेभिः) अश्वों द्वारा (वसुभिः) धनों द्वारा (हिरण्यैः) दीप्तिमान् वस्तुओं द्वारा (स्वर्ण दधते) स्वर्णादि रत्नों को धारण करते हैं और

(सूरयः) वे शूरवीर लोग (विश्वं) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को प्राप्त हों और (अर्वद्भिः वीरैः) वीर संतानों से (पृतनासु) युद्धों में शत्रुओं को (सह्युः) परास्त करें ॥६॥

भावार्थः—विद्युत् आदि विद्याओं की शक्तियों को जानने वाले विद्वान् ही प्रजाओं को ऐश्वर्यसम्पन्न बना सकते हैं, ऐश्वर्यसम्पन्न होकर ही प्रजा पूर्ण आयु को भोग सकती है, ऐश्वर्यसम्पन्न लोग ही युद्धों में परपक्षों को परास्त करते हैं। परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! तुम सबसे पहले अपने देश को ऐश्वर्यसम्पन्न करो ताकि तुम्हारी प्रजायें वीर सन्तान उत्पन्न करके शत्रुओं को परास्त करें ॥६॥

अब परमात्मा सूक्ष्म विद्यावेत्ता विद्वानों द्वारा प्रजा की रक्षा तथा कल्याण का उपदेश करते हैं ॥

अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः ।
वाजयन्तः स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—हे लोगो, (वाजयन्तः) बल की इच्छा करते हुए तुम (स्ववसे) अपनी रक्षा के लिए यह प्रार्थना करो कि (वयं) हम लोग (हुवेम) विद्वानों को अपने यज्ञों में बुलायें और यह कहें कि (यूयं) आप लोग (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (नः) हमारी (सदा) सदा के लिये (पात) रक्षा करें परन्तु (अर्वन्तः) कर्मयोगियों के (न) समान (श्रवसः) अन्नादि पदार्थों को (भिक्षमाणाः) चाहते हुए और (इन्द्रवायू) कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों प्रकार के विद्वानों की (सुष्टुतिभिः) सुन्दर स्तुतियों द्वारा (वसिष्ठाः) वसिष्ठ हुए आप लोग विद्वानों से कल्याण की प्रार्थना करें ॥७॥

भावार्थः—जो लोग वेदवेत्ता विद्वानों से उपदेश-लाभ करते हैं वे ही बल तथा ऐश्वर्यसम्पन्न होकर अपना और अपने देश का कल्याण कर सकते हैं, अन्य नहीं ॥७॥

सप्तम मण्डल में ९०वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य एकनवतितमस्य सूक्तस्य—१-७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १–३ वायुः २, ४,–७ इन्द्रवायू देवते ॥ छन्दः—१, ४, ७ विराट् त्रिष्टुप् ॥ २, ५, ६ आर्षी त्रिष्टुप्, ॥ ३ निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

अब उक्त विद्वानों से प्रकारान्तर से विद्याग्रहण करने का उपदेश करते हैं ॥

कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन् ।
ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषसं सूर्येण ॥१॥

पदार्थः—(पुरा) पूर्व काल में (ये) जो (देवाः) विद्वान् (वृधासः) ज्ञानवृद्ध और (अनवद्यासः) दोषरहित (आसन्) थे, वे (कुवित्) बहुत (अङ्ग) शीघ्र (नमसा) नम्रता से (वायवे) शिक्षा के (मनवे) लाभ के लिये (बाधिताः) स्वसन्तानों की रक्षा के लिये (सूर्येण) सूर्योदय के (उषसम्) उषा काल को लक्ष्य में रख कर (अवासयन्) अपने यज्ञ आदि कर्मों को प्रारम्भ करते थे ॥१॥

भावार्थः—जो लोग आलस्य आदि दोषरहित और ज्ञानी हैं, वे उषा काल में उठकर अपने यज्ञादि कर्मों का प्रारम्भ करते हैं। मंत्र में जो भूत-काल की क्रिया दी है वह "व्यत्ययो बहुलं" इस नियम के अनुसार वर्तमान काल की बोधिका है। इसलिये वेदों से प्रथम किसी अन्य देव के होने की आशंका इससे नहीं हो सकती। अन्य युक्ति यह कि "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" "देवाभागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते" इत्यादि मन्त्रों में पूर्व काल के देवों की सूचना जैसे दी गई है इसी प्रकार उक्त मन्त्र में भी है, इसलिये कोई दोष नहीं।

तात्पर्य यह है कि वैदिक सिद्धान्त में सृष्टि प्रवाहरूप से अनादि है इसलिये उस में भूत काल का वर्णन करना कोई दोष की बात नहीं ॥१॥

उशन्ता दूता न दभाय गोपा मासश्च पाथः शरदश्च पूर्वीः।
इन्द्रवायू सुष्टुतिर्वामियाना मार्डीकमीट्टे सुवितं च नव्यम् ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे कर्मयोग और ज्ञानयोगसम्पन्न विद्वानो ! (उशन्ता) आप हमारे कल्याण की इच्छा करते हुए (दूता) शुभ मार्ग दिखलाने वाले दर्शक के (न) समान (दभाय) हमारे कल्याण के लिये (गोपाः) आप हमारे रक्षक बनें (शरदश्च पूर्वीः) और अनंत काल तक (पाथः) हमारे शुभ मार्ग की ओर (मासश्च) शुभ समयों की आप रक्षा करें। (सुस्तुतिः) हमारी स्तुति (वाम्) आप लोगों को (इयाना) प्राप्त होती हुई (मार्डीकम्) सुख की (ईट्टे) याचना करती है (च) और (नव्यं) नवीन (सुवितं) धन की याचना करती है ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो लोग कर्मयोगी और ज्ञानयोगी विद्वानों को अपना नेता बनाते हैं वे सुख को प्राप्त होते हैं और उनको नवीन नवीन धनादि वस्तुओं की सदैव प्राप्ति होती है ॥२॥

पीवोअन्नाँ रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः।
ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥३॥

पदार्थः—(सुमेधाः) ज्ञानयोगी पुरुष (पीवोऽन्नान्) पुष्ट से पुष्ट अन्नों को लाभ करते हैं (रयिवृधः) और ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं (श्वेतः) और उत्तम कर्मों को (सिसक्ति) सेवन करते हैं (अभिश्रीः) शोभा (नियुतां) जो मनुष्य के लिये नियुक्त की गई है उसको प्राप्त होते हैं तथा (ते, समनसः)वे वशीकृत मनवाले (वायवे) विज्ञान के लिये अर्थात् ज्ञान योग के लिये (तस्थुः) स्थिर होते हैं। (विश्वेन्नरः) ऐसे सम्पूर्ण मनुष्य (स्वपत्यानि) शुभ कर्मों को (चक्रुः) करते हैं ॥३॥

भावार्थः—जो पुरुष ज्ञानयोगी बनकर बुद्धिरूपी श्री को उत्पन्न करते हैं वे संयमी पुरुष ही कर्मयोगी बन सकते हैं, अन्य नहीं ॥३॥

यावत्तरस्तन्वो३ यावदोजो यावन्नरश्चक्षसा दीध्यानाः ।
शुचिं सोमं शुचिपा पातमस्मे इन्द्रवायू सदतं बर्हिरेदम् ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषो ! तुम लोग हमारे यज्ञों में आकर (इदम्) इस (बर्हिः) आसन पर (आसदतम्) बैठो और (यावत्) जब तक (तन्वः) हमारे शरीर में (तरः) स्फूर्ति है तब तक और (यावत्) जब तक (ओजः) ब्रह्मचर्य का प्रभाव है और (यावन्नरः, चक्षसः) हम ज्ञानी हैं (दीध्यानाः) दीप्ति वाले हैं तब तक आप (अस्मे) हमारे (सोमं) स्वभाव को (शुचिं) पवित्र बनायें क्योंकि (शुचिपा) आप हमारे शुभ कर्मों की रक्षा करने वाले हैं इसलिये (पातं) आप हमारे यज्ञों में आकर हमको पवित्र करें ॥४॥

भावार्थ जब तक मनुष्य के शरीर में कर्म करने की शक्ति रहती है और जब तक ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न हुआ ओज रहता है और जब तक सत्य के समझने की शक्ति रहती है तब तक उसे ज्ञानयोगी और कर्मयोगी पुरुषों से सदैव यह प्रार्थना करनी चाहिए कि हे भगवन्, आप मेरे समक्ष आकर मुझे सत्कर्मों का उपदेश करके साधु स्वभाव वाला बनाइये ॥४॥

नियुवाना नियुतः स्पार्हवीरा इन्द्रवायू सरथं यातमर्वाक् ।
इदं हि वां प्रभृतं मध्वो अग्रमध प्रीणाना वि मुमुक्तमस्मे ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) ["इदङ्करणादित्याग्रयणः" (नि० १०, ८, ९) अर्थात् सब कर्मों में जो व्याप्त हो उसे इन्द्र कहते हैं; 'वातीतिवायुः' जो सर्व विषय को जानता है वह वायु है।] हे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषो ! (अर्वाक्) हमारे सन्मुख (सरथं) अपने कर्मयोग और ज्ञानयोग के मार्ग को लक्ष्य रखते हुए (यातं) हमारे सामने आयें।

(स्पार्हवीराः) आप सर्वप्रिय हैं और (नियुवाना) उपदेश के मार्ग में नियुक्त किये गये हैं और (नियुतः) जो तुम्हारा योगमार्ग है उसका आकर हमें उपदेश करो! (वाम्) तुम्हारे लिए ही निश्चय करके (मध्वः) मीठे पदार्थ का (इदम्) यह (अग्रम्) सार भेंट किया जाता है, आप इसे ग्रहण करें (अथ) और (प्रीणाना) प्रसन्न हुए आप (अस्मे) हम लोगों को (विमुमुक्तम्) पापरूपी बन्धनों से छुड़ायें ॥५॥

भावार्थः—यजमान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी विद्वानों से यह प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! आप हमारे यज्ञों में आकर हमको कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का उपदेश करें, ताकि हम उद्योगी तथा ज्ञानी बन कर निरुद्योगिता और अज्ञानरूपी पापों से छूट कर मोक्ष फल के भागी बनें ॥५॥

या वां शतं नियुतो याः सहस्रमिन्द्रवायू विश्ववाराः सचन्ते ।
आभिर्यातं सुविदत्राभिरर्वाक्पातं नरा प्रतिभृतस्य मध्वः ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे ज्ञानयोगी और कर्मयोगी पुरुषो ! (वाम्) तुम लोगों को, (याः) जो आप (विश्ववाराः) सबके वरणीय हो, (याः) जो लोग (शतम्) सैकड़ों वार (सहस्रं) सहस्रों वार (नियुतः) नियुक्त हुए (सचन्ते) सेवन करते हैं वे संगति को प्राप्त होते हैं इस लिये (नरा) वैदिक मार्ग के नेता लोगो ! (अर्वाक्) हमारे सन्मुख (आभिः) सुन्दर मार्गों से (यातं) आओ और (मध्वः, प्रतिभृतस्य) आपके निमित्त जो मीठा रस रक्खा गया है इसे आकर (पातं) पीओ ॥६॥

भावार्थः—जो लोग कर्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषों की सैकड़ों और सहस्रों वार संगति करते हैं वे लोग उद्योगी और ब्रह्मज्ञानी बन कर जन्मके धर्म अर्थ काम मोक्ष रूपी चारों फलों को प्राप्त होते हैं ॥६॥

अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः ।
वाजयन्तः स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे ज्ञानयोगी और कर्मयोगी पुरुषो ! हम (अर्वन्तः) जिज्ञासुओं के (न) समान (श्रवसः) ज्ञानकी (भिक्षमाणाः) भिक्षा मांगते हुए (सुस्तुतिभिः, वसिष्ठाः) आपके स्तुतिपरायण हुए अपनी रक्षा के लिये (वाजयन्तः) आपसे बलकी याचना करते हैं और (हुवेम) [ह्वेञ् शब्दार्थक धातु होने से यहां याच्ञाविषयक शब्दार्थ है,] हम यह दान मांगते हैं कि (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (नः) हमारी (सदा) सदैव (पात) रक्षा करें ॥७॥

भावार्थः—जो लोग ज्ञान और विज्ञान के भिक्षु बनकर ज्ञानी और

विज्ञानी लोगों से सदैव ज्ञानयोग और कर्मयोग की भिक्षा मांगते हैं परमात्मा उनको अभ्युदय और निश्रेयस इन दोनों ऐश्वर्य्यों से परिपूर्ण करता है ॥७॥

सप्तम मण्डल में ९१ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य द्वानवतितमस्य सूक्तस्य १–५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १, ३–५ वायुः । २ इन्द्रवायू देवते ॥ छन्दः १ निचृत् त्रिष्टुप् २, ३, ४ विराट् त्रिष्टुप् ५ आर्षी त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब कर्मयोगी पुरुष को सोमरस पीने के लिये बुलाना कथन करते हैं ॥

आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार ।
उपो ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयम् ॥१॥

पदार्थः—(वायो) हे कर्मयोगिन् ["वाति=गच्छति स्वकर्मणाऽभिप्रेतं प्राप्नोतीति वायुः" जो कर्मों द्वारा अपने कर्तव्यों को प्राप्त हो उसको वायु कहते हैं "वायुर्वातिर्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः" वायु शब्द गतिकर्म वाली धातुओं से सिद्ध होता है (निरुक्त दैवत काण्ड १०—३) इस प्रकार यहां वायु नाम कर्मयोगी का है।] आप आकर हमारे यज्ञ को (आभूषः) विभूषित कीजिये और (शुचिपाः) आप पवित्र वस्तुओं का पान करने वाले हैं (विश्ववारः) आप सबके वरणीय हैं (ते) तुम्हारे (सहस्रम् नियुतः) हजारों कर्म के प्रकार हैं (नः) हमारा (अन्धः) अन्नादि वस्तुओं से (मद्यम्) आह्लादक जो सोमरस है उसको (उप अयामि) मैं पात्र में रखता हूं (देव) हे दिव्यशक्ति वाले विद्वन्, (पूर्वपेयं) पहिले पीने योग्य इस को (दधिषे) तुम धारण करो ॥१॥

भावार्थः—यजमान लोग अपने यज्ञों में कर्मयोगी पुरुषों को बुलाकर उत्तमोत्तम अन्नादि पदार्थों के आह्लादक रस उनकी भेंट करके उनसे सदुपदेश ग्रहण करें। वायु शब्द से इस मन्त्र में कर्मयोगी का ग्रहण है। किसी वायुतत्व या किसी अन्य वस्तु का नहीं। यद्यपि वायु शब्द के अर्थ कहीं ईश्वर के, कहीं वायुतत्त्व के भी हैं तथापि यहां प्रसंग से वायु शब्द कर्मयोगी का बोधक है क्योंकि इसके उत्तर मन्त्र में "शचीभिः" इत्यादिक कर्मबोधक वाक्यों से कर्मप्रधान पुरुष का ही ग्रहण है और जहां "वायवा याहि दर्शते इमे सोमा अरं कृता" १।२।१ इत्यादि मन्त्रों में वायु शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है वहां ईश्वर का प्रसंग पूर्वोक्त सूक्तों की संगति से वायु शब्द ईश्वर का

प्रतिपादक है अर्थात् "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्" १।१।१ इस ईश्वर-प्रकरण में पढ़े जाने के कारण वहां वायु शब्द ईश्वर का बोधक है क्योंकि "शन्नो मित्रः शं वरुणः" तैत्तिरीय ब्र. १ इस मन्त्र में वायु शब्द ईश्वर के प्रकरण में पढ़ा गया है, जिस प्रकार वहां ईश्वर प्रकरण है इसी प्रकार यहां विद्वानों से शिक्षालाभ करने के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण वायु शब्द विद्वान् का बोधक होता है किसी अन्य वस्तु का नहीं ।।१।।

प्र सोता जीरो अध्वरेष्वस्थात्सोममिन्द्राय वायवे पिबध्यै ।

प्र यद्वां मध्वो अग्रियं भरन्त्यध्वर्यवो देवयन्तः शचीभिः ।।२।।

पदार्थः—(अध्वर्यवः) यज्ञों के धारण करने वाले अध्वर्यु लोग (अध्वरेषु) यज्ञों में (सोमं) सोम रसको (अस्थात्) स्थिर करते हैं क्योंकि (इन्द्राय) कर्मयोगी, (वायवे) ज्ञानयोगी के (पिबध्यै) पिलाने के लिये और अध्वर्यु लोग (शचीभिः) कर्मों के द्वारा (देवयन्तः) प्रार्थना करते हुए (अग्रियम्) सारभूत इस सोमरस को (भरन्ति) धारण करते हैं (यत्) जो (मध्वं) मीठा है और (वाम्) तुम विद्वान् लोगों के निमित्त बनाया गया है ।।२।।

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यजमान लोगो, तुम सुन्दर-सुन्दर पदार्थों के रस निकाल कर विद्वानों को तृप्त करो ताकि वे प्रसन्न होकर तुम को उपदेश दें ।।२।।

प्र याभिर्यासि दाश्वांसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे ।

नि नो रयिं सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः ।।३।।

पदार्थः—(वायो) हे ज्ञानयोगी विद्वन्! (इष्टये) यज्ञ के लिये (दुरोणे) यज्ञ-मंडपों में जाकर (नियुद्भिः) याज्ञिय लोगों द्वारा आह्वान किये हुए आप (यासि) जाकर प्राप्त होओ और वहां जाकर (वीरं) वीरतायुक्त पुरुष (गव्यं) गौएँ (अश्व्यं) घोड़े (च) और (राधः) धन को (युवस्व) दें और (सुभोजसम्) सुन्दर-सुन्दर भोजन (रयिं) धनादि पदार्थ दें ।।३।।

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि यजमानों से आह्वान किये हुए विद्वान् लोग यज्ञ मण्डपों में जाकर जनता को गौएं, घोड़े और धनादि ऐश्वर्यों के उत्पन्न करने का उपदेश करें ।।३।।

ये वायव इन्द्रमादनास आदेवासो नितोशनासो अर्यः ।

घ्नन्तो वृत्राणि सूरिभिः ष्याम सासह्वांसो युधा नृभिरमित्रान् ।।४।।

पदार्थः—(ये) जो पुरुष (वायवे) कर्मयोगी विद्वानों पर विश्वास रखते हैं (इन्द्रमादनासः) ज्ञानयोगी विद्वान् का सत्कार करते हैं तथा (आदेवासः) विद्वान् पुरुषों का सत्कार करते हैं वे (अर्य्यः) शत्रुओं को (नितोशनासः) नाश करते हुए और (सूरिभिः) विद्वानों से (घ्नन्तः) अज्ञानों का नाश करते हुए यह कथन करते हैं कि (स्याम) हम लोग सत्यपरायण होकर (अमित्रान्) अन्यायकारी शत्रुओं को (युधा) युद्ध में (नृभिः) न्याय्यपथ पर दृढ़ रहने वाले मनुष्यों के द्वारा (सासह्वांसः) नाश करें ॥४॥

भावार्थः—जो सर्वव्यापक परमात्मा पर विश्वास रख कर अन्यायकारियों के दमन के लिये उद्यत होते हैं वे सदैव विजयलक्ष्मी का लाभ करते हैं अर्थात् उनके गले में विजयलक्ष्मी अवश्यमेव जयमाला पहनाती है ॥४॥

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरं सहस्रिणीभिरुप याहि यज्ञम् ।
वायो अस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

पदार्थः—(वायो) हे कर्मयोगिन् विद्वन्, (नः) हमारे (अध्वरं) इस अहिंसारूपयज्ञ में आप आएं (शतिनीभिः) अपने क्रियाकौशल के सैकड़ों प्रकार की शक्तियों को लेकर (सहस्रिणीभिः) सहस्रों प्रकार की शक्तियों को लेकर (उपयाहि) आएं (वायो) हे सर्व विद्या में गतिशील विद्वन्, (अस्मिन्) हमारे इस (सवने) पदार्थविद्या के उत्पन्न करने वाले यज्ञ में आकर आप (मादयस्व) आनन्द को लाभ करें और (यूयम्) आप विद्वान् लोग स्वस्तिवाचनों से (नः) हमको (सदा) सदैव (पात) पवित्र करें ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा ने सैकड़ों और सहस्रों शक्तियों वाले कर्म्मयोगी विद्वानों के आवाहन करने का उपदेश किया है कि हे यजमानो, तुम अपने यज्ञों में ऐसे विद्वानों को बुलाओ जिनकी पदार्थविद्या में सैकड़ों प्रकार की शक्तियां हैं, उनको बुलाकर तुम उनसे सदुपदेश सुनो ॥५॥

सप्तम मण्डल में ९२ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टर्चस्य त्रिनवतितमस्य सूक्तस्य १–८ वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ छन्दः—१, ८ निचृत्त्रिष्टुप् । २, ५ आर्षी त्रिष्टुप् । ३, ४, ६, ७ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

शुचिं नु स्तोमं नवजातमद्येन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् ।
उभा हि वां सुहवा जोहवीमि ता वाजं सद्य उशते धेष्ठा ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे ज्ञानी विज्ञानी विद्वानो ! आप अन्यायकारी (वृत्रहणा) शत्रुओं को हनन करने वाले हैं, आप हमारे (नवजातम्) इस नवीन (स्तोमं) यज्ञ को (जुषेथां) सेवन करें (हि) जिस लिये (उभा, वां) तुम दोनों को (सुहवा) सुखपूर्वक बुलाने योग्य आप को (जोहवीमि) पुनः-पुनः मैं बुलाता हूँ। इसलिये (ता) आप दोनों (शुचिं) इस पवित्र यज्ञ को (सद्यः, उशते) कामनावाले यजमान के लिये शीघ्र ही (वाजं) बल के देने वाला (धेष्ठा) धारण करायें ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! आप यजमानों के यज्ञ को बल देने वाला तथा कलाकौशलादि विद्याओं से शीघ्र ही फल का देने वाला बनायें ॥१॥

ता सा॑न॒सी श॑वसाना॒ हि भू॒तं सा॑कं॒वृधा॒ शव॑सा शूशु॒वांसा॑ ।

क्षय॑न्तौ रा॒यो यव॑सस्य॒ भूरेः॑ पृ॒ङ्क्तं वाज॑स्य॒ स्थवि॑रस्य॒ घृष्वेः॑ ॥२॥

पदार्थः—(हि) क्योंकि आप (सानसी) प्रत्येक पुरुष के सत्संग करने योग्य हैं और (शवसाना) ज्ञान, विज्ञान की विद्या के बल से सुशोभित (भूतं) हो और (साकंवृधा) स्वाभाविक बलवाले हो (शूशुवांसा) ज्ञानवृद्ध हो (भूरेः रायः) बहुत धन और (यवसस्य) ऐश्वर्य्य के (क्षयन्तौ) ईश्वर हो (स्थविरस्य) परिपक्व ज्ञान का जो (वाजस्य) बल है उसके स्वामी हो (घृष्वेः) अन्यायकारी दुष्टों के दमन के लिये (पृंक्तं) आकर आप हमारे यज्ञ को भोगो ॥२॥

भावार्थः—यजमानों को चाहिये कि वे अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक यज्ञों में अनुभवी विद्वानों को बुलाकर उनसे शिक्षा ग्रहण करें और उनसे ज्ञान और विज्ञान की विद्याओं का काम करायें। यज्ञ का वास्तव में यही फल है कि उससे ज्ञान तथा विज्ञान की वृद्धि हो तथा विद्वानों की संगति और उनका सत्कार हो ॥२॥

उपो॑ ह॒ यद्वि॒दथं॑ वा॒जिनो॒ गुर्धी॒भिर्विप्राः॒ प्रम॑तिमि॒च्छमा॑नाः ।

अर्व॑न्तो॒ न काष्ठां॒ नक्ष॑माणा इन्द्रा॒ग्नी जोहु॑वतो॒ नर॒स्ते ॥३॥

पदार्थः—(वाजिनः) ब्रह्मविद्या के बल वाले ऋत्विग् लोग (यत्)जो (उपो, गुः) आपको आकर प्राप्त होते हैं और (विदथं) यज्ञ को ["विदन्ति जानन्ति देवान्यत्र स विदथो यज्ञः" "जिसमें देव=विद्वानों की संगति हो उसको विदथ=यज्ञ कहते हैं" विदथ इति यज्ञनामसु पठितं (निघं०)] नित्य प्राप्त होते हैं (विप्राः) मेधावी लोग (धीभिः) कर्म्मों द्वारा (प्रमतिमिच्छमानाः) बुद्धि की इच्छा करते हुए (काष्ठां, अर्वन्तः, न) जैसे कि बलवाला पुरुष अपने व्रत की पराकाष्ठा=अन्त को प्राप्त होता है, इस

प्रकार (नक्षमाणाः) कर्मयोगी और ज्ञानयोगी विद्वान् अर्थात् जो कर्म्म तथा ज्ञान में व्याप्त हैं (जोहुवतः) सत्कारपूर्वक यज्ञ में बुलाये हुए (ते, नरः) संसार के नेता होते हैं ॥३॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यजमानो, तुम ऐसे विद्वानों को अपने यज्ञों में बुलाओ, जो कर्म्म और ज्ञान दोनों प्रकार की विद्या से व्याप्त हों और आत्मिक बल रखने के कारण दृढ़व्रती हों, क्योंकि दृढ़व्रती पुरुष ही अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सकता है, अन्य नहीं ॥३॥

गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमान ईट्टे रयिं यशसं पूर्वभाजम् ।

इन्द्राग्नी वृत्रहणा सुवज्रा प्र नो नव्येभिस्तिरतं देष्णैः ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्म्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो, आपकी (ईट्टे) स्तुति (विप्रः) बुद्धिमान् लोग इसलिये करते हैं कि आप (वृत्रहणा) अज्ञान के हनन करने वाले हैं और (सुवज्रा) सुन्दर विद्यारूपी शस्त्र आप के हाथ में है। (प्रमतिमिच्छमानः) बुद्धि की इच्छा करते हुए और (रयिं) धन की इच्छा करते हुए तथा (यशसं) यश की इच्छा करते हुए जो (पूर्वभाजं) सब से प्रथम भजने योग्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य है (गीर्भिः) सुन्दर वाणियों से तुम्हारी स्तुति विद्वान् लोग करते हैं। (देष्णैः) देने योग्य (नव्येभिः) नूतन धनों से (प्रतिरतं) हमको आप बढ़ाएं ॥४॥

भावार्थः—यश और ऐश्वर्य्य के चाहने वाले लोगों को चाहिये कि वे कर्म्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषों को अपने यज्ञों में बुलाएं और बुलाकर उनसे सुमति की प्रार्थना करें, क्योंकि विद्वानों के सत्कार के विना किसी देश में भी सुमति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय से परमात्मा ने इस मन्त्र में विद्वानों से सुमति लेने का उपदेश किया है ॥४॥

सं यन्मही मिथती स्पर्धमाने तनूरुचा शूरसाता यतैते ।

अदेवयुं विदथे देवयुभिः सत्रा हतं सोमसुता जनेन ॥५॥

पदार्थः—विद्वानो ! (सोमसुता) सौम्यस्वभाव को उत्पन्न करने वाले ओषधियों को बनाने वाले (जनेन) मनुष्य द्वारा हम आपका सत्कार करते हैं, (यद्) जो आप (शूरसाता) वीरतारूपी यज्ञों के रचयिता हैं (तनूरुचा) केवल तनुपोषक लोगों के साथ (स्पर्धमाने) स्पर्धा करने वाले हैं (मही) बड़े-बड़े (मिथती) युद्धों में आप निपुण हैं (विदथे) आध्यात्मिक यज्ञों में (सं, सत्रा, हतं) अविद्यादिदोषरहित (अदेवयुम्) परमात्मा के स्वभाव को (देवयुभिः) ज्ञानी पुरुषों का संगति से आप प्राप्त हैं ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश किया है कि हे विद्वान् पुरुषो, तुम लोग आहार-व्यवहार द्वारा सौम्यस्वभाव बनाने वाले विद्वानों का संग करो तथा जो पुरुष ज्ञानयोगी हैं उनकी संगति में रह कर अपने आप को परमात्मपरायण बनाओ ॥५॥

इमामु षु सोमसुतिमुप न एन्द्राग्नी सौमनसाय यातम् ।
नू चिद्धि परिमम्नाथे अस्माना वां शश्वद्भिर्ववृतीय वाजैः ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे ज्ञान विज्ञान विद्याओं के ज्ञाता विद्वानो ! (नः) हमारे (इमां) इस (सोमसुतिं) विज्ञानविद्या के यन्त्रनिर्माणस्थान को (सौमनसाय) हमारे मन की प्रसन्नता के लिये (उपयातं) आकर दृष्टिगोचर करें (हि) क्योंकि (अस्मान्) हमको (आ) सब प्रकार से (नु, चित्) निश्चय करके (सुपरिमम्नाथे) आप अपनाते हैं और (वां) आपको हम लोग (वाजैः) आपके योग्य सत्कारों से (शश्वद्भिः) निरन्तर (ववृतीय) निमन्त्रित करते हैं ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यजमानो ! आप लोग ज्ञान विज्ञान के ज्ञाता विद्वानों को अपनी विज्ञानशालाओं में बुलायें क्योंकि ज्ञान तथा विज्ञान से बढ़ कर मनुष्य के मन को प्रसन्न करने वाली संसार में कोई अन्य वस्तु नहीं, इसलिये तुम विद्वानों की सत्संगति से मन के सौमनस्य अर्थात् विज्ञानादि भावों को बढ़ाओ, यही मनुष्यजन्म का सर्वोपरि फल है ॥६॥

सो अग्न एना नमसा समिद्धोऽच्छा मित्रं वरुणमिन्द्रं वोचेः ।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु ॥७॥

पदार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्, (सः) आप (नमसा) विनय से (समिद्धा) प्रसन्न हुए (इन्द्रं, मित्रं, वरुणं) श्रेष्ठ अध्यापक और उपदेशक को (अच्छ, वोचेः) यह श्रेष्ठ उपदेश करो कि वे लोग यजमानों से पापकर्मों को (शिश्रथंतु) वियुक्त करें और (यत्) जो कुछ (सीं) हम ने (आगः) पापकर्म (चकृम) किये हैं (तत्) वह (सुमृळ) दूर कर और उनकी निवृत्ति हम (अर्यमा) न्यायकारी और (अदितिः) अखण्डनीय परमात्मा से न्यायपूर्वक चाहते हैं ॥७॥

भावार्थः—पापों की निवृत्ति पश्चात्ताप से होती है, परमात्मा जिस पर अपनी कृपा करते हैं वही पुरुष अपने मन से पापों की निवृत्ति के लिए प्रार्थना करता है, अर्थात् मनुष्य में परमात्मा की कृपा से विनीत भाव आता

है अन्यथा नहीं; यहां सञ्चित और क्रियमाण कर्मों की निवृत्ति से तात्पर्य है, प्रारब्ध कर्मों से नहीं ॥७॥

एता अग्ने आशुषाणास इष्टीर्युवोः सचाभ्यश्याम वाजान् ।

मेन्द्रो नो विष्णुर्मरुतः परि ख्यन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्रः) सर्वशक्तिमान् (विष्णुः) सर्वव्यापक (एताः, मरुतः) सर्व-रक्षक परमात्मा (नः) हमको (मा) मत (परिख्यन्) छोड़ें; (अग्ने) हे कर्मयोगिन् तथा ज्ञानयोगिन् विद्वन् ! (आशुषाणासः) आपकी संगति में रहते हुए हमको (युवोः) आपकी (इष्टीः) यह ज्ञानयज्ञ और आपकी संगति को हम लोग (सचाभ्यश्याम) कभी न छोड़ें तथा (वाजान्) आपके बलप्रद उपदेशों का हम कदापि त्याग न करें; और ईश्वर की कृपा से •(यूयं) आप लोग (स्वस्तिभिः) स्वस्ति वचनों से (नः) हमको (सदा) सदैव (पात) पवित्र करें ॥८॥

भावार्थः—इस मन्त्र में इस बात की शिक्षा है कि पुरुष को चाहिए कि वह सत्पुरुषों की संगति से बाहर कदापि न रहे और परमात्मा के आगे हृदय खोल कर निष्पाप होने की सदैव प्रार्थना किया करे, इसी से मनुष्य का कल्याण होता है। केवल अपने उद्योग के भरोसे पर ईश्वर और विद्वान् पुरुषों की उपेक्षा अर्थात् उनमें उदासीन दृष्टि, कदापि न करे ॥८॥

सप्तम मण्डल में ९३ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य चतुर्नवतितमस्य सूक्तस्य–१–१२ वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ छन्दः–१, ३, ८, १०, आर्षी निचृत् गायत्री २, ४, ५, ६, ७, ९, ११ आर्षी गायत्री। १२ आर्षी निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः १-११ षड्जः । १२ गान्धारः ॥

अब सद्गुणों के ग्रहण के लिये कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगियों का यज्ञ में आवाहन कथन करते हैं ॥

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः ।

अभ्राद्वृष्टिरिवाजनि ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! (वां) आपकी (इयं) यह (पूर्व्यस्तुतिः) मुख्यस्तुति (अभ्रात्) मेघमण्डल से (वृष्टिः, इव) वृष्टि के समान (अजनि) सद्भावों को उत्पन्न करती है (अस्य) इस (मन्मनः) स्तोता के हृदय को भी शुद्ध करती है ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो लोग अपने विद्वानों के सद्गुणों को वर्णन करते हैं, वे मानो सद्गुणकीर्तनरूप वृष्टि से अंकुरों के समान प्रादुर्भाव को प्राप्त होते हैं ॥१॥

शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिरः ।

ईशाना पिप्यतं धियः ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप (जरितुः) जिज्ञासु लोगों के (हवं) आह्वानों को (शृणुतं) सुनें, (ईशाना) ऐश्वर्यसम्पन्न आप (गिरः) उनकी वाणियों को (वनतं) संस्कृत अर्थात् शुद्ध करें और उनके (धियः) कर्मों को (पिप्यतं) बढ़ायें ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो, तुम अपने जिज्ञासुओं की वाणियों पर ध्यान दो और उनके कर्मों के सुधार के लिए उन को सदुपदेश दो, ताकि वे सत्कर्मी बन कर संसार का सुधार करें ॥२॥

अब उक्त विद्वानों से सद्गुणों का ग्रहण करना कथन करते हैं ॥

मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये ।

मा नो रीरधतं निदे ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो, आप (नरा) शुभ मार्गों के नेता हैं; आपके सत्संग से (अभिशस्तये) शत्रु द्वारा दमन के योग्य हम (मा) मत हों और (नः) हम को (मा, रीरधतं) हिंसा के भागी न बनायें और (निदे) निन्दा के भागी मत बनायें (पापत्वाय) पाप के लिये हमारा जीवन (मा) मत हो ॥३॥

भावार्थः—विद्वानों से मिलकर जिज्ञासुओं को यह प्रार्थना करनी चाहिए कि आपके संग से हम में ऐसा बल उत्पन्न हो कि हमको शत्रु कभी दबा न सकें और हम कोई ऐसा काम न करें, जिससे हमारी संसार में निन्दा हों और हमारा मन कदापि पाप की ओर न जाय ॥३॥

इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे ।

धिया धेना अवस्यवः ॥४॥

पदार्थः—हम (इन्द्रे) कर्मयोगी (अग्ना) ज्ञानयोगी के लिए (नमः) नमस्कार करें और (बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे) हम उनके साथ बड़ी नम्रतापूर्वक बर्ताव

करें। (धिया धेनाः) अनुष्ठानरूपवाणी से हम उनसे (अवस्यवः) रक्षा की याचना करें ॥४॥

भावार्थः—जो लोग विद्वानों के साथ रह कर अपनी वाणी को अनुष्ठानमयी बनाते हैं अर्थात् कर्मयोगी बन कर उक्त विद्वानों की संगति करते हैं, वह संसार में सदैव सुरक्षित होते हैं ॥४॥

ता हि शश्वन्त ईळत इत्था विप्रास ऊतये ।

सबाधो वाजसातये ॥५॥

पदार्थः—(सबाधः) पीड़ित हुए (वाजसातये) यज्ञों में (विप्रासः) मेधावी लोग (ऊतये) अपनी रक्षा के लिए (इत्था) इस प्रकार (शश्वन्त) निरन्तर (ता, हि) निश्चय करके उक्त कर्मयोगी, ज्ञानयोगी की (ईळते) स्तुति करते हैं ॥५॥

भावार्थः—जो लोग इस भाव से यज्ञ करते हैं कि उनकी बाधायें निवृत्त होवें; वे अपने यज्ञों में कर्मयोगी, ज्ञानयोगी विद्वानों को अवश्यमेव बुलायें ताकि उनके सत्संग द्वारा ज्ञान और कर्म से सम्पन्न होकर सब बाधाओं को दूर कर सकें ॥५॥

ता वां गीर्भिर्विपन्यवः प्रयस्वन्तो हवामहे ।

मेधसाता सनिष्यवः ॥६॥

पदार्थः—(सनिष्यवः) अभ्युदय चाहने वाले (विपन्यवः) साहित्य चाहने वाले हम (प्रयस्वन्तः) अनुष्ठानी बनकर (ता, वां) कर्मयोगी और ज्ञानयोगी को (मेधसाता) अपने यज्ञों में (गीर्भिः) अपनी नम्र वाणियों से (हवामहे) बुलाते हैं ताकि वे आकर हमको सदुपदेश करें ॥६॥

भावार्थः—संसार में अभ्युदय और शोभन साहित्य उन्हीं लोगों का बढ़ता है, जो लोग अपने यज्ञों में सदुपदेष्टा कर्मयोगी और ज्ञानयोगियों को बुलाकर सदुपदेश सुनते हैं ॥६॥

इन्द्राग्नी अवसा गतमस्मभ्यं चर्षणीसहा ।

मा नो दुःशंस ईशत ॥७॥

पदार्थः—(चर्षणीसहा) हे दुष्टों के दमन करने वाले (इन्द्राग्नी) कर्मयोगी ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप (अवसा) ऐश्वर्य के साथ (आगतं) हमारे यज्ञों में आवें और हमारे (दुःशंसः) शत्रु (नः) हमको (मा, ईशत) न सतावें ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि याज्ञिक लोगो, तुम अपने यज्ञों में ऐसे विद्वानों को बुलाओ जो दुष्टों के दमन करने और ऐश्वर्य के उत्पन्न करने में समर्थ हों ॥७॥

मा कस्यं नो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य ।

इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी, ज्ञानयोगी विद्वानो, (कस्य) किसी (अररुषो मर्त्यस्य) दुष्ट मनुष्य का भी (नः) हमको (धूर्तिः) अनिष्टचिन्तन करने वाला (मा प्रणक्) मत बनाएं और (शर्म) शमविधि (यच्छतं) दें ॥८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जिज्ञासु जनो, तुम अपने विद्वानों से शमविधि की शिक्षा लो अर्थात् तुम्हारा मन किसी में भी दुर्भावना का पात्र न बने किन्तु तुम सब के कल्याण की सदैव इच्छा करो। इस भाव को अन्यत्र भी वर्णन किया है कि "मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्" (यजु०) तुम सब को मित्रता की दृष्टि से देखो ॥८॥

गोमद्धिरण्यवद्वसु यद्वामश्वावदीमहे । इन्द्राग्नी तद्वनेमहि ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी, ज्ञानयोगी विद्वानो ! आपके सदुपदेश से हम (हिरण्यवत्) रत्न (अश्वावत्) अश्व (गोमत्) गौयें इत्यादि अनेक प्रकार के (यद्वसु) जो धन हैं उनकी प्राप्ति के लिए (ईमहे) यह प्रार्थना करते हैं कि (तद्, वनेमहि) उनको हम प्राप्त हों ॥९॥

भावार्थः—उक्त विद्वानों के सदुपदेश से हम सब प्रकार के धनों को प्राप्त हों ॥९॥

यत्सोम आ सुते नर इन्द्राग्नी अजोहवुः ।

सप्तीवन्ता सपर्यवः ॥१०॥

पदार्थः— हे (इन्द्राग्नी) कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! (नरः) यज्ञों के नेता ऋत्विगादि, (यत्) जब (सोमे) सोम औषधि के (सुते) बनने के समय (सपर्यवः) आपके उपासक (अजोहवुः) आपको बुलाएं तो आप वहां जाकर उनको सदुपदेश करें, और (सप्तीवन्तः) उन्हें अनेकविध धनों से सम्पन्न करें ॥१०॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो, आप ऋत्विगादिक विद्वानों के यज्ञों में जाकर उनकी शोभा को अवश्यमेव बढ़ाएं ॥१०॥

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा ।

आङ्गूषैराविवासतः ॥११॥

पदार्थः—(वृत्रहन्तमा) हे अज्ञान के नाश करने वाले कर्म्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप] (उक्थेभिः) परमात्मस्तुतिविधायक वेदमन्त्रों द्वारा (मंदाना) प्रसन्न होते हुए (चिदा) अथवा (गिरा) आपके आवाहनविधायक वाणियों से (आङ्गूषैः) जो उच्चस्वर से पढ़ी गई हैं उनसे आकर ज्ञानयज्ञ तथा कर्म्मयज्ञ को अवश्यमेव विभूषित करें ॥११॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्मयोगी और ज्ञानयोगियों से अज्ञान के नाश करने की प्रार्थना का विधान है ॥११॥

ताविद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् ।

आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम् ॥१२॥

पदार्थः—हे विद्वानो! आप (इद्दुःशंसं) दुष्ट पुरुषों को, जो (दुर्विद्वांसं) विद्या का दुरुपयोग करते हैं उनको (रक्षस्विनं) जो राक्षसभावों वाले हैं (आभोगं) अन्य अधिकारियों से छीन कर जो स्वयं भोग करते हैं (हन्मना)उनको अपनी विद्या से (हतम्) नाश करो जिस प्रकार(उदधिम्) समुद्र विद्वानों की विद्या द्वारा (हन्मना,हतम्) यन्त्रों से मथा जाता है इस प्रकार आप अपने विद्याबल से राक्षसों का दमन करो ॥१२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो, आप राक्षसी वृत्ति वाले दुष्टाचारी पुरुषों को अपने विद्याबल से नाश करो क्योंकि अन्यायाचारी अधर्म्मात्माओं का दमन विद्याबल से किया जा सकता है अन्यथा नहीं; अतः आप इस संसार से पापपिशाच को विद्याबल से भगाओ ॥१२॥

सप्तम मण्डल में ९४ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्चस्य पञ्चनवतितमस्य] सूक्तस्यः १–६ वसिष्ठ ऋषिः॥ १, २, ४, ५, ६ सरस्वती; ३ सरस्वान् देवता ॥ छन्दः–१, पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, ५, ६, आर्षी त्रिष्टुप् ३, ४, विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

[अब प्रसंगसंगति से सरस्वती देवी विद्या को वर्णन करते हैं, जिसकी] प्राप्ति से पुरुष कर्मयोगी और ज्ञानयोगी बनते हैं ॥

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ।

प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥१॥

पदार्थः—(सरस्वती) [यह निघण्टु २ । २३ । ५७ वाणी के नामों में पढ़ा है, इस लिये सरस्वती यहां विद्या का नाम है। व्युत्पत्ति इसकी इस प्रकार है "सरो ज्ञानं विद्यतेऽस्या असौ सरस्वती" जो ज्ञान वाली हो उसका नाम सरस्वती है।] सरस्वती विद्या (धरुणम्) सब ज्ञानों का आधार है, (आयसी) ऐसी दृढ़ है कि मानो लोहे की बनी हुई है, (पूः) सब प्रकार के अभ्युदयों के लिये एक पुरी के सदृश है, (प्र, क्षोदसा) अज्ञानों के नाश करने वाले (धायसा) वेग से (सस्रे) अनवरत प्रवाह से संसार को सिञ्चन कर रही है, (एषा) यह ब्रह्मविद्यारूप (प्र, बाबधाना) अत्यन्त वेग से (रथ्या, इव) नदी के समान (याति) गमन करती और (महिना) अपने महत्त्व से (सिन्धुः) स्यन्दन करती हुई (विश्वा, अपः) सब जलों को ले जाने वाली (अन्याः) और है ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो, ब्रह्मविद्यारूपी नदी सब प्रकार के अज्ञानादि पापपंकों को बहा ले जाती है और यही नदी भुवनत्रय को पवित्र करती अर्थात् अन्य जो भौतिक नदियें हैं वे किसी एक प्रदेश को पवित्र करती हैं और यह सब को पवित्र करने वाली है, इस लिए इसकी उन से विलक्षणता है। तात्पर्य यह है कि यह विद्यारूपी नदी आध्यात्मिक पवित्रता का संचार और भौतिक नदी बाह्य पवित्रता का संचार करती है ॥१॥

एकाचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात् ।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥२॥

पदार्थः—(नदीनाम्) इन भौतिक नदियों के मध्य में (एका) एक ने (सरस्वती, अचेतत्) सरस्वतीरूप से सत्ता को लाभ किया, अर्थात् "सरांसि सन्ति यस्याः सा सरस्वती" जिस में बहुत-सी क्षुद्र नदियां मिलें उसका नाम सरस्वती है और जो (गिरिभ्यः) हिमालय से निकल कर (आ, समुद्रात्) समुद्र तक जाती है, वह सरस्वती (रायः, चेतन्ती) धन को देने वाली है, (शुचिः यती) पवित्ररूप से बहती है और वह (भुवनस्य) सांसारिक (नाहुषाय) मनुष्यों को (भूरेः) बहुत (घृतं) जल और (पयः) दूध से (दुदुहे) पूर्ण करती है ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो! यह भौतिक नदियें केवल सांसारिक धनों को और संसार में सुखदायक जल तथा दुग्धादि पदार्थों को देती हैं, और विद्यारूपी सरस्वती आध्यात्मिक धन और ऐश्वर्य को देने वाली है। बहुत से टीकाकारों ने इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार किये हैं कि सरस्वती नदी नहुष राजा के यज्ञ करने के लिये संसार में आयी अर्थात्

जिस प्रकार यह जनप्रवाद है कि भगीरथ के तप करने से भागीरथी गंगा निकली यह भी इसी प्रकार का एक अर्थवादमात्र है, क्योंकि यदि यह भी भागीरथी के समान आती तो इसका नाम भी नाहुषी होना चाहिये था, अस्तु । इस प्रकार की कल्पित अनेक कथायें अज्ञान के समय में वेदार्थ में भर दी गयीं जिनका वेदों में गन्ध भी नहीं । क्योंकि नहुष शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि 'नह्यति कर्मसु इति नहुषस्तदपत्यं नाहुषः' इससे नाहुष शब्द का अर्थ यहां मनुष्य सन्तान है कोई राजाविशेष नहीं, इसी से निरुक्तकारने भी कहा है कि वेदों में शब्द यौगिक और योगरूढ़ हैं, केवल रुढ़ नहीं । इस बात को सायण ने भी अपनी भूमिका में माना है, फिर न मालूम क्यों यहां राजाविशेष अर्थ मान कर एक कल्पित कथा भर दी ॥२॥

अब प्रसंगसंगति से पूर्वोक्त आध्यात्मिक विद्यारूप सरस्वती का ज्ञानरूप से कथन करते हैं ॥

स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो यज्ञियासु ।
स वाजिनं मघवद्भ्यो दधाति वि सातये तन्वं मामृजीत ॥३॥

पदार्थः—(सः) वह बोध (नर्यः) मनुष्यों के लिये और (योषणासु) स्त्रियों के लिये (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त हुआ है, और वह बोध (यज्ञियासु) यज्ञीय बुद्धिरूपी भूमियों में (वृषा) वृष्टि करने वाला है, और (शिशुः) अज्ञानादिकों को छेदन करने वाला है["श्यति अज्ञानादिकमिति शिशुः, शो तनूकरणे"](वृषभः) और आध्यात्मिक आनन्दों की वृष्टि करने वाला है, और वही (मघवद्भ्यः) याज्ञिक लोगों को (वाजिनं) बल (दधाति) देता है, वही (सातये) युद्ध के लिये (तन्वं) शरीर को (वि मामृजीत) मार्जन करता है ॥३॥

भावार्थः—सरस्वती विद्या से उत्पन्न हुआ प्रबोधरूप पुत्र स्त्रीपुरुषों को संस्कार करके देवता बनाता है और यज्ञकर्मा लोगों को याज्ञिक बनाता है । बहुत क्या जो युद्धों में आत्मत्याग करके शूर वीर बनते हैं उनको इतने शूरवीर साहसी और निर्भीक एकमात्र सरस्वती विद्या से उत्पन्न हुआ प्रबोधरूप पुत्र ही बनाता है, अन्य नहीं ॥३॥

उत स्या नः सरस्वती जुषाणोप श्रवत्सुभगा यज्ञे अस्मिन् ।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः ॥४॥

पदार्थः—(स्या, सरस्वती) वह सरस्वती (नः) हमारे लिये (जुषाणा) सेवन की हुई (अस्मिन्) इस ब्रह्मविद्यारूपी (यज्ञे) यज्ञ में (श्रवत्) आनन्द की वृष्टि करती

है (उत) और (मितज्ञुभिः) संयमी पुरुषों द्वारा (इयाना) प्राप्त हुई (सुभगा, राया) धन से मित्रों को वृद्धियुक्त करती है (चिदुत्तरा) उत्तरोत्तर सौन्दर्य्य को देने वाली (नमस्यैः) नमस्कार से और (सखिभ्यः) मित्रों को सदैव वृद्धियुक्त करती है ॥४॥

भावार्थः—सरस्वती विद्या यदि संयमी पुरुषों द्वारा अर्थात् सदाचारी पुरुषों द्वारा उपदेश की जाय तो पुरुष को ऐश्वर्य्यशाली बनाती है, सदा के लिये अभ्युदयसम्पन्न करती है ॥४॥

इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रति स्तोमं सरस्वति जुषस्व ।
तव शर्मन्प्रियतमे दधाना उप स्थेयाम शरणं न वृक्षम् ॥५॥

पदार्थः—(इमा) ये याज्ञिक लोग (जुह्वाना) हवन करते हुए (युष्मदा) तुम्हारी प्राप्ति में रत (नमोभिः) नम्र वाणियों के द्वारा तुम्हारा आवाहन करते हैं। (सरस्वति) हे विद्ये ! (प्रतिस्तोमं) इनके प्रत्येक यज्ञ को (जुषस्व) सेवन कर, हे विद्ये ! (तव प्रियतमे) तुम्हारे प्रियपन में (शर्म्मन्) सुख को (दधाना) धारण करते हुए (उप) निरन्तर (स्थेयाम) सदैव तुम्हारी (शरणं) शरण को (वृक्षं, न) आधार के समान हम आश्रयण करें ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक पुरुषो, तुम इस प्रकार विद्यारूप कल्पवृक्ष का सेवन करो जिस प्रकार धूप से सन्तप्त पक्षिगण आकर छायाप्रद वृक्ष का आश्रयण करते हैं एवं आप इस सरस्वती विद्या का सब प्रकार से आश्रयण करें ॥५॥

अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः ।
वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

पदार्थः—(सरस्वति) हे ब्रह्मविद्ये ! (अयं) यह उपासक (वसिष्ठः) विद्यागुणसम्पन्न (ते) तुम्हारे (द्वारौ व्यावः) द्वारों को (सुभगे) हे ऐश्वर्य्य के देने वाली खोलता है। अर्थात् लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय के देने वाली वेद विद्ये! ब्रह्मवेत्ता पुरुष खोलता है, हे (शुभ्रे) कल्याणिनि ! तू (वर्ध) बढ़, (स्तुवते) जो पुरुष तुम्हारी स्तुति करते हैं उनके लिये तथा उनको (वाजान्, रासि) सम्पूर्ण प्रकार के बल दे और (यूयं) तू (स्वस्तिभिः) मंगल वाणियों से उनको सदा पवित्र कर ॥६॥

भावार्थः—जो लोग विद्या को चाहते हैं और प्रतिदिन विद्या में रत हैं उनके ब्रह्मविद्यारूप यज्ञ के दरवाजे खुल जाते हैं तथा वे सब प्रकार के सुखों को प्राप्त होते हैं ॥६॥

सप्तम मण्डल में ९५ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षडृचस्य षण्णवतितमस्य सूक्तस्य १–६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १–३ सरस्वती । ४–६ सरस्वान् देवता ॥ छन्दः—१ आर्ची भुरिग्बृहती । २ आर्षी भुरिग्बृहती । ३ निचृत्पंक्तिः । ४, ५ निचृद्गायत्री । ६ आर्षीगायत्री ॥ स्वरः १–२ मध्यमः ३ पञ्चमः ४, ५, ६ षड्जः ॥

अब उक्त विद्या को नदी का रूपक बांध कर वर्णन करते हैं ॥

बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम् ।

सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी ॥१॥

पदार्थः—(नदीनां) नदियों में से जो प्रफुल्लित पुष्पित करने वाली है और (असुर्या) बलवाली है उस (वचः) वाणी को (वसिष्ठ) हे विद्वन्! (गायिषे) तू गायन कर, (बृहत्रोदसी) द्यु और पृथ्वी लोक में (सरस्वतीं, इत्) सरस्वती विद्या की ही तुम लोग (महय) पूजा करो और वह पूजा (सुवृक्तिभिः) निर्दोष (स्तोमैः) यज्ञों से करो ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वान् लोगो, आप के लिए पूजायोग्य एकमात्र सरस्वती विद्या है, उसकी पूजा करने वाला विद्वान् कदापि अवनति को प्राप्त नहीं होता किन्तु सदैव अभ्युदय को प्राप्त होता है। तात्पर्य्य यह है कि सत्कर्तव्य एकमात्र परमात्मा का ज्ञान है उसी का नाम (ब्रह्मविद्या) सरस्वती वा ज्ञान है क्योंकि विद्या, ज्ञान, सरस्वती ये तीनों पर्य्याय शब्द हैं, परमात्मा का ज्ञान तादात्म्यसम्बन्ध से परमात्मा में रहता है इसलिए वह परमात्मा का रूप है, इसलिये यहां जडोपासना का दोष नहीं आता ॥१॥

उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः ।

सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् ॥२॥

पदार्थः—(शुभ्रे) हे पवित्र स्वभाव वाली विद्ये! (पूरवः) मनुष्य लोग तुम से (उभे) दो प्रकार के फल लाभ करते हैं (यत्ते) तुम्हारे वे दोनों (अन्धसी) दिव्य हैं अर्थात् एक अभ्युदय और दूसरा निश्श्रेयस। (सा) वह ब्रह्मविद्या (नः) हमारी (बोध्यवित्री) बोधन करने वाली है (मघोनां) ऐश्वर्य्य में से सर्वोपरि ऐश्वर्य्य (राधः) जो धनरूप है, हे विद्ये ! तू वह (चोद) हमको दे ॥२॥

भावार्थः—ब्रह्मविद्या से मनुष्यों को अभ्युदय और निःश्रेयस ये दोनों फल प्राप्त होते हैं। इस मन्त्र द्वारा प्रार्थना की गई है कि बोधन करने वाली ब्रह्मविद्या हमें धनरूप सर्वोपरि ऐश्वर्य्यं प्रदान करे ॥२॥

भद्रमिद्भद्रा कृणवत्सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती ।

गृणाना जमदग्निवत्स्तुवाना च वसिष्ठवत् ॥३॥

पदार्थः—(भद्रा) प्राप्त करने योग्य (सरस्वती) विद्या (भद्रम्, इत्) कल्याण ही (कृणवत्) करे, जो विद्या (अकवारी) कुत्सित अज्ञानादि पदार्थों की विरोधिनी (चेतति) सबको जगाती है (वाजिनीवती) ऐश्वर्यवाली (गृणाना) और अविद्यान्धकार को नाश करने वाली है वह विद्या (जमदग्निवत्) जमदग्नि के समान (च) और (वसिष्ठवत्) सर्वोपरि विद्वान् के समान (स्तुवाना) स्तुति की हुई फलदायक होती है ॥३॥

भावार्थः—सरस्वती ब्रह्मविद्या जो सब ज्ञानों का स्रोत है वह यदि ऋषि-मुनियों के समान स्तुति की जाय अर्थात् उनके समान यह भी ध्यान का विषय बनाई जाय तो मनुष्य के लिये फलदायक होती है। जमदग्नि यहां कोई ऋषिविशेष नहीं किन्तु "जमन् अग्निरिव" जो जमन्=प्रकाश करता हुआ अग्नि के समान देदीप्यमान हो अर्थात् तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी हो उसको जमदग्नि कहते हैं;, एवम् वसिष्ठ यह नाम भी वेद में गुणप्रधान है व्यक्तिप्रधान नहीं, जैसा कि "धर्मादिकर्त्तव्येषु अतिशयेन वसतीति वसिष्ठः" जो धर्मादिकर्तव्यों के पालन करने में रहे अर्थात् जो अपने यम-नियमादिव्रतों को कभी भंग न करे, उसका नाम यहां वसिष्ठ है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष उक्त विद्वानों के समान विद्या को पूजनार्ह और सत्कर्तव्य समझता है वह इस संसार में कृतकार्य होता है अन्य नहीं ॥३॥

अब उक्त ब्रह्मविद्या के फलरूप ज्ञान का कथन करते हैं ॥

जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः ।

सरस्वन्तं हवामहे ॥४॥

पदार्थः—(जनीयन्तः) शुभ सन्तान की इच्छा करते हुए (पुत्रीयन्तः) पुत्रवाले होने की इच्छा करते हुए (सुदानवः) दानी लोग (अग्रवः) ब्रह्म की समीपता चाहने वाले (नु) आज (सरस्वन्तम्) सरस्वती के पुत्ररूपी ज्ञान को (हवामहे) आवाहन करते हैं ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम ब्रह्मज्ञान का आह्वान करो, जो विद्यारूपी सरस्वती माता से उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण प्रकार के अनिष्टों को दूर करने वाला है, परन्तु उसके पात्र वे पुरुष बनते हैं जो उदारता के भाव और वेदरूपी विद्या के अधिकारी हों, अर्थात्

जिनके मलविक्षेपादि दोष सब दूर हो गए हों और जो यम-नियमादि सम्पन्न हों, वे ही ब्रह्मज्ञान के अधिकारी होते हैं अन्य नहीं, या यों कहो कि जो अंग और उपांगों के साथ वेद का अध्ययन करते और यमनियमादिसम्पन्न होते हैं ॥४॥

अब ज्ञान को स्रोतरूप से वर्णन करते हैं ॥

ये ते॑ सरस्व ऊ॒र्मयो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुतः॑ ।

तेभि॑र्नोऽवि॒ता भ॑व ॥५॥

पदार्थः—(सरस्वः) हे सरस्वः ["मतुवसोरुसंबुद्धौ छन्दसि"] (ये) जो (ते) तुम्हारी (ऊर्मयः) लहरें हैं (मधुमन्तः) वे बड़ी मीठी (घृतश्चुतः) और जिनमें से नाना प्रकार के स्रोत बह रहे हैं, ["घृतमिति उदकनामसु पठितं निघण्टौ"] (तेभिः) उनसे (नः) हमारे (अविता) तुम रक्षक (भव) बनो ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! ब्रह्मविद्यारूपी सरित् की लहरें अत्यन्त मीठी हैं, और आप विद्याप्राप्ति के लिए सदैव यह विनय किया करें कि वह विद्या अपने विचित्र भावों से आप की रक्षक बनें ॥५॥

पी॒पि॒वांसं॒ सर॑स्वतः॒ स्तनं॒ यो वि॒श्वद॑र्शतः ।

भ॒क्षी॒महि॑ प्र॒जामिष॑म् ॥६॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (सरस्वतः) ब्रह्मविद्या के (स्तनम्) उस स्तन को (पीपिवांसम्) जो कि अमृत से भरा हुआ है, और (यः) जो (विश्वदर्शतः) सब प्रकार के ज्ञानों को देने वाला है अर्थात् जिसको पीकर सब प्रकार की आँखें खुलती है, उसको पीकर (प्रजाम्, इषम्) प्रजा के सब ऐश्वर्य को (भक्षीमहि) हम भोगें ।

भावार्थः—जीव प्रार्थना करता है कि हे परमात्मन् ! मैं ब्रह्मविद्या के स्तन का पान करूं, जिस अमृत को पीकर पुरुष दिव्यदृष्टि हो जाता है और संसार के सब ऐश्वर्यों के भोगने योग्य बनता है ॥६॥

सप्तम मण्डल में ९६वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य सप्तनवतितमस्य सूक्तस्य १—१० वसिष्ठ ऋषिः ॥ १ इन्द्रः । २, ४–८ बृहस्पतिः । ३, ९ इन्द्रा-ब्रह्मणस्पती । १० इन्द्राबृहस्पती देवते ॥ छन्दः १ आर्षी त्रिष्टुप् । २, ४, ७ विराट् त्रिष्टुप् । ३, ५, ६, ८, ९, १० निचृत् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ प्रसङ्गसङ्गति से ब्रह्मणस्पति विद्या के पति परमात्मा का वर्णन करते हैं ॥

यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च ॥१॥

पदार्थः—(यत्र, यज्ञे) जिस यज्ञ में (देवयवः) देव=ईश्वर=परमात्मा को चाहने वाले (नरः) मनुष्य (मदन्ति) आनन्द को प्राप्त होते हैं और (नृषदने) जिस यज्ञ में (दिवः) द्युलोक से (पृथिव्याः) पृथिवी पर (गतम्) विद्वान् लोग विमानों द्वारा आते हैं, और जिस यज्ञ में (वयः) ब्रह्म के जिज्ञासु (प्रथमम्) सबसे पहले (मदाय) ब्रह्मानन्द के लिये आकर उपस्थित होते हैं, उस में (इन्द्राय) ["इन्दतीतीन्द्रः परमात्मा"] परमात्मा की (सवनानि) उपसनायें (सुन्वे) करूं ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जिज्ञासु जनो ! तुम उपासनारूप यज्ञों में परस्पर मिल कर उपासना करो और द्युलोक द्वारा विमानों पर आये हुए विद्वानों का आप भली भांति सत्कार करें। यहां जो "सुन्वे" उत्तम पुरुष का एक वचन देकर जीव की ओर से प्रार्थना कथन की गयी है यह शिक्षा का प्रकार है, अर्थात् जीव की ओर से यह परमात्मा का वचन है। यही प्रकार 'अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋक् १, १ १)' में परमात्मा की स्तुति करता हूं इत्यादि मन्त्रों में भी दर्शाया गया है। इससे यह संदेह सर्वथा निर्मूल है कि यह वाक्य जीवनिर्मित है, ईश्वरनिर्मित नहीं; क्योंकि उपासना प्रार्थना के विषय में सर्वत्र जीव की ओर से प्रार्थना बतलायी गयी है ॥१॥

आ दैव्यां वृणीमहेऽवांसि बृहस्पतिर्नो मह आ सखायः ।
यथा भवेम मीळ्हुषे अनागा यो नो दाता परावतः पितेव ॥२॥

पदार्थः—(सखायः) हे मित्र लोगो ! (बृहस्पतिः) ["बृहतां पतिः बृहस्पतिः" 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' (शतपथ कांड। ९-१०६) यहां बृहस्पति नाम ब्रह्म का है] (नः) वह परमात्मा हम लोगों की (दैव्या, अवांसि) रक्षा करें, हम लोग अपने यज्ञों में (आवृणीमहे) वरण करें अर्थात् उसको स्वामीरूप से स्वीकार करें (यथा) जिस प्रकार (मीळहुषे) विश्वम्भर के लिये (अनागाः) हम निर्दोष (भवेम) सिद्ध हों (यः) जो परमात्मा (नः) हमको (परावतः, पितेव) शत्रुओं से बचाने वाले पिता के समान (दाता) जीवनदाता है ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम उस बृहस्पति की उपासना करो जो तुम को सब विघ्नों से बचाता है, और पिता के समान रक्षा करता है। इस मन्त्र में बृहस्पति शब्द परमात्मा के लिए आया है जैसा कि 'शं नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः' (यजुः ३६, ९) इस मंत्र में बृहस्पति शब्द परमात्मा के अर्थ में है ॥२॥

तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ॥३॥

पदार्थः—(तम्, उ) उसी (ज्येष्ठम्) सबसे बड़े और (ब्रह्मणस्पतिम्) वेद के पति परमात्मा को (नमसा, गृणीषे) नम्रता से ग्रहण करता हूँ, [यहां उत्तम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग व्यत्यय से है] (इन्द्रं, महि) उस परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा को (दैव्यः श्लोकः) यह दिव्य स्तुति (सिसक्तु) सेवन करे (यः) जो (देवकृतस्य, ब्रह्मणः) ईश्वरकृत वेद का (राजा) प्रकाशक है, और वह परमात्मा (सुशेवम्) सब का उपास्यदेव है ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में इस बात का उपदेश किया गया है कि वेद-प्रकाशक परमात्मा ही एकमात्र पूजनीय है, उसको छोड़कर ईश्वरत्वेन और किसी की उपासना नहीं करनी चाहिए ॥३॥

स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठो बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति।
कामो रायः सुवीर्यस्य तं दात्पर्षन्नो अति सश्चतो अरिष्टान् ॥४॥

पदार्थः—(सः) वह परमात्मा (नः) हमारे (योनिम्) हृदय में (आ, सदतु) निवास करे (यः) जो परमात्मा (प्रेष्ठः) सबका प्रियतम (बृहस्पतिः) निखिल ब्रह्माण्डों का पति (विश्ववारः) सब का उपास्य देव (अस्ति) है, (सुवीर्यस्य) हमको जो ब्रह्मचर्यरूपी बल (रायः) और ऐश्वर्य की (कामः) इच्छा है (तम्) उसको (दात्) दे, और (सश्चतः) उपद्रवों में फंसे हुए (नः) हमको (अरिष्टान्) सुरक्षित करके (अति, पर्षत्) शत्रुओं से बचावे ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम उस परमदेव को अपने हृदयमन्दिर में स्थान दो जो सबका एकमात्र उपास्यदेव और इस निखिल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है ॥४॥

तमा नों अर्कममृताय जुष्टमिमे धासुरमृतासः पुराजाः ।

शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम ॥५॥

पदार्थः—(बृहस्पतिम्) सब का स्वामी (अनर्वाणम्) जो इन्द्रियअगोचर है (तं हुवेम) उसको हम ज्ञान द्वारा प्राप्त हों (शुचिक्रन्दम्) जिसके पवित्र स्तोत्र हैं (अर्कम्) जो स्वतःप्रकाश है (यजतम्) जो यजनार्ह है (अमृताय, जुष्टम्) जो अमृतमय है जिसको (अमृतासः) मुक्ति सुख के भजने वाले (पुराजाः) प्राचीन (इमे) इन देवों ने (पस्त्यानाम्, नः) गृहस्थ हम लोगों को (आधासुः) धारण कराया है ॥५॥

भावार्थः—जो परमात्मा स्वतःप्रकाश और जन्ममरणादि धर्मरहित है अर्थात् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है उसको हम अपने शुद्ध अन्तःकरण में धारण करें। तात्पर्य यह है कि जब मन मलविक्षेपादि दोषों से रहित हो जाता है तब उसे ब्रह्म की अवगति अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति होती है, और ब्रह्म-प्राप्ति के अर्थ यहां ज्ञान द्वारा प्राप्ति के हैं, देशान्तर प्राप्ति के नहीं। इस बात को भली भांति निम्नलिखित मन्त्र में वर्णन किया गया है ॥५॥

यह ब्रह्मप्राप्ति नीचे के मंत्र से निरूपण की जाती है ॥

तं शग्मासों अरुषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहों वहन्ति ।

सहश्चिद्यस्य नीळवत्सधस्थं नभो न रूपमरुषं वसानाः ॥६॥

पदार्थः—(तम्) उस (बृहस्पतिम्) परमात्मा को जो (सधस्थम्) जीव के अत्यन्त संनिहित है (नभः) और आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है (न, रूपम्) जिसका कोई रूप नहीं है उस (अरुषम्) सर्वव्यापक परमात्मा को (वसानाः) विषय करती हुई (शग्मासः) आनन्द को अनुभव करने वाली (अरुषासः) परमात्मपरायण (अश्वाः) शीघ्रगतिशील (सहवाहः) परमात्मा से जोड़ने वाली इन्द्रियवृत्तियां (वहन्ति) उस परमात्मा को प्राप्त कराती हैं, जो परमात्मा (सहः, चिद्) बलस्वरूप है और (यस्य, नीळवत्) जिसका नीड अर्थात् घोंसले के समान यह ब्रह्माण्ड है ॥६॥

भावार्थः—श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि साधनों से संस्कृत हुई अन्तःकरण की वृत्तियां उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म को प्राप्त कराती हैं जो सर्वव्यापक और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों से रहित है और कोटानुकोटि ब्रह्माण्ड जिस के एक देश में जीवों के घोंसलों के समान एक प्रकार की तुच्छ सत्ता से स्थिर हैं ॥६॥

स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्युर्हिरण्यवाशीरिषिरः स्वर्षाः ।
बृहस्पतिः स स्वावेश ऋष्वः पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः ॥७॥

पदार्थः—(सः, हि) वह परमात्मा निश्चय (शुचिः) शुद्ध है (शतपत्रः) सर्वशक्तिमान् है (सः) वह परमात्मा (शुन्ध्युः) सबको शुद्ध करनेवाला है (हिरण्यवाशीः) स्वर्णमयी वाणी वाला है["वाशीतिवाङ्नामसु पठितम्" (निघण्टौ १,११)](इषिरः) सर्वप्रिय (स्वर्षाः) आनन्द का दाता (बृहस्पतिः) कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों का पति (स्वावेशः) सर्वाधार (ऋष्वः) दर्शनीय है, इस प्रकार का परमात्मा (सखिभ्यः) अपने भक्तों =जिज्ञासुओं के लिए (पुरु) बहुत (आसुतिम्) ऐश्वर्य (करिष्ठः) करता है ॥७॥

भावार्थः—उक्तगुणसम्पन्न परमात्मा अपने भक्तों को, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों तापों को मिटा कर, अति ऐश्वर्य का प्रदान करता है ॥७॥

देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा ।
दक्षाय्याय दक्षता सखायः करद्ब्रह्मणे सुतरा सुगाधा ॥८॥

पदार्थः—(देवस्य) उक्त देव जो परमात्मा है उसकी (बृहस्पतिम्) महत्ता को (रोदसी, देवी) द्युलोक और पृथ्वी लोक रूपी दिव्यशक्तियाँ(वावृधतुः) बढ़ाती हैं। हे जिज्ञासु लोगो ! (महित्वा) उसके महत्त्व को (दक्षाय्याय) जो सर्वोपरि है उसको (सखायः) हे मित्र लोगो ! तुम भी (दक्षत) बढ़ाओ, और (ब्रह्मणे) जिस परमात्मा ने वेद को (सुतरां) इस भवसागर के तरने योग्य (सुगाधा) सुखपूर्वक अवगाहन करने योग्य (करत्) बनाया है ॥८॥

भावार्थः—इस मन्त्र में द्युलोक और पृथिवी लोक को बृहस्पति परमात्मा के द्योतक वर्णन किया है, अर्थात् पृथिव्यादि लोक उसकी सत्ता का बोधन करते हैं। यहां जनित्री के ये अर्थ हैं कि इसका आविर्भाव (प्रकट) करते हैं और ब्रह्म शब्द के अर्थ जो यहां सायणाचार्य ने अन्न के किये हैं वह सर्वदा वेदाशय के विरुद्ध हैं क्योंकि इसी सूक्त में ब्रह्मणस्पति शब्द में ब्रह्म के अर्थ वेद के आ चुके हैं, फिर यहां अन्न के अर्थ कैसे ? यूरोप देश निवासी मोक्षमूलर भट्ट, मिस्टर विलसन, और ग्रिफिथ साहब ने भी इस मन्त्र के अर्थ यही किये हैं कि द्युलोक और पृथिवी लोक ने बृहस्पति को पैदा किया, यह अर्थ वैदिक प्रक्रिया से सर्वथा विरुद्ध है ॥८॥

इसका खण्डन हम निम्नलिखित मन्त्र में करेंगे॥

इयं वां ब्रह्मणस्पते सुवृक्तिर्ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥९॥

पदार्थः—(ब्रह्मणस्पते) हे ईश्वर, (वां) तुम्हारी (इयम्) यह (सुवृक्तिः) दोष-रहित स्तुति जो कि (ब्रह्म, इन्द्राय) सर्वोपरि ऐश्वर्ययुक्त (वज्रिणे) ज्ञानस्वरूप आपके लिए (अकारि) की गयी है वह (अविष्टम्) हमारी रक्षक हो और (धियः, जिगृतं, पुरन्धीः) हमारी सब भावनाओं को स्वीकार करे। (अर्यः) परमात्मा (वनुषाम्) प्रार्थनायुक्त हम लोगों के (अरातीः) शत्रुओं को (जजस्तम्) नाश करें॥९॥

भावार्थः—इस मन्त्र में ब्रह्मणस्पति शब्द उसी वेदपति परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका वर्णन इस सूक्त के कई एक मन्त्रों में प्रथम भी आ चुका है।

ब्रह्मणस्पति के अर्थ वेद के पति के हैं अर्थात् आदिसृष्टि में ब्रह्मवेद-विद्या का दाता एक मात्र परमात्मा था इसी अभिप्राय से परमात्मा को (ब्रह्म) वेद का पति कथन किया गया है॥९॥

अब उक्त बृहस्पति परमात्मा की प्रार्थना द्वारा इस सूक्त का उपसंहार करते हैं

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥१०॥

पदार्थः—(बृहस्पते) हे सब के स्वामी परमेश्वर! (युवम्) आप (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यसम्पन्न हैं (च) और (दिव्यस्य, उत, पार्थिवस्य) द्युलोक और पृथ्वीलोक में होने वाले (वस्वः) रत्नों के (ईशाथे) ईश्वर अर्थात् देने वाले हैं, इससे (स्तुवते) स्तुति करने वाले अपने भक्त को (रयिम्) धन (धत्तम्) दीजिये, (चित्) और (यूयम्) आप (स्वस्तिभिः) मंगल वाणियों से (सदा) सर्वदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करें॥१०॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो! तुम उस बृहस्पति सर्वोपरि ब्रह्म की उपासना करो जिसने द्युलोक और पृथिवीलोक के सब ऐश्वर्य्यों को उत्पन्न किया है, और उसी से सब प्रकार के धन और ऐश्वर्यों की प्रार्थना करते हुए कहो कि हे परमात्मा! आप मंगल वाणियों से हमारी सदैव रक्षा करें॥१०॥

सप्तम मण्डल में ९७ वां सूक्त समाप्त हुआ॥

अथ सप्तर्चस्य अष्टनवतितमस्य सूक्तस्य वसिष्ठ ऋषिः ॥ १—६ इन्द्रः, ७ इन्द्राबृहस्पती देवते ॥ छन्दः—१, २, ६, ७ निचृत् त्रिष्टुप् ३ विराट्त्रिष्टुप् । ४, ५ त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब उक्त परमात्मा सर्वशक्तिरूप से वर्णन किया जाता है ॥

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् ।
गौराद्वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥१॥

पदार्थः—(अध्वर्यवः) हे ऋत्विग् ! आप लोग (क्षितीनां वृषभाय) जो इन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का स्वामी आनन्द की वृष्टि करने वाला परमात्मा है, उसकी (जुहोतन) उपासना करें, और (अरुणम्) आह्लादक पदार्थों से तथा (दुग्धम्) स्निग्ध-द्रव्यों से (अंशुम्) ओषधियों के खण्डों से हवन करें और (वेदीयान्) वेदीगत (गौरात्) शुभ्र पदार्थों का (अवपानम्) पान करें, ऐसा करने से (इन्द्रः) परमैश्वर्यवाला विद्वान् (विश्वाहा) सर्वदा (सुतसोमम्, इच्छन्) सुन्दर शील की इच्छा करता हुआ अपने उच्च लक्ष्य को (याति) प्राप्त होता है ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे ऋत्विग् लोगो ! आप निखिल संसार के पति परमात्मा की उपासना करो, और सुन्दर-सुन्दर पदार्थों से हवन करते हुए अपने स्वभाव को सौम्य बनाने की इच्छा करो । इस मन्त्र में परमात्मा ने सौम्य स्वभाव बनाने का उपदेश किया, अर्थात् जो विद्वान् शीलसम्पन्न होता है वही अपने लक्ष्य को प्राप्त होता है अन्य नहीं; इस भाव का यहां वर्णन किया गया है ॥१॥

यद्दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान्पाहि सोमान् ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे विद्वन् ! (यत्) जो तुम (दिवे, दिवे) प्रतिदिन (चारु, अन्नम्) श्रेष्ठ अन्न को धारण करते हो और (प्रदिवि) गतदिनों में भी तुमने श्रेष्ठ अन्न को ही धारण किया और (अस्य) सौम्य स्वभाव बनाने वाले सोम द्रव्य के (पीतिम्, इत्) पान को ही (वक्षि) चाहते हो (उत) और (हृदा) हृदय से (उत) और (मनसा) मन से (जुषाणः) परमात्मा का सेवन करते हुए और (उशन्) सबकी भलाई की इच्छा करते हुए तुम (प्रस्थितान्, पाहि, सोमान्) इन उपस्थित सोमपा लोगों को अपने उपदेशों द्वारा पवित्र करो ॥२॥

भावार्थः—केवल सोम द्रव्य के पीने से ही शील उत्तम स्वभाव नहीं

बन सकता, इस लिए यह कथन किया है कि हे विद्वन् ! आप सौम्य स्वभाव का उपदेश करके लोगों में शान्ति फैलावें ॥२॥

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे विद्वन्, (जज्ञानः) तुमने पैदा होते ही (सहसे) बल के लिये (सोमम्) सौम्य स्वभाव बनाने वाले सोमरस का (पपाथ) पान किया और (ते) तुम्हारी माता ने (महिमानम्, उवाच) परमात्मा के महत्त्व का तुम्हारे प्रति उपदेश किया । तुमने (उरु, अन्तरिक्षम्) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को (आपप्राथ) अपने विद्याबल से परिपूर्ण किया, तथा (देवेभ्यः) देवप्रकृतिवाले मनुष्यों के लिये (वरिवः) धनरूपी ऐश्वर्य (चकर्थ) उत्पन्न किया ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में इस बात का उपदेश किया गया है कि जो पुरुष प्रथम माता से शिक्षा उपलब्ध करता है तथा वैदिक संस्कारों द्वारा अपने स्वभाव को सुन्दर बनाता है वह सर्वोत्तम विद्वान् होकर इस संसार में अपने यश को फैलाता है और वेदानुयायी पुरुषों के ऐश्वर्य को बढ़ाता है ॥३॥

यद्योधया महतो मन्यमानान्त्साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान् ।
यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥४॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! (महतो, मन्यमानान्, योधयाः) युद्ध करनेवाले जो बड़े से बड़ा अपने को मानते हैं और (शाशदानान्) बड़े हिंसक हैं (तान्) उनको (बाहुभिः) हाथों से (साक्षाम) हनन करने में हम समर्थ हों, और (यत्, वा) अथवा (नृभिः) मनुष्यों करके (वृतः) आवृत हुआ (इन्द्र) युद्धविद्यावेत्ता विद्वान् (अभियुध्याः) हम से युद्ध करे (तम्) उस (सौश्रवसम्) बड़े प्रख्यात को (आजिम्) संग्राम में (त्वया) तुम्हारी सहायता से (जयेम) जीतें ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो पुरुष न्यायशील होकर अन्यायकारी शत्रुओं को दमन करने का बल मांगते हैं उनको मैं अनन्त बल देता हूं, ताकि वे अन्यायकारी हिंसकों का नाश कर संसार में धर्म और न्याय का राज्य फैलावें ॥४॥

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) विद्वान् के (प्रथमा, कृतानि) पहले किये हुए वीर्यकर्मों को तथा (या) जिन (नूतना) नवीन कर्मों को (मघवा) ऐश्वर्यसम्पन्न विद्वान् ने (प्र, चकार) किया उनको (प्र, वोचम्) वर्णन करते हैं, (यदा) जब इसने (अदेवीः, मायाः) आसुरी प्रकृति को (असहिष्ट, इत्) दृढ़रूप से सह लिया अर्थात् उसके वशीभूत न हुआ तब (केवलः, सोमः) केवल सोम अर्थात् शील (अस्य, अभवत्) इसका सहायक हुआ ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! जो पुरुष आसुरी माया के बन्धन में नहीं आता उसके बल और यश को सम्पूर्ण संसार वर्णन करता है और उसकी दृढ़ता और परमात्मपरायणता उसको आपत् समय में भी सहायता देती है । इसलिये तुम ऐसा व्रत धारण करो कि छल, कपट, दम्भ के कदापि वशीभूत न होओ । इस दृढ़ता के लिये मैं तुम्हारा सहायक होऊँगा ॥५॥

जिस परमात्मा की कृपा से पूर्वोक्त विद्वान् उक्त ऐश्वर्य को प्राप्त होता है, अब सूक्त की समाप्ति में उसका वर्णन करते हैं ॥

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥६॥

पदार्थः— हे परमात्मन् ! (तव, इदम्, विश्वम्) तुम्हारा जो यह संसार है यह (अभितः) सब ओर से (पशव्यम्) प्राणीमात्र का हितकर है, क्योंकि (यत् पश्यसि) आप इसके प्रकाशक हैं (चक्षसा) और अपने तेज से (सूर्यस्य) सूर्य्य के भी प्रकाशक हैं । (इन्द्र) ["इन्दतीतीन्द्रः, इदि परमैश्वर्ये"] हे परमात्मन्! तुम (एकः) अकेले ही (गवाम्, असि) सब विभूतियों के आधार हो और (गोपतिः) सब विभूतियों के पति हो । (ते) तुम्हारा (प्रयतस्य) दिया हुआ (वस्वः) ऐश्वर्य (भक्षीमहि) हम भोगें ॥६॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! आप सम्पूर्ण विश्व के प्रकाशक हैं और आपका यह संसार प्राणीमात्र के लिए सुखदायक है, जो कुछ हम इसमें दुःखदायक देखते हैं वह सब हमारे ही अज्ञान का फल है ॥६॥

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(बृहस्पते) हे सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामिन् ! (च) और (इन्द्र) हे परमैश्वर्ययुक्त परमात्मन् ! (युवम्) आप (दिव्यस्य, वस्वः) द्युलोक के ऐश्वर्य के (उत,

पार्थिवस्य) और पृथिवी के ऐश्वर्य के (ईशाथे) ईश्वर हो, हम आप से प्रार्थना करते हैं कि (स्तुवते, कीरये) अपने भक्त के लिये (रयिम्) धन को (धत्तम्) दें (चित्) और (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) मंगल वाणियों से (सदा) सर्वदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥७॥

भावार्थः—यहां परमात्मा में जो द्विवचन दिया है वह इन्द्र और बृहस्पति के भिन्न-भिन्न होने के अभिप्राय से नहीं, किन्तु उत्पत्ति और स्थिति इन दो शक्तियों के अभिप्राय से अर्थात् स्वामित्व और प्रकाशकत्व इन दो शक्तियों के अभिप्राय से है, व्यक्तिभेद के अभिप्राय से नहीं। इसी अभिप्राय से आगे जाकर यूयम् यह बहुवचन दिया। तात्पर्य्य यह है कि एक ही परमात्मा को यहां बृहस्पति और इन्द्र इन नामों से गुणभेद से वर्णन किया जैसा कि एक ही ब्रह्म का "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१) यहां सत्यादि नामों से एक ही वस्तु का ग्रहण है एवम् यहां भी भिन्न-भिन्न नामों से एक ही ब्रह्म का ग्रहण है, दो का नहीं ॥७॥

सप्तम मण्डल में ९८ वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्यैकोनशततमस्य सूक्तस्य १–७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १–३, ७ विष्णुः । ४–६ इन्द्रा विष्णू देवते ॥ छन्दः—१, ६ विराट् त्रिष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । ४, ५, ७, निचृत् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का ज्ञाता परमेश्वर ही है, यह बताते हैं ॥

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ॥१॥

पदार्थः—(मात्रया) प्रकृति के पञ्च तन्मात्रारूप (तन्वा) शरीर से (वृधानः) वृद्धि को प्राप्त (ते) तुम्हारी (महित्वम्) महिमा को हे (विष्णो) विभो ! (न) नहीं (अश्नुवन्ति) प्राप्त कर सकते; हे व्यापक परमात्मन् (ते) तुम्हारे (उभे) दोनों लोकों को हम (विद्म) जानते हैं जो (पृथिव्याः) पृथिवी से लेकर (रजसी) अन्तरिक्ष तक हैं। हे (देव) दिव्य शक्तिमन् परमात्मन् !(त्वं) तुम ही (अस्य) इस ब्रह्माण्ड के (परं) पार को (वित्से) जानते हो, अन्य नहीं ॥१॥

भावार्थः—जीव केवल प्रत्यक्ष से लोकों को जान सकता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का ज्ञाता एकमात्र परमात्मा है। तन्मात्रा कथन करना यहां प्रकृति के सूक्ष्म कार्य्यों का उपलक्षणमात्र है ॥१॥

न ते॑ विष्णो जाय॑मानो न जातो देव॑ महि॒म्नः पर॒मन्त॑माप ।

उद॑स्तभ्ना॒ नाक॑मृ॒ष्वं बृ॒हन्तं॑ दा॒धर्थ॒ प्राचीं॑ क॒कुभं॑ पृथि॒व्याः ॥२॥

पदार्थः—(विष्णो) हे व्यापक परमेश्वर, (ते) तुम्हारे (महिम्नः) महत्त्व के (परं, अन्तं) सीमा को, (जायमानः) वर्त्तमानकाल में (जातः) भूतकाल में भी ऐसा कोई (न) नहीं हुआ जो आपके अंत को, (आप) प्राप्त हो सका । आप ने (नाकं) द्युलोक को (उदस्तम्नाः) स्थिर रखा है और आप की (महत्त्वं, ऋष्यं) महिमा दर्श-नीय है तथा (बृहन्तं) सब से बड़ा है और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक की (प्राचीं, ककुभं) प्राच्यादि दिशाओं को आप (दाधर्थ) धारण किये हुए हैं ॥२॥

भावार्थः—भूत, भविष्य, वर्त्तमान तीनों कालों में किसी की शक्ति नहीं जो परमात्मा के महत्त्व को जान सके इसी कारण उसका नाम अनन्त है; जिसको "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २ । १ ।) इस वाक्य ने भी भली-भांति वर्णन किया है । उसी ब्रह्म का यहां विष्णु नाम से वर्णन है । केवल यहां ही नहीं किन्तु "य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा (ऋ. मं. १।१५४।४") में यह कहा है कि जिस एक अद्वैत अर्थात् असहाय परमात्मा ने सत्वरजस्तम इन तीनों गुणों के समुच्चयरूप प्रकृति को धारण किया हुआ है उस व्यापक ब्रह्म का नाम यहां विष्णु है । "विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचं (ऋ. मं. १। १५४।१) । तद् विष्णोःपरमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः (ऋ. मं. १।सू. २२।२०) । इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ. १।२२। १७।।) इत्यादि शतशः मन्त्रों में उस व्यापक विष्णु के स्वरूप को वर्णन किया है । फिर न जाने वेदों में आध्यात्मिकवाद की आशंका करने वाले किस आधार पर यह कहा करते हैं कि वेदों में एक ईश्वरवाद नहीं ॥२॥

इरा॑वती धेनु॒मती॒ हि भू॒तं सू॑यव॒सिनी॒ मनु॑षे दश॒स्या ।

व्य॑स्तभ्ना॒ रोद॑सी विष्णवे॒ते दा॒धर्थ॑ पृथि॒वीम॒भितो॑ म॒यूखैः॑ ॥३॥

पदार्थः—(विष्णो) हे व्यापक परमात्मन्, (पृथिवीमभितः) पृथिवी के चारों ओर से (मयूखैः) अपने तेजरूप किरणों से (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (दाधर्थ) आपने धारण किया हुआ है जो दोनों लोक (इरावती) ऐश्वर्य्य वाले (धेनु-मती) सब प्रकार मनोरथों को पूर्ण करने वाले (सुयवसिनी) सर्वोपरि सुन्दर (मनुषे) मनुष्य के लिये (दशस्या) ऐश्वर्य्य देने के लिये आपने उत्पन्न किये हैं (वि, अस्तम्नाः) उन दोनों को आप अपनी शक्ति से धारण कर रहे हो ॥३॥

भावार्थः—यहां द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों उपलक्षणमात्र हैं। वास्तव में परमात्मा ने सब लोक-लोकांतरों को ऐश्वर्य्य के लिए उत्पन्न किया है और इस ऐश्वर्य्य के अधिकारी सत्कर्म्मी पुरुष हैं। जो लोग कर्म्मयोगी हैं उनके लिये द्युलोक तथा पृथिवीलोक के सब मार्ग खुले हुए हैं।

परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे अधिकारी जनो, आप के लिये यह विस्तृत ब्रह्माण्डक्षेत्र खुला है। आप इस में कर्म्मयोग द्वारा अव्याहतगति अर्थात् विना रोक-टोक के सर्वत्र विचरें ॥३॥

उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ।
दासस्य चिद्वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु ॥४॥

पदार्थः—(उरुम्) इस विस्तृत (लोकम्) लोक को परमात्मा ने (यज्ञाय) यज्ञ के लिये (चक्रथुः) उत्पन्न किया है और उसी ने (सूर्य्यम् उषासमग्निं) उषा काल की ज्योतिवाले अग्निरूप सूर्य्य को (जनयन्ता) रचा है आप (पृतनाज्येषु) युद्धों में (दासस्य) कपटी लोगों को जो (वृषशिप्रस्य) दम्भ से काम लेते हैं उनके (मायाः) कपट को (जघ्नथुः) नाश करें। (नरा) हे नेता भगवन्! [नरा शब्द यहां नेता के अभिप्राय से आया है द्विवचन यहां व्यत्यय से अविवक्षित है] ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा प्रार्थनाकर्त्ताओं के द्वारा इसको प्रकट करते हैं कि न्यायाभिलाषी पुरुषो, तुम मायावी पुरुषों की माया के नाश करने के लिए प्रार्थनारूपी भाव को उत्पन्न करो, फिर यह सत्कर्म्म स्वयं प्रबल हो करके फल देगा ॥४॥

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ।
शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्राविष्णू) हे न्याय और वज्ररूप शक्ति वाले परमात्मन्, आप (दृंहिताः) दृढ़ से दृढ़ (शम्बरस्य) मेघ के समान फैले हुए शत्रु के (नवनवतिं) निन्यानवे (च) और उस (वर्चिनः) मायावी पुरुष के (शतं) सैंकड़ों (च) और (सहस्रं) हजारों (पुरः) दुर्गों को (श्नथिष्टं) नाश करें तथा (साकं) शीघ्र ही (अप्रत्यसुरस्य) उसके उभरने से प्रथम उसके (वीरान्) सैनिकों को (हथ) हनन करो ॥५॥

भावार्थः—मायावी शत्रु को दमन करने के लिए न्यायशील पुरुषों को परमात्मा उपदेश करते हैं कि तुम लोग अन्यायकारी शत्रुओं के सैंकड़ों हजारों दुर्गों से मत डरो क्योंकि (माया) अन्याय से जीतने की इच्छा करने वाला असुर स्वयं अपने पाप से आप मारा जाता है और उसके लिये आकाश

से वज्रपात होता है जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि "प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र" (मं. ७।१०४ मं. १९) हे परमात्मा, तुम अन्यायकारी मायावी के लिए आकाश से वज्रपात करो। इस प्रकार न्याय की रक्षा के लिए वीर पुरुषों के प्रति यहां परमात्मा का उपदेश है ॥५॥

इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती ।

ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र ॥६॥

पदार्थः—(बृहन्तोरुक्रमा) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्! (इयं) यह (मनीषा) बुद्धि (बृहती) जो न्याय की रक्षा के लिये सब से बड़ी है (तवसा) बल देकर (वर्धयन्ती) बढ़ाती है इस लिये (विष्णो) हे परमात्मन्! (वां) आपकी यह (स्तोमं) स्तुति हम (ररे) करते हैं ताकि (विदथेषु) यज्ञों और (वृजनेषु) युद्धों में, (इन्द्र) हे परमात्मन्! (इषः) हमारे ऐश्वर्य्य को आप (पिन्वतं) बढ़ाएं ॥६॥

भावार्थः—जो ऐश्वर्य्य के बढ़ाने वाली इस वाणी को सेवन करते हैं अर्थात् (ब्रह्मयज्ञ) ईश्वरोपासना (और वीरयज्ञ) अन्याय के दमन करने के लिए वीरता करना, इस प्रकार भक्तिभाव और वीरभाव इन दोनों का अनुष्ठान करते हैं वे सब प्रकार की विपत्तियों को नाश कर सकते हैं ॥६॥

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।

वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(शिपिविष्ट) हे तजोमय परमात्मन्! आप (हव्यं) हमारी प्रार्थना को (जुषस्व) स्वीकार करें जो (वषट्) बड़ी नम्रतापूर्वक की गई है। (विष्णो) हे व्यापक परमात्मन्! (ते) तुम्हारे (आस) समक्ष वे प्रार्थनाएं (आ, कृणोमि) करता हूँ और (मे) मेरी (गिरः) ये वाणियें (सुष्टुतयः) जिनमें भले प्रकार से आपका वर्णन किया गया है (त्वां) आपके यश को (वर्धन्तु) बढ़ाएं और (यूयं) आप (सदा) सदैव (स्वस्तिभिः) मङ्गल कार्यों से (पात) हमारी रक्षा करें ॥७॥

भावार्थः—शिपिनाम यहां तेजोरूप किरणों का है "शिपयो रश्मयः" (निरु० ५।८॥) अर्थात् ज्योतिःस्वरूप परमात्मा हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार करे और हमको सदैव उन्नति के मार्ग में ले जाय। यहां पहले (त्वां) एक वचन आकर भी (यूयं) फिर आदरार्थ बहुवचन है ॥७॥

सप्तम मण्डल में ९९वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य शततमस्य सूक्तस्य—१—७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ विष्णुर्देवता ॥ छन्दः १, २, ५, ६, ७ निचृत् त्रिष्टुप् । ३ विराट् त्रिष्टुप् । ४ आर्षी त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वर ॥

अब परमात्मा सुमति अर्थात् शुभ नीति का उपदेश करते हैं ॥

नू मर्तो॑ दयते सनि॒ष्यन्यो॒ विष्ण॑व उरुगा॒याय॒ दाश॑त् ।

प्र यः स॒त्राचा॒ मन॑सा॒ यजा॑त ए॒ताव॑न्तं॒ नर्य॑मा॒विवा॑सात् ॥१॥

पदार्थः—(यः) जो पुरुष (उरुगायाय) अत्यन्त भजनीय (विष्णवे) व्यापक परमात्मा की (सनिष्यन्) प्राप्ति के लिए इच्छा (दाशत्) करते हैं (नु) शीघ्र ही वे मनुष्य उसको (दयते) प्राप्त होते हैं। और जो (सत्राचा) शुद्ध मन से (यजात) उस परमात्मा की उपासना करता है वह (एतावन्तं, नर्यं) उक्त परमात्मा का जो सब प्राणिमात्र का हित करनेवाला है (आविवासात्) अवश्यमेव प्राप्त होता है ॥१॥

भावार्थः—परमात्मप्राप्ति के लिए सब से प्रथम जिज्ञासा अर्थात् प्रबल इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए । तदनन्तर जो पुरुष निष्कपट भाव से परमात्म-परायण होता है, उस पुरुष को परमात्मा का साक्षात्कार अर्थात् यथार्थज्ञान अवश्यमेव होता है ॥१॥

त्वं वि॑ष्णो सुम॒तिं वि॒श्वज॑न्या॒मप्र॑युतामेवयावो म॒तिं दाः॑ ।

पर्चो॒ यथा॑ नः सुवि॒तस्य॒ भूरे॒रश्वा॑वतः पुरुश्च॒न्द्रस्य॑ रा॒यः ॥२॥

पदार्थः—(एवयावः) हे सर्वकामनाप्रद (विष्णो) व्यापक परमेश्वर ! (त्वं) आप हमें (विश्वजन्यां) सब संसार का हित करनेवाली (अप्रयुताम्) दोषरहित (सुमतिं) नीति (दाः) दें । और (पुरुश्चन्द्रस्य) सब प्रकार के ऐश्वर्यों का (रायः) साधन जो धन है और (भूरेः, अश्वावतः) जिस में अनेक प्रकार की शक्तियें हैं और जो (सुवितस्य) सुविधा से प्राप्त हो सकता है (यथा) जिस प्रकार (पर्चः) उसकी प्राप्ति हो वैसी (नः) हमको आप बुद्धि दें ॥२॥

भावार्थः—शुभ नीति और सुनीति उसका नाम है जिससे संसार भर का कल्याण हो । इस मन्त्र में परमात्मा ने इस नीति के उत्पन्न करने के लिए जिज्ञासु द्वारा प्रार्थना कथन करके उपदेश किया है। वास्तव में शुभ नीति ही धर्म, देश और जाति की उन्नति का सर्वोपरि साधन है ॥२॥

त्रिर्दे॒वः पृ॑थि॒वीमे॒ष ए॒तां वि च॑क्रमे श॒तर्च॑सं महि॒त्वा ।

प्र विष्णु॑रस्तु त॒वस॒स्तवी॑यान्त्वे॒षं ह्य॑स्य॒ स्थवि॑रस्य॒ नाम॑ ॥३॥

पदार्थः—(देवः) दिव्यशक्तियुक्त उक्त परमात्मा (एतां) इस (पृथिवीं) पृथ्वी को (त्रिः) तीन प्रकार से (विचक्रमे) रचता है (शतर्चसं) जिस पृथ्वी में सैकड़ों प्रकार की (अर्चिः) ज्वालाएं हैं (महित्वा) जिसका बहुत विस्तार है और इस (स्थविरस्य) प्राचीन पुरुष का नाम इसीलिए (विष्णुः) विष्णु है क्योंकि (तवसः) यह तेरा स्वामी है, इसलिए इसका नाम विष्णु है अथवा यह सर्वव्यापक होने से सर्वस्वामी है, इसलिये इसका नाम विष्णु है ॥३॥

भावार्थः—तीन प्रकार से पृथ्वी को रचने के अर्थ ये हैं कि प्रकृति के सत्वादि गुणोंवाले परमाणुओं को परमात्मा ने तीन प्रकार से रखा, तामस भाववाले परमाणु पृथ्वी पाषाणादिरूप से, राजस नक्षत्रादिरूप से और दिव्य अर्थात् द्यु लोकस्थ पदार्थों को सात्विक भाव से, ये तीन प्रकार की गतियें हैं इसीका नाम 'त्रेधा निदधे पदम्' है। इसी भाव को "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" (मं० १।२२।१७।) में वर्णन किया है जो कई एक लोग इसके अर्थ ये करते हैं कि विष्णु ने वामनावतार को धारण करके तीन पैर से पृथ्वी को नापा। इसका उत्तर यह है कि इसी विष्णुसूक्त में "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" (मं० १।२२।२०) में इस पद को चक्षु की निराकार ज्योति के समान निराकार माना है ॥३॥

अब ईश्वर स्वयं कथन करते हैं कि विचक्रमे के अर्थ निर्माण अर्थात् रचने के हैं ॥

वि चंक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्रांय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।
ध्रुवासों अस्य कीरयो जनांस उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ॥४॥

पदार्थः—(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर ने (मनुषे) मनुष्य के (क्षेत्राय) अभ्युदय (दशस्यन्) देने के लिये (पृथिवीम्, एतां) इस पृथ्वी को (विचक्रमे) रचा जिससे (अस्य) इस परमात्मा के (कीरयः) कीर्त्तन करने वाले (जनासः) भक्त लोग (ध्रुवासः) दृढ़ हो गए क्योंकि (उरुक्षितिं) इस विस्तृत क्षेत्ररूप पृथ्वी को (सुजनिमा) सुन्दर प्रादुर्भाववाले ब्रह्माण्डपति परमात्मा ने (चकार) रचा है ॥४॥

भावार्थः—जिस पृथ्वी में (सुजनिमा) सुन्दर आविर्भाववाले प्राणिजात हैं उनका कर्त्ता जो परमात्मा है उसने इस सम्पूर्ण विश्व को रचा है। विष्णु के अर्थ यहां "यज्ञो वै विष्णुः" (श० प०) ॥ 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" (यजु० ३१-७) ॥ इत्यादि प्रमाणों से व्यापक परमात्मा के हैं। यही बात विष्णु सूक्तों में सर्वत्र पायी जाती है। इस भाव

को वेद ने अन्यत्र भी वर्णन किया है कि "द्यावाभूमी जनयन्देव एक:" (यजु०) एक परमात्मा ने सब लोक-लोकान्तरों को रचा है ॥४॥

अब निम्नलिखित मन्त्र में वेद स्वयं विष्णु के अर्थ ईश्वर के करते हैं ॥

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।

तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥५॥

पदार्थः—(शिपिविष्ट) हे तेजोमय परमात्मन्! ["शिपयो रश्मय:" (निरु० ५।८)] (यत्) जिस लिये (ते) तुम्हारा (अर्यः) अर्य यह नाम है, [ऋच्छति गच्छति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यर्य: जो सर्वव्यापक हो उसको अर्य कहते हैं] (तं, त्वा) ऐसे तुम्हारी (गृणामि) मैं स्तुति करता हूँ। तुम (तवसं) सर्वोपरि वृद्धियुक्त हो (अस्य) इस (रजसः) रजोगुणयुक्त ब्रह्माण्ड के (पराके) मध्य में (अतव्यान्) निरन्तर गमन करने वाले लोक-लोकान्तरों में भी आप (क्षयन्तं) निवास कर रहे हैं और सब प्रकार के (वयुनानि) ज्ञानों के (विद्वान्) आप जाननेवाले हैं। इसीलिये मैं आपकी (प्रशंसामि) प्रशंसा करता हूँ ॥५॥

भावार्थः—विष्णु, अर्य, व्यापक ये तीनों एक ही पदार्थ के नाम हैं। विष्णु को इस मन्त्र में अर्य कहा है और अर्य परमात्मा का मुख्य नाम है इस विषय में प्रमाण यह है कि "राष्ट्री । अर्य: । नियुत्वान् । इनइन इति-चत्वारीश्वरनामानि ।।" (निघं ३।२२।।) राष्ट्री, अर्य, नियुत्वान्, इनइन ये चारों ईश्वर के नाम हैं ॥५॥

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।

मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥६॥

पदार्थः—(विष्णो)हे व्यापक परमेश्वर! (किं ते) क्या तुम्हारा वह रूप कथन करने योग्य है जिसको तुम स्वयं (शिपिविष्टः अस्मि) कि मैं तेजोमय हूँ, यह अपनी वेदवाणी में कथन करते हो, अर्थात् वह स्वयं सिद्ध है; किसी के कथन की अपेक्षा नहीं रखता। और (यत्) जो (अन्यरूपः) दूसरा रूप (समिथे) संग्राम में (बभूथ) होता है (एतत्, वर्पः) इस रूप को (अस्मत्) हम से (मा) मत (अपगूहः) छिपा ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा स्वप्रकाश तेजोमय रूप सृष्टि की रचना और पालने से सबको प्रसिद्ध है अर्थात् उसकी विचित्र रचना से प्रत्येक सूक्ष्मदर्शी पुरुष जानता है कि यह विविध रचना किसी सर्वज्ञ तेजोमय परमात्मा के बिना कदापि नहीं हो सकती ॥६॥

वषंट्ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

पदार्थः—(शिपिविष्ट) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (तन्मे हव्यं) आप हमको ऐसा विश्वास दें जिससे हम सदैव आपके वशवर्त्ती बने रहें और आप हमारी भक्ति को (जुषस्व) सेवन करें (आस) आपके समक्ष हम (वषट्) श्रद्धा (कृणोमि) प्रकट करते हैं (मे) हमारी (गिरः, सुष्टुतयः) प्रार्थनारूप वाणियें (वर्धन्तु) आपके यश को फैलावें । (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) मंगलमय वाणियों से (पात) हमारी सदैव रक्षा करें ॥७॥

भावार्थः—इस छठे अध्याय के अन्त में प्रकाशरूप सर्वव्यापक परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि आप हमको अत्यन्त उन्नतिशील बनायें और सदैव हमारी रक्षा करें ॥७॥

सप्तम मण्डल में सौवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

—: ❀ :—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

अथ षडर्चस्य एकोत्तरशततमस्य सूक्तस्य १—६ वसिष्ठः कुमारो वाग्नेय-ऋषिः ॥ पर्जन्यो देवता ॥ छन्दः—१, ६ त्रिष्टुप् । २, ४, ५ विराट्त्रिष्टुप् । ३ निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

अब प्रसंगसंगति से ईश्वर की ऐश्वर्यवर्धक वर्षा ऋतु का वर्णन करते हैं ॥

तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन् गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति ॥१॥

पदार्थः—हे परमात्मन्! (तिस्रः, वाचः) ज्ञानप्रद, कर्मप्रद, उपासनाप्रद इन तीनों वाणियों को (प्रवद) कहिये (याः) जो वाणियें (ज्योतिः, अग्राः) अपने प्रकाश से सर्वोपरि हैं, और (एतत्, ऊधः) नभोमण्डलरूप इस स्तनमण्डल से (मधुदोघम्) अमृतरूपी ओषधियों को (दुह्रे) दुहती हैं, और (सः) वह पर्जन्य (वत्सं, कृण्वन्) विद्युत् को वत्स बनाता हुआ और (ओषधीनां, गर्भम्) नाना प्रकार की ओषधियों में गर्भ धारण करता हुआ (सद्यो, जातः) तत्काल उत्पन्न हुआ (वृषभः) [वर्षणाद्-वृषभः] मेघ (रोरवीति) अत्यन्त शब्द करता है ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार से परमात्मा ने यह उपदेश किया है कि विद्युत् शक्ति को वत्स और आकाशस्थ मेघमण्डल को ऊधस्थानी बनाकर ऋत्विजों को ऋचारूपी हस्तों द्वारा दोग्धा बनाया है, तात्पर्य यह है कि वर्षाऋतु में ऋत्विजों को उद्गाता आदिकों के उच्चस्वरों से वेद मन्त्रों को गायन करना चाहिये ताकि वृष्टि सुखप्रद और समय सुखप्रद प्रतीत हो ॥१॥

यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे।

स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत्त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्ट्य१स्मे ॥२॥

पदार्थः—(यः) जो ईश्वर (ओषधीनाम्) सम्पूर्ण ओषधियों को (यः) और जो (अपाम्) जलों को (वर्धनः) बढ़ाता है (यः, देवः) और जो दिव्य ईश्वर (विश्वस्य, जगतः, ईशे) सकल जगत् को ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाला है (सः) सो ईश्वर (त्रिधातु, शरणम्) विचित्र गृहों में (शर्म) सुख को (अस्मे) हमको (यंसत्) दे। और (त्रिवर्तु) तीनों ऋतुओं में (स्वभिष्टि, ज्योतिः) सुन्दर अभीष्ट ऐश्वर्य को दे ॥२॥

भावार्थः—जो परमात्मा उक्त वर्षादि ऋतुओं में ओषधियों को बढ़ाता है और जो सब ओषधियों में रसों का आविष्कार करने वाला है वह परमात्मा इस त्रिधातु शरीर में सुख दे और सब प्रकार के ऐश्वर्य्य प्राप्त कराये ॥२॥

अब पर्जन्य को धेनुरूप से वर्णन करते हैं॥

स्तरीरु त्वद्भवति सूत उ त्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः।

पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः ॥३॥

पदार्थः—(त्वत्) एक तो मेघ (स्तरीः) नवप्रसूता धेनु के समान (उ) निश्चय करके (भवति) होता है और (सूते) जल को वर्षाता है (त्वत्) अन्य (एषः) यह (यथाऽवशम्) स्वेच्छापूर्वक (तन्वम्) शरीर को (चक्रे) बना लेता है (पितुः) पितारूप

द्युलोक से (माता, पयः, प्रति, गृभ्णाति) मातारूप पृथिवी जल को ग्रहण करती है (तेन) और उससे (पिता, वर्धते) द्युलोक वृद्धि को प्राप्त होता है (तेन) और उससे (पुत्रः) प्राणिसंघरूप पुत्र भी बढ़ता है ॥३॥

भावार्थः—वर्षाऋतु में मेघ नवप्रसूता गौ के समान अपने दुग्धरूपी पयःपुञ्ज से संसार को परिपूर्ण कर देता है, वा यों कहो कि द्यु पिता और पृथिवी मातास्थानी बनकर वर्षाऋतु में नाना प्रकार की सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं और जो यहां पितास्थानी द्युलोक का बढ़ना कथन किया गया है वह उसके ऐश्वर्य के भाव से है कुछ आकार-वृद्धि के अभिप्राय से नहीं ॥३॥

यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।

त्रयः कोशास उपसेचनासो मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥४॥

पदार्थः—(यस्मिन्) जिस परमात्मा में (विश्वानि, भुवनानि) सम्पूर्ण भुवन (तस्थुः) स्थिर हैं; (तिस्रो, द्यावः) जिस में भूर्भुवः स्वः ये तीनों लोक स्थिर हैं; (त्रेधा, सस्रुः आपः) [आप्यते प्राप्यत इति अपः कर्म, अप इति कर्मनामसु पठितं निघण्टौ २, १ तस्यायमित्यापः] जिसमें तीन प्रकार से कर्म गति करते हैं, अर्थात् संचित, प्रारब्ध, और क्रियमाण; (त्रयः, कोशासः) जिस में ३ कोश हैं वह कोश कैसे हैं (उपसेचनासः) उपसिञ्चन करने वाले हैं, वह परमात्मा (मध्वः, श्चोतन्ति अभितः, विरप्शम्) सब प्रकार से आनन्द की वृष्टि करते हैं ॥४॥

भावार्थः—जिस परमात्मा में अन्नमय प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोशों वाले अनन्त जीव निवास करते हैं और निखिल ब्रह्माण्ड उसी में स्थिर हैं उसी परमात्मा की सत्ता से जीव संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीन प्रकार के कर्मों की वृष्टि करता है। वह परमात्मा मेघ के समान आनन्दों की वृष्टि करता है। इस मन्त्र में रूपकालंकार से परमात्मा को मेघवत् वृष्टिकर्ता वर्णन किया गया है ॥४॥

इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत ।

मयोभुवो वृष्टयः सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपाः ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (अस्मे) हमारे लिए (मयः, भुवः, वृष्टयः, सन्तु) वृष्टियें आनन्द के बरसाने वाली हों। (सुपिप्पलाः) और सुन्दर फलों वाली ओषधियें हों (देवगोपाः) और उनके विद्वान् लोग प्रयोग करने वाले हों (इदं, वचः) वह वाणी (पर्जन्याय, स्वराजे) स्वतन्त्र राजा जो प्रजा के ऊपर पर्जन्य की तरह वृष्टि करने वाला हो उसके प्रति कथन करनी चाहिये, और फिर यह कथन करना चाहिये, (हृदः,

अस्तु, अन्तरम्) तुम्हारे हृदयगत यह वाणी हो (तत् जुजोषत) और इस को सेवन करो ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे उद्गातादि लोगो! तुम लोग अपने सम्राट् के हृदय में इस बात को बलपूर्वक भर दो कि जिस प्रकार वृष्टिकर्त्ता मेघ हम पर वृष्टि करके नाना प्रकार की ओषधियें उत्पन्न करते हैं और जिस प्रकार परमात्मा इस संसार में आनन्द की वृष्टि करता है इसी प्रकार हे राजन्, आप अपनी प्रजा के लिए न्यायनियम से सुख की वृष्टिकर्त्ता हों ॥५॥

स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

पदार्थः—(सः) वह परमात्मा (रेतोधाः) प्रकृतिरूप बीज के धारण करने वाला है, (शश्वतीनाम्) अनन्त प्रजाओं में (वृषभः) [वर्षिता निरु. १, ८।] सुख की वृष्टि करने वाला है (तस्मिन्) उसी परमात्मा में (जगतः, तस्थुषः, च) स्थावर और जंगम संसार के सब जीव विराजमान हैं (तत्) वह ब्रह्म (शतशारदाय) सैकड़ों वर्षों तक (मा) हमारी (ऋतम्) सच्चाई की (पातु) रक्षा करे, हे परमात्मन्! (यूयम्) आप (स्वस्तिभिः) मंगल कार्यों द्वारा (सदा) सदैव (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥६॥

भावार्थः—जिस परमात्मा में चराचर सब जीव निवास करते हैं और जो प्रकृतिरूपी बीज धारण किये हुए हैं अर्थात् जिस से तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति और जीवरूप प्रकृति सदा भिन्न होकर विराजमान हैं उसी एकमात्र परमात्मा से अपने सदाचार और सत्यता की प्रार्थना करनी चाहिये ॥६॥

सप्तम मण्डल में १०१वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्र्यृचस्य द्व्युत्तरशततमस्य सूक्तस्य १—३ वसिष्ठः कुमारो वाग्नेय ऋषिः ॥ पर्जन्यो देवता ॥ छन्दः—१ याजुषी विराट् त्रिष्टुप् । २, ३ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अब श्लेषालंकार से परमात्मा और मेघ का वर्णन करते हैं ॥

पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे । स नो यवसमिच्छतु ॥१॥

पदार्थः—हे ऋत्विग् लोगो ! तुम (पर्जन्याय) तृप्तिजनक जो परमात्मा हैं उनका (प्र, गायत) गायन करो (सः, नः, यवसम्, इच्छतु) वह हमारे लिये ऐश्वर्य दे जो (दिवः पुत्राय) द्युस्थजनों को नरक से बचाता और (मीढ्हुषे) आनन्द को वर्षाता है ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम तृप्तिजनक वस्तुओं का वर्णन करो जिस से तुम में ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए उद्योग उत्पन्न हो ॥१॥

यो गर्भमोषधीनां गवां कृणोत्यर्वताम् । पर्जन्यः पुरुषीणाम् ॥२॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (ओषधीनाम्, गर्भम्) ओषधियों का उत्पत्ति-स्थान है और (अर्वताम्, गवाम्, कृणोति) गमनशील विद्युदादि पदार्थों को रचता है तथा (पुरुषीणाम्, पर्जन्यः) जो मनुष्यों की बुद्धियों का तृप्तिजनक है ॥२॥

भावार्थः—जिस सर्वतृप्तिकारक परमात्मा ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को रच कर ओषधियों को उत्पन्न किया और जिसने मनुष्यों की बुद्धि की तृप्ति करने के लिए अपने अनन्त ज्ञान को मनुष्यों के लिए दिया, उसकी उपासना प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिये ॥२॥

तस्मा इदास्ये हविर्जुहोता मधुमत्तमम् । इळां नः संयतं करत् ॥३॥

पदार्थः—(आस्ये) उस सर्वोपरि मुख्य परमात्मा में (मधुमत्तमं) अतिशय आह्लाद करने वाले (हविः) हवि को (जुहोत) हवन करो और (तस्मै, इत्) उसी से ही प्रार्थना करो कि वह (नः) हमको (इळां, संयतं) परिपूर्ण ऐश्वर्य (करत्) दें ॥३॥

भावार्थः—एक मात्र वही परमात्मा ऐश्वर्यों के लिए प्रार्थनीय है, अन्य नहीं ॥३॥

सप्तम मण्डल में १०२वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य त्र्युत्तरशततमस्य सूक्तस्य १—१० वसिष्ठः ऋषिः ॥ मण्डूका देवताः ॥ छन्दः—१ आर्षी अनुष्टुप् । २, ६, ७, ८, १० आर्षी त्रिष्टुप् । ३, ४ निचृत्त्रिष्टुप् । ५, ९ विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः १ गान्धारः । २—१० धैवतः ॥

अब श्लेषालंकार से ब्राह्मणों का देवव्रत और प्रावृषेण्यों का प्रावृट् को विभूषित करना कथन करते हैं ॥

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥१॥

पदार्थः—(ब्राह्मणाः) [ब्रह्मण इमे ब्राह्मणाः] ब्रह्म वेद के साथ सम्बन्ध रखने वाले (व्रतचारिणः) व्रती (संवत्सरं, शशयानाः) एक वर्ष के अनन्तर (पर्जन्यजिन्विताम्) तृप्तिकारक परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाली (वाचम्) वाणी को (प्रावादिषुः) बोलने लगे (मण्डूकाः) [वेदानां मण्डयितारः] वेदों का मण्डन करने वाले [मण्डयन्तीति मण्डूकाः] ॥१॥

भावार्थः—वृष्टिकाल में वेदपाठका व्रत करने वाले ब्राह्मण वेदपाठका व्रत करते हैं और उस समय में प्रायः उन सूक्तों को पढ़ते हैं जो तृप्तिजनक हैं। दूसरे पक्ष में इस मन्त्र का यह भी अर्थ है कि वर्षा ऋतु के मण्डन करने वाले जीव वर्षा ऋतु में ऐसी ध्वनि करते हैं मानो एक वर्ष के अनन्तर उन्होंने अपने मौनव्रत को उपार्जन करके इसी ऋतु में बोलना प्रारम्भ किया है। तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र में परमात्मा ने यह उपदेश किया है कि जिस प्रकार क्षुद्र जन्तु भी वर्षा काल में आह्लादजनक ध्वनि करते हैं अथवा यों कहो कि परमात्मा के यश को गायन करते हैं, एवं, हे वेदज्ञ लोगो ! तुम भी वेद का गायन करो। मालूम होता है कि श्रावणी का उत्सव जो भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र मनाते हैं वह वेदपाठ से ईश्वर के महत्त्वगायन का उत्सव था ॥१॥

दि॒व्या आपो॑ अ॒भि यदे॑नमाय॒न्दृतिं॒ न शुष्कं॑ सर॒सी शया॑नम् ।
गवा॒मह॒ न मा॒युर्व॒त्सिनी॑नां म॒ण्डूका॑नां व॒ग्नुरत्रा॒ समे॑ति ॥२॥

पदार्थः—(अत्र) इस वर्षा काल में (मण्डूकानाम्) वर्षाकाल को मण्डन करने वाले जीवों का (वग्नुः) शब्द (समेति) भली-भांति से वर्षा ऋतु को सुशोभित करता है (न) जैसे कि (वत्सिनीनाम्) प्रमारूपवृत्तियों के साथ मिली हुई (गवाम्) इन्द्रियों का (मायुः) ज्ञान यथार्थ होता है, और(न) जिस प्रकार (दृतिम्, शुष्कम्) सूखा हुआ जलपात्र फिर हरा-भरा हो जाता है इसी प्रकार (दिव्याः, आपः, यत्, एनम्) द्युलोक में होने वाले जल जब (अभि) चारों ओर से इस मण्डूकगण को (सरसी, शयानम्) सूखे तालाब में सोते हुए को (आयन्) प्राप्त होते हैं तो यह भी उस पात्र के समान फिर पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह बोधन किया है कि वर्षाकाल के साथ मेंडकादि जीवों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा इन्द्रियों का इन्द्रियों की वृत्तियों के साथ। जैसे इन्द्रियों की यथार्थ ज्ञानरूप प्रमादि वृत्तियें इन्द्रियों को मण्डन करती हैं इसी प्रकार ये वर्षाऋतु को मण्डन करते हैं।

दूसरी बात इस मन्त्र से यह स्पष्ट होती है कि मण्डूकादिकों का जन्म मैथुनी सृष्टि के समान मैथुन से नहीं होता, किन्तु प्रकृतिरूप बीज से ही वे फिर उत्पन्न हो जाते हैं। इससे अमैथुनी सृष्टि होने का नियम भी परमात्मा ने इस मन्त्र में दर्शा दिया ॥२॥

यदींमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत्तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम् ।
अख्खलीकृत्यां पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ॥३॥

पदार्थः—(यत्, ईम्) जब (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाऋतु के आने पर (तृष्यावतः, उशतः, एनान्) तृषा से जल को चाहने वाले इन जन्तुओं पर (अभि, अवर्षीत्) वृष्टि होती है तब (अख्खलीकृत्य) सुन्दर शब्दों को करते हुए (पितरम्, न, पुत्रः) जैसे पुत्र पिता के पास जाता है वैसे ही (अन्यः, अन्यम्, उपवदन्तम्, एति) शब्द करते हुए दूसरे के पास जाते हैं ॥३॥

भावार्थः—वर्षाऋतु में जीव ऐसे आनन्द से विचरते हैं और अपने भावों को अपनी चेष्टा तथा वाणियों से बोधन करते हुए पुत्रों के समान अपने वृद्ध पितरों के पास जाते हैं। इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलंकार से वर्षा के जीवों की चेष्टा का वर्णन किया है और इसमें यह भी शिक्षा दी है कि जैसे क्षुद्र जन्तु भी अपने वृद्धों के पास जाकर अपने भाव को प्रकट करते हैं इस प्रकार तुम भी अपने वृद्धों के पास जाकर अपने भावों को प्रकट करो ॥३॥

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमंदिषाताम् ।
मण्डूको यद्भिवृष्टः कनिष्कन्पृश्निः संपृंक्ते हरितेन वाचम् ॥४॥

पदार्थः—(यत्) जब (अपाम, प्रसर्गे) वृष्टि होती है तब (एनोः) इनमें से (अन्यः, मण्डूकः) एक जलजन्तु (अन्यम्, अनुगृभ्णाति) दूसरे के समीप जाकर बैठता है और (अमन्दिषाताम्) दोनों हर्षित होते हैं तथा (यत्) जब (अभिवृष्टः) यह अभिषिक्त होता है तब यह (पृश्निः, कनिष्कन्) चित्रवर्णवाला कूदता हुआ (हरितेन, वाचम, सम्पृंक्ते) दूसरे स्फूर्ति वाले के साथ वाणी को संयोजित करता है ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो ! तुम प्रकृतिसिद्ध वर्षा आदि ऋतुओं में नूतन-नूतन भावों को ग्रहण करनेवाले जल-जन्तुओं से शिक्षा लाभ करो कि वे जिस प्रकार हर्षित होकर उद्योगी बनते हैं, इसी प्रकार तुम भी उद्योगी बनो ॥४॥

यदे॑षाम॒न्यो अ॒न्यस्य॒ वाचं॑ शा॒क्तस्ये॑व॒ वद॑ति॒ शिक्ष॑माणः ।
सर्वं॑ त॒दे॑षां स॒मृधे॑व॒ पर्व॒ यत्सु॒वाचो॒ वद॑थ॒नाध्य॒प्सु ॥५॥

पदार्थः—(यत्) जो कि (अन्यः, शिक्षमाणः) एक शिक्षा पाने वाला जल-जन्तु (शाक्तस्य, इव) शक्तिमान् अर्थात् शिक्षा को पाये हुए की तरह दूसरे जलजन्तु के शब्द को सीख कर बोलता है वैसे ही (तत्, एषाम्) तब इनके शब्दों को (सर्वं, समृधा, इव, पर्वं) सम्पूर्ण अविकल अंगों वाले होकर (अधि, अप्सु) जलों के मध्य में (यत्, सुवाचः) जो सुन्दर वाणी है उसको (वदथन) बोलो ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जिस प्रकार जलजन्तु भी एक-दूसरे की चेष्टा से शिक्षालाभ करते हैं और एक ही प्रकार की भाषा सीखते हैं इस प्रकार तुम भी परस्पर शिक्षालाभ करते हुए एक प्रकार की भाषा से भाषण करो ॥५॥

उक्त वाणी के एकत्व को निम्नलिखित मन्त्र से भलीभांति वर्णन करते हैं ॥

गोमा॑युरेको॑ अ॒जमा॑युरेकः॒ पृश्नि॑रेको॒ हरि॑त॒ एक॑ एषाम् ।
स॒मा॒नं नाम॒ बिभ्र॑तो॒ विरू॑पाः पुरु॒त्रा वाचं॑ पिपिशु॒र्वद॑न्तः ॥६॥

पदार्थः—(एषाम्) इन जलजन्तुओं में (एकः, गोमायुः) एक तो गौ के समान स्वर से बोलता है और (एकः, अजमायुः) दूसरा कोई अजा के समान स्वर वाला है, और (पृश्निः, एकः) कोई-कोई विचित्र वर्णवाला और (एकः, हरितः) कोई हरित वर्ण का है, तथा (पुरुत्रा) बहुत से भेदवाले छोटे-बड़े (विरूपाः) अनेक रूप-वाले होकर भी (समानं, नाम, बिभ्रतः) एक नाम को धारण करते हुए (वाचम्, वदन्तः) और एक ही वाणी को बोलते हुए (पिपिशुः) प्रकट होते हैं ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जिस प्रकार जन्तु भी स्वर-भेद, आकारभेद और वर्णभेद रखते हुए जातिभेद और वाणीभेद नहीं रखते इस प्रकार हे मनुष्यो ! तुमको प्राकृत जन्तुओं से शिक्षा लेकर भी वाणी का एकत्व और जाति का एकत्व दृढ़ करना चाहिए। जो पुरुष वाणी के एकत्व को और जाति के एकत्व को दृढ़ नहीं रख सकता वह अपने मनुष्यत्व को भी नहीं रख सकता ॥३॥

इस भाव को अब प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं ॥

ब्रा॒ह्म॒णासो॑ अतिरा॒त्रे न सोमे॒ सरो॒ न पू॒र्णम॒भितो॒ वद॑न्तः ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तदहः॒ परि॑ ष्ठ॒ यन्म॑ण्डूकाः प्रावृ॒षीणं॑ ब॒भूव॑ ॥७॥

पदार्थः—(यत्, मण्डूकाः) जो कि मण्डूक भी (संवत्सरस्य, तत्, अहः) वर्ष के उपरान्त होनेवाले दिन में (प्रावृषीणम्, बभूव) जिस दिन कि प्रथम वर्षा होती है (पूर्णं, सरः, न, अभितः, वदन्तः) पूर्ण सर की कामना से चारों ओर बोलते हुए (परि, स्थ) इधर-उधर स्थित होते हैं इसी प्रकार (ब्राह्मणासः) हे ब्राह्मणो ! तुम भी (अतिरात्रे) रात्रि के अनन्तर ब्रह्ममुहूर्त्त में (सोमे, न) जिस समय सौम्यवृद्धि होती है उस समय वेदध्वनि मे परमेश्वर के यज्ञ को वर्णन करते हुए वर्षाऋतु के उत्सव को मनाओ ॥७॥

भावार्थः—उक्त मन्त्र में परमात्मा ने वर्षाकाल में वैदिकोत्सव के मनाने का उपदेश किया है कि हे मनुष्यो ! तुम वर्षाऋतु में प्रकृति के विचित्र दृश्य को देखकर वैदिक सूक्तों से उपासना करो और सोमादि यज्ञों द्वारा ब्रह्मोत्सवों को मनाओ । विचित्र बात है कि जिस जाति के धर्म पुस्तक में यह उपदेश था उस जाति में इस भाव को छोड़ कर अन्य सब प्रकार के उत्सव वर्षाऋतु में मनाये जाते हैं किन्तु वैदिकोत्सव कोई नहीं मनाया जाता, इससे हानिप्रद बात और क्या हो सकती है ॥७॥

ब्राह्मणासः॑ सोमिनो॒ वाच॑मक्रत॒ ब्रह्म॑ कृ॒ण्वन्तः॑ परिवत्स॒रीण॑म् ।
अ॒ध्व॒र्यवो॑ घ॒र्मिणः॑ सिष्विदा॒ना आ॒विर्भ॑वन्ति॒ गुह्या॒ न के चि॑त् ॥८॥

पदार्थः—(सोमिनः, ब्राह्मणासः) सौम्यचित्त वाले ब्राह्मण (परिवत्सरीणम्) वर्ष के उपरान्त (ब्रह्म, कृण्वन्तः) ब्रह्म के यश को प्रकाशित करते हुए (वाचम्, अक्रत) वेदवाणी का उच्चारण करते हैं । (केचित्, गुह्याः, अध्वर्यवः) कोई एकान्त स्थल में बैठे व्रत करते हुए ब्राह्मण (घर्मिणः सिस्विदानाः) उष्णता से सिक्तशरीर होकर भी (न, आविर्भवन्ति) बहिर्भूत नहीं होते ॥८॥

भावार्थः—वेदव्रती ब्राह्मण ब्रह्म के यश के गायन करने के लिए एकान्त स्थान में बैठें और वे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहते हुए तितिक्षु और तपस्वी बनकर अपने व्रत को पूर्ण करें ॥८॥

दे॒वहि॑तिं जुगुपुर्द्वाद॒शस्य॑ ऋ॒तुं नरो॒ न प्र मि॑नन्त्ये॒ते ।
सं॒व॒त्स॒रे प्रा॒वृष्याग॑तायां त॒प्ता घ॒र्मा अ॑श्नुवते विस॒र्गम् ॥९॥

पदार्थः—(एते, नरः) यह पूर्वोक्त ब्राह्मण (देवहितिं, द्वादशस्य, ऋतुम्) परमेश्वर से विधान की गयी द्वादश मास में होने वाली ऋतु की (जुगुपुः) रक्षा करें (न, प्रमिनन्ति) व्यर्थ न जाने दें (संवत्सरे) वर्ष के उपरान्त (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाकाल आने पर (तप्ताः, घर्माः) तपस्वी और तितिक्षु ब्राह्मण (विसर्गम्, अश्नुवते) व्रत धारण करते हैं ॥९॥

भावार्थः—वर्षाकाल में ब्राह्मण लोग तप करें अर्थात् संयमी बनकर वेदपाठ करें। यहां व्रत से उसी व्रत का विधान है जिसका "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" (यजु० १।५॥) इत्यादि मन्त्रों से वर्णन किया गया है। इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि वैदिक समय में ईश्वरार्चन केवल वैदिक सूक्तों के द्वारा ही किया जाता था अर्थात् जो सूक्त ईश्वर के यश को वर्णन करते हैं उनके पढ़ने का नाम ही उस समय ईश्वरार्चन था। जो ईश्वर के प्रतिनिधि बनाकर इस समय में मृण्मय देव पूजे जाते हैं, मालूम होता है उस समय भारतवर्ष में यह प्रथा न थी, हां इतना अवश्य हुआ कि जिन-जिन ऋतुओं में वैदिक यज्ञ होते थे वा प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर वर्षादि ऋतुओं में वैदिक उत्सव किये जाते थे उनके स्थान में अब अन्य प्रकार के उत्सव और पूजन होने लग पड़े। इस बात का प्रमाण निम्न-लिखित मन्त्र में दिया जाता है ॥९॥

गोमा॑युरदाद॒जमा॑युरदा॒त्पृश्नि॑रदा॒द्धरि॑तो नो॒ वसू॑नि।

गवां॑ म॒ण्डूका॒ दद॑तः श॒तानि॑ सहस्रसा॒वे प्र ति॑रन्त॒ आयुः॑ ॥१०॥

पदार्थः—(गोमायुः) सुन्दर शब्दों वाले वर्षाकालोद्भव जन्तु और (अजमायुः) प्रकृत्यनुसारी शब्दों वाले (पृश्निः) विचित्र वर्णों वाले (हरितः) हरित वर्णों वाले ये सब अपनी रचना से (नः) हमको (अदात्) शिक्षा दें। (गवां, मण्डूकाः) अपनी शिक्षा द्वारा विद्यारूपी चमत्कार को बढ़ाने वाले जीव (शतानि, ददतः) सैंकड़ों प्रकार की हमको शिक्षा दें और परमात्मा (वसूनि) ऐश्वर्य और (आयुः) आयु को (प्र, तिरन्ते) बढ़ावें और (सहस्रसावे) [सहस्राणि सहस्रप्रकारकाणि औषधानि सूयन्ते ऽस्मिन्निति सहस्रसावः वर्षाकालः श्रावणमासो वा] अनन्तप्रकार की औषधियें जिसमें उत्पन्न होती हैं उस वर्षाकाल वा श्रावणमास को सहस्रसाव कहते हैं। उस काल में परमात्मा हमको उक्तप्रकार के जीवों से अनन्तप्रकार का शिक्षालाभ कराये और हमारे ऐश्वर्य और आयु को बढ़ाये ॥१०॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो! तुम वर्षाकाल से अनन्त प्रकार की शिक्षा का लाभ करो और अपने ऐश्वर्य और आयु की वृद्धि की प्रार्थना करो, यद्यपि केवल प्रार्थना से ऐश्वर्य और आयुवृद्धि नहीं होती तथापि जिसके हृदय में आयुवृद्धि और ऐश्वर्यवृद्धि का भाव उत्पन्न होता है वह उसकी प्राप्ति के लिए यत्न अवश्य करता है। इस नियम के अनुसार परमात्मा ने जीवों को प्रार्थना का उपदेश, प्रधानरूप से दिया है, अस्तु॥१०॥

सप्तम मण्डल में १०३वां सूक्त समाप्त हुआ॥

अथ पञ्चविंशत्यृचस्य चतुरुत्तरशततमस्य सूक्तस्य १–२५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ देवताः १–७, १५, २५ इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ ८, १६, १९–२२, २४ इन्द्रः । ६, १२, १३ सोमः । १०, १४ अग्निः । ११ देवाः । १७–ग्रावाणः । १८ मरुतः । २३[१] वसिष्ठः । २३[२] पृथिव्यन्तरिक्षे ॥ छन्दः—१, ४, ६, ७ विराड्जगती । २ आर्षीजगती । ३, ५, १८, २१ निचृज्जगती । ८, १०, ११, १३, १४, १५, १७ निचृत्त्रिष्टुप् । ६ आर्षीत्रिष्टुप् । १२, १६ विराट् त्रिष्टुप् । १९, २०, २२ त्रिष्टुप् । १३ आर्ची भुरिग्जगती । २४ याजुषी विराट्त्रिष्टुप् । २५ पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—१–७, १८, २१, २३, निषादः । ८-१७, १९, २०, २२, २४—धैवतः । २५ गान्धारः ॥

अब इस मण्डल की समाप्ति करते हुए परमात्मा के दण्ड और न्याय का रक्षोघ्नसूक्त द्वारा वर्णन करते हैं ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑ ।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्रिणः॑ ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे दण्ड और न्यायरूप शक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! आप (रक्षः) [‘रक्ष्यते यस्मात्तद्रक्षः’ जिन अनाचारियों से न्यायनियमानुसार रक्षा की आवश्यकता पड़े उनका नाम यहां राक्षस है ।] राक्षसों को (तपतम्) तपाओ, दमन करो (उब्जतम्) मारो (न्यर्पयतम्) नीचता को प्राप्त करो । (वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करनेवाले परमात्मन् ! (तमोवृधः) जो माया से बढ़नेवाले हैं उनको (परा, शृणीत) चारों तरफ से नाश करो, (अचितः) जो ऐसे जड़ हैं, जो समझाने से भी नहीं समझते उनको (न्योषतम्) भस्मीभूत कर डालो (हतम्) नाश करो (नुदेथाम्) दूर करो, (अत्रिणः) जो अन्याय से भक्षण करनेवाले हैं उनको (नि, शिशीतम्) घटाओ ॥१॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! जो राक्षसी वृत्ति से प्रजा में अनाचार फैलाते हैं आप उनका नाश करें । यहां राक्षस कोई जातिविशेष नहीं किन्तु जिनसे प्रजा में शान्ति और न्यायनियम का भंग होता है उन्हीं का नाम यहां राक्षस है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा ने जीवों की प्रार्थना द्वारा इस बात को प्रकट किया है कि दुष्ट दस्युओं के नाश करने का भाव आप अपने हृदय में उत्पन्न किया करें, जब आपके शुद्ध हृदय में यह प्रबल प्रवाह उत्पन्न होगा तो पापपङ्करूपी दस्युदल उसमें अवश्य बह जायगा ॥१॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव ।

ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे दण्ड और न्यायरूप शक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! (अघशंसम्) जो पापमार्ग को अच्छा वतलाता है अथवा ईश्वराज्ञाविरुद्ध कामों की प्रशंसा करता है, (सम्, अघं) जो पापयुक्त है उसका (अभि) निरादर करो। (तपुः) जो दूसरों को दुःख देनेवाले हैं वह (ययस्तु) परिक्षीण हो जायें जैसे कि (चरुः, अग्निवान्, इव) चरु सामग्री अग्नि पर भस्मीभूत हो जाती है। (ब्रह्मद्विषे) जो वेद के द्वेषी हैं (क्रव्यादे) तथा जो हिंसक हैं (घोरचक्षसे) जो क्रूर प्रकृतिवाले हैं (किमीदिने) हर एक बात में शक करनेवाले हैं उनमें (अनवायम्, द्वेषो, धत्तम्) हमारा निरन्तर द्वेषभाव उत्पन्न कराइये ॥२॥

भावार्थः—जो लोग वेदद्वेषी और अघायु पुरुषों के दमन करने का भाव नहीं रखते वह परमात्मा का आज्ञा का यथावत् पालन नहीं कर सकते इसलिये परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम पापात्मा धर्मानुष्ठानविहीन धर्मद्वेषी पुरुषों से सदैव ग्लानि करो और जो केवल कुतर्कपरायण होकर अहर्निश धर्मनिन्दा में तत्पर रहते हैं उनको भी द्वेषबुद्धि से अपने से दूर करो।

तात्पर्य यह है कि वैदिक लोगों को चाहिए कि वे सत्कर्मी और धर्मरत पुरुषों का सन्मान करें, औरों का नहीं ॥२॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।

यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे उक्तशक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! (दुष्कृतः) जो वेदविरुद्ध कर्म करने वाले दुराचारी हैं उनको (वव्रे) महादुःखों से आवृत (अनारम्भणे) जिसमें कोई आलम्बन नहीं है ऐसे (तमसि,अन्तः) घोर नरक में (प्र, विध्यतम्) प्रविष्ट कर ऐसा ताड़न कीजिये (यथा) जिससे कि (अतः) इस यातना से (एकश्चन, पुनः, न, उदयत्) फिर एक भी दुष्कर्म न करे तथा (तत्) वह प्रसिद्ध (वाम्) आपका (मन्युमत्, शवः) मन्युयुक्त बल (सहसे, अस्तु) राक्षसों के नाश करने वाला हो ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा के मन्यु का वर्णन किया है जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि 'मन्युरसि मन्युम्मयि धेहि' कि आप मन्युस्वरूप हैं मुझे भी मन्यु प्रदान करें। मन्यु के अर्थ यहां परमात्मा की दमनरूप शक्ति

के हैं। जैसा कि 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ,—६।२) हे परमात्मन्! आपकी दमनरूप शक्ति से वज्र उठाये हुए के समान भय प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि दुष्टों के दमन के लिए परमात्मा भयरूप है इसी अभिप्राय से कहा है कि 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः' उसके दमनरूप शक्ति के नियम में आकर सब सूर्य चन्द्रादि भ्रमण करते हैं। इस भाव को इस सूक्त में वर्णन किया है ॥३॥

अब इस भाव को प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् ।
उत्तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे न्यायकारिन् परमात्मन्! (अघशंसाय) जो वेदविरुद्ध कर्मों की प्रशंसा तथा आचरण करता है उस राक्षस के लिये (दिवः) द्युलोक से तथा (पृथिव्याः) पृथ्वी से (तर्हणम्, वधम्) अतितीक्ष्ण शस्त्रों को (सं, वर्तयतम्) उत्पन्न करिये, (पर्वतेभ्यः) तथा आकाश में मेघों से बिजली के समान (स्वर्यम्, उत्तक्षतम्) उत्तापक शस्त्रों को उन्नत करिये (येन) जिससे (वावृधानम्) बढ़े हुए (रक्षः) राक्षस (निजूर्वथः) नष्ट हो जायें ॥४॥

भावार्थः—जिस प्रकार मेघों से बिजली उत्पन्न होकर पृथ्वीतल पर गिरती है इस प्रकार अन्यायकारी शत्रुओं के लिए परमात्मा अनेकविधि अस्त्र-शस्त्रों को उत्पन्न करके उनका हनन करता है ॥४॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः ।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे न्यायकारी परमात्मन्! (युवम्) आप (अग्नितप्तेभिः) अग्नि से तपाये हुए (तपुर्वधेभिः) तापों के नाशने वाले (अजरेभिः) जोकि बड़े दृढ़ हैं ऐसे (अश्महन्मभिः) वज्रों से (दिवस्परि) अन्तरिक्षस्थल से (वर्तयतम्) शत्रुओं को आच्छादन करो और (अत्रिणः) अन्याय से भक्षण करने वालों को (पर्शाने) दोनों ओर से घेर कर (निविध्यतम्) ऐसी ताड़ना करो जिससे कि (निस्वरम्) शब्दहीन होकर (यन्तु) भाग जायें ॥५॥

भावार्थः—भाव यह है कि परमात्मा अन्यायकारी दुष्टों के दमन करने के अनेक प्रकार कथन करते हैं ॥५॥

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीव जिन्वतम् ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे परमात्मा, (इयं, मतिः) इस मेरी प्रार्थना से (वाम्) आप (विश्वतः) सब शत्रुओं को (परिभूतु) वश में लाकर सुमार्ग की ओर प्रेरणा करें जिस प्रकार (कक्ष्या) कक्षबन्धनी रज्जु (वाजिना, अश्वा, इव) बलयुक्त अश्वों को वश में लाकर इष्ट मार्ग में ले आने के योग्य बनाती है। (यां वाचम्) जिस वाणी से (वां) आप को (मेधया) अपनी बुद्धि के अनुसार (परिहिनोमि) मैं प्रेरित करता हूँ (इमा, ब्रह्माणि) यह स्तुतिरूप वाणी (नृपती, इव) जिस प्रकार राजभक्त प्रजा की वाणी राजा को प्रसन्न करती है उसी प्रकार (जिन्वतम्) आपको प्रसन्न करे ॥६॥

भावार्थः—मन्त्र में "इमा ब्रह्माणि" के अर्थ वैदिक वाणियों के हैं। जिस प्रकार वेद की वाणियें राजा को कर्म में और अपने स्वधर्म में प्रेरणा देती हैं वा यों कहो कि जिस प्रकार प्रजा की प्रार्थनायें राजा को दुष्ट-दमन के लिए उद्यत करती हैं इसी प्रकार आप हमारी प्रार्थनाओं से दुष्ट दस्युओं का दमन करके प्रजा में शान्ति का राज्य फैलावें ॥६॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो नः कदा चिदभिदासति द्रुहा ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्रसोमा) हे विद्युच्छक्तिप्रधान और सौम्यस्वभावप्रधान अर्थात् दण्डशक्ति और सौम्यस्वभावप्रधान परमात्मन् ! आप (दुष्कृते) दुष्कर्मी पुरुष के लिए (मा, सुगम, भूत्) सुखकारी मत हों और जो (नः) हम सदाचारी पुरुषों के काम में (कदाचित्) कभी (द्रुहा) दुष्टता से (अभिदासति) बाधा डालता है, (भंगुरावतः) जो क्रूर तथा (द्रुहः) दुष्ट कर्म करनेवाले जो (रक्षसः) राक्षस हैं उनको (तुजयद्भिः) जो कि अतिपीड़ा देने वाले हैं (एवैः) ऐसी शक्तियों से (हतम्) नाश करें। आप इस प्रार्थना को (प्रति स्मरेथाम्) स्वीकार करें ॥७॥

भावार्थः—दुष्टाचारी अन्यायकारियों के प्रति दण्ड देने का विधान इस मन्त्र में किया गया है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष क्रूरप्रकृति हैं वह यथायोग्य दण्ड के अधिकारी होते हैं, क्षमा के नहीं ॥७॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना सङ्गृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे विद्युद्शक्तिप्रधान परमात्मन् ! (पाकेन) शुद्ध (मनसा) मनसे (चरन्तम्) आचरण करते हुए (मा) मुझको (यः) जो (अनृतेभिः, वचोभिः) झूठ बोल कर (अभिचष्टे) दूषित करता है वह (काशिना, संगृभीताः) मुट्ठी में भरे हुए (आपः, इव) जल के समान (असन्, अस्तु) असत् हो जाय क्योंकि वह (असतः, वक्ता) झूठ का बोलने वाला है ॥८॥

भावार्थः—इस मन्त्र में शुद्ध मन से आचरण करने की अत्यन्त प्रशंसा की है कि जो पुरुष कायिक, वाचिक और मानस तीनों प्रकार से शुद्धभाव और सत्यवादी रहते हैं उनके सामने कोई असत्यवादी ठहर नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी सच्चाई पर सदा दृढ़ रहना चाहिये ॥८॥

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभि॑ः ।
अह॑ये वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑ ॥९॥

पदार्थः—(ये, पाकशंसं, विहरन्ते) जो राक्षस अर्थात् अन्यायकारी लोग सच्चे धर्म की प्रशंसा करने वाले पुरुष को आक्षिप्त-दूषित करते हैं (एवैः) ऐसे ही कामों से (ये, वा) जो पुरुष (स्वधाभिः) अपने साहसरूपबल से (भद्रम्) भद्र पुरुष को (दूषयन्ति) दूषित करते हैं (तान्) उनको (सोमः) परमात्मा (अहये) हिंसकों को (प्रददातु) दे (वा) यद्वा (निर्ऋतेः, उपस्थे) असत्यवादियों की संगति में (आदधातु) रक्खे ॥९॥

भावार्थः—जो लोग अपने साहस से सद्धर्मपरायण पुरुषों को दूषित करते हैं उनको परमात्मा हिंसकों के वशीभूत करता है अथवा पापात्मा पुरुषों के मध्य में फेंक देता है, जिससे वे स्वयं पापी बन कर अपने कर्मों से आप ही नष्ट भ्रष्ट हो जायें। इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि परमात्मा उसे दण्ड देने के अभिप्राय से पापात्मा पुरुषों के वशीभूत करता है ताकि वे दण्ड भोग कर स्वयं शुद्ध हो जायें। परमात्मा को सबका सुधार करना अपेक्षित है। नाश करना इस अभिप्राय से कहा गया है कि परमात्मा उसके कुकर्म और कुवृत्तियों का नाश करता है, आत्मनाश नहीं ॥९॥

यो नो॒ रसं॒ दिप्स॑ति पि॒त्वो अ॑ग्ने॒ यो अश्वा॑नां॒ यो गवां॒ यस्त॒नूना॑म् ।
रि॒पुः स्ते॒नः स्ते॑य॒कृद्द॒भ्रमे॑तु॒ नि ष ही॑यतां त॒न्वा॒३ तना॑ च ॥१०॥

पदार्थः—(अग्ने) हे तेजःस्वरूप परमात्मन् ! (यः) जो राक्षस (नः) हमारे (पित्वः) अन्न के (रसम्) रसको (दिप्सति) नष्ट करना चाहता है और (यः) जो

(अश्वानाम्) घोड़ों के तथा (यः, गवाम्) जो गौओं के तथा (यः तनूनाम्) जो हमारे शरीर के रस अर्थात् बल को नष्ट करना चाहता है वह (रिपुः) अहिताभिलाषी (स्तेनः) चोर तथा (स्तेयकृत्) छिप कर हानि करने वाला (दभ्रम्, एतु) नाश को प्राप्त हो (सः) और वह दुष्ट (तन्वा) अपने शरीर से तथा (तना) दुष्कर्मी सन्तानों से (नि, हीयताम्) नष्ट हो जाये ॥१०॥

भावार्थः—हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आप ऐसे राक्षसों को सदैव नाश को प्राप्त करें जो धर्मचारी पुरुषों के बल वीर्य और ऐश्वर्य को छिप कर वा चोरी वा किसी कुनीति से नाश करते हैं ॥१०॥

परः सो अस्तु तन्वा॑३ तना॑ च तिस्रः पृ॑थिवीर॒धो अ॑स्तु विश्वाः ।
प्रति॑ शुष्यतु॒ यशो॑ अस्य दे॒वा यो नो॒ दिवा॒ दिप्स॑ति॒ यश्च॒ नक्त॑म् ॥११॥

पदार्थः—(सः) वह अन्यायकारी पुरुष (तन्वा) शरीर से (तना) सन्तानों से (परः, अस्तु) हीन हो जाय (च) और (तिस्रः पृथिवीः) तीनों लोकों से (अधः, अस्तु) नीचे हो जावे और (देवाः) हे भगवन् ! (अस्य, यशः) इसका यश (विश्वाः, प्रतिशुष्यतु) सब प्रकार से नष्ट हो जाय (यः) जो राक्षस (नः) सदाचारी हम लोगों को (दिवा) प्रत्यक्ष (नक्तम्) तथा अप्रत्यक्ष में (दिप्सति) हानि पहुँचाता है ॥११॥

भावार्थः—जो लोग सदाचारी लोगों को दुःख पहुंचाते हैं वे तीनों लोकों से अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल के सुखों से वञ्चित हो जाते हैं। वा यों कहो कि भूतकाल में उनका ऐतिहासिक यश नष्ट हो जाता है और वर्तमान काल में अशान्ति उत्पन्न होकर उनके शान्त्यादि सुख नाश को प्राप्त हो जाते हैं और भविष्य में उनका अभ्युदय नहीं होता; इस प्रकार वे तीनों लोकों से परे हो जाते हैं अर्थात् वञ्चित रहते हैं ॥११॥

वास्तव में कौन सत्यवादी और असत्यवादी है अब इसका निर्णय करते हैं ॥

सु॒वि॒ज्ञा॒नं चि॑कितु॒षे जना॑य॒ सच्चास॑च्च॒ वच॑सी पस्पृधाते ।
तयो॒र्यत्स॒त्यं य॑त॒रदृजी॑य॒स्तदित्सोमो॑ऽवति॒ हन्त्यास॑त् ॥१२॥

पदार्थः—(सत, च) जो सच्चे तथा (असत, च) जो झूठे (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर विरुद्ध कहे जाते हैं उनको (चिकितुषे, जनाय) विद्वान् लोग (सुविज्ञानम्) सहज में ही समझ सकते हैं (तयोः,यत् सत्यम्) उन दोनों में जो सत्य है तथा (यतरत्) जो (ऋजीयः) सरल अर्थात् सीधे स्वभाव से कहा गया है (तत्, इत्) उसी की (सोमः) परमात्मा (अवति) रक्षा करता है और (असत्, हन्ति) जो कपट भाव से कहा गया झूठा वचन है उसका त्याग करता है ॥१२॥

भावार्थः—तात्पर्य यह है कि अपनी ओर से वे देव और असुर दोनों ही सत्यवादी बन सकते हैं अर्थात् देवता कहेगा कि मैं सत्यवादी हूं और असुर कहेगा कि मैं सत्यवादी हूं परन्तु यह बात वास्तव में ठीक नहीं, क्यों कि विद्वान् इसका निर्णय कर सकता है कि अमुक सत्यवादी और अमुक असत्यवादी है। सत्य भी दो प्रकार का होता है जैसा कि "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत"। (ऋग् १०। १९०। १॥)

इस मन्त्र में वर्णन किया है अर्थात् वाणी के सत्य को ऋत कहते हैं और भाविक सत्य को अर्थात् वस्तुगत सत्य को सत्य कहते हैं। देवता वे लोग कहलाते हैं जो वाणीगत सत्य तथा वस्तुगत सत्य के बोलने और माननेवाले होते हैं अर्थात् सत्यवादी और सत्यमानी लोगों का नाम वैदिक परिभाषा में देव और सदाचारी है; इनसे विपरीत असत्यवादी असत्यमानी लोगों का नाम असुर और राक्षस है ॥१२॥

न वा उ सोमो॑ वृजि॒नं हि॑नोति॒ न क्ष॒त्रियं॑ मिथु॒या धा॒रय॑न्तम् ।

हन्ति॒ रक्षो॒ हन्त्यास॒द्वद॑न्तमु॒भावि॑न्द्र॒स्य प्रसि॑तौ शयाते ॥१३॥

पदार्थः—(सोमः) परमात्मा (वृजिनम्) पापी को (न, वा, उ) उतना नहीं (हिनोति) दण्ड देता है तथा (मिथुया, धारयन्तम् क्षत्रियम्) व्यर्थ साहस रखने वाले क्षत्रिय को भी उतना नहीं दण्ड देता जितना कि (रक्षः, हन्ति) राक्षसों को (तथा (असत्, वदन्तम् हन्ति) झूठ बोलने वाले को नष्ट करता है; (उभौ) ये दोनों (इन्द्रस्य, प्रसितौ) इन्द्र=उस ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा के बन्धन में (शयाते) बंधकर दुःख पाते हैं ॥१३॥

भावार्थः—पापी पुरुष पाप से पश्चात्ताप करने पर अथवा ईश्वर के सम्बन्ध में सन्ध्यावन्दनादि कर्मों के समय पर न करने से प्रत्यवायरूपी दोषों से मुक्त भी हो सकता है; एवम् साहसी क्षत्रिय प्रजारक्षा के भाव से छोड़ा जा सकता है, पर राक्षस=अन्यायकारी, असत्यवादी=मिथ्याभाव प्रचार करने वाला और मिथ्या आचार करने वाला पाप से कदापि निर्मुक्त नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा में दया और न्याय दोनों हैं, दया केवल उन्हीं पर करता है जो दया के पात्र हैं या यों कहो कि जिन के पाप आत्मा वा परमात्मा सम्बन्धी हैं और जो लोग दूसरों की वञ्चना करते हैं वे अन्याय करते हैं उनको परमात्मा कदापि क्षमा नहीं करता अर्थात् यथायोग्य दण्ड देता है, इस प्रकार परमात्मा न्यायशील है ॥१३॥

अब जीव के शपथरूप से ईश्वर के आगे अनन्य-
भक्ति का कथन किया जाता है ॥

यदि॑ वा॒हम॑नृ॑तदे॑व आस॒ मोघं॑ वा दे॒वाँ अ॑प्यू॒हे अ॑ग्ने ।
किम॒स्मभ्यं॑ जातवेदो हृणीषे द्रो॒घवाच॑स्ते निर्ऋ॒थं स॑चन्ताम् ॥१४॥

पदार्थः—(यदि वा) यदि मैं (अनृतदेवः) झूठे देवों के माननेवाला (आस) हूं अथवा (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (मोघं) वा मिथ्या (देवान्) देवताओं की (अप्यूहे) कल्पना करता हूं तभी निस्सन्देह अपराधी हूं; जब ऐसा नहीं तो (किमस्मभ्यं) हमको क्यों (जातवेदः) हे सर्वव्यापक परमात्मन्, आप (हृणीषे) हमारे विपरीत हैं (द्रोघवाचः) मिथ्यावादी और मिथ्या देवताओं के पूजने वाले (ते) तुम्हारे (निर्ऋथं) दण्ड को (सचन्ताम्) सेवन करें ॥१४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में प्रार्थना के भाव से मिथ्या देवों की उपासना का निषेध किया है अर्थात् ईश्वर से भिन्न किसी अन्य देव की उपासना का यहां बलपूर्वक निषेध किया है, और जो लोग भिन्न-भिन्न देवताओं के पुजारी हैं उनको राक्षस वा ईश्वर के दण्ड के पात्र बतलाया है।

तात्पर्य यह है कि एक ईश्वर को छोड़ कर अन्य किसी की पूजा ईश्वरत्वेन कदापि नहीं करनी चाहिये, इस भाव का उपदेश इस मन्त्र में किया है ॥१४॥

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य ।
अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑ ॥१५॥

पदार्थः—(अद्य) आजही (मुरीय) मृत्यु को प्राप्त होऊं (यदि) यदि मैं (यातुधानः) दण्ड का भागी (अस्मि) होऊं (यदि वा) अथवा (पूरुषस्य) पुरुष की (आयुः, ततप) आयु को तपाने वाला होऊं (अध) तब (वीरैः दशभिः) दश वीर सन्तान से (वियूयाः) वियुक्त वह पुरुष हो (यः) जो (मा) मुझे (मोघं) वृथा ही (यातुधानेति) तू यातुधान है ऐसा (आह) कहता है ॥१५॥

भावार्थः—इस मन्त्र से पूर्व के मन्त्र में मिथ्या देवों के पुजारियों को (यातुधाना) राक्षस वा दण्ड के भागी कथन किया गया है; उसी प्रकरण में वेदानुयायी आस्तिक पुरुष शपथ खाकर कहता है कि यदि मैं भी ऐसा हूं तो मेरा जीना सर्वथा निष्फल है—इससे मर जाना भला है। इस मन्त्र में परमात्मा ने इस बात की शिक्षा दी है कि जो पुरुष संसार का उपकार नहीं

करता और सच्चे विश्वास से संसार में आस्तिकभाव का प्रचार नहीं करता उसका जीना पृथ्वी के लिये एकमात्र भार है; उससे कोई लौकिक वा पारलौकिक उपकार नहीं ॥१५॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥१६॥

पदार्थः—(यः) जो राक्षस (मा) मुझको (अयातुं) अदण्डच को (यातुधानेत्याह) राक्षस कहता है (वा) और (यः) जो (रक्षाः) राक्षस होकर (शुचिरस्मि) मैं पवित्र हूं ! (इत्याह) ऐसा कहता है, (इन्द्रः) परमात्मा (तं) उस साधु को असाधु कहने वाले को और अपने आप को असाधु होकर साधु कहने वाले को (महता, वधेन) तीक्ष्ण शस्त्र से (हन्तु) नष्ट करे; (विश्वस्य) संसार के ऐसे (जन्तोः) जन्तुओं से जो (अधमः) अधम है परमात्मा उसका (पदीष्ट) नाश करे ॥१६॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो ! तुम में से जो पुरुष सदाचारियों को मिथ्या ही दूषित करते हैं और स्वयं दम्भी बनकर सदाचारी, सत्यवादी और सत्यमानी बनते हैं न्यायकारी राजाओं का काम है कि ऐसे पुरुषों को यथायोग्य दण्ड दें ॥१६॥

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं१ गूहमाना ।
वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥१७॥

पदार्थः—(या) जो कोई राक्षसी वृत्ति वाली स्त्री (जिगाति) रात-दिन भ्रमण करती है (खर्गलेव) निशाचर जीवों के समान (तन्वं) अपने शरीर को (गूहमाना) छिपाए रहती है वह (वव्रान्, अनन्तान्) अनन्त अधोगतियों को (अव, सा, पदीष्ट) प्राप्त हो और (ग्रावाणः) वज्र उसको (उपब्दैः) शब्दायमान होकर (घ्नन्तु) नाश करें, क्योंकि (रक्षसः) वह भी राक्षसों से सम्बन्ध रखती है ॥१७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में राजधानी की रक्षा के लिए इस बात का उपदेश किया गया है कि जो स्त्री गुप्तचरी होकर रात को विचरती है और अपना भेद किसी को नहीं देती अथवा स्त्रियों के आचरण बिगाड़ने के लिए ऐसा रूप धारण करती है उसको भी राक्षसों की श्रेणी में गिनना चाहिये; उसको राजा यथायोग्य दण्ड दे ॥१७॥

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वि१च्छतं गृभायतं रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वी पतयंति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥१८॥

पदार्थः—(मरुतः) हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी पुरुषो! आप (विक्षु) प्रजाओं में (वितिष्ठध्वं) विशेषरूप से स्थिर हों और (रक्षसः) राक्षसों के पकड़ने की (इच्छत) इच्छा करें और (गृभायत) पकड़ कर (सं, पिनष्टन) भली-भांति नाश करें। (ये) जो राक्षस (वयः) पक्षियों के (भूत्वी) समान बनकर (नक्तभिः) रात में (पतयन्ति) गमन करते हैं और (ये, वा) जो (देवे) देवताओं के (अध्वरे) यज्ञ में (रिपः) हिंसा को (दधिरे) धारण करते हैं, उनको आप नष्ट करें ॥१८॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी पुरुषो ! आप लोग आकाश मार्ग में जाकर प्रजा को पीड़ा देने वाले अन्तरायकारी राक्षसों को क्रियाकौशल द्वारा विमानादि यान बनाकर नाश करें। इस मन्त्र में परमात्मा ने प्रजा की रक्षा के लिए पुरुषों को संबोधन करके अन्यायकारी राक्षसों के हनन का उपदेश किया है ॥१८॥

अब प्रजा को परमात्मा यह आदेश करता है कि तुम ऐसी
प्रार्थना करो ॥

प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥१९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! आप द्युलोक से राक्षसों के मारने के लिये (अश्मानम्) वज्र को (प्रवर्तय) फैंकें जो (सोमशितम्) विज्ञानी विद्वानों से बनाया गया हो। (मघवन्) हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्, न्यायशील साधु पुरुषों की (सं शिशाधि) भलीभांति रक्षा करें और (प्राक्तात्) पूर्व दिशा से (अपाक्तात्) पश्चिम से (अधरात्) दक्षिण से (उदक्तात्) उत्तर से (रक्षः) अन्यायकारी राक्षसों को (पर्वतेन) वज्र से (जहि) मारें ॥१९॥

भावार्थः—पर्वत के अर्थ यहां उस शस्त्र के हैं जिसमें पोरी के समान बहुत से पर्व पड़ते हों। निघण्टु में पर्वत मेघप्रकरण में भी पढ़ा गया है।

जो लोग पर्वत के अर्थ पहाड़ समझ लेते हैं वह अत्यन्त भूल करते हैं। हां, वैदिक समय के बहुत पीछे पर्वत के अर्थ लौकिक भाषा में पहाड़ के भी बन गए। यहां प्रकरण शस्त्र का है इसलिए इस के अर्थ शस्त्र के होने चाहिए, अन्य नहीं ॥१९॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥२०॥

पदार्थः—(दिप्सवः) जो हिंसक (अदाभ्यम्) अहिंसनीय (इन्द्रम्) परमात्मा को भी (दिप्सन्ति) अपने अज्ञान से हनन करते हैं (श्वयातवः) जो श्वानों की-सी वृत्ति वाले (पतयन्ति) स्वयं गिरते हैं और औरों को गिराते हैं (त्ये) ऐसे (उ) निश्चय (एते) इन सब दुष्टों के लिये (शिशीते) परमात्मा तीक्ष्ण (अशनिं)शस्त्रों को (सृजत्) रचता है (यातुमद्भ्यः) दुराचारी (पिशुनेभ्यः) कपटियों को (नूनम्, वधम्) निश्चय मारता है ॥२०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यह सब कथन किया है कि दुष्टाचारी अन्यायकारी प्रजा को दुःख देते हैं उन्हीं के लिए परमात्मा ने तीक्ष्ण शस्त्रों को रचा। तात्पर्य यह है कि परमात्मा उपद्रवी और दुष्टाचारियों को दमन करके संसार में शान्ति का राज्य फैलाना चाहता है ॥२०॥

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम्।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः ॥२१॥

पदार्थः—(इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली परमात्मा (हविर्मथीनाम्) जो सत्कर्मरूपी यज्ञों में विघ्न करने वाले हैं तथा (अभि, आविवासताम्) हानि करने की इच्छा से जो सन्मुख आने वाले (यातूनाम्) राक्षस हैं उनका (पराशरः) नाशक है। (शक्रः) परमात्मा (परशुः, यथा, वनम्) परशु जैसे वन को (पात्रा, इव, भिन्दन्) और मुद्गर जैसे मृन्मय पात्र को तोड़ता है उसी प्रकार (अभि, इत, उ) निश्चय करके चारों ओर से (रक्षसः) राक्षसों को मारने में (सतः, एति) उद्यत रहता है ॥२१॥

भावार्थः—परमात्मा असत्कर्मी राक्षसों के मारने के लिए सदैव वज्र उठाये उद्यत रहता है। इसी अभिप्राय से उपनिषद् में कहा है कि "महद्भयं वज्रमुद्यतमिव' परमात्मा वज्र उठाये पुरुष के समान अत्यन्त भयरूप है।

यद्यपि परमात्मा शान्तिमय, सर्वप्रिय और सर्वव्यापक है जिसमें निराकार और क्रोधरहित होने से वज्र का उठाना असम्भव है तथापि उनके न्यायनियम ऐसे बने हुए हैं कि उसकी अनन्तशक्तियाँ दण्डनीय दुष्टाचारी राक्षसों के लिए सदैव वज्र उठाये रहती हैं। इसी अभिप्राय से मुद्गरादि सदैव काम करते हैं, कुछ परमात्मा के हाथों से नहीं ॥२१॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥२२॥

पदार्थः—(उलूकयातुम्) जो बड़ा समुदाय बनाकर तथा (शुशुलूकयातुम्) छोटे-छोटे समुदाय बनाकर न्यायकारियों पर अभिघात करते हैं (श्वयातुम्) जो गमनशील हैं तथा जो (कोकयातुम्) विभक्त होकर अभिघात करते हैं (सुपर्णयातुम्) तथा जो निरपराधों को संताते हैं और जो (गृध्रयातुम्) चक्रवर्त्ती होने की इच्छा से न्यायकारियों को दमन करना चाहते हैं कि उनको,(इन्द्र) ऐश्वर्यशालिन् परमात्मन्! (जहि) नष्ट करो; (दृषदा, इव) तथा शिला के समान शस्त्रों से (प्र मृण) पेषण करो और (रक्ष) न्यायकारियों को बचाओ ॥२२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा ने अन्यायकारी मायावी और नानाप्रकार से न्यायकारियों पर आघात करने वाले दुष्टों से बचने के लिये प्रार्थना का उपदेश किया है। यद्यपि प्रार्थना केवल वाणीमात्र से सफल नहीं होती तथापि जब हार्दिक भाव से प्रार्थना की जाती है तो उससे उद्योग उत्पन्न होकर मनुष्य अवश्यमेव कृतकार्य होता है ॥२२॥

मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥२३॥

पदार्थः—(या किमीदिना) जो [किमिदम् किमिदम् इति वादिनः] ईश्वर के ज्ञान में संशय करनेवाले अर्थात् ये क्या है ये क्या है ऐसा संशय उत्पन्न करनेवाले और (यातुमावतां, मिथुना) राक्षसों के यूथ=जत्थे (अपोच्छतु) वे हम से दूर हो जायें (मा, नः, रक्षः, अभिनट्) ऐसे राक्षस हम पर आक्रमण न करें, और (पृथिवी) भूमि (पार्थिवात्, अंहसः) पार्थिव पदार्थों की अपवित्रता से (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे (दिव्यात्) द्युभवपदार्थों से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्, पातु) हमारी रक्षा करे ॥२३॥

भावार्थः—तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों प्रकार के तापों से हम सर्वथा वर्जित रहें, अर्थात् पार्थिव शरीर में कोई आधिभौतिक ताप न हो और अन्तरिक्ष से हमें कोई आधिभौतिक ताप न व्यापे और मानस तापों के मूलभूत अन्यायकारी राक्षसों का विध्वंस होने से हमें कोई मानस ताप न व्याप्त हो, और जो पृथिवी तथा अन्तरिक्ष

से रक्षा का कथन है वह तापनिवृत्ति के अभिप्राय से औपचारिक है, मुख्य नहीं ॥२३॥

इन्द्र॒ ज॒हि पुमां॑सं यातु॒धान॑मु॒त स्त्रियं॑ मा॒यया॒ शाश॑दानाम् ।
विग्री॑वासो॒ मूर॑देवा ऋदन्तु॒ मा ते दृ॑शन्त्सूर्य॑मु॒च्चर॑न्तम् ॥२४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (पुमांसं यातुधानं, जहि) अन्यायकारी दण्डनीय राक्षस को आप नष्ट करें (उत) और (मायया) वंचना करके (शाशदानाम्, स्त्रियम्) वैदिक धर्म को हानि पहुँचाती है ऐसी स्त्री को (जहि) नष्ट करदें (मूरदेवाः) हिंसारूपी क्रिया से क्रीड़ा करने वाले (विग्रीवासः, ऋदन्तु) ज्ञानेन्द्रिय-रहित हों जायें ताकि (ते) वे सब (उच्चरन्तम्, सूर्यम् मा दृशन्) ज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश को न देख सकें ॥२४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यह कथन किया है कि जो लोग मायावी और हिंसक होते हैं वे शनैः-शनैः ज्ञानरहित होकर ऐसी मुग्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं कि फिर उनको सत्य और झूठ का विवेक नहीं रहता, हे पर-मात्मन् ! ऐसे दुराचारियों को आप ऐसी मोहमयी निशा में सुलायें कि वह संसार में जागृति को प्राप्त होकर न्यायकारी सदाचारियों को दुःख न दें ॥२४॥

प्रति॑ चक्ष्व॒ वि च॒क्ष्वेन्द्र॑श्च सोम जागृतम् ।
रक्षो॑भ्यो व॒धम॑स्यतम॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑ ॥२५॥

पदार्थः—(इन्द्र, च, सोम, च) हे विद्युच्छक्तिप्रधान तथा ऐश्वर्यप्रधान पर-मात्मन् ! (प्रतिचक्ष्व, विचक्ष्व) आप उपदेश करें तथा विविधरूप से उपदेश करें ताकि हम (जागृतम्) आपकी जागृति से उद्बुद्ध होकर (रक्षोभ्यः, वधम्) राक्षसों को मारें और (अस्यतम्, अशनिम्, यातुमद्भ्यः) दण्डनीय राक्षसों के लिए वज्रप्रहार करें ॥२५॥

भावार्थः—यह रक्षोघ्न सूक्त है जिसके अर्थ ये हैं कि जिसमें राक्षसों का हनन हो उसका नाम रक्षोघ्न है। वास्तव में इस सूक्त में अन्यायकारी राक्षसों के हनन करने के लिए अनन्त प्रकार कथन किये गए हैं और वेदा-नुयायी आस्तिकों के वैदिक यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए रक्षा के अनेकशः उपाय वर्णन किये हैं जिनको पढ़ कर और जिनके अनुष्ठान से

पुरुष वास्तव में आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीन तापों से रहित हो सकता है। सच तो यह है कि आज कल वेदाभिमानी आर्य जाति अपने संकटों की निवृत्ति के लिए अनेक प्रकार के संकटमोचनों का पाठ करती है यदि वह रक्षोघ्नादि सच्चे संकटमोचन सूक्तों का पाठ और अनुष्ठान करे तो इसके संकट निवृत्त होने में तनिक भी सन्देह नहीं ॥२५॥

सप्तम मण्डल में १०४वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

सप्तमं मण्डलं समाप्तम् ।

* ओ३म् *

अथाष्टमं मण्डलम् ॥

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।

यद्भद्रं तन्न आसुव ॥१॥

अथ चतुस्त्रिंशदृचस्य प्रथमसूक्तस्य १, २ प्रगाथो घोरः काण्वो वा । ३–२९ मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ । ३०–३३ आसङ्गः प्लायोगिः । ३४ शश्वत्याङ्गिरस्यासङ्गस्य पत्नी ऋषिः ॥ देवताः–१–२९ इन्द्रः । ३०–३३ आसङ्गस्य दानस्तुतिः । ३४ आसङ्गः ॥ छन्दः–१ उपरिष्टाद्बृहती । २ आर्षी भुरिग् बृहती । ३, ७, १०, १४, १८, २१ विराड् बृहती । ४ आर्षी स्वराड् बृहती । ५, ८, १५, १७, १९, २२, २५, ३१ निचृद्बृहती । ६, ९, ११, १२, २०, २४, २६, २७ आर्षी बृहती । १३ शङ्कुमती बृहती । १६, २३, ३०, ३२ आर्ची भुरिग्बृहती । २८ आसुरी स्वराड् निचृद् बृहती । २९ बृहती । ३३ त्रिष्टुप् । ३४ विराट् त्रिष्टुप् ॥ स्वरः–१—३२ मध्यमः । ३३, ३४ धैवतः ॥

अब परमात्मा से भिन्न की उपासना का निषेध कथन करते हैं ॥

मा चिद॒न्यद्वि शंसत॒ सखा॑यो॒ मा रि॑षण्यत ।

इन्द्र॒मित्स्तो॑ता॒ वृष॑णं॒ सचा॑ सु॒ते मुहु॑रु॒क्था च॑ शंसत ॥१॥

पदार्थः—(सखायः) हे सबका हित चाहने वाले उपासक लोगो! (अन्यत्, मा, चित्, विशंसत) परमात्मा से अन्य की उपासना न करो (मा, रिषण्यत) आत्महिंसक मत बनो; (वृषणं) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले (इन्द्रं, इत्) परमैश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मा की ही (स्तोत) स्तुति करो (सचा) सब एकत्रित होकर (सुते) साक्षात्कार करने पर (मुहुः) बार-बार (उक्था, च, शंसत) परमात्मगुणकीर्तन करने वाले स्तोत्रों का गान करो ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यह उपदेश किया है कि हे उपासक लोगो ! तुम परमैश्वर्य्यसम्पन्न, सर्वरक्षक, सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले और सबके कल्याणकारक एकमात्र परमात्मा की ही उपासना करो; किसी जड़

पदार्थ तथा किसी पुरुषविशेष की उपासना परमात्मा के स्थान में मत करो, सदा उसके साक्षात्कार करने का प्रयत्न करो और जिन आर्ष ग्रन्थों में परमात्मा का गुण वर्णन किया गया है अथवा जिन ग्रन्थों में उसके साक्षात्कार करने का विधान है उन ग्रन्थों का नित्य स्वाध्याय करते हुए मनन करो ॥१॥

अब परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं ॥

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयङ्करं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥२॥

पदार्थः—(वृषभं, यथा, अवक्रक्षिणं) मेघ के समान अववर्षण शक्ति वाला (अजुरं) जरारहित (गां, न) पृथिवी के समान (चर्षणिसहं) मनुष्यों के कर्मों को सहने वाला (विद्वेषणं) दुश्चरित्र मनुष्यों का द्वेष्टा (संवनना) सम्यग् भजनीय (उभयंकरं) निग्रहानुग्रह करने वाला (मंहिष्ठं) सब कामनाओं का पूर्ण करने वाला (उभयाविनं) जीव और प्रकृति का स्वामी परमात्मा उपासनीय है ॥२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में गुणगुणिभाव से परमात्मा का स्वरूप वर्णन किया गया है कि वह परमात्मा अजर, अमर, अभय, नित्यपवित्र, सब मनुष्यों के कर्मों का द्रष्टा और जो सदाचारी मनुष्यों को सद्गति का प्रदाता है वही मनुष्यमात्र का उपासनीय है।

मन्त्र में लोकप्रसिद्ध मेघादिकों के दृष्टान्त इस अभिप्राय से कथन किए हैं कि साधारण पुरुष भी उसके गुणगौरव को जानकर उसकी स्तुति तथा उपासना करें ॥२॥

अब निष्कामकर्मों का कर्तव्य कथन करते हैं ॥

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम् ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मन् ! (इमे, जनाः) ये सब उपासक लोग (यत्) जो (चित्, हि) यद्यपि (ऊतये) स्वरक्षा के लिये (नाना) अनेक प्रकार से (त्वा, हवन्ते) आपका सेवन करते हैं तथापि (अस्माकम्, इदम्, ब्रह्म) आपका दिया हुआ यह मेरा धनाद्यैश्वर्य्य (विश्वा, अहा, च) सर्वदा (ते) आपके यश का (वर्धनं) प्रकाशक (भूतु) हो ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में निष्कामकर्मों का उपदेश किया गया है अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य्यों के दाता परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! आपका दिया हुआ यह धनादि ऐश्वर्य्य मेरे लिए शुभ हो अर्थात् इस धन से सदा यज्ञादि कर्मों द्वारा आपके यश को विस्तृत करूं; हे ऐश्वर्य्य के दाता परमेश्वर ! आपकी कृपा से हमको नाना प्रकार के ऐश्वर्य्य प्राप्त हों और हम आपकी उपासना में सदा तत्पर रहें ।

भाव यह है कि परमात्मदत्त धन को सदा उपकारिक कामों में व्यय करना चाहिये, जो पुरुष अपनी सम्पत्ति को सदा वैदिककर्मों में व्यय करते हैं, उनका ऐश्वर्य्य उन्नति को प्राप्त होता है और अवैदिक कर्मों में व्यय करने वाले का ऐश्वर्य्य शीघ्र ही नाश को प्राप्त होकर वह सब प्रकार के सुखों से वंचित रहता है ॥३॥

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥४॥

पदार्थः—(मघवन्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मन् ! (विपश्चितः) आपकी आज्ञापालन करने वाले पुरुष (अर्यः) प्रतिपक्षी के प्रति शत्रुभाव को प्राप्त होने पर (जनानां, विपः) शत्रुओं को कंपित करते हुए (तर्तूर्यन्ते) निश्चय विपत्तियों को तर जाते हैं । (ऊतये, उप, क्रमस्व) आप हमारी रक्षा के लिये हमें प्राप्त हों (पुरुरूपं) अनेक रूप वाले (नेदिष्ठं) समीपदेश में उत्पन्न (वाजं, आभर) अन्नादि पदार्थों से सदैव हमें भरपूर करें ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि वेदोक्त कर्म करने वाले विद्वान् पुरुष परमात्मा की कृपा द्वारा नानाविध उपायों से सब संकट तथा विपत्तियों को पार कर जाते हैं वह कभी भी शत्रुओं से पराजित न होकर उनको कंपाने वाले होते हैं और नाना सुखसाधनयोग्य पदार्थों को सहज ही में उत्पन्न कर सकते हैं, इसलिए पुरुषों को वेदविद्या का अध्ययन और परमात्मा की आज्ञा का पालन करना चाहिये जिससे सुख प्राप्त हो ॥४॥

अब ब्रह्मानन्द को सर्वोपरि कथन करते हैं ॥

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥५॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे दारणशक्ति वाले परमेश्वर ! मैं (त्वां) आपको (महे) बहुत से (शुल्काय, च) शुल्क के निमित्त भी (न, परा, देयां) नहीं छोड़ सकता (सहस्राय) सहस्रसंख्यक शुल्क=मूल्य के निमित्त भी (न) नहीं छोड़ सकता (अयुताय) दश सहस्र के निमित्त भी (न) नहीं छोड़ सकता (शतमघ) हे अनेकविध सम्पत्तिशालिन् ! (वज्रिवः) विद्युदादिशक्तयुत्पादक (शताय) अपरिमित धन के निमित्त भी (न) नहीं छोड़ सकता ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में ब्रह्मानन्द को सर्वोपरि वर्णन किया है अर्थात् ब्रह्मानन्द की तुलना धनधामादिक किसी सांसारिक पदार्थ से नहीं हो सकती और मनुष्य, गन्धर्व, देव तथा पितृ आदि जो उच्च से उच्च पद हैं उनमें भी उस आनन्द का अवभास नहीं होता जिसको ब्रह्मानन्द कहते हैं। इसी अभिप्राय से मन्त्र में सब प्रकार की अनर्घ वस्तुओं को ब्रह्मानन्द की अपेक्षा तुच्छ माना है। मन्त्र में "शत" शब्द अयुत संख्या के ऊपर आने से अगण्य संख्यावाची है जिसका अर्थ यह है कि असंख्यात धन से भी ब्रह्मानन्द की तुलना नहीं हो सकती ॥५॥

अब पिता आदिकों से भी परमात्मा को उत्कृष्ट कथन करते हैं ॥

वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन्! (अभुंजतः) अपालक (पितुः) पिता (उत) और (भ्रातुः) भ्राता से (वस्यान्, असि) आप अधिक पालक हैं। (वसो) हे व्यापक परमात्मन् ! आप (च) और (मे) मेरी (माता) माता दोनों ही (वसुत्वनाय) मेरी व्याप्ति के लिये तथा (राधसे) ऐश्वर्य्य के लिये (समा) समान (छदयथः) पूजित बनाते हैं ॥६॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि जिस प्रकार माता हार्दिक प्रेम से पुत्र का लालन-पालन करके सदा उसकी भलाई चाहती है इसी प्रकार ईश्वर भी मातृवत् सब जीवों की हितकामना करता है। मन्त्र में पिता तथा भ्राता सब सम्बन्धियों का उपलक्षण है अर्थात् ईश्वर सब सम्बन्धियों से बड़ा है और माता के समान कथन करने से इस बात को दर्शाया है कि अन्य सम्बन्धियों की अपेक्षा माता अधिक स्नेह करती है और माता के समान ही परमात्मा सब मनुष्यों का शुभचिन्तक है ॥६॥

अब परमात्मा को सर्वव्यापक कथन करते हैं ॥

क्वेंयथ क्वेदंसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः ।

अलंर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दर प्र गांयत्रा अंगासिषुः ॥७॥

पदार्थः—(युध्म, खजकृत्) हे युद्धकुशल, युद्ध करने वाले (पुरन्दर) अविद्या-समूह नाशक परमात्मन्! (क्व, इयथ) आप किस एक देश में विद्यमान थे? (क्व, इत्, असि) आप कहां विद्यमान हैं? यह शंका नहीं करनी चाहिये (हि) क्योंकि (ते, मनः) आपका ज्ञान (पुरुत्रा, चित्) सर्वत्र ही है, (अलर्षि) आप अन्तःकरण में विराजमान हो (गायत्राः) स्तोता लोग (प्रागासिषुः) आपकी स्तुति करते हैं ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में प्रश्नोत्तर की रीति से परमात्मा की सर्वव्यापकता बोधन की गई है जिसका भाव यह है कि हे परमात्मन्! आप पहले कहां थे, वर्तमान समय में कहां हैं और भविष्य में कहां होंगे? इत्यादि प्रश्न परमात्मा में नहीं हो सकते, क्योंकि वह अन्य पदार्थों की न्याईं एकदेशावच्छिन्न नहीं, अपने ज्ञानस्वरूप से सर्वत्र विद्यमान होने के कारण मन्त्र में "पुरुत्रा चिद्धि ते मनः" इत्यादि प्रतीकों से उसको सर्वव्यापक वर्णन किया गया है, इसलिये उचित है कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानकर जिज्ञासु उसके ज्ञानरूप प्रदीप से अपने हृदय को प्रकाशित करें और किसी काल तथा किसी स्थान में भी पापकर्म का साहस न करें, क्योंकि वह प्रत्येक स्थान में हर समय हमारे कर्मों का द्रष्टा है ॥७॥

अब विद्वानों को परमात्मा के ज्ञान का प्रचार करना कथन करते हैं ॥

प्रास्मैं गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरन्दरः ।

याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं यासंद्वज्री भिनत्पुरः ॥८॥

पदार्थः—हे उपासको! आप लोग (अस्मै) इस परमात्मा के लिये (गायत्रं, प्रार्चत) स्तुति करो (यः) जो परमात्मा (वावातुः, पुरन्दरः) उपासकों के विघात करने वालों के पुरों का नाशक है। (वज्री) शक्तिशाली परमात्मा (याभिः) जिन स्तुतियों से (काण्वस्य, बर्हिः) विद्वानों की सन्तान के हृदयाकाश में (आसदं, उपयासत्) प्राप्त होने के लिये आवें, और (पुरः, भिनत्) अविद्या के समूह को भेदन करें ॥८॥

भावार्थः—भाव यह है कि वह पूर्ण परमात्मा काण्व=विद्वानों की सन्तान का अविद्यान्धकार निवृत्त करके उनके हृदय में विद्या का प्रकाश करें ताकि वह विद्या के प्रचार द्वारा परमात्मज्ञान का उपदेश करते हुए लोगों को

श्रद्धालु बनावें और परमात्मा के गुणों का कीर्तन करते हुए आस्तिकभाव का प्रचार करें।।८।।

अब परमात्मा को अनन्तशक्तिशाली कथन करते हैं॥

ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्रिणः।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि ॥९॥

पदार्थः—(ये,,ते) जो आपकी (दशग्विनः) दशों दिशाओं में व्यापक (शतिनः) सैकड़ों (सहस्रिणः) सहस्रों (ते) आपकी (ये) जो (वृषणः) सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली (रघुद्रुवः) क्षिप्रगतिवाली (अश्वासः) व्यापकशक्तियाँ (संति) हैं (तेभिः) उन शक्तियों द्वारा (तूयं) शीघ्र (नः) हमको (आगहि) प्राप्त हों ॥९॥

भावार्थः—उस सर्वव्यापक परमात्मा की इतनी विस्तृत शक्तियाँ हैं कि उनको पूर्णतया जानना मनुष्यशक्ति से सर्वथा बाहर है, इसी अभिप्राय से मन्त्र में "सहस्रिणः" पद से उनको अनन्त कथन किया है, क्योंकि "सहस्र" शब्द यहां असंख्यात के अर्थ में है। इसी प्रकार अन्यत्र पुरुषसूक्त में भी "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इत्यादि मन्त्रों में उसका महत्त्व वर्णन किया गया है। वह महत्त्वशाली परमात्मा अपनी कृपा से हमारे समीपस्थ हों ताकि हम उनके गुण गान करते हुए पूर्ण श्रद्धा वाले हों ॥९॥

अब परमात्मा को धेनुरूप से वर्णन करते हैं ॥

आ त्वद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरंकृतम् ॥१०॥

पदार्थः—(अद्य) इस समय (सबर्दुघां) इष्टफल को पूर्ण करने वाली (गायत्रवेपसं) प्रशंसनीय क्रिया वाली (सुदुघां) शोभनफल देने वाली (इषं) वाञ्छनीय (उरुधारां) अनेक पदार्थों को धारण करने वाली (अरंकृतं) अलंकृत करने वाली (अन्यां, धेनुं) लौकिक धेनु से विलक्षण धेनु (इन्द्रं) परमात्मा को (तु) शीघ्र (आहुवे) आह्वान करता हूँ ॥१०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा को "धेनु" कथन किया है जिसके अर्थ गौ तथा वाणी आदि हैं पर वह गौण हैं। "धेनु" शब्द का मुख्यार्थ ईश्वर में ही घटता है, क्योंकि "धीयते इति धेनुः"—जो पिया जाय उसका नाम "धेनु" है और उसका साक्षात्कार करना ही पिया जाना है, इसलिये यहां प्रकरण से ईश्वर को कामधेनुरूप से वर्णन किया गया है, क्योंकि कामनाओं

का पूर्ण करने वाला परमात्मा ही है, वह कामधेनुरूप परमात्मा हमको प्राप्त होकर अपने इष्टफल को पूर्ण करे ॥१०॥

अब परमात्मा की शक्ति से ही सूर्य्यादिकों का प्रकाशन कथन करते हैं ॥

यत्तुदत् सूर एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना ।

वहत् कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुस्त्सरद् गन्धर्वमस्तृतम् ॥११॥

पदार्थः—(यत्) जो (सूरः) सूर्य्य (एतशं) गतिशील (आर्जुनेयं) भास्वर श्वेतवर्णवाले (कुत्सं) तेजोरूप शस्त्र तथा (वातस्य) वायु सम्बन्धी (वंकू) वक्रगति वाली (पर्णिना) पतनशील प्रकाशक और संचारकरूप दो शक्तियों को (वहत्) धारण करता हुआ (तुदत्) लोकों का भेदक बनता है वह (शतक्रतुः) शतकर्मा परमात्मा ही (अस्तृतं) अनिवार्य्य (गन्धर्वं) गो=पृथिव्यादि लोकों को धारण करने वाले सूर्य्य में (त्सरत्) गूढ़गति से प्रविष्ट है ॥११॥

भावार्थः—गतिशील इस सूर्य में आकर्षण तथा विकर्षणरूप दो शक्तियाँ पाई जाती हैं, उनका धाता तथा निर्माता एकमात्र परमात्मा ही है, और सूर्य्य जैसे कोटानुकोटि ब्रह्मांड उसके स्वरूप में ओतप्रोत हो रहे हैं। इसीलिये मन्त्र में उसको "शतक्रतुः"=सैकड़ों क्रियाओं वाला कहा है, सूर्य्य को "गन्धर्व" इसलिये कहा है कि पृथिव्यादि लोक उसी की आकर्षण शक्ति से ठहरे हुए हैं, और वायुसम्बन्धी कहने का अभिप्राय यह है कि तेज की उत्पत्ति वायु से होती है, जैसाकि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः" तैत्तिरीयोनिषद् में वर्णन किया है कि वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि सूर्य्य चन्द्रमादिकों का प्रकाश परमात्मा की शक्ति से ही होता है, अन्यथा नहीं ॥११॥

अब परमात्मा को ही सब दुःखों की निवृत्ति करने वाला कथन करते हैं ॥

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।

सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुरिष्कर्ता विहृतं पुनः ॥१२॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (अभिश्रिः) दोनों सेनाओं के अभिश्लेष (ऋते, चित्) विना ही (जत्रुभ्यः) स्कन्ध सन्धि से (आतृदः) पीड़ा उत्पन्न होने के (पुरा) पूर्व ही (सन्धिं) सन्धि को (सन्धाता) करता है, और जो (मघवा) ऐश्वर्यशाली तथा (पुरूवसुः) अनेकविध धनवाला परमात्मा (पुनः) फिर भी (विहृतं) किसी प्रकार से विच्छिन्न हुए शरीर को (इष्कर्त्ता) संस्कृत=नीरोग करता है ॥१२॥

भावार्थः मंत्र में "जत्रु" शब्द सब शरीरावयव का उपलक्षण है अर्थात् शरीर में रोग तथा अन्य विपत्तिरूप आघातों के आने से ही परमात्मा उनका संघाता है और वही आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति करने वाला है, इसलिए सबको उचित है कि उसीकी आज्ञापालन तथा उसी की उपासना में प्रवृत्त रहें ॥१२॥

अब यह वर्णन करते हैं कि मनुष्य किन-किन भावों में सद्गुणों का पात्र बनना है ।

मा भूम निष्ट्या इवेन्द्र त्वदरणा इव ।

वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥१३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन्! (त्वत्) आपके अनुग्रह से हम लोग (निष्ट्याः, इव) नीच के समान तथा (अरणाः, इव) अरमणीय के समान (मा, भूम) मत हों, और (प्रजहितानि) भक्तिरहित (वनानि) उपासकों के समान (न) न हों, (अद्रिवः) हे दारणशक्तिवाले परमेश्वर ! आपके समक्ष (दुराषासः) शत्रुओं से निर्भीक हम आपकी (अमन्महि) स्तुति करते हैं ॥१३॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह वर्णन किया है कि विद्या तथा विनय से सम्पन्न पुरुष में सब सद्गुण निवास करते हैं अर्थात् जो पुरुष परमात्मा की उपासनापूर्वक भक्तिभाव से नम्र होता है उसके शत्रु उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते,सब विद्वानों में वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता और सब गुणी जनों में मान को प्राप्त होता है । इसलिए सब पुरुषों को उचित है कि नीचभावों के त्यागपूर्वक उच्च भावों को ग्रहण करें ताकि परमपिता परमात्मा के निकटवर्ती हों ॥१३॥

अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन् ॥

सकृत्सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥१४॥

पदार्थः—(वृत्रहन्) हे उग्रों के घननाशक परमात्मन् ! हम (अनाशवः, अनुग्रासः) शान्त तथा अक्रूर होकर (अमन्महि) आपकी स्तुति करते हैं । (शूर) हे दुष्टों के हन्ता ! ऐसी कृपा करो कि हम (सकृत्) एकवार भी (महता, राधसा) महान् ऐश्वर्य से युक्त होकर (ते) आपकी (सुस्तोमं) सुन्दर स्तुति (अनु, मुदीमहि) मोदसहित करें ॥१४॥

भावार्थः—इस मंत्र में स्तुति द्वारा परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि हे भगवन् ! आप हमें ऐश्वर्ययुक्त करें ताकि हम प्रसन्नतापूर्वक स्तुतियों द्वारा आपका गुणगान किया करें, या यों कहो कि जो मनुष्य शांति तथा अक्रौर्यभाव से परमात्मा की स्तुति करता हुआ कर्मयोग में प्रवृत्त होता है उसको परमात्मा उच्च से उच्च ऐश्वर्यशाली बनाकर आनन्दित करते हैं; इसलिये प्रत्येक पुरुष को शान्तिभाव से उसकी उपासना में सदा प्रवृत्त रहना चाहिए ॥१४॥

अब परमात्मोपासकों के कार्यों की सिद्धि कथन करते हैं ।

यदि स्तोमं मम श्रवंदुस्माकुमिन्द्रुमिन्दंवः ।

तिरः पुवित्रं ससृवांसं आुशवो मन्दन्तु तुग्र्यावृधः ॥१५॥

पदार्थः—(यदि) यदि वह परमात्मा (मम) मेरे (स्तोमं) स्तोत्र को (श्रवत्) सुने तो (अस्माकं, इन्दवः) मेरे यज्ञ जो (तुग्र्यवृधः) जलादि पदार्थों द्वारा सम्पादित करके (आशवः) शीघ्र ही सिद्ध किये हैं वह (तिरः) तिरश्चीन=दुष्प्राप्य (पवित्रम्) शुद्ध (इन्द्रं) परमात्मा को (ससृवांसः) प्राप्त होकर (मन्दन्तु) हमको हर्षित करें ॥१५॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! आप मेरी स्तुति को सुनें, मैंने जो यज्ञादि शुभकर्म सम्पादित किये हैं वा करता हूँ वह आपके अर्पण हों, मेरे लिए नहीं; कृपा करके आप इन्हें स्वीकार करें ताकि मुझे आनन्द प्राप्त हो; इसी का नाम निष्काम कर्मभाव है, जो पुरुष निस्स्वार्थ शुभकर्म करता है उस पर परमात्मा प्रसन्न होते हैं और उसको आह्लाद प्राप्त होता है ॥१५॥

अब प्रत्येक शुभकार्य के प्रारम्भ में परमात्मा की उपासना
करना कथन करते हैं ॥

आ त्वं१द्य सुधस्तुतिं वावातुः सख्युरा गंहि ।

उपंस्तुतिर्मुघोनां प्र त्वावत्वधा ते वश्मि सुष्टुतिम् ॥१६॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (ववातुः, सख्युः) आपके भक्त और प्रिय हम लोगों की (सधस्तुतिं) समुदायस्तुति के (आ) अभिमुख होकर (अद्य) आज (तु) शीघ्र (आगहि) आकर प्राप्त हों,(मघोनां) यज्ञकर्ता हम लोगों की (उपस्तुतिः) स्तुति (त्वा) आपको (प्रावतु) प्रसन्न करे; (अध) इस समय (ते) आपकी (सुस्तुतिं) शोभनस्तुति को (वश्मि) हम चाहते हैं ॥१६॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिए कि प्रत्येक शुभकार्य के पूर्व यज्ञादि द्वारा परमात्मा की प्रार्थना-उपासना करके कार्यारम्भ करें, क्योंकि परमात्मा अपने भक्त तथा प्रिय उपासकों के कार्य को निर्विघ्न समाप्त करता है, इसलिये प्रत्येक पुरुष को उसकी उपासना में प्रवृत्त रहना चाहिए ॥

अब श्रवणादि द्वारा परमात्मा की उपासना कथन करते हैं ॥

सोता हि सोममद्रिभिरेमेनमप्सु धावत ।
गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन्वक्षणाभ्यः ॥१७॥

पदार्थः—(नरः) हे उपासको ! (अद्रिभिः) आदरणीय चित्तवृत्तियों द्वारा (सोमं) परमात्मा का (सोत) साक्षात्कार करो (ईं) और (एनं) इसको (अप्सु, आधावत) हृदयाकाश में मनन करो; (वक्षणाभ्यः) नदीसदृश प्रवहनशील चित्तवृत्तियों की शुद्धि के लिए (गव्या, वस्त्रा इव) रश्मिवत् श्वेतवस्त्र के समान (वासयन्तः) उसे आच्छादन करते हुए (इत्) निश्चय करके (निः, धुक्षन्) अन्तःकरण में दीप्त करो ॥१७॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा मनन करते हुए परमात्मा का साक्षात्कार करो। यहां नदी का दृष्टान्त इसलिये दिया है कि जैसे नदी का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है इसी प्रकार चित्तवृत्तियाँ निरन्तर प्रवाहित रहती हैं, उनकी चंचलता को स्थिर करने का एकमात्र उपाय "ज्ञान" है, अतएव ज्ञान द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करके अन्तःकरण की पवित्रता द्वारा परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए।

अथवा यों कहो कि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उपासना करते हुए परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिए अर्थात् वेदवाक्यों द्वारा तत्त्वार्थ का सुनना "श्रवण", तर्क द्वारा युक्तियुक्त विषय को ग्रहण करना तथा अयुक्तियुक्त को छोड़ देना "मनन" और विजातीय प्रत्ययरहित ब्रह्माकारवृत्ति का नाम "निदिध्यासन" है; इत्यादि साधनों द्वारा उपासना करने वाला उपासक अपने लक्ष्य को पूर्ण करता है ॥१७॥

अब सर्वनियन्ता परमात्मा से वृद्धि की प्रार्थना कथन करते हैं ॥

अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥१८॥

पदार्थः—(अध) हे परमात्मन् ! इस समय (ज्मः) पृथ्वी (वा) और (बृहतः) महान् (रोचनात्) दीप्यमान (दिवः) अन्तरिक्ष लोकपर्यन्त (अधि) अधिष्ठित आप (अया) इस (तन्वा) विस्तृत (गिरा) स्तुति वाणी से (वर्धस्व) हृदयाकाश में वृद्धि को प्राप्त हों; (सुक्रतो) हे सुन्दर कर्म वाले प्रभो ! (मम) मेरी (जाता) उत्पन्न हुई सन्तान को (आपृण) उत्तम फलयुक्त करके तृप्त करें ।।१८।।

भावार्थः—भाव यह है कि इस मंत्र में अंतरिक्षादि लोकों में भी व्यापक, सर्वरक्षक तथा सर्वनियन्ता परमात्मा से यह प्रार्थना कथन की है कि हे प्रभो ! आप हमारे हृदय में विराजमान हों और हमारे ऐश्वर्य की वृद्धि तथा हमारी सन्तान को उत्तम फल प्रदान करें जिससे वह संसार में सुख-सम्पत्ति को प्राप्त हो ।।१८।।

अब कर्मयोगी के प्रयत्न की सफलता कथन करते हैं ।।

इन्द्रा॑य॒ सु म॒दिन्त॑मं॒ सोमं॑ सोता॒ वरे॑ण्यम् ।

श॒क्र एणं पीपयद्वि॒श्वया॑ धि॒या हि॑न्वा॒नं न वा॑ज॒युम् ।।१९।।

पदार्थः—हे उपासको! (इन्द्राय) कर्मयोगित्व सम्पादन करने के लिए (मदिन्तमं) आनन्दस्वरूप (वरेण्यं) उपासनीय (सोमं) परमात्मा को (सु, सोत) सम्यक् सेवन करो, क्योंकि (शक्रः) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (विश्वया, धिया) अनेक क्रियाओं से (हिन्वानं) प्रसन्न करते हुए, (वाजयुम्) बल चाहने वाले (एनं) इस कर्मयोगी को (न) सम्प्रति (पीपयत्) फलप्रदान द्वारा सम्पन्न करते हैं ।।१९।।

भावार्थः—इस मंत्र में यह उपदेश किया गया है कि हे उपासक लोगो! तुम कर्मयोगी बनने के लिए उस महानात्मा प्रभु से प्रार्थना करो जो बल तथा अनेक प्रकार की क्रियाओं को देनेवाला है । भाव यह है कि कर्मयोगी ही संसार में सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त होता और वही प्रतिष्ठित होकर मनुष्यजन्म के फलों को उपलब्ध करता है, इसलिए पुरुषों को कर्मयोगी बनने की परमात्मा से सदैव प्रार्थना करनी चाहिए ।।१९।।

अब उपदेशकों को परमात्मा का प्रेमसहित
उपदेश करना कथन करते हैं ।।

मा त्वा॒ सोम॑स्य॒ गल्द॑या॒ सदा॒ याच॑न्न॒हं गि॒रा ।

भूर्णिं॑ मृ॒गं न सव॑नेषु चुक्रुधं॒ क ईशा॑नं॒ न या॑चिषत् ।।२०।।

पदार्थः—(गिरा) स्तुतियुक्त वाणी द्वारा (सदा) सदैव (याचन्) परमात्मा की

स्तुति-प्रार्थना करते हुए (सवनेषु) यज्ञों में (सोमस्य, गल्दया) परमात्मसम्बन्धी वाणी पूछने पर (त्वा) तुम पर (चुक्रुधं, मा) क्रोध मत करें, क्योंकि (भूर्णि) सबका भरण-पोषण करने वाले (मृगं, न) सिंह समान (ईशानं) ईशन करने वाले परमात्मा की (कः) कौन मनुष्य (न, याचिषत्) याचना न करेगा अर्थात् सभी पुरुष उसकी याचना करते हैं ॥२०॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपदेशक उपासकों के प्रति यह उपदेश करता है कि हे उपासको ! तुम लोग सदैव यज्ञादिकर्मों में प्रवृत्त रहो और परमात्मा की वेदवाणी जो मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकारक है, उसमें सन्देह होने पर क्रोध न करते हुए प्रतिपक्षी को यथार्थ उत्तर दो और सबका पालन-पोषण तथा रक्षण करने वाले परमपिता परमात्मा से ही सब कामनाओं की याचना करो; वही सबके लिये इष्टफलों का प्रदाता है।

यद्यपि परमात्मा सम्पूर्ण कर्मों का फलप्रदाता है और विना कर्म किये हुए कोई भी इष्टसिद्धि को प्राप्त नहीं होता तथापि मनुष्य अपनी न्यूनता पूर्ण करने के लिए अपने से उच्च की अभिलाषा स्वाभाविक रखता है और सर्वोपरि उच्च एकमात्र परमात्मा है, इसलिये अपनी न्यूनता पूर्ण करने के लिए उसी सर्वोपरि देव से सबको याचना करनी चाहिए ॥२०॥

अब उपासक शत्रुओं के दमनार्थ परमात्मा से प्रार्थना करता है ॥

मदेनेषितं मदमुग्रमुग्रेण शवसा ।
विश्वेषां तरुतारं मदच्युतं मदे हि ष्मा ददाति नः ॥२१॥

पदार्थः—(मदे) उपासना से अनुकूल होने पर परमात्मा (मदेन, इषितं) हर्ष से प्राप्त करने योग्य (मदं, उग्रं) हर्षकारक, अधर्षणीय (उग्रेण, शवसा) अधिक बल से युक्त (विश्वेषां, तरुतारं) सब शत्रुओं को पार=दमन करने वाले (मदच्युतं) उनके मद को नाश करने वाले सेनानी को (नः) हमको (हि) निश्चय (ददाति, स्म) देता है ॥२१॥

भावार्थः—परमात्मा उपासक की उपासना से अनुकूल होकर उसके बलवान् शत्रु का भी दमन करके उसकी सर्वप्रकार से रक्षा करते हैं, इसलिए सब पुरुषों को सदा उनकी प्रार्थना तथा उपासना में प्रवृत्त रहना चाहिए।

सार यह है कि प्रार्थना भी एक कर्म है और वह नम्रता, अधिकारित्व तथा पात्रत्वादि धर्मों को अवश्य धारण कराती है, इसलिये प्रार्थना का फल शत्रुदमनादि कोई दुष्कर कर्म नहीं ॥२१॥

अब परोपकारार्थं प्रार्थना करनेवाले को फल कथन करते हैं ॥

शेवारे वार्या पुरु देवो मर्ताय दाशुषे ।

स सुन्वते च स्तुवते च रासते विश्वगूर्तो अरिष्टुतः ॥२२॥

पदार्थः—(शेवारे) सुखप्रद यज्ञ में (देवः) दिव्यस्वरूप (विश्वगूर्तः) अखिल कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ (सः) वह परमात्मा (अरिस्तुतः) जब उभयपक्षी पुरुषों से स्तुति किया जाता है तो (दाशुषे, मर्ताय) जो उन दोनों में उपकारशील है उसको (च) और (सुन्वते, च, स्तुवते) तत्सम्बन्धी यज्ञ करने वाले स्तोता को (पुरु, वार्या) अनेक वरणीय पदार्थ (रासते) देता है ॥२२॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि परमात्मा के उपासक दो प्रकार के होते हैं एक स्वार्थपरायण होकर उपासना करने वाले और दूसरे परार्थपरायण होकर उपासना करते हैं। इन दोनों प्रकार के उपासकों में से परमात्मा न्यायकारी तथा परोपकारार्थं प्रार्थना-उपासना करने वाले को अवश्य फल देते हैं, इसलिये प्रत्येक पुरुष को परोपकारदृष्टि से परमात्मोपासन में प्रवृत्त रहना चाहिए ॥२२॥

एन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा ।

सरो न प्रास्युदरं सपीतिभिरा सोमेभिरुरु स्फिरम् ॥२३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (आयाहि) आप अन्तःकरण में आवें (देव) हे दिव्यगुणसम्पन्न प्रभो ! (चित्रेण, राधसा) अनेकविध धनों से हमको (मत्स्व) आह्लादित करें; (उरु, स्फिरं, उदरं) अति विशाल अपने उदररूप ब्रह्माण्डों को (सोमेभिः, सपीतिभिः) सौम्य सार्वजनिक तृप्तियों से (सरः, न) सरोवर के समान (आप्रासि) पूरित करें ॥२३॥

भावार्थः—इस मंत्र में उपासक की ओर से सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा से प्रार्थना है कि हे प्रभो ! आप हमारी शुभकामनाओं को पूर्ण करें और अनेकविध धनों से हमें सम्पन्न करते रहें ताकि हम आपके गुणों का गान करते हुए आपकी उपासना में तत्पर रहें ॥२३॥

अब समष्टिरूप से प्रार्थना करने का विधान कथन करते हैं ॥

आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।

ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥२४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (हिरण्यये) ज्योतिःस्वरूप (रथे) ब्रह्माण्डों में (ब्रह्मयुजः) स्तुतियुक्त (केशिनः) प्रकाशमान (हरयः) मनुष्य (शतं, सहस्रं) सैकड़ों तथा सहस्रों (आयुक्ताः) मिलकर (सोमपीतये) ब्रह्मानन्द के लिये (त्वा) आपको (आवहन्तु) आह्वान करें ॥२४॥

भावार्थः—इस मंत्र में समष्टिरूप से उपासना करने का विधान किया गया है कि जो इन दिव्य ब्रह्माण्डों को रचकर व्यापक हो रहा है वही परमात्मा हमारा उपासनीय है, हम लोग सैकड़ों तथा सहस्रों एक साथ मिलकर ब्रह्मानन्द के लिए उस दिव्यज्योति परमपिता परमात्मा की उपासना करें ॥२४॥

अब ईश्वर को अचिन्त्य प्रकृतिवाला कथन करते हैं ॥

आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥२५॥

पदार्थः—(हिरण्यये, रथे) इस देदीप्यमान ब्रह्माण्ड में (मयूरशेप्या) मयूरपिच्छ के समान गम्भीर गति वाली (हरी) आपकी आकर्षण तथा विकर्षण शक्तियां (शितिपृष्ठा) जिनकी तीक्ष्णगति है वह (मध्वः) मधुर (अंधसः) ब्रह्मानन्दार्थं (विवक्षणस्य) प्राप्तव्य (पीतये) तृप्ति के लिये (त्वा) आपको (आ, वहतां) अभिमुख करें ॥२५॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा को अचिन्त्यशक्तिशाली वर्णन किया गया है अर्थात् उसके पारावार को पहुँचना सर्वथा असम्भव है । इसी अभिप्राय से यहां मयूरपिच्छ के दृष्टान्त से भलीभांति स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार मयूर के बर्ह=पिच्छ में नाना वर्ण की कोई इयत्ता नहीं कर सकता इसी प्रकार ब्रह्माण्डरूप विचित्र कार्यों की अवधि बांधना मनुष्य की शक्ति से सर्वथा बाहर है ॥२५॥

अब उपदेशक के लिए परमात्मसाक्षात्कार का उपदेश कथन करते हैं ॥

पिबा त्वस्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते ॥२६॥

पदार्थः—(गिर्वणः) हे प्रशस्तवाणियों के सेवन करने वाले विद्वन् ! (सुतस्य) विद्वानों द्वारा साक्षात्कार किये गए (परिष्कृतस्य) वेदादि प्रमाणों से सिद्ध (रसिनः) आनन्दमय (अस्य) इस परमात्मा को (पूर्वपा, इव) अत्यन्तपिपासु के समान (तु)

शीघ्र (पिब) स्वज्ञान का विषय करो (इमं) यह (चारुः) कल्याणमयी (आसुतिः) परमात्मसम्बन्धी साक्षात् क्रिया (मदाय) सब जीवों के हर्ष के निमित्त (पत्यते) प्रचारित हो रही है ॥२६॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह उपदेश किया गया है कि हे वेद के ज्ञाता उपदेशको ! तुम परमात्मा को भले प्रकार जानकर उसकी पवित्र वाणी का प्रचार करो और सब जिज्ञासु पुरुषों को परमात्मसम्बन्धी ज्ञान का फल दर्शाकर उनको कल्याण का मार्ग बतलाओ जिससे वह मनुष्यजन्म का फल उपलब्ध कर सकें ॥२६॥

अब परमात्मप्राप्ति के लिए प्रार्थना कथन करते हैं ॥

य एको अस्ति दंसना महाँ उग्रो अभि व्रतैः ।

गमत्स शिप्री न स योषदा गमद्धवं न परि वर्जति ॥२७॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (एकः) अद्वितीय (दंसना) कर्म से (महान्) अधिक (उग्रः) उग्र बलवाला है (व्रतैः) अपने विलक्षण कर्मों से (अभि, अस्ति) सब कर्मकर्ताओं को तिरस्कृत करता है; (सः, शिप्री) वह सुखद परमात्मा (गमत्) मुझे प्राप्त हो, और (सः) वह (न, योषत्) वियुक्त न हो (हवं) मेरे स्तोत्र को (आगमत्) अभिमुख होकर प्राप्त करे (न, परिवर्जति) परिवर्जन न करे ॥२७॥

भावार्थः—अद्वितीय, बलवान् तथा सबको सुखप्रद परमात्मा जो कठिन से कठिन विपत्तियों में भी अपने उपासक का सहाय करता है वह हमको प्राप्त होकर कभी भी वियुक्त न हो, और सब मनुष्यों को उचित है कि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना करें ताकि सब कामों में सफलता प्राप्त हो ॥२७॥

अब परमात्मा का अनन्त बल कथन करते हैं ॥

त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक् ।

त्वं भा अनु चरो अध द्विता यदिन्द्र हव्यो भुवः ॥२८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (त्वं) आप (शुष्णस्य) शत्रु के (चरिष्ण्वं) चरणशील (पुरं) समुदाय को (वधैः) अपनी हननशील शक्तियों से (सं, पिणक्) नष्ट करते हो (अध) और (त्वं) आप (भाः) दीप्ति में (अनुचरः) अनुप्रविष्ट हो (यत्) जिससे (द्विता) ज्ञानकर्म द्वारा (हव्यः) भजनीय (भुवः) हो रहे हो ॥२८॥

भावार्थः—इस मंत्र में परमात्मा को अनन्त बलशाली कथन किया

गया है कि वह परमात्मा अपनी हननशील शक्तियों से शत्रुओं के समूह को नष्ट करते, वह सम्पूर्ण ज्योतियों में प्रविष्ट होकर प्रकाशित कर रहे हैं और वही सारे ब्रह्माण्डों को रचकर अपनी शक्ति से सबको थांभ रहे हैं, अधिक क्या, परमात्मा ही की शक्ति से सूर्य तथा विद्युदादि तेजस्वी पदार्थ अनेक कर्मों के उत्पादन तथा विनाश में समर्थ होते हैं, और वह सदाचारी को सुखद तथा दुराचारी को दुःखदरूप से उपस्थित होते हैं, अतएव पुरुष को उचित है कि सदाचार द्वारा परमात्मपरायण हो ॥२८॥

अब परमात्मा का सब कालों में स्मरण रखना कथन करते हैं ॥

मम॑ त्वा॒ सूर॒ उदि॑ते॒ मम॑ म॒ध्यन्दि॑ने दि॒वः ।
मम॑ प्रपि॒त्वे अ॑पिश॒र्वरे॑ वसव॒ा स्तोमा॑सो अवृत्सत ॥२९॥

पदार्थः – (वसो) हे व्यापक परमात्मन् ! (उदिते, सूरे) सूर्योदय काल में (मम, स्तोमासः) मेरी स्तुतियें (दिवः) दिन के (मध्यन्दिने) मध्य में (मम) मेरी स्तुतियें (शर्वरे, प्रपित्वे, अपि) रात्रि प्राप्त होने पर भी (मम) मेरी स्तुतियें (त्वा) आप (अवृत्सत) आवर्तित=पुनः-पुनः स्मरण करें ॥२९॥

भावार्थः —इस मंत्र में परमात्मा के निदिध्यासन का वर्णन किया गया है कि सब कालों में परमात्मा का स्तवन करना चाहिए अर्थात् परमात्मा को सर्वव्यापक, सब कर्मों का द्रष्टा, शुभाशुभकर्मों का फलप्रदाता और हमको अन्नवस्त्रादि नाना पदार्थों का देने वाला इत्यादि अनेक भावों से स्मरण रखते हुए उसकी आज्ञापालन में तत्पर रहें ताकि वह हमें शुभकर्मों में प्रवृत्त करे ॥२९॥

अब "मेध्यातिथि" को परमात्मा का ऐश्वर्य वर्णन करते हुए उसी का उपासन कथन करते हैं ॥

स्तु॒हि स्तु॒हीदे॒ते घा॑ ते॒ मंहि॑ष्ठासो म॒घोना॑म् ।
नि॒न्दि॒ताश्वः॑ प्रप॒थी प॑रम॒ज्या म॒घस्य॑ मेध्यातिथे ॥३०॥

पदार्थः—(मेध्यातिथे) हे पूज्य अभ्यागत ! (मघोनां, मंहिष्ठासः) ऐश्वर्य-शालियों में श्रेष्ठ (एते) यह परमात्मा है, अतः (ते) उसकी (स्तुहि, स्तुहि) वार-वार स्तुति कर । (इत्, घ) निश्चय करके वह परमात्मा (निन्दिताश्वः) सब व्यापकों को अपनी व्यापक शक्ति से तिरस्कार करने वाला, (प्रपथी) विस्तृत मार्गवाला, (परमज्याः) बड़े से बड़े शत्रुओं का नाशक, और (मघस्य) सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का प्रदाता है ॥३०॥

भावार्थः—हे अभ्यागत ! वह पूर्ण परमात्मा जिसकी शक्ति सम्पूर्ण शक्तियों से बलवान्, सम्पूर्ण व्यापक पदार्थों को अपनी व्यापक शक्ति से तिरस्कृत करने वाला और वही सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का भण्डार है; तू उसी की उपासना कर ॥३०॥

अब कर्मयोगी ईश्वर के ऐश्वर्य का वर्णन करता है ॥

आ यद्श्वान्वनन्वतः श्रद्धयाहं रथे रुहम् ।

उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः ॥३१॥

पदार्थः—(यत्) यदि (रथे) गतिशील प्रकृति में (वनन्वतः, अश्वान्) व्यापक-शक्ति वाले पदार्थों को जानने के लिए (अहं) हम लोग (श्रद्धया) दृढ़ जिज्ञासा से (आ, रुहं) प्रवृत्त हों (उत) तो (यः) जो (याद्वः, पशुः) मनुष्यों में सूक्ष्मद्रष्टा कर्मयोगी (अस्ति) है वह (वामस्य) सूक्ष्म—दुर्ज्ञेय (वसुनः) पदार्थों के तत्त्व को (चिकेतति) जान सकता है ॥३१॥

भावार्थः—परमात्मा की सृष्टिरूप इस अनन्त ब्रह्माण्ड में सूक्ष्म से सूक्ष्म दुर्विज्ञेय पदार्थ विद्यमान हैं जिनको बड़े-बड़े पदार्थवेत्ता अपने ज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं । इस मंत्र में कर्मयोगी परमात्मा की प्रकृति को दुर्विज्ञेय कथन करता हुआ यह वर्णन करता है कि हम लोग उन पदार्थों को जानने के लिए दृढ़ जिज्ञासा से प्रवृत्त हों अर्थात् कर्मयोगी को उचित है कि वह अपने अभ्यास द्वारा उनके जानने का प्रयत्न करे, जो पुरुष सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों को जानकर उनका आविष्कार करते हैं वह ऐश्वर्यशाली होकर मनुष्यजन्म के फलों को प्राप्त होते हैं ॥३१॥

अब ऐश्वर्याभिलाषियों के लिए ज्ञानोत्पादन करने का कथन करते हैं ॥

य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया ।

एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगासङ्गस्य स्वनद्रथः ॥३२॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (मह्यं) मेरे लिए (हिरण्यया, त्वचा) दिव्य-ज्ञानकारक त्वगिन्द्रिय के (सह) सहित (ऋज्रा) अनेक गतिशील पदार्थ (मामहे) देता है (एषः) यह (स्वनद्रथः) शब्दायमान ब्रह्माण्ड का स्वामी परमात्मा (आसंगस्य) अपने में आसक्त उपासक के (अभि) अभिमुख (विश्वानि, सौभगा) सकल शुभ ऐश्वर्यों को (अस्तु) सम्पादन करे ॥३२॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि परमात्मा ने सृष्टि में अनेकानेक

विचित्र पदार्थ और उनको जानने के लिए विचित्र शक्ति प्रदान की है, अतएव ऐश्वर्याभिलाषी पुरुष को उचित है कि वह सर्वदा उनके ज्ञानोत्पादन का प्रयत्न करे, और जो निरन्तर परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त हुए ज्ञान प्राप्त करते हैं उनको परमात्मा सकल ऐश्वर्यों का स्वामी बनाते हैं, इसलिए प्रत्येक उपासक का कर्तव्य है कि वह परमात्मा की उपासना द्वारा ज्ञान प्राप्त करे ॥३२॥

अब परमात्मपरायण कर्मयोगी का महत्त्व कथन करते हैं ॥

अध प्लायोगिरति दासदन्यानासङ्गो अग्ने दशभिः सहस्रैः ।
अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नळा इव सरसो निरतिष्ठन् ॥३३॥

पदार्थः—(अग्ने) हे परमात्मन् ! (अध) आपसे ऐश्वर्यलाभ करने पर(प्लायोगिः) अनेक प्रयोग करने वाला (आसंगः) आपके ऐश्वर्य में चित्त लगाने वाला कर्मयोगी (दशभिः, सहस्रैः) दश सहस्र योद्धाओं के साथ आये हुए (अन्यान्) शत्रुओं को (अति) अतिक्रमण करने में समर्थ (दश, उक्षणः) आनन्द की वृष्टि करने वाले दश वीरों को (मह्यं) मेरे लिये (दासत्) दे (अध) और वे वीर (रुशंतः) बलवृद्धि से देदीप्यमान हुए (सरसः) सरोवर से (नळा इव) नड=तृण विशेष के समान (निः, अतिष्ठन्) संगत होकर उपस्थित हों ॥३३॥

भावार्थः—इस मंत्र में कर्मयोगी का पराक्रम वर्णन किया गया है कि परमात्मपरायण कर्मयोगी नाना प्रकार के प्रयोगों द्वारा अपनी अस्त्र-शस्त्र विद्या को इतना उन्नत कर लेता है कि सहस्रों मनुष्यों की शक्तियों को भस्मीभूत तथा चूर्ण कर सकता है, इसलिए परमात्मोपासन में प्रवृत्त हुए पुरुष को उचित है कि वह अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण हो ॥३३॥

अब परमात्मा को भोग्य पदार्थों का 'आकर' कथन करते हैं ॥

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः ।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि ॥३४॥

पदार्थः—(नस्य) इस परमात्मा का कार्यभूत (स्थूरं) स्थूल=प्रत्यक्षयोग्य (अनस्थः) नश्वर (ऊरुः) अति विस्तीर्ण (अवरंबमाणः) अवलम्बमान यह ब्रह्माण्ड (पुरस्तात्) आगे (अनु, ददृशे) दृष्टिगोचर हो रहा है (अभिचक्ष्य) उसको देखकर (शश्वती, नारी) नित्या प्रकृतिरूप स्त्री (आह) कहती है कि (अर्य) हे दिव्यगुणसम्पन्न परमात्मन् ! आप (सुभद्रं)सुन्दर कल्याणमय (भोजनं) भोगयोग्य पदार्थों के समूह को (बिभर्षि) धारण करते हैं ॥३४॥

भावार्थः—कूटस्थनित्य, नित्य, अनित्य, मिथ्या तथा तुच्छ, इस प्रकार पदार्थों की पांच प्रकार की सत्ता पाई जाती है, जैसा कि ब्रह्म कूटस्थ नित्य, प्रकृति तथा जीव केवल नित्य, यह कार्यरूप ब्रह्माण्ड अनित्य, रज्जु सर्पादिक प्रातिभासिक पदार्थ मिथ्या और शशशृंग, वन्ध्यापुत्रादि तुच्छ कहे जाते हैं, इसी प्रकार इस मंत्र में इस ब्रह्माण्ड को "अनस्थ" शब्द से अनित्य कथन किया है, जैसाकि "न आ सर्वकालमभिव्याप्य तिष्ठतीत्यनस्थः" इस व्युत्पत्ति से "अनस्थ" का अर्थ सब काल में न रहने वाले पदार्थ का है, "अ" का व्यत्यय से ह्रस्वादेश हो गया है। अर्थात् जो परिणामी नित्य हो उसको "अनस्थ" शब्द से कहा जाता है। इसी भाव को इस मंत्र में वर्णन किया गया है कि यह कार्यरूप ब्रह्माण्ड अनस्थ=सदा स्थिर रहने वाला नहीं, यद्यपि यह अनित्य है तथापि ईश्वर की विभूति और जीवों के भोग का स्थान होने से इसको भोजन कथन किया गया है।

यहां अत्यन्त खेद से लिखना पड़ता है कि "भोजन" के अर्थ सायणाचार्य ने उपस्थेन्द्रिय के किये हैं और "अवरंबमाण" के लटकते हुए करके मनुष्य के गुप्तेन्द्रिय में संगत कर दिया है। इतना ही नहीं, किन्तु "स्थूल" शब्द से उसको और भी पुष्ट किया है, केवल सायणाचार्य ही नहीं इनकी पदपद्धति पर चलने वाले विलसन तथा ग्रीफ्थ आदि योरोपीय आचार्यों ने भी इसके अत्यन्त निन्दित अर्थ किये हैं, जिनको सन्देह हो वह उक्त आचार्यों के भाष्यों का पाठ कर देखें ॥३४॥

अष्टम मण्डल में पहला सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वाचत्वारिंशदृचस्य द्वितीयसूक्तस्य १–४० मेधातिथिः काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः। ४१, ४२ मेधातिथिर्ऋषिः ॥ देवताः–१–४० इन्द्रः। ४१, ४२ विभिन्दोर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः–१–३, ५, ६, ९, ११, १२, १४, १६–१८, २२, २७, २९, ३१, ३३, ३५, ३६, ३८, ३९, आर्षी गायत्री। ४, १३, १५, १९–२१, २३–२६, ३०, ३२, ३६, ४२ आर्षी निचृद्गायत्री। ७, ८, १०, ३४, ४० आर्षी विराड् गायत्री। ४१ पाद निचृद् गायत्री। २८ आर्ची स्वराडनुष्टुप् ॥ स्वरः–१–२७, २९–४२ षड्जः। २८ गान्धारः ॥

अब कर्मयोगी का सत्कार करना कथन करते हैं ॥

इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्।
अनाभयिन्ररिमा ते ॥१॥

पदार्थः—(वसो) हे बलों से आच्छादन करने वाले कर्मयोगिन् ! (इदं) वीरों के लिये विभज्यमान इस (सुतं) सिद्ध (अन्धः) आह्लादक रस को (सुपूर्णं, उदरं) उदरपूर्ति पर्य्यन्त (पिबा) पियो । (अनाभयिन्) हे निर्भीक वीर ! (ते) तुम्हारे लिये (ररिमा) हम देते हैं ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है—सेना का नेता वीरों के प्रति कथन करता है कि हे कर्मयोगी शूरवीरो ! तुम इस सिद्ध किये हुए आह्लादक सोमादि रस का पान करो; यह तुम्हारे लिये सिद्ध किया हुआ है अर्थात् विजय को प्राप्त कर्मयोगी शूरवीरों की सेवा-शुश्रूषा सोमादि रसों से विधान की गई है ॥१॥

अब सोमरस का महत्त्व वर्णन करते हैं ॥

नृभि॑र्धू॒तः सु॒तो अश्नै॒रव्यो॒ वारैः॒ परि॑पूतः ।

अश्वो॒ न नि॒क्तो न॒दीषु॑ ॥२॥

पदार्थः—(नृभिः, धूतः) उक्त रस नेताओं से शोधित, (सुतः) सम्यक् संस्कृत, (अश्नैः, अव्यः) व्यापक बनने वाले वीरों का रक्षणीय (वारैः) वरणीय=विश्वसनीय पुरुषों द्वारा (परिपूतः) सर्वथा परीक्षित, (नदीषु) जलाधारों में (निक्तः) उत्पन्न किये हुए (अश्वः, न) विद्युत् के समान शक्तिप्रद है ॥२॥

भावार्थः—यह सोमरस जो विद्वान् वैद्यों द्वारा शोधकर तैयार किया जाता है वह युद्धविशारद नेताओं का रक्षक होता है अर्थात् उसके पान करने से शरीर में विचित्र बल तथा ऐसी फुरती आ जाती है कि वे शत्रु पर अवश्य विजय प्राप्त करते हैं अर्थात् उक्त रस पान करने पर शूरवीर को विद्युत् के समान तेजस्वी और ओजस्वी बना देता है ॥२॥

अब यज्ञ में ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी का उपदेशार्थ
आह्वान कथन करते हैं ॥

तं ते॒ यवं॒ यथा॒ गोभिः॑ स्वा॒दुम॑कर्म श्री॒णन्तः॑ ।

इन्द्र॑ त्वा॒ स्मिन्त्स॑ध॒मादे॑ ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्दनशील कर्मयोगिन्! (ते) तुम्हारे लिये (तं, यवं) अनेक पदार्थ मिश्रित उस रस को (गोभिः) गव्य पदार्थों से (यथा, स्वादुं) विधिपूर्वक स्वादु, (श्रीणंतः) सिद्ध करने वाले हम लोगों ने (अकर्म) किया है । (अस्मिन्, सधमादे) इस सपीतिस्थान में (त्वा) आपका आह्वान करते हैं ॥३॥

भावार्थः—याज्ञिक लोग ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी पुरुषों का यज्ञस्थान में आह्वान करते हैं कि हम लोगों ने आपके लिये गव्य पदार्थों द्वारा स्वादु रस सिद्ध किया है; आप कृपाकरके हमारे यज्ञ को सुशोभित करते हुए इसका पान करें और हमारे यज्ञ में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का उपदेश कर हमें कृतकृत्य करें। स्मरण रहे कि यज्ञों में जो सोमादि रस सिद्ध किये जाते हैं वह आह्लादक होते हैं मादक नहीं ॥३॥

अब कर्मयोगी का महत्त्व कथन करते हैं ॥

इन्द्र इत्सोमपा एक इन्द्रः सुतपा विश्वायुः ।
अन्तर्देवान्मर्त्यांश्च ॥४॥

पदार्थः—(देवान्, मर्त्यान्, च, अन्तः) विद्वान् तथा सामान्य पुरुषों के मध्य (विश्वायुः) विश्व को वशीभूत करने की इच्छा वाला (इन्द्रः, इत्) कर्मयोगी ही (सोमपाः) परमात्मसम्बन्धि ज्ञान पाने योग्य होता और (इन्द्रः, एकः) केवल कर्मयोगी ही (सुतपाः) सांसारिक ज्ञान प्राप्त करता है ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्मयोगी का महत्व वर्णन किया गया है कि विश्व को वशीभूत करने वाला कर्मयोगी परमात्मसम्बन्धी तथा सांसारिक ज्ञान उपलब्ध करता है; इसलिये पुरुष को कर्मयोगी बनना चाहिये। या यों कहो कि देव तथा मनुष्यों के बीच कर्मयोगी ही इस विविध विश्व के ऐश्वर्य्य को भोगता है, इसलिये अभ्युदय की इच्छा वाले पुरुषों का कर्तव्य है कि वह उस कर्मयोगी की संगति से अभ्युदय प्राप्त करें ॥४॥

न यं शुक्रो न दुराशीर्न तृप्रा उरुव्यचसम् ।
अपस्पृण्वते सुहार्दम् ॥५॥

पदार्थः—(यं) जिस कर्मयोगी को (शुक्रः) बलवान् (न, अपस्पृण्वते) नहीं प्रसन्न रखता सो नहीं (उरुव्यचसं) महाव्याप्ति वाले कर्मयोगी को (दुराशीः, न) दुष्प्राप मनुष्य नहीं प्रसन्न रखता सो नहीं (सुहार्दं) सर्वोपकारक कर्मयोगी को (तृप्राः) सर्वपूर्णकाम मनुष्य (न) नहीं प्रसन्न रखते सो नहीं ॥५॥

भावार्थः—इस में मन्त्र यह वर्णन किया है कि बलवान्, दुष्प्राप्य तथा पूर्णकाम आदि सब पुरुष कर्मयोगी को सदा प्रसन्न रखते तथा उसी के अनुकूल आचरण करते हैं, अर्थात् सब अनुचर जैसा सम्बन्ध रखते हुए सदा उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं ताकि वह प्रसन्न हुआ सबको विद्यादान द्वारा तृप्त करे ॥५॥

अब कर्मयोगी से विद्याग्रहण करना कथन करते हैं ॥

गोभिर्यदीमन्ये अस्मन्मृगं न व्रा मृगयन्ते ।

अभित्सरन्ति धेनुभिः ॥६॥

पदार्थः—(यत्) जो (अस्मत्, अन्ये, व्राः) हमसे अन्य क्रूर सेवक लोग (ईं) इसको (गोभिः) गव्य पदार्थ लिये हुए (मृगं, न) जैसे व्याध मृग को ढूंढ़ता है इस प्रकार (मृगयन्ते) ढूंढ़ते हैं, और जो लोग (धेनुभिः) वाणियों द्वारा (अभित्सरन्ति) छलते हैं वह उसको प्राप्त नहीं हो सकते ॥६॥

भावार्थः—जो लोग कर्मयोगी का क्रूरता से वंचन करते हैं वह उससे विद्या सम्बन्धी लाभ प्राप्त नहीं कर सकते और जो लोग वाणीमात्र से उसका सत्कार करते हैं अर्थात् उसको अच्छा कह छोड़ते हैं और उसके कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते वह भी उससे लाभ नहीं उठा सकते; और न ऐसे अनुष्ठानी पुरुष कभी भी अभ्युदय को प्राप्त होते हैं। इसलिये जिज्ञासु पुरुषों को उचित है कि सदैव सरलचित्त से उसकी सेवा तथा आज्ञापालन करते हुए उससे विद्या का लाभ करें और उसके कर्मों का अनुष्ठान करते हुए अभ्युदय को प्राप्त हों ॥६॥

त्रय इन्द्रस्य सोमाः सुतासः सन्तु देवस्य ।

स्वे क्षये सुतपाव्नः ॥७॥

पदार्थः—(सुतपाव्नः) संस्कृत पदार्थों का सेवन करने वाले (देवस्य) दिव्य तेजस्वी (इन्द्रस्य) कर्मयोगी को (स्वे, क्षये) स्वकीययज्ञसदन में (त्रयः, सोमाः) तीन सोम भाग (सुतासः, सन्तु) दान के लिये संस्कृत हों ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र का तात्पर्य्य यह है कि तेजस्वी कर्मयोगी के लिये पुनः-पुनः अर्चन निमित्त तीन सोम भागों के संस्कार का विधान है अर्थात् यज्ञ में आये हुए कर्मयोगी को आगमन, मध्य और गमनकाल में सोमादि उत्तमोत्तम पदार्थ अर्पण करे जिससे वह प्रसन्न होकर विद्यादि सद्गुणों का उपदेश करके जिज्ञासुओं को अनुष्ठानी बनावे ॥७॥

अब शत्रुविजय के लिये सामग्री कथन करते हैं ॥

त्रयः कोशासः श्चोतन्ति तिस्रश्चम्वः सुपूर्णाः ।

समाने अधि भार्मन् ॥८॥

पदार्थः—(समाने, भार्मन्, अधि) समान संग्राम प्राप्त होने पर (त्रयः) तीन (कोशासः) अर्थसमूह (श्चोतंति) फल को प्राप्त करते हैं; (तिस्रः) तीन (चम्वः) सेनायें (सुपूर्णाः) सुसज्जित फलप्रद होती हैं ॥८॥

भावार्थः—शत्रु के साथ संग्राम प्राप्त होने पर तीन प्रकार की सामग्री से विजय प्राप्त होती है अर्थात् (१) विद्याकोश=बुद्धिमान् सेनापति जो सेना को विचारपूर्वक संग्राम में प्रवृत्त करे (२) बलकोश=बलवान् सैनिकों का होना, और (३) धनकोश=धन का पर्याप्त होना; ये तीन कोश जिसके पास पूर्ण होते हैं वह अवश्य विजय को प्राप्त होता है; अन्य नहीं ॥८॥

अब वीरों के लिये बलकारक भक्ष्य पदार्थों का विधान कथन करते हैं ॥

शुचिरसि पुरुनिष्ठाः क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः ।

दध्ना मन्दिष्ठः शूरस्य ॥९॥

पदार्थः—हे आह्लादजनक उत्तम रस ! तुम (शुचिः, असि) शुद्ध हो, (पुरुनिष्ठाः) अनेक कर्मयोगियों में रहने वाले हो, (क्षीरैः, दध्ना) क्षीर दध्यादि शुद्ध पदार्थों के (मध्यतः, आशीर्तः) मध्य में संस्कृत किये गये हो, तथा (शूरस्य, मंदिष्ठः) शूरवीर कर्मयोगी के हर्ष को उत्पन्न करने वाले हो ॥९॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पुष्टिकारक तथा आह्लादजनक दूध घृतादि पदार्थों की महिमा वर्णन की गई है अर्थात् कर्मयोगी शूरवीरों के अंग-प्रत्यंग दूध, दधि तथा घृतादि शुद्ध पदार्थों से ही सुसंगठित तथा सुरूपवान् होते हैं; तमोगुण उत्पादक मादक द्रव्यों से नहीं। इसलिये प्रत्येक पुरुष को उक्त पदार्थों का ही सेवन करना चाहिये। हिंसा से प्राप्त होने वाले तथा मादकद्रव्यों का नहीं ॥९॥

इमे त इन्द्र सोमास्तीव्रा अस्मे सुतासः ।

शुक्रा आशिरं याचन्ते ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (अस्मे, सुतासः) हम लोगों से निष्पादित (शुक्राः) शुद्ध (तीव्राः) पौष्टिक (इमे, ते) यह आपके (सोमाः) सौम्यरस (आशिरं, याचन्ते) आश्रय की याचना कर रहे हैं ॥१०॥

भावार्थः—याज्ञिक लोगों का कथन है कि हे कर्मयोगी महात्माओ ! हम लोगों से सिद्ध किया हुआ यह शुद्ध, पौष्टिक सोमरस आपके लिये उपस्थित है, आप इसका पान करें। तात्पर्य्य यह है कि सोमादि रस उत्तम कर्मयोगी में ही जाकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं, असत्पुरुष में नहीं ॥१०॥

अब कर्मयोगी को पुरोडाश का देना कथन करते हैं ॥

ताँ आशिरं पुरोळाशमिन्द्रेमं सोमं श्रीणीहि ।
रेवन्तं हि त्वा शृणोमि ॥११॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन्! (तान्) उन रसों को और (आशिरं, पुरोडाशं) पय आदि से बने हुए पुरोडाशरूप (इमं, सोमं) इस शोभन भाग को (श्रीणीहि) ग्रहण करें (हि) क्योंकि (त्वां) आपको (रेवन्तं) ऐश्वर्य्य सम्पन्न (शृणोमि) सुनते हैं ॥११॥

भावार्थः—[पुरो दाश्यते दीयते इति पुरोडाशः=जो पुरः=पहिले दाश्यते=दिया जाय उसको "पुरोडाश" कहते हैं।] याज्ञिक पुरुषों का कथन है कि हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न कर्मयोगिन् ! पय आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से बने हुए इस "पुरोडाश"=यज्ञशेष को आप ग्रहण करें। स्मरण रहे कि पुरोडाश को पहले देने का कारण यह है कि वह यज्ञ के हवनीय पदार्थों में सर्वोत्तम बनाया जाता है, इसलिये उसका सब से पहले देने का विधान है ॥११॥

अब "सोमरस" के गुण कथन करते हैं ॥

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम् ।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥१२॥

पदार्थः—(पीतासः) पिये हुए सोमरस (हृत्सु) उदर में (युध्यन्ते) पुष्टियुक्त होने से पाकावस्था में पुष्टि आह्लाद आदि अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करते हैं, (सुरायां) सुरापान से (दुर्मदासः, न) जैसे दुर्मद उत्पन्न होते हैं वैसे नहीं। (नग्नाः) स्तोता लोग (ऊधः, न) आपीन=स्तनमण्डल के समान फल से भरे हुए आपकी (जरन्ते) रसपान के लिये स्तुति करते हैं ॥१२॥

भावार्थः—इस मंत्र में सोमरस के गुण वर्णन किये गये हैं कि पान किया हुआ सोमरस पुष्टि, आह्लाद तथा बुद्धिवर्द्धकता आदि उत्तम गुण उत्पन्न करता है; सुरापान के समान दुर्मद उत्पन्न नहीं करता। अर्थात् जैसे सुरा बुद्धिनाशक तथा शरीरगत बलनाशक होती है वैसा सोमरस नहीं; इसलिए हे कर्मयोगिन् ! स्तोता लोग उक्त रसपान के लिए आपसे प्रार्थना करते हैं कि कृपा करके इसको ग्रहण करें ॥१२॥

अब कर्मयोगी के गुण धारण करने वाले पुरुष को तेजस्वी होना कथन करते हैं ॥

रेवाँ इद्रेवतः स्तोता स्यात्त्वावतो मघोनः ।
प्रेदु हरिवः श्रुतस्य ॥१३॥

पदार्थः—(हरिवः) हे हरणशीलशक्ति वाले कर्मयोगिन् ! (त्वावतः) आप सदृश (मघोनः) धनवान् (रेवतः) ऐश्वर्यवान् (श्रुतस्य) लोकप्रसिद्ध अन्य मनुष्य का भी (स्तोता) स्तुति करने वाला (रेवान्, इत्) निश्चय ऐश्वर्यवान् (प्र, स्यात्, इत्) होता ही है। (ऊम्) फिर, आपका स्तोता क्यों न हो ? ॥१३॥

भावार्थः—हे कर्मयोगिन् ! आपके सदृश गुणों वाला पुरुष धनवान्, ऐश्वर्यवान् तथा ऐश्वर्यसम्पन्न होता है अर्थात् जो पुरुष कर्मयोगी के उपदेशों को ग्रहण करके तदनुकूल आचरण बनाता है वह अवश्य ऐश्वर्यवाला तथा तेजस्वी होता है ॥१३॥

उक्थं चन शस्यमानमगोररिरा चिकेत ।

न गायत्रं गीयमानम् ॥१४॥

पदार्थः—(अगोः, अरिः) प्रशस्त वाणी रहित असत्यवादी का शत्रु, कर्मयोगी (शस्यमानं, उक्थं, चन) स्तुत्यर्ह शस्त्र को भी (आचिकेत) जानता है; (न) सम्प्रति (गीयमानं) कहे हुए (गायत्रं) स्तोत्र को भी जानता है; अतः कृतज्ञ होने से स्तोतव्य है ॥१४॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि जिस पुरुष की वाणी प्रशस्त नहीं अर्थात् जो अनृतवादी और अकर्मण्य है वह कर्मयोगी के सन्मुख नहीं ठहर सकता; क्योंकि कर्मयोगी स्तुत्यर्ह स्तोत्रों का ज्ञाता होने से परमात्मा की आज्ञा का पूर्णतया पालन करने वाला होता है ॥१४॥

अब कर्मयोगी के प्रति जिज्ञासु की प्रार्थना कथन करते हैं ॥

मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः ।

शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥१५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! आप (नः) हमको (पीयत्नवे) हिंसक के लिये (मा) मत (परा, दाः) समर्पित करें—(शर्धते) जो अत्यन्त दुःखदाता है उसको मत दीजिये। (शचीवः) हे शक्तिमन् ! (शचीभिः) अपनी शक्तियों द्वारा (शिक्ष) मेरा शासन कीजिये ॥१५॥

भावार्थः—इस मंत्र में जिज्ञासु की ओर से यह प्रार्थना कथन की गई है कि हे शासनकर्ता कर्मयोगिन् ! आप मुझको उस हिंसक तथा क्रूरकर्मा मनुष्य के वशीभूत न करें जो अत्यन्त कष्ट भुगाता है; कृपा करके आप मुझको अपने ही शासन में रखकर मेरा जीवन उच्च बनावें; जिससे मैं परमात्मा की आज्ञापालन करता हुआ उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहूँ।

स्मरण रहे कि मंत्र में "शची" शब्द बुद्धि, कर्म तथा वाणी के अभिप्राय से आया है और वैदिककोश में इसके उक्त तीन ही अर्थ किये गये हैं अर्थात् "शची" शब्द यहां कर्मयोगी की शक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है; किसी व्यक्तिविशेष के लिए नहीं ॥१५॥

अब कर्मयोगी की स्तुति करना कथन करते हैं ॥

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।

कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥१६॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (तदिदर्थाः) आप ही के समान प्रयोजन वाले, अतएव (सखायः) समान ख्याति वाले, (त्वायन्तः) आपकी कामना (उ) तथा (कण्वाः) ज्ञान के लिए परिश्रम करते हुए (वयं) हम लोग (उक्थेभिः) आपके किये हुए कर्मों के स्तोत्रों द्वारा (त्वा) आपकी (जरन्ते) स्तुति करते हैं ॥१६॥

भावार्थः—इस मंत्र में जिज्ञासुजन कर्मयोगी की स्तुति करते हुए यह कथन करते हैं कि हे भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें कि हम लोग आपके समान सद्गुण-सम्पन्न होकर समान ख्याति वाले हों, आप हमारी इस कामना को पूर्ण करें ॥१६॥

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।

तवेदु स्तोमं चिकेत ॥१७॥

पदार्थः—(वज्रिन्) हे वज्रशक्तिशालिन् ! (अपसः, नविष्टौ) कर्मों के नूतन यज्ञ में (अन्यत्) अन्य की (आ पपन, न, घ, ईं) स्तुति नहीं ही करता हूं; (तव, इत्, उ) आप ही के (स्तोमं) स्तोत्र को (चिकेत) जानता हूं ॥१७॥

भावार्थः—जिज्ञासु की ओर से यह स्तुति की गई है कि हे बड़ी शक्ति वाले कर्मयोगिन् ! नवीन रचनात्मक कर्मरूपी यज्ञ में मैं आप ही की स्तुति करता हूं; कृपा करके मुझको आप अपने सदुपदेशों से कर्मण्य बनावें ताकि मैं भी कर्मशील होकर ऐश्वर्य प्राप्त करूं ॥१७॥

अब उद्योगी पुरुष के लिए निरालस्य से परमानन्द की प्राप्ति कथन करते हैं ॥

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।

यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥१८॥

पदार्थः—(देवाः) दिव्यकर्मकर्ता योगीजन (सुन्वन्तं) क्रियाओं में तत्पर मनुष्य को (इच्छन्ति) चाहते हैं; (स्वप्नाय) आलस्य को (न) नहीं (स्पृहयन्ति) चाहते। (अतन्द्राः) निरालस होकर (प्रमादं) परमानन्द को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥१८॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि उत्तमोत्तम आविष्कारों में तत्पर कर्मयोगी लोग निरालसी क्रियाओं में तत्पर पुरुष को विविध रचनात्मक कामों में प्रवृत्त करते हैं अर्थात् उद्योगी पुरुष को अपने उपदेशों द्वारा कलाकौशलादि अनेकविध कामों को सिखलाते हैं। और ऐसा पुरुष जो आलस्य को त्यागकर निरन्तर उद्योग में प्रवृत्त रहता है वही सुख भोगता तथा वही परमानन्द को प्राप्त होता है और आलसी व्यसनों में प्रवृत्त हुआ निरन्तर अपनी अवनति करता तथा सुख, सम्पत्ति और आनन्द से सदा वंचित रहता है, इसलिए ऐश्वर्य और आनन्द की कामना वाले पुरुष को निरन्तर उद्योगी होना चाहिए ॥१८॥

अब कर्मयोगी के लिए आह्वान कथन करते हैं।

ओ षु प्र याहि वाजेभिर्मा हृणीथा अभ्यस्मान् ।
महाँ इव युवजानिः ॥१९॥

पदार्थः—हे कर्मयोगिन् ! (वाजेभिः) आप अपने बलों के सहित (अस्मान्, अभि) हमारे अभिमुख (सु) शोभन रीति से (प्र, उ) अवश्य (आयाहि) आवें; (महान्, युवजानि, इव) जैसे दीर्घावस्थापन्न पुरुष युवती स्त्री को उद्वाहित करके लज्जित होता है इस प्रकार (मा, हृणीथाः) लज्जित मत हों ॥१९॥

भावार्थः—राजलक्ष्मी जो सदा युवती है उसका पति वयोवृद्ध=हतपुरुषार्थ तथा जीर्णावयवों वाला पुरुष कदापि नहीं हो सकता; या यों कहो कि जिस प्रकार युवती स्त्री का पति वृद्ध हो तो वह पुरुष सभा समाज तथा सदाचार के नियमों से लज्जित होकर अपना शिर ऊंचा नहीं कर सकता; इसी प्रकार जो पुरुष हतोत्साह तथा शूरतादि गुणों से रहित है वह राज्यश्रीरूप युवती का पति बनने योग्य नहीं होता। इस मंत्र में वृद्धविवाह तथा हतोत्साह पुरुष के लिए राजलक्ष्मी की प्राप्ति दुर्घट कथन की है अर्थात् युवती स्त्री के दृष्टान्त से इस बात को बोधन किया है कि शूरवीर बनने के लिए सदा युवावस्थापन्न शौर्यादि भावों की आवश्यकता है ॥१९॥

मो ष्व१द्य दुर्हणावान्त्सायं करदारे अस्मत् ।
अश्रीर इव जामाता ॥२०॥

पदार्थः—(अद्य) इस समय (दुर्हणावान्) शत्रुओं से न सहने योग्य हनन करने वाले आप (अस्मद्, आरे) हमारे समीप आइये; (सु) अति (सायं) विलम्ब (मा, करत्) मत करें—(अश्रीरः) निर्धन (जामाता, इव) जामाता के समान ॥२०॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि हे सर्वविद्यासम्पन्न कर्मयोगिन् ! आप शत्रुओं का हनन करने वाले तथा विद्यादाता हैं; कृपा करके हमारे यज्ञ में पधारें। निर्धन जामाता के समान अति विलम्ब न करें अर्थात् जैसे निर्धन जामाता विना सामग्री के ठीक समय पर नहीं पहुंच सकता इस प्रकार आप अतिकाल न करें ॥२०॥

वि॒द्मा ह्य॑स्य वी॒रस्य॑ भूरि॒दावं॑रीं सुम॒तिम् ।

त्रि॒षु जा॒तस्य॒ मनां॑सि ॥२१॥

पदार्थः—(अस्य, वीरस्य) इस कर्मयोगी वीर की (भूरिदावरीं) बहुदानशील (सुमतिं) सुमति को (विद्म, हि) हम जानें; (त्रिषु) सत्वादि तीनों गुणों में (जातस्य) प्रविष्ट होने वाले वीर के (मनांसि) मन को हम जानें ॥२१॥

भावार्थः—यज्ञ में आये हुए कर्मयोगी की प्रशंसा करते हुए जिज्ञासुजनों का कथन है कि विद्यादि का दान देने वाले इस बुद्धिमान् के अनुकूल हम लोग आचरण करें जिसने सत्वादि तीनों गुणों को जाना है अर्थात् जो प्राकृतिक पदार्थों को भले प्रकार जानकर नवीन आविष्कारों का करने वाला है। या यों कहो कि पदार्थविद्या में भले प्रकार निपुण कर्मयोगी से विद्यालाभकर ऐश्वर्यशाली हों ॥२१॥

अब यज्ञ में आये हुए कर्मयोगी का सत्कार करना कथन करते हैं।

आ तू षि॑ञ्च॒ कण्व॑मन्तं॒ न घा॑ विद्म शव॒सा॒नात् ।

य॒शस्त॑रं श॒तमू॑तेः ॥२२॥

पदार्थः—हे जिज्ञासु जनो ! (कण्वमंतं) विद्वानों से युक्त कर्मयोगी की (तु) शीघ्र (आ, सिंच) अभिषेकादि से अर्चना करो। (शवसानात्) बल के आधार, (शतमूतेः) अनेक प्रकार से रक्षा करने में समर्थ कर्मयोगी से (यशस्तरं) यशस्वितर अन्य को (न, घ, विद्म) हम नहीं जानते ॥२२॥

भावार्थः—याज्ञिक लोगों का कथन है कि हे जिज्ञासुजनसमुदाय ! तुम सब मिलकर विद्वानों सहित आये हुए कर्मयोगी का अर्चन तथा विविध प्रकार से सेवा-सत्कार करो जो विद्वान् महात्माओं के लिए अवश्यकर्तव्य है,

यह बलवान्, यशस्वी तथा अनेक प्रकार से रक्षा करने वाले योगीराज प्रसन्न होकर हमें विद्यादान द्वारा कृतार्थ करें, क्योंकि इनके समान यशस्वी, प्रतापी तथा वेदविद्या में निपुण अन्य कोई नहीं है ॥२२॥

ज्येष्ठेन सोतरिन्द्राय सोमं वीराय शक्राय ।

भरा पिबन्नर्याय ॥२३॥

पदार्थः—(सोतः) हे सोमरसोत्पादक ! (वीराय) शत्रुओं का विशेषतया नाश करने वाले, (शक्राय) समर्थ, (नर्याय) मनुष्यों के हितकारक, (इन्द्राय) कर्मयोगी के लिए (ज्येष्ठेन) सबसे पूर्वभाग के (सोमं) सोमरस को (भर) आहरण करो जिसको वह (पिबत्) पान करे=पीवे ॥२३॥

भावार्थः—सोमरस बनाने वाले को "सोता" कहते हैं। याज्ञिक लोगों का कथन है कि हे सोता ! शत्रुओं के नाशक, सब कामों के पूर्ण करने में समर्थ तथा सबके हितकारक कर्मयोगी के लिए सर्वोत्तम सोमरस भेंट करो जिसको पानकर वह प्रसन्न हुए सद्गुणों की शिक्षा द्वारा हमको अभ्युदय-सम्पन्न करें ॥२३॥

यो वेदिष्ठो अव्यथिष्वश्वावन्तं जरितृभ्यः ।

वाजं स्तोतृभ्यो गोमन्तम् ॥२४॥

पदार्थः—(यः) जो कर्मयोगी (अव्यथिषु) अहिंसकों में (वेदिष्ठः) धनों का अत्यन्त लाभ कराने वाला है; (जरितृभ्यः) स्तुति करने वाले (स्तोतृभ्यः) कवियों के लिये (अश्वावन्तं) अश्वसहित (गोमन्तं) गोसहित (वाजं) अन्नादि समर्पित करता है ॥२४॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि जो कर्मयोगी धनों का लाभ कराने वाला और जो कवि=वेदों के ज्ञाता उपासकों के लिए अश्व, गो तथा अन्नादि नाना धनों का समर्पण करने वाला है उसका हम लोग श्रद्धा-पूर्वक सत्कार करें ताकि वह प्रसन्न होकर ऐश्वर्य का लाभ कराने वाला हो ॥२४॥

पन्यंपन्यमित्सोतार आ धावत मद्याय ।

सोमं वीराय शूराय ॥२५॥

पदार्थः—(सोतारः) हे जिज्ञासा वाले मनुष्यो ! (मद्याय) अन्नपानादि सत्कार

द्वारा हर्षित करने योग्य (वीराय) शत्रुहन्ता (शूराय) ओजस्वी कर्मयोगी के लिए (सोमं) सोमरस (पन्यंपन्यं, इत्) स्वादु स्वादु ही (आधावत) संस्कृत करें ॥२५॥

भावार्थः—हे जिज्ञासुजनो ! इस वेदविद्या के ज्ञाता ओजस्वी=बलवान् कर्मयोगी का सत्कार उत्तम प्रकार से बने हुए सोमरस द्वारा ही करना चाहिए; जिससे वह हर्षित हुआ उत्तमोत्तम उपदेशों द्वारा हमारे जीवन में पवित्रता का संचार करे ॥२५॥

पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् ।

नि यमते शतमूतिः ॥२६॥

पदार्थः—(सुतं) संस्कृत पदार्थ का (पाता) पान करने वाला (वृत्रहा) शत्रुहन्ता कर्मयोगी (अस्मत्, आरे) हमसे दूर (न) न हो; (आगमत्, घ) समीप में ही आवे। (शतमूतिः) अनेकविध रक्षा करने वाला कर्मयोगी ही (नियमते) शासन करता है ॥२६॥

भावार्थः—जिज्ञासुजन प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! आप हमारे समीप आवें अर्थात् विद्या, शिक्षा तथा अनेकविध उपायों से हमारी रक्षा करें, क्योंकि रक्षा करने वाला कर्मयोगी ही शासक होता है, अरक्षक नहीं ॥२६॥

अब यज्ञस्थान को प्राप्त ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी का परमात्मोपदेश करना कथन करते हैं ॥

एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् ।

गीर्भिः श्रुतं गिर्वणसम् ॥२७॥

पदार्थः—(ब्रह्मयुजा) परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले (शग्मा) लोक के सुखजनक (हरी) ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी (इह) मेरे यज्ञ में (सखायं) सब के मित्र (श्रुतं) प्रसिद्ध (गिर्वणसं) वाणियों द्वारा भजनीय परमात्मा को (गीर्भिः) वाणियों से (आवक्षतः) आवाहित करें ॥२७॥

भावार्थः—परमात्मा की आज्ञा पालन करने वाले तथा संसार को सुख का मार्ग विस्तृत करने वाले ज्ञानयोगी और कर्मयोगी यज्ञ में आकर वेदवाणियों द्वारा उस प्रभु की उपासना करते हुए सब जिज्ञासुजनों को परमात्मा की आज्ञा पालन करने का उपदेश करते हैं कि हे जिज्ञासुओ ! तुम उस परमात्मा की उपासना तथा आज्ञापालन करो जो सबको मित्रता की

दृष्टि से देखता है; जैसा कि "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्" इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि सर्वमित्र परमात्मा की उपासना करता हुआ प्रत्येक पुरुष उसी की आज्ञापालन में तत्पर रहे ॥२७॥

अब उपदेशानन्तर उनका सत्कार करना कथन करते हैं ॥

स्वादवः सोमा आ याहि श्रीताः सोमा आ याहि ॥

शिप्रिन्नृषीवः शचीवो नायमच्छा सधमादम् ॥२८॥

पदार्थः—(शिप्रिन्) हे शोभन शिरस्त्राणवाले, (ऋषीवः) विद्वानों से युक्त, (शचीवः) शक्तिसम्पन्न कर्मयोगिन् ! (सोमाः) आपके पानार्ह रस (स्वादवः) स्वादुत्वयुक्त हो गये; (आयाहि) अतः उनके पानार्थ आइये और (श्रीता, सोमाः) वह रस परिपक्व हो गए हैं; (आयाहि) अतएव आइये । (न) इस समय (सधमादं) साथ-साथ भक्ष्य तथा पान क्रिया योग्य आपके (अच्छ) अभिमुख (अयं) यह स्तोता स्तुति करता है ॥२८॥

भावार्थः—इस मंत्र में ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी का सत्कार कथन किया है कि हे भगवन् ! आप विद्वानों सहित भोजन तथा उत्तमोत्तम रसों का पान करें, यह भक्ष्य तथा पानक्रियायोग्य पदार्थ परिपक्व हो गये हैं, अतएव आप इनको ग्रहण करें, यह स्तोता लोग आपसे प्रार्थना करते हैं ॥२८॥

अब सत्कारानन्तर उनसे बल तथा धन के लिए प्रार्थना कथन करते हैं॥

स्तुतश्च यास्त्वा वर्धन्ति महे राधसे नृम्णाय ।

इन्द्र कारिणं वृधन्तः ॥२९॥

पदार्थः—(स्तुतः) स्तोता लोग (कारिणं, वृधन्तः) क्रियाशील मनुष्यों को उत्साहित करते हुए, (इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (महे, राधसे) महान् धन के लिए (नृम्णाय) बल के लिये (त्वा) आपको (वर्धन्ति) स्तुति द्वारा बढ़ाते हैं । (याः, च) और उनकी स्तुतियें आपको यशप्रकाशन द्वारा बढ़ाती हैं ॥२९॥

भावार्थः—हे कर्मयोगिन् ! स्तोता लोग कर्मशील पुरुषों को उत्साहित करते हुए आपसे धन तथा बल के लिए प्रार्थना करते हैं कि कृपाकरके आप हमें पदार्थविद्या के आविष्कारों द्वारा उन्नत करें जिससे हमारा यश संसार में विस्तृत हो और विशेषतया उन्नति को प्राप्त हों ॥२९॥

गिरश्च यास्ते गिर्वाह उक्था च तुभ्यं तानि।
सत्रा दधिरे शवांसि ॥३०॥

पदार्थः—(गिर्वाहः) हे वाणियों द्वारा सेवनीय (याः, ते, गिरः, च) जो आप की वाणी हैं (च) तथा (तुभ्यं, उक्था) जो आपके लिये स्तोत्र हैं; (तानि) वह सब (सत्रा) साथ ही (शवांसि) बलों को (दधिरे) उत्पन्न करते हैं ॥३०॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन्! आपके स्तोत्रों तथा ऋचाओं द्वारा आपको उद्बोधन करते हुए, आपकी प्रशंसा करते हैं कि कृपा करके आप हम लोगों को वेदविद्या का उपदेश करें जिससे हम ऐश्वर्य-शाली होकर संसार में यशस्वी हों ॥३०॥

अब अन्नादि पदार्थों के सुरक्षित रखने का विधान कथन करते हैं॥

एवेदेष तुविकूर्मिर्वाजाँ एको वज्रहस्तः।
सनादमृक्तो दयते ॥३१॥

पदार्थः—(एषः, एव, इत्) यही कर्मयोगी (तुविकूर्मिः) अनेक कर्मों वाला (एकः) एक ही (वज्रहस्तः) वज्रसमान हस्त वाला (सनात्, अमृक्तः) चिरकाल पर्यन्त निर्विघ्न (वाजान्) अन्नादि पदार्थों को (दयते) सुरक्षित रखता है ॥३१॥

भावार्थः— इस मंत्र का तात्पर्य यह है कि जिज्ञासु पुरुष कर्मयोगी की स्तुति करते हुए उसको चिरकालपर्यन्त अन्नादि खाद्य पदार्थों को सुरक्षित रखने वाला कथन करते हैं। जिसका भाव यह है कि राजा तथा प्रजा को अन्न का कोष सदा चिरकाल तक सुरक्षित रखना चाहिये जिससे प्रजा अन्न के कष्ट से दारुण दुःख को प्राप्त न हो। शास्त्र में "अन्नं वै प्राणः"=अन्न को प्राण कथन किया है, क्योंकि अन्न के विना प्राणी जीवित नहीं रह सकता, इसलिए पुरुषों को उचित है कि अन्न का कोश सदा सुरक्षित रखें ॥३१॥

हन्ता वृत्रं दक्षिणेनेन्द्रः पुरू पुरुहूतः।
महान्महीभिः शचीभिः ॥३२॥

पदार्थः—(इन्द्रः) वही परमैश्वर्य्यसम्पन्न कर्मयोगी (वृत्रं) सन्मार्ग के वारयिता को (दक्षिणेन, हन्ता) चातुर्य्ययुक्त कर्मों से हनन करने वाला (पुरु) अनेक स्थलों में (पुरुहूतः) बहुत मनुष्यों से आहूत, (महीभिः) बड़ी (शचीभिः) शक्ति से (महान्) पूज्य हो रहा है ॥३२॥

भावार्थः—वह महान् ऐश्वर्य्यसम्पन्न कर्मयोगी, जो सन्मार्ग से च्युत पुरुषों को दण्ड देने वाला और श्रेष्ठों की रक्षा करने वाला है, वह सब स्थानों में पूजा जाता अर्थात् मान को प्राप्त होता है और सब प्रजाजन उसी की आज्ञा में रहकर मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय को प्राप्त होते हैं ॥३२॥

अब कर्मयोगी द्वारा धनवान् प्रजाओं की रक्षा करना कथन करते हैं ॥

यस्मिन्विश्वाश्चर्षणय उत च्यौत्ना ज्रयांसि च ।

अनु घेन्मन्दी मघोनः ॥३३॥

पदार्थः—(यस्मिन्) जिस कर्मयोगी के आधार पर (विश्वाः, चर्षणयः) सम्पूर्ण प्रजा हैं (उत) और (च्यौत्ना, ज्रयांसि, च) जिसमें दूसरों का अभिभव करने वाले बल हैं, (मघोनः, अनु) वह धनवानों के प्रति (मंदी, घेत्) आनन्ददाता होता है ॥३३॥

भावार्थः सब का शासक कर्मयोगी जो अपने अतुल बल से सब प्रजाओं को वशीभूत रखता है वह धनवानों को सुरक्षित रखता हुआ उनको आनन्द प्रदान करने वाला होता है ॥३३॥

एष एतानि चकारेन्द्रो विश्वा योऽति शृण्वे ।

वाजदावा मघोनाम् ॥३४॥

पदार्थः—(एषः, इन्द्रः) इस कर्मयोगी ने (एतानि, विश्वा) एतादृश सब कार्यों को (चकार) किया (यः) जो (मघोनां) धनवानों को (वाजदावा) अन्नादि पदार्थों का दाता (अति, शृण्वे) अतिशय सुना जाता है ॥३४॥

भावार्थः— संसार की मर्यादा को बांधना कर्मयोगी का मुख्य कर्तव्य है। यदि वह धनवानों की रक्षा न करे तो संसार में विप्लव होने से धनवान् सुरक्षित नहीं रह सकते; इसलिये यह कथन किया है कि वह धनवानों को सुरक्षित रखने के कारण मानो उनका अन्नदाता है, और ऐश्वर्य्यसम्पन्न धनवानों की रक्षा करना प्राचीन काल से सुना जाता है ॥३४॥

अब कर्मयोगी अपने राष्ट्रको उत्तम मार्गों द्वारा सुसज्जित करे, यह कथन करते हैं ॥

प्रभर्ता रथं गव्यन्तमपाकाच्चिद्यमवति ।

इनो वसु स हि वोळ्हा ॥३५॥

पदार्थः—(प्रभर्ता) जो प्रहरणशील कर्मयोगी (अपाकात्) अपरिपक्वबुद्धिवाले तथा (चित्) अन्य से भी (यं, गव्यंतं, रथं) प्रकाश की इच्छा करने वाले जिस रथ की (अवति) रक्षा करता है (सः, हि) वही कर्मयोगी (इनः) प्रभु होकर (वसु) रत्नों का (वोळ्हा) धारण करने वाला होता है ॥३५॥

भावार्थः—जो कर्मयोगी मार्गों को ऐसे विस्तृत, साफ सुथरे तथा प्रकाशमय बनाता है जिनमें रथ तथा मनुष्यादि सब आरामपूर्वक सुगमता से आ जा सकें, वही प्रभु होता और वही श्रीमान्=सब रत्नादि पदार्थों का स्वामी होता है ॥३५॥

सनिता विप्रो अर्वद्भिर्हन्ता वृत्रं नृभिः शूरः ।

सत्योऽविता विधन्तम् ॥३६॥

पदार्थः—(विप्रः) वह विद्वान् कर्मयोगी (अर्वद्भिः, सनिता) गतिशील पदार्थों द्वारा सबका संभजन=विभाग करने वाला है, (वृत्रं, हंता) धर्ममार्ग में विरोध करने वालों का हनन करने वाला, (नृभिः, शूरः) नेताओं सहित ओजस्वी=शूरवीर, (सत्यः) सत्यतायुक्त (विधंतं) और जो अपने कार्य्य में लगे हुए हैं उनका (अविता) रक्षक होता है ॥३६॥

भावार्थः—वह विद्वान् कर्मयोगी जो सबका प्रभु है, यानादि गतिशील पदार्थों द्वारा सबको इष्ट पदार्थों का विभाजक होता है, और जो वैदिकधर्म में प्रवृत्त अनुष्ठानी पुरुष उन्नति कर रहे हैं उनका विरोध करने वाले दुष्टों को दण्ड देने वाला और जो अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों में लगे हुए हैं उनकी सर्वप्रकार से रक्षा करता है ॥३६॥

अब कर्मयोगी का प्रेम से अर्चन करना कथन करते हैं ॥

यजध्वैनं प्रियमेधा इन्द्रं सत्राचा मनसा ।

यो भूत्सोमैः सत्यमद्वा ॥३७॥

पदार्थः—(प्रियमेधाः) हे प्रिययज्ञ वाले पुरुषो ! (एनं इन्द्रं) इस पूर्वोक्त गुण वाले कर्मयोगी की (सत्राचा, मनसा) मन के साथ=मन से (यजध्वं) अर्चना करो (यः) जो (सोमैः) सौम्यगुणों से (सत्यमद्वा) सच्चे आनन्द वाला है ॥३७॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि जिज्ञासुजन जो अनेक प्रकार की विद्यावृद्धि वाले यज्ञों में लगे हुए उन्नति कर रहे हैं वह मन से उस सच्चे आनन्द वाले कर्मयोगी की अर्चना करें ताकि वह उनके यज्ञों में आये हुए विघ्नों को निवृत्त करके पूर्ण कराने वाला हो ॥३७॥

अब कर्मयोगी की स्तुति करना कथन करते हैं ॥

गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानम् ।

कण्वासो गात वाजिनम् ॥३८॥

पदार्थः—(कण्वासः) हे विद्वानो ! (गाथश्रवसं) वर्णनीय कीर्ति वाले, (सत्पतिं) सज्जनों के पालक, (श्रवस्कामं) यश को चाहने वाले, (पुरुत्मानं) अनेक रूपों वाले, (वाजिनं) वाणियों के प्रभु कर्मयोगी की (गात) स्तुति करो ॥३८॥

भावार्थः—विद्वान् याज्ञिक पुरुषों को उचित है कि वह विस्तृत कीर्ति-वाले, सज्जनों के पालक, यशस्वी और सब विद्याओं के ज्ञाता कर्मयोगी की स्तुति करें ताकि वह प्रसन्न होकर सब विद्वानों की कामना को पूर्ण करे ॥३८॥

अब कर्मयोगी को शक्तिसम्पन्न तथा शक्तियों का प्रदाता कथन करते हैं ॥

य ऋते चिद्गास्पदेभ्यो दात्सखा नृभ्यः शचीवान् ।

ये अस्मिन्काममश्रियन् ॥३९॥

पदार्थः—(ये) जो पुरुष (अस्मिन्) इस कर्मयोगी में (कामं) कामनाओं को (अश्रियन्) रखते हैं वे (नृभ्यः) उन मनुष्यों के लिए (शचीवान्) प्रशस्तक्रियावान् (सखा) हितकारक (यः) जो कर्मयोगी (पदेभ्यः, ऋते, चित्) पदवियों के विना ही (गाः) शक्तियों को (दात्) देता है ॥३९॥

भावार्थः—प्रशस्तक्रियावान् कर्मयोगी जो सबका हितकारक, विद्यादि शुभ गुणों का प्रचारक और जिसमें सब प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं वह अशक्त को भी शक्तिसम्पन्न करता और कामना करने वाले विद्वानों के लिये पूर्णकाम होता है, इस प्रकार वे अपने मनोरथ को सुखपूर्वक सफल कर सकते हैं ॥३९॥

अब कर्मयोगी अपने राष्ट्र में उपदेशकों को बढ़ाकर उनकी रक्षा करे, यह कथन करते हैं ॥

इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम् ।

मेषो भूतो३ऽभि यन्नयः ॥४०॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे आदरणीय शक्तिसम्पन्न कर्मयोगिन् । (इत्था) इस उक्त प्रकार से (धीवंतं) प्रशस्त वाणी वाले (काण्वं) विद्वानों के कुल में उत्पन्न (मेध्या-

तिथि) संगतियोग्य अतिथि को (मेषः, भूतः) साक्षी के समान (अभियन्) पार्श्ववर्ती होकर(अयः) चलाते हो ॥४०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्मयोगी का यह कर्तव्य कथन किया गया है कि वह विद्वानों की सन्तानों को सुशिक्षित बनाकर राष्ट्र में उपदेश करावे और उनकी रक्षा करे जिससे उसका राष्ट्र सद्गुणसम्पन्न और धर्मपथगामी हो ॥४०॥

अब कर्मयोगी के संग्राम की विविध सामग्री का वर्णन करते हैं ॥

शिक्षा विभिन्दो अस्मै चत्वार्ययुता ददंत् ।

अष्टा परः सहस्रा ॥४१॥

पदार्थः—(विभिन्दो) हे शत्रुकुल के भेदन करने वाले (ददत्) दाता कर्मयोगिन् ! आप (अस्मै) मेरे लिये (अष्टा, सहस्रा, परः) आठ सहस्र अधिक (चत्वारि, अयुता) चार अयुत (शिक्षा) देते हैं ॥४१॥

भावार्थः—सूक्त में क्षात्रधर्म का प्रकरण होने से इस मन्त्र में (४८०००) अड़तालीस हजार योद्धाओं का वर्णन है अर्थात् कर्मयोगी के प्रति जिज्ञासुजनों की यह प्रार्थना है कि आप शत्रुओं के दमनार्थ हमको उक्त योद्धा प्रदान करें जिससे शान्तिमय जीवन व्यतीत हो ॥४१॥

उत सु त्ये पयोवृधा माकी रणस्य नप्त्या ।

जनित्वनाय मामहे ॥४२॥

पदार्थः—(उत) और (त्ये) वह आपकी दो शक्तियां जो (सु) सुन्दर (पयोवृधा) जल से बढ़ी हुई (माकी) मान करने वाली (रणस्य, नप्त्या) जिनसे संग्राम नहीं रुकता (जनित्वनाय) उनकी उत्पत्ति के लिये (मामहे) प्रार्थना करता हूं ॥४२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्मयोगी के प्रति जिज्ञासु की प्रार्थना है कि आप कृपा करके हमको जल से बढ़ी हुई दो शक्ति प्रदान करें जिनसे हम शत्रुओं का प्रहार कर सकें। अर्थात् जल द्वारा उत्पन्न किया हुआ "वरुणास्त्र" जिसकी दो शक्ति विख्यात हैं, एक—शत्रुपक्ष के आक्रमण को रोकने वाली "निरोधकशक्ति" और दूसरी—आक्षेप करने वाली "प्रहार शक्ति"; यह दो शक्ति जिसके पास हों वह शत्रु से कभी भयभीत नहीं होता और न शत्रु उसको वशीभूत कर सकता है, इसलिये यहां उक्त दो शक्तियों की प्रार्थना की गई है ॥४२॥

अष्टम मण्डल में दूसरा सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्विंशत्यृचस्य तृतीयसूक्तस्य–१–२४, मेध्यातिथिः काण्व ऋषिः ॥ देवताः १–२० इन्द्रः, २१–२४ पाकस्थाम्नः कौरयाणस्य दानस्तुतिः ॥ छन्दः--१ कुकुम्मती बृहती । ३, ५, ७, ६, १६ निचृद् बृहती । ८ स्वराड् बृहती । १५, २४ बृहती । १७ पथ्या बृहती । २, १०, १४ सतः पङ्क्तिः । ४, १२, १६, १८ निचृत् पङ्क्तिः । ६ भुरिक् पङ्क्तिः । २० विराट् पङ्क्तिः । १३ अनुष्टुप् । ११, २१ भुरिगनुष्टुप् । २२ विराड् गायत्री । २३ निचृद् गायत्री ॥ स्वरः--१, ३, ५, ७–६, १५, १७, १६, २४ मध्यमः । २, ४, ६, १०, १२, १४, १६, १८, २०, पञ्चमः । ११, १३, २१ गान्धारः । २२, २३ षड्जः ॥

अब गोरसों द्वारा कर्मयोगी का सत्कार करते हुए अपनी रक्षा की प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

पिबा॑ सु॒तस्य॑ र॒सिनो॒ मत्स्वा॑ न इन्द्र॒ गोम॑तः ।
आ॒पिर्नो॑ बोधि सध॒माद्यो॑ वृ॒धे॒३॒॑ऽस्माँ अ॑वन्तु ते॒ धियः॑ ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (नः) हमारे (गोमतः) गोसम्बन्धी पदार्थ-युक्त (रसिनः, सुतस्य) आस्वादयुक्त सम्यक् संस्कृत रसों को (पिब, मत्स्व) पियें और पीकर तृप्त हों । (सधमाद्यः) साथ-साथ रसपान से आह्लाद उत्पन्न कराने योग्य (आपिः) हमारे सम्बन्धी आप (नः) हमारी (वृधे) वृद्धि के लिए (बोधि) सर्वदा जागृत रहें । (ते) आपकी (धियः) बुद्धियें (नः) हमको (अवन्तु) सुरक्षित करें ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में याज्ञिक पुरुषों की ओर से कर्मयोगी के प्रति यह प्रार्थना कथन की गई है कि हे परमैश्वर्य्यसम्पन्न कर्मयोगिन् ! आप हमारे सुसंस्कृत सिद्ध किये हुए इन दूध, दधि तथा घृतादि गोरसों को पान-कर तृप्त हों और हमारे सम्बन्धी जनों की वृद्धि के लिये आप सदैव प्रयत्न करते रहें अर्थात् विद्या तथा ऐश्वर्य्य वृद्धि सम्बन्धी उपायों का आप सदा हमारे प्रति उपदेश करें जिससे हम विद्वान् तथा ऐश्वर्य्यशाली हों, या यों कहो कि आपकी विशाल बुद्धि सदैव हमारे हितचिन्तन में प्रवृत्त रहे, यह हमारी प्रार्थना है ॥१॥

भू॒याम॑ ते सुम॒तौ वा॒जिनो॑ व॒यं मा नः॑ स्त॒रभि॑मातये ।
अ॒स्माञ्चि॒त्राभि॑रवताद॒भिष्टि॑भि॒रा नः॑ सु॒म्नेषु॑ यामय ॥२॥

पदार्थः—(वयं) हम लोग (वाजिनः) धनववान् होकर (ते, सुमतौ) आपकी सुबुद्धि में (भूयाम) वर्तमान हों । (अभिमातये) अभिमानी शत्रु के लिये (नः) हमको (मा) मत (स्तः) हिंसित करें । (चित्राभिः, अभिष्टिभिः) अनेक अभिलाषाओं से

(अस्मान्, अवताव) हमको सुरक्षित करके (नः) हमको (सुम्नेषु) सुखों में (आ, यमय) सम्बद्ध करें ॥२॥

भावार्थः—हे कर्मयोगी भगवन्! आप ऐसी कृपा करें कि हम लोग ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर आपके सदृश उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों। हम अभिमानी शत्रुओं के पादाक्रान्त न हों। हे प्रभो! आप हमारी कामनाओं को पूर्ण करें जिससे हम सुखसम्पन्न होकर सदैव परमात्मा की आज्ञापालन में प्रवृत्त रहें ॥२॥

अब कर्मयोगी का यशःकीर्तन कथन करते हैं ॥

इमा उं त्वा पुरूवसो गिरों वर्धन्तु या मर्म ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥३॥

पदार्थः—(पुरुवसो) हे अनेकविध ऐश्वर्य्यसम्पन्न! (इमाः, याः, मम, गिरः) ये जो मेरी आशीर्विषयक वाणियाँ हैं वे (त्वा, वर्धन्तु) आप को बढ़ायें। (पावकवर्णाः) अग्निसमान वर्ण वाले (शुचयः) शुद्ध (विपश्चितः) विद्वान् पुरुष (स्तोमैः) यज्ञ द्वारा (अभि, अनूषत) आपकी कीर्ति कथन करते हैं ॥३॥

भावार्थः—हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न कर्मयोगिन्! हम लोग शुभ वाणियों द्वारा आपको आशीर्वाद देते हैं कि परमेश्वर आपको अधिकाधिक ऐश्वर्य्यसम्पन्न करें। अग्निसमान तेजस्वी सब विद्वान् यज्ञों में आपके यश का गायन करते हैं कि परमात्मा आपको अधिक बढ़ावें और आप हम लोगों की वृद्धि करें ॥३॥

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥४॥

पदार्थः—(सहस्रं, ऋषिभिः) अनेक सूक्ष्मदर्शियों द्वारा (सहस्कृतः) बलप्राप्त (अयं) यह कर्मयोगी (समुद्रः, इव) समुद्र के समान व्यापक होकर (पप्रथे) प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। (सः, सत्यः, अस्य, महिमा) वह सत्य=स्थिर इसकी महिमा और (शवः) बल (विप्रराज्ये) मेधावियों के राज्य में (यज्ञेषु) यज्ञों में (गृणे) स्तुति किये जाते हैं ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि वह कर्मयोगी जो अनेक ऋषियों द्वारा धनुर्विद्या प्राप्त करके अपने बलप्रभाव से सर्वत्र विख्यात होता है वह सारे देश में पूजा जाता है और अपने स्थिर बल तथा पराक्रम

द्वारा विद्वानों में सत्कारार्ह होता और यज्ञों में सब याज्ञिक लोग उस की स्तुति करते हैं ॥४॥

अब सब शुभ कामों में कर्मयोगी का आह्वान करना कथन करते हैं ॥

इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥५॥

पदार्थः—(वनिनः) उपासक लोग (देवतातये) यज्ञ में (इन्द्रं, इत्) कर्मयोगी को ही, (प्रयति, अध्वरे) यज्ञ प्रारम्भ होने पर (इन्द्रं) कर्मयोगी को ही, (समीके, इन्द्रं) संग्राम में कर्मयोगी को ही, (धनस्य, सातये, इन्द्रं) धनलाभार्थ कर्मयोगी को ही (हवामहे) आह्वान करते हैं ॥५॥

भावार्थः—विद्वान् पुरुष तथा ऐश्वर्य्यसम्पन्न श्रीमान् प्रजाजन विद्वानों से सुशोभित धर्मसमाज में, यज्ञ के प्रारम्भ होने पर, संग्राम उपस्थित होने पर और धन उपार्जन वाले कामों के प्रारम्भ करने में कर्मयोगी को आह्वान करते=बुलाते हैं अर्थात् ऐसे शुभ कामों को कर्मयोगी की सम्मति से प्रारम्भ करते हैं ताकि उनमें सफलता प्राप्त हो ॥५॥

अब कर्मयोगी के बल का महत्त्व वर्णन करते हैं ॥

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्रः) कर्मयोगी (शवः, मन्हा) बल की महिमा से (रोदसी) पृथिवी तथा द्युलोक को (पप्रथत्) व्याप्त करता है । (इन्द्रः) कर्मयोगी (सूर्यं, अरोचयत्) सूर्यप्रभा को सफल करता है (इन्द्रे, ह) कर्मयोगी में ही (विश्वा, भुवनानि) सम्पूर्ण प्राणिजात (येमिरे) नियमन को प्राप्त होता है । (सुवानासः) सिद्ध किये हुए (इन्दवः) भोजन पानार्ह पदार्थ (इन्द्रे) कर्मयोगी को ही प्राप्त होते हैं ॥६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्मयोगी की महिमा वर्णन की गई है कि वह अपनी शक्ति द्वारा पृथिवी तथा द्युलोक की दिव्य दीप्तियों से लाभ उठाता है और वही सूर्य्यप्रभा को सफल करता अर्थात् मूर्खों में विद्वत्ता का उत्पादन करके सूर्य्योदय होने पर स्व-स्व कार्य्य में प्रवृत्त करता है अथवा अपनी विद्याद्वारा सूर्य्यप्रभा से अनेक कार्य्य सम्पादन करके लाभ उठाता है। कर्मयोगी ही सबको नियम में रखता और उत्तमोत्तम पदार्थों का भोक्ता कर्म-

योगी ही होता है। तात्पर्य्य यह है कि जिस देश का नेता विद्वान् होता है उसी देश के मानव सूर्य्यलोक, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक की दिव्य दीप्तियों से लाभ उठा सकते हैं, इसी अभिप्राय से यहाँ सूर्य्यादिकों का प्रकाशक कर्मयोगी को माना है।

सायणाचार्य्य इस मन्त्र के यह अर्थ करते हैं कि स्वर्भानु=राहु से ग्रसे हुए सूर्य्य को इन्द्र ही प्रकाश देता है, । अब इस अर्थ में "इन्द्र" का विवेचन करना आवश्यक है कि इन्द्र का क्या अर्थ ? यदि इन्द्र के अर्थ सूर्य्य माने जायं तो आत्माश्रय दोष लगता है अर्थात् अपना प्रकाशक आप हुआ, यदि "इन्द्र" शब्द के अर्थ विद्युत् लेवें तो फिर राहु का ग्रसना और उसको मारकर इन्द्र का प्रकाश करना क्या ? यदि इसके अर्थ देवविशेष लिये जायं तो ऐसी कोई कथा वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा पुराणों तक में भी नहीं पाई जाती जिसमें इन्द्र देवता ने राहु मारकर सूर्य्य को छुड़ाया हो। अधिक क्या, इस प्रकार की मनगढन्त कथाओं का उपन्यास करके सायणाचार्य्य ने राहु का मारना लिखा है जो सर्वदा असंगत है, सायण का ही अनुकरण करके विलसन, ग्रिफिथ आदि विदेशी भाष्यकार भी ऐसे ही अर्थ करते हैं जो असंगत हैं। सत्यार्थ यही है कि "इन्दति योगादिना परमैश्वर्य्यं प्राप्नोतीतीन्द्रः"=जो योगादि साधनों से परमैश्वर्य्य को प्राप्त हो उसका नाम "इन्द्र" है, इस प्रकार यह नाम यहां कर्मयोगी का है किसी देवविशेष का नहीं ॥६॥

अभि त्वां पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (आयवः) मनुष्य (पूर्वपीतये) अग्रपान के लिये (स्तोमेभिः) स्तोत्र द्वारा (त्वा) आपका (अभि) स्तवन करते हैं। (समीचीनास.) सज्जन (ऋभवः) सत्य से शोभा पाने वाले विद्वान् (समस्वरन्) आप के आह्वान का शब्द कर रहे हैं। (पूर्व्यं) अग्रणी (रुद्राः) शत्रु को भयकारक योद्धा लोग (गृणंत) आपकी स्तुति करते हैं ॥७॥

भावार्थः—याज्ञिक लोगों का कथन है कि हे कर्मयोगिन् ! सत्यभाषी विद्वान् पुरुष स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति करते हुए सोमरस का अग्रपान करने के लिये आपका आह्वान करते हैं और शत्रुओं को भयप्रद योद्धा लोग आपकी स्तुति करते हुए सत्कारार्ह उत्तमोत्तम पदार्थ भेंटकर आपको प्रसन्न करना चाहते हैं ॥७॥

अब कर्मयोगी के आचरण का अनुसरण करना कथन करते हैं ।।

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनुं ष्टुवन्ति पूर्वथा ।।८।।

पदार्थः—(इन्द्रः) कर्मयोगी (अस्य, इत्) इस स्तोता के ही (वृष्ण्यं, शवः) वीर्य्यं तथा बल को (सुतस्य) संस्कृत पदार्थ सेवन से (विष्णवि, मदे) शरीर व्यापक आनन्द उत्पन्न होने पर (वावृधे) बढ़ाता है; (आयवः) मनुष्य (अस्य) इस कर्मयोगी के (तं, महिमानं) उस महत्त्व को (अद्य) अब भी (पूर्वथा) पहले की तरह (अनुष्टुवन्ति) यथावत् स्तवन करते हैं ।।८।।

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि स्तोता तथा अधिकारी जिज्ञासुजनों के बल को उत्तमोत्तम पदार्थों द्वारा कर्मयोगी बढ़ाता है, क्योंकि बलसम्पन्न पुरुष ही अपने अभीष्ट को पूर्ण कर सकता है और मनुष्य पूर्व की न्याईं अर्थात् पूर्व कल्प के समान इस कर्मयोगी के धर्माचरण का अनुष्ठान करके अब भी ऐश्वर्य्यशाली हो सकते हैं। इसलिये कर्मयोगी का स्तवन करते हुए पुरुष अनुष्ठानार्ह हों ।।८।।

अब परमात्मा से उक्त ऐश्वर्य्य तथा पराक्रम की याचना
करना कथन करते हैं ।।

तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये ।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ।।९।।

पदार्थः—(पूर्वचित्तये) मुख्य अध्यात्मज्ञान के लिए (तत्, ब्रह्म) उस परमात्मज्ञान तथा (सुवीर्यं) उत्तम बल की (तत्, त्वा, यामि) आपसे याचना करता हूँ (येन) जिस ज्ञान तथा वीर्य्य से (हिते, धने) धन की आवश्यकता होने पर (यतिभ्यः)यत्नशील कर्मयोगियों से लेकर (भृगवे) मायामर्जनशील ज्ञानयोगी को देते तथा (येन) जिस पराक्रम से (प्रस्कण्वं) प्रकृष्ट ज्ञान वाले की (आविथ) रक्षा करते हैं ।।९।।

भावार्थः—जिज्ञासु प्रार्थना करता है कि हे कर्मयोगिन् ! आप हमें ऐसी शक्ति प्राप्त करायें जिससे हम परमात्मसम्बन्धी ज्ञान वाले तथा ऐश्वर्य्यशाली हों। हे प्रभो ! आप अधिकारियों की याचना पूर्ण करने वाले हैं अर्थात् कर्मयोगियों से लेकर प्रकृष्ट ज्ञान वाले ज्ञानयोगी को देते हैं। हे पराक्रमसम्पन्न ! आप अपनी कृपा से हमें भी पराक्रमी बनावें जिससे हम अपने कार्य्यों को विधिवत् करते हुए ज्ञानद्वारा परमात्मा की समीपता प्राप्त करें ।।९।।

अब अन्य प्रकार से कर्मयोगी की महिमा वर्णन करते हैं ॥

येना॑ समु॒द्रमसृ॑जो म॒हीर॒पस्तदि॑न्द्र॒ वृष्णि॑ ते॒ शवः॑ ।
स॒द्यः सो अ॑स्य महि॒मा न स॒न्नशे॒ यं क्षो॒णीर॑नुच॒क्रदे॑ ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (येन) जिस बल से (महो, अपः) महा जलों को (समुद्रं, असृजः) समुद्र के प्रति पहुँचाते हैं—(तत्, ते) ऐसा आपका (वृष्णि, शवः) व्यापक बल है । (सः, अस्य, महिमा) वह इसकी महिमा (सद्यः) शीघ्र (न, संनशे) नहीं मिल सकती । (यं) जिस महिमा का (क्षोणीः) पृथ्वी (अनुचक्रदे) अनुसरण करती है ॥१०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में कर्मयोगी की महिमा वर्णन की गई है कि वह कृत्रिम नदियों द्वारा मरु देशों में भी जलों को पहुंचाकर पृथ्वी को उपजाऊ बनाकर प्रजा को सुख पहुँचाता और धर्मपथयुक्त तथा अभ्युदयकारक होने के कारण कर्मयोगी के ही आचरणों का पृथ्वीभर के सब मनुष्य अनुकरण करते हैं ॥१०॥

अब कर्मयोगी से धन की याचना करना कथन करते हैं ॥

श॒ग्धी न॑ इन्द्र॒ यत्त्वा॑ र॒यिं यामि॑ सु॒वीर्य॑म् ।
श॒ग्धि वाजा॑य प्रथ॒मं सिषा॑सते श॒ग्धि स्तोमा॑य पूर्व्य ॥११॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत्, रयिं) जिस धन की (सुवीर्यं, त्वा) सुन्दर वीर्य वाले आपसे (यामि) याचना करता हूँ (नः, शग्धि) वह हमको दीजिये । (सिषासते) जो आपके अनुकूल चलना चाहता है उसको (वाजाय) अन्न (प्रथमं) सबसे पहले (शग्धि) दीजिये । (पूर्व्य) हे अग्रणी ! (स्तोमाय) स्तुतिकर्त्ता को (शग्धि) दीजिये ॥११॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे सब धनों के स्वामी कर्मयोगिन् ! हम लोग आपकी आज्ञा पालन करते हुए आपसे याचना करते हैं कि आप हमें सब प्रकार का धनधान्य देकर संतुष्ट करें, क्योंकि जो आपका अनुकूलगामी है उसको सबसे प्रथम अन्नादि धन दीजिए अर्थात् कर्मयोगी का यह कर्त्तव्य है कि वह वैदिक मार्ग में चलने तथा चलाने वाली प्रजाओं को धनादि सकल आवश्यक पदार्थ देकर सर्वदा प्रसन्न रखे जिससे उसके किसी राष्ट्रीय अंग में न्यूनता न आवे ॥११॥

शग्धी नो अस्य यद्ध पौरमाविथ धिय इन्द्र सिषासतः।
शग्धि यथा रुशमं श्यावकं कृपमिन्द्र प्रावः स्वर्णरम् ॥१२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (नः) हमारे सम्बन्धी (धियः, सिषासतः) कर्मों में लगे रहने वाले (अस्य) इस यजमान को वह धन (शग्धि) दीजिये (यद्, ह) जिस धन से (पौरं, आविथ) पुरवासी जनसमुदाय की रक्षा करते हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यथा) जैसे (रुशमं) ऐश्वर्य से दीप्तिमान्, (श्यावकं) दारिद्रय से मलिन, (कृपं) कार्यों में समर्थ (स्वर्णरं) सुखी नर की (प्रावः) रक्षा की वैसे ही (शग्धि) मुझको भी समर्थ कीजिये ॥१२॥

भावार्थः—इस मंत्र में याज्ञिक लोगों की ओर से प्रार्थना है कि हे कर्मयोगिन् ! आप हमारे सम्बन्धी यजमान को जो याज्ञिक कर्मों में प्रवृत्त है, धन से सम्पन्न कीजिये। हे भगवन् ! जैसे कर्मों में प्रवृत्त दरिद्र पुरुष को धन देकर सुखी करते हो वैसे ही आप हम लोगों सहित यजमान को भी समर्थ करें जिससे वह उत्साहित होकर यज्ञ सम्बन्धी कर्म करे-करावे॥१२॥

कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः।
नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः ॥१३॥

पदार्थः—(अतसीनां) निरन्तर होने वाली स्तुतियों का (तुरः) करने वाला (नव्यः) नवीन शिक्षित (मर्त्यः) मनुष्य (कद्, गृणीत) कहकर कौन समाप्त कर सकता है ! (अस्य) इस कर्मयोगी की (इन्द्रियं, महिमानं) राज्य महिमा को (स्वः, गृणन्त) सुख से चिरकाल तक वर्णन करते हुए विद्वानों ने भी (नहि, नु) नहीं ही (आनशुः) पार पाया है ॥१३॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि बड़े-बड़े विद्वान् पुरुषों ने भी, जो निरन्तर सूक्ष्म पदार्थों के जानने में प्रवृत्त रहते हैं, कर्मयोगी की महिमा का पार नहीं पाया, तब नवशिक्षित मनुष्य उसकी महिमा को क्या कह सकता है ! क्योंकि कर्मयोगी की अनन्त कलायें हैं जिनकी इयत्ता को विद्वान् पुरुष अनन्तकाल तक भी नहीं जान सकता ॥१३॥

अब अन्य प्रकार से प्रार्थना कथन करते हैं ॥

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते।
कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः ॥१४॥

पदार्थः—(कत्, उ, स्तुवन्तः) कौन स्तोता (देवता) देव आपके (ऋतयन्त) यज्ञ करने की इच्छा कर सके ! (कः) कौन (विप्रः) विद्वान् (ऋषिः) सूक्ष्मद्रष्टा (ओहते) आपको वहन कर सकता है ! (मघवन्, इन्द्र) हे धनवन् इन्द्र ! (सुन्वतः) आपका अर्चन करने वाले पुरुष के (हवं) हव्य पदार्थों को (कदा) कब स्वीकार करेंगे? (स्तुवतः) स्तुति करने वाले के गृह को (कत्, उ) कब (आगमः) आवेंगे ? ॥१४॥

भावार्थः—कर्मयोगी से प्रार्थना, उसके यज्ञ, स्तुति और आह्वान करने को सभी पुरुष उत्कण्ठित रहते और यह चाहते हैं कि यह कर्मयोगी कब हमारी प्रार्थना को किस प्रकार स्वीकार करे जिससे हम लोग भी उसकी कृपा से अभ्युदयसम्पन्न होकर इष्ट पदार्थों का भोग करें। हे कर्मयोगिन् ! आप याज्ञिक पुरुषों के हव्य पदार्थों को कब स्वीकार करेंगे अर्थात् यज्ञ का फल जो ऐश्वर्यलाभ करना है वह आप हमको शीघ्र प्राप्त करायें और स्तोता के गृह को पवित्र करें अर्थात् उसके गृह में सदा कुशलता रहे जिससे यज्ञ सम्बन्धी कार्यों में विघ्न न हो, यह प्रार्थना है ॥१४॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१५॥

पदार्थः—(त्ये, मधुमत्तमाः, गिरः) वे आपके लिए मधुर वाणियां और (स्तोमासः) स्तोत्र (उ, उदीरते) निकल रहे हैं, जिस प्रकार (सत्राजितः) साथ जीतने वाले (धनसाः) धन चाहने वाले (अक्षितोतयः) दृढ़रक्षा वाले (वाजयन्तः) बल चाहने वाले (रथाः, इव) रथ निकलते हैं ॥१५॥

भावार्थः—हे कर्मयोगिन् ! जिस प्रकार संग्राम में विजय प्राप्त करने वाले, धन की इच्छावाले, दृढ़ रक्षा वाले, बल की चाहना वाले रथ समान उद्देश्य को लेकर शीघ्रता से निकलते हैं, इसी प्रकार मधुर वाणियों द्वारा स्तोता लोग समान उद्देश्य से आपकी स्तुति गायन कर रहे हैं। हे प्रभो ! आप उनको ऐश्वर्यसम्पन्न करें ॥१५॥

अब कर्मयोगी के प्रति राष्ट्ररक्षा का उपाय कथन करते हैं ॥

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥१६॥

पदार्थः—(कण्वा इव) विद्वानों के समान (भृगवः) शूर भी (सूर्या इव) सूर्यकिरण के समान (धीतं, विश्वं, इत्) जाने हुए संसार में (आनशुः) व्याप्त हो

गए। (आयवः) प्रजाजन (प्रियमेधासः) अनुकूल बुद्धि वाले (इन्द्रं) कर्मयोगी को (स्तोमेभिः) यज्ञों द्वारा (महयन्तः) अर्चित करते हुए (अस्वरन्) कीर्तिगान करते हैं ॥१६॥

भावार्थः—कर्मयोगी की सम्पूर्ण राष्ट्रभूमि में विद्वान् उपदेशक तथा शूरवीर व्याप्त रहते हैं जिससे उसका राष्ट्र ज्ञान से पूर्ण होकर सुरक्षित बना रहता है और अन्न-धन से भरपूर होकर सर्वदा उसकी प्रशंसा करता है ॥१६॥

युक्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः।
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि ॥१७॥

पदार्थः—(वृत्रहन्तम) हे अतिशय शत्रुहनन करने वाले (इन्द्र) कर्मयोगिन्! (हरी) अश्वों को (युक्ष्व, हि) रथ में जोड़िये। (परावतः) दूरदेश से, (अर्वाचीनः) हमारे अभिमुख, (मघवन्) हे धनवन्! (उग्रः) भीम आप (ऋष्वेभिः) विद्वानों के साथ (सोमपीतये) सोमपान के लिये (आगहि) आवें ॥१७॥

भावार्थः—इस मंत्र में याज्ञिक लोगों की ओर से यह प्रार्थना है कि हे शत्रुओं का हनन करने वाले, हे ऐश्वर्यशालिन् तथा हे भीमकर्मा कर्मयोगिन्! आप अपने रथ पर सवार होकर विद्वानों के साथ सोमपान के लिए हमारे स्थान को प्राप्त हों ताकि हम लोग आपका सत्कार करके अपना कर्तव्य पालन करें ॥१७॥

इमे हि ते कारवो वावशुर्धिया विप्रासो मेधसातये।
स त्वं नो मघवन्निन्द्र गिर्वणो वेनो न शृणुधी हवम् ॥१८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन्! (इमे, हि, ते, कारवः) यह पुरःस्थ आपके शिल्पी लोग, (विप्रासः) जो स्वकार्य में कुशल हैं वे, (मेधसातये) यज्ञभागी होने के लिये (धिया) अपनी स्तुति वाग्द्वारा (वावशुः) आपकी अत्यन्त कामना करते हैं। (मघवन्) हे धनवन्! (गिर्वणः, सः, त्वं) प्रशंसनीय वह आप (वेनः, न) जाताभिलाष पुरुष के सदृश (नः, हवं) हमारी प्रार्थना को (शृणुधि) सुनें ॥१८॥

भावार्थः—याज्ञिक पुरुषों की ओर से कथन है कि हे ऐश्वर्यशाली कर्मयोगिन्! शिल्पी लोग जो विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रादि बनाने तथा अन्य कामों के निर्माण करने में कुशल हैं वे, यज्ञ में भाग लेने के लिए आपकी कामना करते हैं अर्थात् अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण द्वारा युद्धविशारद

होना भी यज्ञ है; सो, इन साहाय्याभिलाषी पुरुषों को यज्ञ में भाग देना कि युद्ध सामग्री के निर्माणपूर्वक यह यज्ञ सर्वाङ्गपूर्ण हो ॥१८॥

अब शस्त्रों के निर्माण का फल कथन करते हैं॥

निरिन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः।

निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गा आजः ॥१९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन्! (बृहतीभ्यः, धनुभ्यः) बड़े-बड़े शस्त्रों से (वृत्रं) दुष्ट दस्यु को (निरस्फुरः) आपने नष्ट किया। (अर्बुदस्य) मेघ के समान (मायिनः) मायावाले (मृगयस्य) हिंसक को भी (निः) नष्ट किया तथा (पर्वतस्य) पर्वत के ऊपर के (गाः) पृथ्वी प्रदेशों को (निराजः) निकाल दिया ॥१९॥

भावार्थः—याज्ञिक लोगों का कथन है कि हे कर्मयोगिन्! आपने उत्तमोत्तम शस्त्र-अस्त्रादिकों के बल से ही बड़े-बड़े दस्युओं को अपने वशीभूत किया जो अराजकता फैलाते, श्रेष्ठ पुरुषों का अपमान करते और याज्ञिक लोगों के यज्ञ में विघ्नकारक थे। इन्हीं शस्त्रों के प्रभाव से आपने बड़े-बड़े हिंसक पशुओं का हनन करके प्रजा को सुरक्षित किया और इन्हीं शस्त्रास्त्रों के प्रयोग द्वारा पर्वतीय प्रदेशों को विजय किया। इसलिए प्रत्येक पुरुष को शस्त्रास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके युद्धविद्या में कुशल होना चाहिए ॥१९॥

अब कर्मयोगी के पुरुषार्थ का फल कथन करते हैं।

निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो निः सोम इन्द्रियो रसः।

निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम् ॥२०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन्! (अन्तरिक्षात्) जब आपने हृदयाकाश से (महां, अहिं) बड़े भारी व्यापक अज्ञानान्धकार को (निरधमः) निकाल दिया (तद्, पौंस्यं, कृषे) वह महापुरुषार्थ किया तब (अग्नयः) अग्नि (नीरुरुचुः) निरन्तर रुचिकारक लगने लगीं (उ) तथा (सूर्यः) सूर्य (निः) निरन्तर रुचिवर्धक हो गये। (इन्द्रियः, रसः, सोमः) आपका देयभाग सोमरस भी (निः) निःशेषेण रोचक हो गया ॥२०॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि जिस पुरुष के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है वह महापुरुषार्थी कहलाता है और वही पुरुष सूर्यादि के प्रकाश, अग्न्याधान तथा सोमादि रसों से उपयोग ले सकता है और उसी को यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रुचिकर तथा आनन्दप्रद प्रतीत होता है, या

यों कहो कि सर्व रसों की राशि जो आनन्दमय ब्रह्म है उसकी प्रतीति अज्ञानी को नहीं हो सकती किन्तु ज्ञानी पुरुष ही उस आनन्द को अनुभव करता है । इसी अभिप्राय से यहां ज्ञानी पुरुष के लिए सम्पूर्ण पदार्थों के रोचक होने से आनन्द की प्राप्ति कथन की गई है ॥२०॥

यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः ।

विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम् ॥२१॥

पदार्थः—(पाकस्थामा) परिपक्व बलवाले (कौरयाणः) पृथ्वी भर में गति वाले (इन्द्रः) कर्मयोगी और (मरुतः) विद्वानों ने (यं, मे, दुः) जिस पदार्थ को मुझे दिया वह (विश्वेषां, त्मना, शोभिष्ठं) सब पदार्थों में स्वरूप ही से शोभायमान है; जैसे (दिवि) द्युलोक में (धावमानं) दौड़ते हुए (उपेव) सूर्य सुशोभित है ॥२१॥

भावार्थः—पूर्ण बलवान् तथा तेजस्वी, जिसने अपने बल द्वारा पृथ्वी को विजय कर लिया है, ऐसा कर्मयोगी और ब्रह्मचर्यपूर्वक वेद वेदांगों के अध्ययन द्वारा पूर्ण विद्वान्, जिसका आत्मिक बल महान् है, ऐसे विद्वान् पुरुष जिन पदार्थों का संशोधन करते हैं वह पदार्थ स्वभाव से ही स्वच्छ तथा सात्विक होते हैं और विद्वानों द्वारा संशोधित पदार्थों को ही उपयोग में लाना चाहिए ॥२१॥

रोहितं मे पाकस्थामा सुधुरं कक्ष्यप्राम् ।

अदाद्रायो विबोधनम् ॥२२॥

पदार्थ:—(पाकस्थामा) परिपक्व बलवाले कर्मयोगी ने (सुधुरं) सुन्दर स्कन्ध वाला (कक्ष्यप्रां) कक्षा में रहने वाली रज्जु का पूरक=स्थूल (रायः, विबोधनं) धनों का उत्पादन हेतु (रोहितं) रोहित वर्णवाला अश्व (मे) मुझ विद्वान् को (अदात्) दिया ॥२२॥

भावार्थः इस मन्त्र का भाव यह है कि कर्मयोगी लोग ही शीघ्र गतिशील अश्वादि पदार्थों को लाभ करके विद्वानों के अर्पण करते हैं, ताकि वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें; ["अश्व" शब्द यहां सब वाहनों का उपलक्षण है अर्थात् जल, स्थल तथा नभोगामी जो गतिशील वाहन हैं उन सबका अश्व शब्द ग्राहक है] ॥२२॥

यस्मा अन्ये दश प्रति धुरं वहन्ति वह्नयः ।

अस्तं वयो न तुग्र्यम् ॥२३॥

पदार्थः—(यस्मै) जिस मुझको (अन्ये, दश, वह्नयः) अन्य दश वहनकर्ता इन्द्रिय नामक (वयः) जैसे सूर्यकिरण (तुग्र्यं) जल परमाणुओं को (अस्तं, न) सूर्य की ओर वहन करती हैं इसी प्रकार (धुरं) शरीररूप धुर को (प्रतिवहन्ति) गन्तव्य देश के प्रति वहन करती हैं ॥२३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में इन्द्रिय तथा इन्द्रवृत्तियों का वर्णन है कि जिस पुरुष के इन्द्रिय संस्कृत हैं उसकी इन्द्रियवृत्तियां साध्वी तथा संस्कृत होती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह मनस्वी बनकर इन्द्रियवृत्तियों को सदैव अपने स्वाधीन रक्खे। इसी भाव को कठ० में इस प्रकार वर्णन किया है कि "सदश्वा इव सारथेः"=जिस प्रकार सारथि के संस्कृत और सुचालित घोड़े वशीभूत होते हैं इसी प्रकार इन्द्रियसंयमी पुरुष के इन्द्रिय वशीभूत होते हैं ॥२३॥

अब पिता से ब्रह्मविद्या प्राप्त किये हुए कर्मयोगी का स्तवन कथन करते हैं ॥

आत्मा पितुस्तनूर्वास ओजोदा अभ्यञ्जनम् ।
तुरीयमिद्रोहितस्य पाकस्थामानं भोजं दातारमब्रवम् ॥२४॥

पदार्थः—जो कर्मयोगी (पितुः आत्मा, तनूः) पिता ही की आत्मा तथा शरीर है, (वासः) वस्त्र के समान अभिरक्षक तथा (ओजोदाः) बलों का दाता है, (अभ्यञ्जनं) उस सब ओर से आत्मा के शोधक, (तुरीयं, इत्) शत्रुओं के हिंसक, (रोहितस्य, दातारं) रोहिताश्व के देने वाले, (भोजं) उत्कृष्ट पदार्थों के भोक्ता, (पाकस्थामानं) पक्वबलवाले कर्मयोगी की मैं (अब्रवं) स्तुति करता हूँ ॥२४॥

भावार्थः—जिस कर्मयोगी ने अपने पिता से ब्रह्मविद्या तथा कर्मयोगविद्या का अध्ययन किया है वह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है, या यों कहो कि वह मानो पिता के शरीर का ही अंग है, जैसा कि धर्मशास्त्र में भी लिखा है कि "आत्मा वै जायते पुत्रः"=अपना आत्मा ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है। इस वाक्य के अनुसार पुत्र पिता का आत्मारूप प्रतिनिधि है। और इसी भाव को मनु० ३।३ में इस प्रकार वर्णन किया है कि "तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः"=जो ब्रह्मविद्या के चमत्कार से प्रसिद्ध और जिसने अपने पिता से ही वेदरूपपैतृक सम्पत्ति को लाभ किया है उस स्नातक का गोदान से सत्कार करे। इस प्रकार ब्रह्मविद्याविशिष्ट उस स्नातक के महत्त्व का इस मन्त्र में वर्णन है जिसने अपने पिता के गुरुकुल में ही ब्रह्मविद्या का अध्ययन किया है ॥२४॥

अष्टम मण्डल में तीसरा सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकविंशत्यृचस्य चतुर्थसूक्तस्य–१–२१ देवातिथिः काण्व ऋषिः ॥ देवताः–१-१४ इन्द्रः । १५–१८ इन्द्रः पूषा वा । १९–२१ कुरुङ्गस्य दानस्तुतिः ॥ छन्दः–१, १३ भुरिगनुष्टुप् । ७ अनुष्टुप् । २, ४, ६, ८, १२, १४, १८ निचृत् पङ्क्तिः । १० सतः पङ्क्तिः । १६, २० विराट् पङ्क्तिः । ३, ११, १५, निचृद् बृहती । ५, ९ बृहती पथ्या । १७, १९ विराट् बृहती । २१ विराडुष्णिक् ॥ स्वरः–१, ७, १३ गान्धारः । २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २० पञ्चमः । ३, ५, ९, ११, १५, १७, १९, मध्यमः २१ ऋषभः ॥

अब कर्मयोगी को उपदेशार्थ बुलाकर उसका सत्कार करना कथन करते हैं ॥

यदि॑न्द्र॒ प्रागपा॒गुद॒ङ्न्य॑ग्वा हू॒यसे॒ नृभि॑: ।

सिमा॑ पु॒रू नृषू॑तो अ॒स्यान॑वेऽसि प्रशर्ध तु॒र्वशे॑ ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत्) यद्यपि (प्राक्) प्राचीदिशा में रहने वाले, (अपाक्) पश्चिम दिशा में रहने वाले, (उदक्) उदीची दिशा में रहने वाले (वा) अथवा (न्यक्) अधोदेश में रहने वाले (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (हूयसे) स्वकार्यार्थ आप बुलाये जाते हैं, इस लिये, (सिम) हे श्रेष्ठ ! (पुरु, नृषूतः) बहुत वार मनुष्यों से प्रेरित (असि) होते हैं, तथापि (प्रशर्ध) शत्रुओं के पराभविता (आनवे, तुर्वशे) जो मनुष्यत्वविशिष्ट मनुष्य है उसके पास (असि) विशेषरूपेण विद्यमान होते हैं ॥१॥

भावार्थः—याज्ञिक लोगों की ओर से कथन है कि इन्द्र=हे परमैश्वर्य-सम्पन्न कर्मयोगिन् ! आप चाहे प्राच्यादि किसी दिशा वा स्थान में क्यों न हों हम लोग स्वकार्यार्थ आपको बुलाते हैं और आप हम लोगों से प्रेरित हुए हमारे कार्य्यार्थ आते हैं; इसलिये कृपा करके शीघ्र आवें और हमारे मनोरथ को पूर्ण करें ॥१॥

यद्वा॒ रुमे॒ रुश॑मे॒ श्याव॑के॒ कृप॒ इन्द्र॑ मा॒दय॑से॒ सचा॑ ।

कण्वा॑सस्त्वा॒ ब्रह्म॑भि॒: स्तोम॑वाहस॒ इन्द्रा य॑च्छ॒न्त्या ग॑हि ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (यद्वा) यद्यपि (रुमे) केवल शब्दमात्र करने वाले तथा (रुशमे) तेजस्वी (श्यावके) तमोगुण वाले तथा (कृपे) समर्थ पुरुषों में (सचा) साथ ही (मादयसे) हर्ष उत्पन्न करते हैं तथापि (स्तोमवाहसः) आपके भाग को लिए हुए (कण्वासः) विद्वान् लोग (ब्रह्मभिः) स्तुति द्वारा (त्वा) आपको (आयच्छन्ति) बुलाते हैं; (इन्द्र) हे इन्द्र ! (आगहि) आइये ॥२॥

भावार्थः—हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न कर्मयोगिन् ! भीरु, तेजस्वी, तमोगुणी तथा सम्पत्तिशाली सब प्रकार के पुरुष आप को बुलाकर सत्कार करते और आप सबको हर्ष उत्पन्न करते हैं। सो हे भगवन् ! आपके सत्कारार्ह पदार्थ लिये हुए विद्वान् लोग स्तुतियों द्वारा आपको बुला रहे हैं, आप कृपाकरके शीघ्र आइये ॥२॥

यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥३॥

पदार्थः—(यथा) जिस प्रकार (गौरः) गौरमृग (तृष्यन्) तृषार्त्त हुआ (अपा, कृतं) जल से पूर्ण (इरिणं) सरोवर के अभिमुख (अवैति) जाता है; इसी प्रकार, (नः आपित्वे प्रपित्वे) हमारे साथ सम्बन्ध प्राप्त होने पर (तूयं, आगहि) शीघ्र आइये और (कण्वेषु) विद्वानों के मध्य में आकर (सचा) साथ-साथ (सु) भले प्रकार (पिब) अपने भाग का पान कीजिये ॥३॥

भावार्थः—हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न तथा ऐश्वर्य्य के दाता कर्मयोगिन् ! जिस प्रकार पिपासार्त मृग शीघ्रता से जलाशय को प्राप्त होता है इसी प्रकार उत्कट इच्छा से आप हम लोगों को प्राप्त हों और विद्वानों के मध्य उत्तमोत्तम पदार्थ तथा सोमरस का सेवन करें ॥३॥

अब सत्कारानन्तर कर्मयोगी की स्तुति करना कथन करते हैं ॥

मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधोदेयाय सुन्वते ।
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे सहः ॥४॥

पदार्थः—(मघवन्, इन्द्र) हे धनवन् इन्द्र ! (सुन्वते) जिज्ञासु को (राधोदेयाय) धन देने के लिए (इन्दवः) ये रस (त्वा) आपको (मन्दन्तु) हर्षित करें जो आपने (आमुष्य) शत्रुओं से छीनकर (चमू) सेनाओं के मध्य में (सुतं, सोमं) सिद्ध किये हुए अपने भाग को (अपिबः) पिया (तत्) जिससे (ज्येष्ठं) सबसे अधिक (सहः) सामर्थ्य के (दधिषे) धारयिता कहे जाते हो ॥४॥

भावार्थः—हे कर्मयोगिन् ! यह रस आपकी प्रसन्नतार्थ हम लोगों ने सिद्ध करके आप को अर्पण किये हैं। आप इनको पान करके प्रसन्न हों और हम जिज्ञासुजनों को धनादि ऐश्वर्य्य प्रदान करें। हे युद्धविद्या में कुशल शूर-वीर ! आप शत्रुओं को विजय करने वाले और उनके पदार्थों को जीतकर अपना भाग ग्रहण करने वाले हो; इसी कारण आपको सब सामर्थ्यसम्पन्न कहते हैं ॥४॥

प्र च॑क्रे॒ सह॑सा॒ सहो॑ ब॒भञ्ज॑ म॒न्युमोज॑सा।
विश्वे॑ त इन्द्र पृतना॒यवो॑ यह्वो॒ नि वृ॒क्षा इ॑व येमिरे ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्य्यशालिन्! आप (सहसा) अपने बल से (सहः) शत्रुबल को (प्रचक्रे) दबाते हैं; (ओजसा) अपने पराक्रम से (मन्युं) शत्रुक्रोध को (बभंज) भंजन करते हैं। (यह्वो) हे महत्वविशिष्ट! (ते) आपके (विश्वे) सब (पृतनायवः) युद्ध चाहने वाले शत्रु (वृक्षा इव) वृक्ष के समान (नियेमिरे) निश्चेष्ट हो जाते हैं ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में जिज्ञासुजनों की ओर से कर्मयोगी की स्तुति वर्णन की गई है कि हे युद्धविशारद कर्मयोगिन्! आपके सन्मुख शत्रुबल पाषाणवत् निश्चेष्ट हो जाता है अर्थात् शत्रु का बल अपूर्ण होने से वह आपके सन्मुख नहीं ठहर सकता; आपका बल पूर्ण होने के कारण शत्रु का बल तथा क्रोध सदा भंजन होता रहता है ॥५॥

स॒ह॒स्रेणे॑व सचते यवी॒युधा॒ यस्त॒ आन॒ळुप॑स्तुतिम्।
पु॒त्रं प्रा॑व॒र्गं कृ॑णुते सु॒वीर्ये॑ दा॒श्नोति॒ नम॑ उ॒क्तिभिः॑ ॥६॥

पदार्थः—(यवियुधा) वह पुरुष विद्युत् के समान युद्ध करने वाला होकर (सहस्रेणेव) सहस्रों बलों से (सचते) संगत होता है (यः) जो (ते) आपकी (उपस्तुतिं) अल्प स्तुति को भी (आनट्) करता है, और जो (नम उक्तिभिः) नम्र वचनों से (दाश्नोति) आपका भाग देता है वह (सुवीर्ये) सुन्दर पराक्रम वाले आपकी अध्यक्षता में (पुत्रं) अपनी सन्तान को (प्रावर्गं) अतिशय अनिवार्य (कृणुते) बनाता है ॥६॥

भावार्थः—हे युद्धविद्याविशारद कर्मयोगिन्! आपकी स्तुति द्वारा आप से शिक्षा प्राप्त किया हुआ पुरुष अति तीव्र युद्ध करने वाला तथा सहस्रों योद्धाओं से युक्त होता है और जो नम्रतापूर्वक आपका सत्कार करता है वह स्वयं युद्धविशारद होता और कर्मयोगी की अध्यक्षता में रहने के कारण उसकी सन्तान भी संग्राम में कुशल होती है अर्थात् उसको कोई युद्ध में निवारण= हटा नहीं सकता ॥६॥

मा भे॑म॒ मा श्र॑मिष्मो॒ग्रस्य॑ स॒ख्ये तव॑।
म॒हत्ते॒ वृष्णो॑ अभि॒चक्ष्यं॑ कृ॒तं पश्ये॑म तु॒र्वशं॒ यदु॑म् ॥७॥

पदार्थः—(उग्रस्य) शत्रुओं को भयप्रद (तव) आप कर्मयोगी के (सख्ये) मैत्री-भाव होने पर (मा, भेम) हम भयभीत न होते और (मा, श्रमिष्म) न श्रान्त होते हैं (वृष्णः) कामनाओं की वर्षा करने वाले (ते) आपका (महत्, कृतं) महान् कर्म (अभि-

चक्ष्यं) प्रशंसनीय है। हे इन्द्र ! (यदुं) अपनी सन्तान को (तुर्वशं) शत्रुहिंसनशील (पश्येम) आपकी कृपा से हम देखें ॥७॥

भावार्थः—हे शत्रुओं को वशीभूत करने वाले कर्मयोगिन्! आपसे मैत्री-भाव सम्बन्ध प्राप्त होने पर न हम शत्रुओं से भयभीत होते हैं और न अपनी कार्य्यसिद्धि में श्रान्त होते हैं अर्थात् निर्भयता से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाले कर्मयोगिन् ! आपकी शिक्षाद्वारा उक्त महान् कर्म करने को हम समर्थ हुए हैं। सो आपका यह शिक्षणरूपकर्म प्रशंसनीय है। हे शत्रुओं के नाशक कर्मयोगिन् ! आपकी कृपा से यही भाव हमारी सन्तान में भी आवे अर्थात् उसको भी शत्रुओं के मध्य हम विजय-प्राप्त करता हुआ देखें—हमारी इस कामना को पूर्ण करें ॥७॥

सव्यामनु स्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति ।
मध्वा सम्पृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब ॥८॥

पदार्थः—(वृषा) कामनाओं की वर्षा करने वाले आप (सव्याम, स्फिग्यम्, अनु) वायें अंग से ही (वावसे) सबको अभिभूत किये हैं (अस्य) इस कर्मयोगी के (दानः) भाग का दाता सेवक (न, रोषति) कभी इससे रुष्ट नहीं होता (सारघेण) सरघा=मधुमक्षिका से किये हुए (मध्वा) मधु से (संपृक्ताः) संमिश्रित (धेनवः) गव्य पदार्थ आपके लिये विद्यमान हैं आप (तूयम्) शीघ्र (आगहि) आइये (द्रव) द्रुत-गति से आइये (पिब) सिद्धरस को पीजिये ॥८॥

भावार्थः—सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले कर्मयोगिन् !आप वाम अंग से ही सब शत्रुओं को वशीभूत करने वाले हैं। जो प्रसन्नतापूर्वक आप का भाग देता है उसका आप सदा ही कल्याण करते और अनाज्ञाकारी का दमन करते हैं। हे भगवन् ! यह शहद और दुग्धादि पदार्थों से मिश्रित उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ आपके लिए सिद्ध किये हुए रखे हैं; आप शीघ्र आकर इनका सेवन कीजिये ॥८॥

अब कर्मयोगी से मित्रता करने वाले को फल कथन करते हैं ॥

अश्वी रथी सुरूप इद्गोमाँ इदिन्द्र ते सखा ।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रो याति सभामुप ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे कर्मयोगिन् ! (ते, सखा) आपका मित्र (अश्वी) अश्वयुक्त (रथी) रथी=रथयुक्त, (सुरूपः, इव) सुरूपवान् (गोमान्, इव) गवादियुक्त होकर

(श्वात्रभाजा) धनों से सहित (वयसा) अन्न से (सदा) सदैव (सचते) संगत होता है; (चन्द्रः) चन्द्रमा के समान द्युतिमान् होकर (सभां) सभा को (उपयाति) जाता है ॥९॥

भावार्थः—जो पुरुष कर्मयोगी को प्रसन्न रखकर उससे मित्रता करते हैं वे अश्व, रथ तथा गौ आदि पशु और अन्नादि धनों से युक्त होकर सदैव आनन्द भोगते हैं, वे बड़ी आयु वाले होते और स्वरूपवान् तथा प्रतिष्ठित हुए सभा समाज में मान को प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रतिष्ठाभिलाषी पुरुषको उक्त गुणसम्पन्न कर्मयोगी से मित्रता करके सदा लाभ उठाना चाहिये ॥९॥

ऋश्यो न तृष्यन्नवपानमा गहि पिबा सोमं वशाँ अनु ।
निमेघमानो मघवन्दिवेदिव ओजिष्ठं दधिषे सहः ॥१०॥

पदार्थः—(तृष्यन्, ऋश्यः) प्यासा ऋश्य=मृगविशेष (अवपानम्, न) जैसे जलस्थान के समीप जाता है, उसी प्रकार आप मेरे यज्ञ में (आगहि) आवें। (वशान्, अनु) अपनी-अपनी इच्छानुकूल (सोमम्, पिब) सोमरस का पान करें। (मघवन्) हे ऐश्वर्य्यशालिन् ! (दिवे, दिवे) प्रतिदिन (निमेघमानः) प्रजाओं में आनन्द की वर्षा करते हुए (ओजिष्ठम्) अत्यन्त ओज से युक्त (सहः) बल को (दधिषे) आप धारण करते हैं ॥१०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में याज्ञिक पुरुषों की ओर से कथन है कि हे कर्मयोगिन् ! जैसे पिपासातुर मृग जलाशय की ओर अति शीघ्रता से जाता है, इसी प्रकार शीघ्र ही आप हमारे यज्ञस्थान को प्राप्त होकर सोमरस पान करें और अपने सदुपदेश से आनन्द वर्षावें ! हे महाबलशालिन् ! कर्मयोगिन्! आप हमें भी बलवान् कीजिये ताकि अपने कार्यों को विधिवत् करते हुए सदा शत्रुओं का दमन करते रहें ॥१०॥

अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति ।
उप नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥११॥

पदार्थः—(अध्वर्यो) हे यज्ञपते ! (त्वम्, द्रावय) आप इन्द्र भाग को सिद्ध करें; (इन्द्र) कर्मयोगी (सोमं, पिपासति) सोमरस सर्वदा पीना चाहता है। (नूनम्) सम्भावना करते हैं कि (वृषणा) बलवान् (हरी) अश्वों को (उपयुयुजे) रथ में नियुक्त किया है (वृत्रहा) शत्रुओं का नाशक वह (आजगाम, च) आ ही गया है ॥११॥

भावार्थः—हे यज्ञपति=यजमान पूज्य कर्मयोगी सोमरस पान करने के

लिए शीघ्र ही अश्वों के रथ में सवार होकर यज्ञस्थान को आ रहे हैं, सो उनके आने से प्रथम ही सोमरस सिद्ध करके तैयार रखना चाहिए ॥११॥

अब कर्मयोगी का सोमरस पान करना कथन करते हैं ॥

स्वयं चित्स मन्यते दाशुरिर्जनो यत्रा सोमस्य तृम्पसि ।
इदं ते अन्नं युज्यं समुक्षितं तस्येहि प्र द्रवा पिब ॥१२॥

पदार्थः—हे कर्मयोगिन् ! (यत्र) जिस यजमान में (सोमस्य, तृम्पसि) सोम-पान से तृप्त होते हैं (सः, दाशुरिः, जनः) वह सेवकजन (स्वयम्, चित्, मन्यते) स्वयं ही जागरूक रहता है । (ते) आपका (इदम्, युज्यम्, अन्नम्) यह योग्य अन्न (समुक्षितम्) सिद्ध हो गया; (तस्य) उसका, (इहि) आइये, (प्रद्रव) शीघ्र आइये, (पिब) पान कीजिये ॥१२॥

भावार्थः—हे कर्मयोगिन् ! यजमान की ओर से कुशल सेवकों द्वारा अन्न-पान भलेप्रकार सिद्ध हो गया है; आप इसको ग्रहण कीजिये ॥१२॥

अब रक्षार्थ आये हुए कर्मयोगी की स्तुति करते हैं ॥

रथेष्ठायाध्वर्यवः सोममिन्द्राय सोतन ।
अधि ब्रध्नस्याद्रयो वि चक्षते सुन्वन्तो दाश्वध्वरम् ॥१३॥

पदार्थः—(अध्वर्यवः) हे याज्ञिक लोगो ! (रथेष्ठाय, इन्द्राय) रथ में स्थित कर्मयोगी के लिए (सोमं) सोमरस को (सोतन) अभिषुत कीजिये । (ब्रध्नस्य) महान् इन्द्र के (अद्रयः) शस्त्र (दाश्वध्वरं) यजमान के यज्ञ को (सुन्वन्तः) निष्पादित करते हुए (विचक्षते) विशेष रूप से शोभित हो रहे हैं ॥१३॥

भावार्थः—यजमान की ओर से कथन है कि हे याज्ञिक लोगो ! रथ में स्थित कर्मयोगी को सोमरस अर्पण कीजिये; कर्मयोगी के दिये हुए अस्त्र-शस्त्रों से यज्ञस्थान विशेषरूप से सुशोभित हो रहा है; हमारा कर्तव्य है कि यज्ञरक्षार्थ आये हुए कर्मयोगी का विशेषरूप से सत्कार करें ॥१३॥

उप ब्रध्नं वावाता वृषणा हरी इन्द्रमपसु वक्षतः ।
अर्वाञ्चं त्वा सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप ॥१४॥

पदार्थः—(ब्रध्नम्, उप) अन्तरिक्षमार्ग में (वावाता) अन्तरिक्षगामी (वृषणा) वृषण नामक (हरी) हरणशील शक्तियां (इन्द्रं) कर्मयोगी को (कर्मसु) यज्ञकर्म की ओर (वक्षतः) ले आयें तथा (अर्वाञ्चम्) भूमिमार्ग में (त्वा) आपको (अध्वरश्रियः)

यज्ञ में रहने वाले यजमान सम्बन्धी (सप्तयः) अश्व (सवना) यज्ञ के प्रति (उप-वहन्तु) लावें ॥१४॥

भावार्थः—हे याज्ञिक लोगो ! हमारी कामनाओं को पूर्ण करने वाली शक्तियाँ कर्मयोगी को यज्ञभूमि में लावें, या यों कहो कि यजमान के शीघ्रगामी अश्व, जो यज्ञस्थान में ही रहते हैं, वह कर्मयोगी को यहां पहुँचावें; जिससे हम लोग शिक्षा द्वारा अपना मनोरथ पूर्ण करें ॥१४॥

अब धनलाभ तथा शत्रुनाश के लिये कर्मयोगी से शिक्षा की प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

प्र पूषणं वृणीमहे युज्याय पुरूवसुम् ।

स शक्र शिक्ष पुरुहूत नो धिया तुजे राये विमोचन ॥१५॥

पदार्थः—(पुरुवसुम्, पूषणम्) बहुत धन वाले पोषक कर्मयोगी का, (युज्याय) सखित्व के लिए, (प्रवृणीमहे) भजन करते हैं। (शक्र) हे समर्थ, (पुरुहूत) अनेक जनों से आहूत, (विमोचन) दुःख से छुड़ाने वाले (सः) वह आप (नः) हमको (धिया) अपनी शुभबुद्धि से (तुजे) शत्रुनाश तथा (राये) धनलाभ के लिये (शिक्ष) शिक्षा दीजिए ॥१५॥

भावार्थः—हे ऐश्वर्यसम्पन्न तथा पालक पोषक कर्मयोगिन् ! हम लोग आपसे मित्रता प्राप्त करने के लिये यत्नवान् हैं। हे भगवन् ! आप हमको दुःखों से छुड़ाकर सुखप्रदान करनेवाले हैं; कृपा करके अपनी शुद्धबुद्धि से हमको शत्रुनाश तथा ऐश्वर्यलाभार्थ शिक्षा दीजिए—जिससे हम निश्चिन्त होकर याज्ञिक कार्यों को पूर्ण करें ॥१५॥

अब कर्मयोगी से कर्मों में कौशल्य प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

सं नः शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन ।

त्वे तन्नः सुवेदमुस्रियं वसु यं त्वं हिनोषि मर्त्यम् ॥१६॥

पदार्थः—(भुरिजोः, क्षुरम्, इव) बाहु में स्थित क्षुर के समान (नः) हमको (संशिशीहि) कर्मों में अति तीव्र बनावें। (विमोचन) हे दुःख से छुड़ाने वाले ! (रायः रास्व) ऐश्वर्य दीजिये; (त्वे) आपके अधिकार में (तत्, उस्रियम्, वसु) वह कान्ति वाला धन (नः) हमको (सुवेदम्) सुलभ है (यम्) जिस धन को (त्वम्) आप (मर्त्यम्, हिनोषि) मनुष्य के प्रति प्रेरण करते हैं ॥१६॥

भावार्थः—हे दुःखों से पार करने वाले कर्मयोगिन् ! आप कृपा करके हमको कर्म करने में कुशल बनावें अर्थात् हम लोग निरन्तर कर्मों में प्रवृत्त रहें जिससे हमारा दारिद्रय दूर होकर हम ऐश्वर्यशाली हों; आप हमको कान्ति वाला वह उज्ज्वल धन देवें जिसको प्राप्त कर मनुष्य आनन्दोपभोग करते हैं। आप सब प्रकार से समर्थ हैं, इसलिये, हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार करें ॥१६॥

वेमिं त्वा पूषन्नृञ्जसे वेमि स्तोतंव आघृणे।
न तस्यं वेम्यरंणं हि तद्वसो स्तुषे पज्राय साम्नें ॥१७॥

पदार्थः—(पूषन्) हे पोषक इन्द्र ! (ऋञ्जसे) कार्यसिद्धि के लिये (त्वा, वेमि) मैं आपको जानता हूँ। (आघृणे) आप दीप्तिमान् हैं इसलिये (स्तोतवे) स्तुति करने के लिए (वेमि) आपको जानता हूँ, (तस्य) दूसरे को (न, वेमि) नहीं जानता। (तत्, हि, अरणम्) क्योंकि वह रमणीय नहीं है। (वसो) हे आच्छादयिता ! (स्तुषे) आपकी स्तुति करने वाले मुझको (पज्राय, साम्ने) स्व प्राजित साम दीजिये ॥१७॥

भावार्थः—हे सब से पोषक इन्द्र=कर्मयोगिन् ! आप ही कार्य सिद्ध करने वाले, आप देदीप्यमान तथा स्तुति करने योग्य हैं; आपके बिना अन्य कोई स्तुति के योग्य नहीं और न मैं किसी अन्य को जानता हूँ। हे युद्ध-कुशल भगवन् ! आप मुझको प्राजित=एकत्रित किया हुआ साम दीजिये अर्थात् सदा के लिये कल्याण तथा ऐश्वर्य प्रदान कीजिये ॥१७॥

अब गवादि पशुओं के लिये चारारूप तृण के लिये प्रार्थना करना कथन करते हैं॥

परा गावो यवंसं कच्चिदाघृणे नित्यं रेक्णों अमर्त्य।
अस्माकं पूषन्नविता शिवो भंव मंहिष्ठो वाजंसातये ॥१८॥

पदार्थः—(अमर्त्य) हे रोगादिरहित कर्मयोगिन् ! (गावः) मेरी गायें (कच्चित्) किसी समय (यवसम्) तृण को (परा) भक्षण करने के लिए यदि जायं तो (रेक्णः) वह उनका तृणरूप धन (नित्यम्) नित्य हो। (पूषन्) हे पोषक इन्द्र ! (अस्माकं) हम जिज्ञासुओं के (शिवः, अविता, भव) कल्याणमय रक्षक आप हों। (वाजसातये) धनदान के लिए (मंहिष्ठः) उदारतम हों ॥१८॥

भावार्थः—हे सबके पालक कर्मयोगिन् ! हमारी गौओं के भक्षणार्थ तृणरूप धन नित्य हो। मंत्र में "गावः" पद सब पशुओं का उपलक्षण है

अर्थात् हमारे पशुओं के लिए नित्य पुष्कल उत्तम चारा मिले जिससे वे हृष्ट-पुष्ट रहें। हे कर्मयोगिन्! आप हम जिज्ञासुओं के सदैव रक्षक हों और हमारे लिये धन दान देने में आपका सदा उदारभाव हो ॥१८॥

अब कर्मयोगी के विमानादि ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं ॥

स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु ।

राज्ञस्त्वेषस्य सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्महि ॥१९॥

पदार्थः—(दिविष्टिषु) अन्तरिक्षविषयक गमन की कामना में लगे हुए (कुरुङ्गस्य, राज्ञः) ऋत्विजों के पास जाने वाले (सुभगस्य) सौभाग्य युक्त (त्वेषस्य, राज्ञः) दीप्तिमान् राजा के (शताश्वम्, स्थूरम्) सैंकड़ों अश्वों की शक्ति वाला अतिस्थूल (राधः) विमानादि ऐश्वर्य है। (तुर्वशेषु) मनुष्यों के मध्य में (रातिषु) दानों के विषय में (अमन्महि) हम उदारतया उसको जानते हैं ॥१९॥

भावार्थः—इस मंत्र में कर्मयोगी का ऐश्वर्य कथन किया है कि वह विमान द्वारा अन्तरिक्ष में गमन करता तथा उसी में चढ़कर ऋत्विजों से मिलता है। वह विमान कैसा है? ऐश्वर्यसम्पन्न राजा के सैंकड़ों अश्वों की शक्तिवाला अर्थात् अत्यन्त वेग से चलनेवाला और बहुत स्थूल बना हुआ है। वह कर्मयोगी दानविषयक उदारता में प्रसिद्ध और कर्मों द्वारा सबको धनाढ्य बनाने में कुशल है ॥१९॥

अब कर्मयोगी का दान देना कथन करते हैं ॥

धीभिः सातानि काण्वस्य वाजिनः प्रियमेधैरभिद्युभिः ।

षष्टिं सहस्रानु निर्मजामजे निर्यूथानि गवामृषिः ॥२०॥

पदार्थः—(प्रियमेधैः) यज्ञप्रिय (अभिद्युभिः) अधिक कान्ति वाले (धीभिः) विद्वानों द्वारा (सातानि) सेवित (काण्वस्य, वाजिनः) मेधाविपुत्र बलवान् कर्मयोगी की (षष्टिं, सहस्रा) साठ सहस्र (निर्मजां, गवां, यूथानि) शुद्ध गायों के यूथों को (ऋषिः) ऋषि ने (निः) निरन्तर (अन्वजे) पाया ॥२०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में दानशील महात्मा कर्मयोगी का दान कथन किया गया है कि यज्ञप्रिय, सुदर्शन, विद्वानों का सेवन करने वाले तथा मेधावीपुत्र बलवान् कर्मयोगी ने साठ सहस्र उत्तम गायों के यूथों को ऋषि के लिए सदा को दान दिया ॥२०॥

वृक्षाश्चिन्मे अभिपित्वे अरारणुः ।
गां भजन्त मेहनाश्वं भजन्त मेहना ॥२१॥

पदार्थः—(मे, अभिपित्वे) मुझको द्रव्य प्राप्त होने पर (गां, भजन्त, मेहना) श्रेष्ठ गोधन को पाया, (अश्वं, भजन्त, मेहना) श्रेष्ठ अश्वों को पाया, ऐसा (वृक्षाः, चित्) वृक्ष भी (अरारणुः) शब्द करने लगे ॥२१॥

भावार्थः—ऋषि की ओर से कथन है कि मुझको गोधनरूप धन प्राप्त होने पर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ और मूर्ख से लेकर पण्डित पर्यन्त सब जन इस दान की प्रशंसा करने लगे। मन्त्र में "वृक्ष" शब्द से तात्पर्य जड़=मूर्ख का है, वृक्ष का नहीं; क्योंकि वृक्ष में शब्द करने की शक्ति नहीं होती ॥२१॥

अष्टम मण्डल में चौथा सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकोनचत्वारिंशदृचस्य पञ्चमसूक्तस्य १–३९ ब्रह्मातिथिः काण्व ऋषिः ॥ देवताः १–३६, ३७[१] अश्विनौ । ३७[२]–३९ चैद्यस्य कशोर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—१, ५, ११, १२, १४, १८, २१, २२, २६, ३२, ३३ निचृद् गायत्री । २–४, ६-१०, १५-१७, १९, २०, २४, २५, २७, २८, ३०, ३४, ३६ गायत्री । १३, २३, ३१, ३५ विराड् गायत्री । २६ आर्ची स्वराड् गायत्री । ३७, ३८ निचृद् बृहती । ३९ आर्षी निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—३६ षड्जः । ३७, ३८ मध्यमः । ३९ गान्धारः ॥

अब ज्ञानयोगी और कर्मयोगी की शक्ति का वर्णन करते हुए प्रथम प्रातःकाल की शोभा कथन करते हैं ॥

दूरादिहेव यत्सत्यरुणप्सुरशिश्वितत् ।
वि भानुं विश्वधातनत् ॥१॥

पदार्थः—(दूरात्) वास्तव में दूर परन्तु (इहेव, सती) समीपस्थ के सदृश ज्ञात होती हुई (अरुणप्सुः) अरुण रंग वाली यह उषा (यत्) जब (अशिश्वितत्) सारे संसार को अरुण कर देती है तब उसी क्षण (भानुम्) सूर्य की किरणों को (व्यतनत्) फैला देती है ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उषाकाल का वर्णन किया गया है कि जब सम्पूर्ण संसार को अरुण=तेजस्वी बनाने वाले उषाकाल का आगमन होता है तब सब प्राणी निद्रादेवी की गोद से उद्बुद्ध होकर परमपिता पर-

मात्मा की महिमा का अनुभव करते हुए उसी के ध्यान में निमग्न होते हैं। अधिक क्या, इस उषाकाल का महत्त्व ऋषि, महर्षि, शास्त्रकार तथा सम्पूर्ण महात्मागण बड़े गौरव से वर्णन करते चले आये हैं कि जो पुरुष इस उषाकाल में उठकर परमात्मपरायण होते हैं उनको परमात्मा सब प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करते हैं ॥१॥

अब ज्ञानयोगी और कर्मयोगी का उषाकालसेवी होना कथन करते हैं ॥

नृवद्दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा ।

सचेथे अश्विनोषसम् ॥२॥

पदार्थः—(दस्रा, अश्विना) दर्शनीय ज्ञानयोगी और कर्मयोगी अपना राष्ट्र देखने तथा प्रातःकालिक वायु सेवन के लिए (नृवत्) साधारण मनुष्य के समान (पृथुपाजसा) अतिवेगवाले (मनोयुजा, रथेन) इच्छागामी रथ द्वारा (उषसम्) उषाकाल का (सचेथे) सेवन करते हैं ॥२॥

भावार्थः—ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी उषाकाल में जागकर वेदप्रतिपादित सन्ध्या-अग्निहोत्रादि कर्मों से निवृत्त हो, स्वेच्छाचारी रथ पर बैठकर अपने राष्ट्र का प्रबन्ध देखने तथा उस काल का वायु सेवन करने के लिए जाते हैं। जो पुरुष कर्मयोगी के इस आचरण का सेवन करते हैं वह भी बुद्धिमान् तथा ऐश्वर्यवान् और दीर्घजीवी होकर अनेक प्रकार के सुख अनुभव करते हैं ॥२॥

युवाभ्यां वाजिनीवसू प्रति स्तोमा अदृक्षत ।

वाचं दूतो यथोहिषे ॥३॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू)हे बलसहित धनवाले (युवाभ्याम्) मार्ग में चलते हुए आप (स्तोमाः) स्तोत्रों को (प्रत्यदृक्षत) सुनते और हम लोग (दूतः, यथा)दूत=सेवक के समान (वाचम्, ओहिषे) आपकी आज्ञासम्बन्धी वाणी की प्रतीक्षा करते हैं ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि उषाकाल का सेवन करने वाले ऐश्वर्यसम्पन्न कर्मयोगी की उसी काल में स्तोता लोग स्तुति करते और कर्मचारीगण आज्ञा प्राप्त कर अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं; अतएव प्रत्येक पुरुष को उचित है कि सूर्योदय से प्रथम ही शौच, सन्ध्या अग्निहोत्रादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर सूर्योदय होने पर अपने व्यावहारिक कार्यों में प्रवृत्त हो। ऐसा पुरुष अवश्य ही अपने अभीष्ट कार्यों को सिद्ध करता है, अन्य नहीं ॥३॥

पुरुप्रिया ण ऊतये पुरुमन्द्रा पुरूवसू ।

स्तुषे कण्वासो अश्विना ॥४॥

पदार्थः—(पुरुप्रिया) बहुतों के प्रिय (पुरुमन्द्रा) बहुतों के आनन्दयिता (पुरुवसू) अमितधनवाले (अश्विना) व्यापक उन दोनों की (नः, ऊतये) अपनी रक्षा के लिए (कण्वासः) हम विद्वान् (स्तुषे) स्तुति करते हैं ॥४॥

भावार्थः—ऐश्वर्यसम्पन्न कर्मयोगी तथा विद्याविशारद ज्ञानयोगी की सब विद्वान् स्तुति करते हैं कि हे भगवन् ! आप सर्वप्रिय, सबको आनन्द देनेवाले तथा संसार में सुख का विस्तार करने वाले हैं; कृपा करके हम लोगों की सब ओर से रक्षा करें ताकि हम लोग विद्यावृद्धि तथा धर्म का आचरण करते हुए अपनी इष्टसिद्धि को प्राप्त हों ॥४॥

मंहिष्ठा वाजसातमेषयन्ता शुभस्पती ।

गन्तारा दाशुषो गृहम् ॥५॥

पदार्थः—(मंहिष्ठा) पूजनीयतम, (वाजसातमा) अत्यन्त बल तथा अन्न के देनेवाले, (इषयन्ता) अपने में प्रीति उत्पन्न करने वाले (शुभस्पती) शोभन ऐश्वर्य के स्वामी (दाशुषः) यज्ञकर्ता के (गृहम्) गृह को (गन्तारा) जानेवाले उन दोनों की हम स्तुति करते हैं ॥५॥

भावार्थः—हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगिन् ! आप विद्यादि गुणों के कारण सब के पूजनीय=सत्कारार्ह हो; आप अन्न के दाता, सर्वमित्र, सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी और याज्ञिक पुरुषों में प्रीति उत्पन्न करने वाले हैं; इसलिए हम लोग आपकी स्तुति करते हैं, कृपा करके हमें भी उक्त गुणसम्पन्न करें ॥५॥

अब सदाचारवर्धक कर्मों के लिए प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

ता सुदेवाय दाशुषे सुमेधामवितारिणीम् ।

घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ॥६॥

पदार्थः—(ता) वह (सुदेवाय) शोभन देवों सहित (दाशुषे) यजमान के लिए (सुमेधाम्) सुन्दर संगति वाली (अवितारिणीम्) आत्मा की वञ्चना न करने वाली (गव्यूतिम्) इन्द्रियविषयभूतस्थली को (घृतैः) स्नेह से (उक्षतम्) सिंचित करें ॥६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में याज्ञिक विद्वानों की ओर से यह प्रार्थना कथन की गई है कि हे कर्मयोगिन् ! आप हमारे यजमान की आत्मा को उच्च

बनावें अर्थात् उन पर सदा प्रेम की दृष्टि रखें जिससे वह अपनी इन्द्रियों को वशीभूत रखते हुए सदाचार में प्रवृत्त रहें जिससे उनके यज्ञसम्बन्धी कार्य निर्विघ्न पूर्ण हों ॥६॥

आ नः स्तोम॒मुप॑ द्र॒वत्तूयं॑ श्ये॒नेभि॑रा॒शुभिः॑ ।

या॒तमश्वे॑भिरश्विना ॥७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी ! आप (द्रवत्) उच्चारण किये हुए (नः, स्तोत्रम्, उप) हमारे स्तोत्र के अभिमुख (आशुभिः, श्येनेभिः) शीघ्रगामी शस्त्रों सहित (अश्वेभिः) अश्वों द्वारा (तूयम्) शीघ्र (आयातम्) आवें ॥७॥

भावार्थः—विद्वज्जनों की ओर से प्रार्थना है कि हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगिन् ! हमारे क्षात्रधर्मसम्बन्धी स्तोत्रों के उच्चारणकाल में आप सशस्त्र शीघ्र आवें और आकर क्षात्रधर्म का महत्त्व तथा शस्त्रों की प्रयोगविधि का श्रवण करायें जिससे हमारा ज्ञान वृद्धि को प्राप्त हो ॥७॥

अब कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी के यान का वैलक्षण्य कथन करते हैं ॥

येभि॑स्ति॒स्रः प॑रा॒वतो॑ दि॒वो विश्वा॑नि रोच॒ना ।

त्रीँर॒क्तून्प॑रि॒दीय॑थः ॥८॥

पदार्थः—(येभिः) जिन वाहनों द्वारा (तिस्रः, दिवः) तीन दिन और (त्रीन्, अक्तून्) तीन रात्रि में (परावतः) दूर-दूर के (विश्वानि, रोचना) सर्व दिव्य प्रदेशों में (परिदीयथः) प्राप्त करते हैं ॥८॥

भावार्थः—इस मंत्र में ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी के यान का वैलक्षण्य वर्णन किया गया है कि वह अपने शीघ्रगामी यान द्वारा तीन दिन और तीन रात्रि में सम्पूर्ण दिव्य प्रदेशों=देश देशान्तरों में परिभ्रमण करके अपनी राजधानी को प्राप्त करते हैं ॥८॥

अब अन्य प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

उ॒त नो॒ गोम॑ती॒रिष॑ उ॒त सा॒तीर॑हर्विदा ।

वि प॒थः सा॒तये॑ सितम् ॥९॥

पदार्थः—(अहर्विदा) हे प्रातःस्मरणीय (उत) अनन्तर (नः) हमको (गोमतीः) गोयुक्त (उत) और (सातीः) देने योग्य (इषः) ऐश्वर्यों को प्राप्त करायें और (सातये) भोग के लिये (पथः) मार्गों को (विसितम्) बाधारहित करें ॥९॥

भावार्थः—हे प्रातःस्मरणीय कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगिन् ! आप कृपा करके हमको गवादि धन से युक्त करें, हमको भोगयोग्य पदार्थ प्राप्त करायें और हमारे मार्गों को बाधारहित करें अर्थात् दुष्टजन जो हमारे यज्ञादि-कर्मों में बाधक हैं उनको क्षात्रबल से वशीभूत करके हमको अभय दान दें जिससे हम निर्भय होकर वैदिककर्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहें ॥९॥

आ नो गोमन्तमश्विना सुवीरं सुरथं रयिम् ।

वोळ्हमश्वावतीरिषः ॥१०

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक (नः) आप हमारे लिए (गोमन्तम्) विद्यायुक्त (सुवीरम्) शोभन वीरयुक्त (सुरथम्) शोभन वाहनयुक्त (रयिम्) धन को तथा (अश्वावतीः) व्यापकशक्तिसहित (इषः) इष्टकामनाओं को (आवोळहम्) प्राप्त करायें ॥१०॥

भावार्थः—हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगिन् ! आप हमको विद्यादान द्वारा तृप्त करें जिससे हम परमात्मपरायण होकर वेदवाणी का विस्तार करें। हमको दुष्ट दस्यु तथा म्लेच्छ जनों के दमनार्थ शूरवीर पुरुष प्रदान करें जो हमारी रक्षा में तत्पर रहें, और हमें उत्तम वाहन तथा अन्नादि धन प्राप्त करायें जिससे हम अपनी इष्टकामनाओं को पूर्ण कर सकें ॥१०॥

वावृधाना शुभस्पती दस्रा हिरण्यवर्तनी ।

पिबतं सोम्यं मधु ॥११॥

पदार्थः—(शुभस्पती) हे उत्कृष्टपदार्थों के स्वामी (दस्रा) शत्रुओं का उपक्षय करने वाले (हिरण्यवर्तनी) सुवर्णमय व्यवहार वाले ! आप (वावृधाना) अभ्युदय-सम्पन्न हैं। (सोम्यम्, मधु) इस शोभनमधुररस को (पिबतम्) पीजिये ॥

भावार्थः—इस मंत्र में ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी का स्तुतिपूर्वक सत्कार करना कथन किया है कि हे उत्तमोत्तम पदार्थों के स्वामी ! आप शत्रुओं का क्षय करने वाले तथा अभ्युदयसम्पन्न हैं, कृपया इस उत्तम मधुररस को, जो नाना पदार्थों से सिद्ध किया गया है, पान करके हमारे इस सत्कार को स्वीकार करें ॥११॥

अब निवास के लिए गृहादि की प्रार्थना करना कथन करते हैं।

अस्मभ्यं वाजिनीवसू मघवद्भ्यश्च सप्रथः ।

छर्दिर्यन्तमदाभ्यम् ॥१२॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू) हे बल से रत्नोत्पादक (अस्मभ्यम्, मघवद्भ्यः, च)

मुक्त विद्वान् तथा धनवान् के लिये (सप्रथः) सुप्रसिद्ध (अदाभ्यम्) बाधारहित (छर्दिः) निवासस्थान का (यन्तम्) प्रबन्ध करें ॥१२॥

भावार्थः—हे बल से रत्न उत्पादन करनेवाले ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप धनवान् पुरुषों और हम विद्वानों के लिए उत्तम=सब ऋतुओं में आराम तथा आनन्ददायक और जिसमें मनुष्य तथा पशु नीरोग रह सकें और जो सब उपद्रवों से रहित हो, ऐसे निवासगृह का यन्तं=यत्न कीजिये । यह आपसे हमारी प्रार्थना है ॥१२॥

नि षु ब्रह्म जनानां याविष्टं तूयमा गतम् ।

मो ष्व१न्याँ उपारतम् ॥१३॥

पदार्थः—(या) जिन आपने (जनानां) मनुष्यों के (ब्रह्म) यज्ञ की (सु) भलीभाँति (नि, अविष्टं) नितान्त रक्षा की वह आप (तूयं) शीघ्र (आगतं) आयें । (अन्यान्) हमसे अन्य के समीप (मो) मत (सूपारतं) चिरकाल तक विलम्ब करें ॥१३॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप यज्ञों के रक्षक, याज्ञिक पुरुषों के नितान्त सेवी और विद्वानों का पूजन करने वाले हैं । इसलिए प्रार्थना है कि आप विलम्ब न करते हुए शीघ्र ही हमारे यज्ञस्थान को पधारकर सुशोभित करें ॥१३॥

अस्य पिबतमश्विना युवं मदस्य चारुणः ।

मध्वो रातस्य धिष्ण्या ॥१४॥

पदार्थः—(धिष्ण्या) स्तुतियोग्य, (अश्विना) व्यापक (युवम्) आप (रातस्य) मेरे दिये हुए (चारुणः) पवित्र (मध्वः) मधु (मदस्य) हर्षकारक (अस्य) इस सोमरस का (पिबत) पान करें ॥१४॥

भावार्थः—हे सबको वशीभूत करने वाले ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन्! आप मेरे अर्पण किये हुए इस पवित्र, मीठे तथा हर्षोत्पादक सोमरस का पान कर तृप्त हों और हम पर प्रसन्न होकर हमारी कामनाओं को पूर्ण करें ॥१४॥

अब सत्कारानन्तर यजमान को ऐश्वर्य विषयक प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

अस्मे आ वहतं रयिं शतवन्तं सहस्रिणम् ।

पुरुक्षुं विश्वधायसम् ॥१५॥

पदार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप (अस्मे) हमारे लिए (शतवंतं) सैकड़ों तथा (सहस्रिणं) सहस्रों पदार्थों सहित (पुरुक्षं) अनेक प्राणियों के आश्रयभूत (विश्वधायसं) सबकी रक्षा करने वाले (रयिं) ऐश्वर्य को (आवहतं) प्राप्त करायें ॥१५॥

भावार्थः—अब सोमरस द्वारा सत्कार करने के अनन्तर यजमान प्रार्थना करता है कि हे सब प्राणियों के आश्रयभूत तथा सबकी रक्षा करने वाले ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप कृपा करके मुझको ऐश्वर्यप्राप्ति का मार्ग बतलायें जिससे मैं ऐश्वर्ययुक्त होकर यज्ञादिकर्मों को विधिवत् कर सकूं और यज्ञ के निधि परमात्मा की आज्ञापालन में सदा तत्पर रहूँ ॥१५॥

पुरुत्रा चिद्धि वां नरा विह्वयन्ते मनीषिणः ।
वाघद्भिरश्विना गतम् ॥१६॥

पदार्थः—(नराः) हे नेताओ ! यद्यपि (वाम्) आपको (मनीषिणः) विद्वान् लोग (पुरुत्रा,चित् हि) अनेक स्थानों में (विह्वयन्ते) आह्वान करते हैं तथापि (अश्विना) हे व्यापक ! आप (वाघद्भिः) शीघ्रगामी वाहनों द्वारा (आगतं) आवें ॥१६॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप अनेक स्थानों में निमंत्रित होने पर भी कृपा करके शीघ्रगामी यान द्वारा हमारे यज्ञ को सुशोभित करें ॥१६॥

जनासो वृक्तबर्हिषो हविष्मन्तो अरङ्कृतः ।
युवां हवन्ते अश्विना ॥१७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे अत्यन्त पराक्रम वाले (वृक्तबर्हिषः) आपके लिए पृथक् आसन सज्जित करके (हविष्मन्तः) आपके सिद्ध भाग को लिये हुए (अरंकृतः) संस्कृतशरीर बनकर (जनासः) सब मनुष्य (युवां, हवन्ते) आपका आह्वान करते हैं ॥१७॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप पराक्रमी होने से सबको पराक्रमसम्पन्न बनाने वाले हैं; इसलिये आपको उत्तमासन पर सुसज्जित करके उत्तम वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर सिद्ध किया हुआ सोमरस लिये हुए सब पुरुष आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, सो आप उसका पान करके हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर उत्तम उपदेशों द्वारा हमें पराक्रमी बनावें ॥१७॥

अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः ।

युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥१८॥

पदार्थः—(अश्विना) हे ओजस्विन्! (अद्य) आज (अस्माकं) हमारा (अयं, वां, स्तोमः) यह आपके लिए किया गया स्तोत्र (युवाभ्यां) आपको (वाहिष्ठः) अवश्य प्राप्त करने वाला और (अन्तमः) समीप में होनेवाला (भूतु) हो ॥१८॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन्! आज हम लोग जिस स्तोत्र द्वारा आपकी स्तुति करते हैं वह हमारे लिए सफलीभूत हो अर्थात् हम लोग आपके शुभाचरणों का अनुकरण करके पराक्रमी, उद्योगी तथा विद्वान् होकर आपके समीपवर्ती हों ॥१८॥

यो ह वां मधुनो दृतिराहितो रथचर्षणे ।

ततः पिबतमश्विना ॥१९॥

पदार्थः—(अश्विना) हे तेजस्विन्! (यः, ह) जो यह (मधुनः, दृतिः) मधुर-रस का पात्र (वाम्) आपके (रथचर्षणे) रथ से देखने योग्य स्थान में (आहितः) स्थापित किया है (ततः) उस पात्र से आप (पिबतं) पान करें ॥१९॥

भावार्थः—हे तेजस्वी पुरुषो! यह सोमरस का पात्र, जो आपके रथ से ही दृष्टिगत होता है, आपके पानार्थ स्थापित किया है, कृपाकर इस पात्र से पानकर प्रसन्न हों और हम लोगों को अपने सदुपदेशों से ओजस्वी तथा तेजस्वी बनावें, यह हमारी आपसे प्रार्थना है ॥१९॥

अब ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी से अपने कल्याणार्थ प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

तेन नो वाजिनीवसू पश्वे तोकाय शं गवे ।

वहतं पीवरीरिषः ॥२०॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू) हे पराक्रमरूप धनवाले (तेन) तिस रसपान से प्रसन्न होकर (नः) हमारे (पश्वे) पशु (तोकाय) सन्तान (गवे) विद्या के लिए (शं, वहतं) कल्याण करें और (पीवरीः) प्रवृद्ध (इषः) सम्पत्ति को उत्पन्न करें ॥२०॥

भावार्थः—हे पराक्रमशील ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन्! आप हमारे सिद्ध किये हुए सोमरस का पान करके प्रसन्न हों और आपकी कृपा से हमारे पशु तथा सन्तान नीरोग रहकर वृद्धि को प्राप्त हों। हमारी विद्या सदा उन्नत होती रहे और हम बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त हों। यह हमारी आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना है ॥१०॥

उत नो दिव्या इषं उत सिन्धूँरहर्विदा ।

अप द्वारेव वर्षथः ॥२१॥

पदार्थः—(अहर्विदा) हे प्रातःस्मरणीय ! (नः) हमारे लिए (दिव्या, इषः) दिव्य इष्ट पदार्थ (उत) और (सिन्धून्) कृत्रिम नदियों=नहरों को (द्वारा इव) द्वार पर प्राप्त होने के समान (अप, वर्षथः) उत्पन्न करें ॥२१॥

भावार्थः—हे प्रातःस्मरणीय ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! हमारे लिये उत्तमोत्तम पदार्थ प्रदान करें जिनके सेवन से विद्या, बल तथा वुद्धि की वृद्धि हो । हे भगवन् ! हमारे लिए नहरों का सुप्रबन्ध कीजिये जिससे कृषि द्वारा अन्न अधिकता से उत्पन्न हो तथा जलसम्बन्धी अन्य कार्यों में सुविधा हो अर्थात् मनुष्य तथा पशु अन्न और जल से सदा संतुष्ट रहें ऐसी कृपा करें ॥२१॥

अब ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी के यान का महत्त्व वर्णन करते हैं ॥

कदा वां तौग्र्यो विधत्समुद्रे जहितो नरा ।

यद्वां रथो विभिष्पतात् ॥२२॥

पदार्थः—(नरा) हे नेता ! (यत्) जब (वाम्) आपका (रथः) रथ (विभिः) शीघ्रगामी शक्तियों से युक्त होकर (पतात्) उड़ता है तब (वाम्) आपका (समुद्रे) समुद्र में रहने वाला (तुग्रचः) जलीयपदार्थ (कदा) कब (विधत्) कुछ कर सकता अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता ॥२२॥

भावार्थः—हे सब मनुष्यों के नेता ! जब सब शक्तियों से युक्त आपका शीघ्रगामी यान उड़ता है तब समुद्र में रहने वाला तुग्रच=हिंसक जीवविशेष अथवा जल परमाणु आदि आपका कुछ भी नहीं कर सकते अर्थात् आप जल और स्थल में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरते हैं; आपके लिए कहीं भी कोई रुकावट नहीं ॥२२॥

युवं कण्वाय नासत्यापिरिप्ताय हर्म्ये ।

शश्वदूतीर्दशस्यथः ॥२३॥

पदार्थः—(नासत्या) हे नासत्य ! (युवं) आप (हर्म्ये) गृह में स्थित (अपिरिक्ताय) शत्रुओं से सताये हुए (कण्वाय) विचारशील विद्वान् की (शश्वत्) सदैव (ऊतीः) रक्षा (दशस्यथः) करते हैं ॥२३॥

भावार्थः—"न सत्यौ असत्यौ, न असत्यौ नासत्यौ"=जो कभी भी

असत्य न बोलें उनका नाम "नासत्य" है, हे सत्यवादी ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! गृह में स्थित अर्थात् कोई अपराध न करते हुए शत्रुओं से सताये जाने पर आप विद्वानों की सदैव रक्षा करने के कारण पूज्य = सत्कार-योग्य हैं कृपा करके हमारी भी दुष्ट पुरुषों से सदैव रक्षा करें ॥२३॥

ताभिरा यातमूतिभिर्नव्यसीभिः सुशस्तिभिः ।

यद्वां वृषण्वसू हुवे ॥२४॥

पदार्थः—(वृषण्वसू) हे धनों की वर्षा करने वाले! (ताभिः, नव्यसीभिः) नित्य नूतन (सुशस्तिभिः) सुप्रशंसनीय (ऊतिभिः) रक्षाओं सहित (आयातं) आवें (यत्) जब-जब (वां) आपका (हुवे) आह्वान करें ॥२४॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप अधिकारी पुरुषों को धन देने वाले, प्रशंसनीय तथा सबकी कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। हे भगवन् ! हम लोग जब आपको आह्वान करें तब आप शीघ्र आकर हमारी रक्षा करें ताकि हमारे यज्ञादि कार्य निर्विघ्न पूर्ण हों ॥२४॥

अब उक्त दोनों से रक्षा की प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

यथा चित्कण्वमावतं प्रियमेधमुपस्तुतम् ।

अत्रिम् शिञ्जारमश्विना ॥२५॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापकशक्ति वाले (यथाचित्) जिस प्रकार (कण्वं, उपस्तुतं) उपस्तुति करने वाले विद्वान् (प्रियमेधं) प्रशंसनीय बुद्धिवाले मनुष्य तथा (शिजारं, अत्रि) शब्दायमान अत्रि की (आवतं) रक्षा की, उसी प्रकार मेरी भी रक्षा करें ॥२५॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! जिस प्रकार आपने स्तुति करने वाले विद्वान्, पूज्य बुद्धि वाले मनुष्य तथा अत्रि की रक्षा की उसी प्रकार मेरी रक्षा करें। [अविद्यमानानि आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकानि दुःखानि यस्यासावत्रिः"=जिसके आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति हो गई हो उसको "अत्रि" कहते हैं।] ॥२५॥

यथोत कृत्व्ये धनेऽंशुं गोष्वगस्त्यम् ।

यथा वाजेषु सोभरिम् ॥२६॥

पदार्थः—(यथा) जिस प्रकार (कृत्व्ये, धने) प्राप्तव्य धन के विषय में (अंशुं)

अर्थशास्त्रवेत्ता की, (गोषु) इन्द्रियों के विषय में (अगस्त्यं) अगस्त्य=सदाचारी की, (उत) और (यथा) जिस प्रकार (वाजेषु) यश के विषय में (सोभरिम्) सुन्दर पालन करने वाले महर्षि की रक्षा की, उसी प्रकार हमारी रक्षा करें ॥२६॥

भावार्थः—["धर्मादन्यत्र न गच्छन्तीत्यगस्तयः तेषु साधुस्तं सदाचारिणम्"=जो धर्ममार्ग से अन्यत्र न जायें उनको "अगस्ति" और अगस्ति में जो साधु हैं उनको "अगस्त्य" कहते हैं, यहां "तत्र साधुः" इस पाणिनि सूत्र से "यत्" प्रत्यय होता है जिसके अर्थ सदाचारी के हैं]। जैसे अर्थवेत्ता सदाचारी तथा महर्षि की आपने रक्षा की वा करते हैं उसी प्रकार आप हमारी भी रक्षा करें, यह याज्ञिक पुरुषों की ओर से प्रार्थना है ["सोभरि" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि "सु=सम्यक् हरत्यज्ञानमिति सोभरिः"= जो भले प्रकार अज्ञान का नाश करे उसको "सोभरि" कहते हैं, यहां हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इस पाणिनि सूत्र से 'ह्'को"भ" हो गया है] ॥२६॥

एतावद्वां वृषण्वसू अतो वा भूयो अश्विना ।

गृणन्तः सुम्नमीमहे ॥२७॥

पदार्थः—(वृषण्वसू) हे वर्षणशील धनवाले (अश्विना) व्यापक ! (एतावत्) इतनी (अतः, भूयः, वा) अथवा इससे भी अधिक (सुम्नम्) सुख की राशि (वाम्) आपकी (गृणन्तः) स्तुति करते हुए हम (ईमहे) याचना करते हैं ॥२७॥

भावार्थः—हे सुखराशि तथा सुख के देने वाले ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! हम लोग आपकी सब प्रकार से अधिकाधिक स्तुति करते हुए आपसे वारम्वार याचना करते हैं कि कृपा करके सब प्रकार के कष्टों से बचाकर हमको सुख प्रदान करें ॥२७॥

अब उक्त दोनों का यान द्वारा विचरना कथन करते हैं ॥

रथं हिरण्यवन्धुरं हिरण्याभीशुमश्विना ।

आ हि स्थाथो दिविस्पृशम् ॥२८॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापकशक्ति वाले ! आप (हिरण्यवन्धुरम्) सुवर्णमय ऊंचे नीचे (हिरण्याभीशुम्) सुवर्णमय शृंखलाओं से बद्ध (दिविस्पृशम्) अत्यन्त ऊंचे आकाश में चलने वाले (रथम्) यान पर (हि) निश्चय करके (आ, स्थाथः) चढ़ने वाले हैं ॥२८॥

भावार्थः—हे व्यापकशक्तिशील ! आप निश्चय करके यान द्वारा

आकाश में विचरने वाले हैं, जो आपका यान ऊपर-नीचे सुवर्णमय शृंखलाओं से बंधा हुआ है ॥२८॥

हिरण्ययी वां रभिरीषा अक्षो हिरण्ययः ।

उभा चक्रा हिरण्यया ॥२९॥

पदार्थः—(वाम्) आपके रथ का (रभिः, ईषा) आधारदण्ड (हिरण्ययी) हिरण्मय है, (अक्षः, हिरण्ययः) अक्ष हिरण्मय है, (उभा, चक्रा) दोनों चक्र (हिरण्यया) हिरण्मय हैं ॥२९॥

भावार्थः—हे ऐश्वर्य्यशालिन् ! आपके रथ=यान का आधारदण्ड=धुरा सुवर्णमय, अक्ष=अग्रभाग सुवर्णमय और दोनों चक्र=पहिये सुवर्णमय हैं अर्थात् आपका सम्पूर्ण यान सुवर्ण का है ॥२९॥

तेन नो वाजिनीवसू परावतश्चिदा गतम् ।

उपेमां सुष्टुतिं मम ॥३०॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू) हे बलयुक्त धन वाले ! (तेन) उस रथ द्वारा (नः) हमारे समीप (परावतश्चित्) दूरदेश से (आगतम्) आइये (इमाम्, मम; सुष्टुतिम्) इस मेरी सुस्तुति का (उप) उपश्रवण करें ॥३०॥

भावार्थः—हे बलसम्पन्न ऐश्वर्य्यशालिन् ! आप कृपा करके उक्त सुवर्णमय रथ द्वारा देशान्तर से हमारे यज्ञ में सम्मिलित हों; हमारी इस प्रार्थना को अवश्य श्रवण करें ॥३०॥

आ वहेथे पराकात्पूर्वीरश्नन्तावश्विना ।

इषो दासीरमर्त्या ॥३१॥

पदार्थः—(अमर्त्या) हे अहिंसनीय आप (अश्विना) व्यापक शक्तिवाले ! (पराकात्) दूरदेश से (पूर्वीः) स्वपूर्वजों की (दासीः) शत्रुगृह में स्थित (इषः) धनादि शक्तियों को (अश्नन्तौ) प्राप्त करते हुए (आवहेथे) उनको धारण करते हैं ॥३१॥

भावार्थः—हे अहिंसनशील=किसी को दुःख न देने वाले ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप देशदेशान्तरों में स्थित धन को अर्थात् आपके पूर्वजों का धनरूप ऐश्वर्य्य जो उनसे शत्रुओं ने हरण किया हुआ था, उसको, आप उनसे प्राप्त कर स्वयं उपभोग करते हैं; यह आप जैसे शूरवीरों का ही प्रशंसनीय कार्य्य है । भाव यह है कि जो पुरुष अपने पूर्वजों की शत्रुगृह में गई हुई सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करता है, वह प्रशंसा के योग्य होता है ॥३१॥

आ नो॑ द्युम्नैरा श्रवो॑भि॒रा रा॒या या॑तमश्विना ।

पुरु॑श्चन्द्रा॒ नास॑त्या ॥३२॥

पदार्थः—(पुरुश्चन्द्रा, नासत्या) हे अत्यन्त आह्लादक सत्यभाषिन्! (अश्विना) व्यापक ! (नः) हमारे समीप आप (द्युम्नैः) दिव्य विद्याओं सहित (आ) आवें तथा (श्रवोभिः) श्रवणीय यशसहित (आ) आवें, (राया) विविध धनों सहित (आयातम्) आइये ॥३२॥

भावार्थः—हे आह्लादक तथा सत्यभाषणशील ! आप दिव्य ज्ञान वाले, यशस्वी तथा विविध धनों के स्वामी हैं; आप कृपा करके अपने उक्त सम्पूर्ण ऐश्वर्य्यों सहित आवें और हमारे यज्ञ को सुशोभित करें ॥३२॥

एह वां॑ प्रुषि॒तप्स॑वो॒ वयो॑ वहन्तु प॒र्णिनः॑ ।

अच्छा॑ स्वध्व॒रं जन॑म् ॥३३॥

पदार्थः—(प्रुषितप्सवः) स्निग्ध वर्ण वाले (पर्णिनः) पक्षी के समान गतिवाले (वयः) अश्व (स्वध्वरम्, जनम्, अच्छ) शोभन हिंसारहित यज्ञ वाले मनुष्य के अभिमुख (इह) यहाँ (वाम्) आपको (आवहन्तु) लावें ॥३३॥

भावार्थः—हे तेजस्वी वर्ण वाले, ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप कृपा करके शीघ्रगामी अश्वों द्वारा हमारे हिंसारहित यज्ञ को शीघ्र ही प्राप्त हों और हमारी इस याचना को स्वीकार करें ॥३३॥

रथं॑ वा॒मनु॑गायसं॒ य इ॒षा वर्त॑ते स॒ह ।

न च॒क्रम॒भि बाध॑ते ॥३४॥

पदार्थः—(यः) जो (इषा, सह, वर्तते) इष्ट कामनाओं से पूर्ण है उस (वाम्) आपके (अनुगायसम्, रथम्) स्तुतियोग्य रथ को (चक्रम्) शत्रुसैन्य (न, बाधते) बाधित नहीं कर सकता ॥३४॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आपका जो शीघ्रगामी दृढ़ यान है उसमें बैठे हुए आपको शत्रु की सेना कुछ भी बाधा नहीं कर सकती, क्योंकि आप बलपूर्ण हैं, इसलिए कृपा करके हमारे यज्ञ को आकर शीघ्र ही सुशोभित करें ॥३४॥

हिरण्ययेन रथेन द्रवत्पाणिभिरश्वैः ।

धीजवना नासत्या ॥३५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यप्रतिज्ञ ! (धीजवना) मन के समान गति वाले (हिरण्ययेन, रथेन) हिरण्मय रथ और (द्रवत्पाणिभिः अश्वैः) शीघ्रगामी पैरों वाले अश्वों द्वारा आप आवें ॥३५॥

भावार्थः—हे सत्यप्रतिज्ञ ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप मन के समान शीघ्रगामी सुवर्णमय रथ पर चढ़कर शीघ्र ही हमारे यज्ञ में सम्मिलित हों ॥३५॥

अब ऐश्वर्य्यरूप दान की प्रार्थना कथन करते हैं ॥

युवं मृगं जागृवांसं स्वदथो वा वृषण्वसू ।

ता नः पृङ्क्तमिषा रयिम् ॥३६॥

पदार्थः—(वृषण्वसु) हे बरसने योग्य धन वाले (युवम्) आप (जागृवांसम्, मृगं, वा) सचेतन शत्रु का ही (स्वदथः) आस्वादन करते हैं । (तौ) ऐसे आप (नः) हमको (इषा) इष्ट कामना सहित (रयिम्) ऐश्वर्य से (पृङ्क्तम्) संपृक्त करें ॥३६॥

भावार्थः—हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न ! ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप सचेतन=युद्ध के लिए सन्नद्ध शत्रु से ही युद्ध करके विजय प्राप्त करते हैं, अचेतन पर नहीं । सो हे सम्पूर्ण बलवालों में श्रेष्ठ ! आप ऐश्वर्यप्रदान द्वारा हमारी इष्टकामनाओं को पूर्ण करें ॥३६॥

ता मे अश्विना सनीनां विद्यातं नवानाम् ।

यथा चिच्चैद्यः कशुः शतमुष्ट्रानां ददत्सहस्रा दश गोनाम् ॥३७॥

पदार्थः—(ता, अश्विना) ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी आप (नवानाम्) नित्य नूतन (सनीनाम्) सम्भजनीय पदार्थों को (मे) मेरे लिये (विद्यातम्) ज्ञात करें । (यथाचित्) जिस प्रकार (चैद्यः, कशुः) ज्ञानवान् शासनकर्त्ता (उष्ट्राणाम्, शतम्) सौ उष्ट्र और (दश, सहस्रा) दश हजार (गोनाम्) गौएं (ददत्) मुझे दे ॥३७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यजमान की ओर से कथन है कि हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप उत्तमोत्तम नूतन पदार्थ मेरे लिए ज्ञात करें=जानें अर्थात् प्रदान करें । हे सबके शासक प्रभो ! आप मुझको सौ ऊंट, दश सहस्र गौओं का दान दें जिससे मेरा यज्ञ सर्वांगपूर्ण हो ॥३७॥

यो मे हिरंण्यसन्दृशो दश राज्ञो अमंहत ।
अधस्पदा इच्चैद्यस्य कृष्टयश्चर्मम्ना अभितो जनाः ॥३८॥

पदार्थः—(यः) जिस शासक ने (मे) मुझे (हिरण्यसंदृशः) हिरण्य सदृश तेजवाले (दश, राज्ञः) दश राजाओं को (अमंहत) दिया; (चैद्यस्य) जिस ज्ञानयोगी के (कृष्टयः) सब शत्रु (अधस्पदाः, इत्) पैर के नीचे ही हैं; (जनाः) उसके भट (अभितः) सर्वत्र (चर्मम्नाः) कवचबद्ध रहते हैं ॥३७॥

भावार्थः—हे शत्रुओं को तपाने वाले, हे भटमानी योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने वाले ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप तेजस्वी दश राजा मुझ को दें अर्थात् दश राजाओं का मुझको शासक बनावें जिस से मैं ऐश्वर्य्य-सम्पन्न होकर अपने यज्ञ को पूर्ण करूं, यह यजमान की ओर से उक्ति है ॥३८॥

माकिरेना पथा गाद्येनेमे यन्ति चेदयः ।
अन्यो नेत्सूरिरोहते भूरिदावत्तरो जनः ॥३९॥

पदार्थः—(येन) जिस मार्ग से (इमे, चेदयः) ये ज्ञानयोगी लोग (यन्ति) जाते हैं, (एना, पथा) उस मार्ग से (माकिः, गात्) अन्य नहीं जा सकता; (भूरिदावत्तरः) अत्यन्त दानी परोपकारी भी (अन्यः, सूरिः, जनः) दूसरा सामान्य ज्ञानी (न, इत्, ओहते) उसके समान भौतिक सम्पत्ति को धारण नहीं कर सकता ॥३९॥

भावार्थः—हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगिन् ! आप मुझको शुभमार्ग प्राप्त करायें जो मेरे लिये कल्याणकारी हो अर्थात् ज्ञानीजनों का जो मार्ग है वह मार्ग मुझे प्राप्त हो जिसको दानशील परोपकारी तथा भौतिकसम्पत्ति-शील पुरुष प्राप्त नहीं कर सकते ॥३९॥

अष्टम मण्डल में ५वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टाचत्वारिंशदृचस्य षष्ठसूक्तस्य—१-४८ वत्सः काण्व ऋषिः ॥ १-४५ इन्द्रः । ४६—४८ तिरिन्दिरस्य पारशव्यस्य दानस्तुतिर्देवताः ॥ छन्दः—१-१३, १५-१७, १९, २५-२७, २९, ३०, ३२, ३५, ३८, ४२ गायत्री । १४, १८, २३, ३३, ३४, ३६, ३७, ३९-४१, ४३, ४५, ४८, निचृद् गायत्री । २० आर्ची स्वराड् गायत्री । २४, ४७ पादनिचृद्गायत्री । २१, २२, २८, ३१, ४४, ४६ आर्षी विराड् गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

अब सर्वशक्तिमान् परमात्मा की स्तुति करना कथन करते हैं ॥

म॒हाँ इन्द्रो॒ य ओज॑सा प॒र्जन्यो॑ वृ॒ष्टि॒माँ इ॑व ।

स्तोमै॑र्व॒त्सस्य॑ वावृधे ॥१॥

पदार्थः—(यः, इन्द्रः) जो परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (ओजसा) अपने पराक्रम से (महान्) महत्वविशिष्ट पूज्य माना जाता है, (वृष्टिमान्, पर्जन्यः, इव) वृष्टि से पूर्ण मेघ के समान है वह (वत्सस्य) वत्सतुल्य उपासक के (स्तोमैः) स्तोत्रों से (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा की स्तुति वर्णन की गई है कि वह महत्त्वविशिष्ट परमात्मा अपने पराक्रम=अपनी शक्ति से ही पूज्य=प्रतिष्ठायोग्य है, उसको किसी अन्य के साहाय्य की आवश्यकता नहीं, जिस प्रकार वृष्टि से पूर्ण मेघ फलप्रद होता है, इसी प्रकार वह पूर्ण परमात्मा भी सब को फल देने वाला है और वह वत्स=पुत्रसमान उपासकों के स्तोत्र=स्तुतियोग्य वाक्यों से वृद्धि को प्राप्त होता अर्थात् प्रचार द्वारा अनेक पुरुषों में प्रतिष्ठित होता है। इसलिए उचित है कि हम लोग श्रद्धा-भक्ति से नित्यप्रति उस परमपिता परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त रहें, ताकि अन्य परमात्मविमुख पुरुष भी हमारा अनुकरण करते हुए श्रद्धासम्पन्न हों ॥१॥

अब परमात्मा को सत्य का स्रोत कथन करते हैं ॥

प्र॒जामृ॒तस्य॒ पिप्र॑तः॒ प्र यद्भर॑न्त॒ वह्न॑यः ।

विप्रा॑ ऋ॒तस्य॒ वाह॑सा ॥२॥

पदार्थः—(यत्) जब (ऋतस्य, प्रजाम्) सत्य के उत्पत्तिस्थान परमात्मा को (पिप्रतः) हृदय में पूरित करते हुए (वह्नयः) वह्निसदृश विद्वान् (भरन्त) उपदेशद्वारा लोक में प्रकाशित करते हैं, तब (ऋतस्य) सत्य की (वाहसा) प्राप्ति कराने वाले स्तोत्रों द्वारा (विप्राः) स्तोता लोग उसके माहात्म्य को जानकर स्तुति करते हैं ॥२॥

भावार्थः—जब वह्निसदृश=तेजस्वी विद्वान् हृदय में धारण करते हुए अपने उपदेशों द्वारा उस सत्य के स्रोत=उत्पत्तिस्थान परमात्मा को लोकलोकान्तरों में प्रकाशित करते हैं तब स्तोता लोग उसके माहात्म्य को जानकर परमात्मोपासन में प्रवृत्त होते और उसके सत्यादि गुणों को धारण कर अपने जीवन को उच्च बनाते हैं; इसलिए प्रत्येक पुरुष को उचित है कि विद्वानों द्वारा श्रवण किये हुए परमात्मा के गुणों को धारण कर अपने जीवन को पवित्र बनावें ॥२॥

अब मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति के लिये परमात्मपरायण होना कथन करते हैं ॥

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।

जामि ब्रुवत आयुधम् ॥३॥

पदार्थः—(कण्वाः) विद्वान् (यत्) जब (इन्द्रम्) परमात्मा को (स्तोमैः) स्तोत्र द्वारा (यज्ञस्य, साधनम्) यज्ञ का साधनहेतु (अक्रत) बना लेते हैं तब (आयुधम्) शस्त्रसमुदाय को (जामि) निष्प्रयोजन (ब्रुवत) कहते हैं ॥३॥

भावार्थः—जब विद्वान् पुरुष तप, अनुष्ठान और यज्ञों द्वारा परमात्मा के सत्यादि गुणों को धारण कर पवित्र जीवन वाले होते हैं तब परमात्मा उनको मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं; फिर उनके लिये शस्त्रसमुदाय निष्प्रयोजन है अर्थात् जब परमात्मपरायण पुरुष की सब इष्टकामनायें वाणी द्वारा ही सिद्ध हो जाती हैं तो शस्त्र व्यर्थ हैं, इसलिये इच्छित फल की कामना वाले पुरुष को परमात्मपरायण होना चाहिये ॥३॥

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।

समुद्रायेव सिन्धवः ॥४॥

पदार्थः—(अस्य, मन्यवे) इस परमात्मा के प्रभाव के लिए (विश्वाः) सब (विशः) चेष्टा करती हुई (कृष्टयः) प्रजायें (समुद्राय, सिन्धवः, इव) जैसे समुद्र के लिए नदियाँ, इसी प्रकार (संनमन्त) स्वयं ही संनत होती हैं ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि जिस प्रकार नदियाँ स्वाभाविक ही समुद्र की ओर प्रवाहित होती हैं, इसी प्रकार परमात्मा के प्रभाव से प्रभावित हुई सब प्रजायें उसकी ओर आकर्षित हो रही हैं, क्योंकि संतप्त प्रजाओं को शान्ति प्रदान करने का आधार एकमात्र परमात्मा ही है, अन्य नहीं ॥४॥

अब परमात्मा को तेजस्वी कथन करते हैं ॥

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।

इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥५॥

पदार्थः—(अस्य) इस परमात्मा का (तत्, ओजः, तित्विषे) वह तेज दीप्त हो रहा है (यत्) कि जिस तेज से (इन्द्रः) परमात्मा (उभे, रोदसी) पृथिवी और अन्तरिक्ष इन दोनों को (चर्मेव) चर्म के समान (समवर्तयत्) विस्तीर्ण और संकुचित कर सकता है ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा को तेजस्वी कथन किया है कि वह अपने तेजःप्रभाव से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में दीप्तिमान हो रहा है । इसलिये सब प्रजाओं को उचित है कि उसके तेजस्वीभाव को धारणकर ब्रह्मचर्यादि व्रतों से अपने आप को तेजस्वी तथा बलवान् बनावें, क्योंकि बलसम्पन्न पुरुष ही मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय को प्राप्त होते हैं ॥५॥

अब परमात्मा को अज्ञान का निवारक कथन करते हैं ॥

वि चिद्वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा ।

शिरो बिभेद वृष्णिना ॥६॥

पदार्थः—परमात्मा (दोधतः, वृत्रस्य, चित्) संसार को कँपाते हुए आवारक अज्ञान के (शिरः) शिर को (शतपर्वणा) सैकड़ों कोटिवाली (वृष्णिना) बलवान् (वज्रेण) अपनी शक्ति से (बिभेद) छिन्न-भिन्न करता है ॥६॥

भावार्थः—वह परमपिता परमात्मा अज्ञान का नाशक और ज्ञान का प्रसारक है अर्थात् वह सर्वरक्षक परमात्मा विद्यारूप शक्ति से अविद्यारूप अज्ञान का नाश करके पुरुषों को सुखप्रद होता है; इसलिये उचित है कि सुख की कामना वाला पुरुष निरन्तर विद्या में रत रहे ताकि विद्यावृद्धि द्वारा ज्ञान का प्रकाश होकर अज्ञान का नाश हो ॥६॥

इमा अभि प्र णोनुमो विपामग्रेषु धीतयः ।

अग्नेः शोचिर्न दिद्युतः ॥७॥

पदार्थः—(अग्नेः, शोचिः, न) अग्नि की ज्वाला के सदृश (दिद्युतः) दीप्तिवाली (इमाः, धीतयः) ये स्तुतियें (विपाम्) विद्वानों के (अग्रेषु) समक्ष हम लोग (अभि प्र णोनुमः) पुनः-पुनः उच्चारण करते हैं ॥७॥

भावार्थः—हम लोग दीप्तिवाली=तेजस्वी गुणों वाली अर्थात् तेजस्वी बनाने वाली ऋचाओं को विद्वानों के सन्मुख पुनः-पुनः उच्चारण करते हैं कि वह हमारी न्यूनता को पूर्ण करें ताकि हम लोग तेजस्वीभाव को भले प्रकार धारण करने वाले हों ॥७॥

अब सत्याश्रित कर्म करने वाले को उत्तम फल की प्राप्ति कथन करते हैं ॥

गुहा सतीरुप त्मना प्र यच्छोचन्त धीतयः ।

कण्वा ऋतस्य धारया ॥८॥

पदार्थः—(यत्) जो (धीतयः) कर्म (गुहा, सतीः) गुहा में विद्यमान हैं वह (त्मना) स्वयं परमात्मा से (उप) जाने हुए (प्रशोचन्त) भासित हो रहे हैं इसलिये (कण्वः) उसके माहात्म्य को जानने वाले विद्वान् (ऋतस्य, धारया) सत्य के प्रवाह से उसका सेवन करते हैं ॥८॥

भावार्थः—जो कर्म हमारी हृदयरूप गुहा में विद्यमान हैं अर्थात् जो प्रारब्ध कर्म हैं उन सबको परमात्मा भले प्रकार जानते हैं, क्योंकि परमात्मा मनुष्य के बाहर भीतर सर्वत्र विराजमान हैं। इसलिये विद्वान् पुरुष सदैव-सत्य के आश्रित होकर कर्म करते हैं ताकि वह शुभ फल के भागी हों। अतएव शुभफल की कामना वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह परमात्मा का महत्त्व जानते हुए प्रत्येक कर्म सत्य के आश्रित होकर करे ताकि उसको उत्तम फल की प्राप्ति हो ॥८॥

प्र तमिन्द्र नशीमहि रयिं गोमन्तमश्विनम् ।

प्र ब्रह्म पूर्वचित्तये ॥९॥

पदार्थ—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! हम (गोमन्तम्) भास्वर और (अश्विनम्) व्यापक (तं, रयिम्) ऐसे धन को (प्र, नशीमहि) प्राप्त करें और (पूर्वचित्तये) अनादि ज्ञान के लिए (ब्रह्म) वेद (प्र) प्राप्त करें ॥९॥

भावार्थः—हे परमपिता परमात्मन् ! आप ऐसी कृपा करें कि हम अपने कल्याणार्थ उत्तमोत्तम धन लाभ करें और अनादि ज्ञान का भाण्डार जो वेद है, वह हमको प्राप्त हो जिसके आश्रित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए ऐश्वर्य्य प्राप्त करने के अधिकारी बनें—यह हमारी प्रार्थना है ॥९॥

अब उपासक की उक्ति कथन करते हैं ॥

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।

अहं सूर्य इवाजनि ॥१०॥

पदार्थः—(पितुः) पालक (ऋतस्य) सद्रूप परमात्मा के (मेधा) ज्ञान को (अहम्, इत्, हि) मैंने ही (परिजग्रभ) लब्ध किया और उससे (अहम्) मैं उपासक (सूर्यः, इव, अजनि) सूर्य्य के समान हो गया ॥१०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपासक की ओर से यह कथन है कि मैं सत्य-स्वरूप, सबके पालक परमात्मा के ज्ञान को उपलब्ध कर सूर्य्य के समान तेजस्वी हो गया। जो अन्य भी उसके ज्ञान की प्राप्ति तथा आज्ञापालन

करते हैं वे भी तेजस्वी तथा ओजस्वी जीवन वाले होकर आनन्दोपभोग करते हैं ॥१०॥

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् ।
येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥११॥

पदार्थः—(अहम्) मैं (प्रत्नेन, मन्मना) उस नित्य परमात्मज्ञान से (कण्ववत्) विद्वान् के सदृश (गिरः) वाणियों को (शुम्भामि) अलंकृत करता हूँ (येन) जिस ज्ञान से कि (इन्द्रः) परमात्मा (शुष्मम्, इद्दधे) मेरे में बल को धारण करता है ॥११॥

भावार्थः—मैं परमात्मज्ञान से सत्याश्रित होकर महर्षिसदृश परमात्मवाणियों का अभ्यास करता हुआ उसकी कृपा से बल को धारण करता हूं। जो अन्य भी वेदवाणियों से अलंकृत होते हैं वह तेजस्वी जीवन वाले होकर आनन्दित होते हैं ॥११॥

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः ।
ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः ॥१२॥

पदार्थः—(इन्द्रः) हे परमात्मन् ! (ये, ऋषयः) जो हम में से सूक्ष्मदर्शी महर्षि (त्वां, न, तुष्टुवुः) आपकी स्तुति नहीं करते (च) और (ये, तुष्टुवुः) जो करते हैं दोनों प्रकार से (सुष्टुतः) सम्यक् स्तुति किये गए आप (मम, इत्, वर्धस्व) हममें वृद्धि को प्राप्त हों ॥१२॥

भावार्थः—हे परमात्मदेव ! हम में से जो महर्षि आप की उपासना में सदैव तत्पर रहते और जो नहीं करते हैं उन दोनों को समान फल प्राप्त करायें, क्योंकि वह दोनों ही तप, अनुष्ठान और सम्यक् स्तुतियों से अधिकार प्राप्त कर चुके हैं ॥१२॥

यदस्य मन्युरध्वनीद्वि वृत्रं पर्वशो रुजन् ।
अपः समुद्रमैरयत् ॥१३॥

पदार्थः—(यत्) जब (अस्य, मन्युः) इसका प्रभाव (अध्वनीत्) प्रादुर्भूत हुआ तब (वृत्रम्) वारक अज्ञान को (पर्वशः) पर्व-पर्व में (विरुजन्) भग्न करता हुआ (अपः, समुद्रम्) जल तथा समुद्र को (ऐरयत्) प्रादुर्भूत करता है ॥१३॥

भावार्थः—जब उपासक उपासनाओं द्वारा शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसके मलविक्षेपादि निवृत्त हो जाते हैं तब परमात्मा उसमें अज्ञान की

निवृत्ति द्वारा ज्ञान का प्रादुर्भाव करते हैं अर्थात् उपासक तपश्चर्या के प्रभाव से ज्ञान प्राप्त कर सुखोपभोग करता है। अतएव सुख की कामना वाले पुरुषों को उचित है कि वह अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक ज्ञान की वृद्धि करने में सदा तत्पर रहें ॥१३॥

नि शुष्णं इन्द्र धर्णसिं वज्रं जघन्थ दस्यवि ।

वृषा ह्युग्र शृण्विषे ॥१४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! आपने (शुष्णे, दस्यवि) शोषक दस्यु के ऊपर (धर्णसिं, वज्रम्) अपने वज्र को (नि जघंथ) निश्चय ही निहत किया। (उग्र) हे अधृष्य ! आप (वृषा, हि) सब कर्मों की वर्षा करने वाले (हि) निश्चय (शृण्विषे) सुने जाते हैं ॥१४॥

भावार्थः—जो पुरुष परमात्मोपासन से विमुख दस्यु जीवन वाले हैं, वह परमात्मा के दिये हुए दुःखरूप वज्र से निश्चय नाश को प्राप्त होते हैं, क्योंकि अशुभ कर्मों का फल दुःख और शुभ कर्मों का फल सुख नियम के अनुसार सदैव परमात्मा देते हैं। इसलिये पुरुष को दस्युजीवन के त्याग-पूर्वक सदा वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१४॥

न द्याव इन्द्रमोजसा नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् ।

नविंव्यचन्त भूमयः ॥१५॥

पदार्थः—(वज्रिणम्, इन्द्रम्) उस वज्रशक्ति वाले परमात्मा को (ओजसा) पराक्रम से (न, द्यावः) न द्युलोक (न, अन्तरिक्षाणि) न अन्तरिक्ष लोक (न, भूमयः) न भूलोक (विव्यचन्त) अतिक्रमण कर सकते हैं ॥१५॥

भावार्थः—उस वज्रशक्तिसम्पन्न परमात्मा को कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता और न उसको कोई विचलित कर सकता है। वह सब राजाओं का महाराजा, सब दिव्यशक्तियों का चालक, सब लोक-लोकान्तरों का ईशिता, सबको प्राणनशक्ति देने वाला और सम्पूर्ण धनधान्य तथा ऐश्वर्य्यों का स्वामी है; उसकी आज्ञा का पालन करना ही जीवन और उससे विमुख होना मृत्यु है ॥१५॥

यस्त इन्द्र महीरपः स्तभूयमान आशयत् ।

नि तं पद्यासु शिश्नथः ॥१६॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (यः) जो मनुष्य (ते) आपके (महीः, अपः) न्याययुक्त पूज्य कर्म को (स्तभूयमानः) अवरुद्ध करके (आशयत्) स्थित होता है (तम्) उसको (पद्यासु) आचरणयोग्य क्रियाओं की रक्षा करते हुए (नि शिश्नथः) निश्चय हिंसन करते हो ॥१६॥

भावार्थः—जो पुरुष परमात्मा के न्याययुक्त मार्ग का अतिक्रमण करके चलता है वह अवश्य दुःख को प्राप्त होता है। इसलिये सुख की कामना वाले पुरुषों का कर्तव्य है कि उसके वेदविहित न्याययुक्तमार्ग से कभी विचलित न हों ॥१६॥

अब लोकलोकान्तर विषयक परमात्मा का महत्त्व वर्णन करते हैं ॥

य इमे रोदसी मही संमीची समजंग्रभीत् ।
तमोभिरिन्द्र तं गुहः ॥१७॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (यः) जो सत्वरजतम का समूह (समीची) परस्पर संबद्ध (इमे, मही, रोदसी) इस महान् पृथिवी और द्युलोक को (समजग्रभीत्) रोके हुए है उसको (तम्) आप प्रलयावस्था में (तमोभिः) तमःप्रधान प्रकृति से (गुहः) गूढ रखते हैं ॥१७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में परमात्मा का महत्त्व वर्णन किया गया है कि हे परमात्मन् ! सत्व, रज तथा तम का समूह जो प्रकृति, उसका कार्य्य जो यह पृथिवी और द्युलोक तथा अन्य लोकलोकान्तरों को आप अपनी बन्धनरूप शक्ति से परस्पर एक दूसरे को थामे हुए हैं जिससे आपकी अचिन्त्यशक्ति का बोध होता है। फिर इन सबको प्रलयकाल में सूक्ष्मांशों से गूढ़ रखते हैं अर्थात् यह सब ब्रह्माण्डादि कार्य्यजात सूक्ष्मावस्था में आप के ही आश्रित रहते हैं, यह आपकी महान् महिमा है ॥१७॥

अब जिज्ञासु की प्रार्थना कथन करते हैं ॥

य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः ।
ममेदुग्र श्रुधी हवम् ॥१८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (ये, यतयः) जो चित्त का निरोध करने वाले विद्वान् तथा (ये च, भृगवः) जो अज्ञान का मार्जन करने वाले विद्वान् हैं, (त्वा, तुष्टुवुः) वे आपकी स्तुति करते हैं। (उग्र) हे ओजस्विन् ! (ममेत्) उनमें से मेरी ही (हवं) स्तुति को आप (श्रुधी) सुनें ॥१८॥

भावार्थः—हे सर्वरक्षक तथा सर्वपालक परमात्मन् ! चित्तवृत्ति का निरोध तथा अज्ञान के नाशक विद्वज्जन आपकी उपासना तथा स्तुति करने में सदैव तत्पर रहते हैं, जिससे आप उनको उन्नत करते हैं। हे परमेश्वर ! मुझ जिज्ञासु की प्रार्थना भी स्वीकार करें अर्थात् मुझको; शक्ति दें कि मैं भी आपकी उपासना में सदैव प्रवृत्त रहकर अपना जीवन सफल करूं ॥१८॥

अब परमात्मा के नियम से वर्षा का होना कथन करते हैं ॥

इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् ।

एनामृतस्य पिप्युषीः ॥१९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (ते) आपसे उत्पादित (इमाः, पृश्नयः) ये सूर्य की रश्मियाँ (एनाम्, आशिरम्, घृतम्) इस पृथिव्यादि लोकाश्रित जल को (दुहते) कर्षण करती हैं, जो रश्मियां (ऋतस्य) यज्ञ को (पिप्युषीः) बढ़ाने वाली हैं ॥१९॥

भावार्थः—हे सर्वरक्षक प्रभो ! आपसे उत्पादित सूर्यरश्मियाँ इस पृथ्वी में स्थित जल को अपनी आकर्षणशक्ति से ऊपर ले जातीं, पुनः मेघमंडल बनकर वर्षा होती और वर्षा से अन्न तथा अन्न से प्राणियों की रक्षा होती है ॥१९॥

या इन्द्र प्रस्वस्त्वासा गर्भमचक्रिरन् ।

परि धर्मेव सूर्यम् ॥२०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (याः, प्रस्वः) जो उत्पादक रश्मियाँ (त्वा) आपकी शक्ति के आश्रित होकर (आसा) आपने मुख से जलपरमाणुओं को खींचकर (गर्भम् अचक्रिरन्) गर्भ का धारण करती हैं जैसे (सूर्यम्, परि, धर्मेव) सूर्य चारों ओर से पदार्थों को धारण किये हुए है ॥२०॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! जलों की उत्पादक सूर्यरश्मियाँ जो आपकी शक्ति के आश्रित हैं, वे ग्रीष्मऋतु में जलपरमाणुओं को खींचकर मेघमंडल में एकत्रित करतीं और फिर वही जलपरमाणु वर्षाऋतु में मेघ बनकर बरसते और पृथ्वी को धनरूपा बनाते हैं ॥२०॥

त्वामिच्छवसस्पते कण्वा उक्थेन वावृधुः ।

त्वां सुतास इन्दवः ॥२१॥

पदार्थः—(शवसस्पते) हे बलस्वामिन् ! (कण्वाः) विद्वान् लोग (उक्थेन) स्तोत्र द्वारा (त्वाम्, इत्) आपही को (वावृधुः) बढ़ाते हैं; (सुतासः) अभिषिक्त (इन्दवः) ऐश्वर्यसम्पन्न मनुष्य (त्वाम्) आपको बढ़ाते हैं ॥२१॥

भावार्थः—हे सम्पूर्ण बलों के स्वामी परमेश्वर ! विद्वान् लोग वेद-वाक्यों द्वारा आप ही की स्तुति करते और ऐश्वर्यसम्पन्न पुरुष आपही की महिमा वर्णन करते हैं, क्योंकि आप पूर्णकाम हैं ॥२१॥

तवेदिन्द्र प्रणीतिषूत प्रशस्तिरद्रिवः ।

यज्ञो वितन्तसाय्यः ॥२२॥

पदार्थः—(उत) और (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (प्रणीतिषु) प्रकृष्ट नीतिशास्त्र के विषय में (तव, इत्, प्रशस्तिः) आपही की प्रशंसा है। (अद्रिवः) हे वज्रशक्तिवाले! (वितन्तसाय्यः) बड़े से बड़ा (यज्ञः) यज्ञ आपही के लिये किया जाता है ॥२२॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! नीतिज्ञों में आप प्रशंसित नीतिवान् हैं; आपकी प्रसन्नतार्थ ही बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते हैं; सो हे प्रभु ! आप हमें सम्पन्न करें ताकि हम यज्ञों द्वारा आपकी उपासना करें, क्योंकि एकमात्र आपही हमारे स्वामी और पूज्य हैं ॥२२॥

अब धन वा जनों के लिए परमात्मा से प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

आ न इन्द्र महीमिषं पुरं न दर्षि गोमतीम् ।

उत प्रजां सुवीर्यम् ॥२३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! आप (नः) हमको (महीम्) बड़े (गोमतीम्) कान्तिवाले (पुरं, न) पुर में रहने वाले के समान (इषम्) ऐश्वर्य को (आदर्षि) देने की इच्छा करें (उत) और (प्रजाम्) सन्तान तथा (सुवीर्यम्) उत्तम बल देने की इच्छा करें ॥२३॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! हम लोग यज्ञों द्वारा आपका स्तवन करते हैं। आप कृपा करके बड़े नागरिक पुरुष के समान हमें ऐश्वर्यसम्पन्न करें, सुन्दर सन्तान दें और हमें बलवान् बनावें ताकि हम अपने अभीष्ट कार्यों की सिद्धि करते हुए आपका विस्तार करें ॥२३॥

उत त्यदाश्वश्व्यं यदिन्द्र नाहुषीष्वा ।

अग्रे विक्षु प्रदीदयत् ॥२४॥

पदार्थः—(उत) और (इन्द्र) हे परमात्मन् ! आप (त्यत्) वह (अश्वदव्यम्) शीघ्रगामी अश्वादि सहित बल देने की इच्छा करें (यत्) जो बल (नाहुषीषु) मानुषी (विक्षु) प्रजाओं के (अग्रे) आगे (आ) चारों ओर से (प्रदीवयत्) दीप्तिमान हो ॥२४॥

भावार्थः—हे सम्पूर्ण बलों के स्वामी परमेश्वर ! आप हमें शीघ्रगामी अश्वों सहित बल प्रदान करें जो बल प्रजारक्षण के लिए पर्याप्त हो । अर्थात् जो बल सभ्य प्रजाओं को सुख देने वाला और अन्यायकारियों का नाशक हो, वह बल हमें दीजिए ॥२४॥

अभि व्रजं न तत्निषे सूर उपाकचक्षसम् ।
यदिन्द्र मृळयासि नः ॥२५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (यत्) जब (नः) हमको आप (मृळयासि) सुखी करते हैं तब (सूरः) प्राज्ञ आप (न) उसी समय (उपाकचक्षसम्) समीपवर्ती (व्रजम्) देश को (अभि) भलेप्रकार (तत्निषे) समृद्ध बना देते हैं ॥२५॥

भावार्थः—हे सबके पालक परमेश्वर ! आप हमारे समीपस्थ प्रदेशों को समृद्धिशाली तथा उन्नत करें जिससे हम लोग सुखसम्पन्न होकर सदा वैदिककर्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहें ॥२५॥

अब परमात्मा की महिमा वर्णन करते हैं ॥

यदङ्ग तविषीयस इन्द्र प्रराजसि क्षितीः ।
महाँ अपार ओजसा ॥२६॥

पदार्थः—(अङ्ग, इन्द्र) हे परमात्मन् ! (यत्) जो आप (तविषीयसे) सैन्य के समान आचरण करते हैं; (क्षितीः, प्रराजसि) और मनुष्यों का शासन करते हैं; इससे (महान्) पूज्य आप (ओजसा) पराक्रम से (अपारः) अपार हैं ॥२६॥

भावार्थः—इन्द्र=हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! आप सेनापति के समान हमारी सब ओर से रक्षा करते और प्रजा के समान हम पर शासन करते हैं; इसलिये आपका महान् पराक्रम तथा अपार शक्ति है । सो हे प्रभो ! कृपा करो कि हम लोग आपके शासन में रहकर आपकी आज्ञा का पालन करते हुए उन्नत हों ॥२६॥

तं त्वा हविष्मतीर्विश उप ब्रुवत ऊतये ।
उरुज्रयसमिन्दुभिः ॥२७॥

पदार्थः—(उरुव्यचसम्) अतिवेगवाले (तं, त्वा) उन आपको (हविष्मतीः, विशः) सेवायोग्य पदार्थयुक्त प्रजायें (इन्दुभिः) दिव्यपदार्थों को लिये हुए (ऊतये) अपनी रक्षा के लिए (उपब्रुवते) स्तुति कर रही हैं ॥२७॥

भावार्थः हे सर्वरक्षक तथा सब प्रजाओं के स्वामी परमात्मन् ! आप हमारी सब ओर से रक्षा करें; हम सब प्रजाजन दिव्य पदार्थों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं—हे प्रभो ! हमें शक्ति दें कि हम निरन्तर वेदविहित मार्ग में चलकर अपना जीवन सफल करें ॥२७॥

अब परमात्मा की सर्वव्यापकता कथन करते हैं ॥

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम् ।

धिया विप्रो अजायत ॥२८॥

पदार्थः—(गिरीणाम्, उपह्वरे) पर्वतों के गह्वर प्रदेश में और(नदीनां, संगथे, च) नदियों के संगम में (विप्रः) वह विद्वान् परमात्मा (धिया) स्वज्ञानरूप से (अजायत) विद्यमान है ॥२८॥

भावार्थः—वह पूर्ण परमात्मा, जो इस ब्रह्माण्ड के रोम-रोम में व्यापक हो रहा है, सबको नियम में रखने वाला और स्वकर्मानुसार सबको फलप्रदाता है; उसका ज्ञान सदा एकरस रहने के कारण कभी मिथ्या नहीं होता और वह अपने ज्ञान से ही सर्वत्र विद्यमान है ॥२८॥

अतः समुद्रमुद्वतश्चिकित्वाँ अव पश्यति ।

यतो विपान एजति ॥२९॥

पदार्थः—(यतः, विपानः, एजति) जो कि व्याप्त होता हुआ वह परमात्मा चेष्टा करता है, (अतः) अतः, वह (चिकित्वान्) सर्वज्ञ परमात्मा (उद्वतः) ऊर्ध्वदेश से (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (अवपश्यति) नीचा करके देखता है ॥२९॥

भावार्थः—वह चेतनस्वरूप परमात्मा अपनी व्यापकता से ऊर्ध्व, अन्तरिक्ष तथा अधोभाग में स्थित सबको अपनी चेष्टारूप शक्ति से देखता, सब लोकलोकान्तरों को नियम में रखता और सबको यथाभाग सब पदार्थों का विभाग करता है ॥२९॥

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम् ।

परो यदिध्यते दिवा ॥३०॥

पदार्थः—(यत्, दिवा, परः, इध्यते) जो यह परमात्मा अन्तरिक्ष से भी परे दीप्त हो रहा है, (आत्, इत्) इसीसे, विद्वान् लोग (प्रत्नस्य, रेतसः) सबसे प्राचीन गतिशील परमात्मा के (ज्योतिः) ज्योतिर्मय रूप को (वासरम्, पश्यन्ति) सर्वत्र वासक देखते हैं ॥३०॥

भावार्थः—जो परमात्मा अन्तरिक्ष से भी ऊर्ध्व देश में अपनी व्यापकता से देदीप्यमान हो रहा है, उसको विद्वान् लोग प्राचीन, गतिशील, ज्योतिर्मय तथा सर्वत्र वासक=व्यापक देखते हुए उसी की उपासना में तत्पर रहते हैं ॥३०॥

कण्वास इन्द्र ते मतिं विश्वे वर्धन्ति पौंस्यम् ।

उतो शविष्ठ वृष्ण्यम् ॥३१॥

पदार्थः—(शविष्ठ) हे अत्यन्त बलवाले ! (इन्द्र) परमात्मन् ! (विश्वे, कण्वासः) सब विद्वान् (ते) आपके (मतिम्) ज्ञान (पौंस्यम्) प्रयत्न (उत) तथा (वृष्ण्यम्) बलयुक्त कर्म को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं ॥३१॥

भावार्थः—उस अनन्त पराक्रमयुक्त परमात्मा के ज्ञान, प्रयत्न तथा कर्मों की सब विद्वान् लोग प्रशंसा करते हुए उनको बढ़ाते अर्थात् प्रशंसायुक्त वाणियों से उनका विस्तार करते हैं ॥३१॥

इमां म इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव ।

उत प्र वर्धया मतिम् ॥३२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (इमाम्, मे, सुष्टुतिम्) इस मेरी सुन्दर स्तुति को (सुजुषस्व) सम्यक् सुनें (माम्) मुझे (प्राव) सम्यक् रक्षित करें (उत) और (मतिम्) मेरे ज्ञान को (प्रवर्धय) अत्यन्त बढ़ायें ॥३२॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि हे परमेश्वर ! कृपा करके मेरी सब ओर से रक्षा करें और मेरे ज्ञान को प्रतिदिन बढ़ावें ताकि मैं आपकी उपासना में प्रवृत्त हुआ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करूं । हे प्रभो ! मेरी इस प्रार्थना को भले प्रकार सुनें ॥३२॥

उत ब्रह्मण्या वयं तुभ्यं प्रवृद्ध वज्रिवः ।

विप्रा अतक्ष्म जीवसे ॥३३॥

पदार्थः—(उत) और (वज्रिवः) हे वज्रशक्ति वाले (प्रवृद्ध) सब से वृद्ध (वयम्, विप्राः) विद्वान् हम लोग (जीवसे) जीवन के लिये (तुभ्यम्) आपके निमित्त (ब्रह्मण्या) ब्रह्म सम्बन्धी कर्मों को (अतक्ष्म) संकुचित रूप से कर रहे हैं ॥३३॥

भावार्थः—हे वज्रशक्तिसम्पन्न परमात्मन् ! आप सब से प्राचीन और सबको यथायोग्य कर्मों में प्रवृत्त कराने वाले हैं। हे प्रभो ! विद्वान् लोग अपने जीवन को उच्च बनाने के लिए वैदिककर्मों में निरन्तर रत रहते हैं जिससे लोक में चहुंदिक् आपका विस्तार हो ॥

अभि कण्वा अनूषतापो न प्रवता यतीः ।
इन्द्रं वनन्वती मतिः ॥३४॥

पदार्थः—(कण्वाः) जब विद्वान् लोग (अभ्यनूषत) सम्यक् स्तुति करते हैं तब (प्रवता, यतीः, आपः, न) निम्न स्थल को जाते हुए जलों के समान (मतिः) स्तुति स्वयम् (इन्द्रम्, वनन्वती) परमात्मा की ओर जाकर उसका सेवन करती है ॥३४॥

भावार्थः—जब विद्वान् लोग परमात्मा की सम्यक् प्रकार से स्तुति करते हैं तब वह स्तुति निम्नस्थान में स्वाभाविक जलप्रवाह की भांति परमात्मा को प्राप्त होती है वह स्तुतिकर्त्ता को फलप्रद होती है। यहां निदिध्यासन के अभिप्राय से "वहना" लिखा है, वास्तव में स्तुति में क्रियारूप गति नहीं ॥३४॥

इन्द्रमुक्थानि वावृधुः समुद्रमिव सिन्धवः ।
अनुत्तमन्युमजरम् ॥३५॥

पदार्थः—(सिन्धवः) जिस प्रकार नदियां (समुद्रम्) समुद्र को बढ़ाती हैं, इसी प्रकार, (उक्थानि) स्तोत्र (अनुत्तमन्युं) अप्रतिहत प्रभाव वाले (अजरम्) जरारहित (इन्द्रं) परमात्मा को (वावृधुः) बढ़ाते हैं ॥३५॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव स्पष्ट है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र को प्राप्त होकर उसको महान् करती हैं इसी प्रकार वेदवाणियाँ उस प्रभावशाली तथा अजर अमर अभयत्वादि गुणों वाले परमात्मा को बढ़ाती हैं अर्थात् उसका यश विस्तृत करती हैं ॥३५॥

आ नो याहि परावतो हरिभ्यां हर्यताभ्याम् ।
इममिन्द्र सुतं पिब ॥३६॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (परावतः) दूरदेश से (हर्यताभ्याम्) मनोहर (हरिभ्याम्) हरणशील ज्ञान और विज्ञानद्वारा (नः) हमारे समीप (आयाहि) आवें; (इमम्, सुतम्) इस संस्कृत अन्तःकरण को (पिब) अनुभव करें ॥३६॥

भावार्थः—हे सर्वरक्षक प्रभो ! आप हमारे हृदय में विराजमान होकर हमारे संस्कृत हृदय को अनुभव करें अर्थात् हमारी न्यूनता को दूर करें जिससे केवल एकमात्र आपही का मान और ध्यान हमारे हृदय में हो ॥३६॥

त्वामिद्वृत्रहन्तम जनासो वृक्तबर्हिषः ।

हवन्ते वाजसातये ॥३७॥

पदार्थः—(वृत्रहन्तम) हे अज्ञान निवारक ! (वृक्तबर्हिषः, जनासः) विविक्त-स्थल में आसीन उपासक लोग (वाजसातये) ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (त्वाम्, इत्, हवन्ते) आपकी ही उपासना करते हैं ॥३७॥

भावार्थः—हे अज्ञानान्धकार के निवारक प्रभो ! भिन्न-भिन्न स्थानों में समाधिस्थ हुए उपासक लोग आपकी उपासना में प्रवृत्त हैं, कृपाकरके आप उनको ऐश्वर्य प्रदान करें ताकि वे आपका गुणगान करते हुए निरन्तर आपही की उपासना में तत्पर रहें ॥३७॥

अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्त्येतशम् ।

अनु सुवानास इन्दवः ॥३८॥

पदार्थः—(उभे, रोदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक (त्वा) आपका (चक्रम्, एतशं, न) जैसे चक्र अश्व का इसी प्रकार (अनुवर्ति) अनुवर्तन करते हैं; (सुवानासः इन्दवः) उत्पन्न ऐश्वर्य्यसम्बन्धी पदार्थ (अनु) आपही का अनुवर्तन करते हैं ॥३८॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! जिस प्रकार अश्व अपने चक्र में घूमता है इसी प्रकार, द्युलोक तथा पृथिवीलोकादि सब लोकलोकान्तर आपके नियम में बंधे हुए अपनी परिधि में परिभ्रमण करते हैं, और, सम्पूर्ण पदार्थ जो आपही का अनुवर्तन करते हैं, हे प्रभो ! वह कृपाकरके हमें प्राप्त कराय ताकि हम लोग आपके यशःकीर्तन में सदा तत्पर रहें ॥३८॥

मन्दस्वा सु स्वर्णर उतेन्द्र शर्यणावति ।

मत्स्वा विवस्वतो मती ॥३९॥

पदार्थः—(उत) और (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (शर्यणावति, स्वर्णरे) अन्तरिक्ष के समीप होने वाले सूर्यादि लोकों में अपने उपासकों की (सुमन्दस्व) सुन्दर

तृप्ति करें और (विवस्वतः) उपासक की (मती) स्तुति से (मत्स्व) स्वयं तृप्त हों ॥३९॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! अन्तरिक्ष के समीपवर्ति लोकलोकान्तरों में अपने उपासकों को सब प्रकार की अनुकूलता प्रदान करें और उनकी उपासना से आप प्रसन्न हों ताकि उपासक सदैव अपना कल्याण ही देखें—यह प्रार्थना है ॥३९॥

वावृधान उप द्यवि वृषा वज्र्यरोरवीत् ।
वृत्रहा सोमपातमः ॥४०॥

पदार्थः—(उपद्यवि) अंतरिक्ष से भी ऊपर (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त, (वृषा) इष्टकामनाओं की वर्षा करने वाला (वज्री) वज्रशक्ति वाला, (वृत्रहा) अज्ञाननाशक, (सोमपातमः) अत्यन्त सौम्य स्वभाव का अनुगामी, परमात्मा (अरोरवीत्) अत्यन्त शब्दायमान हो रहा है ॥४०॥

भावार्थः—वह परमपिता जो सर्वत्र विराजमान तथा सब से बड़ा है, वही, सबकी कामनाओं को पूर्ण करने वाला, सर्वशक्तिसम्पन्न, अज्ञान का नाशक और जो सर्वत्र शब्दायमान हो रहा है वही हमको वैदिकपथ पर चलाने वाला और शुभ मार्गों में प्रेरक है ॥४०॥

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा ।
इन्द्र चोष्कूयसे वसु ॥४१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! आप (पूर्वजा) सबसे पूर्व होने वाले और (ऋषिः) सूक्ष्मद्रष्टा हैं । (ओजसा) अपने पराक्रम से (एकः, ईशानः) केवल अद्वितीय शासक हो रहे हैं । (वसु) सबको धनादि ऐश्वर्य्य (चोष्कूयसे) अतिशयेन दे रहे हैं ॥४१॥

भावार्थः—हे सबके पालक तथा रक्षक प्रभो ! आप सब से प्रथम हैं, सूक्ष्मद्रष्टा और अपने अद्वितीय पराक्रम से सबका शासन कर रहे हैं और कर्मानुसार यथाभाग सबको धनादि ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, कृपाकरके उपासक की विशेषतया रक्षा करें ताकि वह आपकी उपासना में निरन्तर तत्पर रहे ॥४१॥

अस्माकं त्वा सुताँ उप वीतपृष्ठा अभि प्रयः ।
शतं वहन्तु हरयः ॥४२॥

पदार्थः—(अस्माकम्, सुतान्, उप) हमारे संस्कृतस्वभावों के अभिमुख तथा (प्रयः, अभि) हवि के अभिमुख (वीतपृष्ठाः) मनोहर स्वरूपवाली (हरयः) हरणशील शक्तियां (त्वा) आपको (वहन्तु) प्राप्त करायें ॥४२॥

भावार्थ—हे यज्ञस्वरूप परमात्मन् ! हमारा भाव तथा हव्य पदार्थ, जो आपके निमित्त यज्ञ में हुत किये जाते हैं, इत्यादि भाव आपको प्राप्त करायें अर्थात् ऐसी कृपा करें कि वैदिककर्मों का अनुष्ठान हमारे लिये सुखप्रद हो ॥४२॥

इमा सु पूर्व्यां धियं मधोर्घृतस्य पिप्युषीम् ।

कण्वा उक्थेन वावृधुः ॥४३॥

पदार्थ—(कण्वाः) विद्वान् पुरुष (मधो, घृतस्य, पिप्युषीम्) मधुर विषयाकार वृत्ति की बढ़ाने वाली (पूर्व्याम्) परमात्मसम्बन्धी (इमाम्, धियम्) इस बुद्धि को (उक्थेन) वेदस्तुति द्वारा (वावृधुः) वढ़ाते हैं ॥४३॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! विद्वान् पुरुष अपनी मेधा को वेदवाक्यों द्वारा उन्नत करते हैं कि वह आपको प्राप्त कराने वाली हो अर्थात् हमारी बुद्धि सूक्ष्म हो कि जो सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को अवगत करती हुई आपकी सूक्ष्मता को अनुभव करने वाली हो ॥४३॥

इन्द्रमिद्विमहीनां मेधे वृणीत मर्त्यः ।

इन्द्रं सनिष्युरूतये ॥४४॥

पदार्थः—(विमहताम्) विशेष महान् पुरुषों के (मेधे) यज्ञ में (मर्त्यः) मनुष्य (इन्द्रम्, इत्) परमात्मा का ही (वृणीत) वरण करें, (सनिष्युः) धन चाहने वाला (ऊतये) रक्षा के लिये (इन्द्रम्) परमात्मा ही की उपासना करे ॥४४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यह उपदेश किया है कि पुरुष बड़े-बड़े यज्ञों में परमात्मा को ही वरण करें अर्थात् उसी के निमित यज्ञ करें और ऐश्वर्य्य की कामना वाला पुरुष उसी की उपासना में तत्पर रहे; वह अवश्य कृतकार्य्य होगा ॥४४॥

अर्वाञ्चं त्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी ।

सोमपेयाय वक्षतः ॥४५॥

पदार्थः—(पुरुष्टुत) हे बहुस्तुत परमात्मन् ! (प्रियमेधस्तुता, हरी) विद्वानों

की प्रशंसनीय हरणशील शक्तियां (सोमपेयाय) सौम्यस्वभाव का पान करने के लिये (त्वा) आपको (अर्वांचम्) हमारे अभिमुख (वक्षतः) वहन करें ॥४५॥

भावार्थः—हे अनेकानेक विद्वानों द्वारा स्तुत प्रभो ! आप ऐसी कृपा करें कि हम विद्वानों की प्रशंसनीय शक्तियाँ आपको प्राप्त कराने वाली हों अर्थात् हमारा वेदाभ्यास तथा वैदिककर्मों का अनुष्ठान हमारे लिए सुखप्रद हो, यह प्रार्थना है ॥४५॥

श॒तम॒हं ति॒रिन्दि॑रे स॒हस्रं॒ पर्शा॒वा द॑दे ।
राधां॑सि॒ याद्वा॑नाम् ॥४६॥

पदार्थः—(याद्वानाम्) मनुष्यों में (तिरिन्दिरे) जो अज्ञाननाशक हैं उनके निमित्त (शतम्) सौ प्रकार का धन (पर्शौ) जो दूसरों को देता है उसके लिये (सहस्रम्, राधांसि) सहस्र प्रकार के धनों को (अहम्) मैं (आददे) धारण करता हूँ ॥४६॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि कर्मानुसार यथाभाग सबको देने वाला परमात्मा ज्ञानशील तथा परोपकारी पुरुषों को सैंकड़ों तथा सहस्रों प्रकार के पदार्थ प्रदान करता है ॥४६॥

त्रीणि॑ श॒तान्यर्व॑तां स॒हस्रा॒ दश॒ गोना॑म् ।
द॒दुष्प॒ज्राय॒ साम्ने॑ ॥४७॥

पदार्थः—(पज्राय, साम्ने) जो विविध विद्याओं का अर्जक सामवेद का ज्ञाता है उसको (अर्वतां, त्रीणि, शतानि) तीनसौ घोड़े (गोनां, सहस्रा, दश) और दशसहस्र गौयें (ददुः) उपासक देते हैं ॥४७॥

भावार्थः—साङ्गोपांग सामवेद के ज्ञाता विद्वान् पुरुष को उपासक तीनसौ अश्व और दशसहस्र गौयें देते हैं अर्थात् परमात्मपरायण पुरुष जिसको परमात्मा ऐश्वर्य्यशाली करता है वह सामवेद के ज्ञाता को उक्त दान देकर प्रसन्न करता है ताकि अन्य पुरुष उत्साहसम्पन्न होकर वेदों का अध्ययन करते हुए परमात्मपरायण हों ॥४७॥

उदा॑नट्क॒कुहो॒ दिव॒मुष्ट्रा॑ञ्चतु॒र्युजो॒ दद॑त् ।
श्रव॑सा॒ याद्वं॒ जन॑म् ॥४८॥

पदार्थः—(ककुहः) अभ्युदय से प्रवृद्ध उपासक (चतुर्युजः, उष्ट्रान्) स्वर्ण भारों से युक्त चार उष्ट्र, और (याद्वम्, जनम्) मनुष्यों के समुदाय को (ददत्) देता हुआ (श्रवसा) कीर्ति से (दिवम्) द्युलोक तक (उदानट्) व्याप्त होता है ॥४८॥

भावार्थः—अभ्युदयप्रवृद्ध=ऐश्वर्यसम्पन्न उपासक विविध विद्याओं से युक्त वेदों के ज्ञाता पुरुष को सुवर्ण से लदे हुए चार ऊंट तथा उसकी रक्षार्थ जनसमुदाय देता हुआ अतुल कीर्ति को प्राप्त होता और दूसरों को वेदाध्ययन के लिए उत्साहित करता है ।।४८।।

अष्टम मण्डल में यह छठा सूक्त समाप्त हुआ ।।

अथ षट्त्रिंशदृचस्य सप्तमसूक्तस्य १—३६ पुनर्वत्सः काण्व ऋषिः ।। मरुतो देवताः ।। छन्दः–१, ३—५, ७—१३, १७—१९, २१, २८, ३०—३२, ३४ गायत्री । २, ६, १४, १६, २०, २२–२७, ३५, ३६ निचृद्गायत्री । १५ पादनिचृद्गायत्री । २९–३३ आर्चीविराड्गायत्री ।। षड्जः स्वरः ।।

इस सूक्त में क्षात्रबल का वर्णन करते हुए प्रथम योद्धा लोगों के गुण कथन करते हैं ।।

प्र यद्वस्त्रिष्टुभमिषं मरुतो विप्रो अक्षरत् ।

वि पर्वतेषु राजथ ।।१।।

पदार्थः—(मरुतः) हे शीघ्रगतिवाले योद्धा लोगो ! (यत्) जो (विप्रः) मेधावी मनुष्य (वः) आपके (इषम्) इष्टधन को (त्रिष्टुभम्) तीन स्थानों में विभक्त कर (प्राक्षरत्) व्यय करता है इससे आप लोग (पर्वतेषु) दुर्गप्रदेशों में (विराजथ) विशेष करके प्रकाशमान हो रहे हैं ।।१।।

भावार्थः—क्षात्रबल वही वृद्धि को प्राप्त हो सकता है जिसके नेता विप्र=बुद्धिमान् हों । इस मन्त्र में बुद्धिमान् मन्त्री, प्रधान तथा क्षात्रबल का निरूपण किया है । विद्यासभा के लिए, सैनिकबल के लिये, प्रजोपकारी वापी कूप तडाग राजपथादिकों के लिए व्यय करना, यही तीन प्रकार का व्यय है ।।१।।

यदङ्ग तविषीयवो यामं शुभ्रा अचिध्वम् ।

नि पर्वता अहासत ।।२।।

पदार्थः—(अङ्ग) हे योद्धालोगो ! (यद्) जब (शुभ्राः) शोभायुक्त आप (तविषीयवः) दूसरों के बल को ढूंढ़ते हुए (यामम्, अचिध्वम्) वाहनों को इकट्ठा करते हैं तब (पर्वताः) शत्रुओं के दुर्ग (न्यहासत) कांपने लगते हैं ।।२।।

भावार्थः—सैनिक नेताओं को चाहिये कि वह उसी को सर्वोपरि दुर्ग समझें जो साधनसामग्रीप्रधान दुर्ग है अर्थात् मनुष्यों का दुर्ग, यानों का दुर्ग

और अश्वादि सेना संरक्षक पशुओं का दुर्ग, सर्वोपरि कहलाता है। यहां पर्वत शब्द से दुर्ग का ग्रहण है, क्योंकि "पर्वाणि सन्ति अस्येति पर्वत:"= जिसके पर्व होते हैं उसी को दुर्ग कहते हैं ॥२॥

अब वेदवाणी को माता तथा स्वत:प्रमाण कथन करते हैं ॥

उदीरयन्त वायुभिर्वाश्रासः पृश्निमातरः ।

धुक्षन्त पिप्युषीमिषम् ॥३॥

पदार्थः—(पृश्निमातर:) सरस्वती माता वाले (वाश्रास:) शब्दायमान योद्धालोग (वायुभि:) वायुसदृश सेना द्वारा (उदीरयन्त) शत्रुओं को प्रेरित करते हैं; (पिप्युषीम्) बलादि को बढ़ाने वाली (इषम्) सम्पत्ति को (धुक्षन्ति) दुहते हैं ॥३॥

भावार्थः—जिन लोगों की एकमात्र ईश्वर की वाणी माता है वे लोग सदैव विजय को प्राप्त होते हैं; क्योंकि ईश्वर की वाणी को मानकर ईश्वर के नियमों पर चलने के समान संसार में और कोई बल नहीं, इसलिए मनुष्य को चाहिये कि वह वेदवाणी को स्वत: प्रमाण मानता हुआ ईश्वर के नियमों पर चले ॥३॥

वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान् ।

यद्यामं यान्ति वायुभिः ॥४॥

पदार्थः—(यत्) जब (वायुभि:) सेनासहित (मरुत:) योद्धालोग (यामम्, यान्ति) यानारूढ़ होते हैं तब (मिहम्, वपन्ति) शस्त्रवृष्टि करते हैं और (पर्वतान्) दुर्गप्रदेशों को (प्रवेपयन्ति) कंपा देते हैं ॥४॥

भावार्थः—जो लोग व्योमयानादि द्वारा=विद्यानिर्मित यानों द्वारा शत्रु पर आक्रमण करते हैं वही शत्रुबल को कम्पायमान कर सकते हैं, अन्य नहीं ॥४॥

अब उत्साही और साहसी सैनिकों का महत्त्व वर्णन करते हैं ॥

नि यद्यामाय वो गिरिर्नि सिन्धवो विधर्मणे ।

महे शुष्माय येमिरे ॥५॥

पदार्थः—(यत्) जो (व:, विधर्मणे, यामाय) प्रतिपक्षी से विरुद्ध धर्मवाले आपके वाहन तथा (महे, शुष्माय) महान् बल के लिए (गिरि:) पर्वत (नियेमिरे) स्थगित हो जाते (सिन्धव:) और नदियां भी (नि) स्थगित हो जाती हैं, ऐसा आपका पराक्रम है ॥५॥

भावार्थः—अत्यन्त उत्साही तथा साहसी सैनिकों के आगे नदियां और पर्वत भी मार्ग छोड़ देते हैं। इस मन्त्र में उत्साह का वर्णन किया है ॥५॥

अब अभ्युदयप्राप्ति का हेतु वर्णन करते हैं ॥

युष्माँ उ नक्तमूतये युष्मान्दिवा हवामहे ।

युष्मान्प्रयत्यध्वरे ॥६॥

पदार्थः—हे योद्धाओ ! (ऊतये) आत्मरक्षा के लिये (नक्तं युष्मान्, उ) रात्रि में आप का ही (हवामहे) आह्वान करते हैं; (दिवा, युष्मान्) दिन में आपका ही और (प्रयति, अध्वरे) यज्ञ के प्रारम्भ में आपका ही आह्वान करते हैं ॥६॥

भावार्थः—यज्ञ में क्षात्रधर्मवेत्ता सैनिक और पदार्थविद्यावेत्ता विद्वान् तथा अध्यात्मविद्यावेत्ता योगीजन इत्यादि विद्वानों का सत्कार करना अभ्युदय का हेतु है ॥६॥

उदु त्ये अरुणप्सवश्चित्रा यामेभिरीरते ।

वाश्रा अधि ष्णुना दिवः ॥७॥

पदार्थः—(त्ये) वह पूर्वोक्त (अरुणप्सवः) अरुण वर्णवाले (चित्राः) आश्चर्यरूप (वाश्राः) शब्दायमान योद्धालोग (यामेभिः) यानों द्वारा (दिवः, अधि) अन्तरिक्ष में (ष्णुना) ऊपर के भाग से (उदीरते, उ) चलते हैं ॥७॥

भावार्थः—इस मन्त्र में क्षात्रधर्मप्रधान योद्धाओं के रक्तवर्ण का वर्णन किया है कि वह देदीप्यमान सुन्दर वर्ण वाले योद्धा लोग यानों द्वारा अंतरिक्ष में विचरते हैं ॥७॥

अब सम्राट् का महत्त्व कथन करते हैं ॥

सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्थां सूर्याय यातवे ।

ते भानुभिर्वि तस्थिरे ॥८॥

पदार्थः—(ते) वे योद्धा लोग (सूर्याय यातवे) सूर्यसदृश सम्राट् के जाने के लिये (ओजसा) अपने पराक्रम से (रश्मिम्, पन्थाम्) प्रकाशयुक्त मार्ग को (सृजन्ति) बना देते हैं (भानुभिः) और अपने तेजों से (वितस्थिरे) अधिष्ठाता बन जाते हैं ॥८॥

भावार्थः—जिस प्रकार सूर्य में प्रभामण्डल पड़ता है अर्थात् उसकी रश्मियाँ प्रभा से सूर्य के मुख को ढाँपे रहती हैं, इसी प्रकार जिस सम्राट् के

स्वरूप को उसके सैनिकों का तेज देदीप्यमान हुआ आच्छादित करता है वही सम्राट् प्रशंसनीय होता है ॥८॥

इमा मे मरुतो गिरमिमं स्तोममृभुक्षणः ।

इमं मे वनता हवम् ॥९॥

पदार्थः—(ऋभुक्षिणः, मरुतः) हे महत्त्वविशिष्ट योद्धाओ ! (इमाम्, मे, गिरम्) इस मेरी प्रार्थनाविषयक वाणी को, (इमम् स्तोत्रम्) इस स्तोत्र को, (इमम्, मे, हवम्) इस मेरे आह्वान को, (वनत) स्वीकार करें ॥९॥

भावार्थः—जो निर्भय होकर युद्ध में मरें या मारें वे "मरुत्" कहलाते हैं; "ये म्रियन्ते यैर्वा जना युद्धे म्रियन्ते ते मरुतः"=जो अपराङ्मुख होकर युद्ध करते हैं और जिनको मरने से भय और जीने में कोई राग नहीं, ऐसे योद्धाओं का नाम "मरुत्" है। उक्त मरुतों की मातायें उनको तीन प्रकार का उत्साह प्रदान करती हैं ॥९॥

अब माताओं का पुत्रों के लिए युद्धार्थ सन्नद्ध करना कथन करते हैं ॥

त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।

उत्सं कवन्धमुद्रिणम् ॥१०॥

पदार्थः—(पृश्नयः) योद्धाओं की मातायें (वज्रिणे) वज्रशक्ति वाले अपने पुत्रों के लिये (त्रीणि, सरांसि) तीन पात्रों को (दुदुह्रे) दुहती हैं। अर्थात् (मधु, उत्सं) मधुरउत्साह पात्र, (कबन्धम्) धृतिपात्र, (उद्रिणम्) स्नेहपात्र ॥१०॥

भावार्थः—उक्त विद्युत् शस्त्र वाले वज्री योद्धाओं की मातायें मीठे वचनों से युद्ध की शिक्षायें देतीं और उत्साह बढ़ाकर तथा जाति में स्नेह बढ़ाकर युद्ध के लिए सन्नद्ध करती हैं ॥१०॥

मरुतो यद्ध वो दिवः सुम्नायन्तो हवामहे

आ तू न उप गन्तन ॥११॥

पदार्थः—(मरुतः) हे योद्धाओ ! (सुम्नायन्तः) सुख चाहने वाले हम लोग (यत्, ह) जो (वः) आप लोगों को (दिवः) अन्तरिक्ष से (हवामहे) आह्वान करते हैं (आ, तु) अतः शीघ्र (नः) हमारे अभिमुख (उपगन्तन) आप आवें ॥११॥

भावार्थः—इस मंत्र में उन योद्धाओं का आह्वान कथन किया है जो विमान द्वारा अंतरिक्ष में विचरते हैं, किसी अन्य देवविशेष का नहीं ॥११॥

यूयं हि ष्ठा सुदानवो रुद्रा ऋभुक्षणो दमे ।

उत प्रचेतसो मदे ॥१२॥

पदार्थः—(यूयम्) आप (सुदानवः) सुन्दर दानशील (हि, स्थ) हैं (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने वाले (दमे, ऋभुक्षिणः) दमन के विषय में अति तेजस्वी (उत) और (मदे) प्रजाओं को हर्षित करने में (प्रचेतसः) जागरूक हैं ॥१२॥

भावार्थः—जो पुरुष दमन करने की शक्ति रखते हैं वही उत्पाती साहसी लोगों का दमन करके प्रजा में शान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए ऐसे तेजस्वी पुरुषों की प्राप्ति के लिए परमात्मा से अवश्य प्रार्थना करनी चाहिए ॥१२॥

आ नो रयिं मदच्युतं पुरुक्षुं विश्वधायसम् ।

इयर्ता मरुतो दिवः ॥१३॥

पदार्थः—(मरुतः) हे वीरो ! (नः) आप हमारे लिए (मदच्युतम्) शत्रुओं के गर्वहारक, (पुरुक्षुम्) बहुतों से प्रशंसित, (विश्वधायसम्) सब को धारण करने वाले (रयिम्) धन को (दिवः) अन्तरिक्ष से (इयर्त) आहरण करें ॥१३॥

भावार्थः—जो पुरुष परमात्मा के इस अनन्त ब्रह्माण्ड से पदार्थविद्या द्वारा उपयोग लेते हैं वह अंतरिक्ष में सदा स्वेच्छाचारी होकर विचरते और प्रजा के लिए अनन्त प्रकार के धनों का भण्डार भर देते हैं। इसलिए उन्नति चाहने वाले पुरुष को उक्त विद्या के जानने में पूर्ण परिश्रम करना चाहिए ॥१३॥

अधीव यद्गिरीणां यामं शुभ्रा अचिध्वम् ।

सुवानैर्मन्दध्व इन्दुभिः ॥१४॥

पदार्थः—(शुभ्राः) हे शोभन योद्धाओ ! (यद्) जब आप (गिरीणाम्, अधीव) पर्वतों के मध्यभाग के समान (यामम्) यान को (अचिध्वम्) इकट्ठा करते हैं, तब, (सुवानैः, इन्दुभिः) अनेक दिव्य पदार्थों को उत्पन्न करते हुए (मन्दध्वे) सब प्रजाओं को हर्षित कर देते हैं ॥१४॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि स्वेच्छाचारी योद्धाओं के लिए जल स्थल सब एक प्रकार के हो जाते हैं और वह गिरिशिखरों के ऊपर विना रोक-टोक विचरते हैं ॥१४॥

एतावतश्चिदेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः ।
अदाभ्यस्य मन्मभिः ॥१५॥

पदार्थः—(अदाभ्यस्य) किसी से भी तिरस्कार करने में अशक्य, (एतावतः) इतनी महिमावाले (एषाम्) इन योद्धाओं के (सुम्नम्) सुख को (मर्त्यः) मनुष्य (मन्मभिः) अनेकविध ज्ञानों द्वारा (भिक्षेत) लब्ध करे ॥१५॥

भावार्थः—जो योद्धा किसी से तिरस्कृत नहीं होते अर्थात् जो अपने क्षात्रबल में पूर्ण हैं, उन्हीं से अपनी रक्षा की भिक्षा मांगनी चाहिए ॥१५॥

ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभिः ।
उत्सं दुहन्तो अक्षितम् ॥१६॥

पदार्थः—(ये) जो योद्धा लोग (अक्षितम्, उत्सम्) अक्षीण उत्साह को (दुहन्तः) दुहते हुए (द्रप्सा इव) जलबिन्दुओं के समूह समान एकमत होकर(वृष्टिभिः) शस्त्रों की वर्षा से (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वी को (अनुधमन्ति) शब्दायमान कर देते हैं ॥१६॥

भावार्थः—जिन योद्धाओं के अस्त्र-शस्त्ररूप बाणवृष्टि से नभोमण्डल पूर्ण हो जाता है उन्हीं से अपनी रक्षा की भिक्षा मांगनी चाहिए ॥१६॥

उदु स्वानेभिरीरत उद्रथैरुदु वायुभिः ।
उत्स्तोमैः पृश्निमातरः ॥१७॥

पदार्थः—(पृश्निमातरः) योद्धा लोग (स्वानेभिः) शब्दों के सहित (उदीरते, उ) स्थान से निकलते हैं; (रथैः) यानों द्वारा (उद्) निकलते हैं; (वायुभिः) वायु-सदृश वीरों सहित (उदु) निकलते और (स्तोमैः) स्तोत्रों सहित (उद्) स्थान से निकलते हैं ॥१७॥

भावार्थः—जिन योद्धाओं के रथों के पहियों से पृथ्वी गूंज उठती है, ऐसे शूरवीरों से ही रक्षा की भिक्षा मांगनी चाहिए ॥१७॥

येनाव तुर्वशं यदुं येन कण्वं धनस्पृतम् ।
राये सु तस्य धीमहि ॥१८॥

पदार्थः—(येन) जिस रक्षण से (तुर्वशम्, यदुम्) हिंसा को नष्ट करने वाले मनुष्य को (आव) रक्षित किया (येन) और जिस रक्षा से (धनस्पृतम्, कण्वम्) धन

चाहने वाले विद्वान् को रक्षित किया (राये) धन के निमित्त हम (तस्य) उस रक्षण को (सुधीमहि) सम्यक् स्मरण करते हैं ॥१८॥

भावार्थः—हे विद्वान् सैनिक नेताओ ! आप आध्यात्मिक विद्यावेत्ता विद्वानों के रक्षणार्थ अनन्त प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करते हैं; इससे ब्रह्मविद्या की भले प्रकार उन्नति होती है ॥१८॥

इमा उं वः सुदानवो घृतं न पिप्युषीरिषः ।

वर्धान्काण्वस्य मन्मभिः ॥१९॥

पदार्थः—(सुदानवः) हे शोभन दान वाले (काण्वस्य, मन्मभिः) विद्वानों के समूह के ज्ञानों द्वारा (घृतम्, न, पिप्युषीः) घृत के समान पोषक (इमाः, वः, इषः) यह आपके ऐश्वर्य पदार्थ (वर्धान्) वढ़ें ॥१९॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह उपदेश किया है कि हे विद्वान् पुरुषो ! आप घृतादि पुष्टिप्रद पदार्थों को बढ़ायें अर्थात् उनकी रक्षा करें जिससे बल वीर्य की पुष्टि तथा वृद्धि द्वारा नीरोग रहकर ब्रह्मविद्या तथा ऐश्वर्य की वृद्धि करने में यत्नवान् हों ॥१९॥

क्वं नूनं सुदानवो मदथा वृक्तबर्हिषः ।

ब्रह्मा को वः सपर्यति ॥२०॥

पदार्थः—(सुदानवः) हे शोभन दानवाले ! (वृक्तबर्हिषः) पृथक् दिया गया है आसन जिन को ऐसे आप (क्व, नूनम्, मदथाः) कहां स्थित होकर मनुष्यों को हर्षित कर रहे हैं ? (कः, ब्रह्मा) कौन विद्वान् (वः) आपकी (सपर्यति) पूजा करता है ? ॥२०॥

भावार्थः—इस मंत्र का आशय यह है कि जिन लोगों को यज्ञ में विशेष=असाधारण आसन दिया जाता है वह "वृक्तबर्हिष" कहे जाते हैं और ऐसे असाधारण विद्वानों के गुणगौरव को चतुर्वेद का वक्ता ब्रह्मा ही जान सकता है, अन्य नहीं; और वह विशेषतया पूजा के योग्य होते हैं ॥२०॥

नहि ष्म यद्ध वः पुरा स्तोमेभिर्वृक्तबर्हिषः ।

शर्धाँ ऋतस्य जिन्वथ ॥२१॥

पदार्थः—(वृक्तबर्हिषः, वः) पृथक् दिया गया है आसन जिनको ऐसे आप (स्तोमेभिः) मेरे स्तोत्रों से प्रार्थित होकर (यद्, ह) जो (ऋतस्य) दूसरों के यज्ञों के (शर्धान्) बलों को (जिन्वथ) बढ़ावें (नहि, स्म) ऐसा नहीं सम्भावित है ॥२१॥

भावार्थः—हे असाधारण उच्च आसन वाले विद्वानो ! आप हमारे यज्ञों में सम्मिलित होकर शोभा को बढ़ावें और हम लोगों को अपने उपदेशों द्वारा शुभ ज्ञान प्रदान करें ॥२१॥

समु त्ये मंहतीरपः सं क्षोणी समु सूर्यम् ।
सं वज्रं पर्वशो दंधुः ॥२२॥

पदार्थः—(त्ये) वे योद्धा लोग (महतीः, अपः) महान् जलों का (समु) सन्धान करते हैं, (क्षोणी) पृथ्वी का (सम्) सन्धान करते और (सूर्यम्, समु) सूर्य का सन्धान करते हैं; (पर्वशः) कठोर स्थलों को तोड़ने के लिए (वज्रम्) विद्युत्शक्ति का (सन्दधुः) सन्धान करते हैं ॥२२॥

भावार्थः—उपर्युक्त वर्णित विद्वान् पुरुष बड़े-बड़े आविष्कार करके प्रजा को सब प्रकार से सुखी करते हैं अर्थात् जलों के संशोधन की विद्या का उपदेश करते और अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रकाश करते हैं जिससे शत्रु का सर्वथा दमन हो और इसी कारण वह विद्वान् पूजार्ह होते हैं ॥२२॥

वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिनः ।
चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् ॥२३॥

पदार्थः—(अराजिनः) स्वतन्त्र (वृष्णि, पौंस्यम्, चक्राणाः) तीक्ष्ण पौरुष करते हुए वे लोग (वृत्रम्) अपने मार्गरोधक शत्रु को (पर्वशः) पर्व-पर्व में (विययुः) विभिन्न कर देते हैं (पर्वतान्) और मार्गरोधक पर्वतों को भी (वि) तोड़-फोड़ डालते हैं ॥२३॥

भावार्थः—वह अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग को जानने वाले विद्वान् पुरुष अपने परिश्रम द्वारा मार्गरोधक शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करके भगा देते हैं और वे जिन पर्वतों का आश्रय लेते हैं उनको भी अपनी विद्या द्वारा तोड़-फोड़ कर शत्रुओं का निरोध करते हैं ॥२३॥

अब उन योद्धाओं का अपने सब कामों में जागरूक होना
कथन करते हैं ॥

अनुं त्रितस्य युध्यंतः शुष्ममावन्नुत क्रतुंम् ।
अन्विन्द्रं वृत्रतूर्ये ॥२४॥

पदार्थः—(वृत्रतूर्ये) असुरों के संग्राम में (युध्यतः, त्रितस्य, अनु) युद्ध करते हुए तीन सेनाओं के अधिपति के पीछे (शुष्मं, आवन्) उसके बल की रक्षा करते (उत) और साथ ही (क्रतुम्) उसके राष्ट्रकर्म की भी रक्षा करते तथा (इन्द्रम्) सम्राट् को (अनु) सुरक्षित रखते हैं ॥२४॥

भावार्थः—वह अग्रणी विद्वान् योद्धा संग्राम में युद्ध करते हुए पिछले तीसरे मंडल की रक्षा करते और सम्राट् को भी सुरक्षित रखते हुए राष्ट्र की रक्षा करते हैं; जिससे वह कृतकार्य होकर राष्ट्र को मंगलमय बनाते हैं ॥२४॥

विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन्हिरण्ययीः ।

शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये ॥२५॥

पदार्थः—(विद्युद्धस्ताः) विद्युत् शक्तिवाले शस्त्रों को हाथ में लिये हुए, (अभिद्यवः) चारों ओर से द्योतमान वे योद्धा (शीर्षन्) शिर में (हिरण्ययीः) सुवर्ण-मय (शुभ्राः) सुन्दर (शिप्राः) शिरस्त्राण को (श्रिये) शोभा के लिये धारण किये हुए (व्यञ्जत) प्रकाशित होते हैं ॥२५॥

भावार्थः—पदार्थविद्यावेत्ता योद्धा लोग नाना प्रकार के विद्युत् शस्त्रों को लेकर धर्मयुद्ध में उपस्थित हों और शत्रुओं को विजय करते हुए प्रकाशित हों ॥२५॥

उशना यत्परावत उक्ष्णो रन्ध्रमयातन ।

द्यौर्न चक्रदद्भिया ॥२६॥

पदार्थः—(यत्) जब (उशना) रक्षा को चाहते हुए योद्धा लोग (उक्ष्णः) कामनाओं की वर्षा करने वाले अपने रथ के (रन्ध्रम्) मध्यभाग में (अयातन) जाकर बैठते हैं तब (परावतः) दूर से ही (द्यौः, न) मेघाच्छन्न द्युलोक के समान (भिया) भय से यह लोक भी (चक्रदत्) आन्दोलित होने लगता है ॥२६॥

भावार्थः—"उक्षति सिञ्चति कामान् इति उक्षा"=जो नाना प्रकार की कामनाओं की वृष्टि करे उसका नाम "उक्षा" है, इस प्रकार के कामना देने वाले यानों पर आरूढ़ होकर जो योद्धा लोग युद्ध में जाते हैं उनसे सब भयभीत होते और वही विजय को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं ।

स्मरण रहे कि "उक्षा" शब्द का अर्थ यहां सायणाचार्य ने भी कामनाओं की वृष्टि करनेवाला किया है, जो लोग उक्त शब्द को बलीवर्द=बैल

का वाचक मानकर गवादि पशुओं का बलिदान कथन करते हैं उनका कथन वेदाशय के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि "उक्षा" शब्द सिंचन करने तथा कामनाओं की पूर्ति करने के अर्थों में आता है, किसी पशु-पक्षी के बलिदान के लिए नहीं ॥२६॥

आ नो॑ म॒खस्य॑ दा॒वने॒ऽश्वै॒र्हिर॑ण्यपाणिभिः ।

देवा॑स॒ उप॑ गन्तन ॥२७॥

पदार्थः—(देवासः) हे दिव्यपुरुषो ! आप (दावने) अपनी शक्ति देने के लिए (हिरण्यपाणिभिः) हिरण्य जिनके हाथ में है ऐसी (अश्वैः) व्यापक शक्तियों सहित (नः, मखस्य) हमारे यज्ञ के (आ) अभिमुख (उपगन्तन) आवें ॥२७॥

भावार्थः—दैवीशक्तियों से सम्पन्न पुरुषों के हाथ में ही ऐश्वर्य तथा हिरण्यादि दिव्य पदार्थ होते हैं। अतएव ऐसे विभूतिसम्पन्न तथा दिव्यशक्तिमान् देवताओं को यज्ञ में अवश्य निमंत्रित करके बुलाना चाहिए ताकि उनके उपदेश से प्रजाजन लाभ उठावें ॥२७॥

यदे॑षां॒ पृष॑ती॒ रथे॒ प्रष्टि॒र्वह॑ति॒ रोहि॑तः ।

यान्ति॑ शु॒भ्रा रि॒णन्न॒पः ॥२८॥

पदार्थः—(यत्) जब (एषाम्) इनको (प्रष्टिः) शीघ्रगामी सारथि (रथे) रथ में चढ़ाकर (पृषती) जलसम्बन्धी स्थलियों की ओर (वहति) ले जाता है तब वह (शुभ्राः अपः) जलों को स्वच्छ (रिणन्) करते हुए (यान्ति) जाते हैं ॥२८॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि पदार्थविद्यावेत्ता पुरुषों का यह भी कर्तव्य है कि वह युद्धसम्बन्धी जलों का भी संशोधन करें ताकि किसी प्रकार का जलसम्बन्धी रोग उत्पन्न न हो ॥२८॥

सु॒षोमे॑ शर्य॒णाव॑त्यार्जी॒के प॒स्त्याव॑ति ।

य॒युर्निच॑क्रया॒ नरः॑ ॥२९॥

पदार्थः—(नरः) वे नेता लोग (सुषोमे, शर्यणावति) सुन्दर सोम वाले उन्नत प्रदेशों में और (आर्जीके, पस्त्यावति) सुन्दर गृहों वाले सरल=अधःप्रदेशों में (निचक्रया) स्वचक्र को वशीभूत करते हुए (यान्ति) चलते हैं ॥२९॥

भावार्थः—जो हिमालय आदि उच्च प्रदेश और जो समुद्रपर्यन्त निम्न प्रदेश हैं उन सब प्रदेशों में पदार्थविद्यावेत्ता योद्धाओं का रथचक्र अव्याहत-

गति होता है अर्थात् उनके जलयान, पृथ्वीयान तथा नभोयानादि यानों को कोई प्रतिपक्षी रोक नहीं सकता ॥२९॥

कदा गच्छाथ मरुत इत्था विप्रं हवमानम् ।

मार्डीकेभिर्नाधमानम् ॥३०॥

पदार्थः—(मरुतः) हे योद्धाओ ! (इत्था) इस प्रकार (हवमानम्) बुलाते हुए (नाधमानम्) आपके आगमन की याचना करते हुए (विप्रम्) मेधावी पुरुष के यहां (मार्डीकेभिः) सुखसाधन पदार्थों सहित आप (कदा, गच्छाथ) कब जाते हैं ? ॥३०॥

भावार्थः—इस मंत्र में नाना प्रकार की विद्याओं को जानने वाले मरुत् =विद्वान् योद्धाओं के आगमन की प्रतीक्षा का वर्णन किया गया है कि हे मरुद्गण ! आप सुखसामग्री सहित कब जाते हैं अर्थात् शीघ्र जायें ॥३०॥

कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन ।

को वः सखित्व ओहते ॥३१॥

पदार्थः—(कधप्रियः) हे प्राचीनकथाओं में प्रेम रखनेवाले आपका वह समय (कद्ध) कौन है (यद्) जब आप (इन्द्रम्) अपने सम्राट् को (अजहातन, नूनम्) निश्चय छोड़ देते हो (वः, सखित्वे) और आपके मैत्रीभाव की (कः, ओहते) कौन याचना कर सकता है !॥३१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में यह भाव वर्णन किया है कि उत्तम योद्धा वह है जो कठिन से कठिन आपत्काल प्राप्त होने पर भी अपने सम्राट् का साथ नहीं छोड़ते अर्थात् विपत्तिकाल में भी जीवन की आशा न करते हुए राष्ट्र की रक्षा करते हैं ॥३१॥

सहो षु णो वज्रहस्तैः कण्वासो अग्निं मरुद्भिः ।

स्तुषे हिरण्यवाशीभिः ॥३२॥

पदार्थः—(कण्वासः) हे विद्वानो ! आप (मरुद्भिः) उन योद्धाओं के (सहो) साथ (नः) हमारे (अग्निम्) अग्निसदृश सम्राट् की (सु, स्तुषे) सुन्दर रीति से स्तुति करें जो योद्धा लोग (वज्रहस्तैः) हाथ में वज्रसदृश शस्त्र तथा (हिरण्यवाशीभिः) सुवर्णमय यष्टि वा शस्त्रिकाओं को लिये हुए हैं ॥३२॥

भावार्थः—जिस सम्राट् के उक्त आपत्काल में भी त्याग न करने वाले आज्ञाकारी योद्धा हैं, वह सदैव सूर्य के समान देदीप्यमान रहता है

अर्थात् उसके राज्यश्रीरूप प्रकाश को कदापि कोई दबा वा छिपा नहीं सकता ॥३२॥

ओ षु वृष्णः प्रयज्यूना नव्यसे सुविताय ।

ववृत्यां चित्रवाजान् ॥३३॥

पदार्थः—(वृष्णः) कामनाओं की वर्षा करने वाले (प्रयज्यून्) अतिशय पूज्य (चित्रवाजान्) अद्भुत बलवाले योद्धाओं को (नव्यसे, सुविताय) नित्यनूतन धनप्राप्ति के लिए (आ, उ) अपने अभिमुख (आववृत्याम्) में आवर्तित करूं ॥३३॥

भावार्थः—जो सम्राट् न्यायशील तथा धर्मपरायण है उसको परमात्मा कामनाओं की वर्षा करनेवाले, अद्भुत बलवाले तथा सदा निर्भीक योद्धा प्रदान करता है ॥३३॥

गिरयश्चिन्नि जिहते पर्शानासो मन्यमानाः ।

पर्वताश्चिन्नि येमिरे ॥३४॥

पदार्थः—(पर्शानासः) उनके सताये हुए (मन्यमानाः) अभिमान वाले (गिरयः, चित्) पर्वत भी (निजिहते) कांप उठते हैं, क्योंकि (पर्वताः, चित्) वह पर्वत भी (नियेमिरे) उनके नियम से बंधे होते हैं ॥३४॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि उपर्युक्त निर्भीक योद्धाओं के बलपूर्ण प्रहार से मानो पर्वत भी कांपने लगते हैं अर्थात् विषम और अतिदुर्गम प्रदेश भी उनके आक्रमण से नहीं बच सकते, या यों कहो कि जल, स्थल तथा निम्नोन्नत सब प्रदेशों में उनका पूर्ण प्रभुत्व होता है ॥३४॥

आक्ष्णयावानो वहन्त्यन्तरिक्षेण पततः ।

धातारः स्तुवते वयः ॥३५॥

पदार्थः—(पततः) चलते हुए योद्धाओं को (अक्ष्णयावानः) अतिवेगवाले रथ (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्षमार्ग से (वहन्ति) ले जाते हैं और (स्तुवते) अनुकूल प्रजा को (वयः) अन्नादि आवश्यक पदार्थ (धातारः) पुष्ट करते हैं ॥३५॥

भावार्थः—जिन योद्धाओं को उनके यान नभोमण्डल द्वारा प्रवाहण करते हैं, वे योद्धा यश और ऐश्वर्यादि सब प्रकार के सुख सम्पादन करते हैं अर्थात् उनकी प्रजा उनके अनुकूल होने से वे सब प्रकार के सुख भोगते हैं ॥३५॥

अब उक्त गुणसम्पन्न योद्धाओं से सम्पन्न सम्राट् का
यश वर्णन करते हैं ॥

अग्निर्हि जानि पूर्व्यश्छन्दो न सूरो अर्चिषा ।
ते भानुभिर्वि तस्थिरे ॥३६॥

पदार्थः—(अर्चिषा, सूरः, न) जिस प्रकार किरणों के हेतु से सूर्य प्रथम स्तोतव्य माना जाता है इसीप्रकार (अग्निः, हि) अग्निसदृश सम्राट् ही (पूर्व्यः, छन्दः) प्रथम स्तोतव्य (जानि) होता है (ते) और वे योद्धालोग ही (भानुभिः) उसकी किरणों के समान (वितस्थिरे) उपस्थित होते हैं ॥३६॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि उक्त प्रकार के योद्धा जिस सम्राट् के वशवर्ती होते हैं, उसका तेज सहस्रांशु सूर्य के समान दशों दिशाओं में फैलकर अन्यायरूप अन्धकार को निवृत्त करता हुआ सम्पूर्ण संसार का प्रकाशक होता है ॥

अष्टम मण्डल में यह सातवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोविंशत्यृचस्य अष्टमसूक्तस्य—१–२३ सध्वंसः काण्व ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः–१–३, ५, ६, १२, १४, १५, १८–२०, २२ निचृदनुष्टुप् । ४, ७, ८, १०, ११, १३, १७, २१, २३ आर्षी विराडनुष्टुप् । ६, १६, अनुष्टुप् ॥ गान्धारः स्वरः ॥

अब क्षात्रधर्म का वर्णन करते हुए सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष
का कर्तव्य कथन करते हैं ॥

आ नो विश्वाभिरूतिभिरश्विना गच्छतं युवम् ।
दस्रा हिरण्यवर्तनी पिबतं सोम्यं मधु ॥१॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक सेनाध्यक्ष और सभाध्यक्ष ! (युवम्) आप (विश्वाभिः, ऊतिभिः) सब प्रकार की रक्षाओं सहित (नः) हमारे समीप (आगच्छतम्) आवें । (दस्रा) हे शत्रुनाशक (हिरण्यवर्तनी) सुवर्ण से व्यवहार करने वाले ! (सोम्यम्) इस सोमसम्बन्धी (मधु) मधुररस को (पिबतम्) पान करें ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्वप्रदिष्ट क्षात्रधर्म का वर्णन करते हुए याज्ञिक पुरुषों का कथन है कि हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप हमारे यज्ञ को

प्राप्त होकर हमारी सब प्रकार हे रक्षा करें; हे ऐश्वर्यसम्पन्न ! आप हमारे सहायक होकर यज्ञ को पूर्ण करें और हमारा यह सोमरसपानसम्बन्धी सत्कार स्वीकार करें ॥१॥

आ नूनं यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा ।

भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा ॥२॥

पदार्थः—(भुजी) हे उत्कृष्ट पदार्थों का भोग करने वाले, (हिरण्यपेशसा) हिरण्यभूषित, (कवी) सूक्ष्मपदार्थों के जानने वाले, (गम्भीरचेतसा) गंभीरबुद्धिवाले, (अश्विना) व्यापक आप ! (सूर्यत्वचा) सूर्यसदृश आस्तरण वाले (रथेन) रथ द्वारा (नूनम्) निश्चय (आयातम्) आवें ॥२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष की प्रशंसा करते हुए उनका आह्वान कथन किया है कि हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप कवी=प्रकृति के कार्य्यजात सूक्ष्मपदार्थों के ज्ञाता, बुद्धिमान् और विस्तृत ऐश्वर्य्य वाले हैं, कृपाकरके हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर अपने उपदेश द्वारा हमें भी उक्त गुणसम्पन्न करें ॥२॥

आ यातं नहुषस्पर्यान्तरिक्षात्सुवृक्तिभिः ।

पिबाथो अश्विना मधु कण्वानां सवने सुतम् ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक ! आप (नहुषस्परि) भूलोक से (आयातम्) आवें तथा (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से (सुवृक्तिभिः) शत्रुओं का तिरस्कार करने वाले (आ) आवें; (कण्वानां) विद्वानों के (सवने) यज्ञ में (सुतम्) सिद्ध किए हुए (मधु) मधुर रस को (पिबाथः) पान करें ॥३॥

भावार्थः—व्यापक=हे सर्वत्र प्रसिद्ध सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप सबको वशीभूत करने वाले तथा विद्या के मार्गप्रदर्शक हैं, आप हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर लौकिक तथा पारलौकिक विद्या का उपदेश करें ॥३॥

आ नो यातं दिवस्पर्यान्तरिक्षादधप्रिया ।

पुत्रः कण्वस्य वामिह सुषाव सोम्यं मधु ॥४॥

पदार्थः—(अधप्रिया) हे मध्यदेशप्रिय सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! (दिवस्परि) द्युलोक से (नः, आयातम्) आप हमारे पास आइये तथा (अन्तरिक्षात्, आ) अन्तरिक्ष से आइये । (इह) इस यज्ञसदन में (कण्वस्य, पुत्रः) विद्वान् का पुत्र (वाम्) आपके लिये (सोम्यम्, मधु) शोभन मधुर रस को (सुषाव) सिद्ध कर रहा है ॥४॥

भावार्थः—हे यानों द्वारा अन्तरिक्ष में गमन करने वाले सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप अन्तरिक्ष से हम विद्वानों के यज्ञ को प्राप्त होकर हमारा सत्कार स्वीकार करें और हमको अन्तरिक्षलोकस्थ विद्या का उपदेश करके कृतार्थ करें ॥४॥

आ नो यातमुपश्रुत्यश्विना सोमपीतये ।

स्वाहा स्तोमस्य वर्धना प्र कवी धीतिभिर्नरा ॥५॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक ! (नः, उपश्रुति) हमारे यज्ञ में (सोमपीतये) सोमपान के लिए (आयातम्) आयें; आप (स्वाहा) वेद वाणी से (स्तोमस्य) स्तुतिकर्ता के (प्रवर्धना) बढ़ाने वाले (कवी) सूक्ष्मद्रष्टा तथा (धीतिभिः) अपनी प्रज्ञा से (नरा) संसार को चलाने वाले हैं ॥५॥

भावार्थः—हे सर्वत्र सुविख्यात सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप बुद्धिमान्, सूक्ष्मद्रष्टा और वेदविद्या के ज्ञाता हैं; सो हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर हमको वेदविद्या का उपदेश करें ॥५॥

यच्चिद्धि वां पुर ऋषयो जुहूरेऽवसे नरा ।

आ यातमश्विना गतमुपेमां सुष्टुतिं मम ॥६॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक ! (यत्, चित्, हि) जब (पुरा) पूर्वकाल में (ऋषयः) विद्वान् लोग (वाम्) आपको (अवसे) रक्षा के लिये (जुहूरे) आह्वान करते थे तब आप (आयातम्) आते थे । इसी प्रकार (मम, सुष्टुतिम्) मेरी सुन्दरस्तुति के (आ) अभिमुख (उपगतम्) आइये ॥६॥

भावार्थः—हे सर्वत्र प्रसिद्ध सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप पूर्वकाल की न्याईं हमारे विद्यावृद्धिविषयक यज्ञोत्सव में आकर रक्षा करें और धन-धान्य से सहायता प्रदान करें ताकि हमारा यज्ञ पूर्ण हो ॥६॥

दिवश्चिद्रोचनादध्या नो गन्तं स्वर्विदा ।

धीभिर्वत्सप्रचेतसा स्तोमेभिर्हवनश्रुता ॥७॥

पदार्थः—(स्वर्विदा) हे द्युलोक की गति जानने वाले (धीभिः, वत्सप्रचेतसा) अपनी बुद्धि से वत्ससदृश प्रजा के गुप्तरहस्य जानने वाले (स्तोमेभिः, हवनश्रुता) स्तुतियों द्वारा हवनादि कर्म जानने वाले आप (रोचनात्, दिवः, चित्) रोचमान द्युलोक से (नः) हमारे समीप (अध्यागन्तम्) शीघ्र आयें ॥७॥

भावार्थः—हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष! आप सब लोक-लोकान्तरों की विद्या, प्रजा के गुप्त रहस्य, यज्ञादि कर्म और वेदविद्या को भले प्रकार जानने वाले हैं; कृपाकरके हमारे यज्ञ में आवें और हम लोगों को उक्त विद्याओं का उपदेश करें ॥७॥

किमन्ये पर्यासतेऽस्मत्स्तोमेभिरश्विना।

पुत्रः कण्वस्य वामृषिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् ॥८॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक! (अस्मत्, अन्ये) हम लोगों से अन्य उपासक (किम्) क्या (स्तोमेभिः) स्तोत्रों द्वारा (पर्यासते) आप का परिचरण करते हैं? (कण्वस्य, पुत्रः) यह विद्वान् का पुत्र (ऋषिः) सूक्ष्मद्रष्टा (वत्सः) वत्सतुल्य उपासक (वाम्) आपको (गीर्भिः) यशःप्रकाशक वाणियों द्वारा (अवीवृधत्) बढ़ा रहा है ॥८॥

भावार्थः—हे सर्वत्र विख्यात सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष! हम लोग आपका सब से अधिक सत्कार करते और आपके यश का विस्तार करते हैं, इसलिये आप हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर वेदविद्या का उपदेश करें ॥८॥

आ वां विप्र इहावसेऽह्वत्स्तोमेभिरश्विना।

अरिप्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं मयोभुवा ॥९॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक! (अरिप्रा) निष्पाप (वृत्रहन्तमा) शत्रुनाशक (वाम्) आपको (विप्रः) उपासक ने (इह) यहां यज्ञ में (अवसे) रक्षा के लिये (स्तोमेभिः) स्तोत्रों द्वारा (आह्वत्) बुलाया है, (ता) वह आप (नः) हमारे लिये (मयोभुवा) सुखप्रद (भूतम्) हों ॥९॥

भावार्थः—हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष! आप पाप से रहित, शत्रुनाशक तथा यज्ञों के रहस्य को जानने वाले हैं; हम लोग स्तोत्रों द्वारा आपका आह्वान करते हैं, कृपाकरके यहां यज्ञ में सम्मिलित हों ॥९॥

आ यद्वां योषणा रथमतिष्ठद्वाजिनीवसू।

विश्वान्यश्विना युवं प्र धीतान्यगच्छतम् ॥१०॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू) हे सेनारूप धनवाले! (यत्) जब (वाम्) आपके (रथम्) रथपर (योषणा) विजयलक्ष्मीरूप स्त्री (आतिष्ठत्) चढ़ जाती है तब (अश्विना) हे व्यापक! (युवम्) आप (विश्वानि, प्रधीतानि) सकल अभिलषितों को (प्रगच्छतम्) पा जाते हैं ॥१०॥

भावार्थः—हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप पर्याप्तकाम होने से आपकी सब इच्छा पूर्ण हैं; हे भगवन् ! आप हमारी कामनाओं की पूर्ति के लिए भी यत्नवान् हों, यह प्रार्थना है ॥१०॥

अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना ।

वत्सो वां मधुमद्वचोऽशंसीत्काव्यः कविः ॥११॥

पदार्थः—(अतः) इस हेतु (अश्विना) हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! (सहस्रनिर्णिजा) अनेक रूपों वाले (रथेन) रथद्वारा (आयातम्) आप आयें; (वत्सः) आपका वत्स (काव्यः) कविपुत्र (कविः) स्वयं भी कवि यह उपासक (वाम्) आपकी स्तुतिसम्बन्धी (मधुमद्वचः) मधुरवाणियों को (अशंसीत्) कह रहा है ॥११॥

भावार्थः—हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप अपने विचित्र यान द्वारा हमारे यज्ञ को प्राप्त हों; सब विद्वान् पुरुष मधुर वाणियों द्वारा आपका स्तवन कर रहे हैं ॥११॥

पुरुमन्द्रा पुरूवसू मनोतरा रयीणाम् ।

स्तोमं मे अश्विनाविममभि वह्नी अनूषाताम् ॥१२॥

पदार्थः—(पुरुमन्द्रा) हे अति आनन्द वाले (पुरूवसू) अति धनवाले (रयीणाम्) धनों के (मनोतरा) अत्यन्त ज्ञान वाले (अश्विनौ) व्यापक शक्ति वाले (वह्नी) जगत् के वोढा ! आप (इमं, मे, स्तोमम्) इस मेरे स्तोत्र को (अभ्यनूषाताम्) प्रशंसनीय करें ॥१२॥

भावार्थः—हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप आनन्दयुक्त, बहुधनों के स्वामी तथा धनोपार्जन की विद्या जानने वाले, सर्वपूज्य=सत्कारार्ह हैं; हे भगवन् ! हमारे इन स्तुतिप्रद वाक्यों को श्रवण करते हुए हमारे यज्ञ में आकर इसको सफलीभूत करें ॥१२॥

आ नो विश्वान्यश्विना धत्तं राधांस्यह्रया ।

कृतं न ऋत्वियावतो मा नो रीरधतं निदे ॥१३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! (नः) मुझे (विश्वानि) सब प्रकार के (अह्रया) लज्जा के अनुत्पादक (राधांसि) धनों को (आधत्तम्) दें, और (नः) मुझे (ऋत्वियावतः) सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले पदार्थों से (कृतम्) युक्त करें; (निदे) निन्दक के लिए (नः) मुझे (मा) मत (रीरधतम्) समर्पित करें ॥१३॥

भावार्थः—हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप हम को उत्तमोत्तम धनों के उपार्जन करने की विधि का उपदेश करें जिससे हम धनसम्पन्न हों; और आप ऐसी कृपा करें कि वेदों के ज्ञाता सत्पुरुषों से ही हमारा सम्बन्ध तथा व्यवहार हो; लम्पट, निन्दक, अनृतभाषी तथा वेदमर्यादा से च्युत पुरुषों से हमारा सम्बन्ध न हो ।।१३।।

यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अध्यम्बरे ।

अतः सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना ।।१४।।

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिन् ! (यत्) यदि आप (परावति) दूरदेश में (यद्, वा) अथवा (अध्यम्बरे) अन्तरिक्षप्रदेश में (स्थः) हों (अश्विना) हे व्यापकशक्ति वाले (अतः) इन सब स्थानों से (सहस्रनिर्णिजा, रथेन) अनेकरूपवाले यान द्वारा (आयातम्) आवें ।।१४।।

भावार्थः—हे सत्यादि गुणसम्पन्न सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप चाहे कहीं भी क्यों न हों, कृपाकरके सब स्थानों से अपने विचित्र यान द्वारा हमारे यज्ञ में आकर सुशोभित हों और हमें विविध विद्याओं का उपदेश करें ।।१४।।

यो वां नासत्यावृषिर्गीर्भिर्वत्सो अवीवृधत् ।

तस्मै सहस्रनिर्णिजमिषं धत्तं घृतश्चुतम् ।।१५।।

पदार्थः—(नासत्यौ) हे सत्यवादियो ! (यः, वत्सः, ऋषिः) जो पुत्रसदृश विद्वान् (वाम्) आपको (गीर्भिः) स्तुति वाणियों द्वारा (अवीवृधत्) बढ़ाये (तस्मै) उसके लिये (घृतश्चुतम्) स्नेहवर्धक (सहस्रनिर्णिजम्) अनेक प्रकार के (इषम्) अन्न वा धन को (धत्तम्) उत्पन्न करें ।।१५।।

भावार्थः—हे सत्यवादी सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्षो ! जो पुत्रसदृश विद्वान् आपका स्तवन करते हुए आपको विख्यात करते हैं वे आपको अपने यज्ञ में आह्वान कर रहे हैं; आप यज्ञ को प्राप्त होकर अन्न तथा धन के दान द्वारा उनको कृतकृत्य करें ।।१५।।

प्रास्मा ऊर्जं घृतश्चुतमश्विना यच्छतं युवम् ।

यो वां सुम्नाय तुष्टवद्वसूयाद्दानुनस्पती ।।१६।।

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक (दानुनस्पती) दान देने में स्वतन्त्र ! (युवम्)

आप (अस्मै) उसके लिये (ऊर्जम्) बलोत्पादक (घृतश्चुतम्) स्नेहवर्धक इष्ट पदार्थ को (प्रयच्छतम्) दें (यः) जो (सुम्नाय) सुखके लिए (तुष्टवत्) आपकी स्तुति करता अथवा (वसूयात्) धन की कामना करता है ॥१६॥

भावार्थः—हे दानशील सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप यजमान के लिए उत्तमोत्तम इष्ट पदार्थ प्रदान करें जो आपके प्रति धन की कामना करता है ॥१६॥

आ नो॑ गन्तं रिशादसे॒मं स्तोमं॑ पुरुभुजा ।
कृ॒तं नः॑ सु॒श्रियो॒ नरे॒मा दा॑तम॒भिष्ट॑ये ॥१७॥

पदार्थः—(रिशादसा) हे शत्रुओं को भगाने वाले (पुरुभुजा) बहुत रत्नों के भोक्ता (नरा) नेता ! आप (इमम्) इस (नः स्तोमम्) हमारे स्तोत्र के (आ) अभिमुख (गन्तम्) आवें; (नः) हमको (सुश्रियः) शोभनश्रीयुक्त (कृतम्) करें; (अभिष्टये) यज्ञ के अर्थ (इमा) इन भौतिक पदार्थों को (दातम्) दें ॥१७॥

भावार्थः—हे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप हमारे यज्ञ की पूर्त्यर्थ उत्तमोत्तम पदार्थ प्रदान करते हुए हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर हमें उत्साहित करें ॥१७॥

आ वां॒ विश्वा॑भिरू॒तिभिः॑ प्रि॒यमे॑धा अहूषत ।
राज॑न्तावध्व॒रा॒णा॒मश्वि॑ना॒ याम॑हूतिषु ॥१८॥

पदार्थः—(अध्वराणाम्, राजन्तौ) हे हिंसारहित यज्ञादि कर्मों के स्वामी (अश्विना) सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! (विश्वाभिः, ऊतिभिः) सब प्रकार की रक्षाओं के सहित (वाम्) आपको (प्रियमेधाः) यज्ञप्रिय मनुष्य (यामहूतिषु) यज्ञों में (आहूषत) आह्वान करते हैं ॥१८॥

भावार्थः—हे यज्ञादि कर्मों के नेता सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर हमारी सब ओर से रक्षा करें ताकि हमारा यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो ॥१८॥

आ नो॑ गन्तं मयो॒भुवा॒श्विना॑ श॒म्भुवा॑ यु॒वम् ।
यो वां॑ विप॒न्यू धी॒तिभि॑र्गी॒र्भिर्व॒त्सो अवी॑वृधत् ॥१९॥

पदार्थः—(मयोभुवा) हे सुखोत्पादक (शम्भुवा) शान्त्युत्पादक (अश्विना) बल द्वारा सर्वत्र विद्यमान के समान (नः) हमारे समीप (आगन्तम्) आवें; (विपन्यू) हे

व्यवहारकुशल ! (यः, वत्सः) जो वत्स सदृश पालनीय हम लोग (धीतिभिः) कर्मों द्वारा और (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (वाम्) आपको (अवीवृधत्) बढ़ाते हैं ॥१९॥

भावार्थः— हे शान्ति तथा सुखोत्पादक सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप हमारे यज्ञ को प्राप्त हों, हम लोग आपकी वृद्धचर्थ वेदवाणियों द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ॥१९॥

याभिः काण्वं मेधातिथिं याभिर्वशं दशं व्रजम् ।

याभिर्गोशर्यमावतं ताभिर्नोऽवतं नरा ॥२०॥

पदार्थः—(नरा) हे नेताओ ! (याभिः) जिन रक्षाओं द्वारा (मेधातिथिम्, कण्वम्) पवित्र अतिथि वाले विद्वान् की (याभिः) और जिन रक्षाओं से (वशम्, दशव्रजम्) इन्द्रियों को वश में रखने वाले शरीरी की (याभिः) और जिनसे (गोशर्यम्) नष्टेन्द्रिय की (आवतम्) रक्षा की (ताभिः) उन्हीं रक्षाशक्तियों से (नः) मुझे (अवतम्) सुरक्षित करें ॥२०॥

भावार्थः—हे धार्मिक नेता सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! जैसे आप विद्वानों की, योगिजनों की और नष्ट इन्द्रियादि अधिकारियों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार हमारी भी रक्षा करें ताकि आपके आधिपत्य में हमारा विद्या-वर्धक यज्ञ पूर्ण हो ॥२०॥

याभिर्नरा त्रसदस्युमावतं कृत्व्ये धने ।

ताभिः ष्व१स्माँ अश्विना प्रावतं वाजसातये ॥२१॥

पदार्थः—(अश्विना, नरा) हे बलवान् नेता सेनापति तथा सभाध्यक्ष ! (धने, कृत्व्ये) धनोत्पादन करने के लिए (याभिः) जिन रक्षाओं से (त्रसदस्युम्) दस्युभय-कारक शूरवीर को (आवतम्) सुरक्षित किया (ताभिः) तिन रक्षाओं द्वारा (वाजसातये) धनप्राप्ति के लिए (अस्मान्) हमको (सु) भलेप्रकार (प्रावतम्) सुरक्षित करें ॥२१॥

भावार्थः—हे बलवान् शूरवीर सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! जिन शक्तियों से आप दस्यु आदि वेदविरोधी जनों से भय को प्राप्त शूरवीरों की रक्षा करते हैं, उन्हीं शक्तियों से आप हमारी रक्षा करें ताकि हम निर्विघ्न धनोपार्जन में तत्पर रहें ॥२१॥

प्र वां स्तोमाः सुवृक्तयो गिरो वर्धन्त्वश्विना ।

पुरुत्रा वृत्रहन्तमा ता नो भूतं पुरुस्पृहा ॥२२॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक ! (सुवृक्तयः) सुन्दर निर्माण किये हुए (स्तोमाः, गिरः) स्तुति वाक्य (वाम्) आपको (वर्धन्तु) बढ़ायें; (पुरुत्रा) हे बहुतों के रक्षक ! (वृत्रहन्तमा) शत्रुओं के अतिशय विघातक (तौ) वह आप (नः) हमारे (पुरुस्पृहा) अतिशय स्पृहणीय (भूतम्) हों ॥२२॥

भावार्थः—हे सर्वत्र प्रसिद्ध सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष हम लोग वेदवाणियों द्वारा आपकी वृद्धि की प्रार्थना करते हैं, हे सर्वरक्षक ! आप हमारे समीप हों ताकि हम अपने इष्ट कामों को निर्विघ्न समाप्त कर सकें ॥२२॥

त्रीणि पदान्यश्विनोराविः सन्ति गुहा परः ।
कवी ऋतस्य पत्मभिरर्वाग्जीवेभ्यस्परि ॥२३॥

पदार्थः—(अश्विनोः) सेनाध्यक्ष और सभाध्यक्ष के (त्रीणि, पदानि) विजय, शान्तिस्थापन तथा न्यायकरण—ये तीन पद (गुहा, परः) गुहाप्रविष्ट के समान गूढ़ (आविः, सन्ति) पीछे कार्यकाल में प्रकट हो जाते हैं। (कवी) वे दोनों विद्वान् (जीवेभ्यः, परि) सब प्रजाओं के ऊपर (ऋतस्य, पत्मभिः) सत्य के मार्ग से (अर्वाक्) अभिमुख हों ॥२३॥

भावार्थः—हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! विजय, शान्ति तथा न्याय से सुभूषित आप विद्वानों और अन्य सब प्रजाजनों की रक्षा में सत्य का अवलम्बन करते हुए प्रवृत्त हों अर्थात् सत्य के आश्रित होकर ही प्रजा का रक्षण तथा शासन करें।

अष्टम मण्डल में यह आठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकविंशत्यृचस्य नवमसूक्तस्य—१, २१ शशकर्णः काण्व ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः–१, ४, ६ बृहती । १४, १५ निचृद्बृहती । २, २० गायत्री । ३, २१ निचृद् गायत्री । ११ त्रिपाद् विराड्गायत्री । ५ उष्णिक् ककुप् । ७, ८, १७, १९ अनुष्टुप् । ९ पादनिचृदनुष्टुप् १३ । निचृदनुष्टुप् । १६, आर्ची अनुष्टुप् । १८ विराडनुष्टुप् । १० आर्षी निचृत् पंक्तिः । १२ जगती ॥ स्वरः–१, ४, ६, १४, १५ मध्यमः । २, ३, ११, २०, २१ षड्जः । ५ ऋषभः । ७–९, १३, १६–१९ गान्धारः । १० पञ्चमः । १२ निषादः ॥

अब सेनापति तथा सभाध्यक्ष का आह्वान और उनसे प्रार्थना करना कथन करते हैं ॥

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे ।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु छर्दिर्युयुतं या अरातयः ॥१॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनापति और सभाध्यक्ष ! (युवम्) आप (नूनम्) निश्चय (वत्सस्य) वत्सतुल्य प्रजा की (अवसे) रक्षा के लिए (आगन्तम्) आवें (अस्मै) और इस प्रजा को (अवृकम्)बाधारहित (पृथु) विस्तीर्ण (छर्दिः) गृह को (प्रयच्छतम्) दें और (याः) जो (अरातयः) इसके शत्रु हों उनको (युयुतम्) दूर करें ॥१॥

भावार्थः—इस मंत्र में यह कथन है कि हे सेनापति तथा सभाध्यक्ष ! आप हमारे प्रजारक्षणरूप यज्ञ में आकर क्षात्रधर्मरूप सुप्रबन्ध द्वारा प्रजा को सब बाधाओं से रहित कर सुखपूर्ण करें; उनके निवासार्थ उत्तम गृह में सुवास दें और प्रजा को दुःख देनेवाले दुष्टों का निवारण करें ॥१॥

यद॒न्तरि॑क्षे॒ यद्दि॒वि यत्पञ्च॒ मानु॑षाँ॒ अनु॑ ।
नृ॒म्णं तद्ध॑त्तमश्विना ॥२॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक ! (यत्, नृम्णम्) जो धन (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षलोक में, (यत्, दिवि) जो द्युलोक में, (यत्, पञ्च, मानुषान्, अनु) जो पांच मनुष्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद में है, (तत्, धत्तम्) वह, इस प्रजा को दें ॥२॥

भावार्थः—हे सर्वत्र प्रसिद्ध सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप ऐश्वर्यसम्पन्न होने के कारण प्रजापालन करने में समर्थ हैं, सो हे भगवन् ! उक्त स्थानों से धन लेकर धनहीन प्रजा को सम्पन्न करें ॥२॥

ये वां॒ दंसां॑स्यश्विना॒ विप्रा॑सः परिमामृ॒शुः ।
ए॒वेत्का॒ण्वस्य॑ बोधतम् ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक बलवाले ! (ये, विप्रासः) जो विद्वान् (वाम्, दंसांसि) आपके कर्मों का (परिमामृशुः) परिचरण करते हैं (काण्वस्य) विद्वानों के कुल में उत्पन्न हुए हम लोगों को भी(एव, इव)उसी प्रकार(बोधतम्) जानना ॥३॥

भावार्थः—हे बलसम्पन्न सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! जिस प्रकार आप विद्वानों का पालन, पोषण तथा रक्षण करते हैं उसी प्रकार विद्वानों के कुल में उत्पन्न हम लोगों की भी रक्षा करें जिससे हम लोग वेदविद्या के सम्पादन द्वारा याज्ञिककर्मों में प्रवृत्त रहें ॥३॥

अ॒यं वां॑ घ॒र्मो अ॑श्विना॒ स्तोमे॑न॒ परि॑ षिच्यते ।
अ॒यं सोमो॒ मधु॑मान्वाजिनीवसू॒ येन॑ वृ॒त्रं चिके॑तथः ॥४॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष! (अयम्) यह (वाम्) आपका (घर्मः) युद्धादि कार्य के प्रारम्भ का दिवस (स्तोमैः) स्तोत्रों द्वारा (परिषिच्यते) उत्साहवर्धक किया जाता है। (वाजिनीवसू) हे बलयुक्त सेनारूप धनवाले! (अयम्, मधुमान्, सोमः) यह मधुर सोम है (येन) जिससे आप (वृत्रम्) अपने शत्रु को (चिकेतथः) जानते हैं ॥४॥

भावार्थः—हे बलसम्पन्न सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष! हम लोग युद्ध के प्रारम्भ में स्तोत्रों द्वारा आपके विजय की प्रार्थना करते हैं; आप इस सोमरस को पान करके शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें ॥४॥

यद॒प्सु यद्वन॒स्पतौ॒ यदोष॑धीषु पुरुदंससा कृ॒तम् ।

तेन॑ माविष्टमश्विना ॥५॥

पदार्थः—(पुरुदंससा) हे अनेक कर्मों वाले! (यत्, अप्सु) जो पौरुष आपने जलों में, (यद्, वनस्पतौ) जो वनस्पतियों में, (यत्, ओषधीषु) और जो रसाधार अन्नों में (कृतम्) प्रकट किया है (तेन) उस पौरुष से (मा) मुझे (अविष्टम्) सुरक्षित करें ॥५॥

भावार्थः—हे पौरुषसम्पन्न सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष! आपने जो पौरुष जलों तथा वनस्पतियों की विद्या जानने में किया है और उनके द्वारा आप अन्नों के संग्रह में सर्वप्रकार कुशल हैं, कृपाकरके आप अपने उपदेश द्वारा हमें भी उक्त विद्याओं से सम्पन्न करें जिससे हम अन्नवान् और अन्न के भोक्ता हों ॥५॥

यन्ना॑सत्या भु॒रण्यथो॒ यद्वा॑ देव भिष॒ज्यथः॑ ।

अ॒यं वां॑ व॒त्सो म॒तिभि॒र्न वि॑न्धते ह॒विष्म॑न्तं॒ हि गच्छ॑थः ॥६॥

पदार्थः—(नासत्या, देव) हे सत्यकर्मवाले देव! (यद्, भुरण्यथः) जो आप सबका पोषण करते (यद्, वा) और जो (भिषज्यथः) दण्ड द्वारा अथवा ओषधि द्वारा प्रजा को शान्त और नीरोग करते हैं ऐसे आपको (अयम्, वाम्, वत्सः) यह आपकी वत्सरूप प्रजा (मतिभिः) केवल स्तुतियों से (न, विन्धते) नहीं पासकती (हि) क्योंकि आप (हविष्मन्तम्) ऐश्वर्यवान् के समीप ही (गच्छथः) जाते हैं ॥६॥

भावार्थः—हे सत्यवादी सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष! आप शासन तथा सहायता द्वारा सम्पूर्ण प्रजा को सन्तुष्ट रखते हैं; आप ऐसी कृपा करें कि हम लोग आपको प्राप्त होकर अपनी आवश्यकताओं को आप पर प्रकट कर

सकें, और आपके समीपी होकर उत्तम शिक्षाओं द्वारा उच्च पद को प्राप्त हों ॥६॥

आ नूनमश्विनोर्ऋषिः स्तोमं चिकेत वामया।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥७॥

पदार्थः—(ऋषिः) विद्वान् पुरुष (अश्विनोः, स्तोमम्) उन सेनाध्यक्ष सभाध्यक्ष के स्तोत्रों को (वामया) अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से (नूनम्) निश्चय (आचिकेत) जाने; (मधुमत्तमम्) अतिमधुर (घर्मम्, सोमम्) यज्ञीय सोमरस को (अथर्वणि) हिंसारहित यज्ञकर्मों में (आसिञ्चात्) आसिक्त=सिद्ध करें ॥७॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि सब नीतिज्ञ विद्वान् पुरुष क्षात्रबल=राजमर्यादा को भलेप्रकार जानें ताकि राजनियम के विरुद्ध चलकर दण्ड के भागी न हों और राजकीय पुरुषों का उत्तमोत्तम पदार्थों द्वारा सत्कार करें जिससे सर्वत्र सत्कारार्ह सिद्ध हों ॥७॥

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥८॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक बलवाले ! आप (रघुवर्तनिम्) शीघ्रगामी (रथम्) रथ पर (नूनम्)निश्चय (आतिष्ठाथः) आरूढ़ हों; (इमे, मम, स्तोमाः) ये मेरे स्तोत्र (नभः, न) सूर्यसदृश (वाम्) आपको (आचुच्यवीरत) अभिमुख आह्वान कर रहे हैं ॥८॥

भावार्थः—हे बलवान् सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप अपने शीघ्रगामी देदीप्यमान रथ पर चढ़कर हमारे यज्ञ को प्राप्त हों, हम स्तोत्रों द्वारा आपका आह्वान करते हैं ॥८॥

यदद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि।
यद्वा वाणीभिरश्विनेवेत्काण्वस्य बोधतम् ॥९॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिन् (यत्, अद्य) जो इस समय (वाम्) आपको (उक्थेभिः) वेदवाणियों से (आचुच्युवीमहि) आह्वान करें, (यद्, वा, अश्विना) हे व्यापकशक्ति वाले ! (वाणीभिः) जो संकल्पित वाणियों द्वारा आह्वान करें तो (एव, इत्) निश्चय ही (काण्वस्य) विद्वानों के पुत्रों के आह्वान को (बोधतम्) आप जानें ॥९॥

भावार्थः—हे सत्यसंकल्प सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! हम विद्वान् लोग वेदों के स्तोत्रों द्वारा तथा निज वाणियों द्वारा आपका आह्वान करते हैं; आप हमारे इस भाव को जानकर अवश्य हमारे यज्ञ को प्राप्त हों ॥९॥

यद्वां कक्षीवाँ उत यद्व्यश्व ऋषिर्यद्वां दीर्घतमा जुहाव ।

पृथी यद्वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथा ॥१०॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! (यद्, वाम्) यदि आपको (कक्षीवान्) हाथ में रज्जु रखने वाला शूर (उत) अथवा (यद्, व्यश्वः, ऋषिः) जो अश्वरहित=पदाति विद्वान्, (यद्,वाम्) यदि आपको (दीर्घतमाः) तमोगुणी शूर, (यद्वाम्) और यदि आपको (पृथी, वैन्यः) तीक्ष्ण बुद्धिवाला विद्वानों का पुत्र (सादनेषु) यज्ञों में (जुहाव) आह्वान करे (अतः) तो इसको (चेतयेथाम्, एव, इत्) आप निश्चय जानें ॥१०॥

भावार्थः—हे मान्यवर सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! यदि आपको ऐश्वर्य्य-सम्पन्न तथा निर्धन विद्वान् अथवा तमोगुणी शूरवीर वा बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष आह्वान करें तो आप उनका निमन्त्रण स्वीकार कर अवश्य आवें और अपने उपदेश से इस मनुष्यसुधारक यज्ञ को पूर्ण करें ॥१०॥

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ।

वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम् ॥११॥

पदार्थः—हे व्यापकशक्तिवाले ! (नः) हमारे (छर्दिष्पौ, यातम्) गृहों की रक्षा करने वाले होकर आवें (उत) और (परस्पौ, भूतम्) शत्रु से बचाने वाले हों; (जगत्पौ) संसारपालक आप (नः, तनूपौ) हमारे शरीर के रक्षक हों; (तोकाय) पुत्र के (तनयाय) पौत्र के (वर्तिः) घर को (यातम्) आवें ॥११॥

भावार्थः—हे बलवान् सबकी रक्षा करने वाले सभाध्यक्ष तथा सेना-ध्यक्ष ! आप शत्रुओं से हमारी और हमारे गृह=अन्तःपुर की रक्षा करें, और हमारे पुत्र-पौत्रों की भी रक्षा करते हुए उन्हें विद्यादान द्वारा योग्य बनावें ॥११॥

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद्वा वायुना भवथः समोकसा ।

यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद्वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥१२॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! आप (यत्, इन्द्रेण, सरथम्,

याथः) कदाचित् सम्राट् के सहित चलते हैं (यद्, वा) अथवा कभी (वायुना) शीघ्रगामी शूर के (समोकसा) समान स्थान में (भवथः) रहते हैं (यद्, आदित्येभिः, ऋभुभिः) सत्यतायुक्त राजाओं की (सजोषसा) मैत्री के साथ रहते हैं (यद्, वा) अथवा (विष्णोः, विक्रमणेषु) सूर्य से प्रकाशित यावत् देशों में (तिष्ठथः) स्वतन्त्र विचरते हैं ॥१२॥

भावार्थः—हे श्रीमान् सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! सम्राट् के सहगामी तथा उनके समीपवर्ती होने के कारण आप हमारी अभीष्ट कामनाओं को पूर्ण करें जिससे हमारे याज्ञिक कार्य्य सफलतापूर्वक पूर्ण हों ॥१२॥

यद॒द्याश्वि॑नाव॒हं हु॒वेय॒ वाज॑सातये ।

यत्पृ॒त्सु तु॒र्वणे॒ सह॒स्तच्छ्रेष्ठ॑म॒श्विनो॒रवः॑ ॥१३॥

पदार्थः—(अश्विनौ) हे सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! (यत्, अद्य) जो इस समय (वाजसातये) युद्ध में बलप्राप्ति के लिये (अहं, हुवेय) हम आपका आह्वान करें और (यत्) जो (पृत्सु) युद्धों में (तुर्वणे) शत्रुहिंसन के लिए आह्वान करें (तत्) तो उसका यही हेतु है कि (अश्विनोः) आपका (सहः) बल (अवः) तथा रक्षण (श्रेष्ठम्) सबसे अधिक है ॥१३॥

भावार्थः—हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! यदि हमें अपनी रक्षा के लिए शत्रुओं के सन्मुख होकर युद्ध करना पड़े तो आप हमारे रक्षक हों, क्योंकि आप बलवान् होने से विद्वानों की सदैव रक्षा करने वाले हैं ॥१३॥

आ नू॒नं या॑तमश्विने॒मा ह॒व्यानि॑ वां हि॒ता ।

इ॒मे सोमा॑सो॒ अधि॑ तु॒र्वशे॒ यदा॑वि॒मे कण्वे॑षु वा॒मथ॑ ॥१४॥

पदार्थः—(अश्विना) हे व्यापक ! (नूनम्) निश्चय (आयातम्) आयें (इमा, हव्यानि) ये हव्य=भोजनार्ह पदार्थ (वाम्, हिता) आपके अनुकूल हैं; (इमे, सोमासः) यह सोमरस (तुर्वशे) शीघ्र वश करने वाले मनुष्य के यहां, (यदौ) सामान्य जन के यहां, (अथ) और (इमे कण्वेषु) ये सोमरस विद्वानों के यहां (वाम्) आपके अनुकूल सिद्ध हुए हैं ॥१४॥

भावार्थः—हे सर्वत्र विख्यात सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप हमको प्राप्त होकर हमारा सत्कार स्वीकार करें; हम लोगों ने आपके अनुकूल भोजन तथा सोमरस सिद्ध किया है; इसको स्वीकार कर हम पर प्रसन्न हों ॥१४॥

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।

तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥१५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिन् ! (यत्, भेषजम्) जो भोजनार्ह पदार्थ (पराके) दूरदेश में (अर्वाके) अथवा समीप देश में (अस्ति) वर्तमान हैं, (प्रचेतसा) हे प्रकृष्टज्ञानवाले ! (तेन) उन पदार्थों के सहित (विमदाय) मदरहित (वत्साय) अपने जन के लिए (छर्दिः) गृह को (नूनम्) निश्चय (यच्छतम्) दें ॥१५॥

भावार्थः हे सत्यवादी सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप हमको भोजन के लिये अन्नादि पदार्थों सहित वासयोग्य उत्तम गृह प्रदान करें जिसमें वास करते हुए लोग आत्मिकोन्नति में तत्पर रहें ॥१५॥

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।

व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥१६॥

पदार्थः—(अहम्) हम याज्ञिक (अश्विनोः) सेनाध्यक्ष सभाध्यक्ष की (देव्या, वाचा, सह) दिव्य स्तुति के साथ (प्राभुत्सि) प्रबुद्ध हो गये ! (देवि) हे उषादेवि ! आप (मतिम्) मेरे ज्ञान को (आ, व्यावः) सम्यक् प्रकाशित करें और (मनुष्येभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (रातिम्) दातव्य पदार्थों को (व्यावः) प्रादुर्भूत करें ॥१६॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि प्रातः उषाकाल में उठ कर दिव्य ज्योतिः की स्तुति में प्रवृत्त याज्ञिक पुरुष प्रार्थना करते हैं कि हे परमात्मन् ! हमारी पढ़ी हुई विद्या प्रकाशित हो अर्थात् फलप्रद हो, जिससे हम सब पदार्थ उपलब्ध कर सकें ॥१६॥

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि ।

प्र यज्ञहोतरानुषक्प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥१७॥

पदार्थः—(उषः) हे उषादेवि ! (अश्विना) आप सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष को (प्रबोधय) स्वोत्पत्ति काल में प्रबोधित करें; (देवि) हे देवि ! (सूनृते) सुन्दरनेत्री (महि) महत्त्वविशिष्ट आप उन्हें (प्र) प्रबोधित करें; (यज्ञहोतः) हे यज्ञों की प्रेरणा करने वाली ! (आनुषक्) निरन्तर (प्र) प्रबोधित करें; (मदाय) हर्षोत्पत्ति के लिये (बृहत्, श्रवः) बहुत धन को (प्र) प्रबोधित करें ॥१७॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव यह है कि प्रत्येक श्रमजीवी उषाकाल में जागकर स्व-स्व कार्य्य में प्रवृत्त हो। उषाकाल में प्रबुद्ध पुरुष को विद्या, ऐश्वर्य्य, हर्ष, उत्साह तथा नीरोगितादि सब महत्त्वविशिष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं ॥१७॥

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ।।१८।।

पदार्थः—(उषः) हे उषादेवि ! (यत्) जब आप (भानुना यासि) सूर्यकिरणों के साथ मिलती हो (सूर्येण, संरोचसे) और सूर्य के साथ दीप्त=लीन हो जाती हो तब (नृपाय्यम्) शूरों से रक्षित (अयम्, अश्विनोः, रथः) यह सेनापति तथा सभाध्यक्ष का रथ (वर्त्तिः, ह, याति) अपने घर को चला जाता है ।।१८।।

भावार्थः – इस मन्त्र में यह वर्णन किया है कि सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! उषाकाल से अपने रथों पर चढ़कर राष्ट्र का प्रबन्ध करते हुए सूर्योदय में घर को लौटते हैं; उनका प्रबन्ध राष्ट्र के लिए प्रशंसित होता है। इसी प्रकार जो पुरुष उषाकाल में जागकर अपने ऐहिक और पारलौकिक कार्यों को विधिवत् करते हैं वे अपने मनोरथ में अवश्य कृतकार्य्य होते हैं ।।१८।।

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः ।
यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ।।१९।।

पदार्थः—(यत्) जब (आपीतासः) पिये हुए (अंशवः) सोमरस (गावः, ऊधभिः, न) गौयें जैसे स्तनमण्डल से दूध को, उसी प्रकार (दुह्रे)उत्साह को दुहते हैं (यद्वा) अथवा (वाणीः) वेदवाणियां (अनूषत) उनकी स्तुति करती हैं तब (देवयन्तः) देवों को चाहने वाले (अश्विना) सेनापति सभाध्यक्ष (प्र) प्रजा को सुरक्षित करते हैं ।।१९।।

भावार्थः—जब योद्धा लोग सोमरस पान करके आह्लादित होते अथवा वेदवाणियाँ उनके शूरवीरतादि गुणों की प्रशंसा करती हैं तब वे योद्धा लोग उस समय गौओं के दूध-समान सब अर्थियों के अर्थ पूर्ण करने में समर्थ होते है और इसी अवस्था में सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष उनको सुरक्षित रखते हैं अर्थात् उत्साहित योद्धा लोग गौओं के दूधसमान बलप्रद होते और उन्हीं को सेनाध्यक्ष सुरक्षित रखकर अपनी विजय से उत्साहित होता है ।।१९।।

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे ।
प्र दक्षाय प्रचेतसा ।।२०।।

पदार्थः—(प्रचेतसा) हे प्रकृष्ट ज्ञान वाले ! (द्युम्नाय) उत्तम अन्न के लिए (प्र) सुरक्षा करें, (शवसे) बलार्थं (प्र) सुरक्षा करें, (नृषाह्याय, शर्मणे) मनुष्यों के

अनुकूल सुख के लिए (प्र) सुरक्षा करें (वक्षाय) चातुर्य शिक्षा के अर्थ (प्र) सुरक्षित करें ॥२०॥

भावार्थः—इस मन्त्र में अभ्युदय तथा निःश्रेयस सिद्धि की प्रार्थना की गई है अर्थात् ज्ञानवृद्ध पुरुषों से ज्ञान लाभ करके अभ्युदय और निःश्रेयस की वृद्धि करनी चाहिये ॥२०॥

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः ।

यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥२१॥

पदार्थः—(उक्थ्या) हे स्तुत्य (अश्विना) सेनाध्यक्ष तथा सभाध्यक्ष ! (यत्) यदि (नूनम्) निश्चय (धीभिः) कर्मों को करते हुए (पितुः, योनौ) स्वपालक स्वामी के सदन में (निषीदथः) वसते हों (यद्वा) अथवा (सुम्नेभिः) सुखसहित स्वतन्त्र हों तो भी आयें ॥२१॥

भावार्थः—हे प्रशंसनीय सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! हम लोग आपका आह्वान करते हैं कि आप हमारे विद्याप्रचाररूप यज्ञ को पूर्ण करते हुए हमारे योगक्षेम का सम्यक् प्रबन्ध करें जिससे हम धर्मसम्बन्धी कार्यों के करने में शिथिल न हों ॥२१॥

अष्टम मण्डल में यह नवम सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्य दशमसूक्तस्य १–६ प्रगाथः काण्व ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः–१, ५ आर्चीस्वराड् बृहती । २ त्रिष्टुप् । ३ आर्चीभुरिगनुष्टुप् । ४ आर्चीभुरिक् पङ्क्तिः । ६ आर्षीस्वराड् बृहती ॥ स्वरः–१, ५, ६, मध्यमः । २ धैवतः । ३ गान्धारः । ४ पञ्चमः ॥

अब सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष का अन्तरिक्षादि ऊर्ध्व प्रदेशों में विचरना कथन करते हैं ॥

यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद्वादो रोचने दिवः ।

यद्वा समुद्रे अध्याकृते गृहेऽत आ यातमश्विना ॥१॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनापति सभाध्यक्ष ! (यत्) यदि (दीर्घप्रसद्मनि) दीर्घसद्मवाले देशों में (यद्, वा) अथवा (अदः, दिवः, रोचने) इस द्युलोक के रोचमान प्रदेश में (यद्, वा) अथवा (समुद्रे) अन्तरिक्ष में (अध्याकृते, गृहे) सुनिर्मित देश में (स्थः) हों (अतः) इन सब स्थानों से (आयातम्) आवें ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र का भाव स्पष्ट है अर्थात् याज्ञिक लोगों का कथन है कि हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! आप उक्त स्थानों में से कहीं भी हों, कृपा करके हमारे विद्याप्रचार तथा प्रजारक्षणरूप यज्ञ में आकर हमारे मनोरथ सफल करें ॥१॥

यद्वां यज्ञं मनवे संमिमिक्षथुरेवेत्काण्वस्यं बोधतम् ।

बृहस्पतिं विश्वान्देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनांवाशुहेषंसा ॥२॥

पदार्थः—हे व्यापकशक्तिवाले (यद्वा) जिस प्रकार (मनवे) ज्ञानी जनों के (यज्ञम्) यज्ञ को (संमिमिक्षथुः) स्नेह से संसिक्त करते हो (एवेत्) उसी प्रकार (काण्वस्य) विद्वत्पुत्रों के यज्ञ को (बोधतम्) जानो; (बृहस्पतिम्) बृहत् विद्वान् को (विश्वान्, देवान्) सब देवों को (इन्द्राविष्णू) परमैश्वर्य वाले तथा व्यापक को (आशुहेषसा, अश्विनौ) शीघ्रगामी अश्ववाले सेनापति और सभाध्यक्ष को (अहम्, हुवे) मैं आह्वान करता हूँ ॥२॥

भावार्थः—हे सर्वत्र प्रसिद्ध, हे सब विद्वानों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! जिस प्रकार आप ज्ञानी जनों के यज्ञ को प्राप्त होकर उनकी कामनाओं को पूर्ण करते हैं इसी प्रकार आप हम विद्वत्पुत्रों के यज्ञ को प्राप्त होकर हमारे यज्ञ की त्रुटियों को पूर्ण करने वाले हों ॥३॥

त्या न्व१श्विना हुवे सुदंससा गृभे कृता ।

ययोरस्ति प्र णः सख्यं देवेष्वध्याप्यंम् ॥३॥

पदार्थः—(सुदंससा) शोभन कर्मवाले (गृभे) प्रजा का संग्रह करने के लिए (कृता) सम्राट् द्वारा निर्मित (त्या, अश्विना) उन सेनापति तथा सभाध्यक्ष को (हुवे, नु) आह्वान करते हैं (ययोः, सख्यम्) जिनकी मित्रता (देवेषु) सब देवों के मध्य में (नः) हमको (अधि) अधिक (प्राप्यम्, अस्ति) प्राप्तव्य है ॥३॥

भावार्थः—हे वैदिककर्म करने वाले सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! हम लोग आपके साथ मैत्रीपालन के लिए आपको आह्वान करते हैं; आप हमारे यज्ञ में आकर प्रजापालनरूप शुभकर्मों में योग दें ताकि हमारा यज्ञ सर्वांगपूर्ण हो ॥३॥

ययोरधि प्र यज्ञा असूरे सन्ति सूरयः ।

ता यज्ञस्याध्वरस्य प्रचेतसा स्वधाभिर्या पिबतः सोम्यं मधु ॥४॥

पदार्थः—(ययोः) जिनके (यज्ञाः प्र, अधि) यज्ञ अधिक प्रवृत्त होते हैं, (असुरे) विद्यारहित देश में (सूरयः, सन्ति) जिनके विद्वान् वसते हैं, (अध्वरस्य, यज्ञस्य, प्रचेतसा) हिंसारहित यज्ञों के जानने वाले (ता) वह दोनों (स्वधाभिः) स्तुति द्वारा आवें (या) जो (सोम्यम्, मधु, पिबतः) सोम के मधुर रस को पीते हैं ॥४॥

भावार्थः—हे सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! विद्यारहित प्रदेशों में विद्या-प्रचार का सुप्रबन्ध उन देशों में वास करने वाले विद्वानों द्वारा करावें और हिंसारहित यज्ञों में सहायक होकर उनको पूर्ण करें ॥४॥

यद्द्याश्विनावपाग्यत्प्राक्स्थो वाजिनीवसू ।

यद्द्रुह्यव्यनवि तुर्वशे यदौ हुवे वामथ मा गतम् ॥५॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू) हे सेनारूप धन वाले (अश्विनौ) व्यापक आप ! (यत्, अद्य) जो इस समय (अपाक्) पश्चिम दिशा में (यत्, प्राक्, स्थः) अथवा पूर्व में हों (यत्) अथवा (द्रुह्यवि) द्रोही के पास, (अनवि) अस्तोता के पास, (तुर्वशे) शीघ्रवशकारी के निकट, (यदौ) साधारण के समीप हों (अथ, वाम्, हुवे) तो भी आपका आह्वान करता हूँ, (मा, आगतम्) मेरे पास आइये ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में याज्ञिक यजमान की ओर से कथन है कि हे पूर्ण बल=सेनाओं के अधिपति सभाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष ! मैं आपका आह्वान करता हूँ कि आप उपर्युक्त स्थानों में अथवा इनसे भिन्न स्थानों में कहीं भी हों कृपाकरके मेरे यज्ञ में आकर सहायक हों ॥५॥

यदन्तरिक्षे पतथः पुरुभुजा यद्वेमे रोदसी अनु ।

यद्वा स्वधाभिरधितिष्ठथो रथमत आ यातमश्विना ॥६॥

पदार्थः—(पुरुभुजा, अश्विना) बहुत पदार्थों के भोगी सेनापति सभाध्यक्ष (यत्, अन्तरिक्षे) यदि अन्तरिक्ष में (पतथः) गये हों (यद्वा) अथवा (इमे, रोदसी अनु) इस द्युलोक, पृथिवीलोक में हों (यद्वा, स्वधाभिः) अथवा स्तुतियों के साथ (रथम्, अधितिष्ठथः) रथ पर बैठे हों (अतः, आयातम्) तो भी इस यज्ञसदन में आयें ॥६॥

भावार्थः—हे अनेक पदार्थों के भोक्ता श्रीमान् सभाध्यक्ष तथा सेना-ध्यक्ष ! आप उक्त स्थानों में हों अथवा अन्यत्र, राष्ट्रीय कार्य्यों में प्रवृत्त होने पर भी हमारे यज्ञ को प्राप्त होकर पूर्णाहुति द्वारा सम्पूर्ण याज्ञिक कार्यों को पूर्ण करें ॥६॥

अष्टम मण्डल में यह दशवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्यैकादशसूक्तस्य—१–१० वत्सः काण्व ऋषिः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः–१ आर्चीभुरिग्गायत्री । २ वर्धमाना गायत्री । ३, ५–७, ९ निचृद्गायत्री । ४ विराड् गायत्री । ८ गायत्री । १० आर्चीभुरिक् त्रिष्टुप् ॥ स्वरः–१–९ षड्जः ॥ १० धैवतः ॥

परमात्मा की स्तुति वर्णन करते हैं ॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥१॥

पदार्थः—(अग्ने) हे परमात्मन् (देवः, त्वम्) सर्वत्र प्रकाश करते हुए आप (मर्त्येषु, आ) सर्व मनुष्यों के मध्य में (व्रतपाः, असि) कर्मों के रक्षक हैं; इससे (त्वम्) आप (यज्ञेषु) यज्ञों में (आ, ईड्यः) प्रथम ही स्तुतिविषय किये जाते हैं ॥१॥

भावार्थः—हे सर्वरक्षक, सर्वव्यापक सर्वप्रतिपालक परमात्मन् ! आप सब के पिता=पालन, पोषण तथा रक्षण करने वाले और सबको कर्मानुसार फल देने वाले हैं; इसीलिए आपकी यज्ञादि शुभकर्मों में प्रथम ही स्तुति की जाती है कि आपके अनुग्रह से हमारा यह शुभ कर्म पूर्ण हो ॥१॥

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य । अग्ने रथीरध्वराणाम् ॥२॥

पदार्थः—(सहन्त्य) हे सहनशील (अग्ने) परमात्मन् ! (विदथेषु) सब यज्ञों में (त्वम्, प्रशस्यः, असि) आप ही स्तुतियोग्य हैं, क्योंकि (अध्वराणाम्) हिंसावर्जित कर्मों के (रथीः) नेता हैं ॥२॥

भावार्थः—हे परमपिता परमात्मन् ! आप सम्पूर्ण हिंसारहित कर्मों के प्रचारक तथा नेता होने से सब यज्ञादिकर्मों में प्रथम ही स्तुति किये जाते हैं ॥२॥

स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः । अदेवीरग्ने अरातीः ॥३॥

पदार्थः—(जातवेदः, अग्ने) हे सब कर्मों के जानने वाले परमात्मन् !(द्विषः) शत्रुओं को (अदेवीः, अरातीः) और उनकी दुष्टसेना को (अस्मत्) हमसे (त्वम्, अप, युयोधि) आप पृथक् करें ॥३॥

भावार्थः—हे सर्वव्यापक तथा सर्वरक्षक परमात्मन्! आप हमारे शत्रुओं और उनके साथी दुष्टजनों से हमारी सदैव रक्षा करें, क्योंकि आप सब कर्मों के जानने वाले हैं ॥३॥

अन्ति चित्सन्तमह यज्ञं मर्तस्य रिपोः । नोप वेषि जातवेदः ॥४॥

पदार्थः—(जातवेदः) हे सब कर्मों के ज्ञाता (रिपोः, मर्तस्य) शत्रुजन के

(अन्ति, चित्, सन्तम्, यज्ञम्) अपने समीप में होने वाले यज्ञ को भी (न, उपवेषि, अह) आप नहीं ही जानते हैं ॥४॥

भावार्थः—हे सब चराचर प्राणिजात के शुभाशुभ कर्मों को जानने वाले परमात्मन् ! शत्रुजनों से होने वाले हिंसारूप यज्ञ को आप नहीं जानते अर्थात् अवश्य जानते हैं सो आप उसका फल उनको यथायोग्य ही प्रदान करेंगे ॥४॥

मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे । विप्रासो जातवेदसः ॥५॥

पदार्थः—(मर्ताः) मरणधर्मवाले (विप्रासः) हम विद्वान् (जातवेदसः, अमर्त्यस्य, ते) सब व्यक्त वस्तुओं को जानने वाले मरणरहित आपके (भूरि, नाम, मनामहे) इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि बहुत से नामों को जानते हैं ॥५॥

भावार्थः—इस मंत्र का भाव यह है कि हे परमात्मन् ! हम विद्वान् लोग आपको अजर=बुढ़ापे से रहित, अमर=मरणधर्म से रहित, इन्द्र=सबका पालक, वरुण=सबको वशीभूत रखने वाला और अग्नि=प्रकाशस्वरूप आदि गुणविशिष्ट जानते हैं ॥५॥

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये । अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥६॥

पदार्थः—(विप्रासः, मर्तासः) विद्वान् मनुष्य हम लोग (ऊतये) तृप्ति के लिये (अवसे) और रक्षा के लिए (विप्रम्) सर्वज्ञ (देवम्) प्रकाशमान (अग्निम्) जगत् के व्यञ्जक परमात्मा का (गीर्भिः) वेदवाणी द्वारा (हवामहे) आह्वान करते हैं ॥६॥

भावार्थः—उपर्युक्त गुणसम्पन्न परमात्मा को हम विद्वान् लोग वेदवाणियों द्वारा आह्वान करते अर्थात् उनके समीपी होते हैं कि वह सर्वज्ञ परमात्मा हमारी सब ओर से रक्षा करे ॥६॥

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् । अग्ने त्वां कामया गिरा ॥७॥

पदार्थः—(अग्ने) हे परमात्मन् ! (वत्सः) आपका रक्ष्य यह याज्ञिक (त्वां कामया, गिरा) आपकी कामनावाली वाणी से (परमात्, सधस्थात्, चित्)परम दिव्य यज्ञस्थान से (ते, मनः, आयमत्) आपके ज्ञान को बढ़ा रहा है ॥७॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! आपसे रक्षा किया हुआ याज्ञिक पुरुष कामनाओं को पूर्ण करने वाली वेदवाणियों द्वारा आपके ज्ञान को विस्तृत करता अर्थात् आपके ज्ञान का प्रचार करता हुआ प्रजा को आपकी ओर आकर्षित करता है कि सब मनुष्य आपको ही पूज्य मानकर आपकी ही उपासना में प्रवृत्त हों ॥७॥

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः । समत्सु त्वा हवामहे ॥८॥

पदार्थः—हे परमात्मन् (पुरुत्रा, हि) आप सर्वत्र ही (सदृङ्, असि) समान द्रष्टा हैं, (विश्वाः, विशः) इससे सब प्रजाओं के (अनु) प्रति (प्रभुः) प्रभु हो रहे हैं; (त्वा) इससे आपको (समत्सु) संग्रामों में (हवामहे) आह्वान करते हैं ॥८॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! आप सर्वत्र समानरूप से विद्यमान होने के कारण सर्वद्रष्टा होने से सबके प्रभु=स्वामी हैं, इसी से क्षात्रधर्म में प्रवृत्त योद्धा लोग युद्ध में आपका आश्रयण करते हैं ॥८॥

समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे । वाजेषु चित्रराधसम् ॥९॥

पदार्थः—(वाजेषु) संग्राम में (चित्रराधसम्) विचित्र सामग्री वाले (अग्निम्) परमात्मा को (अवसे) रक्षा के लिए (वाजयन्तः) बल चाहने वाले हम लोग (समत्सु) संग्रामों में (हवामहे) आह्वान करते हैं ॥९॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! आपको विचित्र सामग्री वाला होने से सब मनुष्य आपसे अपनी रक्षा की याचना करते और योद्धा लोग संग्रामों में आपसे ही विजय की प्रार्थना करते हैं ॥

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रयस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥१०॥

पदार्थः—(अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रत्नः) आप पुरातन हैं (हि) इसी से (ईड्यः) सबके स्तुतियोग्य (सनात्, च, होता) शाश्वतिक हवनप्रयोजक (नव्यः, च) नित्यनूतन और (अध्वरेषु, सत्सि) हिंसा रहित यज्ञों में विराजमान होते हैं (स्वाम्, तन्वम्, च) ब्रह्माण्डरूपी स्वशरीर को (पिप्रयस्व) पुष्ट करें (अस्मभ्यम्, च) और हम लोगों के अर्थ (सौभगम्, आयजस्व) सौभाग्य प्राप्त करायें। यहां "कम्" पूरणार्थक है ॥१०॥

भावार्थः—हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप पुरातन होने से सबके उपासनीय हैं, कृपा करके हमारी शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति में सहायक हों जिससे हम लोग बलवान् होकर मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय को प्राप्त हों, और एकमात्र आप ही की उपासना तथा आप ही की आज्ञापालन करते हुए सौभाग्यशाली हों, यह हमारी आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना है। मंत्र में "कम्" पद पादपूरणार्थ आया है ॥

अष्टम मण्डल में यह ग्यारहवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशदृचस्य द्वादशसूक्तस्य ऋषिः पर्वतः काण्वः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, २, ८, ९, १५, १६, २०, २१, २५, ३१, ३२ निचृदुष्णिक् । ३ —६, १०—१२, १४, १७, १८, २२—२४, २६—३० उष्णिक् । ७, १३, १९ आर्षी-विराडुष्णिक् । ३३ आर्षी स्वराडुष्णिक् ॥ ऋषभः स्वरः ॥

पुनः इन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति की जाती है ॥

य इ॑न्द्र सोम॒पात॑मो॒ मदः॑ शविष्ठ॒ चेत॑ति ।

येना॒ हंसि॒ न्य१॒॑त्रिणं॒ तमी॑महे ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (शविष्ठ) हे अतिशय बलवन् ! देव परमपूज्य ! (यः) जो तेरा (सोमपातमः) अतिशय पदार्थों की रक्षा करने वाला वा कृपादृष्टि से अवलोकन करनेवाला (मदः) हर्ष=आनन्द (चेतति) सर्ववस्तु को याथातथ्यतः जानता है । "कहीं गुण ही गुणिवत् वर्णित होता है" और (येन) जिस सर्वज्ञ मद के द्वारा तू (अत्रिणम्) अत्ता=जगद्भक्षक उपद्रव का (हंसि) हनन करता है (तम्) उस मद=आनन्द की (ईमहे) हम उपासकगण प्रार्थना करते हैं । [ईमहे=ई धातु गत्यर्थक और याचनार्थक दोनों है] ॥१॥

भावार्थः—यदि ईश्वरीय नियम से हम मनुष्य चलें तो कोई रोग नहीं हो सकता, अतः इस प्रार्थना से आशय यह है कि प्रत्येक आदमी उसकी आज्ञा पालन करे तब देखें कि संसार के उपद्रव शान्त होते हैं या नहीं ॥१॥

अब ईश्वरीय महिमा की स्तुति की गई है ॥

येना॒ दश॑ग्व॒मध्रि॑गुं वे॒पय॑न्तं॒ स्व॑र्णरम् ।

येना॑ समु॒द्रमावि॑था॒ तमी॑महे ॥२॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (येन) जिस आनन्द से तू (दशग्वम्) माता के उदर में नवमास रहकर दशम मास में जो जीव निकलता है उसे 'दशगू' कहते हैं, ऐसे 'दशगू' (अध्रिगुम्) जीवात्मा की (आविथ) रक्षा करता है तथा (वेपयन्तम्) अपनी ज्योति से वस्तुमात्र को कंपानेवाले (स्वर्णरम्) सूर्य्य की रक्षा करता है । (येन) जिस आनन्द से (समुद्रम्) समुद्र की रक्षा करता है । [समुद्र का जल शुष्क न हो ऐसा जिसका नित्य संकल्प है] (तम् ईमहे) उस आनन्द से हम जीव प्रार्थना करते हैं ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! प्रथम ईश्वर तुम्हारी रक्षा माता के उदर में करता है । तत्पश्चात् जिससे तुम्हारा अस्तित्व है उस सूर्य्य का भी वही

रक्षक है और जिससे तुम्हारी जीवन-यात्रा के लिए विविध अन्न उत्पन्न होते हैं उस महासमुद्र का भी वही रक्षक है ॥२॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः ।

पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥३॥

पदार्थः—हम उपासकगण (तम् ईमहे) उस पूर्वोक्त मद=ईश्वरीय आनन्द की प्रार्थना करते हैं । किसलिये? (ऋतस्य) सत्य के (पन्थाम्) मार्ग की ओर (यातवे) जाने के लिये (येन) और हे इन्द्र जिस मद से तू (महीः) बहुत (अपः) जल (सिन्धुम्) सिन्धु=नदी में या समुद्र में (प्रचोदयः) भेजता है। यहां दृष्टान्त देते हैं– (रथान् इव) जैसे सारथि रथों को अभिमत प्रदेश की ओर ले जाता है ॥३॥

भावार्थः—यह परमात्मा का महान् नियम है कि पृथिवीस्थ जल समुद्र में और समुद्र का पृथिवी में एवं पृथिवी और समुद्र से उकठर जल मेघ वनता और वहाँ से पुनः समुद्रादि में गिरता है। इत्यादि अनेक नियम के अध्ययन से मनुष्य सत्यता की ओर जा सकता है। हे भगवन् ! सत्यता की ओर हमको ले चलो ॥३॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

इमं स्तोममभिष्टये घृतं न पूतमद्रिवः ।

येना नु सद्य ओजसा ववक्षिथ ॥४॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे अद्रिमन्=हे महादण्डधर परमन्यायिन् इन्द्र ! (पूतम्) पवित्र (घृतम् न) घृत के समान (इमम् स्तोमम्) इस मेरे स्तोत्र को (अभिष्टये) अभिमत फलप्राप्ति के लिये तू ग्रहण कर। हे भगवन् ! (येन) जिस स्तुति से प्रसन्न होकर (नु) शीघ्र (सद्यः) तत्काल (ओजसा) बल से (ववक्षिथ) संसार को सुख पहुँचावे ॥४॥

भावार्थः—यद्यपि परमात्मा सदा एकरस रहता है, मनुष्य केवल अपना कर्त्तव्य पालन करता हुआ शुभकर्म में और ईश्वरीय स्तुति प्रार्थना आदि में प्रवृत्त होता है। ईश्वरीय नियमानुसार उस कर्म का फल मनुष्य को मिलता रहता है, तथापि यदि उपासक की स्तुति सुनकर परमदेव प्रसन्न और चौरादिक आततायी जनों के दुष्कर्मों से अप्रसन्न न हो तो संसार किस प्रकार चल सकता है ! इससे इस की एकरसता में किञ्चित् भी विकार

नहीं होता । इस संसार का कोई विवेकी शासक भी होना चाहिये इत्यादि विविध भावना से प्रेरित हो मनुष्य स्तुति आदि शुभकर्म में प्रवृत्त होता है । यही आशय वेद भगवान् दिखलाता है । मनुष्य की प्रवृत्ति के अनुसार ही वेद में कहा है कि भगवान् भक्तों की स्तुति सुनता है और प्रसन्न होकर इस जगत् की रक्षा करता है ॥४॥

स्तुति स्वीकार के लिये प्रार्थना ॥

इमं जुषस्व गिर्वण समुद्र इव पिन्वते ।

इन्द्र विश्वाभिरूतिभिर्ववक्षिथ ॥५॥

पदार्थः—(गिर्वणः) हे वाणियों से स्तवनीय हे स्तुतिप्रिय (इन्द्र) हे परमदेव! (इमम्) इस मेरे स्तोत्र को (जुषस्व) ग्रहण कर। जो मेरा स्तोत्र तेरे उद्देश से प्रयुक्त होने पर (समुद्रः इव) समुद्र के समान (पिन्वते) बढ़ता है। तेरे अनन्त महिमा को प्राप्त करके वह भी तत्समान होता है इस कारण समुद्र की वृद्धि से उपमा दी गई है। हे इन्द्र ! (येन) जिस मेरे स्तोत्र से स्तूयमान होने पर तू भी (विश्वाभिः) समस्त (ऊतिभिः) रक्षाओं से (ववक्षिथ) इस संसार में विविध सुख पहुंचाता है ॥५॥

भावार्थः—प्रेम और सद्भाव से विरचित स्तोत्र वा प्रार्थना को भगवान् अवश्य सुनता है । ऐसे मनुष्यों के शुभकर्म से जगत् का स्वतः कल्याण होता है ॥५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यो नो देवः परावतः सखित्वनाय मामहे ।

दिवो न वृष्टिं प्रथयन्ववक्षिथ ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! जो तू (नः) हम प्राणियों का (देवः) परमपूज्य इष्टदेव है और जो तू (परावतः) पर=उत्कृष्ट स्थान से भी यद्वा अति दूर प्रदेश से भी, आकर (सखित्वनाय) सखित्व=मित्रता के लिये (मामहे) हम जीवों को सुख पहुँचाता है, यद्वा पूज्य होता है। हे भगवन् ! वह तू (दिवः नः वृष्टिम्) जैसे द्युलोक की सहायता से जगत् में परम प्रयोजनीय वर्षा देता है तद्वत् (प्रथयन्) हम जीवों के लिये सुखों को पहुँचाता हुआ (ववक्षिथ) इस जगत् का भार उठा रहा है ॥६॥

भावार्थः—जो यह परमदेव वर्षा के समान आनन्द की वृष्टि कर रहा है, वह हमारा पूज्य और वही परममित्र है ॥६॥

उस की महिमा दिखाई जाती है ॥

ववक्षुरस्य केतवं उत वज्रो गभस्त्योः ।

यत्सूर्यो न रोदसी अवर्धयत् ॥७॥

पदार्थः—इस ऋचा से परमात्मा की कृपा दिखलाई जाती है। यथा—(अस्य) सर्वत्र विद्यमान इस परमदेव के (केतवः) संसार सम्बन्धी विज्ञान अर्थात् नियम ही (ववक्षुः) प्रतिक्षण प्राणिमात्र को सुख पहुँचा रहे हैं। (उत) और (गभस्त्योः) हाथों में स्थापित (वज्रः) दण्ड भी सर्वप्राणियों को सुख पहुँचा रहा है अर्थात् ईश्वरीय नियम और दण्ड ये दोनों जीवों को सुख पहुँचा रहे हैं। कब सुख पहुँचाते हैं इस आशंका पर कहा जाता है (यद्) जब (सूर्यः न) सूर्य के समान (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक को अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को (अवर्धयन्) पालन करने में प्रवृत्त होता है। हे परमात्मदेव ! यह आप की महती कृपा है ॥७॥

भावार्थ—उस देव के नियम और दण्ड से ही यह जगत् चल रहा है। इस का कर्त्ता भी वही है। जैसे प्रत्यक्ष रूप से सूर्य इसको सब प्रकार सुख पहुँचाता है तद्वत् ईश्वर भी। परन्तु वह अदृश्य है अतः हमको उसकी क्रिया प्रतीत नहीं होती है ॥७॥

उसकी कृपा दिखाते हैं ॥

यदिं प्रवृद्ध सत्पते सहस्रं महिषाँ अघः ।

आदित्त इन्द्रियं महि प्र वावृधे ॥८॥

पदार्थः—(प्रवृद्ध) हे सर्व पदार्थों से अतिशय वृद्ध ! (सत्पते) हे परोपकारी सत्याश्रयी जनों का रक्षक महादेव ! (यदि) जब-जब तू (सहस्रम्) सहस्रों (महिषान्) महान् विघ्नों को (अघः) विहत करता है (आद् इत्) तब-तब या तदनन्तर ही (ते) तेरे सृष्ट सम्पूर्ण जगत् का (इन्द्रियम्) आनन्द और वीर्य (महि) महान् होकर (प्र वावृधे) अतिशय बढ़ जाता है। अन्यथा इस जगत् की उन्नति नहीं होती क्योंकि इसमें अनावृष्टि, महामारी, प्लेग और मानवकृत महोपद्रव सदा होते ही रहते हैं। हे देव ! अतः आप से हम उपासकगण सदा प्रार्थना करते हैं कि इस जगत् के विघ्नों को शान्त रखा कीजिये ॥८॥

भावार्थः—इस जगत् की तब ही वृद्धि होती है जब इस पर उस की कृपा होती है ॥८॥

उसका अनुग्रह दिखलाते हैं ॥

इन्द्रः सूर्यस्य रश्मिभिर्न्यर्शसानमोषति ।

अग्निर्वनेव सासहिः प्र वावृधे ॥९॥

पदार्थः—परमात्मा किस प्रकार से विघ्नों को शमित करता है यह इस ऋचा से दिखलाते हैं । यथा—(इन्द्रः) वह महान् देव (सूर्य्यस्य) परितःस्थित ग्रहों के नित्य प्रेरक सूर्य्य के (रश्मिभिः) किरणों से (अर्शसानम्) बाधा करनेवाले निखिल विघ्नों को (नि+ओषति) अतिशय भस्म किया करता है (अग्निः वना इव) जैसे अग्नि ग्रीष्म समय में स्वभावतः प्रवृत्त होकर वनों को भस्मसात् कर देता है; तद्वत् परमात्मा भक्तजनों के विघ्नों को स्वभाव से ही विनष्ट किया करता है । ईदृक् (सासहिः) सर्वविघ्नविनाशक देव (प्र+वावृधे) अतिशय जगत्कल्याणार्थ बढ़ता है ॥९॥

भावार्थः—परमदेव ने इस जगत् की रक्षा के लिये ही सूर्य्यादिकों को स्थापित किया है । परमदेव सूर्य्य, अग्नि, वायु और जलादि पदार्थों द्वारा ही सकल विघ्नों को शान्त किया करता है ॥९॥

ईश्वर के निर्माण का महत्त्व दिखलाते हैं ॥

इयं त ऋत्वियावती धीतिरेति नवीयसी ।

सपर्यन्ती पुरुप्रिया मिमीत इत् ॥१०॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (ते) तेरा (धीतिः) संसारसम्बन्धी विज्ञान (नवीयसी) नित्य अतिशय नवीन-नवीन (एति) हम लोगों की दृष्टि में आता है कहाँ नवीनता प्रतीत होती है इसको विशेषण द्वारा दिखलाते हैं (ऋत्वियावती) वह धीति ऋतु-जन्य वस्तुवाली है अर्थात् प्रत्येक वसन्तादिक ऋतु में एक-एक नवीनता प्रतीत होती है । यहाँ ऋतु शब्द उपलक्षक है । जिस प्रकार पृथिवी के भ्रमण से नव-नव ऋतु आता है इसी प्रकार इस सौर जगत् का तथा अन्यान्य जगत् का भी परिवर्तन होता रहता है, एवंविध सर्व वस्तु नवीनता दिखलाती है । पुनः कैसी है (सपर्यन्ती) सर्व प्राणियों के मन का पूजन करने वाली अर्थात् जिससे सबका मन प्रसन्न होता है पुनः (पुरुप्रिया) सर्वप्रिया है, पुनः (मिमीते इत्) सदा नवीन-नवीन वस्तु का निर्माण करता ही रहता है ॥१०॥

भावार्थः—ऐसे-ऐसे मन्त्रों द्वारा गूढ़ रहस्य प्रकाशित किया जाता है किन्तु इन पर अधिक टीका-टिप्पणी की जाय तो ग्रन्थ का बहुत विस्तार हो

जायेगा और पाठक पढ़ते-पढ़ते थक जायेंगे अतः यहाँ सब विषय संक्षिप्तरूप से निरूपित होता है [धीति=धी=विज्ञान] ईश्वरीय विज्ञान किस प्रकार सृष्टि में विकाशित हो रहा है इसको बाह्यरूप से मौन व्रतावलम्बी मुनिगण ही जानते हैं। इस ओर जो जितने लगते हैं वे उतना जानते हैं। अद्यतन-काल में कैसे-कैसे नवीन अद्भुत कलाकौशल आविष्कृत हुए हैं वे इन ही प्राकृत नियमों के अध्ययन से निकले हैं और विद्वानों की इसमें एक दृढ़तर सम्मति है कि ऐसी-ऐसी सहस्रों बातें अभी प्रकृति में गुप्त रीति से लीन हैं जिनका पता हमको अभी नहीं लगा है। भविष्यत् में वे क्रमशः विकाशित होते जायेंगे। अतः हे मनुष्यो! इन सृष्टिविज्ञानों का अध्ययन कीजिये ॥१०॥

उसके निर्माण की महिमा दिखलाते हैं ॥

गर्भो यज्ञस्य देवयुः क्रतुं पुनीत आनुषक् ।
स्तोमैरिन्द्रस्य वावृधे मिमीत इत् ॥११॥

पदार्थः—(यज्ञस्य) यजनीय=पूजनीय परमात्मा का (गर्भः) स्तुतिपाठक यद्वा परमात्मतत्त्व के ग्रहण करने वाला विद्वान् ही (आनुषक्) आनुपूर्विक=एक-एक करके (क्रतुम्) शुभकर्म को (पुनीते) पवित्र करता है। वह गर्भ कैसा है (देवयुः) मन और वचन से केवल ईश्वर की शुभ इच्छा की कामना करनेवाला। ऐसा स्तोता (इन्द्रस्य) परमात्मा के (स्तोमैः) स्तोत्रों से=परमेश्वर की सेवा से इस जगत् में तथा अपर लोक में (वावृधे) उत्तरोत्तर उन्नति करता ही जाता है और (मिमीते इत्) वह भक्त नाना विज्ञानों और शुभ कर्मों को रचता ही रहता है यद्वा (यज्ञस्य गर्भः) यज्ञ का कारण (देवयुः) परम पवित्र है और (क्रतुम्) कर्म करने वाले पुरुष को (पुनीते) पवित्र करता है ॥११॥

भावार्थः—जो कोई एकाग्रचित्त होकर ज्ञानपूर्वक उसका यजन करता है वह पवित्र होता है और उसकी कीर्ति जगत् में विस्तीर्ण होती है ॥११॥

उसकी कृपा दिखलाते हैं ॥

सनिर्मित्रस्य पप्रथ इन्द्रः सोमस्य पीतये ।
प्राची वाशीव सुन्वते मिमीत इत् ॥१२॥

पदार्थः—(सोमस्य) निखिल पदार्थ के ऊपर (पीतये) अनुग्रहदृष्टि से अवलोकन के लिये (इन्द्र) वह परमात्मा (पप्रथे) सर्वव्यापी हो रहा है। वह कैसा है

(मित्रस्य सनिः) मित्रभूत जीवात्मा को सब प्रकार दान देनेवाला है । पुनः (सुन्वते) शुभ कर्म करने वाले के लिये (प्राची) सुमधुरा (वाशी इव) वाणी के समान सहायक है । सो वह इन्द्र (मिमीते इत्) भक्तजनों के लिये कल्याण का निर्माण करता ही रहता है ॥१२॥

भावार्थः—सर्व पदार्थ के ऊपर अधिकार रखने के लिये परमात्मा सर्वव्यापक है और मधुर वाणी के समान वह सब का सहायक है ॥१२॥

उसकी महिमा गाते हैं ॥

यं विप्रा उक्थवाहसोऽभिप्रमन्दुरायवः ।

घृतं न पिप्य आसन्यृतस्य यत् ॥१३॥

पदार्थः—विविध प्रकारों से परमात्मा की उपासना विद्वद्गण करते हैं । अन्य पुरुषों को भी उनका अनुकरण करना उचित है यह शिक्षा इस ऋचा से देते हैं । यथा—(विप्राः) मेधावी विद्वान् ! (उक्थवाहसः) विविध स्तुति प्रार्थना करने वाले (आयवः) मनुष्य (यम्) जिस इन्द्र नामधारी परमात्मा को (अभि) सर्वभाव से (प्रमन्दुः) अपने व्यापार से और शुभकर्मों के द्वारा प्रसन्न करते हैं उसी (ऋतस्य) सत्यस्वरूप इन्द्र के (आसनि) मुख समान अग्निकुण्ड में मैं उपासक (न) इस समय (यत्) जो पवित्र (घृतम्) शाकल्य है उसको (पिप्ये) होमता हूँ अर्थात् उसको कोई स्तुतियों से और कोई आहुतियों से प्रसन्न करता है ॥१३॥

भावार्थः—ईश्वर की दैनिक स्तुति और प्रार्थनारूप यज्ञ सबसे बढ़कर है ॥१३॥

उसकी महिमा दिखलाई जाती है ॥

उत स्वराजे अदितिः स्तोममिन्द्राय जीजनत् ।

पुरुप्रशस्तमूतय ऋतस्य यत् ॥१४॥

पदार्थः—केवल विद्वान् मनुष्य ही इन्द्र की स्तुति नहीं करते हैं किन्तु सम्पूर्ण यह प्रकृतिदेवी भी उसी के गुणग्राम गाती है, यह इस ऋचा से दिखलाते हैं । यथा—(उत) और (अदितिः) यह अखण्डनीया अदीना और प्रवाहरूप से नित्या प्रकृतिदेवी भी (स्वराजे) स्वयं विराजमान (इन्द्राय) इन्द्र नामधारी भगवान् के लिये (पुरुप्रशस्तम्) बहुप्रशंसनीय (स्तोमम्) स्तोत्र को (जीजनत्) उत्पन्न करती है । (यत्) जो स्तोत्र (ऋतस्य) इस संसार की (ऊतये) रक्षा के लिये परमात्मा को प्रेरित करता है ॥१४॥

भावार्थः—प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी सहायता और रक्षा के लिये परमात्मा से प्रार्थना कर रही है ॥१४॥

पुनः महिमा का गान किया जाता है ॥

अभि वह्नय ऊतयेऽनूषत प्रशस्तये ।
न देव विव्रता हरी ऋतस्य यत् ॥१५॥

पदार्थः—सब सूर्य्यादि पदार्थ ईश्वर के माहात्म्य को प्रकटित कर रहे हैं, इससे यह शिक्षा दी जाती है । यथा—(वह्नयः) जगन्निर्वाहक भूमि, अग्नि, वायु और सूर्य्यादि पदार्थ(ऊतये) रक्षा के लिये और(प्रशस्तये) ईश्वर की प्रशंसा के लिये(अभ्य-नूषत) चारों तरफ उसी के गुणों को प्रकाशित कर रहे हैं । (देव) हे देव !(ऋतस्य) सत्यस्वरूप आपके (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर और जंगमरूप अश्व (विव्रता) सत्यादिव्रत रहित (न) न होवें किन्तु (यत्) जो सत्य है उसके अनुगामी होवें ॥१५॥

भावार्थः—सब ही सत्यमार्ग पर चलें यही ईश्वर की आज्ञा है, इसी को सूर्य्यादि देव सब ही दिखला रहे हैं ॥१५॥

उसी का पोषण दिखलाते हैं ॥

यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥१६॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (विष्णवि) विष्णु=सूर्य्यलोक में (यत् सोमम्) जिस सोम=वस्तु को तू (मन्दसे) आनन्दित कर रहा है (यद्वा) यद्वा (आप्त्ये) जल-पूर्ण (त्रिते) त्रिलोक में जिस सोम को तू आनन्दित कर रहा है (यद्वा) यद्वा (मरुत्सु) मरुद्गणों में जिस सोम को तू पुष्ट करता है उन सब(इन्दुभिः) वस्तुओं के साथ विद्य-मान तेरी (सम् घ) अच्छे प्रकार से मैं स्तुति करता हूँ, हे देव !तू प्रसन्न हो ॥१६॥

भावार्थः—ईश्वर सूर्य्य से लेकर तृण पर्य्यन्त व्याप्त है और सबका भरण-पोषण कर रहा है ॥१६॥

इस ऋचा से उसकी प्रार्थना की जाती है ॥

यद्वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे ।
अस्माकमित्सुते रणा समिन्दुभिः ॥१७॥

पदार्थः—(शक्र) हे सर्वशक्तिमान् देव ! (यद्वा) अथवा तू (परावति) अति-

दूरस्थ (समुद्रे अधि) समुद्र में निवास करता हुआ (मन्दसे) आनन्दित हो रहा है और आनन्द कर रहा है। वहाँ से आकर (अस्माकम् इत्) हमारे ही (सुते) यज्ञ में (इन्दुभिः) निखिल पदार्थों के साथ (सम् रण) अच्छे प्रकार आनन्दित हो ॥१७॥

भावार्थः—हे ईश्वर ! जहाँ तू हो वहाँ से आकर मेरे पदार्थों के साथ आनन्दित हो ॥१७॥

पुन: प्रार्थना का विधान करते हैं ॥

यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते ।
उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥१८॥

पदार्थः—(सत्पते) सत्यव्रतियों के रक्षक परमदेव ! तू (यद्वा) यद्यपि (सुन्वतः) सुकर्मों को करते हुए (यजमानस्य) समस्त यजनशील पुरुष का (वृधः असि) पालन पोषण करने वाला होता है (वा) और (यस्य) जिस किसी के (उक्थे) प्रशंसित वचन में (रण्यसि) आनन्दित होता है। तथापि (इन्दुभिः) हमारे पदार्थों के साथ भी (सम् रण) आनन्दित हो ॥१८॥

भावार्थः—हे ईश ! क्योंकि तू सबका रक्षक है, अतः मेरी भी रक्षा कर ॥१८॥

उसकी कृपा दिखाते हैं ॥

देवंदेवं वोऽवस इन्द्रमिन्द्रं गृणीषणि ।
अधा यज्ञाय तुर्वणे व्यानशुः ॥१९॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारे (अवसे) रक्षणार्थ (देवम् देवम्) विविध गुणों से युक्त (इन्द्रम् इन्द्रम्) केवल इन्द्र के ही जव (गृणीषणि) गुणों को मैं प्रकाशित करता हूं (अधा) तदनन्तर (तुर्वणे) सर्व विघ्नविनाशक (यज्ञाय) यज्ञ के लिये (व्यानशुः) मनुष्य इकट्ठे होते हैं ॥१९॥

भावार्थः—प्रत्येक विद्वान् को उचित है कि वह शुभकर्म की व्याख्या करे और प्रजाओं को सत्पथ पर लावे ॥१९॥

फिर भी उसकी कृपा दिखाते हैं ॥

यज्ञेभिर्यज्ञवाहसं सोमेभिः सोमपातमम् ।
होत्राभिरिन्द्रं वावृधुर्व्यानशुः ॥२०॥

पदार्थः—(यज्ञेभिः) क्रियमाण यज्ञों के साथ (यज्ञवाहसम्) शुभकर्मों के निर्वाहक (सोमेभिः) यज्ञिय पदार्थों के साथ (सोमपातमम्) अतिशय पदार्थ रक्षक (इन्द्रम्) भगवान् को मनुष्य (होत्राभिः) होमकर्म द्वारा (वावृधुः) बढ़ाते हैं तब इतर-जन (व्यानशुः) उस यज्ञ में संगत होते हैं ॥२०॥

भावार्थः—शुभकर्मों से ही उसको प्रसन्न करना चाहिये ॥२०॥

उसकी कृपा दिखाते हैं ॥

म॒हीर॑स्य॒ प्रणी॑तयः पू॒र्वीरु॒त प्रश॑स्तयः ।

विश्वा॒ वसू॑नि दा॒शुषे॒ व्या॑नशुः ॥२१॥

पदार्थः—(अस्य) इस परमात्मा के (प्रणीतयः) प्रणयन अर्थात् सृष्टि-सम्बन्धी विरचन (महीः) महान् और परमपूज्य हैं और (प्रशस्तयः) इसकी प्रशंसा भी (पूर्वीः) पूर्ण और बहुत हैं। इसके (विश्वा) सम्पूर्ण (वसूनि) धन (दाशुषे) दानी पुरुष के लिये (व्यानशुः) प्राप्त होते हैं ॥२१॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! वह सब प्रकार से पूर्ण है; जो कोई उसकी आज्ञा के अनुसार चलता है, उसको वह सब देता है ॥२१॥

इन्द्र ही स्तवनीय है यह लिखते हैं ॥

इन्द्रं॑ वृ॒त्राय॒ हन्त॑वे दे॒वासो॑ दधिरे पु॒रः ।

इन्द्रं॒ वाणी॑रनूषता॒ समोज॑से ॥२२॥

पदार्थः—(देवासः) मनःसहित इन्द्रिय अथवा विद्वद्गण (वृत्राय) अज्ञानादि दुरितों के (हन्तवे) निवारण के लिये (इन्द्रम्) इन्द्र को ही (पुरः) आगे रखते हैं (वाणीः) पुनः विद्वानों की वाणी=वचन भी (सम् ओजसे) सम्यक् प्रकार बलप्राप्ति के लिये (इन्द्रम् अनूषत) इन्द्र की ही स्तुति करते हैं। यह ईश्वर का माहात्म्य है कि सब कोई, क्या जड़ क्या चेतन, इसी के गुण प्रकट कर रहे हैं ॥२२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! निखिल दुरित निवारणार्थ उसी की शरण में आइये ॥२२॥

फिर भी उसी विषय को कहते हैं ॥

म॒हान्तं॑ महि॒ना व॒यं स्तोमे॑भिर्हवन॒श्रुत॑म् ।

अ॒र्कैर॒भि प्र णो॑नुमः॒ समोज॑से ॥२३॥

पदार्थः—(सम् ओजसे) समीचीन बलप्राप्ति के लिये (वयम्) हम मनुष्य (महिना) अपने महिमा से (महान्तम्) महान् और (हवनश्रुतम्) हमारे आह्वान के श्रोता इन्द्र को (स्तोमेभिः) स्तोत्रों और (अर्कैः) अर्चनीय मन्त्रों से (अभि) सर्वभाव से (प्र) अतिशय (नोनुमः) पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। उसकी वारंवार स्तुति करते हैं ॥२३॥

भावार्थः—बलप्राप्ति के लिये भी वही स्तुत्य है ॥२३॥

उसका महत्त्व दिखाते हैं ॥

न यं विविक्तो रोदसी नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् ।
अमादिदस्य तित्विषे समोजसः ॥२४॥

पदार्थः—(रोदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक (यम्) जिस (वज्रिणम्) दण्डधारी इन्द्र को (न विविक्तः) अपने समीप से पृथक् नहीं कर सकते अथवा अपने में उसको समा नहीं सकते और (अन्तरिक्षाणि न) मध्यस्थानीय आकाशस्थ लोक भी जिसको अपने-अपने समीप से पृथक् नहीं कर सकते (अस्य) उस (ओजसः) महाबली इन्द्र के (अमात् इत्) बल से ही यह सम्पूर्ण जगत् (सम् तित्विषे) अच्छे प्रकार भासित हो रहा है ॥२४॥

भावार्थः—वह ईश्वर इस पृथिवी, द्युलोक और आकाश से भी बहुत बड़ा है. अतः वे इसको अपने में रख नहीं सकते। उसी के बल से ये सूर्यादि जगत् चल रहे हैं, अतः वही उपास्य है ॥२४॥

उसका महत्त्व दिखाते हैं ॥

यदिन्द्र पृतनाज्ये देवास्त्वा दधिरे पुरः ।
आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥२५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र परमात्मन्! (यद्) जब (देवाः) इन्द्रियगण वा विद्वान् (पृतनाज्ये) सांसारिक संग्राम में विजय प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझको (पुरः) अपने सामने (दधिरे) रखते हैं (आद् इत्) तत्पश्चात् ही (ते) तेरे (हर्यता) प्रिय (हरी) स्थावर और जंगम संसार (ववक्षतुः) तुझे प्रकाशित करने लगते हैं। अर्थात् जब विद्वान् परमात्मा के ध्यान में निमग्न होते हैं तब ही यह सृष्टि तुझे उनके समीप प्रकाशित करती है अर्थात् इस सृष्टि में विद्वान् तुझे देखने लगते हैं ॥२५॥

भावार्थः—इस संसार-सागर से वे ही पार उतरते हैं जो उसकी शरण में पहुंचते हैं, भक्तगण उसको इस प्रकृति में ही देखते हैं ॥२५॥

उसके गुण कीर्त्तन किए जाते हैं ॥

यदा वृत्रं नदीवृतं शवसा वज्रिन्नवधीः ।

आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥२६॥

पदार्थः—(वज्रिन्) हे दण्डधारिन् न्यायकारिन् परमात्मन् ! (यदा) जब (नदीवृतम्) जलप्रतिबाधक (वृत्रम्) अनिष्ट को तू (शवसा) स्वनियमरूप बल से (अवधीः) निवारित करता है (आद् इत्) उसके पश्चात् ही (ते) तेरे (हर्य्यता) सर्व-कमनीय (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर और जंगमरूप द्विविध संसार तुझको (ववक्षतुः) प्रकाशित करते हैं अर्थात् वर्षा-बाधक अनिष्ट निवारित होने पर सकल जन प्रफुल्लित होकर तेरी विभूति तेरी प्रकृति में देखते हैं ॥२६॥

भावार्थः—मनुष्यों का जब विघ्न विनष्ट होता है तब ही वह ईश्वर की ओर जाता है, तब ही यह प्रकृतिदेवी प्रसन्न होकर उसकी छवि प्रकट करती है ॥२६॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे ।

आदित्ते हर्यता हरी ववक्षतुः ॥२७॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमदेव ! (यदा) जिस समय=प्रातःकाल (ते) तुझ से उत्पादित (विष्णुः) व्यापनशील सूर्य (ओजसा) स्वप्रताप के साथ (त्रीणि पदा) तीन पैरों को तीनों लोक में (विचक्रमे) रखता है अर्थात् जब उदय होता है (आद् इत्) तदनन्तर ही (ते) तेरे (हर्य्यता) सर्व कमनीय (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर और जंगम द्विविध संसार तुझको (ववक्षतुः) प्रकाशित करते हैं अर्थात् इस सृष्टि में तेरी विभूति दीखने लगती है ॥२७॥

भावार्थः—यह सूर्य्य भी इसके महान् यश को प्रकाशित करता है । इस दिवाकर को देख, उसका महत्त्व प्रतीत होता है ॥२७॥

उसका महत्त्व दिखाते हैं ॥

यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे ।

आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥२८॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (यदा) जिस काल में (ते) तेरे (हर्य्यता) सर्व कमनीय (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर जंगमरूप द्विविध संसार (दिवेदिवे) प्रतिदिन=

क्रमशः शनैः-शनैः (वावृधाते) बढ़ते जाते हैं अर्थात् शनैः-शनैः अपने-अपने स्वरूप में विकसित होते जाते हैं (आद् इत्) तब ही (ते) तुझसे (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोक-लोकान्तर और प्राणिजात (येमिरे) नियम में स्थापित किए जाते हैं। ज्यों-ज्यों सृष्टि का विकाश हो जाता है त्यों-त्यों तू उनको नियम में बाँधता जाता है ॥२८॥

भावार्थः—ज्यों-ज्यों इसके गूढ़ नियम मालूम होते हैं त्यों-त्यों उपासक का ईश्वर में विश्वास होता जाता है ॥२८॥

उसकी विभूति दिखलाते हैं ॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥२९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! हे परमात्मदेव ! (यदा) जिस काल में (ते) तेरी उत्पादित (मारुतीः) वायु-प्रधान लोक में स्थापित (विशः) मेघरूपी प्रजाएं (तुभ्यम्) तुझको (नियेमिरे) अपने ऊपर प्रकाशित करती हैं अर्थात् जब मेघों में तेरी विद्युद्-रूप से परमविभूति दीखने लगती है तब मानो (आद् इत्) उसके पश्चात् ही (ते) तेरे (विश्वा भुवनानि) निखिल भुवन स्व-स्व नियम में (येमिरे) स्वयं बद्ध हो जाते है अर्थात् मेघ के गर्जन सुन सारी प्रजाएँ कम्पायमान हो स्व-स्व नियम में निबद्ध हो जाती हैं ॥२९॥]

भावार्थः—ईश्वर की विभूति वायु आदि समस्त पदार्थों में दीख पड़ती है ॥२९॥

उसकी महिमा दिखलाते हैं ॥

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥३०॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! परमैश्वर्य देव ! (यदा) जब तूने (दिवि) आकाश में (अमुम्) इस दूर में दृश्यमान (सूर्यम्) सूर्यरूप (शुक्रम्) शुद्ध देदीप्यमान (ज्योतिः) ज्योति को (अधारयः) स्थापित किया (आदित्) तब ही सम्पूर्ण भुवन नियमबद्ध हो गए ॥३०॥

भावार्थः—सूर्य की स्थापना से इस जगत् को अधिक लाभ पहुँच रहा है ॥३०॥

महिमा की स्तुति की जाती है ॥

इमां त इन्द्र सुष्टुतिं विप्र इयर्ति धीतिभिः।

जामिं पदेव पिप्रतीं प्राध्वरे ॥३१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! परमैश्वर्य्यदेव ! (विप्रः) मेधावी जन (अध्वरे) यज्ञ में (ते) तेरे ही लिये (पिप्रतीम्) प्रसन्न करने वाली (इमाम्) इस (सुस्तुतिम्) शोभन स्तुति को (धीतिभिः) विज्ञान के तदर्थ (प्र इयर्त्ति) अतिशय प्रेरित करते हैं; अन्य देव के लिये नहीं। यहाँ दृष्टान्त देते हैं—(जामिम्) अपने बन्धु को (पदा इव) जैसे उत्तम पद की ओर ले जाते हैं तद्वत् मेधावीगण अपनी प्रिय स्तुति को तेरी ओर ले जाते हैं ॥३१॥

भावार्थः—जैसे विद्वान् उसकी स्तुति करते हैं तद्वत् इतर जन भी करें ॥३१॥

पुनः उसकी स्तुति की जाती है ॥

यदस्य धामनि प्रिये समीचीनासो अस्वरन्।

नाभा यज्ञस्य दोहना प्राध्वरे ॥३२॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (समीचीनासः) परस्पर संमिलित परमविद्वद्गण (यद्) जब (नाभा) सर्व कर्मों को बांधने वाले (यज्ञस्य दोहना) यजनीय=पूजनीय परमात्मा को तुमको दुहने वाले (प्रिये) प्रिय (अध्वरे धामनि) यज्ञरूप स्थान में (अस्य) इस तुझको (प्र अस्वरम्) विधिवत् स्तवन करते हैं तब हे भगवन् ! तू अभीष्ट देने को प्रसन्न हो ॥३२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उसको अपने व्यवहार से प्रसन्न करो ॥३२॥

फिर भी उसी विषय को कहते हैं ॥

सुवीर्यं स्वश्व्यं सुगव्यमिन्द्र दद्धि नः।

होतेव पूर्वचित्तये प्राध्वरे ॥३३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (पूर्वचित्तये) पूर्ण विज्ञानप्राप्ति के लिये अथवा सबसे पहले ही जनाने के लिये (होता इव) ऋत्विक् के समान (अध्वरे) यज्ञ में तेरी (प्र) प्रार्थना करता हूं। तू (नः) हम लोगों को (सुवीर्य्यम्) सुवीर्य्योपेत (स्वश्व्यम्) अच्छे-अच्छे घोड़ों से युक्त (सुगव्यम्) मनोहर गवादि पशुसमेत धन को (दद्धि) दे ॥३३॥

भावार्थः—उसी की कृपा से अश्वादिक पशु भी प्राप्त होते हैं ॥३३॥

अष्टम मण्डल का यह बारहवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

त्रयस्त्रिंशदृचस्य त्रयोदशसूक्तस्य नारदः काण्वः ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः १, ५, ८, ११, १४, १६, २१, २२, २६, २७, ३१ निचृदुष्णिक् । २—४, ६, ७, ९, १०, १२, १३, १५—१८, २०, २३ - २५, २८, २९, ३२, ३३ उष्णिक् । ३० आर्षीविराडुष्णिक् ॥ ऋषभः स्वरः ॥

इन्द्रवाच्य ईश्वर की प्रार्थना करते हैं ॥

इन्द्रः॑ सु॒तेषु॒ सोमे॑षु॒ क्रतुं॑ पुनीत उ॒क्थ्य॑म् ।

वि॒दे वृ॒धस्य॒ दक्ष॑सो म॒हान्हि षः ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रः) इस सम्पूर्ण जगत् का द्रष्टा ईश्वर हम मनुष्यों की (वृधस्य) वृद्धि और (दक्षसः) बल की (विदे) प्राप्ति के लिये (सुतेषु) क्रियमाण (सोमेषु) विविध शुभ कर्मों में (क्रतुम्) हमारी क्रिया और (उक्थ्यम्) भाषणशक्ति को (पुनीते) पवित्र करे (हि) क्योंकि (सः) वह इन्द्र (महान्) सबसे महान् है, इस कारण वह सब कर सकता है ॥१॥

भावार्थः—ईश्वर सब कर्मों में हमको वैसी सुमति देवे जिससे हमारे सर्व व्यापार अभ्युदय के लिये पवित्रतम होवें ॥१॥

उसी का वर्णन करते हैं ॥

स प्र॑थ॒मे व्यो॑मनि दे॒वानां॒ सद॑ने वृ॒धः ।

सु॒पा॒रः सु॒श्रव॑स्तमः॒ सम॑प्सु॒जित् ॥२॥

पदार्थः—(सः) वह सर्वद्रष्टा ईश्वर (देवानाम्) निखिल पदार्थों के (प्रथमे) उत्कृष्ट और (व्योमनि) व्यापक (सदने) भवन में स्थित होकर (वृधः) प्राणियों के सुखों को बढ़ाने वाला होता है जो इन्द्र (सुपारः) अच्छे प्रकार दुःखों से पार उतारने वाला है (सुश्रवस्तमः) और अतिशय सुयशस्वी और सुधनाढच है और (समप्सुजित्) जलों में अन्तर्हित विघ्नों को भी जीतने वाला है ॥२॥

भावार्थः—वह ईश्वर सबके अन्तर्यामी होकर सबको बढ़ाता और पोसता है और वही सर्व विघ्नों का विजेता है । अतः हे मनुष्यो ! वही पूज्य और ध्येय है ॥२॥

ईश्वर की स्तुति कहते हैं ॥

तम॑ह्वे॒ वाज॑सातय॒ इन्द्रं॒ भरा॑य शु॒ष्मिण॑म् ।

भवा॑ नः सु॒म्ने अन्त॑मः॒ सखा॑ वृ॒धे ॥३॥

पदार्थः—(तम्) उस सुप्रसिद्ध (शुष्मिणम्) महाबलिष्ठ (इन्द्रम्) जगद्द्रष्टा ईश्वर का (वाजसातये) विज्ञान-धन-प्रापक=विज्ञानप्रद (भराय) यज्ञ के लिये (ग्रह्वे) आवाहन करता हूँ। वह इन्द्र (नः) हमारे (सुम्ने) सुख में (अन्तमः) समीपी होवे और (वृधे) वृद्धि के लिये (सखा) मित्र होवे ॥३॥

भावार्थः—वही ईश्वर धनद और विज्ञानद है, ऐसा मानकर उसकी उपासना करो ॥३॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

इयं त इन्द्र गिर्वणो रातिः क्षरति सुन्वतः ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥४॥

पदार्थः—(गिर्वणः) हे केवल वाणियों से स्तवनीय ! हे स्तुतिप्रिय ! (इन्द्र) ईश्वर ! (सुन्वतः) शुभ कर्म करने वाले के लिये (ते) तेरा (इयम्) यह प्रत्यक्ष (रातिः) दान (क्षरति) सदा वरसता है तू (मन्दानः) इसके शुभ आचरणों से तृप्त होता हुआ (अस्य) इस यजमान के (बर्हिषः) निखिल शुभकर्मों का (वि) विशेषरूप से (राजसि) शासन करता है ॥४॥

भावार्थः—यह सम्पूर्ण अद्भुत सर्वधनसम्पन्न जगत् ही इसका दान है। विद्वान् इससे महाधनिक होते हैं। हे मनुष्यो ! इसका शासक वही ईश है उसी की उपासना करो ॥४॥

ईश्वर की प्रार्थना कहते हैं ॥

नूनं तदिन्द्र दद्धि नो यत्त्वा सुन्वन्त ईमहे ।
रयिं नश्चित्रमा भरा स्वर्विदम् ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र! (नूनम्) तू अवश्य (तत्) वह प्रसिद्ध विज्ञानरूप धन (नः) हम लोगों को (दद्धि) दे (यत्) जिस धन को (त्वा सुन्वन्तः) तेरी उपासना करते हुए हम उपासकगण (ईमहे) चाहते हैं। हे इन्द्र ! (चित्रम्) नाना प्रकार के तथा (स्वर्विदम्) सुखजनक बुद्धिरूप (रयिम्) महाधन को (नः) हम लोगों के लिये (आभर) ले आ ॥५॥

भावार्थः—जो परमात्मा की उपासना मन से करता और उसकी आज्ञा पर सदा चलता है, वही सब धनों के योग्य है ॥५॥

कैसी वाणी प्रयोक्तव्य है यह इससे दिखलाते हैं ॥

स्तोता यत्ते विचर्षणिरतिप्रशर्धयद्गिरः ।

वया इवानु रोहते जुषन्त यत् ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र (यत्) जब (ते) तेरा (विचर्षणिः) गुणद्रष्टा गुणग्राहक (स्तोता) स्तुतिपाठक विद्वान् (गिरः) अपने वचनों को (अतिप्रशर्धयत्) अतिशय विघ्नविनाशक बनाता है अर्थात् अपनी वाणी से जगत् को वशीभूत कर लेता है और (यत्) जब वे वाणियां (जुषन्त) गुरुजनों को प्रसन्न करती हैं तब वे (वयाः इव) वृक्ष की शाखा के समान (अनुरोहते) सदा बढ़ती जाती हैं ॥६॥

भावार्थः—वाणी सत्य और प्रिय प्रयोक्तव्य है ॥६॥

इससे ईश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥

प्रत्नवज्जनया गिरः शृणुधी जरितुर्हवम् ।

मदेमदे ववक्षिथा सुकृत्वने ॥७॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! तू (प्रत्नवत्) पूर्वकालवत् इस समय में भी (गिरः) विविधवाणियों को (जनय) उत्पन्न कर । जैसे पूर्वकाल में मनुष्य पशु और पक्षी प्रभृति प्राणियों में तू ने विविध भाषाएं दीं वैसे अब भी नानाविध भाषाएं उत्पन्न कर जिनसे सुख हो और (जरितुः हवम्) गुणग्राही जनों का स्तुतिपाठ (शृणुधी) सुन । (मदे मदे) उत्सव-उत्सव पर (सुकृत्वने) शुभ कर्म वाले के लिये (ववक्षिथ) अपेक्षित फल दे ॥७॥

भावार्थः—ईश्वर ही ने मनुष्यों में विस्पष्ट वाणी स्थापित की । वही सर्व कर्मों का फलदाता है, अतः हे मनुष्यो ! उसी को पूजो ॥७॥

वह सब का पति है यह दिखलाते हैं ॥

क्रीळन्त्यस्य सूनृता आपो न प्रवता यतीः ।

अया धिया य उच्यते पतिर्दिवः ॥८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! परमात्मा का माहात्म्य देखो ! (अस्य) इस इन्द्र नामी ईश्वर के (सूनृताः) प्रिय और सत्य वचन प्रकृतियों में (क्रीडन्ति) विहार कर रहे हैं । यहां दृष्टान्त देते हैं—(आपः न) जैसे जल (प्रवता) निम्न मार्ग से (यतीः) चलते हुए विहार करते हैं । हे मनुष्यो ! (यः) जो इन्द्र (अया) इस (धिया) विज्ञान वा क्रिया से (दिवः) स्वर्ग या प्रकाश का पति (उच्यते) कहाता है ॥८॥

भावार्थः—ईश्वर कर्ता है और यह जगत् कार्य है, कार्यों में जो क्रिया है वह उसी की है । अतः मनुष्य जाति से लेकर कीट पर्यन्त प्राणियों में जो वचन, जो शक्तियां, जो सौन्दर्य, इस प्रकार की जो आश्चर्यरचना है, वह ईश्वर की है । अतः वह विज्ञानपति है ॥८॥

प्रजापति भी वही है यह दिखलाते हैं ॥

उतो पतिर्य उच्यते कृष्टीनामेक इद्वशी ।
नमोवृधैरवस्युभिः सुते रण ॥९॥

पदार्थः—(उतो) और (यः) जो इन्द्र (वशी) सर्व प्राणियों को अपने वश में करने वाला है और जो (कृष्टीनाम्) मनुष्यों का (एकः इत्) एक ही (पतिः) पालक स्वामी (उच्यते) कहलाता है । कौन उसको एक पति कहते हैं ? इस आकाङ्क्षा में कहते हैं कि (नमोवृधैः) जो ईश्वर को नमस्कार और पूजा करके इस जगत् में बढ़ते हैं अर्थात् ईश्वर के भक्त और जो(अवस्युभिः)सर्व प्राणियों की रक्षा होवे ऐसी कामना वाले विद्वान् हैं वे परमात्मा को एक अद्वितीय पति कहते हैं । अतः हे इन्द्र तू (सुते) हमारे सम्पादित गृह अपत्यादि वस्तु में अथवा शुभकर्म में (रण) रत हो । अथवा हे स्तोता (सुते) प्रत्येक शुभकर्म में (रण) उसी की स्तुति करो ॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! परमात्मा सर्वपति है ऐसा जानकर उसका गान करो ॥९॥

वही स्तुत्य है यह दिखलाते हैं ॥

स्तुहि श्रुतं विपश्चितं हरी यस्य प्रसक्षिणा ।
गन्तारा दाशुषो गृहं नमस्विनः ॥१०॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! आप (श्रुतम्) सर्वश्रुत और (विपश्चितम्) सर्वद्रष्टा चेतयिता विज्ञानी परमात्मा की (स्तुहि) स्तुति कीजिये । (यस्य) जिसकी(प्रसक्षिणा) प्रसहनशील (हरी) स्थावर और जंगमात्मक सम्पत्तियां (नमस्विनः) पूजावान् और (दाशुषः) दरिद्रों को देनेहारे के (गृहम्) गृह में (गन्तारौ) जाते हैं अर्थात् उस भक्त के गृह में ईश्वरसम्बन्धी द्विविध स्थावर और जंगम सम्पत्तियां पूर्ण रहती हैं ॥१०॥

भावार्थः—ईश्वरोपासकों को कदापि धन की क्षीणता नहीं होती, यह जानकर उसी की पूजा करो ॥१०॥

इस मन्त्र से प्रार्थना करते हैं ॥

तूतुजानो महेमतेऽश्वेभिः प्रुषितप्सुभिः ।

आ याहि यज्ञमाशुभिः शमिद्धि ते ॥११॥

पदार्थः—(महेमते) हे महाफलदाता हे महामति परमविज्ञानी परमात्मन् ! यद्यपि तू (प्रुषितप्सुभिः) स्निग्धरूप (आशुभिः) शीघ्रगामी (अश्वेभिः) संसारस्थ पदार्थों के साथ (तूतुजानः) विद्यमान है ही तथापि (यज्ञम्) हमारे यज्ञ में (आयाहि) प्रत्यक्षरूप से आ । (हि) क्योंकि (ते) तेरा आगमन (शम् इत्) कल्याणकारक होता है । तेरे आने से ही यज्ञ की सफलता हो सकती है ॥११॥

भावार्थः—यज्ञादि शुभकर्मों में वही ईश पूज्य है, अन्य देव नहीं । उसी का पूजन कल्याणकर होता है ॥११॥

ईश्वर की प्रार्थना कहते हैं ॥

इन्द्र शविष्ठ सत्पते रयिं गृणत्सु धारय ।

श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनम् ॥१२॥

पदार्थः—(शविष्ठ) हे बलवत्तम ! (सत्पते) सत्यपालक (इन्द्र) सर्वद्रष्टा महेश ! (गृणत्सु) स्तुतिपाठक जनों में (रयिम्) ज्ञानविज्ञानात्मक धन को (धारय) स्थापित कीजिये । और (सूरिभ्यः) विद्वान् जनों को (श्रवः) यश दीजिये और (वसुत्वनम्) उनको बहुव्यापक बहुकाल स्थायी (अमृतम्) मुक्ति भी दीजिये ॥१२॥

भावार्थः—ईश्वर ही मुक्ति का दाता है, यह मानकर उसकी उपासना करें ॥१२॥

दो काल वही प्रार्थनीय है यह दिखाते हैं ॥

हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यन्दिने दिवः ।

जुषाण इन्द्र सप्तिभिर्न आ गहि ॥१३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा ईश्वर ! (सूरे उदिते) सूर्य्य के उदित होने पर [प्रातःकाल] (त्वा हवे) मैं तेरी प्रार्थना करता हूँ और (दिवः) दिन के (मध्यन्दिने) मध्यकाल [मध्याह्न] में तेरी स्तुति करता हूँ । हे इन्द्र ! यद्यपि तू (सप्तिभिः) सर्पणशील [गमनशील] पदार्थों के साथ विद्यमान ही है तथापि तुझे हम प्राणी नहीं देखते हैं । इस कारण (जुषाणः) प्रसन्न होकर (नः) हमारे निकट (आगहि) आ और आकर हम पर अनुग्रह कर ॥१३॥

भावार्थः—दो काल ही परमात्मा का ध्यान करें ॥१३॥

इससे प्रार्थना करते हैं ॥

आ तू गहि प्र तु द्रव मत्स्वा सुतस्य गोमतः ।

तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं यथा विदे ॥१४॥

पदार्थः—हे इन्द्र (तू) शीघ्र (आगहि) हमारे शुभकर्मों में प्रकट हो । और (तु) शीघ्र (प्र द्रव) हम भक्तजनों पर कृपादृष्टि कर और तू (गोमतः) वेदवाणीयुक्त (सुतस्य) यज्ञ को (मत्स्व) आनन्दित कर और (पूर्व्यम्) पूर्व पुरुषों से आचरित (तन्तुम्) सन्तानादि सूत्र को (तनुष्व) विस्तारित कर (यथा) जिससे मैं उस तन्तु को (विदे) प्राप्त कर सकूं ॥१४॥

भावार्थः—हे ईश ! तू हम को देख ! अच्छे मार्ग में ले चल । यज्ञ को बढ़ा । पूर्ववत् पुत्रादिकों को बढ़ा ॥१४॥

ईश्वर की स्तुति कहते हैं ॥

यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।

यद्वा समुद्रे अन्धसोऽवितेदसि ॥१५॥

पदार्थः—(शक्र) हे सर्वशक्तिमन् ! (वृत्रहन्) हे सर्वविघ्नविनाशक देव ! (यद्) यदि तू (परावति) अतिदूर देश में (असि) हो (यद्) यदि तू (अर्वावति) समीपस्थ देश में हो (यद्वा) यद्वा (समुद्रे) समुद्र में या आकाश में हो, कहीं भी तू है, उस सब स्थान से आकर हमारे (अन्धसः) अन्न का (अविता इत्) रक्षक (असि) होता ही है ॥१५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ईश्वर सब की रक्षा करता है यह जानना चाहिये ॥१५॥

इससे उसी की प्रार्थना कहते हैं ॥

इन्द्रं वर्धन्तु नो गिर इन्द्रं सुतास इन्दवः ।

इन्द्रे हविष्मतीर्विशो अराणिषुः ॥१६॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (नः) हमारे (गिरः) स्तुतिरूप वचन (इन्द्रम्) ईश्वर के गुणगान में (वर्धन्तु) बढ़ें । यद्वा हम ईश्वर के ही यशों को बढ़ावें और (सुतासः) हमारे सम्पादित=उपार्जित (इन्दवः) उत्तम-उत्तम पदार्थ (इन्द्रम्) भगवान् को ही

लक्ष्य कर बढ़ें वा भगवान् के ही यश को बढ़ावें । (हविष्मतीः) पूजावती (विशः) समस्त प्रजाएं (इन्द्रे) भगवान् में (अराणिषुः) आनन्दित होवें ॥१६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम्हारे वचन कर्म और शरीर भी ईश्वर के यशों को बढ़ावें और तुम स्वयं उसकी आज्ञा में आनन्दित होओ ॥१६॥

उसकी महिमा दिखलाते हैं ॥

तमिद्विप्रा॑ अव॒स्यवः॑ प्र॒वत्व॑तीभिरू॒तिभिः॑ ।

इन्द्रं॑ क्षो॒णीर॑वर्धयन्व॒या इ॑व ॥१७॥

पदार्थः—(अवस्यवः) जगत् की रक्षा के इच्छुक और स्वयं साहाय्याकांक्षी (विप्राः) मेधावीजन (तम् इत्) उसी इन्द्र भगवान् की (प्रवत्वतीभिः) प्रवृत्तिमती अत्युन्नत (ऊतिभिः) स्तुतियों से स्तुति करते हैं । और (क्षोणीः) पृथिवी आदि सर्व-लोक-लोकान्तर (वयाः इव) वृक्ष की शाखा के समान अधीन होकर (इन्द्रम्) इन्द्र के ही गुणों को (अवर्धयन्) बढ़ाते हैं ॥१७॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! सर्व विद्वान् और अन्यान्य लोक उसी को गाते हैं यह जान तुम भी उसी को गाओ ॥१७॥

इससे उसकी महिमा दिखलाते हैं ॥

त्रिक॑द्रुकेषु॒ चेत॑नं दे॒वासो॑ य॒ज्ञम॑त्नत ।

तमिद्व॑र्धन्तु नो॒ गिरः॑ स॒दावृ॑धम् ॥१८॥

पदार्थः—(देवासः) दिव्यगुणयुक्त विद्वद्गण (त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में (चेतनम्) चेतन और सर्व में चेतनता देनेवाले और (यज्ञम्) पूजनीय उसी ईश्वर को (अत्नत) यशोगान से और पूजा से विस्तारित करते हैं अर्थात् अन्यान्य की पूजा छुड़ाकर परमात्मा की ही पूजा का विस्तार करते हैं (तम् इत्) उसी (सदावृधम्) सर्वदा जगत् में सुख बढ़ाने वाले इन्द्र के लिये ही (नः) हमारी (गिरः) वाणी (वर्धन्तु) बढ़ें । यद्वा, उसी इन्द्र के परम यश को हमारी वाणी बढ़ावें ॥१८॥

भावार्थः—परम विद्वान्जन भी जिस को सर्वदा गाते, स्तुति और प्रार्थना करते हैं उसी को हम भी सर्वभाव से पूजें ॥१८॥

महिमा का वर्णन करते हैं ॥

स्तो॒ता यत्ते॒ अनु॑व्रत उ॒क्थान्यृ॑तु॒था द॒धे ।

शुचिः॑ पाव॒क उ॑च्यते॒ सो अद्भु॑तः ॥१९॥

पदार्थः—(स्तोता) स्तुतिपाठक जन (अनुव्रतः) स्वकर्तव्यपालन में रत और तुझको प्रसन्न करने के लिये नानाव्रतधारी होकर (ऋतुथा) प्रत्येक ऋतु में=समय-समय पर (यद् ते) जिस तेरी प्रीति के लिये (उक्थानि) विविध स्तुति वचनों को (वधे) बनाते रहते हैं, वह तू हम जीवों पर कृपाकर। हे मनुष्यो (सः) वह महान् देव (शुचिः) परमपवित्र है (पावकः) अन्यान्य सब वस्तुओं का शोधक और (अद्भुतः) महामहाऽद्भुत (उच्यते) कहलाता है। उसी की उपासना करो वही मान्य है। वह सबका स्वामी है ॥१९॥

भावार्थः—जो शुचि, पवित्रकारक और अद्भुत है। उसी को विद्वान् स्तोता अनुव्रत होकर पूजते हैं, हम भी उसी को पूजें ॥१९॥

उसकी महिमा गाते हैं ॥

तदिद्रुद्रस्य चेतति यह्वं प्रत्नेषु धामसु ।

मनो यत्रा वि तद्दधुर्विचेतसः ॥२०॥

पदार्थः—(तद् इत्) वही (यह्वम्) इन्द्ररूप महान् तेज (रुद्रस्य) विद्युदादि पदार्थों को (प्रत्नेषु) प्राचीन अविनश्वर सदा स्थिर (धामसु) आकाश-स्थानों में (चेतति) चेतन बनाता है। अर्थात् चेतनवत् उनको कार्य्यों में व्यापारित करता है। (यत्र) जिस इन्द्रवाच्य ईश में (विचेतसः) विशेष विज्ञानीजन (तत्) उस शान्त (मनः) मनको समाधि-सिद्धि के लिये (विदधुः) स्थापित करते हैं उसी इन्द्र की पूजा सब करें ॥२०॥

भावार्थः—जो लोकाधिपति परमात्मा विद्युदादि अनन्त पदार्थों को आकाश में स्थापित करके उनका शासन करता और चेताता है उसी में योगिगण मन लगाते हैं। हे मनुष्यो ! उसी एक को जानो ॥२०॥

इससे प्रार्थना करते हैं ॥

यदि मे सख्यमावर इमस्य पाह्यन्धसः ।

येन विश्वा अति द्विषो अतारिम ॥२१॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमात्मन् ! (यदि) यदि आप (मे) मेरी (सख्यम्) मैत्री (आवरः) अच्छे प्रकार स्वीकार करें तो इसकी सूचना के लिये प्रथम (इमस्य) इस (अन्धसः) अन्धा करने वाले संसार की प्रत्येक वस्तु की (पाहि) रक्षा कीजिये। यद्वा, इस अन्धकारी संसार से पृथक् कर मेरी रक्षा कीजिये (येन) जिससे (विश्वाः) समस्त (द्विषः) द्वेष करने वाली काम क्रोधादिकों की सेनाओं को हम (अति अतारिम) अतिशय विजय कर पार उतर जायें ॥२१॥

भावार्थः—जो परमात्मा को निज सखा जान सब वस्तु उसको समर्पित करता है वही सब क्लेशों को पार कर जाता है ॥२१॥

इस मन्त्र से प्रार्थना करते हैं ॥

कदा त इन्द्र गिर्वणः स्तोता भवाति शन्तमः ।

कदा नो गव्ये अश्व्ये वसौ दधः ॥२२॥

पदार्थः—(गिर्वणः) हे समस्त उत्तम वाणियों से स्तवनीय ! हे स्तोत्रप्रिय (इन्द्र) इन्द्र (ते) तेरा (स्तोता) यशोगायक (कदा) कब (शन्तमः) अतिशय सुखी और कल्याणयुक्त (भवाति) होगा और (कदा) कब (नः) हम अधीन जनों को तू (गव्ये) गोसमूह में (अश्व्ये) घोड़ों के झुण्डों में और (वसौ) उत्तम निवासस्थान में (दधः) रखेगा । हे भगवन् ! ऐसी कृपाकर कि तेरे स्तोतृजन सदा सुखी होवें और उन्हें गौएँ, घोड़े और अच्छे निवास मिलें ॥२२॥

भावार्थः—हे भगवन् ! स्तोता को सौभाग्ययुक्त कर और उसको अन्य अभिलषित पदार्थ दे ॥२२॥

उसका महत्त्व दिखलाया जाता है ॥

उत ते सुष्टुता हरी वृषणा वहतो रथम् ।

अजुर्यस्य मदिन्तमं यमीमहे ॥२३॥

पदार्थः—(उत) और (ते) तुझ से उत्पादित (सुष्टुता) सर्वथा प्रशंसित (वृषणा) निखिल कामनाओं को वर्षाने वाले (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर जंगमात्मक दो घोड़े (अजुर्यस्य) जरामरणादि दुःखरहित तेरे (रथम्) रमणीय रथ को (वहतः) प्रकाशित कर रहे हैं । अर्थात् मानो यह संसार तुझे रथ के ऊपर बैठाकर हम जीवों के समीप दिखला रहा है । (मदिन्तमम्) अतिशय आनन्दयिता (यम्) जिस तुझ से (ईमहे) हम धनादिक वस्तु याचते हैं ॥२३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ये स्थावर और जंगम संसार परमात्मा को दिखला रहे हैं । अतः ये दोनों अच्छे प्रकार ज्ञातव्य हैं ॥२३॥

प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

तमीमहे पुरुष्टुतं यह्वं प्रत्नाभिरूतिभिः ।

नि बर्हिषि प्रिये सदद्ध द्विता ॥२४॥

पदार्थः—(तम् ईमहे) उस परमात्मा से हम लोग याचना और प्रार्थना करते हैं जिसकी (पुरुस्तुतम्) सब स्तुति करते हैं और (यह्वम्) जो महान् है, जो (प्रिये बर्हिषि) प्रिय संसाररूप आसन पर (निसदत्) बैठा हुआ है और जो (द्विता) अनुग्रह और निग्रह दोनों कार्य करने वाला है, उस इन्द्र वाच्य प्रभु को हम (प्रत्नाभिः ऊतिभिः) शाश्वत=चिरस्थायी सहायता के लिये याचते=मांगते हैं ॥२४॥

भावार्थः—परमात्मा ही प्रार्थनीय और याचनीय है। वही सर्वत्र व्यापक होने से हमारी स्तुति सुनता और अभीष्ट को जानता है ॥२४॥

इससे इन्द्र की स्तुति करते हैं ॥

वर्धस्वा सु पुरुष्टुत ऋषिष्टुताभिरूतिभिः ।

धुक्षस्व पिप्युषीमिषमवा च नः ॥२५॥

पदार्थः—(पुरुष्टुत) हे बहुस्तुत महेन्द्र ! (ऋषिष्टुताभिः) ऋषियों से प्रशंसित और प्रचालित (ऊतिभिः) सहायता के साथ (सु) अच्छे प्रकार (वर्धस्व) हम लोगों को बढ़ाओ (च) और (पिप्युषीम्) सर्व पदार्थ संयुक्त (इषम्) अन्न (नः) हमको (अव धुक्षस्व) दे ॥२५॥

भावार्थः—ऋषिप्रदर्शित मार्ग से चले, यह उपदेश इससे देते हैं ॥२५॥

इससे इन्द्र की स्तुति करते हैं ॥

इन्द्र त्वमवितेदसीत्था स्तुवतो अद्रिवः ।

ऋतादियर्मि ते धियं मनोयुजम् ॥२६॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे दण्डधारी (इन्द्र) सर्वद्रष्टा परमदेव ! (इत्था) इस प्रकार (स्तुवतः) यशोगान करनेवाले के (त्वम्) आप (अविता इत् असि) रक्षक ही होते हैं। इस हेतु हे भगवन् ! (ऋतात्) सत्यता के कारण (मनोयुजम्) समाधि में मन को स्थापित करने वाली (धियम्) बुद्धि को (ते) आप से (इयर्मि) मांगता हूँ। जिस कारण आप सदा हम लोगों की रक्षा ही करते आए हैं, अतः मुझ को सुबुद्धि दीजिये जिससे मेरी पूरी रक्षा होवे ॥२६॥

भावार्थः—परमात्मा उसका रक्षक होता है जो शुभकर्म करता है और जो उस परमगुरु में मन लगाता है ॥२६॥

इससे इन्द्र की प्रार्थना करते हैं ॥

इह त्या सधमाद्या युजानः सोमपीतये ।

हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर ॥२७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) इन्द्र ! तू (त्या) परम प्रसिद्ध उन (सधमाद्या) तेरे ही साथ आनन्दयितव्य या आनन्दयिता (प्रतद्वसू) बहुधनसम्पन्न सर्वसुखमय (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर और जंगमरूप द्विविध संसारों को (युजानः) स्व-स्व कार्य में नियोजित करता हुआ (इह) इस मेरे गृह में (सोमपीतये) निखिल पदार्थों के ऊपर अनुग्रहार्थ (अभिस्वर) हम लोगों के अभिमुख आ ॥२७॥

भावार्थः—हे ईश ! इन पदार्थों को स्व-स्व कार्य में लगा और हम लोगों के ऊपर कृपा कर ॥२७॥

इससे ईश्वर की प्रार्थना करते हैं ॥

अभि स्वरन्तु ये तव रुद्रासः सक्षत श्रियम् ।
उतो मरुत्वतीर्विशो अभि प्रयः ॥२८॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (तव) तेरे (ये) जो (रुद्राः) भक्तगण हैं वे (अभिस्वरन्तु) हमारे यज्ञ में आवें और आकर (श्रियम्) यज्ञ की शोभा को (सक्षत) बढ़ावें (उतः) और (मरुत्वतीः) कई आदमी मिलकर कार्य करनेवाली तेरी (विशः) प्रजाएं अर्थात् व्यापार करने वाली जातियाँ भी (प्रयः) विविध अन्न को लेकर हमारे यज्ञ में (अभिस्वरन्तु) आवें ॥२८॥

भावार्थः—हे ईश तेरी कृपा से संसार की शोभा बढ़े और अन्नों से लोग पुष्ट रहें ॥२८॥

फिर भी उसी विषय को कहते हैं ॥

इमा अस्य प्रतूर्तयः पदं जुषन्त यद्दिवि ।
नाभा यज्ञस्य सं दधुर्यथा विदे ॥२९॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (अस्य) इस इन्द्रवाच्य परमात्मा की (इमाः) ये पूर्वोक्त गुणग्राहिणी आज्ञापालिका और (प्रतूर्तयः) काम क्रोधादि वासनाओं को विनष्ट करनेवाली प्रजाएं उस उत्तम (पदम्) पद को (जुषन्त) प्राप्त करती हैं (यद्) जो पद (दिवि) सर्वप्रकाशक परमात्मा में है। अर्थात् मुक्ति को पाकर वे प्रजाएं ईश्वर का साक्षात् अनुभव करती हैं और (यथा विदे) विज्ञान के अनुसार (यज्ञस्य) निखिल शुभकर्म के (नाभा) नाभि में [मध्यस्थान में] (संदधुः) सन्निकट होती हैं अर्थात् यज्ञ के तत्वों को जानती हैं ॥२९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उसी की कृपा से उत्तमोत्तम स्थान प्राप्त कर सकते हो, अतः उसी की उपासना करो ॥२९॥

इससे ईश्वर की स्तुति करते हैं ॥

अयं दीर्घाय चक्षसे प्राचि प्रयत्यध्वरे ।
मिमीते यज्ञमानुषग्विचक्ष्य ॥३०॥

पदार्थः—यज्ञ का भी कर्त्ता और विधाता वही ईश्वर है यह इस से दिखलाते हैं । (प्राचि) अति प्रशंसनीय (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ को (प्रयति) प्रवृत्त होने पर (दीर्घाय चक्षसे) बहुत प्रकाश की प्राप्ति के लिये (अयम्) यह परमात्मा स्वयं ही (विचक्ष्य) देख भालकर (आनुषक्) क्रमपूर्वक (यज्ञम्) यज्ञ को (मिमीते) पूर्ण करता है । अर्थात् उस ईश्वर की कृपा से ही भक्तों का यज्ञ विधिपूर्वक समाप्त होता है ॥३०॥

भावार्थः—निखिल यज्ञों का विधायक भी वही है, अतः यज्ञों में वही पूज्यतम है ॥३०॥

इससे ईश्वर की स्तुति की जाती है ॥

वृषायमिन्द्र ते रथं उतो ते वृषणा हरी ।
वृषा त्वं शतक्रतो वृषा हवः ॥३१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अयम् ते रथः) अविभागरूप से अवस्थित जो यह सम्पूर्ण संसाररूप तेरा रथ है, वह (वृषा) निखिल कामों को देनेवाला है (उतो) और (ते) तेरे (हरी) विभाग से स्थित जो स्थावर और जंगमरूप द्विविध घोड़े हैं (वृषणा) वे भी निखिल इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हैं (शतक्रतो) हे अनन्तकर्मन् परमात्मन् ! (त्वम् वृषा) तू स्वयं कामवर्षिता है । परमात्मन् ! बहुत क्या कहें (हवः) तेरा आवाहन श्रवण, मनन आदिक भी (वृषा) समस्त अभीष्टप्रद है ॥१३॥

भावार्थः—परमात्मा के सकल कर्म ही आनन्दप्रद हैं, वही उपास्यदेव है ॥३१॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः ।
वृषा यज्ञो यमिन्वसि वृषा हवः ॥३२॥

पदार्थः—ईश्वरसृष्टि में छोटे से छोटा भी पदार्थ बहुगुणप्रद है, यह शिक्षा इससे दी जाती है । यथा—(ग्रावा) निःसार क्षुद्र प्रस्तर भी (वृषा) बहुफलप्रद है (मदः) मदकारी धत्तूर आदि पदार्थ भी वैद्यक शास्त्रानुसार प्रयुक्त होने पर (वृषा)

कामप्रद है (अयम् सुतः सोमः) हम जीवों से निष्पादित यह सोम गुरूची आदि भी (वृषा) कामवर्षिता है (यम् ईम्वसि) जिस यज्ञ में तू जाता है वह (यज्ञः वृषा) यज्ञ कामवर्षिता है। (हवः वृषा) तेरा आवाहन भी वृषा है ॥३२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उसी ईश की संगति करो, उसका संग आनन्दप्रद है ॥३२॥

इन्द्र का दान दिखलाते हैं ॥

वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः।
ववन्थ हि प्रतिष्टुतिं वृषा हवः ॥३३॥

पदार्थः—हे इन्द्र! आपकी कृपा से मैं भी (वृषा) विज्ञानादि धनों को प्रजाओं में देनेवाला हूँ। वह मैं (वृषणम् त्वा) सर्व कामप्रद तुझ को (हुवे) पूजता और आवाहन करता हूँ (वज्रिन्) हे महादण्डधर ! (चित्राभिः) विविध प्रकार की (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ सर्वत्र आप विद्यमान हैं (हि) जिसलिये (प्रतिष्टुतिम्) सर्व स्तोत्र के प्रति आप (ववन्थ) प्राप्त होते हैं अतः (हवः वृषा) आपका आवाहन भी सर्व कामप्रद है ॥३३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उस दयालु का दान अनन्त अनन्त है, तुम भी अपनी शक्ति के अनुसार उसका अनुकरण करो ॥३३॥

अष्टम मण्डल में यह तेरहवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

पंचदशर्चस्य चतुर्दशसूक्तस्य १—१५ गोषूक्तयश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ऋषयः ॥ इन्द्रोदेवता ॥ छन्दः—१, ११ विराड् गायत्री । २, ४, ५, ७, १५ निचृद्-गायत्री । ३, ६, ८—१०, १२—१४ गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

पुनः इन्द्र की प्रार्थना आरम्भ करते हैं ॥

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमदेव परमात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार (एकः इत्) एक ही (त्वम्) तू (वस्वः) सकल प्रकार के धनों के ऊपर अधिकार रखता है। वैसा ही (यद्) यदि (अहम्) मैं भी (ईशीय) सब प्रकार के धनों के ऊपर अधिकार रखूं और उनका स्वामी होऊं तो (मे) मेरा (स्तोता) स्तुतिपाठक भी (गोसखा स्यात्) गो-

प्रभृति धनों का मित्र होवे। हे इन्द्र! आपकी कृपा से मेरे स्तोता भी जैसे धनसम्पन्न होवें वैसी कृपा हम लोगों पर कीजिये ॥१॥

भावार्थः—जैसे वह ईश दान दे रहा है, तद्वत् हम धन पाकर दान देवें ॥१॥

इससे मनुष्य की आशा दिखलाते हैं॥

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।

यदहं गोपतिः स्याम् ॥२॥

पदार्थः—(शचीपते) हे यज्ञादि कर्मों तथा विज्ञानों के स्वामिन् ईश! मेरी इच्छा सदा ऐसी रहती है कि (अस्मै) सुप्रसिद्ध-सुप्रसिद्ध (मनीषिणे) मननशील परम-शास्त्रतत्त्वविद् पुरुषों को (शिक्षेयम्) बहुत धन दूं, (दित्सेयम्) सदा ही मैं देता रहूँ (यद्) यदि (अहम्) मैं (गोपतिः स्याम्) ज्ञानों का तथा गो प्रभृति पशुओं का स्वामी होऊं। मेरी इस इच्छा को पूर्ण कर ॥२॥

भावार्थः—हे भगवन्! मुझको धनवान् और दाता बना जिससे दरिद्रों और विद्वानों को मैं वित्त दूं, इस मेरी इच्छा को पूर्ण कर ॥२॥

वाणी सत्या बनानी चाहिये, यह दिखलाते हैं॥

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते।

गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र! (ते) तेरे उद्देश से प्रयुक्त हम लोगों की वाणी यदि (सूनृता) सत्य और सुमधुरा है, तो वही वाणी (पिप्युषी) सदा बढ़ाने वाली, (धेनुः) गो समान होकर (सुन्वते यजमानाय) शुभ कर्म करने वाले यजमान को (गाम्) दूध देने के लिये गौएं और चढ़ने के लिये (अश्वम्) घोड़े (दुहे) सदा देती है। यद्वा (ते) तेरे उद्देश से प्रयुक्त (धेनुः) हम लोगों की वाणी यदि (सूनृता) सत्य और सुमधुर हो तो वही वाणी (पिप्युषी) सदा बढ़ाने वाली (धेनुः) गो समान होकर (सुन्वते यजमानाय) शुभ कर्म करने वाले यजमान को (गाम्) दूध देने के लिये गौएं और चढ़ने के लिए (अश्वम्) घोड़े (दुहे) सदा देती है। धेनु नाम वाणी का भी है [निघण्टु देखो] अर्थात् स्वकीय वाणी को पवित्र और सुसंस्कृत करना चाहिये और उसको ईश्वर में लगावे, इसी से सर्वसुख आदमी प्राप्त कर सकता है ॥३॥

भावार्थः—हे इन्द्र! जो मैं तुझ से सदा धन मांगता रहता हूँ वह भी अनुचित ही है, क्योंकि त्वत्प्रदत्त वाणी ही मुझ को सब देती है। अन्य कोई

भी यदि स्वकीया वाणी को सुमधुर और सुसंस्कृत बनावेगा तब वह उसी से पूर्णमनोरथ होगा। अतः सर्वदा ईश्वर के समीप धन याचना न करनी चाहिये किन्तु तत्प्रदत्त साधनों से उद्योगी होना चाहिये, यह शिक्षा इस ऋचा से देते हैं ॥३॥

ईश्वर की स्वतन्त्रता दिखलाते हैं ॥

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।
यद्दित्ससि स्तुतो मघम् ॥४॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! तू (स्तुतः) विद्वानों से प्रार्थित होकर (यत्) जो (मघम्) पूजनीय धन मनुष्यों को (दित्ससि) देना चाहता है (ते) तेरे उस (राधसः) पूज्य धन का दान से (वर्ता) निवारण करने वाले (न) न तो (देवः) देव हैं और (न) न (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य हैं। तू सर्वथा स्वतन्त्र है अतः हे भगवन् ! जिससे हम मनुष्यों को कल्याणतम हो वह धन जन दे ॥४॥

भावार्थः—ईश्वर सब कुछ कर सकता है इससे यह शिक्षा देते हैं उसका बाधक या निवारक कोई पदार्थ नहीं है ॥४॥

शुभकर्म से ही ईश प्रसन्न होता है, इस बात को दिखाते हैं ॥

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥५॥

पदार्थः—यथा (यज्ञः) वैदिक या लौकिक शुभकर्म (इन्द्रम्) परमात्मा को (अवर्धयत्) प्रसन्न करता है (यत्) जो यज्ञ (भूमिम्) भूलोक को (व्यवर्तयत्) विविध सस्यादिकों से पुष्ट करता है और जो (दिवि) प्रकाशात्मक परमात्मा के निकट (ओपशम्) यजमान के लिये सुन्दर स्थान (चक्राणः) बनाता हुआ बढ़ता है ऐसे यज्ञ को सब मनुष्य किया करें और वही यज्ञ परमात्मा को प्रसन्न कर सकता है ॥५॥

भावार्थः—जिस कारण शुभ कर्मों से ही ईश्वर प्रसन्न होता है अतः हे मनुष्यो ! सत्यादि व्रतों और सन्ध्यादि कर्मों को नित्य करो ॥५॥

रक्षा के लिये प्रार्थना ॥

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।
ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (वावृधानस्य) सृष्टिकार्य्य में पुनः-पुनः लगे हुए और उसको सब प्रकार से बढ़ाते हुए और (विश्वा) निखिल (धनानि) धनों के (जिग्युषः) महास्वामी (ते) तेरे निकट (ऊतिम्) रक्षा और साहाय्य के लिये (वयम्) हम उपासकगण (वृणीमहे) प्रार्थना करते हैं। हे ईश ! यद्यपि सृष्टि की रक्षा करने में तू स्वयमेव व्यापृत है और सूर्य्य, चन्द्र, भूप्रभृति महाधनों का तू ही स्वामी भी है। यदि तेरा पालन जगत् में न हो तो सर्व वस्तु विनष्ट हो जाए। अतः तू ही बनाता, बिगाड़ता और संभालता है। तथापि हम मनुष्य अज्ञानवश और अविश्वास से रक्षा की याचना करते रहते हैं ॥६॥

भावार्थः—प्रातः और सायंकाल सदा ईश्वर से रक्षार्थ और साहाय्यार्थ प्रार्थना करनी चाहिये ॥६॥

ईश्वर की महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

व्य१न्तरिक्षमतिर॒न्मदे॒ सोम॑स्य रोच॒ना ।

इन्द्रो॒ यदभि॑नद्व॒लम् ॥७॥

पदार्थः – हे मनुष्यो ! (यद्) जब-जब (इन्द्रः) परमात्मा हमारे सर्व (वलम्) विघ्न को (अभिनत्) विदीर्ण कर देता है तब-तब (सोमस्य) समस्त पदार्थ का (मदे) आनन्द उदित होता है अर्थात् (अन्तरिक्षम्) सब का अन्तःकरण और सर्वाधार आकाश (रोचना) स्वच्छ और (व्यतिरत्) आनन्द से भर जाता है। ऐसे महान् देव की सेवा करो ॥७॥

भावार्थः—जब-जब परमदेव हमारे विघ्नों का निपातन करता है तब-तब ही पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से प्रकाशित होने लगते हैं ॥७॥

वही सब विघ्नों को नष्ट करता है ॥

उद्गा आ॑ज॒दङ्गि॑रोभ्य आ॒विष्कृ॒ण्वन्गुहा॑ स॒तीः ।

अ॒र्वाञ्चं॑ नुनुदे व॒लम् ॥८॥

पदार्थः—जब ईश्वर हमारे (वलम्) सर्व विघ्न और अज्ञान को (अर्वाञ्चम्) अधोमुख करके (नुनुदे) नीचे गिराता है (तदा) तब (गुहा) हृदयरूप गुहा में (सतीः) गूढ़ मेधादि शक्तियों को (आविष्कृण्वन्) प्रकाशित करता हुआ वह परमात्मा (अङ्गिरोभ्यः) हमारे इन्द्रियों को (गाः) मेधादि इन्द्रिय शक्तियाँ (उद् आजत्) प्रदान करता है ॥८॥

भावार्थः—उसी की कृपा से ज्ञान-विज्ञान, विवेक और मेधा आदि गुण उत्पन्न होते हैं—यह शिक्षा इससे दी जाती है ॥८॥

ईश्वर की महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च ।

स्थिराणि न पराणुदे ॥९॥

पदार्थः—सर्वाधार वही परमात्मा है यह इससे शिक्षा देते हैं। यथा—(दिवः) द्युलोक अर्थात् त्रिभुवन के (रोचना) शोभमान पृथिवीस्थ समुद्र आदि अन्तरिक्षस्थ मेघ प्रभृति, द्युलोकस्थ सूर्य्यादि दीप्यमान समस्त वस्तु इस प्रकार (इन्द्रेण) इन्द्र ने (दृढानि) दृढ़ की हैं और (दृंहितानि) वढ़ाई हैं जिससे ये वस्तु (स्थिराणि) स्थिर होकर (न पराणुदे) न कदापि विनाशशाली हों ॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! महामहाऽऽश्चर्यमय इस जगत् को देखो ! किस आधार पर यह सूर्य्य पृथिवी आदि ठहरे हुए हैं। क्यों न अपने-अपने स्थान से विचलित होकर ये नष्ट हो जाते हैं। हे मनुष्यो ! सब का आधार उसी को जानो और जान कर उसी को पूजो ॥९॥

महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।

वि ते मदा अराजिषुः ॥१०॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) इन्द्र जैसे (अपाम्) जलों का (ऊर्मिः) तरंग (मदन् इव) मानो, परस्पर क्रीड़ा करता हुआ बलपूर्वक आगे बढ़ता है। तद्वत् तेरे लिये विद्वानों से विरचित (स्तोमः) स्तुति समूह (अजिरायते) अग्र गमन के लिये शीघ्रता करते हैं अर्थात् प्रत्येक विद्वान् स्व-स्व स्तुतिरूप उपहार आपके निकट प्रथम ही पहुँचाने के लिये प्रयत्न कर रहा है। हे इन्द्र ! (ते) वे आपके (मदाः) आनन्द (वि अराजिषुः) सर्वत्र विराजमान हो रहे हैं। हम लोग उसके भागी होवें ॥१०॥

भावार्थः—सब ही विवेकी प्रातःकाल ही उठकर उसकी स्तुति करते हैं। हे भगवन् ! आपने सर्वत्र आनन्द बिछा दिया है। उसको लेने के लिये जिस से हम में बुद्धि उत्पन्न हो वैसा उपाय दिखला कर कृपा कर ॥१०॥

महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः ।

स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ॥११॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (हि) जिस कारण (त्वम्) तू ही (स्तोमवर्धनः)

स्तुतियों का वर्धक है तथा (उक्थवर्धनः असि) तू ही उक्तियों का वर्धक है। (उत) और (स्तोतॄणाम्) स्तुतिपाठकों का (भद्रकृत्) तू कल्याणकर्त्ता है ॥११॥

भावार्थः—उसी की कृपा से भक्तों की स्तुतिशक्ति, भाषणचातुर्य्य और कल्याण होता है यह जानकर वही स्तुत्य और पूज्य है, यह शिक्षा इससे देते हैं ॥११॥

महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

इन्द्रमित्केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः ।

उप यज्ञं सुराधसम् ॥१२॥

पदार्थः—(केशिना) वनस्पति, वृक्ष और पर्वत आदि केशवाले (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर जङ्गमात्मक द्विविध संसार (यज्ञम्) यजनीय=पूजनीय (सुराधसम्) और सुपूज्य (इन्द्रम्) परमात्मा को (सोमपेयाय) निखिल पदार्थों की रक्षा के लिये (उप वक्षतः) अपने-अपने समीप धारण किये हुए हैं। परमात्मा सर्वव्यापक है यह इससे शिक्षा देते हैं ॥१२॥

भावार्थः—ये सूर्य्यादि सब पदार्थ ही परमात्मा को दिखलाने में समर्थ हैं। अन्यथा इसको कौन दिखला सकता है। इन पदार्थों की स्थिति विचारने से उसका अस्तित्व भासित होता है ॥१२॥

वह विघ्न हनन करता है यह दिखलाते हैं ॥

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।

विश्वा यदजयः स्पृधः ॥१३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमदेव ! आप (नमुचेः) अवर्षणरूप अनिष्ट और विघ्न का (शिरः) शिर (अपाम् फेनेन) जल के फेन से अर्थात् जल के सेक से (उदवर्त्तयः) काट लेते हैं। (यद्) जब (विश्वाः) सर्व (स्पृधः) बाधाओं को (अजयः) जीतते हैं। हे इन्द्र ! जब आप जलवर्षण से स्थावर और जंगम जीवों को सन्तुष्ट करते हैं तब ही संसार की सर्व बाधाएं निवारित होती हैं। ऐसे तुमको मैं भजता हूँ ॥१३॥

भावार्थः—जल का भी कारण परमात्मा ही है ऐसा जानना चाहिए ॥१३॥

ईश्वर की महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः ।

अव दस्यूँरधूनुथाः ॥१४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (मायाभिः) माया के साथ (उत्सिसृप्सतः) विचरते हुए (दस्यून्) चौरादिगण (द्याम् आरुरुक्षतः) यदि परम उच्चस्थान को भी प्राप्त कर गए हैं तो वहां से भी उनको तू (अव अधूनुथाः) नीचे गिरा देता है ॥१४॥

भावार्थः—वह परमदेव अतिबलिष्ठ पापियों को भी अपने स्थान से गिरा देता है, अतः हे मनुष्यो ! तुम पापों से दूर रहो ॥१४॥

वह निखिल विघ्नविनाशक है यह दिखलाते हैं ॥

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः ।

सोमपा उत्तरो भवन् ॥१५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र (सोमपाः) सकल पदार्थों के रक्षक होने के कारण (उत्तरः भवन्) उत्कृष्टतर होता हुआ तू (असुन्वाम्) शुभ कर्मविहीना (संसदम्) मानवसभा को (विषूचीम्) छिन्न-भिन्न करके (व्यनाशयः) विनष्ट कर देता है ॥१५॥

भावार्थः—परमात्मा न्यायकारी और महादण्डधर है वह पापिष्ठ सभा को भी उखाड़ देता है। यह जानकर पापों का आचरण न करे, यह इसका आशय है ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह चौदहवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयोदशर्चस्य पंचदशसूक्तस्य गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ऋषी ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः–१—३, ५–७, ११, १३ निचृदुष्णिक् । ४ उष्णिक् । ८, १२ विराडुष्णिक् । ९, १० पादनिचृदुष्णिक् ॥ ऋषभः स्वरः ॥

ईश्वर की महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।

इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (पुरुहूतम्) बहुतों से आहूत और मन से ध्यात और (पुरुष्टुतम्) सर्वस्तुत (तम् उ) उसी (इन्द्रम्) इन्द्र को (अभि प्र गायत) सब प्रकार से गाओ, हे मनुष्यो ! (तविषम्) उस महान् इन्द्र की (गीर्भिः) निज-निज भाषाओं से (आविवासत) अच्छे प्रकार सेवा करो ॥१॥

भावार्थः—उस इन्द्र को छोड़कर अन्य किसी को ध्येय, पूज्य और स्तुत्य न समझे ॥१॥

परमात्मा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

यस्य॑ द्वि॒बर्ह॑सो बृ॒हत्सहो॑ दा॒धार॒ रोद॑सी ।

गि॒रीँरज्राँ॑ अ॒पः स्व॑र्वृषत्व॒ना ॥२॥

पदार्थः—(द्विबर्हसः) द्युलोक और पृथिवीलोक के धारण करने वाले (यस्य) जिस इन्द्र का (बृहत्) महान् (सहः) बल (रोदसी) परस्पर रोधनशील इन दोनों लोकों का (दाधार) अच्छे प्रकार पालन पोषण और धारण करता है और जो बल (अज्रान्) आकाश से शीघ्रगामी (गिरीन्) मेघों को और (स्वः) सुखकारी (अपः) जल को (वृषत्वना) अपनी शक्ति से धारण करता है उस महाबलिष्ठ संसार-पोषक परमात्मा के यश को ही हे मनुष्यो ! गाओ ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा ही इस पृथिवी, उस द्युलोक, उन नक्षत्रों और अन्यान्य सकल वस्तुओं का धारण और पोषण करता है उसकी ईदृशी शक्ति को जान कर उसी की उपासना करे ॥२॥

परमात्मा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

स रा॑जसि पुरुष्टुतँ॒ एको॑ वृ॒त्राणि॑ जिघ्नसे ।

इन्द्र॒ जैत्रा॑ श्रव॒स्या॑ च॒ यन्त॑वे ॥३॥

पदार्थः—(पुरुष्टुत) हे सर्वस्तुत ! सर्वपूज्य परमदेव ! (सः) परमप्रसिद्ध वह तू (राजसि) प्रकृतिमध्य शोभित हो रहा है और सर्ववस्तु का शासन कर रहा है और (एकः) असहाय केवल एक ही तू (वृत्राणि) संसार के निखिल विघ्नों को विनष्ट करता है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! (जैत्रा) जेतव्य (च) और (श्रवस्या) श्रोतव्य सकल पदार्थों के (यन्तवे) अपने वश में रखने के लिये तू सर्वदा निःशेष विघ्नों को विनष्ट किया करता है। हे भगवन् ! धन्य है तू और धन्य है ! तेरी शक्ति ॥३॥

भावार्थः—इन्द्र ही सर्व विघ्नविनाशक होने से पूज्य है इसको निश्चय करो ॥३॥

इन्द्र की प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

तं ते॒ मदं॑ गृणीमसि॒ वृष॑णं पृ॒त्सु सा॑स॒हिम् ।

उ॒ लो॒क॒कृ॒त्नुम॑द्रिवो हरि॒श्रिय॑म् ॥४॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे जगत् शासनार्थ दण्डधारी महेश (ते) तेरे (तम्) उस सुप्रसिद्ध(मदम्) आनन्द की(गृणीमसि)हम मनुष्य स्तुति करते हैं जो आनन्द (वृषणम्) समस्त सुखों की वर्षा करने वाला है। पुनः (पृत्सु) आध्यात्मिक संग्राम में (सासहिम्) सहनशील है। ईश्वरीयानन्द में निमग्न पुरुष आपत्काल में भी मोहित नहीं होते हैं। पुनः (उ) निश्चयरूप से (लोककृत्नुम्) पृथिव्यादि समस्त लोकों का कर्त्ता है। क्योंकि ईश्वर आनन्द में आकर ही सृष्टि करता है। लोक में भी देखा जाता है कि आनन्द से आप्लावित होकर ही स्त्री पुरुष सन्तान उत्पन्न करते हैं। पुनः जो (हरिश्रियम्) स्थावर-जंगम संसारों को भूषित करने वाला है, ऐसे आनन्द की स्तुति हम सब करते हैं। हे ईश ! हम सदा आपके आश्रय से आनन्दमय होवें यह प्रार्थना आपके निकट है ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा सदा पदार्थों के ऊपर आनन्द वृष्टि कर रहा है। तथापि सब आनन्दित नहीं हैं, यह आश्चर्य है। हे मनुष्यो ! इस जगत् से उस आनन्द को निकाल धारण करने के लिए प्रयत्न करो ॥४॥

परमदेव की स्तुति दिखलाते हैं ॥

येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि ॥५॥

पदार्थः—हे परमदेव ! (येन) जिस आनन्द से युक्त होकर आप (आयवे) मातृगर्भ में वारंवार आनेवाले (मनवे) मननकर्त्ता जीवात्मा के लिये (ज्योतींषि) बहुत प्रकाश (विवेदिथ) देते हैं, हे भगवन् ! (मन्दानः) वह आनन्दमय आप (अस्य बर्हिषः) इस प्रवृद्ध संसार के मध्य में (वि राजसि) विराजमान हैं ॥५॥

भावार्थः—वह इन्द्र हम जीवों को सूर्य्यादिकों और इन्द्रियों के द्वारा भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार की ज्योति दे रहा है जिनसे हमको बहुत सुख मिलते हैं। तथापि न तो उसको हम जानते और न उसको पूजते हैं। हे मनुष्यो ! यहाँ ही वह विद्यमान है। उसी को जान पूजो, यह आशय है ॥५॥

जल के लिये प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (उक्थिनः) विविध भाषाओं के विज्ञाता और स्तोत्र-

तत्त्वविद् विद्वान् (पूर्वथा) पूर्ण के समान अथवा पूर्वकाल के समान (ते) तेरे (तद्) उस सुप्रसिद्ध बलकी (चित् अद्य) आज भी (अनुष्टुवन्ति) क्रमशः स्तुति करते हैं। हे भगवन्! सो तू (वृषपत्नीः) मेघस्वामिक (अपः) जल को (दिवे दिवे) दिन-दिन (जय) अपने आधीन कर। जल के विना स्थावर और जंगम दोनों संसार व्याकुल हो जाते हैं। तदर्थ जल दे॥६॥

भावार्थः—हे भगवन्! तू ही सब से स्तुत्य है। वह तू जब-जब जल की आवश्यकता हो तब-तब जल दिया कर, जिस से सब ही पदार्थ प्राणवान् होते हैं॥६॥

इन्द्र के गुणों की स्तुति करते हैं॥

तव॒ त्यदि॑न्द्रि॒यं बृ॒हत्तव॒ शुष्म॑मु॒त क्रतु॑म्।
वज्रं॑ शिशाति धि॒षणा॒ वरे॑ण्यम्॥७॥

पदार्थः—हे इन्द्र! (धिषणा) हम लोगों की विवेकवती बुद्धि (तव) तेरे (त्यत्) उस सुप्रसिद्ध (इन्द्रियम्) वीर्य्य को (तव) तेरे (बृहत्) महान् (शुष्मम्) बल को (उत) और (क्रतुम्) सृष्ट्यादि पालनरूप कर्म को तथा (वरेण्यम्) स्वीकरणीय (वज्रम्) दण्ड को (शिशाति) गाती है॥७॥

भावार्थः—हमारे सब ही कर्म उसी की विभूतियाँ दिखलावें। यह इसका आशय है॥७॥

इन्द्र की महिमा दिखलाते हैं॥

तव॒ द्यौरि॑न्द्र॒ पौंस्यं॑ पृथि॒वी व॑र्धति॒ श्रवः॑।
त्वामापः॒ पर्व॑तासश्च हिन्विरे॥८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ऐश्वर्य्यशाली परमात्मन्! (तव) तेरे (पौंस्यम्) पुरुषार्थ को (द्यौः) द्युलोक=सूर्य्यलोक (वर्धति) बढ़ाता है। (पृथिवी) यह दृश्यमान हमारी पृथिवी तेरे (श्रवः) यश को (वर्धति) बढ़ाती है (आपः) अन्तरिक्ष लोक मेघादिस्थान (च) और (पर्वतासः) स्वयं मेघ भी (त्वाम्) तुझ को (हिन्विरे) प्रसन्न करते हैं॥८॥

भावार्थः—सूर्य्यादि सब ही पदार्थ उसकी महिमा को दिखला रहे हैं॥८॥

इन्द्र की महिमा दिखलाते हैं॥

त्वां विष्णु॑र्बृ॒हन्क्षयो॑ मि॒त्रो गृ॑णाति॒ वरु॑णः।
त्वां शर्धो॑ मद॒त्यनु॒ मारु॑तम्॥९॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (बृहन्) पृथिव्यादि लोकों की अपेक्षा बहुत बड़ा और (क्षयः) सर्व प्राणियों का निवासहेतु (विष्णुः) यह सूर्य्यदेव (त्वाम् गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं। अर्थात् तेरे महान् महिमा को दिखलाते हैं। तथा (मित्रः) ब्राह्मण अथवा दिवस (वरुणः) क्षत्रिय अथवा रात्रि तेरी स्तुति करते हैं। (मारुतम्) वायु का (शर्धः) बल (त्वाम् अनु) तेरी ही शक्ति से (मदति) मदयुक्त होता है। तेरे ही बल से वह भी बलवान् होता है ।।९।।

भावार्थः – भाव यह है कि हे इन्द्र ! यह महान् सूर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय और अहोरात्र आपकी ही कीर्त्ति दिखला रहे हैं। तथा इस वायु का वेग या बल भी आप से ही प्राप्त होता है। आप ऐसे महान् देव हैं। आपकी ही स्तुति मैं किया करूं ।।९।।

इन्द्र की स्तुति दिखलाते हैं ।।

त्वं वृषा जनानां मंहिष्ठ इन्द्र जज्ञिषे ।

सत्रा विश्वा स्वपत्यानि दधिषे ।।१०।।

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (जनानाम्) हम मनुष्यों के मध्य (त्वम्) तू ही (वृषा) निखिल कामनाओं का दाता है और तू ही (मंहिष्ठः जज्ञिषे) परमोदार दाता है। तथा (सत्रा) साथ ही (विश्वा) समस्त (स्वपत्यानि) अपत्य धनधान्य ऐश्वर्य को (दधिषे) धारण करने वाला है ।।१०।।

भावार्थः—उस इन्द्र को परमोदार समझ कर उपासना करे ।।१०।।

एक इन्द्र ही पूज्य है, यह इससे दिखलाते हैं ।।

सत्रा त्वं पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि तोशसे ।

नान्य इन्द्रात्करणं भूय इन्वति ।।११।।

पदार्थः—(पुरुष्टुत) हे सर्वस्तुत ! हे बहुपूज्य ! हे स्तवनीयतम देव ! (त्वम् एकः) तू एक ही (सत्रा) सर्वोपकरण सर्वसाधन सहित (वृत्राणि) संसारोत्थित सर्व विघ्नों को (तोशसे) विनष्ट करता है। हे मनुष्यो ! (इन्द्रात्) उस परमेश्वर को छोड़ (अन्यः) अन्य (न) कोई नहीं (भूयः) उतना अधिक (करणम्) कार्य (इन्वति) कर सकता है। क्योंकि वह सर्वसाधनसम्पन्न होने के कारण सब कुछ कर सकता है इसी हेतु वह शक्र नाम से वारंवार पुकारा गया है ।।११।।

भावार्थः—वह एक ही सर्व विघ्नों को विनष्ट करता है। वह सब कुछ कर सकता है यह जान उसकी उपासना करे ।।११।।

इन्द्र की महिमा की स्तुति दिखलाते हैं ॥

यदि॑न्द्र मन्म॒शस्त्वा॒ नाना॒ हव॑न्त ऊ॒तये॑ ।

अ॒स्माके॑भि॒र्नृभि॒रत्र॒ स्व॑र्जय ॥१२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र परमात्मन् ! (यद्) यद्यपि (त्वा) तुझको (मन्मशः) मननीय स्तोत्रों से (नाना) नाना स्थानों में (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (हवन्ते) पूजते हैं, तथापि (अस्माकेभिः नृभिः) हमारे मनुष्यों के साथ (अत्र) हमारे गृह पर (स्वः) सुखपूर्वक (जय) जय कीजिये ॥१२॥

भावार्थः—उसी की कृपा से विजय भी होता है अतः उसके लिये भी वही उपासनीय है ॥१२॥

स्तुति का विधान करते हैं ॥

अरं॒ क्षया॑य नो म॒हे विश्वा॑ रू॒पाण्या॑वि॒शन् ।

इन्द्रं॒ जैत्रा॑य ह॒र्षय॒ शची॒पति॑म् ॥१३॥

पदार्थः—हे स्तुतिपाठक विद्वन् ! (नः) हमारे (महे) महान् (क्षयाय) गृह में उस परमात्मा के (विश्वा) सब (रूपाणि) रूप अर्थात् धन जन द्रव्यादि निखिलरूप अर्थात् सर्व पदार्थ (आविशन्) विद्यमान हैं। इस के लिये इन्द्र प्रार्थनीय नहीं किन्तु (जैत्राय) आभ्यन्तर और बाह्यशत्रुओं को जीतने के लिये (शचीपतिम्) निखिल कर्मों और शक्तियों के अधिपति (इन्द्रम्) इन्द्र को (हर्षय) प्रसन्न करे ॥१३॥

भावार्थः—जैसे उसकी कृपा से मेरा गृह सर्वधन-सम्पन्न है वैसे ही तुम्हारा गृह भी वैसा ही हो, यदि उसी को पूजो ॥१३॥

अष्टम मण्डल में यह पन्द्रहवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य षोडशसूक्तस्य इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ९—१२ गायत्री । २—७ निचृद्गायत्री । ८ विराड्गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

इन्द्र की स्तुति दिखलाते हैं ॥

प्र स॒म्राजं॑ चर्षणी॒नामिन्द्रं॑ स्तोता॒ नव्यं॑ गी॒र्भिः ।

नरं॑ नृ॒षाहं॒ मंहि॑ष्ठम् ॥१॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (सम्राजम्) महाराज

(नव्यम्) स्तुत्य=प्रशंसनीय (नरम्) जगन्नेता (नृषाहम्) दुष्ट मनुष्यों के पराजयकारी और (मंहिष्ठम्) अतिशय दानी परमोदार (इन्द्रम्) परमदेव की (गीर्भिः) स्व-स्व वचनों से (प्रस्तोत) अच्छे प्रकार स्तुति कीजिये ॥१॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! इन्द्र की ही प्रशंसा करो जो मनुष्यों का महाराज और नायक है। जो परमोदार और दुष्टनियन्ता है ॥१॥

इन्द्र की महिमा दिखलाते हैं ॥

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या।
अपामवो न समुद्रे ॥२॥

पदार्थः—(न) यथा=जैसे (समुद्रे) समुद्र में (अपाम्) जल का (अवः) तरंग समूह शोभित होता है वैसे ही (यस्मिन्) जिस परमदेव में (विश्वानि) समस्त (च) और (श्रवस्या) श्रवणीय=श्रवण योग्य (उक्थानि) प्राणियों की विविध भाषाएँ (रण्यन्ति) शोभित होती हैं। अर्थात् जिस परमात्मा में समस्त भाषाएं स्थित हैं उस की किसी भाषा द्वारा स्तुति कीजिये वह उस-उस भाषा को और भाव को समझ जायगा। अतः निःसन्देह होकर उसकी उपासना कीजिये ॥२॥

भावार्थः—सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी परमात्मा की जो स्तुति-प्रार्थना की जाती है वह समुद्र की जल-तरङ्गवत् शोभित होती है ॥२॥

सकाम प्रार्थना का विधान करते हैं ॥

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम्।
महो वाजिनं सनिभ्यः ॥३॥

पदार्थः—(महः) अति महान् (वाजिनम्) विज्ञान के (सनिभ्यः) लाभों के लिये (भरे कृत्नुम्) संग्राम में अथवा संसार में प्रतिक्षण कार्य्यकर्त्ता और (ज्येष्ठराजम्) सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, पृथिवी आदि ज्येष्ठ पदार्थों में विराजमान (तम्) उस इन्द्र को (सुष्टुत्या) शोभन स्तुति से मैं उपासक (विवासे) सेवता हूँ ॥३॥

भावार्थः—इन सूर्य्य चन्द्र पृथिवी आदि पदार्थों में से सदा विज्ञान का लाभ करे। इनके अध्ययन से ही मनुष्य धनवान् होते हैं ॥३॥

पुनः इन्द्र की स्तुति करते हैं ॥

यस्यानूना गभीरा मदा उरवस्तरुत्राः।
हर्षुमन्तः शूरसातौ ॥४॥

पदार्थः—(यस्य) जिस ईश्वर के (मदाः) विविध आनन्दप्रद जगत् (अनूनाः) अन्यून अर्थात् पूर्ण (गभीराः) अत्यन्त गम्भीर (उरवः) जालवत् विस्तीर्ण (तरुत्राः) सन्तों के तारक और (शूरसातौ) जीवन-यात्रा में (हर्षुमन्तः) आनन्दयुक्त हैं। हे मनुष्यो ! उसकी सेवा करो ॥४॥

भावार्थः—मदाः=ईशरचित विविध संसार का नाम मद है क्योंकि इस में ही जीव क्रीड़ा करते हैं। वह अन्यून, गम्भीर, उरु और रक्षक है। शूरसाति=संग्राम; जिस में शूरवीर पुरुष ही लाभ उठा सकते हैं। देखते हैं इस जीवन यात्रा में भी वे ही कृत-कृत्य होते हैं जो मानसिक, आध्यात्मिक और शारीरिक तीनों बलों में सुपुष्ट हैं ॥४॥

पुनः इन्द्र की स्तुति कहते हैं॥

तमिद्धनेषु हितेष्वधिवाकाय हवन्ते।

येषामिन्द्रस्ते जयन्ति ॥५॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (हितेषु धनेषु) कल्याणकारी धनों की प्राप्ति होने पर विद्वान् जन (अधिवाकाय) अधिक स्तुति करने के लिये (तम् इत्) उसी इन्द्र की (हवन्ते) विद्वान् जन स्तुति करते हैं तथा हे मनुष्यो ! (येषाम्) जिनके पक्ष में (इन्द्रः) इन्द्र रहता है (ते) वे ही (जयन्ति) विजयी होते हैं ॥५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! धन के निमित्त वही स्तुत्य है। इस में कोई सन्देह नहीं कि जिसके पक्ष में ईश्वर होता है वह अवश्य विजयी होता है क्योंकि वह सत्य के लिये ही युद्ध करता है ॥५॥

पुनः वही विषय आ रहा है॥

तमिच्च्यौत्नैरार्यन्ति तं कृतेभिश्चर्षणयः।

एष इन्द्रो वरिवस्कृत ॥६॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! विवेकीजन (तम् इत्) उसी इन्द्र की (च्यौत्नैः) बलवान् स्तोत्रों से (आर्यन्ति) स्तुति करते हैं, यद्वा श्रेष्ठ बनाते हैं और (चर्षणयः) मनुष्यगण (कृतेभिः) निज-निज कर्मों के द्वारा (तम्) उसी इन्द्र के निकट (आर्यन्ति) जाते हैं यद्वा आश्रय लेते हैं। (एषः इन्द्रः) यही परमात्मा (वरिवस्कृत्) धन का भी कर्त्ता-धर्त्ता है ॥६॥

भावार्थः—भगवान् के लिये ही उत्तमोत्तम स्तोत्र रचें और ऐसे शुभ-कर्म करें जिनसे ईश्वर की प्राप्ति हो। हे मनुष्यो ! वही सर्व प्रकार के धनों का प्रदाता है, यह जान उसकी उपासना करो ॥६॥

ईश्वर का महत्त्व दिखलाते हैं ॥

इन्द्रो॑ ब्र॒ह्मेन्द्र॒ ऋषि॒रिन्द्रः॑ पु॒रू पु॑रुहू॒तः ।

म॒हान्म॒हीभिः॒ शची॑भिः ॥७॥

पदार्थः—यह (इन्द्रः) परमात्मा (ब्रह्मा) सर्व पदार्थों से बड़ा है (इन्द्रः) परमात्मा ही (ऋषिः) सर्वद्रष्टा महाकवि है। (इन्द्रः) वही इन्द्र (पुरू) बहुत प्रकार से (पुरुहूतः) बहुतों से आहूत होता है। वही (महीभिः) महान् (शचीभिः) सृष्टि आदि कर्म द्वारा (महान्) परम महान् है ॥७॥

भावार्थः—वह सबसे महान् है क्योंकि इस अनन्त सृष्टि का जो कर्त्ता है वह अवश्य इन सबसे सब प्रकार से महान् होना चाहिये। सृष्टिरचना इसकी महती क्रिया है, हे मनुष्यो ! इसकी इस लीला को देखो ॥७॥

इन्द्र की स्तुति को दिखलाते हैं ॥

स स्तोम्यः॒ स हव्यः॑ स॒त्यः सत्वा॑ तुविकू॒र्मिः ।

एक॑श्चि॒त्सन्न॒भिभू॑तिः ॥८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (सः) वह सुप्रसिद्ध भगवान् ही (स्तोम्यः) विविध स्तोत्रों से स्तवनीय है। (सः हव्यः) वही शुभ कर्मों में पूजार्थ आवाहनीय=निमन्त्रणीय है। वही (सत्यः) निखिल विद्यमान पदार्थों में रहकर साधुकारी है यद्वा सत्यस्वरूप है। पुनः (स त्वा) स्व नियमों से दुष्ट पुरुषों व प्राणियों का निपातन करने वाला है। पुनः (तुविकूर्मिः) अनन्तकर्मा, सर्वकर्मा, विश्वकर्मा है। इस कारण (एकः चित्) एक ही अन्यान्यसाहाय्य रहित ही (सन्) होता हुआ (अभिभूतिः) संसारों के निखिल विघ्नों को विनष्ट करने वाला है ॥८॥

भावार्थः—भगवान् के विषय में जितना कहा जाय वह सब ही अति स्वल्प है। हे मनुष्यो ! वही स्तुत्य, हव्य, सत्य और विश्वकर्मा है। वह असहाय सर्व कार्य कर रहा है ॥८॥

इन्द्र के गुण दिखलाये जाते हैं ॥

तम॒र्केभि॒स्तं साम॑भि॒स्तं गा॑य॒त्रैश्च॑र्ष॒णयः॑ ।

इन्द्रं॑ वर्धन्ति क्षि॒तयः॑ ॥९॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (चर्षणयः) तत्त्वज्ञ होतृरूप मानव (अर्कैः) अर्चनीय मन्त्रों से (तम्) उसी परमप्रसिद्ध इन्द्र को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं अर्थात् उसके विविध

गुणों को गाते हैं । (सामभिः) उद्गातृरूप मनुष्य सामगानों से (तम्) उसी को बढ़ाते हैं (तम्) उसी को (गायत्रैः) गायत्री आदि छन्दों से बढ़ाते हैं (क्षितयः) विज्ञानाधार पर निवासकर्ता मनुष्य विविध प्रकार से (इन्द्रम्) इन्द्र की स्तुति-प्रार्थना करते हैं ॥९॥

भावार्थः—हे विवेकी जनो ! जहाँ देखो क्या यज्ञों में, क्या अन्यत्र, सर्वत्र ही बुद्धिमान् जन भी उसी का यशोगान करते हैं । आप भी उसी को गाओ, यह शिक्षा इससे देते हैं ॥९॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु ।
सासह्वांसं युधामित्रान् ॥१०॥

पदार्थः—इस ऋचा के द्वारा पुनः इन्द्र के ही विशेषण कहते हैं । (अच्छ) अच्छे प्रकार वह इन्द्र उपासकों की ओर (वस्यः) प्रशस्त धन (प्रणेतारम्) ले जाने वाला है । पुनः (समत्सु) संसार में यद्वा संग्रामों में (ज्योतिः कर्त्तारम्) प्रकाश देने वाला है तथा (युधा) संग्राम द्वारा (अमित्रान्) संसार के शत्रुभूत मनुष्यों को (सासह्वांसम्) निर्मूल करने वाला है ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! यदि उसके शरण में अन्तःकरण से प्राप्त होंगे तब निश्चय है कि वह तुमको धन की ओर ले जायगा, महान् से महान् संग्राम में तुमको ज्योति देगा और अन्त में तुम्हारे निखिल शत्रुओं का समूलोच्छेद करेगा ॥१०॥

पुनः उसी अर्थ को कहते है ॥

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥११॥

पदार्थः—(पप्रिः) मनोरथों को पूर्णकर्त्ता परमरक्षक (पुरुहूतः) बहुत जनों से आहूत=निमन्त्रित (सः इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशाली परमात्मा (विश्वाः) समस्त (द्विषः) द्वेष करने वाली प्रजाओं से (नः) हम उपासक जनों को (नावा) नौका साधन द्वारा (स्वस्ति) कल्याण के साथ (अति पारयाति) पार उतार देवे अर्थात् दुष्टजनों से हम को सदा दूर रखे—यह इससे प्रार्थना है ॥११॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! सदा दुष्टजनों से बचने के लिये परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये । स्वयं कभी दुराचार में न फँसे ॥११॥

इससे ईश्वर की प्रार्थना करते हैं ॥

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च ।

अच्छा च नः सुम्नं नेषि ॥१२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (सः त्वम्) वह तू (नः) हम उपासक जनों को (वाजेभिः) विज्ञान (दशस्य) दे । यद्वा विज्ञानों के साथ धन दे । (च) और अन्यान्य अभीष्ट वस्तुओं को भी दे । (च) और (गातुया) शोभन मार्ग दिखला (च) और (नः) हमको (सुम्नम्) सुख (अच्छ नेषि) अच्छे प्रकार दे ॥१२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! परमात्मा ही से धन, जन, ज्ञान और बल की प्रार्थना करो वही तुम्हें सन्मार्ग दिखलावेगा ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह सोलहवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चदशर्चस्य सप्तदशसूक्तस्य इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१–३, ७, ८ गायत्री । ४–६, ९–१२ निचृद्गायत्री । १३ विराड्गायत्री । १४ आसुरी बृहती । १५ आर्षी भुरिग्बृहती ॥ स्वरः १–१३ षड्जः । १४, १५ मध्यमः ॥

इससे परमदेवता की प्रार्थना करते हैं ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।

एदं बर्हिः सदो मम ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! परमैश्वर्य देव (आ याहि) मेरे समीप आ (हि) क्योंकि हम उपासकगण (ते) तेरे लिये (सुषुम) यज्ञ करते हैं । इस हेतु (इमम् सोमम्) यज्ञ में स्थापित निखिल पदार्थों को यद्वा अत्युत्तम यज्ञीय भाग को (पिब) कृपादृष्टि से देख । हे भगवन् ! (मम) मेरे (इदम्) इस (बर्हिः) बृहद् हृदयरूप आसन पर (आ सदः) बैठ ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य जो कुछ शुभकर्म करते—पकाते, खाते, होम करते और देते हैं, उन सबको प्रथम परमात्मा के निकट समर्पित करें । यह शिक्षा इस ऋचा द्वारा दी गई है ॥१॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।

उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्र) सर्वद्रष्टा ईश्वर ! (ब्रह्मयुजा) महामहायोजनायुक्त । महामहारचना संयुक्त पुनः (केशिना) सूर्य्यादिरूप केशवान् यद्वा सुख के स्वामी (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर और जंगमात्मक जो संसारद्वय हैं वे (त्वाम्) तुझको (आ वहताम्) ले आवें=प्रकाशित कर दिखलावें । हे इन्द्र ! (नः) हमारे (ब्रह्माणि) स्तोत्र और स्तुति-प्रार्थनाओं को (उप) समीप आकर (शृणु) सुन ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि यदि हम प्रेम श्रद्धा और भक्ति भाव सम्पन्न होकर उसकी प्रार्थना करें तो वह अवश्य सुनेगा । यदि उसकी विभूतियां देखना चाहें तो नयन उठाकर इस महामहाऽद्भुत जगत् को देखें । इसी में वह अपनी लीला प्रकट कर रहा है ॥२॥

पुनः इन्द्र की प्रार्थना करते हैं ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमदेव ! (ब्रह्माणः) शुद्ध, पवित्र, अहिंसक स्तुतिपरायण स्तुतिकर्त्ता (सोमिनः) सकल सामग्रीसम्पन्न सोमरसयुक्त और (सुतावन्तः) सर्वदा शुभकर्मकारी (वयम्) हम उपासकगण (युजा) योगद्वारा (त्वाम्) तुझको (हवामहे) बुलाते हैं । हे भगवन् ! जिस कारण हम शुद्ध पवित्र शुभकर्मकारी हैं अतः हमारे मन में आप निवास करें जिससे दुर्व्यसनादि दोष हमको न पकड़ें ॥३॥

भावार्थः—मनुष्य प्रथम वेदविहित यज्ञों को और सत्यादिकों के अभ्यास द्वारा अपने अन्तःकरण को शुद्ध पवित्र बनावे, तब उससे जो कुछ प्रार्थना करेगा वह स्वीकृत होगी । अतः मूल में 'ब्रह्माणः' इत्यादि पद आए हैं ॥३॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप ।
पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥४॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमेश्वर ! (सुतावतः) सदा शोभन कर्मकर्त्ता (नः) हमारे समीप (आयाहि) तू आ । जिस कारण तेरी आज्ञा के आश्रय से हम उपासक सर्वदा शुभकर्म ही करते हैं अतः हमारी रक्षा के लिये और पितृवत् देखने के लिये आ । तब (अस्माकम्) हमारी (सुष्टुतीः) अच्छी-अच्छी स्तुतियों को (उप) समीप में आकर

सुन और (सुशिप्रिन्) हे शिष्टजनरक्षक दुष्टविनाशक महादेव ! (अन्धसः) हमारे विविध प्रकार के अन्नों को (पिब) कृपादृष्टि से देख ॥४॥

भावार्थः—जो ईश्वर की आज्ञा में रहकर शुभकर्म करते जाते हैं उन पर परमदेव सदा प्रसन्न रहते हैं और सर्वभाव से उनकी रक्षा करते हैं ॥४॥

इससे प्रार्थना को दिखलाते हैं ॥

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु ।
गृभाय जिह्वया मधु ॥५॥

पदार्थः—ये स्थावरजंगमात्मक द्विविध संसार ही ईश्वर के शरीर उदर और अवयव इत्यादिक हैं। और भी जीवशरीर भी प्रधानतया दो प्रकार के हैं। एक मानवशरीर जहाँ स्पष्ट भाषा विवेक और मानसिक उन्नति-अवनति होती रहती हैं। द्वितीय पश्वादिक शरीर जो सर्वदा एकरस और जिनकी स्थिति अवस्था प्रायः सृष्टि की आदि से एक ही प्रकार की चली आती है। ये दोनों भी ईश्वरशरीर हैं क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान है यहां ही स्थित होकर वह साक्षिरूप से देखता है। परमात्मा में सर्ववर्णन उपचारमात्र से होता है। न वह खाता, न पीता न सोता, न जागता, न उसमें किञ्चित् विकार है तथापि भक्तजन अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर से मनुष्यवत् निवेदन स्तुति-प्रार्थना करते हैं। यही भाव इन मन्त्रों में दिखलाया गया है। अथ ऋगर्थ—हे इन्द्र ! (ते) तेरे उत्पादित और पालित (कुक्ष्योः) स्थावर जंगमरूप उदरों में (आ सिञ्चामि) मैं उपासक प्रेमरूप जल अच्छे प्रकार सिक्त करता हूँ। हे परमात्मन् ! वह प्रेमजल (गात्रा) सम्पूर्ण अवयवों में (अनु धावतु) क्रमशः प्रविष्ट होवे। तेरी कृपा से सब पदार्थ प्रेममय होवें। हे ईश ! तू भी (मधु) प्रेमरूप मधु यद्वा माधुर्यपित प्रेम को (जिह्वया) रसनेन्द्रिय से (गृभाय) ग्रहण कर अर्थात् उस प्रेम का सर्वत्र विस्तार हो जिससे परस्पर हिंसा, राग, द्वेष आदि दुर्गुण नहीं हैं। क्या यह मेरी प्रार्थना तू पूर्ण करेगा ? ॥५॥

भावार्थः हे प्रेममय परमात्मन् ! हमारी सारी क्रियाएं प्रेमयुक्त हों क्योंकि तू सब में व्याप्त है। जिससे हम घृणा अथवा राग द्वेष करेंगे वह तेरा ही शरीर है अर्थात् यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानो ईश्वर का शरीर है क्योंकि वह उसमें व्यापक है तब हम किससे राग और द्वेष करें, यह पुनः-पुनः विचारना चाहिये ॥५॥

इन्द्र की प्रार्थना करते हैं ॥

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान्तन्वे३तवं।

सोमः शमस्तु ते हृदे ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (संसुदे) जगत् को अच्छे प्रकार दानदाता (ते) तेरे लिये मेरा (सोमः) सोम पदार्थ (स्वादु अस्तु) स्वादु होवे। (तव तन्वे) तेरे जगद्रूप शरीर के लिये वह (मधुमान्) मधुर सोम हितकर होवे। (ते हृदे) तेरे संसाररूप हृदय के लिये (शम् अस्तु) सुखकर होवे ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जगत् में प्रेम प्रसारित करो। यहां प्रेम का अभाव देखते हैं, राग, द्वेष, हिंसा, द्रोह आदि से यह संसार पूर्ण हो रहा है। मनुष्य में विवेक इसी कारण दिया गया है कि वह इन कुकर्मों से बचे और बचावे ॥६॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः।

प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥७॥

पदार्थः—(विचर्षणे) हे सर्वद्रष्टा (इन्द्र) ईश्वर (अयम् सोमः) यह मेरा यज्ञ संस्कृत सोम पदार्थ (त्वा प्र सर्पतु) तुझको प्राप्त होवे। वह कैसा है ? (अभि संवृतः) नाना गुणों से भूषित है। यहां दृष्टान्त देते हैं (जनीः इव) जैसे कुलवधू शुद्ध पवित्र वस्त्रों से आच्छादित रहती है ॥७॥

भावार्थः—ईश्वर को निखिल पदार्थ समर्पित करे, इसका भी यह आशय है कि जगत् के कल्याण के हेतु प्रतिदिन यथाशक्ति दान प्रदान करता रहे। पुरुषार्थ और सत्यता से प्राप्त धन को अवश्यमेव देशहित और मनुष्यहित में लगावें ॥७॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे।

इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥८॥

पदार्थः—(अन्धसः मदे) अन्न के आनन्द में अर्थात् अन्न को प्राप्त कर सर्व प्राणी आनन्दित होवें इस अभिप्राय से (इन्द्रः) परमदेव इन्द्र (वृत्राणि) निखिल विघ्नों को (विघ्नते) विनष्ट किया करता है। जिस इन्द्र के (तुविग्रीवः) ग्रीवास्था-

नीय सूर्य्यादि बहुत विस्तीर्ण हैं पुनः (वपोदरः) जिसके उदरस्थानीय आकाश बहुत स्थूल और सूक्ष्म हैं और जिसके (सुबाहुः) बाहुस्थानीय पृथिव्यादिलोक सुशोभन हैं। हे भगवन् ! तू महान् है। तू हम लोगों के विघ्नों का विनाश किया कर ॥८॥

भावार्थः—जो जन सदा ईश्वर के आश्रित होकर शुभकर्म में प्रवृत्त रहते हैं उनके विघ्न स्वयं उसकी कृपा से विनष्ट हो जाते हैं, उसकी महान् महिमा है ॥८॥

विघ्नविनाश के लिये प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।

वृत्राणि वृत्रहञ्जहि ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र परमदेव ! तू (ओजसा) निज महती शक्ति से (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् का (ईशानः) स्वामी है। वह तू (पुरः) हम प्राणियों के सन्मुख (प्रेहि) आ जा। (वृत्रहन्) हे निखिल विघ्नविनाशक देव (वृत्राणि) हमारे सकल विघ्नों को (जहि) विनष्ट कर ॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! इस सम्पूर्ण जगत् का स्वामी वही ईश है। वही तुम्हारे समस्त विघ्नों का विनाश कर सकता है। उसी की उपासना सब कोई करो ॥९॥

पुनः प्रार्थना का विधान करते हैं ॥

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।

यजमानाय सुन्वते ॥१०॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! ((ते) तेरा (अङ्कुशः) अङ्कुश नाम का आयुध (दीर्घः अस्तु) लम्बा होवे। (येन) जिस अङ्कुश से (सुन्वते) शुभकर्मों को करते हुए (यजमानाय) यजमान को (वसु) धन (प्रयच्छसि) देता है ॥१०॥

भावार्थः—यद्यपि भगवान् कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं रखता है तथापि आरोप करके सर्व वर्णन किया जाता है। जो कोई शुभकर्म करते रहते हैं वे कदापि अन्नादिकों के अभाव से पीड़ित नहीं होते। यह भगवान् की कृपा है ॥१०॥

पुनः प्रार्थना का ही विधान करते हैं ॥

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।

एहीमस्य द्रवा पिब ॥११॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते) तेरा (अयम् सोमः) यह रसात्मक संसार (बर्हिषि अधि) आकाश में स्थापित (निपूतः) अतिशय शुद्ध है (ईम्) हे ईश ! इस समय (अस्य एहि) इस रसात्मक संसार के निकट आ । (द्रव) इस पर द्रवीभूत हो और (पिब) उसे कृपादृष्टि से देख ॥११॥

भावार्थः—यह संसार ही परमात्मा का सोम अर्थात् प्रिय वस्तु है । जैसे हम जीव सोमरस से बहुत प्रसन्न होते हैं परमात्मा भी इससे प्रसन्न होता है यदि यह छल कपट आदि से रहित शुद्ध पवित्र हो । इससे यह शिक्षा होती है कि प्रत्येक मनुष्य को शुद्ध पवित्र होना चाहिये ॥११॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

शाचिंगो शाचिंपूजनायं रणाय ते सुतः ।

आखंण्डल प्र हूंयसे ॥१२॥

पदार्थः—(शाचिगो) हे दृढतर पृथिव्यादि लोकोत्पादक ! (शाचिपूजन) हे प्रख्याताभ्यर्चन महादेव ! (ते) तेरा (अयम् सुतः) उत्पादित यह संसार (रणाय) सकल जीवों को आनन्द पहुँचाने के लिये विद्यमान है । इस कारण (आखण्डल) हे दुष्टनिवारक ! (प्र हूयसे) तू सर्वत्र उत्तमोत्तम स्तोत्रों से पूजित हो रहा है ॥१२॥

भावार्थः—जिस कारण ईश्वर ने इस जगत् को रचा है और वह इसके द्वारा सर्वप्राणियों को सुख पहुंचा रहा है, अतः इस तत्त्व को जानकर ऋषि मुनिगण इसकी सदा पूजा किया करते हैं ॥१२॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यस्तें शृङ्गवृषो नपात्प्रणंपात्कुण्डपाय्यः ।

न्यंस्मिन्दध्र आ मनंः ॥१३॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (यः ते) जो तेरा सृष्ट (शृङ्गवृषः) यह महान् सूर्य्य है (अस्मिन्) इसमें तत्त्वविद् जन (मनः नि आ दध्रे) मन स्थापित करते हैं । अर्थात् इसको आश्चर्य्य दृष्टि से देखते हैं क्योंकि यह (नपात्) निराधार आकाश में स्थापित रहने पर भी नहीं गिरता है, पुनः (प्रणपात्) अपने परिस्थित ग्रहों को कभी गिरने नहीं देता, किन्तु यह (कुण्डपाय्यः) उन पृथिव्यादि लोकों को अच्छे प्रकार पालन कर रहा है । ऐसा महान् अद्भुत यह सूर्य्य है ॥१३॥

भावार्थः—यद्यपि इस संसार में एक-एक पदार्थ ही अद्भुत है तथापि यह सूर्य्य तो अत्यद्भुत वस्तु है इसको देख-देख कर ऋषिगण चकित होते हैं। हे इन्द्र ! यह तेरी अद्भुत कीर्ति है ॥१३॥

इन्द्र की महिमा दिखलाते हैं ॥

वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम् ।

द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा ॥१४॥

पदार्थः—यहां आधी ऋचा प्रत्यक्षकृत और आधी परोक्षकृत है। (वास्तोः पते) हे निवासस्थानीय समस्त जगत् के प्रभो ! आपकी कृपा से (स्थूणा) इस जगद्-रूप गृह का स्तम्भ (ध्रुवा) स्थिर होवे। (सोम्यानाम्) परमदर्शनीय सकल प्राणियों का (अंसत्रम्) बल बढ़े। (इन्द्रः) स्वयं इन्द्र (द्रप्सः) इसके ऊपर दयावान् होवे। दुष्टों की (शश्वतीनाम्) अतिशय पुरानी (पुराम्) पुरियों का भी (भेत्ता) विनाशक होवे और (मुनीनाम्) मुनियों का (सखा) मित्र होवे ॥१४॥

भावार्थः—सब के कल्याण के लिये ईश्वर से प्रार्थना करे। सब कोई निज बल बढ़ावे। अपने-अपने स्थानों को सुदृढ़ बना रक्खे और ऐसा शुभ आचरण करे कि वह ईश सदा उस पर प्रसन्न रहे ॥१४॥

उसकी स्तुति दिखलाते हैं ॥

पृदाकुसानुर्यजतो गवेषण एकः सन्नभि भूयसः ।

भूर्णिमश्वं नयत्तुजा पुरो गृभेन्द्रं सोमस्य पीतये ॥१५॥

पदार्थः—जो इन्द्र (पृदाकुसानुः) मनोरथों को पूर्ण करनेवाला और परम-दाता है। जो (यजतः) परम यजनीय=पूजनीय है। जो (गवेषणः) गो आदि पशुओं को देने वाला है और जो (एकः सन्) अकेला ही (भूयसः) बहुत विघ्नों का (अभि) पराभव करने वाला है। मनुष्यगण (इन्द्रम्) उस इन्द्र को (सोमस्य पीतये) अपनी-अपनी आत्मा की रक्षा के लिये (तुजा) शीघ्रगामी (गृभा) ग्रहणयोग्य स्तोत्र से (पुरः) अपने-अपने आगे (नयत्) लावे। जो इन्द्र (भूर्णिम्) सर्व का भरण-पोषणकर्ता और (अश्वम्) सर्वत्र व्याप्त है ॥१५॥

भावार्थः—बुद्धिमान् जन केवल उसी की उपासना किया करें, क्योंकि इस जगत् का स्वामी वही है। वही सब में व्याप्त और चेतन है ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह सत्रहवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

द्वाविंशत्यृचस्याष्टादशसूक्तस्य इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः॥ देवताः—१—७, १०—२२ आदित्याः। ८ अश्विनौ। ९ अग्निसूर्यानिलाः॥ छन्दः—१, १३, १५, १६ पादनिचृदुष्णिक्। २ आर्ची स्वराडुष्णिक्। ३, ८, १०, ११, १८, २२ उष्णिक्। ४, ९, २१ विराडुष्णिक्। ५—७, १२, १४, १९, २० निचृदुष्णिक्॥ ऋषभः स्वरः॥

किससे भिक्षा माँगे यह दिखाते हैं॥

इदं ह नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः।
आदित्यानामपूर्व्यं सवीमनि ॥१॥

पदार्थः—(आदित्यानाम् एषाम्) इन आचार्य्यों की (सवीमनि) प्रेरणा होने पर (मर्त्यः) ब्रह्मचारी और अन्यान्य जन भी (नूनम्) निश्चय ही (इदम् ह) इस (अपूर्व्यम्) नूतन-नूतन (सुम्नम्) विज्ञानरूप महाधन को (भिक्षेत) माँगे ॥१॥

भावार्थः—यहाँ प्रथम सदाचार की शिक्षा देते हैं कि जब-जब आचार्य या विद्वान् आज्ञा देवें तब-तब उनसे विज्ञान की भिक्षा माँगे। यद्वा [आदित्य=सूर्य्य] इस संसार में सूर्य्य से भी नाना सुख की प्राप्ति मनुष्य करे ॥१॥

आचार्य्य कैसे होते हैं यह दिखलाते हैं॥

अनर्वाणो ह्येषां पन्था आदित्यानाम्।
अदब्धाः सन्ति पायवः सुगेवृधः ॥२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (हि) जिस कारण (एषाम् आदित्यानाम्) इन बुद्धिपुत्र आचार्यों के (पन्थाः) मार्ग (अनर्वाणः) निर्दोष हैं। अतएव (अदब्धाः) सदा किन्हीं मनुष्यों से वे हिंसित नहीं होते, उन मार्गों की लोग रक्षा करते ही रहते हैं। पुनः वे (पायवः) नाना प्रकार से रक्षक होते हैं और (सुगेवृधः) सुख के विषय में सदा बढ़ने वाले होते हैं ॥२॥

भावार्थः—विद्वानों और आचार्य्यों से सुरचित धर्मादि मार्ग अतिशय आनन्दप्रद होते हैं। अत उनकी रक्षा करना मनुष्यमात्र का परम धर्म है ॥२॥

सब ही उपकार करें यह इससे दिखलाते हैं॥

तत्सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा।
शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे ॥३॥

पदार्थः—(सविता) संसार का जनक (भगः) भजनीय (वरुणः) स्वीकरणीय (मित्रः) सर्वस्नेही (अर्य्यमा) श्रेष्ठों से माननीय परमात्मा (नः) हमको (सप्रथः) सर्वत्र विस्तीर्ण (तत्) वह (शर्म) कल्याण वा गृह (सु यच्छन्तु) अच्छे प्रकार देवें (यत्) जिसको हम (ईमहे) चाहते हैं ।।३।।

भावार्थः—यदि हम धर्मभाव से भावित होकर ईश्वर से प्रार्थना करें तो वह अवश्य स्वीकृत हो ।।३।।

बुद्धि को सम्बोधित कर उपदेश देते हैं ।।

देवेभिर्देव्यदितेऽरिष्टभर्मन्ना गहि ।

स्मत्सूरिभिः पुरुप्रिये सुशर्मभिः ।।४।।

पदार्थः—(देवि) हे दिव्यगुणयुक्ते (अरिष्टभर्मन्) अदुष्टपोषिके (पुरुप्रिये) बहुप्रिये (अदिते) बुद्धे ! आप (सूरिभिः) नवीन-नवीन आविष्कारकारी विद्वानों (सुशर्मभिः) और मङ्गलमय (देवेभिः) दिव्यगुण-समन्वित पुरुषों के साथ (स्मत्) जगत् की शोभा के लिये (आगहि) आइये ।।४।।

भावार्थः—ऐसे-ऐसे प्रकरण में अदिति नाम सुबुद्धि का है । विद्वानों और मंगलकारी मनुष्यों की यदि सुबुद्धि हो तो संसार का बहुत उपकार हो सकता है, क्योंकि वे तत्त्ववित् पुरुष हैं । अतः बुद्धि के लिए प्रार्थना है ।।४।।

विद्वानों की प्रशंसा का विधान करते हैं ।।

ते हि पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे ।

अंहोश्चिदुरुचक्रयोऽनेहसः ।।५।।

पदार्थः—(अदितेः) विमलबुद्धि के (ते हि) वे सुप्रसिद्ध (पुत्रासः) पुत्र=आचार्य्य और पण्डितगण (द्वेषांसि) दुष्ट राक्षसादिकों को यद्वा द्वेषों और शत्रुता को समाज से (योतवे) पृथक् करना (विदुः) जानते हैं । तथा (उरुचक्रयः) महान् कार्य्य करने वाले (अनेहसा) अहन्ता=रक्षक वे आचार्य्य (अंहोः चित्) महापाप से भी हम लोगों को दूर करना जानते हैं । इस कारण उनकी आज्ञा में सब जन रहा करें—यह उपदेश है ।।५।।

भावार्थः—आचार्य्य या विद्वद्वर्ग सदा जनता को नाना क्लेशों से बचाया करते हैं । अपने सुभाषण से लोगों को सन्मार्ग में लाके पापों से दूर करते हैं । अतः देश में ऐसे आचार्य्य और विद्वान् जैसे बढ़ें, वैसे उपाय सब को करना उचित है ।।५।।

बुद्धि की प्रशंसा दिखाते हैं ॥

अदि॑तिर्नो॒ दिवा॑ प॒शुमदि॑ति॒र्नक्त॒मद्व॑याः ।
अदि॑तिः पा॒त्वंह॑सः स॒दावृ॑धा ॥६॥

पदार्थः—(अद्वयाः) साहाय्यरहिता वह (अदितिः) विमलबुद्धि (नः) हमारे (पशुम्) गवादि पशुओं और आत्मा की (दिवा) दिन में (पातु) रक्षा करे (नक्तम्) रात्रि में भी (अदितिः) वह अदिति पाले (सदावृधा) सदा बढ़ाने वाली (अदितिः) विमलबुद्धि (अंहसः) पाप से हम को (पातु) बचावे ॥६॥

भावार्थः—सद्बुद्धि मनुष्य की सर्वदा रक्षा करती है, अतः हे मनुष्यो! उसका उपार्जन सर्वोपाय से करो ॥६॥

पुनः उसकी प्रशंसा करते हैं ॥

उ॒त स्या नो॒ दिवा॑ म॒तिरदि॑तिरू॒त्या ग॑मत् ।
सा शन्ता॑ति॒ मय॒स्कर॒दप॒ स्रिधः॑ ॥७॥

पदार्थः—(उत) और (मतिः) बुद्धिरूपा (सा) वह (अदितिः) अदितिदेवी (दिवा) दिन में (ऊत्या) रक्षा के साथ (नः) हमारे निकट (आ गमत्) आवे (सा) वह अदिति (शन्ताति) शान्ति करे (मयः) सुख (करत्) करे तथा (स्रिधः) बाधक दुष्टों और विघ्नों को (अप) दूर करे ॥७॥

भावार्थः—बुद्धि को सदा अज्ञान के विनाश करने में लगाये, तब ही जगत् में सुख हो सकता है ॥७॥

राजा आदि प्रजाओं को सदा बचावें ॥

उ॒त त्या दैव्या॑ भि॒षजा॒ शं नः॑ करतो अ॒श्विना॑ ।
यु॒यु॒याता॑मि॒तो रपो॒ अप॒ स्रिधः॑ ॥८॥

पदार्थः—(उत) और (त्या) वे (दैव्यां) दिव्यगुणसम्पन्न और देवोपकारी (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्वयुक्त राजा अध्यापक आदि (नः) हमारे (शम्) रोगों का शमन करें। और (इतः) हम लोगों से (रपः) पाप दुष्टाचार आदिकों को (युयुयाताम्) दूर करें। तथा (स्रिधः) बाधक विघ्नों और शत्रुओं को (अप) दूर करें ॥८॥

भावार्थः—वैद्य, राजा, अमात्य और विद्वान् आदिकों को उचित है कि मनुष्य-समाज से रोग, अज्ञान, पाप और शत्रुता आदिकों को दूर किया करें। तब ही संसार सुखी रह सकता है ॥८॥

इससे आशीर्वाद माँगते हैं ॥

शमग्निरग्निभिः करच्छं नस्तपतु सूर्यः ।
शं वातो वात्वरपा अप स्रिधः ॥९॥

पदार्थः—(अग्निः) यह भौतिक अग्नि (अग्निभिः) अग्निहोत्रादि कर्मों से या विद्युदादिकों की सहायता से (शम्) हमारे रोगों का शमन करे, या हमको सुख करे (सूर्य्यः) तथा सूर्य्य भी (शम्) कल्याण या रोगशमन जैसे हो वैसी (तपतु) गरमी देवे तथा (वातः) वायु भी (अरपाः) पापरहित अर्थात् शीतल मन्द सुगन्ध (वातु) बहे। और (स्रिधः) बाधक रोगादिक विघ्न और शत्रु (अप) विनष्ट होवें ॥९॥

भावार्थः—यह स्वाभाविक प्रार्थना है। राजा और अमात्यादिक नाना उपायों से प्रजासम्बन्धी विघ्नों को दूर किया करें ॥९॥

पुनः प्रार्थना का विधान करते हैं ॥

अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम् ।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥१०॥

पदार्थः—(आदित्यासः) हे बुद्धिपुत्र आचार्य्यो ! तथा विद्वानो ! आप (अमीवाम्) रोग को (अप सेधत) मनुष्यसमाज से दूर कीजिये (स्रिधम्) बाधक विघ्न और शत्रु को (अप) दूर कीजिये (दुर्मतिम्) दुर्बुद्धि को (अप) दूर कीजिये। तथा (नः) हम साधारण जनों को (अंहसः) पाप क्लेश और दुर्व्यसन आदि से (युयोतन) पृथक् करें ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम सद्बुद्धि का उपार्जन करो, जिससे तुम सब प्रकार सुखी होगे ॥१०॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

युयोता शरुमस्मदाँ आदित्यास उतामतिम् ।
ऋधग्द्वेषः कृणुत विश्ववेदसः ॥११॥

पदार्थः—(आदित्यासः) हे आचार्य्यो ! आप (अस्मद् आ) हम लोगों के समीप से (शरुम्) हिंसक को (युयोत) पृथक् कीजिये (उत) और (अमतिम्) मूर्खता या दुर्बुद्धि या दुर्भिक्ष आदि को भी दूर कीजिये (विश्ववेदसः) हे सर्वज्ञ आदित्यो ! (द्वेषः) द्वेष करने वालों को भी (ऋधग् कृणुत) पृथक् कीजिये ॥११॥

भावार्थः—आचार्य्य और ज्ञानी पुरुषों को उचित है कि वे जहां रहें वहां अज्ञान का नाश और सुख की वृद्धि किया करें ॥११॥

पुनः वही विषय कहा जाता है ॥

तत्सु नः शर्म यच्छतादित्या यन्मुमोचति ।

एनस्वन्तं चिदेनसः सुदानवः ॥१२॥

पदार्थः—(सुदानवः) हे सुन्दर दान देने वाले (आदित्याः) आचार्यो (नः) हमको (तत् शर्म) उस कल्याण को (सु) अच्छे प्रकार (यच्छत) दीजिये (यत्) जो कल्याण (एनस्वन्तम् चित्) पापयुक्त भी हम लोगों के पुत्रादिक को (एनसः) पाप से (मुमोचति) छुड़ा सके। वह ज्ञानरूप कल्याण है। वही आदमी को पाप से बचा सकता है ॥१२॥

भावार्थः—ईश्वर से ज्ञानरूप कल्याण की याचना करनी चाहिये, वही मनुष्य को पाप से बचा सकता है ॥१२॥

पुनः वही विषय कहा जाता है ॥

यो नः कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः ।

स्वैः ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः ॥१३॥

पदार्थः—(यः) जो (कः चित्) कोई (मर्त्यः) मनुष्य (रक्षस्त्वेन) राक्षसी वृत्ति धारण कर (नः) हमारी (रिरिक्षति) हिंसा करना चाहता है। (सः जनः) वह आदमी (स्वैः एवैः) निज कर्मों से ही (युः) दुःख पाता हुआ (रिरिषीष्ट) विनष्ट हो जाय ॥१३॥

भावार्थः—अपने अपराधी से वदला लेने की न चेष्टा कर ईश्वर की इच्छा पर उसे छोड़ देवे। वह शत्रु अवश्य अपने कर्मों से सन्तप्त होता रहेगा या दुष्टता से निवृत्त होगा ॥१३॥

दुष्ट दण्डनीय है यह दिखाते हैं ॥

समित्तमघमश्नवद् दुःशंसं मर्त्यं रिपुम् ।

यो अस्मत्रा दुर्हणावाँ उप द्वयुः ॥१४॥

पदार्थः—(अघम् इत्) पाप ही (तम् मर्त्यम्) उस मनुष्य को (सम् अश्नवत्) अच्छे प्रकार व्याप्त हो अर्थात् विनष्ट कर देवे जो मनुष्य (दुःशंसम्) दुष्कीर्ति है जिसने विविध कुकर्म करके संसार में अपयश खरीदा है और जो (रिपुम्) मनुष्यमात्र

का शत्रु है । ऐसे मनुष्य को पाप ही खा जाये । पुनः (यः) जो (अस्मत्र) निरपराधी हम लोगों के विषय में (दुर्हणावान्) दुष्टापकारी है उसको भी पाप हनन करे (द्वयुः) दो प्रकारों से जो युक्त है अर्थात् जो परोक्ष में कार्य्यहन्ता और प्रत्यक्ष में प्रियवादी है, उन सब को पाप खा जाये ॥१४॥

भावार्थः – अपनी ओर से किसी का अपराध न हो ऐसी ही सदा चेष्टा करनी चाहिये । जो जन निरपराध को सताते हैं, उन्हें सांसारिक नियम ही दण्ड देकर नष्ट कर देता है ॥१४॥

विद्वानों का स्वभाव दिखलाते हैं ॥

पाकत्रा स्थन देवा हृत्सु जानीथ मर्त्यम् ।

उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः ॥१५॥

पदार्थः—(देवाः) हे विद्यादि दिव्यगुणभूषित (वसवः) सर्वत्र निवासकर्ता ! सब के निवास देने वाले विद्वान् जनो ! जिस कारण आप (पाकत्रा स्थन) परिपक्व बुद्धि हैं अर्थात् आप की बुद्धि सर्व कार्य्य में परिपक्व है, अतः (हृत्सु) अपने हृदयों में (द्वयुम्) जो द्विप्रकार युक्त अर्थात् कपटी है और जो (अद्वयुम्) कपटरहित निश्छल सत्यस्वभाव (मर्त्यम्) मनुष्य है; उन दोनों प्रकारों के मनुष्यों को आप (जानीथ) जानें ॥१५॥

भावार्थः—वे ही विद्वान् हैं जो मनुष्यों की चेष्टा से उनकी हृदयस्थ बातें जान लेवें । कपटी और अकपटी जनों की मुखच्छवि भिन्न-भिन्न होती है । अतः तत्त्ववित् पुरुष उनको शीघ्र जान लेते हैं ॥११॥

कल्याण के लिये प्रार्थना करते हैं ॥

आ शर्म पर्वतानामोतापां वृणीमहे ।

द्यावाक्षामारे अस्मद्रपस्कृतम् ॥१६॥

पदार्थः—हे आचार्य्यादि विद्वान् जनो ! हम प्रजागण (पर्वतानाम्) पर्वतों का (शर्म) सुख (आ वृणीमहे) मांगते हैं (उत) और (अपाम्) नदियों का सुख (आ वृणीमहे) मांगते हैं; अर्थात् आप ऐसा उद्योग करें कि जैसे पर्वत और नदी परमोपकारी हैं । सदा नाना वस्तुओं से सुभूषित रहते हैं, उनसे सहस्रों जीवों का निर्वाह होता है । पर्वत उच्च दृढ़ और नदी शीतल होती है । हम मनुष्य भी वैसे होवें । यद्वा जैसे पर्वत और नदी को सब कोई चाहते हैं तद्वत् हम भी सर्वप्रिय होवें । यद्वा पर्वत और नदी के समीप हमारा वास होवे । (द्यावाक्षामा) द्युलोक के सदृश

दीप्तिमती, पृथिवी के सदृश क्षमाशीला बुद्धिमाता और माता ये दोनों यहां द्यावा-क्षामा कहलाती हैं। हे बुद्धि तथा माता आप दोनों (रपः) पाप को (अस्मद् आरे) हम लोगों से बहुत दूर देश में (कृतम्) ले जावें ॥१६॥

भावार्थः—जो कोई पृथिवी और द्युलोक के तत्त्वों को सर्वदा विचारते हैं वे पाप में प्रवृत्त नहीं होते, क्योंकि पाप में क्षुद्र जन प्रवृत्त होते हैं, महान् जन नहीं। तत्त्ववित् जनों का हृदय महाविशाल हो जाता है ॥१६॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

ते नो भद्रेण शर्मणा युष्माकं नावा वसवः ।

अति विश्वानि दुरिता पिपर्तन ॥१७॥

पदार्थः—(वसवः) हे धनस्वरूप ! यद्वा हे वासयिता विद्वानो ! (ते) वे सुप्रसिद्ध आप (भद्रेण)कल्याण और (शर्मणा) सुख के साथ (नः) हम को (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरिता) पापों से (युष्माकम्) अपनी (नावा) नौका के द्वारा (अति पिपर्तन) दूर पार उतार देवें ॥१७॥

भावार्थः—विद्वानों के संग से कुकर्म में प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः वे आदर से सेवनीय हैं ॥१७॥

संगति का फलादि दिखलाते हैं ॥

तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे ।

आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥१८॥

पदार्थः—(सुमहसः) हे सुतेजा (आदित्यासः) आचार्य्यो ! आप (तुचे) पुत्र की और (तनयाय) उसके पुत्र की अर्थात् मेरे पौत्र की (द्राघीयः) अतिदीर्घ (तत्) उस (आयुः) आयु को (जीवसे) जीवन के लिये (सुकृणोतन) अच्छे प्रकार करें ॥१८॥

भावार्थः—आचार्य्यादिकों की शिक्षा पर चलने से मनुष्य की आयु बढ़ती है। अतः बालकों को उनके निकट सदा भेजना उचित है ॥१८॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यज्ञो हीळो वो अन्तर आदित्या अस्ति मृळत ।

युष्मे इद्वो अपि ष्मसि सजात्ये ॥१९॥

पदार्थः—हे (आदित्याः) आचार्य्यो ! हम लोगों ने (यज्ञः) जो शुभकर्म (हीलः) किया है वह (वः) आपके (अन्तरः) समीप में (अस्ति) वर्तमान होवे अर्थात् हमारे कर्मों को आप जानें, अतः (मृळत) हमको सुखी कीजिये । (युष्मे उत्) आपके ही आधीन हम (स्मसि) हैं (अपि) और हम सब (वः) आपके (सजात्ये) सजातित्व में वर्तमान हैं ॥१९॥

भावार्थः—शिष्यों को उचित है कि अपने शुभाशुभकर्म आचार्य्यों के निकट निवेदित करें । उनकी ही आज्ञा में और प्रेम की छाया में निवास करें ॥१९॥

पुनः प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

बृहद्वरूथं मरुतां देवं त्रातारमश्विना ।
मित्रमीमहे वरुणं स्वस्तये ॥२०॥

पदार्थः—हम (स्वस्तये) कल्याणार्थ और सुखपूर्वक निवास के लिये (मरुताम्) प्राणों और बाह्य वायुओं के (त्रातारम् देवम्) रक्षक देव से (अश्विना) राजा और अमात्यादिकों से (मित्रम्) ब्राह्मण प्रतिनिधि से और (वरुणम्) राजप्रतिनिधि से (बृहत्) बहुत बड़ा (वरूथम्) ज्ञानभवन (ईमहे) मांगते हैं ॥२०॥

भावार्थः—सर्वदा ईश्वर से ज्ञान की याचना करनी चाहिये ॥२०॥

गृह के लिये प्रार्थना दिखाते हैं ॥

अनेहो मित्रार्यमन्नृवद्वरुण शंस्यम् ।
त्रिवरूथं मरुतो यन्त नश्छर्दिः ॥२१॥

पदार्थः—(मित्र) हे ब्राह्मण ! (वरुण) हे क्षत्रिय ! (अर्यमन्) हे वैश्य श्रेष्ठ ! (मरुतः) हे इतर जनो ! (नः) हम को (अनेहः) अहिंसित (नृवत्) मनुष्ययुक्त (शंस्यम्) प्रशंसनीय (त्रिवरूथम्) त्रितापनिवारक यद्वा त्रिलोकस्थ पुरुषों से वरणीय (छर्दिः) ज्ञानभवन (यन्त) दीजिये ॥२१॥

भावार्थः—निवास के लिए अच्छा निरुपद्रव भवन बनाना चाहिये ॥२१॥

आयु बढ़ानी चाहिये ऐसा दिखाते हैं ॥

ये चिद्धि मृत्युबन्धव आदित्या मनवः स्मसि ।
प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन ॥२२॥

पदार्थः—(आदित्याः) हे बुद्धिपुत्र आचार्य्यो ! (हि) जिस कारण (ये चित्) जो हम (मनवः) मनुष्य (स्मसि) विद्यमान हैं वे हम सब (मृत्युबन्धवः) मृत्यु के बन्धु हैं अर्थात् हम सब अवश्य मरनेवाले हैं। इस कारण (नः) हम लोगों के (जीवसे) जीवन के लिये (आयुः) आयु को (सु) अच्छे प्रकार (प्र तिरेतन) बढ़ा देवें ॥२२॥

भावार्थः—विद्वानों के संग से आयु की वृद्धि होती है ॥२२॥

अष्टम मण्डल में यह अठारहवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तत्रिंशदृचस्यैकोनविंशतितमस्य सूक्तस्य सोभरिः काण्व ऋषिः ॥ देवताः—१—३३ अग्निः । ३४, ३५ आदित्याः । ३६, ३७ त्रसदस्योर्दानस्तुतिः ॥ छन्दः—१, ३, १५, २१, २३, २८, ३२ निचृदुष्णिक् । २७ भुरिगार्ची विराडुष्णिक् । ५, १९, ३० उष्णिक् ककुप् । १३ पुर उष्णिक् । ७, ९, ३४ पाद निचृदुष्णिक् । ११, १७, ३६, विराडुष्णिक् । २५ आर्चीस्वराडुष्णिक् । २, २२, २९, ३७ विराट्पंक्तिः । ४, ६, १२, १६, २०, ३१ निचृत् पङ्क्तिः । ८ आर्चीभुरिक् पङ्क्तिः । १० सतः पङ्क्तिः । १४ पङ्क्तिः । १८, ३३ पादनिचृत् पङ्क्तिः । २४, २६ आर्चीस्वराट् पङ्क्तिः । ३५ स्वराड्बृहती ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २८, ३०, ३२, ३४, ३६ ऋषभः । २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २०, २२, २४, २६, २९, ३१, ३३, ३७ पञ्चमः । ३५ मध्यमः ॥

स्तुति का विधान करते हैं ॥

तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
देवत्रा हव्यमोहिरे ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! (तम्) उस परमदेव की (गूर्धय) स्तुति कर जिसको (देवासः) मेधाविजन और सूर्य्यादि (दधन्विरे) प्रकाशित कर रहे हैं और जिस (हव्यम्) प्रणम्य देव को (देवत्रा) सर्व देवों अर्थात् पदार्थों में (आ ऊहिरे) व्याप्त जानते हैं। वह कैसा है (स्वर्णरम्) सुख का और सूर्य्यादि देवों का नेता (देवम्) और देव है, पुनः वह (अरतिम्) विरक्त है, किन्हीं में आसक्त नहीं ॥१॥

भावार्थः—ये सूर्यादि पदार्थ अपने अस्तित्व से अपने जनक ईश्वर को दिखला रहे हैं ॥१॥

ईश का वर्णन करते हैं ॥

विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीळिष्व यन्तुरम् ।

अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥

पदार्थः—(विप्र) हे मेधाविन् ! (सोभरे) हे अच्छे प्रकार भरणकर्ता विद्वन् आप (अध्वराय) यज्ञ के लिये (अग्निम् ईम्) परमात्मा की ही (प्र ईळिष्व) स्तुति करें जो वह (विभूतरातिम्) इस संसार में नाना प्रकार से दे रहा है (चित्रशोचिषम्) जिसका तेज आश्चर्य्यजनक है। जो (अस्य) इस दृश्यमान (सोम्यस्य) सुन्दर विविध पदार्थयुक्त (मेधस्य) संसाररूप महा संगम का (यन्तुरम्) नियामक=शासक है और (पूर्व्यम्) सनातन है ॥२॥

भावार्थः—यज्ञ में केवल परमदेव ही पूज्य, स्तुत्य और प्रार्थनीय है, क्योंकि वही चेतन देव है। उसी की यह संपूर्ण सृष्टि है ॥२॥

ईश की स्तुति दिखलाते हैं ॥

यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।

अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥३॥

पदार्थः—हे परमदेव ! (त्वा) तुझे ही हम सब (ववृमहे) स्वीकार करते हैं। तुझको ही परमपूज्य समझते हैं जो तू (यजिष्ठम्) परमयजनीय=पूजनीय है।(देवम्) तू ही सर्वगुणसम्पन्न है (देवत्रा) सूर्य्य, अग्नि, वायु आदि देवों में तू ही (अमर्त्यम्) मरणधर्म्मा है अर्थात् सूर्य्यादि सब देव मनुष्यवत् मरने वाले हैं। एक तू ही शाश्वत अनादि अमर्त्य है और तू (होतारं) जीवनदाता है। तू ही (अस्य) इस दृश्यमान (यज्ञस्य) संसाररूप यज्ञ का (सुक्रतुम्) सुकर्ता है। ऐसे तुझ को ही हम मनुष्य पूजें ऐसी बुद्धि दे ॥३॥

भावार्थः—हम मनुष्य केवल ईश्वर की ही उपासना-पूजा करें, क्योंकि वही एक पूजनीय है ॥३॥

उसकी महिमा दिखलाते हैं ॥

ऊर्जो नपातं सुभगं सुदीदितिमग्निं श्रेष्ठशोचिषम् ।

स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्नं यक्षते दिवि ॥४॥

पदार्थः—हम उपासकगण (ऊर्जः) विज्ञान बलयुक्त पुरुष को (नपातम्) न गिराने वाले, किन्तु पालन करने वाले (सुभगम्) शोभनैश्वर्य्ययुक्त (सुदीदितिम्)

सर्वत्र सुप्रकाशक (श्रेष्ठशोचिषम्) सर्वोत्तम तेजस्वी (अग्निम्) परमात्मा की स्तुति करते हैं (सः) वह (मित्रस्य) दिन का (वरुणस्य) और रात्रिका (सुम्नम्) सुख (नः) हमको (विवि) व्यवहार के लिये (यक्षते) देता है और (अपाम्) जल का भी सुख वही (आ यक्षते) देता है ॥४॥

भावार्थः—जैसे हम विद्वान् उस परमात्मा की उपासना करते हैं, हे मनुष्यो ! आप भी वैसे ही उसी को पूजो ॥४॥

अग्निहोत्र-विधान करते हैं ॥

यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये ।
यो नमसा स्वध्वरः ॥५॥

पदार्थः—परमात्मा के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि कर्म कर्त्तव्य हैं, यह उपदेश इस ऋचा से देते हैं। जैसे (यः मर्तः) जो मरणधर्मी मनुष्य (अग्नये) इस भौतिक अग्नि को (समिधा) चन्दन, पलाशादि समिधा से (ददाश) सेवता है (यः) जो (आहुती) घृतादिकों की आहुतियों से सेवता है (यः) जो (वेदेन) वेदाध्ययन से सेवता है और जो (स्वध्वरः) शुभकर्मकारी होता हुआ (नमसा) विविध अन्नों= सामग्रियों से सेवता है (तस्य इत अर्वन्तः) उसके घोड़े आदि होते हैं यह अगले मन्त्र से सम्बन्ध रखता है ॥५॥

भावार्थः—इस ऋचा से तीन कर्तव्य दिखलाते हैं १—अग्निहोत्र, २—वेदाध्ययन और ३—दान, ये अवश्य और नित्य कर्त्तव्य है ॥५॥

इस ऋचा से अग्निहोत्रादि कर्मों का फल कहते हैं ॥

तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः ।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् ॥६॥

पदार्थः—(तस्य) उस अग्निहोत्रादि कर्मकर्त्ता पुरुष के (आशवः) शीघ्रगामी (अर्वन्तः) घोड़े (रंहयन्ते) संग्राम में वेग करते हैं और (तस्य) उसी की (द्युम्नितमम्) अतिशय प्रकाशवान् (यशः) कीर्ति होती है। (तम्) उसको (कुतश्चन) किसी भी कारण से (देवकृतम्) देवों से प्रेरित=इन्द्रिय कृत (अंहः) पाप (न नशत्) नहीं प्राप्त होता है और (न मर्त्यकृतम्) मनुष्यकृत पाप भी उसको प्राप्त नहीं होता ॥६॥

भावार्थः—जो शुभकर्म में सदा आसक्त हैं वे कदापि अशुभ कर्म में प्रवृत्त नहीं होते। अतः वे न इन्द्रियाधीन होते और न वे दुर्जनों के जाल में ही फँसते हैं ॥६॥

अग्निहोत्र को दिखलाते हैं ॥

स्वग्नयो वो अग्निभिः स्याम सूनो सहस ऊर्जां पते ।

सुवीरस्त्वमस्मयुः ॥७॥

पदार्थः—(सहसः) हे जगत् के (सूनो) उत्पादक (ऊर्जाम्) हे बलवान् सूर्य्यादिकों का या बलों के (पते) स्वामिन् ! (वः) आपके (अग्निभिः) अग्निहोत्रादि कर्मों से (स्वग्नयः) अच्छे अग्निहोत्रादि शुभकर्म करनेवाले हम सब (स्याम) होवें । हे भगवन्! वास्तव में (त्वम्) आप ही (सुवीरः) महावीर हैं, आप (अस्मयुः) हम लोगों की कामना करें, हमारी ओर देखें ॥७॥

भावार्थः—अग्निहोत्रादि कर्म मनुष्य को पवित्र करने वाले हैं, अतः उनका सेवन नित्य कर्तव्य है ॥७॥

अग्नि नाम से परमात्मा की स्तुति कहते हैं ॥

प्रशंसमानो अतिथिर्न मित्रियोऽग्नी रथो न वेद्यः ।

त्वे क्षेमासो अपि सन्ति साधवस्त्वं राजा रयीणाम् ॥८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (प्रशंसमानः) प्रशस्त (अतिथिः न) अतिथि जैसे (अग्निः) वह परमात्मा(मित्रियः) मित्रों का हितकारी होता है। वह (रथः न) देवरथ सूर्य्यादि के समान (वेद्यः) ज्ञातव्य है। हे भगवन् ! (अपि) और (त्वे) तुझ में (क्षेमासः) निवास करने वाले (साधवः सन्ति) साधु=परहितसाधक होते हैं (त्वम्) तू (रयीणाम्) धनों का (राजा) राजा है ॥८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उस सर्वान्तर्यामी परमात्मा को ही अपना मित्र बनाओ । जो शुभाचरण में रत रहते हैं जो उसकी आज्ञा को पालते हैं वे उसके कृपापात्र होते हैं ॥८॥

आशीर्वाद माँगते हैं ॥

सो अद्धा दाश्वध्वरोऽग्ने मर्तः सुभग स प्रशंस्यः ।

स धीभिरस्तु सनिता ॥९॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमदेव ! जिसने (दाश्वध्वरः) अच्छे यज्ञ किये हैं (सः) वह (अद्धा) सत्य फलवान् होवे। (सुभग) परमसुन्दर हे परमैश्वर्य्य ! (सः) वह (प्रशंस्यः) प्रशंसनीय होवे (सः) वह (धीभिः) विविध विज्ञानों से वा शुभकर्मों से युक्त (अस्तु) होवे । वह (सनिता) अन्नों का दाता होवे ॥९॥

भावार्थः—भगवान् की आज्ञा में जो रहता है वह निश्चय जगत् में प्रशंसनीय होता है और उसकी कृपा से वह बुद्धिमान्, धनवान् और उदार होता है ॥९॥

उसकी प्रशंसा दिखलाते हैं ॥

यस्य॒ त्वमू॒र्ध्वो अ॑ध्व॒राय॒ तिष्ठ॑सि क्ष॒यद्वी॑रः॒ स सा॑धते ।

सो अर्व॑द्भिः॒ सनि॑ता॒ स वि॑प॒न्युभिः॒ स शूरैः॒ सनि॑ता कृ॒तम् ॥१०॥

पदार्थः—हे देव ! (यस्य) जिस यजमान के (अध्वराय) यज्ञ के लिए (त्वम्) तू स्वयं (ऊर्ध्वः तिष्ठति) उद्योगी होता है (सः) वह (क्षयद्वीरः) चिरंजीवी वीर पुत्रादिकों से युक्त होकर (साधते) संसार के सब कर्तव्य सिद्ध करता है (सः) वह (अर्वद्भिः) घोड़ों से (सनिता) युक्त होता है (सः) वह (विपन्युभिः) विद्वानों से युक्त होता है (सः) वह (शूरैः) शूरों से (सनिता) युक्त होता है। इन अश्वादिकों से युक्त होकर (कृतम्) संसार के सब कर्म को सिद्ध करता है ॥१०॥

भावार्थः—उसकी कृपा से मनुष्य सर्व प्रकार के सुखों से युक्त होता है। प्रतिदिन उसकी वृद्धि और उसका अभ्युदय होता है। वह जगत् में माननीय और गणनीय होता है ॥१०॥

परमात्मा की स्तुति कहते हैं ॥

यस्या॒ग्निर्वपु॑र्गृ॒हे स्तोमं॒ चनो॒ दधी॑त वि॒श्ववा॑र्यः ।

ह॒व्या वा॒ वेवि॑षद्वि॒षः ॥११॥

पदार्थः—(यस्य) जिस यजमान के (गृहे) गृह में (विश्ववार्य्यः) सबसे स्वीकार करने योग्य (अग्निः) सर्वव्यापी ईश (वपुः) नानारूप वाले (स्तोमम्) स्तोत्र को तथा (चनः) विविध प्रकार के अन्नों को (दधीत) पुष्ट करता है (वा) और जो यजमान (हव्या) भोज्य पदार्थ (विषः) विद्वानों को (वेविषद्) खिलाता है, वह सब कार्य सिद्ध करता है। यह पूर्व से सम्बन्ध रखता है ॥११॥

भावार्थः—धन्य वे मनुष्य हैं जिनके गृह अग्निहोत्रादि कर्मों और उपासनाओं से भूषित हैं ॥११॥

इससे प्रार्थना दिखाते हैं ॥

विप्र॑स्य वा स्तुव॒तः स॑हसो यहो म॒क्षूत॑मस्य रा॒तिषु॑ ।

अ॒वोदे॑वमु॒परि॑मर्त्यं कृधि॒ वसो॑ विवि॒दुषो॒ वचः॑ ॥१२॥

पदार्थः—(वा) और (सहसः यहो) हे जगत् के उत्पादक ! हे (वसो) वासप्रद ईश (विप्रस्य) ज्ञानविज्ञानों से संसार को भरने वाले (स्तुवतः) आपके गुणों का गान करने वाले (रातिषु) और दान देने में (मक्षूतमस्य) अतिशीघ्रगामी ऐसे (विविदुषः) विशेषज्ञ पुरुष के (वचः) स्तोत्ररूप वचन को (अवोदेवम्) देवों के नीचे और (उपरिमर्त्यम्) मनुष्यों के ऊपर (कृधि) कीजिये ॥१२॥

भावार्थः—जो विद्वान् संसार के उपकार में सदा लगे रहते हैं उनकी वाणी को परमात्मा सब के ऊपर स्थापित करता है। अतः हे मनुष्यो ! स्वार्थ को त्याग परमार्थ में लगो ॥१२॥

उपासक का कर्म दिखलाते हैं ॥

यो अग्निं हव्यदातिभिर्नमोभिर्वा सुदक्षमा विवासति ।
गिरा वाजिरशोचिषम् ॥१३॥

पदार्थः—(यः) जो उपासक (सुदक्षम्) जगत् की रचना में परमनिपुण या परमबलवान् पुनः (अजिरशोचिषम्) महातेजस्वी (अग्निम्) परमात्मदेव के उद्देश्य से (हव्यदातिभिः) भोज्यान्न देने से (नमोभिः वा) अथवा नमस्कारों या सत्कारों से और (गिरा) वाणी से (आविवासति) संसार की सेवा करता है वह सब सिद्ध करता है ॥१३॥

भावार्थः—ईश्वर के उद्देश्य से ही सब शुभकर्म कर्त्तव्य हैं, जो लोग अभिमान से ईश्वर को और सदाचार को भूल जाते हैं, वे क्लेश में पड़ते हैं ॥१३॥

उपासना का फल दिखलाते हैं ॥

समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्यः ।
विश्वेत्स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत् ॥१४॥

पदार्थः—(यः मर्त्यः) जो मनुष्य (निशिती) अत्यन्त तीव्र और (समिधा) प्रदीप्त भक्ति से और (अस्य) उसीके दिये हुए (धामभिः) धारण-पोषण करने वाले प्राणसहित सर्वेन्द्रियों से (अदितिम्) अखण्ड अविनश्वर परमात्मा की (दाशत्) सेवा करता है (सः) वह (धीभिः) बुद्धियों से भूषित होकर (सुभगः) देखने में सुन्दर और सर्वप्रिय होता है और उन ही बुद्धियों के द्वारा और (द्युम्नैः) द्योतमान यशों से (विश्वा इत्) सब ही (जनान्) मनुष्यों को (अतितारिषत्) अतिशय पार कर जाता

है अर्थात् सब जनों से अतिशय बढ़ जाता है। यहां दृष्टान्त देते हैं—(उद्गः इव) जैसे नौका की सहायता से मनुष्य नदियों के पार उतरता है ॥१४॥

भावार्थः—प्रात्यहिक शुभकर्मों और ईश्वर की आज्ञा-पालन से मनुष्य की परमोन्नति होती है ॥१४॥

अग्निवाच्य ईश्वर की स्तुति दिखलाते हैं ॥

तदग्ने द्युम्नमा भर यत्सासहत्सदने कंचिदत्रिणम्।
मन्युं जनस्य दूढ्यः ॥१५॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत ईश्वर! (तद् द्युम्नम्) उस प्रकाशमान ज्ञान को (आभर) हमारे हृदय में लाइये (यत्) जो ज्ञान (सदने) हृदयरूप भवन में (कञ्चित् अत्रिणम्) स्थित और सन्तापप्रद निखिल अविवेक को (सासहत्) सहन करे अर्थात् विनष्ट करे और जो (दूढ्यः) दुर्मति (जनस्य) मनुष्य के (मन्युम्) क्रोध को दूर करे ॥१५॥

भावार्थः—ईश्वर की प्रार्थना और विद्या द्वारा उस विवेक का उपार्जन करे जिससे महान् रिपु हृदयस्थ अविवेक विनष्ट हो और गृहसम्बन्धी निखिल कलह दूर हों ॥१५॥

पुनः प्रार्थना का विधान करते हैं ॥

येन चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमा येन नासत्या भगः।
वयं तत्ते शवसा गातुवित्तमा इन्द्रत्वोता विधेमहि ॥१६॥

पदार्थः—हे परमदेव! (वरुणः) राजप्रतिनिधि (मित्रः) ब्राह्मण प्रतिनिधि (अर्यमा) वैश्य प्रतिनिधि (नासत्या) असत्यरहित वैद्य प्रतिनिधि (भगः) और भजनीय सर्व प्रतिनिधि (येन) जिस ज्ञान से (चष्टे) सत्यासत्य और कर्त्तव्याकर्त्तव्य देखते और उनका व्याख्यान करते हैं (तत्) उस (ते) तेरे दिये ज्ञान को (वयम्) हम भी (विधेमहि) कार्यों में लगा सकें ऐसी शक्ति दे। जो हम लोग (शवसा) बलपूर्वक (गातुवित्तमाः) अच्छे प्रकार स्तोत्रों के जानने वाले और (इन्द्रत्वोताः) तुझ से ही सुरक्षित हैं ॥१६॥

भावार्थः—ऐसी-ऐसी ऋचाओं द्वारा एक यह विषय विस्पष्टता से दिखलाया जाता है कि प्रार्थयिता नर योग्य हैं या नहीं। अतः प्रथम स्वयं प्रार्थना के योग्य बनें तब उसके निकट याचना करें, तब ही उसकी पूर्ति हो सकती है ॥१६॥

उसकी स्तुति दिखलाते हैं॥

ते घेदंग्ने स्वाध्योऽहे त्वा विप्र निदधिरे नृचक्षसम्।

विप्रांसो देव सुक्रतुम् ॥१७॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत ! (विप्र) हे सर्वत्र परिपूर्ण ! (देव) परमदेव ! (ते) वे (घ इत्) ही उपासक निश्चय (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यान करनेवाले हैं और (विप्रासः) वे ही बुद्धिमान् हैं। जो (नृचक्षसम्) मनुष्यों के सकल कर्मों को देखने वाले और उपदेष्टा और (सुक्रतुम्) जगत् के कर्त्ता-धर्त्ता (त्वा) तुझको (निदधिरे) योगावस्थित हो हृदय में रखते हैं ॥१७॥

भावार्थः—परमात्मा को हृदय-प्रदेश में स्थापित करे। अग्निहोत्रादि शुभ कर्म सदा किया करे, इत्यादि वाक्यों का आशय यही है कि उसकी आज्ञा का सदा पालन करे कभी अनवहित लुब्ध और वशीभूत होकर भी उसका निरादर न करे। उसकी उपासना तब ही समझी जा सकती है जब उपासक भी वैसा ही हो। शुद्धता, पवित्रता, और उदारत्वादि ईश्वरीय गुण अपने में धारण कर प्रतिदिन बढ़ाता जाय ॥१७॥

पुनः वही विषय आ रहा है॥

त इद्वेदिं सुभग त आहुतिं ते सोतुं चक्रिरे दिवि।

त इद्वाजेभिर्जिग्युर्महद्धनं ये त्वे कामं न्येरिरे ॥१८॥

पदार्थः—हे (सुभग) परमसुन्दर देव ! (त इत्) वे ही उपासक (वेदिम्) पूजा के लिये वेदी (चक्रिरे) बनाते हैं (त इत्) वे ही (आहुतिम्) उस वेदी में आहुति देते हैं (ते) वे ही (दिवि) दिन-दिन (सोतुम्) यज्ञ करने के लिये उद्यत रहते हैं (त इत्) वे ही (वाजेभिः) ज्ञानों से (महद् धनम्) बहुत बड़ा धन (जिग्युः) जीतते हैं, हे परमात्मन् (ये) जो सर्वभाव से (त्वे) आप में ही (कामम्) सब कामनाओं को (न्येरिरे) समर्पित करते हैं ॥१८॥

भावार्थः—धन्य वे नर हैं जो सदा ईश्वर की आज्ञा पर चलते हुए जगत् के कार्य्यों में लगे रहते हैं ॥१८॥

इससे प्रार्थना करते हैं॥

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।

भद्रा उत प्रशस्तयः ॥१९॥

पदार्थः—(सुभग) हे परमसुन्दर देव! हे सर्वैश्वर्य्ययुक्त! (आहुतः) आहुतियों से तृप्त (अग्निः) अग्नि (नः) हम लोगों का (भद्रः) कल्याणप्रद हो (रातिः) हमारा दान (भद्रा) मङ्गलविधायक हो (अध्वरः भद्रः) योग मङ्गलप्रद हो (उत) और (प्रशस्तयः) प्रशंसाएं (भद्रा) कल्याणदायिनी हों, ऐसी कृपा कर ॥१९॥

भावार्थः· हम मनुष्य जो कुछ कर्म करें वह जगत् के मङ्गल के लिये हो, अनिष्ट कर्म न कर कल्याणप्रद ही कार्य्य सदा हम किया करें ॥१९॥

इससे प्रार्थना करते हैं॥

भ॒द्रं मनः॑ कृणुष्व वृत्र॒तूर्ये॒ येना॑ स॒मत्सु॑ सा॒सहः॑।

अव॑ स्थि॒रा त॑नुहि॒ भूरि॒ शर्ध॑तां व॒नेमा॑ ते अ॒भिष्टि॑भिः ॥२०॥

पदार्थः—हे सर्वगत देव! (वृत्रतूर्य्ये) महासंग्राम में भी (मनः भद्रम्) हमारे मनको कल्याण युक्त (कृणुष्व) करो (येन) जिस मन से आप (समत्सु) जगत् में (सासहः) सर्वविघ्नों को शान्त करते हैं। हे ईश! (शर्धताम्) महादुष्ट और जगत् के कण्टक जनों के (स्थिरा) बहुत दृढ़ भी (भूरि) और बहुत भी नगर हों तो भी उन्हें (अव तनुहि) भूमि में मिला देवें जिससे हम उपासक (ते) आपके दिये हुए (अभिष्टिभिः) अभिलषित मनोरथों से (वनेम) संयुक्त होवें ॥२०॥

भावार्थः—महा महासंग्राम में बुद्धिमान् अपने मनको विकृत न करें और न सत्य से ही कदापि दूर चले जायें ॥२०॥

स्तुति का आरम्भ करते हैं॥

ईळे॑ गि॒रा मनु॑र्हितं॒ यं दे॒वा दू॒तम॑र॒तिं न्ये॑रि॒रे।

यजि॑ष्ठं हव्य॒वाह॑नम् ॥२१॥

पदार्थः—(गिरा) गुरुजनों की व्याख्यारूप वाणी से हम लोग (मनुर्हितम्) मनुष्य हितकारी उस अग्निदेव के (ईळे) गुणों का अध्ययन करें (यम्) जिस अग्नि को (देवाः) विद्वान् जन (दूतम्) देवदूत (अरतिम्) धनस्वामी (यजिष्ठम्) परमदाता और (हव्यवाहनम्) आहुत द्रव्यों को पहुँचाने वाला (न्येरिरे) मानते हैं ॥२१॥

भावार्थः—मनुष्य को उचित है कि अग्निहोत्रादि कर्म करे और उससे क्या लाभ होता है उसका और अग्निविद्या का वर्णन लोगों को सुनावे ॥२१॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं॥

तिग्मजम्भाय तरुणाय राजते प्रयो गायस्यग्नये।

यः पिंशते सूनृताभिः सुवीर्यमग्निर्घृतेभिराहुतः॥२२॥

पदार्थः—हे उपासक! आप जो (तिग्मजंभाय) जिसकी ज्वाला बहुत तीक्ष्ण है (तरुणाय) जो नित्य नूतन है और (राजते) जो शोभायमान हो रहा है ऐसे (अग्नये) अग्नि के लिये अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म के लिये (प्रयः) विविध प्रकार के अन्नों को (गायसि) बढ़ाते हैं, यह अच्छा है, क्योंकि (यः अग्निः) जो अग्नि (सूनृताभिः) प्रिय और सत्य वचनों से प्रसादित और (घृतेभिः) घृतादि द्रव्यों से (आहुतः) आहुत होने पर (सुवीर्य्यम्) शोभन बल को (पिंशते) देता है॥२२॥

भावार्थः—हम मनुष्य जो अन्न पशु हिरण्य और भूमि आदि बढ़ाकर धन एकत्रित करें, वह केवल परोपकार के और यज्ञादि शुभकर्म के लिये ही करें। धन की क्या आवश्यकता है इसको अच्छे प्रकार विचार सन्मार्ग में इसका व्यय करें॥२२॥

पुनः वही विषय आ रहा है॥

यदी घृतेभिराहुतो वाशीमग्निर्भरत उच्चाव च।

असुर इव निर्णिजम्॥२३॥

पदार्थः—(घृतेभिः) घृत आदि द्रव्यों से (आहुतः) तर्पित (अग्निः) अग्नि (यदि) जब (वाशीम्) शब्दकारिणी ज्वाला को (उच्चाव च) ऊंचे-नीचे (भरते) करता है तब (असुरः इव) सूर्य्य के समान (निर्णिजम्) निजरूप को प्रकाशित करता है॥२३॥

भावार्थः—जिस प्रकार सूर्य्य उष्णता और प्रकाश से जगदुपकार करता है तद्वत् अग्नि भी इस पृथिवी पर कार्य्य कर सकता है यदि उसके गुणानुसार उसे कार्य्य में लगा सकें॥२३॥

गुणों की स्तुति दिखाते हैं॥

यो हव्यान्यैरयता मनुर्हितो देव आसा सुगन्धिना।

विवासते वार्य्याणि स्वध्वरो होता देवो अमर्त्यः॥२४॥

पदार्थः—(स्वध्वरः) जो मार्गों को अच्छे प्रकार दिखलाने वाला है क्योंकि महान्धकार में भी अग्नि की सहायता से मनुष्य सब काम करता है। (होता) वायु,

मेघ, पानी आदि देवों को बुलाने वाला है (देवः) प्रकाशमान और (अमर्त्यः) अमरणधर्मी=सदास्थायी अग्नि है वह (मनुर्हितः) मनुष्यों से स्थापित और आहुत होने से (हव्यानि) आहुत द्रव्यों को (ऐरयत) यथास्थान में पहुँचाया करता है और (वार्य्याणि) वरणीय जल अन्न आदि पदार्थों को (विवासते) देता है ॥२४॥

भावार्थः—होम से जलवर्षण होता है ऐसा बहुत आचार्य्यों की सम्मति है, अतः हवनसामग्री तदनुकूल होनी चाहिये । तब ही वह लाभ हो सकता है ॥२४॥

इससे प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

यद॑ग्ने॒ मर्त्य॒स्त्वं स्याम॒हं मि॑त्रमहो॒ अम॑र्त्यः ।

सह॑सः सूनवाहुत ॥२५॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत ! (मित्रमहः) हे सब जीवों से पूज्यतेजस्क ! (सहसः सूनो) जगदुत्पादक (आहुत) हे सर्वपूजित ईश ! (यद्) यदि (मर्त्यः) मरणधर्मी (अहम्) मैं (त्वम् स्याम्) तू होऊं अर्थात् जैसा तू है वैसा ही यदि मैं भी हो जाऊं तो (अमर्त्यः) न मरने वाला देव मैं भी बनजाऊं ॥२५॥

भावार्थः—ईश्वर की उपासना से मनुष्यों में उसके गुण आते हैं अतः वह उपासक उपास्य के समान माना जाता है । और मनुष्य की इच्छा भी बलवती होती है अतः तदनुसार यह प्रार्थना है ॥२५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

न त्वा॑ रासीया॒भिश॑स्तये वसो॒ न पा॑प॒त्वाय॑ सन्त्य ।

न मे॑ स्तो॒ताम॑ती॒वा न दुर्हि॑तः स्याद॑ग्ने॒ न पा॒पया॑ ॥२६॥

पदार्थः—(वसो) हे वासदाता परम उदार महादेव ! मैं (अभिशस्तये) मिथ्यापवाद और हिंसा के लिये (त्वा) तेरी (न रासीय) स्तुति न करूं । तथा (सन्त्य) हे परमपूज्य ! (पापत्वाय) पापके लिये (न) तेरी स्तुति मैं न करूं । (मे) मेरा (स्तोता) स्तुतिपाठक पुत्रादि (अमतीवा) दुष्ट बुद्धिवाला न हो (दुर्हितः न) और न किसी का शत्रु हो (अग्ने) हे सर्वगत ईश ! और वह (पापया) पाप से युक्त (न स्यात्) न होवे ॥२६॥

भावार्थः—मारण, मोहन, उच्चाटन, हिंसा आदि कुत्सित कर्म के लिए हम उपासक ईश्वर की उपासना न करें तथा हम कदापि किसी के शत्रु, पिशुन और कलंकदाता न बनें ॥२६॥

पुनः वही विषय आरहा है ॥

पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवाँ एतु प्र णो हविः ॥२७॥

पदार्थः—(न) जैसे वृद्धावस्था में (पुत्रः) सुयोग्यपुत्र (पितुः) पिता का (सुभृतः) अच्छे प्रकार भरणपोषण करता है। तद्वत् वह परमात्मा (दुरोणे) हम लोगों के गृह में भरण-पोषण कर्त्ता बनकर (नः) हमारे (देवान्) क्रीडाशील पुत्रादिकों के (आ) लिए (हविः) हविष्यान्न की (प्र एतु) वृद्धि करे ॥२७॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! प्रथम तुम अपने अन्तःकरण को शुद्ध करो और जगत् में हिंसा परद्रोहादि दुष्टकर्मों से सर्वथा निवृत्त हो जाओ। तब वह परमेश्वर तुम्हारे हृदय और गृह में वास कर शुभ मार्ग की ओर ले जायेंगे ॥२७॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

तवाहमग्न ऊतिभिर्नेदिष्ठाभिः सचेय जोषमा वसो ।
सदा देवस्य मर्त्यः ॥२८॥

पदार्थः—हे सर्वगत (वसो) हे धनस्वरूप हे परमोदार ईश ! (मर्त्यः) मरणधर्मा (अहम्) मैं उपासक (देवस्य तव) सर्वपूज्य आप की (नेदिष्ठाभिः) समीपवर्ती (ऊतिभिः) रक्षाओं से (जोषम्) प्रीति को (आ सचेय) पाऊं, ऐसी कृपा कर ॥२८॥

भावार्थः—हे भगवन् ! मुझ को निखिल दुर्व्यसन और दुष्टता से दूर करो जिस से मैं सबका प्रीतिपात्र बनूं। अज्ञान से दुर्व्यसन में और स्वार्थ से परद्रोह में लोग फँसते हैं, अतः सत्संग और विद्याभ्यास और ईश्वरीय गुणों का अपने हृदय में आधान करें ॥२८॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः ।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो ममाग्ने हर्षस्व दातवे ॥२९॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगतदेव ईश ! मैं उपासक (तव) तेरी ही (क्रत्वा) सेवारूप कर्म से (सनेयम्) तुझे सेऊं (तव) तेरे (रातिभिः) दानों से तुझे ही सेऊं (तव) तेरी ही (प्रशस्तिभिः) प्रशंसाओं से तुझे ही सेऊं, क्योंकि (त्वाम्) तुझको ही तत्त्ववित् पुरुष (प्रमतिम्) परम ज्ञानी और रक्षक (आहुः) कहते हैं। अतः (वसो) हे परमोदार धनस्वरूप (अग्ने) परमात्मन् ! (मम) मुझे (दातवे) देने के लिए (हर्षस्व) प्रसन्न हो ॥२९॥

भावार्थः—मनुष्य को उचित है कि वह सर्वदशा में ईश्वर की आज्ञा पर चले, तब ही कल्याण का मुखावलोकन कर सकता है ॥२९॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

प्र सो अ॑ग्ने॒ तवो॒तिभि॑ः सु॒वीरा॑भिस्तरते॒ वाज॑भर्मभिः ।

यस्य॒ त्वं स॒ख्यमा॒वरः॑ ॥३०॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत देव ! (यस्य) जिस उपासक की (सख्यम्) मित्रता को (आवरः) आप स्वीकार करते हैं (सः) वह (तव) आपकी (ऊतिभिः) रक्षाओं से (प्रतिरते) जगत् में वृद्धि पाता है। जिन रक्षाओं से (सुवीराभिः) कुल में वीर उत्पन्न हैं और (वाजभर्मभिः) जिन से ज्ञान विज्ञान आदिकों का भरण होता है ॥३०॥

भावार्थः—उस देव की जिस पर कृपा होती है वही धन-धान्य से सम्पन्न होकर इस लोक में प्रशंसनीय होता है ॥३०॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

तव॑ द्र॒प्सो नील॑वान्वा॒श ऋ॒त्विय॒ इन्धा॑नः सिष्णवा द॑दे ।

त्वं म॒हीना॑मु॒षसा॑मसि प्रि॒यः क्ष॒पो वस्तु॑षु राजसि ॥३१॥

पदार्थः—(सिष्णो) हे सुखवर्षिता ईश ! (तव) तेरा (द्रप्सः) द्रवणशील प्रवहणशील संसार (नीलवान्) श्याम अर्थात् सुखप्रद है। (वाशः) कमनीय=सुन्दर है (ऋत्वियः) प्रत्येक ऋतु में अभिनव होता है (इन्धानः) दीप्तिमान् है और (आददे) ग्रहणयोग्य है (त्वम्) तू (महीनाम्) महान् (उषसाम्) प्रातःकाल का (प्रियः असि) प्रिय है। (क्षपः) रात्रिकी (वस्तुषु) वस्तुओं में भी (राजसि) शोभित होता है ॥३१॥

भावार्थः—परमात्मा और उसका कार्य्यजगत्, ये दोनों सदा चिन्तनीय हैं। वह इसी में व्याप्त है, उसके कार्य्य के ज्ञान से ही विद्वान् तृप्त होते हैं ॥३१॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

तमाग॑न्म॒ सोभ॑रयः स॒हस्र॑मुष्कं स्वभि॒ष्टिमव॑से ।

स॒म्राजं॒ त्रास॑दस्यवम् ॥३२॥

पदार्थः—(सोभरयः) विद्या से और धनादिकों से प्रजाओं को भरणपोषण करने वाले हम उपासकगण (अवसे) रक्षा के लिए (तम्) उस परमात्मा के निकट

(आ अगन्म) प्राप्त हुए हैं । जिसके (सहस्रमुष्कम्) अनन्त तेज हैं (स्वभिष्टिम्) जो शोभन अभीष्टदेव हैं (सम्राजम्) जो अच्छे प्रकार सर्वत्र विराजमान हैं और (त्रासदस्यवम्) और जिनसे दुष्टगण सदा डरते हैं, ऐसे परमदेव को हम लोग प्राप्त हुए हैं ॥३२॥

भावार्थः—हम मनुष्य कपट को त्याग उसके निकट पहुँचें तब ही कल्याणभागी हो सकेंगे ॥३२॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यस्यं ते अग्ने अन्ये अग्नयं उपक्षितों वया इंव ।
विपो न द्युम्ना नि युवे जनांनां तवं क्षत्राणि वर्धयन् ॥३३॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत ब्रह्म ! जो (अन्ये अग्नयः) अन्य सूर्य्य, अग्नि, विद्युदादि अग्नि हैं वे (यस्य) जिस (ते) तेरे (उपक्षितः) आश्रित हैं, उस तुझको मैं गाता हूँ । यहां दृष्टान्त देते हैं—(वयाः इव) जैसे शाखाएं स्वमूल वृक्ष के आश्रित हैं तद्वत् । हे ब्रह्मन् ! (तव) तेरे (क्षत्राणि) बलों या यशों को (वर्धयन्) स्तुति से बढ़ाता हुआ मैं (विपः इव) अन्यान्य स्तुतिपाठक के समान (जनानाम्) मनुष्यों के मध्य (द्युम्ना) सुखों और यशों को (नि युवे) अच्छे प्रकार पाता हूँ यह आपकी महती कृपा है ॥३३॥

भावार्थः—ये सूर्य्यादि अग्नि भी उसी महाग्नि ईश्वर से तेज और प्रभा पा रहे हैं, उसी की कीर्ति गाते हुए कविगण सुखी होते हैं ॥३३॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यमांदित्यासो अद्रुहः पारं नयंथ मर्त्यम् ।
मघोनां विश्वेषां सुदानवः ॥३४॥

पदार्थः—हे (अद्रुहः) द्रोहरहित (सुदानवः) हे शोभनदाता (आदित्याः) आचार्य्यो ! आप (विश्वेषाम्) समस्त ((मघोनाम्) धनवानों के मध्य (मर्त्यम्) जिस मनुष्य को (पारम्) कर्मों के पार (नयथ) ले जाते हैं वही पूर्वोक्त फल पाता है ॥३४॥

भावार्थः—पूर्व सम्पूर्ण सूक्त में अग्निवाच्य ईश्वर की स्तुति--प्रार्थना कही गई है, यहां आदित्य की चर्चा देखते हैं । इसका कारण यह है कि आदित्य नाम आचार्य का है । उनकी ही कृपा से सर्व कार्य सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वे ज्ञान देते हैं, सन्मार्ग पर ले जाते हैं और ईश्वर की आज्ञाएं समझाते हैं ॥३४॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यूयं राजानः कं चिच्चर्षणीसहः क्षयन्तं मानुषाँ अनु ।

वयं ते वो वरुण मित्रार्यमन्त्स्यामेदृतस्य रथ्यः ॥३५॥

पदार्थः—हे आचार्य्यो ! जिस कारण आप (राजानः) सब मनुष्यों के शासनकर्ता हैं और (चर्षणीसहः) दुष्टजनों के दण्ड देनेवाले हैं, इसलिए (कश्चित्) जो कोई (मनुष्यान् अनु) मनुष्यों के मध्य दुष्टकर्म करता हुआ (क्षयन्तम्) निवास कर रहा है उसको दण्ड दीजिये । (वरुण) हे राजप्रतिनिधि (मित्र) हे ब्राह्मणप्रतिनिधि ! (अर्य्यमन्) हे वैश्यप्रतिनिधि वे (वयम्) हम उपासकगण (ऋतस्य इत्) सत्य नियम के ही (रथ्यः) नेता (स्याम) होवें ॥३५॥

भावार्थः—हम लोग सदा सत्य और न्यायपथ पर चलें ॥३५॥

इन दो मन्त्रों में उपासना का फल दिखलाते हैं ॥

अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् ।

मंहिष्ठो अर्य्यः सत्पतिः ॥३६॥

पदार्थः—(मंहिष्ठः) परमदाता (अर्य्यः) परमपूज्य (सत्पतिः) सज्जनपालक (त्रसदस्युः) दुष्टनिवारक (पौरुकुत्स्यः) सकल जीवपालक वह परमदेव (मे) मुझ उपासक को (वधूनाम् पञ्चाशतम्) वहुतसे घोड़े, घोड़ियां और अन्यान्य पशु (अदात्) देता है ॥३६॥

भावार्थः—जो उसकी उपासना अन्तःकरण से करता है वह सर्व धन-सम्पन्न होता है, अतः हे मनुष्यो ! केवल उसी की उपासना सदा करो ॥३६॥

फिर उसी विषय को दिखलाते हैं ॥

उत मे प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधि तुग्वनि ।

तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः ॥३७॥

पदार्थः—(सप्ततीनाम्) अतिगमनशील सदा चलनेवाले (तिसृणाम्) तीनों भुवनों का और (दियानाम्) दाताओं का (पतिः) अधिपति पालक (श्यावः) सर्वव्यापी सर्वगत परमात्मा (उत मे) मेरी (सुवास्त्वाः) निखिल शुभकर्मों की (अधि तुग्वनि) समाप्ति-समाप्ति पर (प्रणेता) प्रेरक और (वसुः) वासदाता (भुवत्) होवे । जो मैं (प्रयियोः) उसी की ओर जारहा हूं और (वयियोः) सदा शुभकर्मों में आसक्त हूं ॥३७॥

भावार्थः—जो समस्त भुवनों का तथा सकल दाताओं का रक्षक पर. मात्मा है वही भक्तों के शुभकर्मों की समाप्ति में सहायक होता है। अतः सर्वत्र वही उपास्यदेव है॥३७॥

अष्टम मण्डल में यह उन्नीसवां सूक्त समाप्त हुआ॥

चत्वारिंशदृचस्य विंशतितमस्य सूक्तस्य सोभरिः काण्व ऋषिः॥ मरुतो देवताः॥ छन्दः—१, ५, ७, १९, २३ उष्णिक् ककुप्। ९, १३, २१, २५ निचृदुष्णिक्। ३, १५, १७ विराडुष्णिक्। ११ पादनिचृदुष्णिक्। २, १०, १६, २२ सतः पंक्तिः। ८, २०, २४, २६ निचृत् पंक्तिः। ४, १८ विराड् पंक्तिः। ६, १२ पादनिचृत् पंक्तिः। १४ आर्ची भुरिक् पंक्तिः॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५ ऋषभः। २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २०, २२, २४ २६ पञ्चमः॥

सेनाओं का वर्णन आरम्भ करते हैं॥

आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थाता समन्यवः।
स्थिरा चिन्नमयिष्णवः॥१॥

पदार्थः—इस सूक्त में सैन्य का वर्णन करते है, यथा—(प्रस्थावानः) हे सत्पुरुषों की रक्षा के लिये सर्वत्र प्रस्थानकारी मरुन्नाम के सैन्यजनो! (आ गन्त) आप आवें,सर्वत्र प्राप्त होवें। (मा रिषण्यत) निरपराधी किसी को आप न मारें और (समन्यवः) क्रोधयुक्त होकर (मा अपस्थात) आप कहीं न रहें क्योंकि आप (स्थिरा चित) दृढ़ पर्वतादिकों को भी (नमयिष्णवः) कँपानेवाले हैं, अतः यदि आप सक्रोध रहेंगे तो प्रजाओं में अति होनि होगी॥१॥

भावार्थः—इस सूक्त का देवता मरुत है। यह शब्द अनेकार्थ है। यहां सैन्यवाची है। मरुत शब्द का एक धात्वर्थ मारने वाला भी है। जिस कारण राज्यप्रबन्ध के लिये दुष्टसंहारजन्य मरुद्गण महासाधन और महास्त्र हैं, अतः इसका नाम मरुत है। इसी प्रथम ऋचा में अनेक विषय ऐसे हैं जिनसे पता लगता है कि सेना का वर्णन है। जैसे (मा रिषण्यतः) इससे दिखलाया गया है कि प्रायः सैन्यपुरुष उन्मत्त होते हैं, निरपराध प्रजाओं को लूटते मारते हैं, अतः यहां शिक्षा देते हैं कि हे!सैन्यनायको!तुम किसी निरपराधी की हिंसा मत करो॥१॥

सेनाएं कैसी हों यह दिखलाते हैं ॥

वीळुपविभिर्मरुत ऋभुक्षण आ रुद्रासः सुदीतिभिः ।
इषा नो अद्या गता पुरुस्पृहो यज्ञमा सोभरीयवः ॥२॥

पदार्थः—(ऋभुक्षणः) हे महान् हे मनुष्यहितकारी (रुद्रासः) हे दुःखविनाशक (पुरुस्पृहः) हे बहु स्पृहणीय (सोभरीयवः)हे सत्पुरुषाभिलाषी सेनाजनो ! आप (वीळु-पविभिः) दृढ़तर चक्रादि युक्त (सुदीतिभिः) सुदीप्त रथों से (आ गत) आवें (इषा) अन्न के साथ (अद्य) आज (आ गत) आवें (यज्ञम्) प्रत्येक यज्ञ में (आ) आवें ॥२॥

भावार्थः—सेना को उचित है कि वह प्रजाओं की माननीया हो और उनकी रक्षा अच्छे प्रकार करें ॥२॥

सेनाका बल ज्ञातव्य है यह दिखलाते हैं ॥

विद्मा हि रुद्रियाणां शुष्ममुग्रं मरुतां शिमीवताम् ।
विष्णोरेषस्य मीळ्हुषाम् ॥३॥

पदार्थः—(रुद्रियाणाम्) दुःखापहारी (शिमीवताम्) कर्मपरायण और (विष्णोः) पोषक (एषस्य) अभिलषणीय अन्नों की (मीळ्हुषाम्) वर्षा करने वाले (मरुताम्) मरुन्नामक सैन्यजनों को (विद्म हि) हम लोग अवश्य जानते हैं ॥३॥

भावार्थः—भाव इसका यह है कि सेना की क्या शक्ति है, उसको क्या अधिकार है, वह जगत् में किस प्रकार उपकारिणी बन सकती है, इत्यादि विषय विद्वानों को जानने चाहियें। वे सैन्यजन दुष्टों को शिष्ट बनावें। यदि वे अपनी दुष्टता न छोड़ें तो उनके धन से देश के उपकार सिद्ध करें ॥३॥

सेना का वर्णन करते हैं ॥

वि द्वीपानि पापतन्तिष्ठद्दुच्छुनोभे युजन्त रोदसी ।
प्र धन्वान्यैरत शुभ्रखादयो यदेजथ स्वभानवः ॥४॥

पदार्थः—(शुभ्रखादयः) हे शुद्धभोजनो अथवा हे शोभनायुधो ! (स्वभानवः) हे स्वप्रकाश हे स्वतन्त्र (यद्) जब (एजथ) आप भयंकर मूर्ति धारणकर जगत् को कँपाते हैं तब (द्वीपानि) द्वीप द्वीपान्तर (वि पापतन्) अत्यन्त गिरने लगते हैं। (तिष्ठत्) स्थावर वस्तु भी (दुच्छुना) दुःख से युक्त होती है (रोदसी युजन्त) द्युलोक

और पृथिवी भी दुःख से युक्त होती है (धन्वानि) जल स्थल भी (प्रैरत) सूख जाते हैं ॥४॥

भावार्थः—राजसेनाएं सदा प्रजाओं की रक्षा के लिये ही नियुक्त की जाती हैं, इसी काम में सदा धर्म पर वे तत्पर रहें ॥४॥

सेना के गुणों को दिखाते हैं ॥

अच्युता चिद्वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः।

भूमिर्यामेषु रेजते ॥५॥

पदार्थः—हे सेनाजनो ! (वः) आपके (अज्मन्) गमन से (अच्युताचित्) सुदृढ़ और अपतनशील भी (पर्वतासः) पर्वत (वनस्पतिः) और वृक्षादिक भी (नानदति) अत्यन्त शब्द करने लगते हैं (यामेषु) आप के गमन से (भूमिः) पृथिवी भी (रेजते) कांपने लगती है ॥५॥

भावार्थः—इससे यह सूचित किया गया है कि यदि सेना उच्छृंखल हो जाय तो जगत् की बड़ी हानि होती है, अतः उसका शासक देश का परमहितैषी और स्वार्थविहीन हो ॥५॥

पुनः उसी विषय का वर्णन आ रहा है ॥

अमाय वो मरुतो यातवे द्यौर्जिहीत उत्तरा बृहत्।

यत्रा नरो देदिशते तनूष्वा त्वक्षांसि बाह्वोजसः ॥६॥

पदार्थः—(मरुतः) हे मरुद्गण सैन्यनायको दुष्ट-जनशासको ! (वः) आप लोगों के (अमाय यातवे) बल के कारण स्वच्छन्दपूर्वक गमन के लिये (द्यौः) अन्यान्य जिगीषु वीर पुरुष (बृहत्) बहुत स्थान आपके लिये छोड़कर (उत्तरा जिहीते) आगे बढ़ जाते हैं (यत्र) जिसके निमित्त (नरः) जननेता और (बाह्वोजसः) भुजबलधारी आप (तनूषु) शरीरों में (त्वक्षांसि) आयुध (आ, देदिशते) लगाते हैं ॥६॥

भावार्थः—जो अच्छे सैनिक पुरुष होते हैं उनसे सब डरते हैं, क्योंकि वे निःस्वार्थ और देशहित के लिये समर करते हैं ॥६॥

पुनः सेनाएं कैसी होवें यह दिखलाते हैं ॥

स्वधामनु श्रियं नरो महि त्वेषा अमवन्तो वृषप्सवः।

वहन्ते अह्रुतप्सवः ॥७॥

पदार्थः—(नरः) ये जगन्नेता मरुद्गण ! (स्वधाम् अनु) जब देश की रक्षा करते है तब (महि) अतिशय (श्रियम्) शोभा को (वहन्ते) धारण करते हैं, वे कैसे हैं (त्वेषाः) अत्यन्त प्रकाशित, पुनः (अमवन्तः) परम बलिष्ठ, पुनः (वृषप्सवः) जिनके रूप से करुणत्व टपक रहा हो, पुनः (अह्रुतप्सवः) अकुटिलरूप अर्थात् जिनकी गति कुटिलता से युक्त न हो ॥७॥

भावार्थः—सेना को उचित है कि वह अपने देश की सर्व प्रकार से रक्षा करे, वे स्वयं अपने आचरण से दीप्तिमान् और करुणानन्द हों और उनके प्रत्येक कार्य्य सरल हों ॥७॥

पुनः वे कैसे हों, यह दिखाते हैं ॥

गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये ।

गोबन्धवः सुजातास इषे भुजे महान्तो नः स्परसे नु ॥८॥

पदार्थः—(सोभरीणाम्) मनुष्य जाति का अच्छे प्रकार भरणपोषण करनेवाले सैनिक जनों का (वाणः) वाण (हिरण्यये) सुवर्णमय (रथे कोशे) रथस्थ कोश में (गोभिः) शब्द से (अज्यते) मालूम होता है । अर्थात् वीरपुरुष जब वाण फेंकते हैं और धनुष् का शब्द होता है तब मालूम होता है कि रथ पर बहुत वाण हैं । (गोबन्धवः) पृथिवी के बन्धु (सुजातासः) शोभनजन्मा कुलीन और (महान्तः) महान् ये मरुद्गण (नः) हमारे (ईषे) अन्न के लिये (भुजे) भोग के लिये और (स्परसे) प्रीति के लिये (नु) शीघ्र होवें ॥८॥

भावार्थः—वीर पुरुष सदा जगत् का उपकार किया करें । प्रजाओं के क्लेशों को दूर करने के लिये सदा यत्न करें ॥८॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

प्रति वो वृषदञ्जयो वृष्णे शर्धाय मारुताय भरध्वम् ।

हव्या वृषप्रयाव्णे ॥९॥

पदार्थः—(वृषदञ्जयः) हे शोभनाचारयुक्त प्रजाजनो ! (वः) आप लोग (मारुताय) उत्तम सेनाजनों के लिये (हव्यानि) विविध द्रव्य विविध खाद्य पदार्थ (प्रतिभरध्वम्) रक्षा के बदले में दिया करें । (वृष्णे) जो मरुद्गण रक्षा और धनादिकों की वर्षा करते हैं (शर्धाय) जो आप लोगों के बलस्वरूप हैं और (वृषप्रयाव्णे) जिनके नायक वृषवत् बलिष्ठ और देशरक्षक हैं ॥९॥

भावार्थः—भगवान् उपदेश देते हैं कि सेना देशहितकारणी हो। और उस का भरण पोषण प्रजाधीन हो ॥९॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

वृष॒णश्वे॑न मरुतो॒ वृष॑प्सुना॒ रथे॑न॒ वृष॑नाभिना ।

आ श्ये॒नासो॒ न प॒क्षिणो॒ वृथा॑ नरो ह॒व्या नो॑ वी॒तये॑ गत ॥१०॥

पदार्थः—(नरः) हे मनुष्यों के नेता (मरुतः) मरुद्गण आप (नः) हमारे (हव्या) निखिल पदार्थों की (वृथा) अनायास (वीतये) रक्षा के लिये (रथेन) रथ पर चढ़कर (आ गत) आवें। कैसा रथ हो (वृषणाश्वेन) जो बलिष्ठ अश्वों से युक्त हो जो (वृषप्सुना) धनादिकों की वर्षा करने वाला हो, पुनः (वृषनाभिना) जिसके मध्यस्थान भी धनादि वर्षक हों। आगमन में दृष्टान्त देते हैं—(न) जैसे (श्येनासः) श्येन नामके (पक्षिणः) पक्षी बड़े वेग से उड़कर दौड़ते हैं, तद्वत् ॥१०॥

भावार्थः—प्रजा के कार्य में किञ्चित् भी विलम्ब वे न करें। और अपने साथ नाना पदार्थ लेकर चलें, जहां जैसी आवश्यकता देखें वहां वैसा करें ॥१०॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

स॒मा॒नम॒ञ्ज्ये॑षां॒ वि भ्रा॑जन्ते रु॒क्मासो॒ अधि॑ बा॒हुषु॑ ।

द॒वि॒द्यु॒तत्यृ॒ष्टयः॑ ॥११॥

पदार्थः—सेना एक प्रकार की हो यह शिक्षा इससे देते हैं, यथा—(एषाम्) इन मरुद्गणों की (अञ्जि) गति (समानम्) समान हो। यथा (रुक्मासः) अन्यान्य सुवर्णमय आभरण भी समानरूप से (वि भ्राजन्ते) शोभित हों। तथा (बाहुषु अधि) बाहुओं के ऊपर (ऋष्टयः) शक्ति आदि नाना आयुध भी समानरूप से (दविद्युतति) अत्यन्त द्योतित हों ॥११॥

भावार्थः—सेना नाना अस्त्र शस्त्रों से युक्त हो, किन्तु उनके कपड़े आदि सब एक ही हों ॥११॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

त उ॒ग्रासो॒ वृष॑ण उ॒ग्रबा॑हवो॒ नकि॑ष्ट॒नूषु॑ येतिरे ।

स्थि॒रा धन्वा॒न्यायु॑धा॒ रथे॑षु॒ वोऽनी॑के॒ष्वधि॒ श्रियः॑ ॥१२॥

पदार्थः—पुनः सेनाजन कैसे हों सो कहते हैं—(ते) वे सेनाजन (उग्रासः)

सर्व कार्य्यों में परमोद्योगी हों, पुन: (वृषण:) शान्ति, रक्षा, धन आदि के वर्षिता हों, पुन: (उग्रबाहव:) बाहुबल के कारण उग्र हों अथवा जिनके बाहु सदा सर्वकार्य में उद्यत हों, किन्तु (तनूषु) निज शरीर के भरण-पोषण के लिये (नकि:) कदापि न (येतिरे) चेष्टा करें, क्योंकि उनके शरीर के पोषण की चिन्ता प्रजाएं किया करें। तथा हे मरुद्गण ! (व:) आपके (रथेषु) रथों के ऊपर (धन्वानि) धनुष् और (आयुधा) बाण आदि आयुध (स्थिरा) दृढ़ हों जिससे (अनीकेषु अधि) सेनाओं में (श्रिय:) विजयलक्ष्मी को प्राप्त हों ॥१२॥

भावार्थ:—सैनिक पुरुष परमोद्योगी हों, अपने शरीर की चिन्ता न करें। वे अच्छे-अच्छे अस्त्रों से सुभूषित हों ॥१२॥

पुन: वही विषय आ रहा है ॥

येषामर्णो न सप्रथो नाम त्वेषं शश्वतामेकमिद्भुजे ।
वयो न पित्र्यं सहः ॥१३॥

पदार्थ:—पुन: सैनिकजन कैसे हों सो कहते हैं—(येषाम्) जिनका (नाम) नाम (अर्ण: न) जल के समान (सप्रथ:) सर्वत्र विस्तीर्ण है। और (त्वेषम्) दीप्तियुक्त हो पुन: (शश्वताम्) चिरस्थायी, उन मरुद्गणों के (भुजे) बाहु में (एकम् इत्) बल ही प्रधान हो और (न) जैसे (सह:) प्रसहनशील (पित्र्यम्) पैत्रिक (वय:) अन्न को लोग स्वच्छन्दता से भोगते हैं, तद्वत् सैनिक जन भी प्रजाओं के कार्य्य में आ सकें ॥१३॥

भावार्थ:—सैनिक पुरुष ऐसे शुद्धाचारी हों कि जिनके नाम उज्ज्वल हों और वे ऐसे प्रजाहितकर हों कि सब कोई उनसे अपने धन के समान लाभ उठा सकें ॥१३॥

पुन: वही विषय आ रहा है ॥

तान्वन्दस्व मरुतस्ताँ उप स्तुहि तेषां हि धुनीनाम् ।
अराणां न चरमस्तदेषां दाना मह्ना तदेषाम् ॥१४॥

पदार्थ:—हे प्रजागण (तान् मरुत:) उन सैनिक जनों की (वन्दस्व) वन्दना करो (तान्) उनके (उप स्तुहि) समीप जाकर स्तुति करो (हि) क्योंकि (तेषाम् धुनीनाम्) दुष्टों के कंपाने वाले उन मरुद्गणों की रक्षा में हम सब कोई वास करते हैं (न) जैसे (अराणाम्) श्रेष्ठ पुरुषों का (चरम:) पुत्रादि रक्षणीय होता है तद्वत् हम लोग सैनिक जनों के रक्षणीय हैं (तद् एषाम्) इसलिये इनके (दाना) दान भी

(मह्ना) महत्त्वयुक्त हैं। (तद् एषाम्) इसलिये इनकी स्तुति आदि करनी चाहिये ॥१४॥

भावार्थः—अच्छी सेना की प्रशंसा करनी चाहिये ॥१४॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

सुभगः स वं ऊतिष्वास पूर्वासु मरुतो व्युष्टिषु ।

यो वां नूनमुतासति ॥१५॥

पदार्थः—(मरुतः) हे सेनागण ! (वः) आप लोगों की (ऊतिषु) रक्षाओं में जो जन (आस) रहता है (सः) वह जन (सुभगः) सदा धनसम्पन्न होता है। कब ? (पूर्वासु व्युष्टिषु) अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में वह सुखी रहता है। (उत) और (वा नूनम्) अवश्यमेव (यः) जो जन (असति) आप का होकर रहता है वह सदा सुखी होता है—इसमें सन्देह नहीं ॥१५॥

भावार्थः—सेना से सुरक्षित देश में भी सभी जन सुख से रहते हैं। सेना को उचित है कि वह लोभ, काम, क्रोध और अपमानादि से प्रेरित होकर प्रजाओं में कोई उपद्रव न मचावे, किन्तु प्रेम से प्रजा की रक्षा करे ॥१५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यस्यं वा यूयं प्रति वाजिनो नर आ हव्या वीतये गथ ।

अभि ष द्युम्नैरुत वाजसातिभिः सुम्ना वो धूतयो नशत् ॥१६॥

पदार्थः—(नरः) हे नेता सेनाओ ! आप (यस्य वा) जिस (वाजिनः) यजमान अर्थात् सेवकजन के (हव्या) धनों के (प्रति) प्रति (वीतये) रक्षा के लिये (आ गथ) आते-जाते रहते हैं (धूतयः) हे दुष्टों को कम्पाने वाली सेनाओ (सः) वह (द्युम्नैः) विविध धनों से वा यशों से (उत) और (वाजसातिभि) अन्नों के दानों से युक्त होता है। और (वः) आप लोगों से सुरक्षित होकर वह जन सदा (सुम्ना) विविध प्रकार के धनों को (अभिनशत्) अच्छी तरह से प्राप्त करता है ॥१६॥

भावार्थः—सेनाओं को उचित है कि वे प्रजाओं के धनों और सुखों को पालें और बचावें ॥१६॥

पुनः उसी विषय की अनुवृत्ति है ॥

यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः ।

युवानस्तथेदसत् ॥१७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! वे सैनिक जन (रुद्रस्य सूनवः) परमेश्वर के पुत्र हों अर्थात् ईश्वर के भक्त हों (दिवः) अच्छे स्वभाव वाले (असुरस्य) भक्तजनों के (वेधसः) रक्षक हों तथा (युवानः) युवा पुरुष हों (यथा) जिस प्रकार यह कार्य सिद्ध हो (तथा इत्) वैसा ही (असत्) होना चाहिये ॥१७॥

भावार्थः—यहां रुद्रादि शब्द से सैनिक जनों का लक्षण कहा गया है प्रथम रुद्रसूनु पद से दिखलाया गया है कि ईश्वर के पुत्र जैसे परोपकारी आदि हो सकते हैं वैसे ही सैनिक जन हैं और प्रत्येक उत्तम कार्य्य के वे विधायक हैं और युवा हैं। युवक पुरुषों से सेना में जितने कार्य्य सिद्ध हो सकते हैं उतने वृद्धादिकों से नहीं ॥१७॥

पुनः उसी विषय की आवृत्ति है ॥

ये चार्हन्ति मरुतः सुदानवः स्मन्मीळ्हुषश्चरन्ति ये ।
अतश्चिदा न उप वस्यसा हृदा युवान आ ववृध्वम् ॥१८॥

पदार्थः—(मरुतः) हे सैनिकजनो ! आप (मीढुषः) सुख के देने वाले हैं। उन सुख देने वाले (मीढुषः मरुतः) सैनिकजनों को (ये च अर्हन्ति) जो जन आदर करते हैं और (ये सुदानवः) जो सुदानी (स्मत्) अच्छे प्रकार (चरन्ति) सेना के अनुकूल चलते हैं और सैनिकजनों का आदर करते हैं (युवानः) हे युवा सैनिकजनो ! (अतश्चित्) इस कारण से भी (नः) हम लोगों को आप (वस्यसा) परमोदार (हृदा) हृदय से (उपाववृध्वम्) सेवो और हम लोगों का हित करो ॥१८॥

भावार्थः—परस्पर साहाय्य करना चाहिये, यह शिक्षा इससे मिलती है ॥१८॥

पुनः उसी विषय की आवृत्ति है ॥

यून ऊ षु नविष्ठया वृष्णः पावकाँ अभि सोभरे गिरा ।
गाय गा इव चर्कृषत् ॥१९॥

पदार्थः—(चर्कृषत्) किसान (गाः इव) जैसे युवा बलों की प्रशंसा करता और कार्य्य में लगाता है, तद्वत् (सोभरे) भरण-पोषण करने वाले मनुष्य ! आप (यूनः) तरुण (वृष्णः) सुख पहुँचाने वाले (पावकान्) और तेजस्वी सैनिक जनों को (ऊ षु) अच्छी रीति से (अभिगाय) आदर कीजिये और काम में लगाइये ॥१९॥

भावार्थः—गृहस्थजन जैसे क्षेत्रोपकारी बैल इत्यादिक साधनों को अच्छी तरह से पालते और काम में लगाते है, वैसे ही प्रजाजन सेनाओं को पालें और काम में लगावें ॥१९॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

साहा ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो विश्वासु पृत्सु होतृषु ।

वृष्णश्चन्द्रान्न सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो अह ॥२०॥

पदार्थः—हे कविजन, हे प्रजाजन तथा हे विद्वद्वर्ग ! आप (हव्यः) प्रशंसनीय और युद्ध में बुलाने योग्य (मुष्टिहा इव) मल्ल के समान (ये) जो (विश्वासु पृत्सु) सर्व युद्धों में और (हेतृषुः) आह्वानकर्ता योद्धाओं में (सहाः सन्ति) समर्थ और अभिभवकारी हैं उन (वृष्णः) वर्षाकारी (चन्द्रान्) आह्लादक और (सुश्रवस्तमान्) अतिशय यशस्वी उन (मरुतः) सैनिक जनों की (अह) ही (न) इस समय (वन्दस्व) कीर्ति गाइये ॥२०॥

भावार्थः—जो सेनाए उत्तमोत्तम कार्य करें, वे प्रशंसनीय हैं ॥२०॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

गावश्चिद्धा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः ।

रिहते ककुभो मिथः ॥२१॥

पदार्थः—(समन्यवः) हे समानतेजस्वी अथवा समान क्रोध वाले (मरुतः) दुष्टमारक शिष्टरक्षक सैनिकजनो ! आप देखें। आप लोगों की रक्षा के कारण (सजात्येन) समान जाति से (सबन्धवः) समान बन्धुत्व को प्राप्त ये (गावः चित् घ) यशोगायिका प्रजाएं (ककुभः) निज-निज स्थान में (मिथः) परस्पर (रिहते) प्रेम कर रहे हैं। अथवा गौ, मेष आदि पशु भी आनन्द कर रहे हैं। इत्यादि अर्थ भी अनुसन्धेय हैं ॥२१॥

भावार्थः—प्रजाजन रक्षा के कारण परम सुखी और प्रेमी हो रहे हैं। अथवा पशुजाति भी परस्पर प्रेम कर रही है ॥२१॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

मर्तश्चिद्वो नृतवो रुक्मवक्षस उप भ्रातृत्वमायति ।

अधि नो गात मरुतः सदा हि व आपित्वमस्ति निध्रुवि ॥२२॥

पदार्थः—(नृतवः) हे प्रजाओं की रक्षा करने में नाचने वाले (रुक्मवक्षसः) हे सुवर्णभूषणभूषितवक्षस्थल सैन्यजनो ! (मर्तः चित्) साधारण जन भी (वः) आप के साथ (भ्रातृत्वम् उप आयति) भ्रातृत्व प्राप्त करते हैं इस कारण (नः) हम प्रजाओं को (अधि गात) अच्छे प्रकार यथोचित उपदेश देवें। (मरुतः) हे मरुद्गण (हि) जिस

कारण (वः) आपका (आपित्वम्) बन्धुत्व (सदा) सदा (निध्रुवि अस्ति) निश्चल है ॥२२॥

भावार्थः—सैनिकजन सर्वप्रिय होवें और यथोचित कर्त्तव्य लोगों को समझाया करें ॥२२॥

पुनः वही विषय कहते हैं ॥

मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः

यूयं सखायः सप्तयः ॥२३॥

पदार्थः—(सुदानवः) हे शोभनदानयुक्त (सखायः) हे मित्रो (सप्तयः) रक्षार्थ इतस्ततः गमनशील (मरुतः) मरुद्गण (यूयम्) आप (मारुतस्य) स्वसम्बन्धी (भेषजस्य) विविध प्रकार की औषध (आ वहत नः) हम लोगों के उपकारार्थ लावें ॥४३॥

भावार्थः—प्रजाओं के उपकारार्थ विविध औषधों का भी प्रस्तुत करना सैनिकजनों का एक मुख्य काम है ॥२३॥

पुनः वही विषय कहते हैं ॥

याभिः सिन्धुमवथ याभिस्तूर्वथ याभिर्दशस्यथा क्रिविम् ।

मयो नो भूतोतिभिर्मयोभुवः शिवाभिरसचद्द्विषः ॥२४॥

पदार्थः—हे सैनिक जनो ! (याभिः) जिन रक्षाओं और सहायताओं से आप (सिन्धुम्) समुद्र की (अवथ) रक्षा करते हैं (याभिः) जिन उपायों से (तूर्वथ) शत्रुओं का संहार करते हैं (याभिः) जिस सहायता से (क्रिविम्) कूप बना बनवाकर प्रजाओं को (दशस्यथ) देते हैं । (मयोभुवः) हे सुखदाता (असचद्विषः) हे शत्रुरहित मरुतो ! आप (शिवाभिः) उन कल्याणकारिणी (ऊतिभिः) रक्षाओं से (नः) हम जनों को (मयः भूत) सुख पहुँचावें ॥२४॥

भावार्थः—समुद्र में व्यापारिक जहाजों की रक्षा की बड़ी आवश्यकता होती है अतः वेद भगवान् कहते हैं कि समुद्र की भी रक्षा करना सैनिक धर्म है । तथा कूप में सदा जल विद्यमान रहे और उस में शत्रुगण विषादि घातक पदार्थ न मिला सकें, अतः कूपों की रक्षा का विधान है ॥२४॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

यत्सिन्धौ यदसिक्न्यां यत्समुद्रेषु मरुतः सुबर्हिषः ।

यत्पर्वतेषु भेषजम् ॥२५॥

पदार्थः—सैनिक जनों के लिये अन्यान्य कर्त्तव्य का उपदेश देते हैं (सुबर्हिषः) रक्षारूप महायज्ञ करने वाले (मरुतः) सैनिक जनो ! (सिन्धौ) वहने वाले जलाशयों में (यत्) जो (भेषजम्) औषध विद्यमान है। (यत् असिक्न्यां) काले जल वाली नदी मे जो औषध विद्यमान है, (समुद्रेषु) समुद्रों में (यत्) जो औषध विद्यमान है और (पर्वतेषु) पर्वतों पर (यत्) जो औषध है उसको प्रजाहितार्थ लाया कीजिये ॥२५॥

भावार्थः—औषधों का भी संग्रह करना सैनिक जनों का कर्त्तव्य है ॥२५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत।

क्षमा रपो मरुत आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥२६॥

पदार्थः—(मरुतः) हे दुष्टजनसंहारक सैनिकजनो ! (विश्वम्) सम्पूर्ण औषधों को (पश्यन्तः) देखते और जानते हुए आप उन्हें लाकर (तनूषु) आपके शरीरस्वरूप हम लोगों में (आविभृथ) स्थापित कीजिये और (तेन) उससे (नः) हमको कर्त्तव्याकर्त्तव्य का (अधिवोचत) उपदेश देवें। अथवा उस से हम लोगों की चिकित्सा करें। हे सैनिक जनो ! हम लोगों में (आतुरस्य) जो आतुर अर्थात् रोगी हो उसके (रपः) पापजनित रोग की (क्षमा) शान्ति जैसे हो सो आप करें और (विह्रुतम्) टूटे अङ्ग को (पुनः) फिर (इष्कर्त) अच्छी तरह पूर्ण कीजिये ॥२६॥

भावार्थः—चिकित्सा करना भी सैनिक जनों का एक महान् कर्त्तव्य है ॥२६॥

अष्टम मण्डल का यह बीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टादशर्चस्यैकविंशतितमस्य सूक्तस्य सोभरिः काण्वः ऋषिः ॥ १–१६ इन्द्रः। १७, १८ चित्रस्य दानस्तुतिर्देवता ॥ छन्दः—१, ३, १५ विराडुष्णिक्। १३, १७ निचृदुष्णिक्। ५, ७, ९, ११ उष्णिक् ककुप्। २, १२, १४ पादनिचृद् पङ्क्तिः। १० विराट् पङ्क्तिः। ६, ८, १६, १८ निचृत् पङ्क्तिः। ४ भुरिक् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७ ऋषभः। २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८ पञ्चमः ॥

पुनः परमदेव की स्तुति आरम्भ करते हैं ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः।

वाजे चित्रं हवामहे ॥१॥

पदार्थः—(अपूर्व्य) हे अपूर्व, हे असदृश ! (त्वाम् उ) तुझको ही (वयम्) हम सब मिलकर (हवामहे) पुकारते हैं जो तू (वाजे) विज्ञान के निमित्त (चित्रम्) आश्चर्य है और हम सब (कच्चित्) कुछ भी (स्थूरम्) दृढ़ वस्तु को (न भरन्तः) रखने वाले नहीं है किन्तु (अवस्यवः) आप से रक्षा चाहते हैं ॥१॥

भावार्थः—अपूर्व्य=जिसके पहिले कोई न हो "यस्मात् पूर्वो न कश्चित् सोऽपूर्वः" यद्वा=जिसके सदृश कोई नहीं वह अपूर्व । वेद में अपूर्व्य होता है। वाज=यह अनेकार्थक शब्द है। ज्ञान, अन्न, युद्ध, गमन आदि इसके अर्थ होते हैं ॥१॥

वही सेव्य है यह इससे दिखलाते हैं ॥

उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।

त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र(ऊतये) रक्षा के लिये(कर्मन्) प्रत्येक शुभकर्म में (त्वा) तुझको (उप) आश्रय बनाते हैं। (यः) जो इन्द्र (धृषत्) सर्व विघ्न का विनाश करता है (युवा) जो सदा एकरस और (उग्रः) उग्र है (सः) वह (नः) हम लोगों को (चक्राम) प्राप्त हो। अथवा हमको उत्साहित करे। हे इन्द्र ! (त्वाम् इत्) तुझ को ही (अवितारम्) अपना रक्षक और (सानसिम्) सेवनीय (सखायः) हम मनुष्यगण (ववृमहे) स्वीकार करते हैं, मानते हैं ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम ऋषिगण उसी परमात्मा की उपासना करते हैं वैसे आप लोग भी करें ॥२॥

रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं ॥

आ या॑ही॒म इन्द॒वोऽश्व॑पते॒ गोप॑त॒ उर्व॑रापते ।

सोम॑ सोमपते पिब ॥३॥

पदार्थः—(अश्वपते) हे अश्वों के स्वामी ! (गोपते) ! हे गवादि पशुओं के स्वामी ! हे (उर्वरापते) क्षेत्रपते ! (सोमपते) हे सोमादि लताओं के अधिपति ! (इमे इन्दवः) ये सोमादि लताएं आप ही की हैं। (आयाहि) उनकी रक्षा के लिये आप आवें और (सोमम् पिब) सोमादि पदार्थों को कृपादृष्टि से देखें वा बचावें ॥३॥

भावार्थः—उर्वरा=उपजाऊ भूमि का नाम उर्वरा है। परमेश्वर हमारे पशुओं, खेतों और लताओं का भी रक्षक है ॥३॥

वही स्तवनीय है यह इससे दिखलाते हैं ॥

व॒यं हि त्वा॒ बन्धु॑मन्तमब॒न्धवो॒ विप्रा॑स इन्द्र येमि॒म ।

या ते॒ धामा॑नि वृषभ॒ तेभि॒रा ग॑हि॒ विश्वे॑भि॒: सोम॑पीतये ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे भगवन् ! (वयम् विप्रासः) मेधावीगण हम (अबन्धवः) बन्धुओं से रहित ही हैं। और तू (बन्धुमन्तम्) बन्धुमान् है अर्थात् तेरा जगत् ही बन्धु है, हम (त्वा येमिम) उस तुझ को आश्रय बनाते हैं (वृषभ) हे सर्वकामनावर्षक (ते या धामानि) तेरे जितने संसार हैं (तेभिः विश्वेभिः) उन सम्पूर्ण जगतों के साथ विद्यमान (सोमपीतये) सोमादि पदार्थों को कृपादृष्टि से देखने के लिये (आगहि) आ ॥४॥

भावार्थः—यद्यपि भ्राता, पुत्र, परिवार आदि बन्धु-बान्धव सब के थोड़े-बहुत होते हैं, तथापि वास्तविक बन्धु परमात्मा ही है, इस अभिप्राय से यहां 'अबन्धु' पद आया है ॥४॥

वह नमस्कारयोग्य है यह इससे दिखलाते हैं ॥

सीद॑न्तस्ते॒ वयो॒ यथा॒ गोश्री॑ते॒ मधौ॑ मदि॒रे वि॒वक्ष॑णे ।

अ॒भि त्वामि॑न्द्र नोनुमः ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा ईश ! (त्वाम्) तुझ को हम सब (अभिनोनुमः) सब तरह से वारम्वार स्तुति करते हैं। (यथा वयः) जैसे पक्षीगण अपने घोंसले में आराम से रहते हैं इसी तरह हम सब (ते) तेरे (गोश्रीते) दूध, दही पदार्थों से मिश्रित (मधौ) मधुर (मदिरे) आनन्दजनक (विवक्षणे) इस संसार में आनन्द से (सीदन्तः) बैठे हुए हैं इसलिये तेरी स्तुति करते हैं ॥५॥

भावार्थः—जीव मनुष्य-शरीर पाकर नाना भोग भोगते हुए बड़े आनन्द से भगवद्रचित संसार में विश्राम कर रहा है इसलिये भगवान् की स्तुति-प्रार्थना करना उचित ही है ॥५॥

फिर प्रार्थना का विषय कहते हैं ॥

अच्छा॑ च त्वै॒ना नम॑सा॒ वदा॑मसि॒ किं मुहु॑श्चिद्वि दी॑धयः ।

सन्ति॒ कामा॑सो हरिवो द॒दिष्ट्वं स्मो॑ व॒यं सन्ति॑ नो॒ धियः॑ ॥६॥

पदार्थः—(अच्छा च) और भी (एना नमसा) इस नमस्कार द्वारा (त्वा

ववामसि) तेरी वारम्वार प्रार्थना करते हैं (किम्) किस कारण तू (मुहुः चित्) भूयो भूयः (विदीधयः) चिन्ता कर रहा है। (हरिवः) हे संसारिन् (कामासः सन्ति) हम लोगों की अनेक कामनाएं हैं (त्वम् ददिः) तू दाता है (वयम् स्मः) हम तेरे हैं (नः धियः) हम लोगों की क्रिया और ज्ञान (सन्ति) विद्यमान हैं अतः तुझ से प्रार्थना करते हैं ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य के हृदय में अनेक कामनाएं हैं, हितकारी और शुभ कामनाओं को ईश्वर पूर्ण करता है ॥६॥

उसका ज्ञान करना चाहिये यह दिखलाते हैं ॥

नूत्ना इदिन्द्र ते वयमूती अंभूम नहि नू ते अद्रिवः ।

विद्मा पुरा परींणसः ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अद्रिवः) हे संसाररक्षक यद्वा हे संसारिन् ! हम उपासकगण (ते) तेरी (ऊती) रक्षा में (नूत्नाः इत्) नूतन ही हैं (नहि) यह नहीं किन्तु पुराण और प्राचीन हैं अर्थात् आप की रक्षा बहुत दिनों से होती आती है। आगे इसी को विस्पष्ट करते हैं—(पुरा) पूर्वकाल से ही (परीणसः ते) तुझको परमोदार (विद्मः) जानते हैं (नू) यह निश्चय है ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा की रक्षा सर्वदा से होती आई है, उस की उदारता असीम है, अतः वही पूज्य है ॥७॥

इससे प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

विद्मा सखित्वमुत शूर भोज्यमा ते ता वंज्रिन्नीमहे ।

उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो वाजे सुशिप्र गोमति ॥८॥

पदार्थः—(शूर) हे महावीर ! (उत) और (सखित्वम् विद्म) तेरी मैत्री हम जानते हैं। (वज्रिन्) हे दण्डधर (भोज्यम्) तूने जीवों के लिये जो नाना भोज्य पदार्थ दिये हैं उनको भी हम जानते हैं। हम (ते) तेरे (ता) उस सखित्व और भोज्य पदार्थ को (आ) सब प्रकार (ई महे) चाहते हैं। (उतो) और (वसो) हे वासक ! (सुशिप्र) हे सुशिष्टजन पूरक ! (नः) हम लोगों को (गोमति) गवादियुक्त (समस्मिन् वाजे) समस्त धन और विज्ञान में (आ शिशीहि) स्थापित कर ॥८॥

भावार्थः—उसने हम जीवों के भोग के लिये सहस्रशः पदार्थ दिये हैं। तथापि हम जीव विकल ही रहते हैं। इस का कारण अनुद्योग है ॥८॥

प्रार्थना कर्त्तव्य है यह दिखाते हैं॥

यो न॑ इ॒दमि॑दं पु॒रा प्र वस्य॑ आनि॒नाय॒ तमु॑ वः स्तुषे।

सखा॑य॒ इन्द्र॑मू॒तये॑ ॥९॥

पदार्थः—(सखायः) हे मित्रो! (यः) जो इन्द्र (नः) हम जीवों के सुख के लिये (पुरा) सृष्टि के आदि में ही (वस्यः) प्रशस्त (इदम् इदम्) इस सम्पूर्ण जगत् और इन पदार्थों को (प्र आनिनाय) लाया है (तम् उ इन्द्रम्) उसी परमात्मा की (वः ऊतये) तुम्हारी रक्षा के लिये (स्तुषे) स्तुति करते हैं॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! जो इन अनन्त पदार्थों को भूमि पर प्रकाशित करता है वही एक पूज्य है अन्य नहीं॥९॥

उसके गुण कीर्तनीय हैं यह इससे दिखलाते हैं॥

हर्य॑श्वं॒ सत्प॑तिं चर्षणी॒सहं॒ स हि ष्मा॒ यो अम॑न्दत।

आ तु नः॒ स व॑यति॒ गव्य॒मश्व्यं॑ स्तो॒तृभ्यो॑ म॒घवा॑ श॒तम्॥१०॥

पदार्थः—(सः हि स्म) वही मनुष्य परमात्मा की उपासना करता है (यः अमन्दत) जो इस जगत् में कलत्र पुत्रादि के साथ सर्वसुख अनुभव करता है। कैसा वह परमात्मा है—(हर्य्यश्वम्) यह संसार ही जिसका घोड़ा है,(सत्पतिम्) जो सत्पति है, (चर्षणीसहम्) दुष्टजन का शासक है। इसलिये (सः मघवा) परमधनसम्पन्न वह इन्द्र (शतम्) विविध अनेक (गव्यम्)गोयुक्त (अश्व्यम्) अश्वयुक्त धन (नः स्तोतृभ्यः) हम स्तुतिपाठक जनों को तू जल्दी (आवयति) देवे॥१०॥

भावार्थः—वही परमदेव हम जीवों का मनोरथ पूर्ण कर सकता है॥१०॥

उसका उपासक विजयी होता है यह दिखाते हैं॥

त्वया॑ ह स्विद्यु॒जा व॒यं प्रति॑ श्व॒सन्तं॑ वृषभ ब्रुवीमहि।

सं॒स्थे जन॑स्य॒ गोम॑तः॥११॥

पदार्थः—(वृषभ) हे निखिल मनोरथपूरक!(गोमतः) पृथिवीश्वर मनुष्य के (संस्थे) संग्राम में (श्वसन्तम्) अतिशय क्रोध से हांपते हुए शत्रुओं को (युजा) सहायक (त्वया ह स्वित्) तेरी ही सहायता से (प्रति ब्रुवीमहि) प्रत्युत्तर देते हैं अर्थात् तेरे ही साहाय्य से उनको जीतते हैं॥११॥

भावार्थः—जो जन उसी को अपना आश्रय बनाते हैं वे महान् शत्रुओं को भी जीत लेते हैं ११॥

उसकी कृपा से ही जय होता है यह दिखलाते हैं ॥

जयेम कारे पुरुहूत कारिणोऽभि तिष्ठेम दूढ्यः ।

नृभिर्वृत्रं हन्याम शूशुयाम चावेरिन्द्र प्र णो धियः ॥१२॥

पदार्थः—(पुरुहूत) हे बहुतों से आहूत ! हे बहुपूज्य ! हे सर्वनिमन्त्रित (कारे) संग्राम में (कारिणः) हिंसा करनेवाले शत्रुओं को (जयेम) जीतें (दूढ्यः) दुर्मति पुरुषों को (अभि तिष्ठेम) परास्त करें (वृत्रम्) विघ्नों को (नृभिः) पुत्रादिकों के साथ (हन्यामः) हनन करें, इस प्रकार शत्रुओं और विघ्नों को परास्त कर (शूशुयाम) जगत् में बढ़ें । (इन्द्र) हे इन्द्र ! (नः) हम लोगों की (धियः) बुद्धियों और क्रियाओं को (आवेः) अच्छे प्रकार बचावें ॥१२॥

भावार्थः—प्रत्येक उपासक को उचित है कि वह अपने आन्तरिक और बाह्य विघ्नों को शान्त रखे ॥१२॥

उसके गुण गाने योग्य हैं यह इससे दिखलाते हैं ॥

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।

युधेदापित्वमिच्छसे ॥१३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र (जनुषा) संसार के जन्म के साथ-साथ (सनात्) सर्वदा (अभ्रातृव्यः असि) तू बन्धुरहित है । (अना) तेरा नायक कोई नहीं (त्वम् अनापिः) तू बन्धुरहित है (युधा इत्) युद्ध द्वारा (आ पित्वम्) बन्धुता को (इच्छसे) चाहता है ॥१३॥

भावार्थः—यद्यपि परमेश्वर सर्वोपाधिरहित है तथापि इसका बन्धु जीवात्मा है वह जीवात्मा को इस संसार में विजयी देखना चाहता है, जो जीव विजयी होता है वही उसका वास्तविक बन्धु है ॥१३॥

दुर्जन का स्वभाव दिखलाते हैं ॥

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।

यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे ॥१४॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! तू जो जन (रेवन्तम्) केवल धनिक है परन्तु दान और यज्ञादि से रहित है उसको (सख्याय नकिर्विन्दसे) मैत्री के लिये प्राप्त नहीं करता ।

अर्थात् वैसे पुरुष को तू मित्र नहीं बनाता, क्योंकि [(सुराश्वः) सुरा आदि अनर्थक द्रव्यों से सुपुष्ट नास्तिकगण (त्वाम् पीयन्ति) तेरी हिंसा करते हैं अर्थात् तेरे नियमों को नहीं मानते। परन्तु (यदा) जब तू (नवनुम) मेघ द्वारा गर्जन (कृणोषि) करता और (समूहसि) महामारी आदि भयंकर रोगों द्वारा मनुष्यों का संहार करता है (आत इत्) तब (पिता इव हूयसे) पिता के समान आहूत और पूजित होता है ॥१४॥

भावार्थः—पापी दुर्जन ईश्वर के नियमों को तोड़ते रहते हैं, परन्तु विपत्काल में उसको पुकारते हैं ॥१४॥

इससे आशीर्वाद मांगते हैं ॥

मा ते अमाजुरो यथा मूरास इन्द्र सख्ये त्वावतः ।
नि षदाम सचा सुते ॥१५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा ईश ! (त्वावतः सख्ये) तेरे सदृश देव की मित्रता में (मूरासः) मूढ़जन (यथा) जैसे (अमाजुरः) अपने गृह पर ही रहकर व्यसनों में फंस रोगादिकों से पीड़ित हो नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं (तथा) वैसे (ते) तेरे उपासक हम लोग न होवें, जिसलिये हम उपासक (सुते सचा) यज्ञ के साथ-साथ (नि सदाम) बैठते हैं ॥१५॥

भावार्थः—हम लोग आलसी और व्यर्थ समय न बितावें किन्तु ईश्वरीय आज्ञा को पालन करते हुए सदा शुभकर्म से प्रवृत्त रहें ॥१५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

मा ते गोदत्र निरराम राधस इन्द्र मा ते गृहामहि ।
दृळ्हा चिदर्यः प्र मृशाभ्या भर न ते दामान आदभे ॥१६॥

पदार्थः—(गोदत्र) हे गवादि पशुओं के दाता (ते) तेरे उपासक हम लोग (राधसः) सम्पत्तियों से (मा निरराम) पृथक् न होवें। और (ते) तेरे उपासक हम (मा गृहामहि) दूसरे का धन न ग्रहण करें। (अर्यः) तू धनस्वामी है (दृढाचित्) दृढ़ धनों को भी (प्र मृश) दे (अभि आभर) सब तरह से हमको पुष्ट कर (ते दामानः) तेरे दान (न आदभे) अनिवार्य हैं ॥१६॥

भावार्थः—हम अपने पुरुषार्थ से धनसंग्रह करें। दूसरों के धनों की आशा न करें। ईश्वर से ही अभ्युदय के लिए मांगें ॥१६॥

परमात्मा बहुत धन देता है यह दिखलाते हैं ॥

इन्द्रो वा घेदियन्मघं सरस्वती वा सुभगा द॒दिर्वसु ।
त्वं वा चित्र दाशुषे ॥१७॥

पदार्थः—(वा) अथवा क्या (इन्द्रः घ इत्) इन्द्र ही (इयत् मघम्) इतना धन (दाशुषे) भक्तजन को (ददिः) देता है (वा) अथवा (सुभगा सरस्वती) अच्छी नदियां (वसु) इतना धन देती हैं- इस सन्देह में आगे कहते हैं (चित्र) हे आश्चर्य्य ईश्वर! (दाशुषे) भक्तजन को (त्वा) तू ही धन देता है। (वा) यह निश्चय है ॥१७॥

भावार्थः—जहां नदियों और मेघों के कारण धन उत्पन्न होता है वहां के लोग धनदाता ईश्वर को न समझ नदी आदि को ही धनदाता समझ पूजते हैं, इसको वेद निषेध करता है ॥१७॥

ईश्वर ही सर्वशासक है यह दिखलाते हैं ॥

चित्र इद्राजा राजका इद॑न्यके य॒के सर॑स्वतीमनु ।
प॒र्जन्य इव त॒तन॒द्धि वृष्ट्या स॒हस्र॑म॒युता॒ दद॑त् ॥१८॥

पदार्थः—(चित्रः इत्) आश्चर्यजनक परमात्मा ही (राजा) सब का शासक है (सरस्वतीम् अनु) नदी के तट पर रहनेवाले (यके अन्यके) जो अन्यान्य मनुष्य और राजा हैं वे (राजकाः इत्) ईश्वर के आधीन ही राजा हैं (वृष्ट्या पर्जन्यः इव) जैसे वृष्टि से मेघ वैसे ही वह ईश्वर (सहस्रम्) सहस्रों (अयुता) और अयुतों धन (ददत्) देता हुआ (ततनत्) जगत् का विस्तार करता है ॥१८॥

भावार्थः—बहुत अज्ञानी जन राजा और नदी आदि को धनदाता मान पूजते हैं, वेद इसको निषेध करता है ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह इक्कीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टादशर्चस्य द्वाविंशतितमस्य सूक्तस्य सोभरिः काण्व ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१ विराड् बृहती । ३, ५ निचृद्बृहती । ७ बृहती पथ्या । २ विराड् पंक्तिः । ६, १६, १८ निचृत् पंक्तिः । ४, १० सतः पंक्तिः । १४ भुरिक् पंक्तिः । ८ अनुष्टुप् । ६, ११, १७ उष्णिक् । १३ निचृदुष्णिक् । १५ पादनिचृदुष्णिक् १२ निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७ मध्यमः २, ४, ६, १०, १४, १६, १८ पञ्चमः । ८ गान्धारः । ६, ११, १३, १५, १७ ऋषभः । १२ धैवतः ॥

इस सूक्त से राजधर्मों का उपदेश करेंगे ॥

ओ त्यम॑ह्व॒ आ रथ॑म॒द्या दंसि॑ष्ठमू॒तये॑ ।

यम॑श्विना सुहवा रुद्रवर्तनी॒ आ सू॒र्यायै॑ त॒स्थथुः॑ ॥१॥

पदार्थः—मैं विद्वान् पुरुष (अद्य) आज शुभदिन में या विपन्न दिन में (दंसिष्ठम्) परमकमनीय या अतिशय शत्रुविनाशक (त्यम् रथम्) उस सुप्रसिद्ध रमणीय अत्यन्त गमनशील विमान को (ओ) सर्वत्र (ऊतये) रक्षा के लिये (आ अह्वे) बनाता हूँ या आह्वान करता हूँ (यम्) जिस रथ के ऊपर (सुहवा) जो सर्वत्र अच्छी तरह से बुलाये जाते हैं या जिनका बुलाना सहज है और (रुद्रवर्तनी) जिनका मार्ग प्रजा की दृष्टि में भयंकर प्रतीत होता है (अश्विनौ) ऐसे हे राजा और अमात्यवर्ग ! आप दोनों (सूर्यायै) महाशक्ति के लाभ के लिये (आ तस्थथुः) बैठेंगे ॥१॥

भावार्थः—विद्वानों को उचित है कि नूतन-नूतन रथ और विमान आदि वस्तु का आविष्कार करें जिनसे राज्यव्यवस्था में सुविधा और शत्रुओं पर आतंक जम जाय ॥१॥

रथ के विशेषण कहते हैं ॥

पू॒र्वा॒युषं॑ सु॒हवं॑ पुरु॒स्पृहं॑ भु॒ज्युं वाजे॑षु॒ पूर्व्य॑म् ।

स॒च॒नाव॑न्तं सु॒म॒तिभिः॑ सोभरे॒ विद्वे॑षसमने॒हस॑म् ॥२॥

पदार्थः—(सोभरे) हे विद्वद्वर्ग ! आप जो रथ (पूर्वायुषम्) पूर्ण रीति से पोषण करे या पूर्व पुरुषों की पुष्टि करे (सुहवम्) जिसका गमनागमन सरल हो (पुरुस्पृहम्) जिसको बहुत विद्वान् पसन्द करें (भुज्युम्) जो प्रजाओं का पालक हो (वाजेषु) संग्रामों में (पूर्व्यम्) पूर्ण या श्रेष्ठ हो (सचनावन्तम्) जल, स्थल और आकाश तीनों के साथ योग करने वाला हो अर्थात् तीनों स्थानों में जिसका गमन होसके (विद्वेषसम्) शत्रुओं के साथ पूर्ण विद्वेषी हो और (अनेहसम्) जो दूसरों से हिंस्य न हो ऐसे रथों को (सुमतिभिः) अच्छी बुद्धि लगाकर बनाओ ॥२॥

भावार्थः—जो रथ या विमान या नौका आदि सुदृढ़, चिरस्थायी और संग्रामादि कार्य के योग्य हों वैसी-वैसी बहुतसी रथ आदि वस्तु सदा विद्वान् बनाया करें ॥२॥

हे मनुष्यो ! आपके लिये कैसे राजा और मन्त्रिदल भेजता हूँ उसे जानो ॥

इ॒ह त्या पु॑रु॒भूत॑मा दे॒वा नमो॑भिर॒श्विना॑ ।

अ॒र्वा॒ची॒ना स्वव॑से करामहे॒ गन्ता॑रा दा॒शुषो॑ गृ॒हम् ॥३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो राजा और मन्त्रिदल दोनों (इह) इस पृथिवी पर (पुरुभूतमा) बहुत सज्जनों को अतिशय सम्मान देने वाले हों । (देवा) दिव्यगुणसम्पन्न हों (नमोभिः) सन्मानों से युक्त हों (अश्विना) घोड़ों से युक्त हों या गुणों के द्वारा प्रजाओं के हृदयों में व्याप्त हों । (अर्वाचीना) युद्ध में सदा अभिमुख जानेवाले हों तथा (दाशुषः) भक्त जनों के (गृहम्) गृह पर (गन्तारा) गमनशील हों ऐसे राजा और मन्त्रिदल को (अवसे) संसार की रक्षा के लिये (करामहे) बनाते हैं ॥३॥

भावार्थः—प्रजाएं मिलकर उनको स्वराजा बनावें जो विद्वान्, साहसी, सत्यपरायण और जितेन्द्रियत्व आदि गुणों से भूषित हों जिन में स्वार्थ का लेश भी न हो, किन्तु मनुष्य के हित के लिये जिनकी सर्व प्रवृत्ति हो ॥३॥

समय-समय पर प्रजाओं को उचित है कि स्वगृह पर राजा और मन्त्रिदल को बुलावें; इसकी शिक्षा देते हैं ॥

युवो रथस्य परि चक्रमीयत ईर्मान्यद्वामिषण्यति ।
अस्माँ अच्छा सुमतिर्वां शुभस्पती आ धेनुरिव धावतु ॥४॥

पदार्थः—हे राजन् तथा मन्त्रिदल ! आप दोनों महाप्रतापी हैं क्योंकि (युवोः) आप के (रथस्य) रथ का एक ही (चक्रम्) चक्र (परि) प्रजाओं में सर्वत्र (ईयते) जाता है (अन्यत्) और दूसरा चक्र (वाम्) आपकी ही (इषण्यति) सेवा करता है अर्थात् आपके अर्धपरिश्रम से ही प्रजाओं का पालन हो रहा है । आप कैसे हैं । (ईर्मा) कार्य जानकर वहां-वहां सेनादिकों को भेजने वाले । (शुभस्पती) हे शुभकर्मों या जलों के रक्षको ! जिस हेतु आप शुभस्पति हैं अतः (धेनुः इव) वत्स के प्रति नवप्रसूता गौ जैसे (वाम्) आप की (सुमतिः) शोभनमति (अस्मान् अच्छ) हमलोगों की ओर (आधावतु) दौड़ आवे ॥४॥

भावार्थः—जो अच्छे नीतिनिपुण और वीरत्वादिगुणयुक्त राजा और मन्त्रिदल हों उनको ही सब प्रजा मिलकर सिंहासन पर बैठावें ॥४॥

राजा माननीय है यह इससे दिखाते हैं ॥

रथो यो वां त्रिवन्धुरो हिरण्याभीशुरश्विना ।
परि द्यावापृथिवी भूषति श्रुतस्तेन नासत्या गतम् ॥५॥

पदार्थः—(अश्विना) हे अश्वयुक्त ! (नासत्या) सत्यस्वभाव असत्यरहित राजन् तथा अमात्यदल ! (वाम्) आप का (यः रथः) जो रमणीय रथ या विमान (त्रिवन्धुरः) ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का बन्धु है (हिरण्याभीषुः) जिसके घोड़ों का

लगाम स्वर्णमय है जो (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य में (परि भूषति) शोभित होता है और जो (श्रुतः) सर्वत्र विख्यात है (तेन) उस रथ से हम लोगों के निकट (आगतम्) आवें ॥५॥

भावार्थः—समय-समय पर राजा अपने मन्त्रिदल-सहित प्रजाओं के गृह पर जा सत्कार ग्रहण करें ॥५॥

राज-कर्त्तव्य कहते हैं ॥

दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः ।

ता वामद्य सुमतिभिः शुभस्पती अश्विना प्र स्तुवीमहि ॥६॥

पदार्थः—(शुभस्पती अश्विना) हे शुभ कर्मों के पालक राजन् तथा मन्त्रि-दल ! आप स्वयं (मनवे) मनुष्य-जाति को (दशस्यन्ता) उत्तमोत्तम शिक्षा या विद्या देते हुए उदाहरणार्थ (दिवि) व्यवहार के निमित्त (यवम्) यवक्षेत्र को (पूर्व्यम्) पूर्ण रीति से (वृकेण) हल द्वारा (कर्षथः) कर्षण करते हैं। अर्थात् यवादि अन्न के निमित्त खेतों में स्वयं हल चलाते हैं। ऐसे अनुग्रहकारी आप हैं (ता) उन (वाम्) आप दोनों को (सुमतिभिः) सुन्दर बुद्धियों से अथवा शोभन स्तोत्रों से (प्रस्तुवीमहि) अच्छे प्रकार हम सब स्तुति करें ॥६॥

भावार्थः—कभी-कभी राजा और मन्त्रिदल भी अपने हाथ से हल चलावें जिससे इतर प्रजाओं में भी खेती करने का उत्साह हो। अतएव वेद में हल चलाने की भी विधि लिखी है ॥६॥

पुन: राजकर्तव्य कहते हैं ॥

उप नो वाजिनीवसू यातमृतस्य पथिभिः ।

येभिस्तृक्षिं वृषणा त्रासदस्यवं महे क्षत्राय जिन्वथः ॥७॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू) बुद्धि, विद्या, वाणिज्य, यागक्रिया और अन्न आदि वाजिनी कहलाते हैं वे ही धन हैं जिनके वे वाजिनीवसु अर्थात् हे बुद्धयादिधन वाले राजन् तथा अमात्यदल ! (ऋतस्य) सत्य के (पथिभिः) मार्गों से अर्थात् सत्यपथों का विस्तार करते हुए आप (नः) हम लोगों के (उप यातम्) निकट आवें (वृषणा) हे धनादिवर्षाकारी ! (येभिः) जिन मार्गों से (त्रासदस्यवम्) दस्युविघातक (तृक्षिम्) सेनानायक को (महे) महान् (क्षत्राय) क्षत्रधर्म की वृद्धि के लिये (जिन्वथः) प्रसन्न रखते हैं ॥७॥

भावार्थः—मन्त्रिदलसहित राजा सदा सत्यमार्ग की समुन्नति करता रहे और पक्षपात छोड़ सब की भलाई के चिन्तन, वर्धन और रक्षण में तत्पर रहे ॥७॥

राजा आदरणीय है यह इससे दिखलाते हैं ॥

अयं वामद्रिभिः सुतः सोमो नरा वृषण्वसू ।
आ यातं सोमपीतये पिबतं दाशुषो गृहे ॥८॥

पदार्थः—(नरा) हे सर्वनेता (वृषण्वसू) हे धनों के वर्षा करने वाले राजन् तथा अमात्य ! (वाम्) आपके लिये (अयम्) यह (सोमः) सोमरस (अद्रिभिः) शिलाओं से (सुतः) पीसा हुआ है अतः (सोमपीतये) सोम पीने के लिये (आयातम्) आवें और आकर (दाशुषः गृहे) दानी या भक्त के गृह में (पिबतम्) सोम पीवें ॥८॥

भावार्थः—राजा और अमात्यगण सत्करणीय हैं—यह इसका भाव है ॥८॥

राजकर्त्तव्य कहते हैं ॥

आ हि रुहतमश्विना रथे कोशे हिरण्यये वृषण्वसू ।
युञ्जाथां पीवरीरिषः ॥९॥

पदार्थः—(वृषण्वसू) हे धनवर्षिता महाधनेश्वर (अश्विना) अश्वयुक्त राजा और अमात्य आप दोनों (कोशे) द्रव्यादि कोशयुक्त (हिरण्यये) सुवर्णरचित (रथे) रमणीय रथ वा विमान पर (आ रुहतम् हि) अवश्य बैठिये और बैठकर (पीवरीः) बहुत (इषः) इष्यमाण अन्नादिक सम्पत्तियों को (युंजाथाम्) हम लोगों में स्थापित कीजिये ॥९॥

भावार्थः—राजा और राज्यकर्मचारी रथादि यान पर चढ़ प्रजाओं के कल्याण के लिये इधर-उधर सदा भ्रमण करते हुए उनके सुख बढ़ावें ॥९॥

पुनः राजकर्मों की शिक्षा देते हैं ॥

याभिः पक्थमवथो याभिरध्रिगुं याभिर्बभ्रुं विजोषसम् ।
ताभिर्नो मक्षू तूयमश्विना गतं भिषज्यतं यदातुरम् ॥१०॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजन् तथा मन्त्रिन् ! (याभिः) जिन रक्षाओं से आप (पक्थम्) शास्त्रों तथा व्यवहारों में परिपक्व और निपुण जन की (अवथः) रक्षा करते हैं (याभिः) जिन रक्षाओं से (अध्रिगुम्) चलने में असमर्थ पंगु की रक्षा करते हैं (याभिः) जिन रक्षाओं से (बभ्रुम्) अनाथों के भरण-पोषण करने वाले की तथा (विजोषसम्) विशेषप्रीतिसम्पन्न पुरुष की रक्षा करते हैं (ताभिः) उन रक्षाओं से (नः) हमारी रक्षा करने को (मक्षु) शीघ्र (तूयम्) शीघ्र ही (आगतम्) आवें तथा (यद्) यदि कोई रोगी हो तो उस (आतुरम्) आतुर पुरुष की (भिषज्यतम्) दवा कीजिये ॥१०॥

भावार्थः—सहामात्य राजा सब प्रकार के मनुष्यों=अन्ध, बधिर, पङ्गु इत्यादिकों और प्राणियों की रक्षा करे-करावे । तथा सर्वत्र औषधालय स्थापित कर रोगियों की चिकित्सा का प्रबन्ध करे ॥१०॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

यद॒ध्रिगा॑वो॒ अध्रि॑गू इ॒दा चि॒दह्नो॑ अ॒श्विना॒ हवा॑महे

व॒यं गी॒र्भिर्वि॑प॒न्यवः॑ ॥११॥

पदार्थः—(अध्रिगू) हे असमर्थरक्षक (अश्विना) राजन् तथा मन्त्रिन् ! (यद्) यद्यपि हम (अध्रिगावः) शिथिलेन्द्रिय हैं तथापि (विपन्यवः) आपके गुणों के गायक हैं इस हेतु (वयम्) हम (गीर्भिः) वचनों से (अह्नः) दिन के (इदा चित्) इसी समय प्रातःकाल आपको (हवामहे) पुकारते हैं । आप हम लोगों की रक्षा के लिये यहां आवें ॥११॥

भावार्थः—जब-जब राजवर्ग प्रजाहित कार्य्य करें, तब-तब वह प्रजा द्वारा अभिनन्दनीय है ॥११॥

राजकर्त्तव्य का उपदेश देते हैं ॥

ताभि॒रा या॑तं वृष॒णोप॑ मे॒ हवं॑ वि॒श्वप्सुं॑ वि॒श्ववा॑र्यम् ।

इ॒षा मंहि॑ष्ठा पुरु॒भूत॑मा नरा॒ याभि॒: क्रिविं॑ वावृ॒धुस्ताभि॒रा ग॑तम् ॥१२॥

पदार्थः—(वृषणा) हे नाना धनों के वर्षिता ! (इषा) हे अभिलाषयुक्त (मंहिष्ठा) हे प्रशंसनीय वा दाता ! (पुरुभूतमा) हे कार्य्य के लिये बहुत स्थानों में वा मनुष्यों के मध्य में जाने आने वाले (नरा) हे सर्वनेता राजन् तथा मन्त्रिदल ! (मे) मेरे (विश्वप्सुम्) विविध रूपवाले (विश्ववार्य्यम्) सर्वप्रिय (हवम्) आह्वान की ओर (उप यातम्) आवें । और (ताभिः) उन रक्षाओं के साथ (आयातम्) आवें ।

हे राजन् ! (क्रिविम्) दुःखकूप में पतित जन के प्रति (याभिः) जिन रक्षाओं के साथ (वावृधुः) जाने के लिये आगे बढ़ते हैं (ताभिः) उन रक्षाओं के साथ ही हमारी ओर (आगतम्) आवें ॥१२॥

भावार्थः—राज्यकर्मचारी परमोदार परमदानी और सर्वप्रिय होवें और प्रजा की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें ॥१२॥

राजवर्ग के प्रति प्रजा का कर्त्तव्य कहते हैं ॥

ताविद्वा चिदहानां तावश्विना वन्दमान उपब्रुवे ।
ता ऊ नमोभिरीमहे ॥१३॥

पदार्थः—(अहानाम्) दिनों के (इदाचित्) इसी समय प्रातःकाल ही मैं (तौ) उनही (अश्विना) राजा तथा न्यायाधीशादि को (वन्दमानः) नमस्कार करता हुआ (उपब्रुवे) समीप में जाकर निवेदन करता हूँ। और हम सब मिलकर (ता ऊ) उनसे ही (नमोभिः) प्रार्थना द्वारा (ईमहे) याचना करते हैं ॥१३॥

भावार्थः—राज्यसम्बन्धी जो त्रुटियाँ हों उन से राजा को परिचित करवाना चाहिये ॥१३॥

पुनः वही विषय कहा जाता है ॥

ताविद्दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन्रुद्रवर्तनी ।
मा नो मर्ताय रिपवे वाजिनीवसू परो रुद्रावति ख्यतम् ॥१४॥

पदार्थः—हम प्रजागण (तौ इत्) उनही (शुभस्पती) शुभकर्मों के पालक जलप्रदाता और (रुद्रवर्तनी) भयंकर मार्गवाले अश्विदेवों को (दोषा) रात्रि में सत्कार करते हैं (ता) उनको ही (उषसि) प्रातःकाल (ता) उनको ही (यामन्) सब काल और यज्ञों में सत्कार करते हैं ! (वाजिनीवसू) हे ज्ञानधनो (रुद्रौ) हे दुष्टरोदयिता अश्विद्वय ! आप (नः) हम लोगों को (मर्ताय रिपवे) दुर्जन मनुष्य के निकट (मा परः अति ख्यतम्) मत फेंकें ॥१४॥

भावार्थः—प्रजाओं को उचित है कि वे अपने सुख-दुःख की बात राजा के निकट कहें और यथोचित रीति पर उनसे शुभकर्म करावें ॥१४॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

आ सुग्म्याय सुग्म्यं प्राता रथेनाश्विना वा सक्षणी ।
हुवे पितेव सोभरी ॥१५॥

पदार्थः—(सक्षणी) हे सेवनीयशील (अश्विना) हे राजन् ! तथा मन्त्रिदल आप दोनों (सुम्म्याय) सुखयोग्य पुरुष को (सुम्नम्) सुख (प्रातः) प्रातःकाल ही (रथेन) रथ से (आ) अच्छे प्रकार पहुँचावें। हे राजन् ! (सोभरी) मैं विद्वान् (पिता इव) अपने पिता-पितामह आदि के समान (हुवे) आपकी स्तुति करता हूँ ॥१५॥

भावार्थः—राजवर्ग को उचित है कि वे प्रातःकाल उठकर नित्यकर्म करने के पश्चात् प्रजावर्गों की खबर लेवें ॥१५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

मनोजवसा वृषणा मदच्युता मक्षुङ्गमाभिरूतिभिः ।

आराताच्चिद्भूतमस्मे अवसे पूर्वीभिः पुरुभोजसा ॥१६॥

पदार्थः—(मनोजवसा) हे मनोवेग (वृषणा) हे धनादिवर्षिता (मदच्युता) हे आनन्दप्रद (पुरुभोजसा) हे बहुतों को भोजन देनेवाले या पालन करनेवाले राजन् तथा अमात्य आप दोनों ! (मक्षुंगमाभिः) शीघ्रगमन करने वाली (पूर्वीभिः) सनातनी (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अस्मे) हमारी (अवसे) रक्षाके लिये (आरात्तात् चित्) समीप में ही (भूतम्) होवें। आप हम लोगों के समीप में ही सदा विराजमान रहें ॥१६॥

भावार्थः—इससे यह दिखलाते हैं कि राज्य की ओर से प्रजारक्षण का प्रबन्ध प्रतिक्षण रहना उचित है ॥१६॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

आ नो अश्वावदश्विना वर्तिर्यासिष्टं मधुपातमा नरा ।

गोमद्दस्रा हिरण्यवत् ॥१७॥

पदार्थः—(मधुपातमा) हे मधुर पदार्थों के अतिशय रक्षक (दस्रा) हे दर्शनीय (अश्विना) राजन् तथा न्यायाधीशादि ! आप दोनों (नः) हमारे (वर्तिः) गृह पर (आ यासिष्टम्) आये और आकर (अश्वावत्) अश्वयुक्त (गोमत्) गोयुक्त तथा (हिरण्यवत्) सुवर्णयुक्त धन भी दिया। अतः आपकी यह महती कृपा है ॥१७॥

भावार्थः—राजा यदि उदारता दिखलावें तो उनको हृदय से धन्यवाद देना चाहिये। यह शिक्षा इससे देते हैं ॥१७॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

सुप्रावर्गं सुवीर्यं सुष्ठु वार्यमनाधृष्टं रक्षस्विना ।

अस्मिन्ना वामायाने वाजिनीवसू विश्वा वामानि धीमहि ॥१८॥

पदार्थः—हे राजन् तथा मन्त्रिवर्ग ! हम लोगों का (वार्य्यम्) धन (सुप्रावर्गम्) अच्छे प्रकार दान देने योग्य हो (सुवीर्यम्) शोभन वीरपुरुषयुक्त हो (सुष्ठु) देखने में भी सुन्दर हो और जिस धन को (रक्षस्विना) बलवान् भी (अनाधृष्टम्) नष्ट-भ्रष्ट न कर सके (वाजिनीवसू) हे विज्ञानधनो ! (वाम्) आप लोगों के (अस्मिन् आयाने) इस आगमन के होने से (विश्वा वामानि) हम लोगों ने मानो सब धन (आ धीमहि) पा लिये ॥१८॥

भावार्थः—राजा की ओर से यदि रक्षा का प्रबन्ध नहीं हो तो समस्त अज्ञानी प्रजाएं परस्पर पर लड़-लड़ कर नष्टभ्रष्ट हो जायं। अतः राजप्रबन्धकर्ता सब प्रकार का प्रबन्ध प्रतिक्षण रक्खें ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह बाईसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिंशदृचस्य त्रयोविंशतितमस्य सूक्तस्य विश्वमना वैयश्व ऋषिः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ३, १०, १४—१६, १९—२२, २७ निचृदुष्णिक्। २, ४, ५, ७, ११, १७, २५, २६, ३० विराडुष्णिक्। ३, ८, ९, १३, ३८ उष्णिक्। १२, २३, २८ पादनिचृदुष्णिक्। २४ आर्चीस्वराडुष्णिक् ॥ ऋषभः स्वरः ॥

अग्नि के गुणों का अध्ययन कर्त्तव्य है यह दिखलाते हैं ॥

ईळिष्वा हि प्रतीव्यं१ यजस्व जातवेदसम् ।
चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥१॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! (अग्निम् ईडिष्व) अग्नि के गुण प्रकाशित करो (हि) निश्चय (प्रतीव्यम्) जो अग्नि सब का उपकारक है (जातवेदसम्) जो सब भूतों में व्याप्त है (यजस्व) उस अग्नि द्वारा यजन करो। पुनः वह अग्नि कैसा है (चरिष्णुधूमम्) जिस का धूम चारों तरफ फैल रहा है (अगृभीतशोचिषम्) जिसके तेज के तत्त्व से लोग परिचित नहीं हैं ॥१॥

भावार्थः—वास्तव में हम लोग अग्नि के गुणों से सर्वथा अपरिचित हैं। इसलिए वेद में पुनः-पुनः अग्निगुणज्ञानार्थ उपदेश है ॥१॥

अग्निवाच्य ईश्वर की प्रार्थना के लिये प्रेरणा करते हैं ॥

दामानं विश्वचर्षणेऽग्निं विश्वमनो गिरा ।
उत स्तुषे विष्पर्धसो रथानाम् ॥२॥

पदार्थः—(उ=त) और भी (विश्वचर्षणे) हे बहुत अर्थों के देखनेवाले (विश्वमनः) हे सब के कल्याण चाहनेवाले ऋषिगण ! आप सब (अग्निम्) सर्वाधार परमात्मा की (गिरा) वाणी के द्वारा (स्तुषे) स्तुति करो जो (विस्पर्धसः) स्पर्धा अर्थात् पराभिभवेच्छा, रागद्वेष, मान, मात्सर्य आदि दोषों से रहित भक्तजन को (रथानाम्) रथ आदि वस्तु (दामानम्) देनेवाला है ॥२॥

भावार्थः—जो ईश्वर विविध पदार्थ दे रहा है वही स्तवनीय है ॥२॥

ईश्वर का न्याय दिखलाते हैं ॥

येषांमाबाध ऋग्मियं इषः पृक्षश्च निग्रभे ।

उपविदा वह्निर्विन्दते वसु ॥३॥

पदार्थः—(येषाम्) जिन उपद्रवकारी जनों को (आबाधः) ईश्वर सब प्रकार से बाधक होता है उनके (इषः) अन्नों को (पृक्षः च) अन्नादि पदार्थ के रसों को (निग्रभे) छीन लेता है जो ईश्वर (ऋग्मियः) पूज्य है। परन्तु (वह्निः) स्तुतिपाठकजन (उपविदा) सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा (वसु विन्दते) धन पाता है ॥३॥

भावार्थः—भगवान् उपद्रवकारी पुरुषों से धन छीन लेता है और स्तुतिपाठकजन उन्हीं धनों से धनिक होता है। अर्थात् साधुजनों का पोषण करता है ॥३॥

उसकी महिमा दिखलाते हैं ॥

उदस्य शोचिरस्थाद्दीदियुषो व्य१जरम् ।

तपुर्जम्भस्य सुद्युतो गणश्रियः ॥४॥

पदार्थः—(अस्य) इस परमात्मा का (शोचिः) तेज (उद् अस्थात्) सर्वत्र उदित और भासित है जो तेज (अजरम्) जरारहित अर्थात् सर्वदा एकरस रहता है। जो ईश्वर (दीदियुषः) जगद्दीपक (तपुर्जम्भस्य) दुष्ट-संहार के लिये जिसके दांत जाज्वल्यमान हैं (सुद्युतः) जिसकी कान्ति शोभायमान है और (गणश्रियः) जो सब गणों का शोभाप्रद है ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिस कारण ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, अतः उससे डर कर शुभकर्म में सदा प्रवृत्त रहो ॥४॥

उसकी स्तुति दिखलाते हैं ॥

उद्दु तिष्ठ स्वध्वर स्तवानो देव्या कृपा ।

अभिख्या भासा बृहता शुशुक्वनिः ॥५॥

पदार्थः—(स्वध्वर) हे शोभनयज्ञ तुम (उद् उ तिष्ठ) हम लोगों के हृदय में उठो और हम लोगों को उठाओ । (स्तवानः) जिस तुझ को हम लोग सदा स्तुति करते हैं (देव्या कृपा) जो तू दैवी कृपा से युक्त है और (अभिख्या) सर्वत्र प्रसिद्ध (भासा) तेज से वेष्टित है (बृहता) महान् तेज से (शुशुक्वनिः) जो तू प्रकाशित हो रहा है ॥५॥

भावार्थः—स्वध्वर=जिसके लिये अच्छे-अच्छे यज्ञ किये जायं वह स्वध्वर । यद्यपि परमात्मा सदा स्वयं जागृत है तथापि सेवक अपने लिये ईश्वर को उठाता है अर्थात् अपनी ओर करता है । उसको हृदय में देखता हुआ उपासक सदा कर्म में जागृत रहे ॥५॥

उसकी स्तुति दिखलाते हैं ॥

अग्ने याहि सुशस्तिभिर्हव्या जुह्वान आनुषक् ।
यथा दूतो बभूथ हव्यवाहनः ॥६॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार ! (आनुषक्) तू मानो आसक्त होकर (हव्या जुह्वानः) हव्य पदार्थों को स्वयं होमता हुआ (प्रशस्तिभिः) नाना स्तुतियों के साथ (याहि) स्तुति पाठकों के गृह पर जा । हे ईश ! (यथा) जैसे हम लोगों का तू (हव्यवाहनः) हव्य पदार्थों को वहन करने वाला है । (दूतः बभूथ) वैसे तू हम लोगों का दूत भी है । अर्थात् तू अपनी आज्ञाओं को दूत के समान हम लोगों से अन्तःकरण में कहता है ॥६॥

भावार्थः—दूत=ईश्वर दूत इसलिए है कि वह अपना सन्देशा हम लोगों के निकट पहुंचाता है । और हव्यवाहन इसलिए है उसीका यह महान् प्रबन्ध है कि वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान में जाती रहती है ॥६॥

अग्नि प्रार्थनीय है यह इससे दिखलाते हैं ॥

अग्निं वः पूर्व्यं हुवे होतारं चर्षणीनाम् ।
तमया वाचा गृणे तमु वः स्तुषे ॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! मैं उपासक (वः) तुम्हारे कल्याण के लिये (पूर्व्यम्) पुरातन (चर्षणीनाम् होतारं) प्रजाओं को सब कुछ देने वाले (अग्निम्) सर्वाधार ईश्वर का (हुवे) आह्वान करता हूँ, पुनः मैं तुम्हारे मङ्गल के लिये (अया वाचा) इस वचन से (तम्) उसकी (गृणे) प्रशंसा करता हूँ और (तम्) उसी की (स्तुषे) स्तुति करता हूँ ॥७॥

भावार्थः—विद्वानों को उचित है कि वे सब के कल्याण के लिये ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना करें ॥७॥

वही उपासनीय है यह दिखलाते हैं ॥

यज्ञेभिरद्भुतक्रतुं यं कृपा सूदयन्त इत् ।
मित्रं न जने सुधितमृतावनि ॥८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (अद्भुतक्रतुम्) अद्भुत कर्मवाले (कृपा) कृपावान् (यम्) जिस ईश की मनुष्यगण (शुभकर्मभिः) शुभकर्म द्वारा (सूदयन्ते इत्) उपासना करते ही हैं और जो परमात्मा (ऋतावनि) सत्यपालक और पवित्र नियमानुकारी (जने) मनुष्य में (मित्रम् न) मित्र के समान रहता है और जो (सुधितम्) सब का ध्येय है उसी की सेवा करो ॥८॥

भावार्थः—वह सत्यस्वरूप ईश उसी जन पर प्रसन्न होता है जो सत्य-परायण और कर्मनिष्ठ है ॥८॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

ऋतावानमृतायवो यज्ञस्य साधनं गिरा ।
उपो एनं जुजुषुर्नमसस्पदे ॥९॥

पदार्थः—(ऋतायवः) हे सत्यकाम ! हे ईशव्रतपालक जनो ! (नमसस्पदे) यज्ञादि शुभ कर्मों में (ऋतावानम्) सत्यस्वरूप (यज्ञस्य साधनम्) यज्ञ के साधनस्वरूप (एनम्) इस परमात्मा की (गिरा) वाणी द्वारा (उपो जुजुषुः) सेवा करो ॥९॥

भावार्थः—जिस हेतु परमात्मा सत्यस्वरूप है अतः उसके उपासक भी वैसे होवें। और जैसे वह परमोदार है वैसे उपासक भी होवें। इत्यादि शिक्षाएं इन मन्त्रों से दी जाती हैं ॥९॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

अच्छा नो अङ्गिरस्तमं यज्ञासो यन्तु संयतः ।
होता यो अस्ति विक्ष्वा यशस्तमः ॥१०॥

पदार्थः—(नः) हम लोगों के (यज्ञासः) शुभ कर्म (संयतः) विधिपूर्वक नियमित होकर उसके निकट (यन्तु) पहुँचें जो (अंगिरस्तमम्) प्राणीमात्र के अंगों का रस-स्वरूप है और (यः) जो अनिवाच्य ईश्वर (विक्षु) प्रजाओं में (होता) सब कुछ देने वाला और (आ) सर्व प्रकार से (यशस्तमः अस्ति) अत्यन्त यशस्वी है ॥१०॥

भावार्थः—हमारे सकल शुभकर्म उसके उद्देश्य से ही हों ॥१०॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

अग्ने तव त्ये अंजरेन्धानासो बृहद्भाः ।

अश्वां इव वृषणस्तविषीयवः ॥११॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार (अजर) हे जरारहित नित्य (त्ये) तेरे (भाः) प्रकाश (इन्धानासः) सर्वत्र दीप्यमान और (बृहत्) सर्वगत सर्वतो महान् हैं (अश्वाः इव) घोड़े के समान वेगवान् (वृषणः) कामनाओं की वर्षा करने वाले (तवसीयवः) और परमबलवान् हैं ॥११॥

भावार्थः—ईश्वर के गुण अनन्त हैं। गुणकीर्तन से वेद का तात्पर्य यह है कि उपासक जन भी यथाशक्ति उन गुणों के पात्र बनें। इस स्तुति से ईश्वर को न हर्ष ही और न विस्मय ही होता है ॥११॥

उसकी प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

स त्वं न ऊर्जां पते रयिं रास्व सुवीर्यम् ।

प्राव नस्तोके तनये समत्स्वा ॥१२॥

पदार्थः—(ऊर्जांपते) हे अन्नों और बलों के स्वामी ! (सः त्वम्) वह तू (नः) हम लोगों को (सुवीर्यम्) वीरोपेत (रयिम्) अभ्युदय (रास्व) दे (समत्सु) संग्रामों में (नः) हम लोगों के (तोके) पुत्रों (आ) और (तनये) पौत्रों के साथ (प्राव) सहाय कर ॥१२॥

भावार्थः—ईश्वर सर्वप्रद है। उससे जो माँगेंगे वह प्राप्त तो होगा, परन्तु यदि वह पदार्थ हमारे लिये हानिकारी न हो, अतः शुभकर्म में हम निरन्तर रहें उसी से हमारा कल्याण है ॥१२॥

उसके गुण दिखलाते हैं ॥

यद्वा उं विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशि ।

विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥१३॥

पदार्थः—(यद्वै) जब (विश्पतिः) सम्पूर्ण प्रजाओं का अधिपति (शितः) सूक्ष्मकर्त्ता (अग्निः) सर्वान्तर्यामी परमात्मा (सुप्रीतः) सुप्रसन्न होकर (मनुषः विशि) मनुष्य के स्थान में विराजमान होता है (तदा) तब (विश्वा इत्) सब ही (रक्षांसि) दुष्टों को (प्रतिषेधति) दूर कर देता है ॥१३॥

भावार्थ.—हे मनुष्यो ! यदि दुर्जनों के दौर्जन्य का विध्वंस करना चाहते हो तो उस परमदेव को अपने मन में स्थापित करो ॥१३॥

उसकी प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

श्रुष्ट्यंग्ने नवंस्य मे स्तोमंस्य वीर विश्पते ।

नि मायिनस्तपुंषा रक्षसों दह ॥१४॥

पदार्थः—(वीर) हे महावीर ! (विश्पते) हे प्रजाओं के अधिपति (अग्ने) सर्वाधार (मे) मेरे (नवस्य स्तोमस्य) नूतन स्तोत्रों को (श्रुष्टी) सुन कर (मायिनः रक्षसः) मायी राक्षसों को (तपुषा) अपने तापक तेज से (निवह) अत्यन्त भस्म करदे ॥१४॥

भावार्थः—आन्तरिक दुर्गुण ही महाराक्षस हैं। अपने में परमात्मा की स्थिति के परिज्ञान से प्रतिदिन उनकी क्षीणता होती जाती है। अतः ऐसी प्रार्थना की जाती है ॥१४॥

उपासना की महिमा दिखलाते हैं ॥

न तस्यं माययां चन रिपुरीशीत मर्त्यः ।

यो अग्नयें ददाश्च हव्यदांतिभिः ॥१५॥

पदार्थः—(यः) जो आदमी (अग्नये)ईश्वर की प्रीति के लिये (हव्यदातिभिः) हव्य पदार्थों के दान के साथ-साथ (ददाश) अन्यान्य दान देता है (तस्य) उस पुरुष के ऊपर (मर्त्यः रिपुः) मानवशत्रु (मायया चन) अपनी माया से (न ईशीत) शासन नहीं कर सकता है ॥१५॥

भावार्थः—ब्रह्मोपासक जनों को इस लोक में किसी से भय नहीं होता, क्योंकि उनकी शक्ति और प्रभाव पृथ्वी पर फैल कर सबको अपने वश में कर लेते हैं, उनका प्रताप सम्राट् से भी अधिक हो जाता है, परन्तु उपासना करने में मनोयोग की पूर्णता होनी चाहिये ॥१५॥

उसकी स्तुति दिखलाते हैं ॥

व्यंश्वस्त्वा वसुविदंमुक्षण्युरंप्रीणादृषिः ।

महो राये तमुं त्वा समिंधीमहि ॥१६॥

पदार्थः—(उक्षण्युः) ज्ञानों के सींचनेवाले (व्यश्वः) जितेन्द्रिय (ऋषिः) कवि-

गण सदा (वसुविदम् त्वा) धनों को पहुँचाने वाले तुझको अपनी-अपनी वाणियों से (अप्रीणात्) प्रसन्न करते आये हैं। इसलिये हम उपासकगण भी (तम् उ त्वा) उसी तुझ को (महः राये) महदैश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (समिधीमहि) सम्यक् दीप्त और ध्यान करते हैं ॥१६॥

भावार्थः—जिस परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना सदा से ऋषिगण करते आए हैं उसी की पूजा हम भी करें ॥१६॥

सब उसी की स्तुति करते हैं यह दिखलाते हैं ॥

उशना काव्यस्त्वा नि होतारमसादयत ।
आयजिं त्वा मनवे जातवेदसम् ॥१७॥

पदार्थः—हे ईश ! (उशना) अभिलाषी (काव्यः) कविपुत्रगण (मनवे) मनन के लिए (त्वा) तुझ को ही (नि असादयत) प्राप्त करते हैं जो तू (होतारम्) सम्पूर्ण विश्व में अनन्त पदार्थों की आहुति दे रहा है और इस प्रकार (आयजिम्) वास्तविक यज्ञ भी तू ही कर रहा है। और (जातवेदसम्) तेरे द्वारा ही जगत् की सम्पत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं ॥१७॥

भावार्थः—वास्तव में वह ईश ही होता है। वही सर्वधनेश और याजक है ॥१७॥

उसकी प्रधानता दिखलाते हैं ॥

विश्वे हि त्वा सजोषसो देवासो दूतमक्रत ।
श्रुष्टी देव प्रथमो यज्ञियो भुवः ॥१८॥

पदार्थः—हे ईश ! (विश्वे देवासः) सकल ज्ञानीजन (सजोषसः) मिल जुल-कर (त्वा हि दूतम् अक्रत) तुझको ही दूत बनाते हैं। अथवा तुझको ही अपना उपास्यदेव मानते हैं। इसलिये हे देव तू (श्रुष्टी) स्तुतियों का श्रोता अथवा शीघ्र (प्रथमः यज्ञियः भुवः) सर्वश्रेष्ठ पूज्य हुआ है ॥१८॥

भावार्थः—सकल विद्वान् प्रथम ईश्वर को ही पूजते हैं, अतः इतरजन भी उनका ही अनुकरण करें। यह शिक्षा इससे देते हैं ॥१८॥

वही पूज्य है यह आज्ञा देते हैं ॥

इमं घा वीरो अमृतं दूतं कृण्वीत मर्त्यः ।
पावकं कृष्णवर्तनिं विहायसम् ॥१९॥

पदार्थः—(वीरः मर्त्यः) धर्मवीर पुरुष (इमम् घ) इसी परमात्मा को (कृण्वीत) उपास्यदेव बनावें जो (अमृतम्) सदा एकरस मरणरहित है (दूतम्) अन्तःकरण में ज्ञानादि सन्देश पहुँचाने वाला (पावकम्) शोधक (कृष्णवर्तनिम्) आकर्षणयुक्त सूर्य्यादिकों का प्रवर्तक और (विहायसम्) महान् है ॥१९॥

भावार्थः—जिस हेतु परमात्मा ही सब का चालक और धारक है, अतः उसी की पूजा-प्रार्थना करो । यह उपदेश इससे देते हैं ॥१९॥

उसकी स्तुति दिखलाते हैं ॥

तं हुवेम यतस्रुचः सुभासं शुक्रशोचिषम् ।
विशामग्निमजरं प्रत्नमीड्यम् ॥२०॥

पदार्थः—(यतस्रुचः) स्रुवा आदि सामग्री सम्पन्न (तम् अग्निम् हुवेम) उस परमात्मा की स्तुति करते हैं जो (सुभासम्) शोभन तेजयुक्त (शुक्रशोचिषम्) शुद्ध तेजस्वी (विशाम्) प्रजाओं का स्वामी (अजरम्) अजर (प्रत्नम्) पुराण (ईड्यम्) और स्तवनीय है ॥२०॥

भावार्थः—हम मनुष्य वेदविहित कर्मों तथा उपासना दोनों को साथ-साथ किया करें ॥२०॥

उपासना का फल दिखलाते हैं ॥

यो अस्मै हव्यदातिभिराहुतिं मर्तोऽविधत् ।
भूरि पोषं स धत्ते वीरवद्यशः ॥२१॥

पदार्थः—(यः) जो उपासक (अस्मै) इस परमेश्वर के निमित्त अर्थात् ईश्वर-प्रीत्यर्थ (हव्यदातिभिः) हव्यादि पदार्थों के दानों के साथ-साथ (आहुतिम्) अग्नि-होत्रादि शुभकर्मों में होमसम्बन्धी आहुति (अविधत्) करता है वह (भूरि) बहुत (पोषम्) पुष्टिकर (वीरवत्) वीर पुत्रादि युक्त (यशः) यश (धत्ते) पाता है ॥२१॥

भावार्थः—जो जन नियमपूर्वक अग्निहोत्रादि कर्म करता है उसको इस लोक में धन, यश, पुत्र और नीरोगिता प्राप्त होती है ॥२१॥

अग्निहोत्र कर्म इससे दिखलाते हैं ॥

प्रथमं जातवेदसमग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ।
प्रति स्रुगेति नमसा हविष्मती ॥२२॥

पदार्थः—(हविष्मती) घृतवती (स्रुक्) आहुति-प्रक्षेपणी स्रुवा (नमसा) नमः

और स्वाहादि शब्दों के साथ (अग्निम् प्रति एति) उस अग्नि के प्रति पहुँचती है जो (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ (जातवेदसम्) जिसके साहाय्य से विविध सम्पत्तियां होती हैं और (यज्ञेषु पूर्व्यम्) जो यज्ञादि शुभकर्मों में पुरातन है ।।२२।।

भावार्थः—प्रथम स्रुवा आदि सामग्री एकत्रित करके हवन करे । और होम के समय भगवान् का मन से स्मरण करता जाय और जो अभिलाषा हो उसको भी मन में रखे ।।२२।।

होमसमय परमात्मा का ध्यान दिखलाते हैं ।।

आ॒भिर्वि॑धेमा॒ग्नये॒ ज्येष्ठा॑भिर्व्यश्व॒वत् ।
मंहि॑ष्ठाभिर्म॒तिभि॑ः शु॒क्रशो॑चिषे ।।२३।।

पदार्थः—हम उपासकगण (व्यश्ववत्) जितेन्द्रिय ऋषिवत् (शुक्रशोचिषे) शुद्धतेजस्क (अग्नये) परमात्मा की (आभिः ज्येष्ठाभिः) इन श्रेष्ठ (मंहिष्ठाभिः) पूज्यतम (मतिभिः) स्तुतियों से (विधेम) सेवा करें ।।२३।।

भावार्थः—ध्यान के समय इन्द्रियसहित मन को रोक और अन्तः-करण में ही उत्तमोत्तम स्तोत्र पढ़ते हुए उपासक ईश्वर का ध्यान करें ।।२३।।

उस काल में परमात्मा ही ध्येय हैं यह इससे दिखलाते हैं ।।

नू॒नम॑र्च॒ विहा॑यसे॒ स्तोमे॑भिः स्थूरयूप॒वत् ।
ऋषे॑ वैयश्व॒ दम्या॑या॒ग्नये॑ ।।२४।।

पदार्थः—(वैयश्व) हे जितेन्द्रिय (ऋषे) कविगण (स्थूरयूपवत्) याज्ञिक पुरुषों के समान (स्तोमेभिः) स्तुतियों के द्वारा (अग्नये) परमात्मा की कीर्ति को (नूनमर्च) निश्चय गान करे जो (विहायसे) सर्वव्यापक और (दम्याय) गृह-पति है ।।२४।।

भावार्थः यहां परमात्मा स्वयं आज्ञा देता है कि मेरी अर्चना करो । और मुझको विहायस्=महान् व्यापक और दम्य=गृहपति समझो । अर्थात् मुझको अपने परिवार में ही सम्मिलित समझो ।।२४।।

मेधावी पुरुष भी उसी की स्तुति करते हैं यह दिखलाते है ।।

अति॑थिं॒ मानु॑षाणां सू॒नुं वन॒स्पती॑नाम् ।
विप्रा॑ अ॒ग्निमव॑से प्र॒त्नमी॑ळते ।।२५।।

पदार्थः—(विप्राः) मेधावीजन (मानुषाणामतिथिम्) मनुष्यों के अतिथिवत् पूज्य (वनस्पतीनाम्) ओषधियों के (सूनुम्) उत्पादक (प्रत्नम्) पुराण (अग्निम्) परमात्मा की (ईडते) स्तुति करते हैं ॥२५॥

भावार्थः—जब बुद्धिमान् जन भी उसी की पूजा और आराधना करते हैं, तब अन्य जनों को तो वह कर्म अवश्य करना चाहिये, यह शिक्षा इससे देते हैं ॥२५॥

उसकी प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

महो विश्वाँ अभिषतोऽभि हव्यानि मानुषा ।
अग्ने नि षत्सि नमसाधि बर्हिषि ॥२६॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार ईश (बर्हिषि अधि) तू मेरे हृदयासन के ऊपर (नमसा नि सत्सि) नमस्कार और आदर से बैठ । (महः) महान् (विश्वान्) समस्त (सतः) विद्यमान पदार्थों के (अभि) चारों तरफ व्याप्त हो तथा (मानुषा हव्यानि) मनुष्य सम्बन्धी पदार्थों के (अभि) चारों तरफ बैठ ॥२६॥

भावार्थः—परमात्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान ही है तथापि मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार प्रार्थना करता है । और परमात्मा के सकल गुणों का वर्णन केवल अनुवादमात्र है ॥२६॥

पुनः वही विषय कहते हैं ॥

वंस्वा नो वार्या पुरु वंस्व रायः पुरुस्पृहः ।
सुवीर्यस्य प्रजावतो यशस्वतः ॥२७॥

पदार्थः—हे ईश ! (नः) हम लोगों को (वार्या) वरणीय (पुरु) बहुत से धन (वंस्व) दे और (रायः) विविध सम्पत्तियां और अभ्युदय (वंस्व) दे जो सम्पत्तियां (पुरुस्पृहः) बहुतों से स्पृहणीय हों (सुवीर्यस्य) पुत्र-पौत्रादि वीरोपेत (प्रजावतः) सन्ततिमान् (यशस्वतः) और कीर्तिमान् हों ॥२७॥

भावार्थः—ऐहलौकिक धन वही प्रशस्य है जो धन सन्तति, पशु, हिरण्य और यश से संयुक्त हो ॥२७॥

इस ऋचा से प्रार्थना करते हैं ॥

त्वं वरो सुषाम्णेऽग्ने जनाय चोदय ।
सदा वसो रातिं यविष्ठ शश्वते ॥२८॥

पदार्थः—(वरो) हे वरणीय (वसो) हे वासक ! (येविष्ठ) हे युवतम अतिशय मिश्रणकारी (अग्ने) हे सर्वाधार जगदीश ! (त्वम्) तू (सुसाम्ने) तेरी कीर्ति का सुन्दर गान करने वाले (शश्वते) सब जनों को (रातिम् चोदय) दान पहुँचाया कर ॥२८॥

भावार्थः—जो वैदिक गान में और शुभकर्म में निपुण हों, उनका प्रजागण सदा भरण और पोषण करें और वे भी उद्योगी होकर प्रजाओं में अपनी विद्या प्रकाशित किया करें ॥२८॥

प्रार्थना इससे दिखलाते हैं ॥

त्वं हि सुप्रतूरसि त्वं नो गोमतीरिषः ।

महो रायः सातिमग्ने अपा वृधि ॥२९॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार ! (त्वम् हि) तू ही (सुप्रतूः असि) उपासक जनों को विविध दान देने वाला है (त्वम्) तू (नः) हमको (गोमतीः) गवादि पशुयुक्त (इषः) अन्नों को और (महः रायः) महती सम्पत्तियों के (सातिम्) भाग को (अपावृधि) दे ॥२९॥

भावार्थः—ईश्वर पर विश्वास कर प्रार्थना करे, तब अवश्य ही उसका फल प्राप्त होगा ॥२९॥

पुनः वही विषय कहते हैं ॥

अग्ने त्वं यशा अस्या मित्रावरुणा वह ।

ऋतावाना सम्राजा पूतदक्षसा ॥३०॥

पदार्थः—(अग्ने त्वम्) हे सर्वाधार तू (यशाः असि) परम यशस्वी है इसलिये हमारे (मित्रा वरुणा) ब्राह्मण और क्षत्रिय का (आवह) धारण-पोषण कर जो (ऋतावाना) तेरे सत्य नियम के अनुसार चलने वाले (सम् राजा) समान दृष्टि से सब के ऊपर शासन करने वाले और (पूतदक्षसा) पवित्र बलधारक हैं ॥३०॥

भावार्थः—अन्त में ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति की रक्षा के लिये प्रार्थना करके इस सूक्त की समाप्ति करते हैं ॥३०॥

अष्टम मण्डल में यह तेईसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिंशदृचस्य चतुर्विंशतितमस्य सूक्तस्य विश्वमना वैयश्व ऋषिः॥ १-२७ इन्द्रः। २८-३० वरोः सौषाम्णस्य दानस्तुतिर्देवता॥ छन्दः-१, ६, ११, १३, २०, २३, २४ निचृदुष्णिक्। २-५, ७, ८, १०, १६, २५-२७ उष्णिक्। ९, १२, १८, २२, २८, २९ विराडुष्णिक्। १४, १५, १७, २१ पादनिचृदुष्णिक्। १९ आर्ची स्वराडुष्णिक्। ३० निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः-१-२९ ऋषभः। ३० गान्धारः॥

परमदेवता इन्द्र की महिमा की स्तुति पुनः आरम्भ करते हैं॥

सखा॑य॒ आ शि॑षामहि॒ ब्रह्मेन्द्रा॑य व॒ज्रिणे॑।

स्तु॒ष ऊ॒ षु वो॒ नृत॑माय धृ॒ष्णवे॑ ॥१॥

पदार्थः—(सखायः) हे मित्रो! (वज्रिणे) दण्डधारी (इन्द्राय) परमेश्वर के कीर्तिगान के लिये (ब्रह्म) हम स्तोत्र का (आशिषामहि) अध्ययन करें, मैं (वः) तुम लोगों के (नृतमाय) सब कर्मों के नेता और परममित्र (धृष्णवे) सर्वविघ्नविनाशक परमात्मा के लिये (सुस्तुषे) स्तुति करता हूँ॥१॥

भावार्थः—हम सब ही मिलकर उसके गुणों का अध्ययन करें जिससे मानवजन्म सफल हो॥१॥

इससे इन्द्र की स्तुति करते हैं॥

शव॑सा॒ ह्यसि॑ श्रु॒तो वृ॑त्र॒हत्ये॑न वृत्र॒हा।

म॒घैर्म॒घोनो॒ अति॑ शूर दाशसि ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र! (हि) निश्चय तू (शवसा) अपनी अचिन्त्य शक्ति से (श्रुतोऽसि) प्रसिद्ध है (वृत्रहत्येन वृत्रहा) वृत्र जो विघ्न उनके नाश करने के कारण तू वृत्रहा इस नाम से प्रसिद्ध होता है (शूर) हे महावीर (मघोनः) जितने धनिक पुरुष जगत् में हैं उनसे (मघैः) धनों के द्वारा (अति) तू अतिश्रेष्ठ है। और उनसे कहीं अधिक (दाशसि) अपने भक्तों को देता है॥२॥

भावार्थः—इससे दो बातें दिखलाई गई हैं—एक परमात्मा सर्वविघ्न-विनाशक है और दूसरा वह परम दानी है॥२॥

धन के लिये वही प्रार्थनीय है यह दिखलाते हैं॥

स नः॒ स्तवा॑न॒ आ भ॑र र॒यिं चि॒त्रश्र॑वस्तमम्।

नि॒रे॒के चि॒द्यो ह॑रिवो॒ वसु॑र्द॒दिः ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (सः) वह तू (स्तवानः) सकल जगत् से और हम लोगों से स्तूयमान होकर (नः) हमको (चित्रश्रवस्तमम्) अतिशय विविध यशोयुक्त (रयिम्) अभ्युदय और सम्पत्ति (आभर) दे और (निरेके चित्) अभ्युदय के ऊपर स्थापित कर (हरिवः) हे संसाररक्षक ! (यः वसु ददिः) जो तू जगत्वासक और दाता है ॥३॥

भावार्थः—विविध सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिये वही प्रार्थनीय है ॥३॥

इन्द्र प्रिय धन का दाता है यह दिखलाते हैं ॥

आ निरेकमुत प्रियमिन्द्र दर्षि जनानाम् ।
धृषता धृष्णो स्तवमान आ भर ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! तू (उत) और (जनानाम्) मनुष्यों और सर्व प्राणियों के मध्य (प्रियम् निरेकम्) प्रिय और प्रसिद्ध धन को भी (आदर्षि) प्रकाशित करता है । (धृष्णो) हे विघ्नप्रधर्षक !(स्तवामः) स्तूयमान होकर (धृषतः) परमोदार मन से (आभर) हम लोगों का भरण पोषण कर ॥४॥

भावार्थः—इस जगत् में सर्व वस्तु ही प्रिय हैं तथापि कतिपय वस्तुओं को कतिपय प्राणी पसन्द नहीं करते । विष, सर्प, वृश्चिक, विद्युदादि पदार्थ भी किसी विशेष उपयोग के लिये हैं । इस जगत् को नानाद्रव्यों से ईश्वर प्रतिक्षण भूषित कर रहा है, अतः वही स्तवनीय है ॥४॥

वह स्वतन्त्र है यह दिखलाते हैं ॥

न ते सव्यं न दक्षिणं हस्तं वरन्त आमुरः ।
न परिबाधो हरिवो गविष्टिषु ॥५॥

पदार्थः—(हरिवः) हे संसाररक्षक देव ! (आमुरः) जगत्-विध्वंसक दुष्टजन (ते सव्यम् हस्तम्) तेरे बायें हाथ को (न वरन्ते) रोक नहीं सकते (न दक्षिणम्) तेरे दाहिने हाथ को भी रोक नहीं सकते (गविष्टिषु) पृथिव्यादि जगत् रचनारूप यज्ञ में (परिबाधः न) बाधा डालने वाले तेरे कोई नहीं हैं ॥५॥

भावार्थः—वह सर्वोपरि है इसमें कहना ही क्या, उसीके अधीन यह विश्व है, अतः वही उपास्य है ॥५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

आ त्वा गोभिरिव व्रजं गीर्भिर्ऋणोम्यद्रिवः ।

आ स्मा कामं जरितुरा मनः पृण ॥६॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे संसाररक्षक देव ! (गोभिः इव व्रजम्) जैसे गोपाल गौओं के साथ गोष्ठ में पहुँचता है तद्वत् मैं (गीर्भिः) स्तुतियों के साथ (त्वा आ ऋणोमि) तेरे निकट पहुँचता हूँ। हे ईश! (जरितुः) मुझ स्तुतिपाठक के (कामम्) कामनाओं को (आ पृण) पूर्ण कर (आ) और (मनः) मन को भी पूर्ण कर ॥६॥

भावार्थः—मन की गति और चेष्टा अनन्त हैं, अतः इसको भी वही पूर्ण कर सकता है ॥६॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

विश्वानि विश्वमनसो धिया नो वृत्रहन्तम ।

उग्र प्रणेतरधि षू वसो गहि ॥७॥

पदार्थः—(वृत्रहन्तम) हे अतिशय विघ्नविनाशक ! (उग्र) हे उग्र ! (प्रणेतः) हे उत्कृष्टनायक (वसो) हे जगत्-वासक (विश्वमनसः नः) सबके कल्याणकारी हम लोगों के (विश्वानि) सकल शुभ कर्मों को (धिया) ज्ञान और मन से (सु) अच्छे प्रकार (अधि गहि) पवित्र कर ॥७॥

भावार्थः—यदि हम अन्यों के कल्याण करने में मन लगावें तो अवश्य हमारा मन पवित्र होगा ॥७॥

पुनः उसी वस्तु को दिखलाते हैं ॥

वयं ते अस्य वृत्रहन्विद्याम शूर नव्यसः ।

वसोः स्पार्हस्य पुरुहूत राधसः ॥८॥

पदार्थः—(वृत्रहन्) हे विघ्नविनाशक ! (शूर) हे महावीर ! (पुरुहूत) हे बहुपूजित इन्द्र ! (ते) तेरे (वसोः) धनों को (विद्याम) प्राप्त करें (नव्यसः) जो नवीन-नवीन हों (स्पार्हस्य) सब के स्पृहणीय हों और (राधसः) कल्याण के साधक हों ॥८॥

भावार्थः—वही धन उपार्जनीय है जो सर्वप्रिय और हितकारी हो ॥८॥

उसका दान दिखलाते हैं ॥

इन्द्र॒ यथा॒ ह्यस्ति॒ तेऽपरीतं नृतो॒ शवः॑ ।

अमृ॑क्ता रा॒तिः पुरुहूत दा॒शुषे॑ ॥९॥

पदार्थः—(नृतो) हे जगन्नर्तक ! (पुरुहूत) बहुसम्पूजित (यथा) जैसे (ते शवः) तेरी शक्ति (अपरीतम् हि अस्ति) अविनाशित अविध्वंसनीय है वैसा ही (दाशुषे) भक्तजनों के प्रति (रातिः) तेरा दान भी (अमृक्ता) अहिंसित और अनिवारणीय है ॥९॥

भावार्थः—उसका बल और दान दोनों अविनश्वर हैं ॥९॥

इस मन्त्र से उसका दान दिखलाते हैं ॥

आ वृ॑षस्व महामह म॒हे नृ॑तम॒ राध॑से ।

दृ॒ळ्हश्चि॑द्दृह्य मघवन्म॒घत्त॑ये ॥१०॥

पदार्थः—(महामह) हे परमपूज्य (नृतम) हे परम नायक (मघवन्) हे सर्वधन-सम्पन्न (महे राधसे) महान् अभ्युदय के लिये (आवृषस्व) अपनी सम्पत्तियाँ और ज्ञान इस जगत् में सींच । और (मघत्तये) धनवृद्धि के लिये (दृढश्चित्) दृढ़ भी दुष्टों के नगरों का (दृह्य) विनाश कर ॥१०॥

भावार्थः—परमात्मा सर्वधनसम्पन्न है, और न्यायकर्त्ता है, अतः अन्यायी पुरुषों के धनों को वह छीन लेता है ॥१०॥

वही स्तुत्य है यह दिखलाते हैं ॥

नू अ॒न्यत्रा॑ चिदद्रिव॒स्त्वन्नो॑ जग्मुरा॒शसः॑ ।

मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ तन्न॑ ऊ॒तिभिः॑ ॥११॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे संसारधारक (मघवन्) हे सर्वधनसम्पन्न ! (नः आशसः) हमारे स्तोत्र और अभिलाषाएँ (त्वत् अन्यत्र चित्) तुझको छोड़कर अन्य किन्हीं देवों में (नू जग्मुः) कदापि न गये न जाते हैं (तत्) इसलिए (तव ऊतिभि) तू अपनी रक्षा और सहायता से (नः शग्धि) हमको सब प्रकार सामर्थ्ययुक्त कर ॥११॥

भावार्थः—वही हमको सर्व कार्य में समर्थ कर सकता है यदि मन से उसकी स्तुति करें ॥११॥

पुनः उसी को कहते हैं॥

नह्यं१ङ्ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे।

राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः॥१२॥

पदार्थः—(नृतो) हे जगन्नर्तक! (गिर्वणः) हे स्तुतियों के प्रिय स्वामी इन्द्र (राधसे) सम्पत्ति के लिये (राये) अभ्युदय के लिये (द्युम्नाय) द्योतमान यश के लिये (शवसे च) और परम सामर्थ्य के लिये (त्वत् अन्यम् नहि) तुम से भिन्न किसी अन्य-देव को नहीं (विन्दामि अङ्ग) पाता हूँ, यह प्रसिद्ध है॥१२॥

भावार्थः—सामर्थ्य, धन और यश भी उसी से प्राप्त हो सकता है। अतः वही प्रार्थनीय है॥१२॥

इन्द्र को ही प्रिय वस्तु समर्पणीय है यह दिखलाते हैं॥

एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु।

प्र राधसा चोदयाते महित्वना॥१३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! आप सब मिलकर (इन्द्राय) इन्द्र के निकट (इन्दुम्) स्वकीय प्रियवस्तु (आ सिञ्चत) समर्पण करें। जिससे वह इन्द्र (सोम्यम् मधु) सोमरसयुक्त मधुर पदार्थों को (पिबाति) कृपादृष्टि से देखे और बचावे और (महित्वना) जो अपने सामर्थ्य से और (राधसा) संसाधक सम्पत्तियों से स्तुतिपाठक जनों को (चोदयाते) उन्नति की ओर ले जाता है॥१३॥

भावार्थः—वही हमको उन्नति की ओर भी ले जाता है अतः प्रेम और श्रद्धा से वही सेव्य है॥१३॥

पुनः वही विषय आ रहा है॥

उपो हरीणां पतिं दक्षं पृञ्चन्तमब्रवम्।

नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य॥१४॥

पदार्थः—मैं उपासक (हरीणाम्) परस्पर हरणशील जगतों का (पतिम्) पालक (दक्षम्) परमबलधारक (पृञ्चन्तम्) प्रकृति और जीव को मिलाने वाले परमेश्वर के (उपो अब्रवम्) समीप पहुँच निवेदन करता हूँ कि हे भगवन्! तू (स्तुवतः) स्तुति करते हुए (अश्व्यस्य) ईश्वर की ओर जाने वाले ऋषि के स्तोत्र को (नूनम् श्रुधि) निश्चित रूप से सुन॥१४॥

भावार्थः—जो ईश्वरसम्बन्धी काव्यों को बनाते और उसके तत्वों को समझते वे ही यहां ऋषि कहाते हैं। वे जितेन्द्रिय होने के कारण अश्व्य कहाते हैं ॥१४॥

उसी का महत्त्व दिखलाते हैं ॥

नह्यं१ग पुरा चन जज्ञे वीरतरस्त्वत् ।
नकीं राया नैवथा न भन्दना ॥१५॥

पदार्थः—हे ईश ! (त्वत्) तुझ से बढ़कर (पुरा) पूर्व काल में या वर्तमान काल में (वीरतरः न च जज्ञे) कोई वीर पुरुष न उत्पन्न हुआ, न होगा (अङ्ग) यह प्रसिद्ध है (राया) सम्पत्ति में भी (नकिः) तुम से बढ़कर कोई नहीं (एवथा न) रक्षण के कारण ही तुम से अधिक कोई नहीं (भन्दना न) और स्तुति के कारण भी तुम से अधिक नहीं, तू ही वीर धनवान् रक्षक और स्तुत्य है ॥१५॥

भावार्थः—वही सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण परमपूज्य है ॥१५॥

वही पूज्यतम है यह दिखलाते हैं ॥

एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः ।
एवा हि वीरः स्तवते सदावृधः ॥१६॥

पदार्थः—(अध्वर्यो) हे याज्ञिक पुरुष (मध्वः) मधुर (सदावृधः) सदा बल-वीर्य्यवर्धक (अन्धसः) अन्नों में से (मदिन्तरम्) आनन्दप्रद कुछ हिस्से लेकर (आ सिञ्च इत्) ईश्वर की प्रीति के लिये पात्रों में दो (हि) क्योंकि यही इन्द्र (एव) निश्चय (वीरः) सब विघ्नों को दूर करने वाला (स्तवते) स्तुति-योग्य है ॥१६॥

भावार्थः—जो तुम शुभ काम करो वह ईश्वर की प्रीति के लिये ही हो ॥१६॥

उसकी महिमा दिखलाते हैं ॥

इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।
उदानंश शवसा न भन्दना ॥१७॥

पदार्थः—(हरीणाम् स्थातः) हे इन सम्पूर्ण जगतों के अधिष्ठाता (इन्द्र) हे ईश्वर ! (ते पूर्व्यस्तुतिम्) तेरी पूर्ण स्तुति को (नकिः शवसा उदानंश) न कोई देव

या मनुष्य अपने वल से अतिक्रमण कर सकता (न भव्वना) स्तुति के सामर्थ्य से भी तुझ से कोई बढ़ नहीं सकता ॥१७॥

भावार्थः—ईश्वर अनन्त शक्तिशाली है। उसीकी स्तुति सब करते हैं अतः हम भी उसी को पूजें ॥१७॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥१८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (श्रवस्यवः)कीर्ति और अन्न इत्यादि वस्तु की कामना करने वाले हम उपासकगण (वः) तुम्हारे और हमारे और सब के (पतिम्) पालक उस परमात्मा की (अहूमहि) स्तुति करते हैं। जो (वाजानाम्) समस्त सम्पत्तियों और ज्ञानों का (पतिम्) पति है और जिस को (अप्रायुभिः) प्रमादरहित पुरुष (यज्ञेभिः) यज्ञों से (वावृधेन्यम्) वढ़ाते हैं उसकी कीर्ति को गाते हैं ॥१८॥

भावार्थः—उसी को चारों तरफ पूज रहे हैं, विद्वान् या मूर्ख यज्ञों के द्वारा उसीका महत्व दिखला रहे हैं ॥१८॥

वही स्तुत्य है यह इससे दिखलाते हैं ॥

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥१९॥

पदार्थः—(सखायः) हे मित्रो ! (एतो) आओ (नु इन्द्रम् स्तवाम) सब मिलकर उस इन्द्र की स्तुति करें जो (स्तोम्यम्) स्तुतियोग्य और (नरम्) जगन्नेता है (यः एकः इत्) जो एक ही (विश्वाः कृष्टीः अभ्यस्ति) समस्त उपद्रवकारिणी प्रजाओं को दूर कर देता है ॥१९॥

भावार्थः—जिस कारण वही स्तुतियोग्य है और हमारे विघ्नों को भी दूर किया करता है, अतः वही सेव्य है ॥१९॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः ।
घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥२०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वचः वोचत) उस परमात्मा का कीर्तिगान उन वचनों

से करो जो (घृतात्) घृत से भी (मधुनः च) मधु से भी (स्वादीयः) अधिक स्वादिष्ट हों और (वस्यम्) श्राव्य और दृश्य हों, जो इन्द्र (अगोरुधाय) स्तुतियों का श्रोता (गविषे) स्तुतियों का इच्छुक (द्युक्षाय) और सर्वत्र दीप्यमान है ॥२०॥

भावार्थः—उत्तमोत्तम स्तोत्र रच कर उसकी स्तुतियों का जाप करे ॥२०॥

उसका महत्त्व दिखलाते हैं ॥

यस्यामितानि वीर्या३न राधः पर्येतवे ।
ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥२१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यस्य वीर्य्याः) जिसके वीर्य्य अर्थात् कर्म (अमितानि) अपरिमित अनन्त और अहिंस्य हैं (यस्य राधः) जिसकी सम्पत्ति (पर्य्येतवे न) परिमित नहीं (दक्षिणा) जिसका दान (विश्वम् अभ्यस्ति) सर्वत्र फैला हुआ है (ज्योतिः न) जैसे सूर्य्य की ज्योति सर्वत्र फैली हुई है ॥२१॥

भावार्थः—जिसके बल, वीर्य्य और दान अनन्त हैं वही मनुष्य-जाति के उपास्य इष्टदेव हैं ॥२१॥

वही स्तवनीय है यह दिखलाते हैं

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् ।
अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥२२॥

पदार्थः—(व्यश्ववत्) हे विद्वन् ! जितेन्द्रिय ऋषिवत् ! (इन्द्रम् स्तुति) इन्द्र की स्तुति करो जो (अनूर्मिम्) एकरस (वाजिनम्) विज्ञानमय (यमम्) जगन्नियन्ता है (अर्य्यः) जो सर्वस्वामी भगवान् (दाशुषे) भक्तजन को (मंहमानम् गयम्) प्रशस्त गृह और धन (वि) देता है ॥२२॥

भावार्थः—जो हम को सकल भोग्य पदार्थ दे रहा है उसी की स्तुति करो ॥२२॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम् ।
सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥२३॥

पदार्थः—(वैयश्व) हे जितेन्द्रिय ऋषे ! (नूनम्) इस समय (एव) उस परमात्मा की ही (उपस्तुहि) मन से समीप में पहुँच स्तुति करो जो (दशमम्) दशसंख्या-

पूरक है अर्थात् जैसे शून्य के अधीन सब संख्यायें होती हैं उसके विना गणित-शास्त्र भी व्यर्थ हो जाता तद्वत् । अथवा शरीर में जो नव प्राण हैं उनमें यह दशम है । यद्वा दशम बार भी स्तुत और पूजित होने पर (नवम्) नूतन ही होता है (सुविद्वांसम्) परम विद्वान् (चरणीनाम् चर्कृत्यम्) प्रजाओं में वारंवार नमस्कर्तव्य है ॥२३॥

भावार्थः—वही सब का पूज्य और स्तुत्य है ॥२३॥

वही पूज्य है यह दिखलाते हैं ॥

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।

अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥२४॥

पदार्थः—(वज्रहस्त) हे दण्डधर इन्द्र ! तू (निर्ऋतीनाम्) उपद्रवों की (परिवृजम्) निवृत्ति को (वेत्थ) जानता है, उनकी किस प्रकार निवृत्ति हो सकती है उसे तू जानता है। (इव) जैसे (शुंध्युः) शोधक विद्वान् (परिपदाम्) माघादि मासों के (अहः अहः) प्रत्येक दिन को जानता है ॥२४॥

भावार्थः—वह सर्वज्ञ है अतः हम जीव उससे कुछ गुप्त नहीं रख सकते, इस हेतु इसको जान पाप से निवृत्त रहें ॥२४॥

उसकी प्रार्थना दिखलाते हैं ॥

तदिन्द्राव आ भर येना दंसिष्ठ कृत्वने ।

द्विता कुत्साय शिश्नथो नि चोदय ॥२५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ईश ! (दंसिष्ठ) हे परमाद्भुत ! हे परम दर्शनीय ! हे सर्वविघ्नविनाशक ! तू (तत् अवः) वह सहायता और रक्षा हम लोगों को (आभर) दे । जिससे (कृत्वने) कर्म करने वाले (कुत्साय) जगत् के कुकर्मों की निन्दा करने वाले संसार के दोषों को दिखलाने वाले ऋषि के लिये (द्विता) दो प्रकार के शारीरिक और मानसिक शत्रुओं को (शिश्नथः) हनन करता है उसी रक्षा की (निचोदय) सर्वत्र प्रेरणा कर ॥२५॥

भावार्थः—जैसे ईश्वर समदृष्टि है वैसे यथासम्भव हम भी होवें ॥२५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

तमु त्वा नूनमीमहे नव्यं दंसिष्ठ सन्यसे ।

स त्वं नो विश्वा अभिमातीः सक्षणिः ॥२६॥

पदार्थः—(दंसिष्ठ) हे अद्भुत कर्मकारी ! हे परम दर्शनीय ! (संन्यसे) संन्यास अर्थात् त्याग के लिए भी (नव्यम्) स्तुत्य (तम् उ त्वा) उस तुझसे ही (नूनम्) निश्चय (ईमहे) याचना करते हैं। (सः त्वम्) वह तू (नः) हमारी (विश्वाः) सब (अभिमातीः) विघ्न सेनाओं का (सक्षणिः) विनाशक हो ॥२६॥

भावार्थः—"संन्यसे" इसका तात्पर्य यह है कि हम जो कुछ प्राप्त करें उसमें से अपने योग्य रख करके अन्य सब दान कर दिया जाय और काम क्रोधादि जो महाशत्रु हैं उनको भी जीतने के लिये सदा प्रयत्न करता रहे ॥२६॥

विघ्नविनाश के लिए पुनः प्रार्थना ॥

य ऋक्षादंहसो मुचद्यो वार्यात्सप्त सिन्धुषु ।

वधर्दासस्य तुविनृम्ण नीनमः ॥२७॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा हम लोगों को (ऋक्षात् अंहसः) घातक (यद्वा) ऋक्ष-पशुवत् भयानक पाप से (मुचत्) छुड़ाता है (वा) अथवा (यः) जो (सप्तसिन्धुषु) सर्पणशील नदियों के तट पर (आर्य्यात्) शोभा और सौभाग्य दिखलाता है यद्वा (सप्तसिन्धुषु) नयनादि सप्त इन्द्रिययुक्त शिर में विज्ञान देता है वही सब का पूज्य है। (तुविनृम्ण) हे बहुधन इन्द्र ! (दासस्य) जगत् में उपद्रवकारी मनुष्य के दूर करने के लिए (वधः) हननसाधक आयुध (नीनमः) नीचे कर ॥२७॥

भावार्थः—हमारे जो समय-समय पर विघ्न उत्पन्न होते हैं उनके विनाश के लिये भी वही प्रार्थनीय है ॥२७॥

इन्द्रिय जेतव्य हैं यह इससे दिखलाते हैं ॥

यथा वरो सुषाम्णे सनिभ्य आवहो रयिम् ।

व्यश्वेभ्यः सुभगे वाजिनीवति ॥२८॥

पदार्थः—(वरो) हे वरणीय परमदेव ! (यथा) जैसे तू (सुसाम्ने) सुन्दर गानेवाले (सनिभ्यः) और याचक सुपात्रों की ओर (रयिम् आवहसि) धन ले जाता है (सुभगे) हे सुभगे (वाजिनीवति) हे बुद्धि ! इन्द्र के समान ही तू भी (व्यश्वेभ्यः) जितेन्द्रिय ऋषियों को धन दे ॥२८॥

भावार्थः—जैसे परमात्मा इस संसार पर कृपा रखता है तद्वत् सब ही परस्पर रक्खें और अपनी-अपनी इन्द्रियों को भी अपने-अपने वश में कर उसकी ओर लगावें, तब ही मनुष्य ऋषि और महाकवि आदि होता है ॥२८॥

प्रार्थना दिखाते हैं ॥

आ नार्यस्य दक्षिणा व्यश्वाँ एतु सोमिनः ।

स्थूरं च राधः शतवत्सहस्रवत् ॥२९॥

पदार्थः—(नार्य्यस्य) नरहितकारक ईश्वर का (दक्षिणा) दान (सोमिनः) सोमादि लताओं के तत्त्वज्ञों और (व्यश्वान्) जितेन्द्रिय पुरुषों को (एतु) प्राप्त हो (च) और (शतवत् सहस्रवत्) शतशः और सहस्रशः (स्थूरम्) पश्वादि स्थूल और ज्ञानादि सूक्ष्म (राधः) धन उनको प्राप्त हों ॥२९॥

भावार्थः—जो पदार्थतत्त्वविद् हों उनका साहाय्य करना सबका धर्म होना चाहिये, जिससे वे सुखी रहकर नाना विद्याएं प्रकाशित कर देश की शोभा बढ़ा सकें ॥२९॥

शुभकर्म का फल दिखलाते हैं ॥

यत्त्वा पृच्छादीजानः कुहया कुहयाकृते ।

एषो अपश्रितो वलो गोमतीमव तिष्ठति ॥३०॥

पदार्थः—(कुहयाकृते) हे जिज्ञासु ! हे विद्वन् ! (ईजानः) जो पुरुष यज्ञ करचुका है वह (कुहया) इस समय कहां है । (यत् पृच्छात् त्वा) यदि तुझको इस तरह कोई पूछे तो इस प्रकार कहना । (एषः वलः) यह वरणीय यजमान (अपश्रितः) इस स्थान से चला गया और जाकर (गोमतिम् अवतिष्ठति) गवादिपशुयुक्त भूमि के ऊपर विद्यमान है ॥३०॥

भावार्थः—यज्ञों के फलों में सन्देह नहीं करना चाहिये यह इससे दिखलाते हैं । जो शुभकर्म करते हैं, वे अच्छे फल पाते हैं ॥३०॥

अष्टम मण्डल में यह चौबीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्विंशत्यृचस्य पंचविंशतितमस्य सूक्तस्य विश्वमना वैयश्व ऋषिः ॥ १—९, १३—२४ मित्रावरुणौ । १०—१२ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, २, ५—९, १९ निचृदुष्णिक् । ३, १०, १३—१६, २०—२२ विराडुष्णिक् । ४, ११, १२, २४ उष्णिक् । २३ आर्ची उष्णिक् । १७, १८ पादनिचृदुष्णिक् ॥ ऋषभः स्वरः ॥

अब ब्राह्मण और क्षत्रिय के धर्मों को दिखलाते हैं ।।

ता वां विश्वस्य गोपा देवा देवेषु यज्ञिया ।
ऋतावाना यजसे पूतदक्षसा ।।१।।

पदार्थः—हे मित्रनामक ब्राह्मणप्रतिनिधि ! हे वरुणनामक क्षत्रियप्रतिनिधि ! आप दोनों (विश्वस्य गोपा) सकल कार्य के रक्षक नियुक्त हैं (देवेषु देवा) विद्वानों में भी विद्वान् हैं और (यज्ञिया) विद्वानों में यज्ञवत् पूज्य हैं (ऋतावाना) ईश्वर के सत्य नियम पर चलने वाले अतएव (पूत दक्षसा) पवित्र बलधारी हैं। (ता) उन और वैसे (वाम्) आप दोनों को हम प्रजागण (यजसे) सकल कार्यों में सत्कार करते हैं ।।१।।

भावार्थः—जो जगत् के जितने अधिक लाभकारी हैं वे उतने ही पूजा-योग्य हैं। जो ईश्वरीय नियमों को सदा देश में फैलाते हैं और प्रकृति का अध्ययन करते रहते हैं सत्यपथ से कदापि पृथक् नहीं होते। सत्यादि विविध-गुणयुक्त पुरुष का नाम ब्राह्मण है। और प्रजापालन में तत्पर और सत्यादि सर्वगुणसम्पन्न पुरुष का नाम क्षत्रिय है।। वैसे महापुरुष निःसन्देह पूज्य, मान्य और अभिनन्दनीय हैं। यही विषय इस सूक्त में दिखलावेंगे ।।१।।

वे दोनों कैसे हों यह दिखलाते हैं ।।

मित्रा तना न रथ्या३ वरुणो यश्च सुक्रतुः ।
सनात्सुजाता तनया धृतव्रता ।।२।।

पदार्थः—पुनरपि वे दोनों प्रतिनिधि कैसे हों (मित्रा) सब के मित्र (तना) धनादिविस्तारक (न) और (रथ्या) सब के सारथि के समान हों (सुक्रतुः) शोभन-कार्यकर्ता (यः च वरुणः) जो वरुण है और मित्र (सनात्) सर्वदा (सुजाता) अच्छे कुल के (तनया) पुत्र हों (धृतव्रता) लोकोपकारार्थ व्रत धारण करने वाले हों ।।२।।

भावार्थः—परोपकार करना अति कठिन कार्य्य है, अतः यहाँ इन दोनों के विशेषण में मित्र, सुक्रतु और सुजात आदि पद आए हैं ।।२।।

पुनः उन दोनों का ही वर्णन है ।।

ता माता विश्ववेदसासुर्याय प्रमहसा ।
मही जजानादितिर्ऋतावरी ।।३।।

पदार्थः—(ता) वैसे पुत्रों को (मही) वड़ी (ऋतावरी) सत्यवती (अदितिः) माता (जजान) उत्पन्न करती है जो पुत्र (विश्ववेदसा) सर्व प्रकार ज्ञानसम्पन्न होते (प्र महसा) वड़े तेजस्वी और (असुर्य्याय) वल दिखलाने के लिये सर्वदा उद्यत रहते हैं ॥३॥

भावार्थः—जो संसार में विख्यात और विद्वान् हों वैसे कोटियों में दो चार होते हैं। किन्तु प्रारम्भ से यदि बालक-बालिका सुशिक्षित हों तो वे वैसे हो सकते हैं ॥३॥

पुन वे कैसे हों ॥

म॒हान्ता॑ मि॒त्रावरु॑णा स॒म्राजा॑ दे॒वाव॑सु॒रा ।
ऋ॒तावा॑नावृ॒तमा घो॑षतो बृ॒हत् ॥४॥

पदार्थः—(महान्ता) जो सव काम में महान् (सम्राजा) जगत् के शासक (देवौ) दिव्यगुणसम्पन्न (असुरा) परमवलवान् (ऋतावानौ) सद्धर्म पर चलनेवाले (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण हैं ये दोनों (ऋतम्) ईश्वरीय सत्य नियम को (बृहत्) वृहत् रूप से (आघोषतः) प्रकाशित करें ॥४॥

भावार्थः—वे सदा ईश्वरीय नियमों को देश-देश में फैलाया करें ॥४॥

पुनः उसी को कहते हैं ॥

नपा॑ता॒ शव॑सो म॒हः सू॒नू दक्ष॑स्य सु॒क्रतू॑ ।
सृ॒प्रदा॑नू इ॒षो वास्त्वधि॑ क्षितः ॥५॥

पदार्थः— पुनः वे ब्राह्मणप्रतिनिधि मित्र और राजप्रतिनिधि वरुण कैसे हों (महः शवसः नपाता) महान् वल के पोषक, (दक्षस्य सूनू) परमबल के पुत्र, (सुक्रतू) शोमनकर्मा और (सुप्रदानू) जिनके धनादि दान सर्वत्र फैले हुए हैं। ऐसे मित्र और वरुण (इषः वास्तु) धन के भवन में (अधिक्षितः) निवास करें अर्थात् वे सर्वगुणसम्पन्न हों ॥५॥

भावार्थः—वे दोनों सब प्रकार के धनों के स्वामी हों और जगत् में बल वीर्य सत्यता आदि गुणों को बढ़ाया करें ॥५॥

उनके गुणों को दिखलाते हैं ॥

सं या दानू॑नि ये॒मथु॑र्दि॒व्याः पार्थि॑वी॒रिषः॑ ।
नभ॑स्वती॒रा वां॑ चरन्तु वृ॒ष्टयः॑ ॥६॥

पदार्थः—हे मित्र और वरुण ! (या) जो आप दोनों (दानूनि संयेमथुः) प्रजाओं को सुखी रखने के लिये बहुतसे देय पदार्थों को संग्रह करके रखते हैं। यहाँ तक कि (दिव्याः) द्युलोकस्थ (पार्थिवीः) पार्थिव पृथिवीसम्बन्धी (इषः) सब प्रकार के धनों को इकट्ठा करते हैं। इस प्रकार (नभस्वतीः) आकाशस्थ (वृष्टयः) वृष्टियां भी (वाम् आचरन्तु) आप की सहायता करें ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य के सुख के लिये जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो वे सब ही संग्रहणीय हैं ॥६॥

पुनः उसी अर्थ को दिखलाते हैं ॥

अधि या बृंह॒तो दि॒वो॒३॑भि यू॒थेव॒ पश्यं॑तः ।

ऋ॒तावा॑ना स॒म्राजा॒ नम॑से हि॒ता ॥७॥

पदार्थः—पुनः (या) जो आप दोनों (बृहतः दिवः) बहुत-बहुत और बड़े-बड़े विद्वानों को (अभि) अपने सन्मुख (यूथा इव) झुंड के झुंड (अधिपश्यतः) ऊपर से देखते हैं (ऋतावाना) सत्यमार्ग पर चलने वाले (सम्राजा) अच्छे शासक (नमसे) नमस्कार के योग्य (हिता) जगत् के हितकारी हैं ॥७॥

भावार्थः—जिस कारण मित्र और वरुण दोनों महाप्रतिनिधि हैं इसलिये वे उच्च और उत्तम सिंहासन के ऊपर बैठते हैं और अन्यान्य सिंहासन के नीचे बैठते हैं, इसलिए मन्त्र में कहा गया है कि वे दोनों ऊपर से झुंड के झुंड अपने सामने विद्वानों को देखते हैं ॥७॥

उन दोनों का कर्त्तव्य कहते हैं ॥

ऋ॒तावा॑ना॒ नि षे॑दतुः॒ साम्रा॑ज्याय सु॒क्रतु॑ ।

धृ॒तव्र॑ता क्ष॒त्रिया॑ क्ष॒त्रमा॑शतुः ॥८॥

पदार्थः—पुनः वे दोनों (ऋतावाना) ईश्वरीय सत्यनियमों पर चलनेवाले और (सुक्रतू) शोभनकर्मा (साम्राज्याय) राज्य के कल्याण के लिये (निषेदतुः) उत्तम सिंहासन पर बैठते हैं अथवा महाराष्ट्र के शासन के लिए प्रजाओं से अभिषिक्त होकर व्यवस्था करने के लिये बैठते हैं। (धृतव्रता) प्रजा के शासन के व्रत को जिसने धारण किया है (क्षत्रिया) जो क्षात्रधर्मयुक्त हों। (क्षत्रम् आशतुः) और परम बल को प्राप्त किए हुए हों ॥८॥

भावार्थः—पूर्वोक्त गुणसंयुक्त ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों राज्य-कार्य्य के लिये चुने जायें तब वे इस कार्य को महाव्रत समझ सदा प्रजाहित में आसक्त रहें ॥८॥

उनके गुण दिखलाते हैं ॥

अक्ष्णश्चिद्गातुवित्तरानुल्बणेन चक्षसा ।

नि चिन्मिषन्ता निचिरा नि चिक्यतुः ॥९॥

पदार्थः—पुनः वे मित्र और वरुण (अक्षणः चित्) नेत्र से भी बढ़कर उत्तम (गातुवित्तरा) मार्गवेत्ता हों । और (निमिषन्ता चित्) सब वस्तुओं को उस समय भी देखते हों जब वे स्वयं (निचिरा) आंखें बन्द रखते हैं अर्थात् ज्ञानचक्षु से सब पदार्थ देखें चर्मचक्षु से नहीं ; फिर (अनुल्बणेन) प्रसन्न (चक्षसा नि चिक्यतुः) नेत्र से सब कुछ निश्चय करें ॥९॥

भावार्थः—वे दोनों सब वस्तु में बड़े ही तीक्ष्ण हों । शीघ्र मानवगति के परिचायक हों और प्रसन्न नयन से प्रजाओं को देखें ॥९॥

सब से प्रजाएं रक्षणीय हैं यह दिखलाते हैं ॥

उत नो देव्यदितिरुरुष्यतां नासत्या ।

उरुष्यन्तु मरुतो वृद्धशवसः ॥१०॥

पदार्थः—(उत) और (देवी अदितिः) सत्पुत्रों को पैदा करने वाली उत्तमगुण-युक्त लोकमाता (नः उरुष्यताम्) हम लोगों का साहाय्य और रक्षा करें और (नासत्या) असत्यरहित वैद्यगण हमारी रक्षा करें और (वृद्धशवसः मरुतः) परम बल-वान् सेनानायकगण भी हमारी रक्षा करें ॥१०॥

भावार्थः—प्रजारक्षा ही परमधर्म है, दण्ड के भय से ही शान्ति रहती है । अतः यथाशक्ति सब ही श्रेष्ठ पुरुष और स्त्रियां इस कार्य्य में दत्तचित्त और सावधान रहें ॥१०॥

पुनः उसी अर्थ को दिखलाते हैं ॥

ते नो नावमुरुष्यत दिवा नक्तं सुदानवः ।

अरिष्यन्तो नि पायुभिः सचेमहि ॥११॥

पदार्थः—(सुदानवः) हे अपनी रक्षा से सुन्दर दान देने वाले सेनानायको ! (ते) वे आप सब (नः नावम्) हमारे व्यापारी जहाजों को (दिवा) दिन में (नक्तम्) रात्रि में (उरुष्यत) पालिये और (पायुभिः) आप रक्षकों के साथ हम सब (अरि-ष्यन्तः) हिंसित न होकर अर्थात् अच्छे प्रकार पालित होकर (नि सचेमहि) अपने-अपने काम में सदा लगे हुए रहें ॥११॥

भावार्थः—जो राज्य की रक्षा में नियुक्त हों वे सतर्क होकर सब पदार्थों के ऊपर ध्यान रक्खें जिससे प्रजाएं सुखी रहें ॥११॥

सभाध्यक्ष का कर्त्तव्य कहते हैं ॥

अघ्नते विष्णवे वयमरिष्यन्तः सुदानवे ।

श्रुधि स्वयावन्त्सिन्धो पूर्वचित्तये ॥१२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वयम् अरिष्यन्तः) हम सब किसी से बाधित न होकर (अघ्नते) अहिंसक (सुदानवे) शोभनदाता (विष्णवे) सभाध्यक्ष और परमात्मा की सेवा करें (स्वयावन्) हे स्वयं इतस्ततः रक्षा के लिये जाने वाले (सिन्धो) हे परमदयालो ! सभाध्यक्ष और भगवन् आप दोनों (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान के लिये (श्रुधि) हमारी प्रार्थना को सुनिये ॥१२॥

भावार्थः—प्रजागण जिन-जिन उपायों से निरुपद्रव हों वे वे अवश्य कर्त्तव्य हैं और स्वस्थ अबाधित प्रजाएं भी रक्षकों को प्रसन्न रक्खें ॥१२॥

कैसा धन उपार्जनीय है यह दिखलाते हैं ॥

तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम् ।

मित्रो यत्पान्ति वरुणो यदर्यमा ॥१३॥

पदार्थः—(तत् वार्यम् वृणीमहे) हे मित्र तथा वरुण ! हम सब उस धन की कामना करते हैं जो (वरिष्ठम्) अतिशय श्रेष्ठ (गोपयत्यम्) और सब का पालक हो और (यत् यत्) जिस-जिस धन को (मित्रः वरुणः अर्यमा) क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य प्रतिनिधि मित्र, वरुण, अर्यमा (पान्ति) पालते हैं ॥१३॥

भावार्थः—जिससे अपना और दूसरों का उपकार और हित हो वह धन उपार्जनीय है ॥१३॥

आशीर्वाद की याचना करते हैं ॥

उत नः सिन्धुरपां तन्मरुतस्तदश्विना ।

इन्द्रो विष्णुर्मीढ्वांसः सजोषसः ॥१४॥

पदार्थः—(उत) और (अपां सिन्धुः) जलों का सागर मेघ, (मरुतः) वायु और सेनानायक (अश्विना) सद्वैद्य और सूर्य्य, चन्द्र (इन्द्रः विष्णुः) राजा और सभाध्यक्ष विद्युत् और द्युलोकस्थ पदार्थ ये सब (सजोषसः) मिलकर (नः तत् तत्) हम लोगों

के उस उस अभ्युदय को बचावें, बढ़ावें और कृपादृष्टि से देखें और (मीढ्वांसः) सुखों को वर्षा करने वाले होवें ॥१४॥

भावार्थः—चेतन और अचेतन दोनों से जगत् का निर्वाह हो रहा है, अतः इन दोनों से बुद्धिमान् लाभ उठावें ॥१४॥

उनके गुणों को दिखलाते हैं ॥

ते हि ष्मा॑ व॒नुषो॒ नरो॒ऽभिमा॑तिं॒ कय॑स्य चि॒त् ।

ति॒ग्मं न क्षोद॑ः प्रति॒घ्नन्ति॒ भूर्ण॑यः ॥१५॥

पदार्थः—(ते हि स्म) वे ही मित्र, वरुण और अर्यमा (कयस्य चित्) सब की (अभिमातिम्) शत्रुता को (प्रतिघ्नन्ति) निवारण करते हैं। जो (वनुषः) यथार्थ न्याय के विभाग करने वाले (नरः) नेता हैं और (न) जैसे (भूर्णयः) अतिवेगवान् (क्षोदः) जल (तिग्मम्) अग्रतः स्थित वृक्षादि को उखाड़ डालते हैं ॥१५॥

भावार्थः—कार्य में नियुक्त मित्रादि निरालस होकर प्रजा के विघ्नों को दूर किया करें ॥१५॥

क्षत्रिय को कैसा होना चाहिये यह दिखलाते हैं ॥

अ॒यमेक॑ इ॒त्था पु॒रूरु च॑ष्टे॒ वि वि॒श्पति॑ः ।

तस्य॑ व्र॒तान्यनु॑ वश्चरामसि ॥१६॥

पदार्थः—वे वरुण (विश्पतिः) सम्पूर्ण जनों के अधिपति और (एक एव) एक ही (पुरु उरु च) बहुत और विस्तृत धनों को (इत्था विचष्टे) इस प्रकार देखते हैं (तस्य व्रतानि) उनके नियमों को (वः) आप लोग और हम सब (अनुचरामसि) पालन करें ॥१६॥

भावार्थः—राज्य की ओर से स्थापित नियमों को सब ही एकमत होकर पालें और पलवावें ॥१६॥

राज्यनियम पालनीय हैं यह इससे दिखलाते हैं ॥

अनु॒ पूर्वा॑ण्यो॒क्या॑ साम्रा॒ज्यस्य॑ सश्चिम ।

मि॒त्रस्य॑ व्र॒ता वरु॑णस्य दी॒र्घश्रु॒त ॥१७॥

पदार्थः—(दीर्घश्रुत) बहुत दिनों से सुप्रसिद्ध (यद्वा) दूर दूरों की बातों को सुनने वाले (मित्रस्य वरुणस्य) ब्राह्मण प्रतिनिधि और राज-प्रतिनिधि के किये हुए

(साम्राज्यस्य) जो महाराज्य के (पूर्व्याणि अोक्या) अति प्राचीन गृह्य नियम हैं और (व्रतानि) उनके पालन के जो उपाय हैं उनका (अनु सश्चिम) हम लोग अनुसरण करें ॥१७॥

भावार्थः—राज्यप्रतिनिधियों से निर्धारित जो नियम और उपाय हैं उनका प्रतिपालन करना सब को उचित है ॥१७॥

ब्राह्मणों के गुण दिखलाते हैं ॥

परि यो रश्मिना दिवोऽन्तान्ममे पृथिव्याः ।

उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ॥१८॥

पदार्थः—(यः) जो ब्राह्मण (दिवः पृथिव्याः अन्तान्) द्युलोक और पृथिवी की अन्तिम सीमा को (रश्मिना) विज्ञान तेज से (परिममे) मापते हैं और (महित्वा) ज्ञान की महिमा से (उभे रोदसी) दोनों पृथिवी और द्युलोक को ज्ञान और कर्म से (आपप्रौ) पूर्ण करते हैं ॥१८॥

भावार्थः—वही ब्राह्मण है जो निज विज्ञान से संसार का परोपकार कर रहा है ॥१८॥

ब्राह्मण के गुण दिखलाते हैं ॥

उदु ष्य शरणे दिवो ज्योतिरयंस्त सूर्यः ।

अग्निर्न शुक्रः समिधान आहुतः ॥१९॥

पदार्थः—(स्यः) वह मनुष्यहितकारी ब्राह्मण (दिवः शरणे) द्युलोक तक (सूर्य्यः) सूर्य्य के समान (उद् अयंस्त ज्योतिः) ज्योति और विज्ञान को फैलाते हैं (उ) यह बात प्रसिद्ध है और (अग्निर्न) अग्नि के समान स्वयं (शुक्रः) दीप्यमान होते हुए (समिधानः) जगत् को प्रकाशित करते हुए (आहुतः) मनुष्यमात्र से प्रसादित और तर्पित होते हैं ॥१९॥

भावार्थः—जो सदा सत्यादि व्रत पालते हुए ज्ञानोपार्जन और परोपकार में ही लगे रहते हैं वे ब्राह्मण हैं ॥१९॥

पुनः उसी के गुण दिखलाते हैं ॥

वचो दीर्घप्रसद्मनीशे वाजस्य गोमतः ।

ईशे हि पित्वोऽविषस्य दावने ॥२०॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! जो ब्राह्मण प्रतिनिधि मित्र (दीर्घप्रसद्मनि) विस्तृत भवन में रहते हैं (यश्च) और जो (गोमतः वाजस्य) गवादि पशुयुक्त सम्पत्तियों के ऊपर (ईळते) शासन करते हैं और (दावने) दान के लिये (अविषस्य) विषरहित प्रीतिकारी (पित्वः) अन्नों के ऊपर अधिकार रखते हैं वे प्रशंसनीय हैं ॥२०॥

भावार्थः—सर्व प्रकार के धनों के स्वामी हों वे ही ब्राह्मणपदवाच्य हैं ॥२०॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

तत्सूर्यं रोदसी उभे दोषा वस्तोरुप ब्रुवे ।
भोजेष्वस्माँ अभ्युच्चरा सदा ॥२१॥

पदार्थः—(सूर्य्यम्) सूर्य्य के समान (तत्) मित्र और वरुण का वह-वह नियम और उपाय (उभे रोदसी) दोनों लोकों में प्रचलित है उसको मैं (दोषा) रात्रि में (वस्तोः) दिन में (उपब्रुवे) उसकी स्तुति करता हूँ अर्थात् सर्वदा उसका प्रचार करता हूँ। हे भगवन् ! (अस्मान्) वैसे हम लोगों को (सदा) सर्वदा (भोजेषु) विविध अभ्युदयों के ऊपर (अभ्युच्चर) स्थापित कर ॥२१॥

भावार्थः—हम लोग तब ही धनों के अधिकारी हो सकते हैं जब राज्य-प्रचालित और ईश्वरीय नियमों को अच्छे प्रकार मानें ॥२१॥

अब उपासना का फल दिखलाते हैं ॥

ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे ।
रथं युक्तमसनाम सुषामणि ॥२२॥

पदार्थः—यहां से उपासना का फल कहते हैं। परमात्मा की उपासना के कारण हम उपासकगण (उक्षण्यायने) सर्व कामनाओं की वर्षा करने वाले ईश्वर के निकट (ऋज्रम्) ऋजुगामी सात्विक इन्द्रियगण (असनाम) पाये हुए हैं और (हरयाणे) निखिल दुःखनिवारक परमात्मा के प्रसन्न होने से (रजतम्) श्वेत अर्थात् सात्विक ज्ञान प्राप्त किये हुए हैं। (सुसामनि) जिस के लिये लोग सुन्दर सामगान करते हैं उसकी कृपा से (युक्तम् रथम्) विविध इन्द्रियों और सद्गुणों से युक्त शरीररूप रथ पाये हुए हैं ॥२२॥

भावार्थः—उपासक को कभी अवश्य फल प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं; अतः ईश्वरभक्त को धैर्य और विश्वास रखना चाहिये ॥२२॥

इन्द्रिय कैसे हों यह दिखलाते हैं ।।

ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना ।

उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा ॥२३॥

पदार्थः—(मे) मेरे (हरीणाम्) हरणशील (अश्व्यानाम्) अश्वसमूहों के मध्य (नितोशना) शत्रुविनाशक ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय होवें (उतो नु) और भी (कृत्व्यानाम्) कर्म करने में कुशलों के मध्य (नृवाहसा) मनुष्यों के सुख पहुँचानेवाले हों ॥२३॥

भावार्थः—हमारे इन्द्रियगण उसकी कृपा से विषयविमुख हों और सदा मनुष्यों में सुखवाहक हों ॥२३॥

पुनः उपासनाफल दिखलाते हैं ॥

स्मदभीशू कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती ।

महो वाजिनावर्वन्ता सचासनम् ॥२४॥

पदार्थः—मैं उपासक (नविष्ठया मतीः) नूतन-नूतन बुद्धियों से युक्त (अर्वन्ता) द्विविध इन्द्रिय (सचा) साथ ही (असनम्) प्राप्त किये हुए हूं । वे कैसे हैं? (स्मदभीशू) शोभनज्ञान-रज्जुयुक्त (कशावन्ता) विवेककशासंयुक्त (विप्रा) मेधावी विचारशील (महः) बड़े (वाजिनौ) शीघ्रगामी हैं ॥२४॥

भावार्थः—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों को शुद्ध कर्मकुशल, विवेक-युक्त और धीर बनावे ॥२४॥

अष्टम मण्डल में यह पच्चीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पंचविंशत्यृचस्य षड्विंशतितमस्य सूक्तस्य विश्वमना वैयश्वो वाङ्गिरस ऋषिः ॥ १—१९ अश्विनौ । २०—२५ वायुर्देवता ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६, ७ उष्णिक् । २, ८, २३ विराडुष्णिक् । ५, ९–१५, २२ निचृदुष्णिक् । २४ पादनिचृदुष्णिक् । १६, १९ विराड् गायत्री । १७, १८, २१ निचृद्गायत्री । २५ गायत्री । २० विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—१५, २२—२४ ऋषभः । १६—१९, २१, २५ षड्जः । २० गान्धारः ॥

आगे राजधर्मों का उपदेश करते हैं ॥

युवोरु षू रथं हुवे सधस्तुत्याय सूरिषु ।

अतूर्तदक्षा वृषणा वृषण्वसू ॥१॥

पदार्थः—(अतूर्तदक्षा) हे अनिवारणीय शक्तिशाली (वृषणा) हे प्रजाओं में धनों की वर्षा करनेवाले (वृषण्वसू) हे वर्षणशील धनयुक्त ! हे राजन् ! हे मन्त्रि-दल ! (युवोः रथम्) आप लोगों के रथ को (सूरिषु सधस्तुत्याय) विद्वानों की सभा में सबके साथ आदर करने के लिये (सु) साधुभाव से (हुवे) मैं बुलाता हूँ (उ) निश्चितरूप से ॥१॥

भावार्थः—पूर्व में भी कह आये हैं कि राजा और मन्त्रिदल का नाम "अश्व" है। प्रजाओं को उचित है कि बड़ी-बड़ी सभाओं में मन्त्रिदल सहित राजा को बुलाकर सत्कार करें। यहां रथ के बुलाने से राजा के बुलाने का तात्पर्य्य है। जो राजदल प्रजाओं में सदा अपनी उदारता प्रकट करते हों वे आदरणीय हैं ॥१॥

राजा का अन्य कर्तव्य कहते हैं ॥

युवं वरो सुषाम्णे महे तने नासत्या ।

अवोभिर्याथो वृषणा वृषण्वसू ॥२॥

पदार्थः—(नासत्या) हे असत्यरहित (वृषणा) हे प्रजाओं में धनवर्षा करने वाले (वृषण्वसू) हे वर्षणशीलधनयुक्त राजन् तथा मन्त्रिदल ! (युवम्) आप सब (वरो) श्रेष्ठ पुरुष (सुषाम्णे) सुन्दर गान करनेवाले (महे) महान् (तने) विद्या धनादि विस्तार करने वाले इत्यादि इस प्रकार के मनुष्यों के लिये (अवोभिः) पालन के साथ अर्थात् रक्षक सेनाओं के साथ (याथः) यात्रा करते हैं ॥२॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि अच्छे पुरुषों की रक्षा करे और देश में भ्रमण कर उनकी दशाओं से परिचित हो यथायोग्य प्रबन्ध करे ॥२॥

राजकर्म कहते हैं ॥

ता वामद्य हवामहे हव्येभिर्वाजिनीवसू ।

पूर्वीरिष इषयन्तावति क्षपः ॥३॥

पदार्थः—(वाजिनीवसू) हे अन्नादि परिपूर्ण धनवाले राजन् तथा मन्त्रिदल (ता वाम्) उन आप सब को (अद्य) आज (अति क्षपः) रात्रि के बीतने के पश्चात् अर्थात् प्रातःकाल (हवामहे) आदर के साथ बुलाते हैं (हव्येभिः) स्तुतियों के द्वारा आपका सत्कार करते हैं, आप सब (पूर्वीः इषः) बहुतसे धनों को (इषयन्तौ) इकट्ठा करने के लिये इच्छा करें ॥३॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि प्रजा के हित के लिये बहुतसा धन एकत्रित कर रखें ॥३॥

राजा का कर्त्तव्य कर्म कहते हैं॥

आ वां वाहिष्ठो अश्विना रथो यातु श्रुतो नरा।
उप स्तोमान्तुरस्य दर्शथः श्रिये ॥४॥

पदार्थः—(नरा) हे मनुष्यों के नेता! (अश्विना) राजा तथा मन्त्रिदल (वाम्) आप सब का (वाहिष्ठः) अतिशय अन्नादिकों का ढोने वाला (श्रुतः) प्रसिद्ध (रथः) रथ (आयातु) प्रजाओं के गृह पर आवे और आप (तुरस्य) श्रद्धा और भक्तिपूर्वक स्तुति करते हुए पुरुषों के (स्तोमान्) स्तोत्रों को (श्रिये) कल्याण के लिये (उपदर्शथः) सुनें॥४॥

भावार्थः—रथ शब्द यहां उपलक्षण है अर्थात् प्रजाओं में जहाँ-जहाँ भोज्य पदार्थों की न्यूनता हो वहाँ-वहाँ राजदल रथ, अश्व, उष्ट्र आदिकों के द्वारा अन्न पहुंचाया करें॥४॥

पुनः राजकर्म कहते हैं॥

जुहुराणा चिदश्विना मन्येथां वृषण्वसू।
युवं हि रुद्रा पर्षथो अति द्विषः ॥५॥

पदार्थः—(वृषण्वसू) हे वर्षणशील धनयुक्त (अश्विना) हे राजा तथा मन्त्रिदल! (जुहुराणा चित्) कुटिल पुरुषों को (मन्येथाम्) विविध दूत द्वारा जानें और उनको सत्पथ में लावें (रुद्रा) भयंकर (युवम्) आप दोनों मिलकर (द्विषः) परस्पर द्वेषी और धर्म कर्म से परस्पर द्वेष रखनेवाले लोगों को (अति पर्षथः) दण्ड देवें॥५॥

भावार्थः—राष्ट्रकर्मचारियों को उचित है कि परस्पर द्वेष, हिंसा आदि अवगुण को दूर करें। और उपद्रवकारी जनों को यथाविधि दण्ड देकर सुमार्ग में लावें॥५॥

पुनः उसी वस्तु को कहते हैं॥

दस्रा हि विश्वमानुषङ्मक्षूभिः परिदीयथः।
धियञ्जिन्वा मधुवर्णा शुभस्पती ॥६॥

पदार्थः—इस ऋचा से भी अश्विद्वय के विशेषण कहते हैं। वे राजा और मन्त्रिदल (दस्रा) दर्शनीय और शत्रुओं के क्षय करने वाले हों (धियञ्जिन्वा) प्रजाओं की बुद्धियों और कर्मों को बढ़ावें। और (मधुवर्णा) उनके वर्ण मधुर और सुन्दर हों (शुभस्पती) समय-समय पर जलों के प्रबन्धकर्ता हों। वैसे मन्त्रिदलसहित राजा

(मक्षुभिः) शीघ्रगामी रथ और सेनाओं के सहित (विश्वम्) प्रजाओं की सकल वस्तुओं को (आनुषक्) सर्वदा (परिदीयथः) रक्षा करें (हि) निश्चयरूप से और इसीसे उनकी कीर्ति भी बढ़ती रहती है ॥६॥

भावार्थः—राज्य में जिन उपायों से बुद्धि, शुभकर्म, विद्या, धन और व्यवसाय आदिकों की वृद्धि हो वे अवश्य करवाये जायं ॥६॥

पुनः उसी को दिखलाते हैं ॥

उप नो यातमश्विना राया विश्वपुषा सह ।

मघवाना सुवीरावनपच्युता ॥७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजा तथा मन्त्रिदल ! (विश्वपुषा) सब को पोषण-करनेवाली (राया) धनसम्पत्तियों के साथ (नः) हम लोगों के (उपयातम्) निकट आवें अर्थात् हम प्रजाओं को अपने उद्योग और वाणिज्यादि द्वारा धनसम्पन्न बनावें क्योंकि आप (मघवाना) परमधनाढ्य हैं, (सुवीरौ) वीरपुरुषों से युक्त हैं और (अनपच्युतौ) पतनरहित हैं ॥७॥

भावार्थः जिस हेतु राष्ट्र के हितसाधन के लिए राजा के निकट सर्व साधन उपस्थित रहते हैं अतः राजदल को सदा प्रजा के अभ्युदय के लिये प्रयत्न करना उचित है ॥७॥

पुनः उसी को कहते हैं ॥

आ मे अस्य प्रतीव्य१मिन्द्रनासत्या गतम् ।

देवा देवेभिरद्य सचनस्तमा ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्रनासत्या) हे महापुरुषसमान असत्यरहित (देवा) हे दिव्यगुण-युक्त राजा तथा मन्त्रिदल ! आप दोनों (सचनस्तमा) अतिशय मिलने-मिलानेवाले हैं। वे आप (देवेभिः) अन्यान्य देवगणों के साथ (अद्य) आज (अस्य मे) इस मेरे उपासक के (प्रतीव्यम्) कर्मों की रक्षा करने के लिये (आगतम्) आवें ॥८॥

भावार्थः—अपने शुभ कर्म में अच्छे-अच्छे पुरुषों को बुलाकर सत्कार करें ॥८॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

वयं हि वां हवामह उक्षण्यन्तो व्यश्ववत् ।

सुमतिभिरुप विप्राविहा गतम् ॥९॥

पदार्थः—हे राजन् तथा मन्त्रिदल ! (उक्षण्यन्तः) धनस्वामी और रक्षक को अपने लिये चाहते हुए हम लोग (हि) निश्चित रूप से (व्यश्ववत्) जितेन्द्रिय ऋषि के समान (वाम् हवामहे) प्रत्येक शुभकर्म में आपको बुलाते हैं (विप्रौ) हे मेधावि राष्ट्रदल (सुमतिभिः) सुन्दर बुद्धियों और बुद्धिमान् पुरुषों के साथ (इह) इस यज्ञ में (उपागतम्) आकर विराजमान हूजिये ॥९॥

भावार्थः—प्रजागण राजदल के साथ प्रेम और विश्वास करें और राजदल प्रजाओं के हित में सदा लगे रहें ॥९॥

पुनः उसीको कहते हैं ॥

अश्विना स्वृषे स्तुहि कुवित्ते श्रवतो हवम् ।

नेदीयसः कूळयातः पणीँरुत ॥१०॥

पदार्थः—(ऋषे) हे ऋषे ! आप (अश्विना सु स्तुहि) राजा और मन्त्रिदल के गुणों को अच्छी प्रकार प्रकाशित कीजिये (ते) तेरी (कुवित् हवम्) प्रार्थना को अनेक वार (श्रवतः) सुनेंगे (उत) और (नेदीयसः पणीन्) समीपी कुटिलगामी पुरुषों को (कूलयातः) दण्ड देकर दूर करेंगे ॥१०॥

भावार्थः—कूळयातः—"कुडि दाहे" दाहार्थक कुण्ड धातु से बनता है। पणि=जिसका व्यवहार अच्छा नहीं। वाणिज्य आदि व्यवहार में कुटिल पुरुषों को दण्ड देना राज्य का काम है ॥१०॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

वैयश्वस्य श्रुतं नरोतो मे अस्य वेदथः ।

सजोषसा वरुणो मित्रो अर्यमा ॥११॥

पदार्थः—(नरा) हे लोकनेता ! राजा तथा मन्त्रिदल (उतो) और भी आप सब (वैयश्वस्य) जितेन्द्रिय ऋषियों के समान (अस्य मे) इस मेरे आह्वान को (श्रुतम्) सुनें और (वेदथः) जानें तथा (सजोषसा) मिलकर (वरुणः) राजप्रतिनिधि (मित्रः) ब्राह्मणप्रतिनिधि और (अर्यमा) वैश्यप्रतिनिधि—ये सब मिलकर मेरी सुनें ॥११॥

भावार्थः—प्रजागण अपनी इच्छा स्वतन्त्रता से सब प्रतिनिधियों के समक्ष सुनावें। प्रतिनिधिदल उस पर यथोचित कार्य्य करें ॥११॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

युवादत्तस्य धिष्ण्या युवानीतस्य सूरिभिः ।

अहरहर्वृषणा मह्यं शिक्षतम् ॥१२॥

पदार्थः—(वृष्ण्या) पूजार्ह (वृषणा) धनादिकों की वर्षा करने वाले आप सब (सूरिभिः युवादत्तस्य) विद्वानों को आपने जो धन दिये हैं (युवानीतस्य) और उनके लिये जो धन ले आये हैं उस धन से (मह्यम्) मुझको भी (अहरहः) सर्वदा (शिक्षतम्) धनयुक्त कीजिये ॥१२॥

भावार्थः—राज्य की ओर से जो धन विद्वद्वर्ग में वितीर्ण किये जायं वे इतर जातियों में भी बांटे जायं ॥१२॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

यो वां यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव ।

सपर्यन्ता शुभे चक्राते अश्विना ॥१३॥

पदार्थः—(अधिवस्त्रा) ऊपर से नीचे तक वस्त्र धारण करनेवाली (वधूः इव) कुलवधू के समान (यः वाम् यज्ञेभिः आवृतः) जो जन शुभकर्मरूप वस्त्रों से अपने को ढकते हैं उनकी कामनाओं को (सपर्यन्ता) पूर्ण करते हुए आप सब उनको (शुभे) शुभकर्म के ऊपर या मङ्गल के ऊपर (चक्राते) स्थापित करते हैं (अश्विना) हे मन्त्रिदलसहित राजन् ! आप सदा प्रजाओं का कल्याण कीजिये ॥१३॥

भावार्थः—राजसभा से प्रचालित नियमों को सब मानें और जो कोई उनके प्रचार में साहाय्य दान करें वे परितोषणीय हैं ॥१३॥

पुनः उसी की अनुवृत्ति आती है ॥

यो वामुरुव्यचस्तमं चिकेतति नृपाय्यम् ।

वर्तिरश्विना परि यातमस्मयू ॥१४॥

पदार्थः—(यः) जो भक्तजन (उरुव्यचस्तमम्) बहुविस्तृत और बहुयशस्कर (नृपाय्यम्) मनुष्यग्रहणयोग्य स्तोत्र को (वाम्) आप लोगों के लिए (चिकेतति) जानता है (अश्विना) हे अश्विद्वय (वर्तिः) उसके गृह को (अस्मयू) मनुष्यमात्र को चाहनेवाले आप (परियातम्) जाकर भूषित कीजिये ॥१४॥

भावार्थः—जो कवि और विद्वान् आदि काव्य और शास्त्र रचें वे राज्य की ओर से पूजनीय और पोषणीय हैं ॥१४॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

अस्मभ्यं सु वृषण्वसू यातं वर्तिर्नृपाय्यम् ।

विषुद्रुहेव यज्ञमूहथुर्गिरा ॥१५॥

पदार्थः—(वृषण्वसू) हे धनवर्षिता अश्विद्वय ! (अस्मभ्यम्) हमारे कल्याण के लिए आप सब (सुयातम्) अच्छे प्रकार आवें और (नृपाय्यम्) मनुष्यों के रक्षणीय और आश्रय (वर्तिः) जो मेरे गृह और यज्ञशाला हैं वहां आकर विराजमान होवें (विषुद्रुहा इव) जैसे वाण की सहायता से वीर रक्षा करते हैं वैसे ही (गिरा) स्तुतियों से प्रसन्न होकर (यज्ञम्) प्रजाओं के शुभकर्म की (ऊहथुः) रक्षा और भार उठावें ॥३५॥

भावार्थः—राजवर्ग को उचित है कि प्रजाओं के कल्याणार्थ सदा चेष्टा करें उनके साधनों में आलस्य न करें क्योंकि राजवर्ग प्रजाओं की रक्षा के लिए ही नियुक्त किये गए हैं ॥१५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा ।

युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥१६॥

पदार्थः—(नरा अश्विना) हे प्रजाओं के नेता अश्विद्वय ! (हवानाम्) आह्वानकर्ता और प्रार्थनाकारी हम लोगों का (स्तोमः) स्तोत्र अर्थात् यशःप्रसारक गानविशेष ही (दूतः) दूत होकर वा दूत के समान (वाम् हुवत्) आप दोनों को निमन्त्रण कर यहां ले आवे। जो स्तुतिगान (वाहिष्ठः) आपके यशों का इधर-उधर अतिशय ले जाने वाला है तथा वह स्तोम (युवाभ्याम भूतु) आप सब को प्रिय होवे ॥१६॥

भावार्थः—हमारे समस्त काम राज्यप्रियसाधक हों ॥१६॥

पुनः उसको कहते हैं ॥

यद्दो दिवो अर्णव इषो वा मदथो गृहे ।

श्रुतमिन्मे अमर्त्या ॥१७॥

पदार्थः—(अमर्त्या) हे चिरस्थायी यशोयुक्त पुरुषश्रेष्ठ राजा तथा मन्त्रिदल (यत्) यदि आप सब (अदः दिवः अर्णवे) उस विलाससागर में (मदथः) क्रीड़ा करते हों (वा इषः गृहे) यद्वा अन्न के गृह में आनन्द करते हों, उस-उस स्थान से आकर (मे श्रुतम् इत्) मेरी स्तुतियों को सुना ही करें। ॥१७॥

भावार्थः—राजा निज काम त्याग प्रजाओं के काम में सदा तत्पर रहें ॥१७॥

राजा कैसे हों यह दिखलाते हैं ॥

उत स्या श्वेतयावरी वाहिष्ठा वां नदीनाम् ।

सिन्धुर्हिरण्यवर्तनिः ॥१८॥

पदार्थः—(उत) और भी (नदीनाम्) इन्द्रियरूप नदियों के मध्य (स्या) श्वेतयावरी वह बुद्धि जो सात्विक भाव का प्रकाश करती है और जिस में किञ्चिन्मात्र कलंक नहीं है (वाम् वाहिष्ठा) आप के यशों को प्रजाओं में पहुँचाया करती है और (हिरण्यवर्तनिः सिन्धुः) शोभनमार्गगामी स्यन्दनशील विवेक भी तुम्हारा ही गुणगान करता है ॥१८॥

भावार्थः—गुणवान् शीलवान् राजा की प्रशंसा सब करें-करावें ॥१८॥

राजा कैसा हो यह इस से दिखलाते हैं ॥

स्मदेतया सुकीर्त्याश्विना श्वेतया धिया ।

वहेथे शुभ्रयावाना ॥१९॥

पदार्थः—(शुभ्रयावाना) जिनका गमन शुद्ध हिंसारहित और प्रजाओं में उपद्रव न मचानेवाला हो ऐसे (अश्विना) राजा और मन्त्रिदल (एतया सुकीर्त्या) इस सांसारिक सुकीर्ति से युक्त हों और (स्मद्) वे शोभन रीति से प्रजाओं के क्लेश की जिज्ञासा के लिए इधर-उधर यात्रा करें और (श्वेतया धिया) शुद्ध बुद्धि से प्रजाओं का भार (वहेथे) उठावें ॥१९॥

भावार्थः—जो शुभ कीर्तियों से युक्त हों, जिन की बुद्धि विमल हो और प्रजाओं के भारवहन में धुरन्धर हों, वे राजा हैं ॥१९॥

सेनानायक का कर्त्तव्य कहते हैं ॥

युक्ष्वा हि त्वं रथासहा युवस्व पोष्या वसो ।

आन्नो वायो मधु पिबास्माकं सवना गहि ॥२०॥

पदार्थः—(वायो) हे सेनानायक (त्वं हि रथासहा) आप रथयोग्य घोड़ों को रथ में (युक्ष्व) जोड़ो । (वसो) हे अपने पुरुषार्थ से सब को वास देनेहारे सेनापते ! (पोष्या) पोष पालकर शिक्षित किये हुए घोड़ों को (युवस्व) संग्राम में लगाओ (आत् नः मधु पिब) तब संग्रामों में विजयलाभ के पश्चात् हम लोगों के दिये हुए मधुर पदार्थ और सत्कार ग्रहण करें और (सवना आगहि) प्रत्येक शुभकर्म में आवें ॥२०॥

भावार्थः—जब सेनापति नानाविजय कर आवें तब उनका पूरा सत्कार हो और प्रत्येक शुभकर्म में वे बुलाये जायें ॥२०॥

उसके गुण प्रकट करते हैं ॥

तव॑ वायवृतस्पते त्वष्टु॑र्जामातरद्भुत ।

अवां॒स्या वृ॑णीमहे ॥२१॥

पदार्थः—(ऋतस्पते) ईश्वर के सत्यनियमों को पालने वाले (त्वष्टुः जामातः) सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्य्य के पैदा और निर्माण करनेवाले (अद्भुत) हे आश्चर्य कार्य्य-कारी सेनानायक (ते अवांसि आ वृणीमहे) हम सकलजन आपकी रक्षाओं के प्रार्थी हैं ॥२१॥

भावार्थः—ईश्वरीय और राजकीय दोनों नियमों को पालन करने-वाले तथा सूक्ष्म कार्यसाधक जो वीर महावीर हैं वे सेनानायक होने योग्य होते हैं ॥२१॥

उसका कर्त्तव्य दिखलाते हैं ॥

त्वष्टु॑र्जामा॑तरं॒ व॒यमीशा॑नं रा॒य ई॑महे ।

सु॒ताव॑न्तो वा॒युं द्यु॒म्ना जना॑सः ॥२२॥

पदार्थः—(सुतावन्तः) सदा शोभनकर्म में निरत (जनासः वयम्) हम सब जन (त्वष्टुः जामातरम् ईशानम्) सूक्ष्म कार्य्य के निर्माता और प्रजाओं पर शासक (वायुम् रायः ईमहे) सेनानायक से विविध अभ्युदयों की कामना करते हैं और (द्युम्ना) उनकी सहायता से धन, जन, सुयश और धर्म से युक्त होवें ॥२२॥

भावार्थः—जिन-जिन उपायों से देश समृद्ध हो, विद्वानों से और राज-सभा से सम्मति लेकर उनको सेनानायक कार्य्य में लावें ॥२२॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

वायो॑ या॒हि शि॒वा दि॒वो वह॑स्वा॒ सु स्वश्व्य॑म् ।

वह॑स्व म॒हः पृ॑थु॒पक्ष॑सा॒ रथे॑ ॥२३॥

पदार्थः—(शिव वायो) हे कल्याणकारी सेनानायक (दिवः याहि) क्रीड़ास्थान को त्याग करके भी प्रजा की ओर पहुँचें; (स्वश्व्यम् सुवहस्व) रथ में सुन्दर-सुन्दर घोड़े लगाकर प्रजा की सम्पत्ति की वृद्धि के लिये देश में भ्रमण करें। (पृथुपक्षसा) स्थूल पार्श्ववाले घोड़ों को (महः रथे) महान् रथ में (वहस्व) लगावें ॥२३॥

भावार्थः—सेनापति स्थायी सुदृढ़ रथों पर आरूढ़ होकर कल्याणार्थ देश में भ्रमण करें ॥२३॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

त्वां हि सुप्सरस्तमं नृषदनेषु हूमहे ।
ग्रावाणं नाश्वपृष्ठं मंहना ॥२४॥

पदार्थः—हे सेनानायक ! (नृसदनेषु) मनुष्यों की बड़ी-बड़ी सभाओं में (त्वां हि) आप को (हूमहे) निमन्त्रण देकर बुलाते हैं (सुप्सरस्तमम्) अपनी कीर्ति और यश से आपका शरीर अतिशय सुगन्धित और सुन्दर हो रहा है जो आप (ग्रावाणम् न) अपने कार्य्य में अचलवत् अचल हैं (अश्वपृष्ठम्) और जिसके सर्वाङ्ग सांग्रामिक घोड़े के समान वलिष्ठ और संगठित हैं ॥२४॥

भावार्थः—प्रत्येक शुभकर्म में राजवत् सेनानी भी आदरणीय हैं ॥२४॥

पुनः उसी को दिखलाते हैं ॥

स त्वं नो देव मनसा वायो मन्दानो अग्रियः ।
कृधि वाजाँ अपो धियः ॥२५॥

पदार्थः—(देव वायो) हे दिव्यगुणसम्पन्न नायक ! जिस हेतु आप (मन्दानः) आनन्दित होकर प्रजाओं को आनन्दित कर रहे हैं (अग्रियः) सेनाओं के अग्रगामी होते हैं इसलिये (स त्वम्) वह आप (मनसा) अपने मन से (नः) हम लोगों के (वाजान्) अन्नों को (अपः) क्षेत्र के लिये जलों को (धियः) और उत्साहों को (कृधि) बढ़ावें ॥२॥

भावार्थः—सेनानी अन्न, जल और प्रजोत्साह को भी विविध उपायों से बढ़ाया करें ॥२५॥

अष्टम मण्डल में यह छब्बीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वाविंशत्यृचस्य सप्तविंशतितमस्य सूक्तस्य मनुर्वैवस्वत ऋषिः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः १, ७, ९ निचृद्बृहती । ३ शङ्कुमती बृहती । ५, ११, १३ विराड् बृहती । १५ आर्ची बृहती । १८, १९, २१ बृहती । २, ८, १४, २० पंक्तिः । ४, ६, १६, २२ निचृत् पङ्क्तिः । १० पादनिचृत् पंक्तिः । १२ आर्ची स्वराट् पंक्तिः । १७ विराट् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १८, १९, २१ मध्यमः । २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १७, २०, २२ पञ्चमः ॥

यज्ञ में प्रयोजनीय वस्तुओं को दिखलाते हैं ॥

अ॒ग्निरु॒क्थे पु॒रोहि॑तो॒ ग्रावा॑णो ब॒र्हिर॑ध्व॒रे ।

ऋ॒चा या॑मि म॒रुतो॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ दे॒वाँ अवो॒ वरे॑ण्यम् ॥१॥

पदार्थः—(उक्थे) स्तुति के लिये (अग्निः) सर्वाधार ईश्वर (पुरोहितः) अग्रगण्य और प्रथम स्थापनीय है (अध्वरे) यज्ञ के लिये (ग्रावाणः) प्रस्तर के खंड भी स्तुत्य होते हैं। (बर्हिः) कुश आदि तृण का भी प्रयोजन होता है। इसलिये मैं (ऋचा) स्तोत्र द्वारा (मरुतः) वायु से (ब्रह्मणस्पतिम्) स्तोत्राचार्य्य से,(देवान्) और अन्यान्य विद्वानों से (वरेण्यम्) श्रेष्ठ (अवः) रक्षण की (यामि) याचना करता हूँ ॥१॥

भावार्थः—यज्ञ के लिये बहुत वस्तुओं की आवश्यकता होती है इसलिये सब सामग्रियों की योजना जिस समय हो सके उस समय यज्ञ करे ॥१॥

यज्ञसम्बन्धी वस्तुओं को अन्य प्रकार से दिखलाते हैं ॥

आ प॒शुं गा॑सि पृथि॒वीं वन॒स्पती॑नु॒षासा॒ नक्त॒मोष॑धीः ।

विश्वे॑ च नो वसवो विश्ववेदसो धी॒नां भू॑त प्रावि॒तारः॑ ॥२॥

पदार्थः—हे देवगणो ! हम उपासकगण (पशुम्) पशुओं (पृथिवीम्) पृथिवी (वनस्पतीन्) वनस्पतियों (उषासा) प्रातःकाल (नक्तम्) रात्रि (ओषधीः) गेहूँ, यव आदि ओषधियों के गुणों का (आगासि) गान और प्रकाश करते हैं। इसलिये (वसवः) हे सबको वास देनेवाले (विश्ववेदसः) हे सर्वधनज्ञानसम्पन्न ! (विश्वे) हे सर्व विद्वानो आप सब (नः) हमारी (धीनाम्) बुद्धियों और विचारों के (प्रावितारः) भूत) रक्षक और वर्धक होवें ॥२॥

भावार्थः—यज्ञ में दुग्ध और घृतादि के लिये पशुओं, मृत्तिका, प्रस्तर और ऊखल आदि का भी प्रयोजन होता है। इन सामग्रियों से सम्पन्न होने से यज्ञ सफल होता है ॥२॥

यज्ञ-विस्तार के लिये प्रार्थना करते हैं ॥

प्र सू न॑ ए॒त्वध्व॒रो॒३ऽग्ना दे॒वेषु॑ पू॒र्व्यः ।

आ॒दि॒त्येषु॒ प्र वरु॑णे धृ॒तव्र॑ते म॒रुत्सु॑ वि॒श्वभा॑नुषु ॥३॥

पदार्थः—हे भगवन् ! (नः) हमारे (पूर्व्यः अध्वरः) पूर्ण यज्ञ प्रथम (अग्ना) तुझ में तथा (देवेषु) अन्यान्य देवों में (सु) अच्छे प्रकार (प्रैतु) प्राप्त हो और

(आदित्येषु) आदित्यगणों में (धृतव्रते वरुणे) व्रतधारी वरुण में और (विश्वभानुषु मरुत्सु) विश्वव्यापी तेजोयुक्त वायुगणों में (प्रैतु) प्राप्त हो ॥३॥

भावार्थः—यज्ञ का फल इस पृथिवी से लेकर सूर्य्य पर्य्यन्त विस्तीर्ण हो यह इससे प्रार्थना है ॥३॥

गृह वा यज्ञशाला को शुद्ध बनाकर रखे, यह दिखलाते हैं ॥

विश्वे हि ष्मा मनवे विश्ववेदसो भुवन्वृधे रिशादसः ।

अरिष्टेभिः पायुभिर्विश्ववेदसो यन्ता नोऽवृकं छर्दिः ॥४॥

पदार्थः—(मनवे वृधे) मनुष्य जाति के कल्याण और वृद्धि के लिये (विश्ववेदसः) सर्वधन और विज्ञानसहित (विश्वे हि स्म) सब ही विद्वद्गण (भुवन्) होवें और (रिशादसः) उनके शत्रुओं और विघ्नों के नाश करनेवाले होवें और (विश्ववेदसः) हे सर्वधनविज्ञानसम्पन्न बुद्धिमान् मनुष्यो ! आप सब (अरिष्टेभिः पायुभिः) बाधारहित रक्षाओं से युक्त होकर (नः) हमारे (छर्दिः) निवासस्थान को (अवृकम् यन्त) पाप और बाधारहित कीजिये ॥४॥

भावार्थः—प्रत्येक पुरुष को उचित है कि वह अपने गृह को शुद्ध पवित्र बना रक्खे ॥४॥

यज्ञ में सबही पूजनीय हैं यह दिखलाते हैं ॥

आ नो अद्य समनसो गन्ता विश्वे सजोषसः ।

ऋचा गिरा मरुतो देव्यदिते सदने पस्त्ये महि ॥५॥

पदार्थः—(विश्वे) हे सर्व विद्वानो! (समनसः) आप सब एकमन होकर और (सजोषसः) समान कार्य्य के लिये सब कोई मिलकर (अद्य नः) आज हमारे साथ (आगन्त) आवें और कार्य्य में सहयोग देवें तथा (मरुतः) हे बन्धु बान्धवो तथा (महि देवि अदिते) माननीया देवी माताओ (गिरा) सुन्दर वचन (ऋचा) और स्तुति सहित होकर हमारे (सदने पस्त्ये) स्थानों और गृहों में बैठें ॥५॥

भावार्थः—जो छोटे, बड़े, मूर्ख, विद्वान्, राजा और प्रजा यज्ञ में श्रद्धा से आवें वे सबही सत्कार-योग्य हैं ॥५॥

पुनः वही विषय आ रहा है ॥

अभि प्रिया मरुतो या वो अश्व्या हव्या मित्र प्रयाथन ।

आ बर्हिरिन्द्रो वरुणस्तुरा नर आदित्यासः सदन्तु नः ॥६॥

पदार्थः—(मरुतः मित्र) हे बन्धुबान्धवो ! हे मित्रो ! (वः या प्रिया) आप लोगों के निकट जो-जो प्रिय वस्तु है (अश्व्या) अश्वयुक्त (हव्या) विविध खाद्य पदार्थ जो आपके हैं उनको (अभि) चारों तरफ (प्रयाथन) मनुष्यों में फैलाइये। और (इन्द्रः वरुणः) सेनानायक और राजप्रतिनिधि (आदित्यासः नरः) तेजोयुक्त अन्यान्य नेतागण सब कोई मिलकर और (तुराः) अपने-अपने कार्य्य में शीघ्रता करते हुए (नः) हम प्रजाओं के (बर्हिः आ सदन्तु) आसनों पर बैठें ॥६॥

भावार्थः—मरुत्, मित्र, वरुण और आदित्य आदि शब्द अधिलोकार्थ में बन्धु और मित्रादिवाचक हैं। शुभकर्म में इन सब का सत्कार होना चाहिये ॥६॥

पुनः वही विषय कहते है ॥

वयं वो वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आनुषक्।
सुतसोमासो वरुण हवामहे मनुष्वदिद्धाग्नयः ॥७॥

पदार्थः—(वरुण) हे राजप्रतिनिधे ! (वः) आप लोगों को (वयम्) हम सब (आनुषक्) सर्वदा और क्रम से (हवामहे) न्यायार्थ बुलाते हैं। जो हम (वृक्तबर्हिषः) आसनादि-सामग्रीसम्पन्न हैं (हितप्रयसः) जिनके अन्न हितकार्य्य में लगे रहते हैं (सुतसोमासः) सोमादि यज्ञ करनेवाले (मनुष्वत्) विज्ञानी पुरुष के समान (इद्धाग्नयः) और जो सदा अग्निहोत्रादि कर्म में लगे रहते हैं ॥७॥

भावार्थः—अपने निकट जो वस्तु हों उनसे अपना और पर का हित सिद्ध करे और समय-समय पर अच्छे पुरुषों को बुलाकर अपने गृह पर सत्कार करे ॥७॥

पुनः उसीको दिखलाते हैं ॥

आ प्र यात मरुतो विष्णो अश्विना पूषन्माकीनया धिया।
इन्द्र आ यातु प्रथमः सनिष्युभिर्वृषा यो वृत्रहा गृणे ॥८॥

पदार्थः (मरुतः) हे सैनिकजनो ! तथा हे बान्धवो ! (विष्णो) हे सभाध्यक्ष! (अश्विना) हे वैद्यगण! (पूषन्) हे मार्गरक्षक तथा पोषणकर्ता ! आप सब (माकीनया धिया) मेरी क्रिया और बुद्धि से प्रसन्न होकर (आ) चारों ओर से (प्रयात) आइये और (प्रथमः इन्द्रः) सर्वश्रेष्ठ सेनानायक (सनिष्युभिः) लाभेच्छु पुरुषों के साथ (आयातु) प्रजाओं की रक्षा के लिये हम लोगों के गृह पर आवें। (यः वृषा वृत्रहा)

जो इन्द्र सुखों की वर्षा करने वाला और सर्वविघ्नविनाशक है (गृणे) उन सब महाशयों से मेरी प्रार्थना है ॥८॥

भावार्थः—जो प्रजाहितचिन्तक हैं वे सब के सत्कारयोग्य हैं ॥८॥

इस ऋचा से प्रार्थना करते हैं ॥

वि नो॑ देवासो अद्रुहोऽच्छि॑द्रं॒ शर्म॑ यच्छत ।

न यद्दूराद्व॑सवो॒ नू चि॒दन्ति॑तो॒ वरू॑थमा॒ द॒धर्ष॑ति ॥९॥

पदार्थः—(अद्रुहः देवासः) हे द्रोहरहित देवगणो ! (नः) हम लोगों को (अच्छिद्रम् शर्म) बाधारहित कल्याण और गृह (वि यच्छत) अच्छे प्रकार दीजिये (यत् वरूथम्) जिस प्रशंसनीय गृह को (दूरात्) दूर से (अन्तितः) समीप से आकर कोई शत्रु (नू चित्) कदापि (न आ दधर्षति) नष्ट भ्रष्ट न करसके ॥९॥

भावार्थः—उत्तमोत्तम वासगृह, यज्ञशाला, धर्मशाला, पाठशाला आदि बनादें और उनसे यथायोग्य काम लेवें ॥९॥

प्राचीन और नवीन दोनों का ग्रहण करे यह उपदेश इससे देते हैं ॥

अस्ति॒ हि वः॑ सजा॒त्यं॑ रिशादसो॒ देवा॑सो॒ अस्त्याप्य॑म् ।

प्र णः॒ पूर्व॑स्मै सुवि॒ताय॑ वोचत म॒क्षू सु॒म्नाय॒ नव्य॑से ॥१०॥

पदार्थः—(रिशादसः) हे हमारे निखिल-विघ्नविनाशक (देवासः) विद्वानो ! हमारे साथ (वः) आप लोगों का (सजात्यम् अस्ति हि) समानजातित्व अवश्य है और (आप्यम् अस्ति) बन्धुत्व भी है। हे विद्वानो ! इस हेतु (नः) हम लोगों को (पूर्वस्मै) प्राचीन (सुविताय) परमैश्वर्य्य की ओर (प्र वोचत) आप ले चलें और (नव्यसे) अति नवीन (सुम्नाय) अभ्युदय की ओर भी (मक्षु) शीघ्र ले चलें ॥१०॥

भावार्थः—जो वस्तु प्राचीनकाल की अच्छी और लाभकारी हों उनकी रक्षा करना और जो नूतन-नूतन विषय प्रचलित हों उनको ग्रहण करना मनुष्यधर्म है ॥३०॥

अभीष्ट वस्तुओं के लाभ के लिये नवीन- नवीन प्रार्थना बनानी चाहिये यह उपदेश देते हैं ॥

इ॒दा हि व॒ उप॑स्तुतिमि॒दा वा॒मस्य॑ भ॒क्तये॑ ।

उप॑ वो विश्ववेदसो नम॒स्युराँ॒ असृ॑क्ष्यन्या॑मिव ॥११॥

पदार्थः—(विश्ववेदसः) हे सर्वधनसम्पन्न विद्वानो! (वः) आप लोगों के निकट (वामस्य भक्तये) अतिकमनीय वस्तु की प्राप्ति के लिये (नमस्युः) नमस्कारपूर्वक या अभीष्टकामी मैं उपासक (इदा हि) इस समय ही (वः) आप लोगों के लिए (अन्याम् इव) अन्यान्य अक्षयधारा नदी के समान (उपस्तुतिम्) इस मनोहर प्रार्थना को (उप आ असृक्षि) विधिपूर्वक रच रहा हूँ। कृपया इसे ग्रहण कर प्रसन्न हूजिये ॥११॥

भावार्थः—नवीन-नवीन स्तुति-रचना करने में अनेक लाभ हैं। प्रथम तो अपनी वाणी पवित्र होती है, वारंवार विचारने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, साहित्य की उन्नति और भावी सन्तान के लिए सुपथ बनता जाता है ॥११॥

सूर्य्य के समान अनलस हो—यह इससे शिक्षा देते हैं ॥

उदु ष्य वः सविता सुप्रणीतयोऽस्थादूर्ध्वो वरेण्यः।

नि द्विपादश्चतुष्पादो अर्थिनोऽविश्रन्पतयिष्णवः ॥१२॥

पदार्थः—(सुप्रणीतयः) हे शोभननीतिविशारद विद्वानो! (वः) आप लोगों के हित के लिए (उ) निश्चय (वरेण्यः) सर्वश्रेष्ठ (ऊर्ध्वः) और सर्वोपरि विराजमान (स्यः सविता) वह सूर्य्य (उद् अस्थात्) उदित होता है तब (द्विपादः) द्विचरण मनुष्य (चतुष्पादः) चतुश्चरण गौ महिषादि पशु और (पतयिष्णवः) उड्डयनशील पक्षी प्रभृति एवं अन्यान्य सब ही जीव (अर्थिनः) निज-निज प्रयोजन के अभिलाषी होकर (नि विश्रन्) अपने-अपने कार्य में लग पड़ते हैं। इसी प्रकार आपभी अपने कार्य्य के लिए सन्नद्ध हो जावें ॥१२॥

भावार्थः—जो जन प्रणीति=प्रणयन रचना में निपुण हैं वे भी सुप्रणीति कहाते हैं या जिनके लिये स्तुतिवचन अच्छे हैं वे सुप्रणीति विद्वद्वर्ग। प्रायः विद्वज्जन आलसी होते हैं। अतः उनको आलस्य-त्याग के लिये वह शिक्षा दी गई है ॥१२॥

प्रत्येक विद्वान् आदरणीय है इससे यह दिखलाते हैं ॥

देवन्देवं वोऽवसे देवन्देवमभिष्टये।

देवन्देवं हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया ॥१३॥

पदार्थः—हे विद्वानो! (देव्या) शुद्ध, पवित्र और देवसमान (धिया) मन, क्रिया और स्तुति से युक्त हो (गृणन्तः) स्तुति करते हुए हम (वः) आप लोगों में से प्रत्येक (देवं देवम्) विद्वान् को (अवसे) साहाय्य के लिये (हुवेम) निमन्त्रित करते हैं

(अभिष्टये) निज-निज अभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए (देवं देवम्) प्रत्येक विद्वान् का सत्कार करते हैं (सातये) एवं अन्यान्य विविध लाभों के लिए (देवं देवम्) प्रत्येक विद्वान् को पूजते हैं। अतः आप हमारे ऊपर कृपा करें॥१३॥

भावार्थः—विद्वानों का सत्कार करके गृहस्थ उत्तमोत्तम शिक्षा ग्रहण करें॥१३॥

इससे विद्वानों का उदारत्व दिखलाते हैं॥

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकं सरातयः।
ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः॥१४॥

पदार्थः—(मनवे) ईश्वरीय विभूतियों के मनन करने और जाननेवाले पुरुष के लिए (विश्वे देवासः) सब ही विद्वान् (समन्यवः हि स्म) समान रीति से प्रीति और सन्मान करते आये हैं और (साकम् सरातयः) साथ-साथ उसको धन, ज्ञान और उत्तमोत्तम शिक्षा भी देते आये हैं। (ते) वे विद्वद्वर्ग (अद्य) आज (अपरम्) और आगामी दिनों में अर्थात् सदा (नः) वर्तमानकालिक हमको (तु नः तुचे) और हमारे भावी सन्तान के लिए (वरिवोविदः भवन्तु) सब प्रकार के सुख पहुँचाने वाले होवें॥४१॥

भावार्थः—विद्वद्वर्ग कदापि आलस्य और घृणा न करके प्रजाओं में जा जाकर सद्विद्या का बीज बोया करें॥१४॥

यह प्रार्थना विद्वानों की गोष्ठी के लाभ के लिये है॥

प्र वः शंसाम्यद्रुहः संस्थ उपस्तुतीनाम्।
न तं धूर्तिर्वरुण मित्र मर्त्यं यो वो धामभ्योऽविधत्॥१५॥

पदार्थः—(अद्रुहः) हे द्रोहरहित हिंसाशून्य विद्वानो! मैं उपासक (उपस्तुतीनाम्) मनोहर स्तोत्रों के (संस्थे) स्थान में अर्थात् यज्ञादिस्थलों में (वः) तुम्हारी ही (प्रशंसामि) प्रशंसा करता हूं। (वरुण मित्र) हे वरणीय हे मित्र विद्वानो! (यः) जो मनुष्य (धामभ्यः) मन, वचन और काय से (वः विधत्) तुम्हारी सेवा करता है (तम् मर्त्यम्) उस मनुष्य को (धूर्तिः) शत्रुओं की ओर से वध (न) प्राप्त नहीं होता है॥१५॥

भावार्थः—निश्छल निष्कपट हो प्रेम से विद्वानों की सेवा करो और उनसे उत्तमोत्तम शिक्षा ग्रहण करो॥१५॥

विद्वानों की सेवा का माहात्म्य दिखलाते हैं ॥

प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति ।
प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते ॥१६॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! (यः) जो मनुष्य (वराय) निज-निज कल्याण के लिए (वः) आप लोगों के निकट (दाशति) सब कुछ अच्छे भाव से समर्पित करता है (सः) वह (क्षयम् प्रतिरते) अपने गृह को दृढ़ और मनोहर बनाकर बढ़ाता है। पुनः वह (इषः महीः) सम्पत्तियों का बहुत (वि तिरते) विशेष रूप से संचय करता जाता है और (धर्मणः परि) धर्म के अनुसार (प्रजाभिः प्रजायते) पुत्र-पौत्रादिकों के साथ जगत् में विख्यात होता है। बहुत क्या कहें (सर्वः) विद्वानों के सबही सेवक (अरिष्टः) अहिंसित, उपद्रवरहित और आह्लादित हो (एधते) समाज में उन्नति की ओर बढ़ते जाते हैं ॥१६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! विद्वानों की सेवा करो, विद्या से ही तुम्हारी सब प्रकार की उन्नति होगी ॥१६॥

विद्वानों की रक्षा का माहात्म्य दिखलाते हैं ॥

ऋते स विन्दते युधः सुगेभिर्यात्यध्वनः ।
अर्यमा मित्रो वरुणः सरातयो यं त्रायन्ते सजोषसः ॥१७॥

पदार्थः—(यम्) जिस पुरुष के प्रति (अर्य्यमा) वैश्यप्रतिनिधि (मित्रः) ब्राह्मणप्रतिनिधि (वरुणः) राजप्रतिनिधि ये तीनों मिलकर (सरातयः) समानरूप से दान देते हैं और (सजोषसः) जिसके ऊपर समान प्रीति करते हैं या जिनके गृह पर मिलते रहते है (सः) वह पुरुष (युधः ऋते) मानसिक और लौकिक युद्ध के विना ही (विन्दते) नाना सम्पत्तियों का सञ्चय करता है और (सुगेभिः) अपने समाज में उत्तम धर्म, उत्तम शिक्षा, नम्रता, वाणी की मधुरता और सौजन्य आदि जो अच्छे गमन हैं उनके साथ (अध्वनः याति) पैतृक मार्ग पर चलता है अथवा (सुगेभिः अध्वनः याति) हय, गज आदि सुन्दर यानों से मार्ग चलता है ॥१७॥

भावार्थः—प्रत्येक नरसमाज और देश के विचारशील पुरुषों के साथ सत्संग करे और उनकी सम्मति लेकर अपने आचरण बनावे। तब ही उसकी महती समृद्धि होती है ॥१७॥

मननकर्ता जन सदा रक्षणीय हैं यह इससे दिखलाते हैं ॥

अज्रे चिदस्मै कृणुथा न्यञ्चनं दुर्गे चिदा सुसरणम् ।
एषा चिदस्मादशनिः परो नु सास्रेधन्ती वि नश्यतु ॥१८॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! आप सब मिलकर (अस्मै) जो सदा ईश्वरीय विभूतियों के मनन में लगा हुआ है उस इस विज्ञानी के लिये (अज्रे चित्) सरल मार्ग को भी (न्यञ्चनम् कृणुथ) अति सुगम बनावें अथवा (अज्रे चित्) जिस नगर में कोई नहीं जा सकता वहां भी इसके गमन का मार्ग बनावें । (दुर्गे चित्) अरण्य समुद्र आदि जो दुर्गमनीय स्थान हैं और राजकीय प्राकार आदि जो अगम्य स्थान हैं वहां भी (सुसरणम्) इसका सुगमन (आ) अच्छे प्रकार करावें । (एषा अशनिः चित्) यह ईश्वरीय वज्रादिक आयुध भी (अस्मात्) इस जन से (परः) दूर जाकर गिरे (नु) और पश्चात् (सा अस्रेधन्ती) वह किसी की हिंसा न करती हुई अशनि [वज्र आदि] (विनश्यतु) विनष्ट हो जाय ॥१८॥

भावार्थः—विद्वानों से भी मननकर्ता पुरुष अधिक माननीय हैं उनको सर्व बाधाओं से बचाना सब का कर्तव्य है क्योंकि वे नूतन-नूतन विद्या प्रकाशित कर लोगों का महोपकार करते हैं ॥१८॥

उपकार के लिए कालनियम नहीं इससे यह दिखलाते हैं ॥

यदद्य सूर्य उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध ।
यन्निम्रुचि प्रबुधि विश्ववेदसो यद्वा मध्यन्दिने दिवः ॥१९॥

पदार्थः—(प्रियक्षत्राः) हे प्रियबल, हे कृपालु (विश्ववेदसः) हे सर्वधन विद्वानो ! (अद्य) इस क्षण (यद्) यद्वा (सूर्ये उद्यति) सूर्य के उदय होने पर प्रातःकाल (यद्) यद्वा (निम्रुचि) सूर्य्यास्तवेला में (प्रबुधि) प्रबोधकाल या अति प्रातःसमय (दिवः) यद्वा दिन के (मध्यन्दिने) मध्यसमय में अर्थात् किसी समय में आप प्रजाओं में (ऋतम् दध) सत्यता की स्थापना कीजिये ॥१९॥

भावार्थः—शक्ति या बल वही है जिससे प्रजा के उत्तम लाभदायी कार्य हों । धन भी वही है जिस से सर्वोपकार हो । बहुत लोग किसी विशेष स्थान में, विशेष पात्र में और नियत तिथि में ही दानादि उपकार करना चाहते हैं, परन्तु वेद भगवान् कहते हैं कि उपकार का कोई समय नियत नहीं ॥१९॥

यह प्रार्थना विद्वानों की गोष्ठी के लाभ के लिए है ॥

यद्वाभिपित्वे असुरा ऋतं यते छर्दिर्येम वि दाशुषे ।
वयं तद्वो वसवो विश्ववेदस उप स्थेयाम मध्य आ ॥२०॥

पदार्थः—(यद्वा) अथवा (असुराः) हे महाबलप्रद सर्वप्रतिनिधियो ! जब आप (अभिपित्वे) सायंकाल अथवा अन्य समयों में अथवा किसी समय में (ऋतम् यते) सत्यनियम, सत्यव्रत, सत्यबोध आदिकों को प्राप्त और (दाशुषे) यथाशक्ति दानदाता के लिए (छर्दिः) गृह, दारा, पुत्र और बहुविध पदार्थ (वि येम) देते हैं (वसवः) हे सबको वास देने वाले (विश्ववेदसः) हे सर्वधनसम्पन्न विद्वानो ! (तद्) तब (वयम्) हम चाहते हैं कि (वः मध्ये) आप लोगों के मध्य (आ) सब प्रकार से (उपस्थेयाम) उपस्थित होवें । क्योंकि आपके संग-संग हम भी उदार होवें ॥२०॥

भावार्थः—विद्वानों के साथ-साथ रहने से बहुविध लाभ हैं । आत्मा पवित्र होता, उदारता आती, बहुज्ञता बढ़ती और परोपकार करने से जन्म-ग्रहण की सफलता होती है ॥२०॥

विद्वानों की उदारता दिखलाते हैं ॥

यदद्य सूर उदिते यन्मध्यन्दिन आतुचि ।
वामं धत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाय प्रचेतसे ॥२१॥

पदार्थः—(विश्ववेदसः) हे सर्वधन हे सर्वज्ञान विद्वानो ! (यद्) जिस कारण (अद्य) इस क्षण(सूरे उदिते) सूर्य्योदय काल में(यद्) जिस कारण (मध्यन्दिने)मध्याह्न (आतुचि) और सायंकाल अर्थात् प्रतिक्षण आप (जुह्वानाय) कर्मनिरत (प्रचेतसे) ज्ञानी और विवेकी (मनवे) पुरुष को (वामम् धत्थ) अच्छे-अच्छे पदार्थ धन और लौकिक सुख देते हैं अतः आपकी गोष्ठी हम चाहते हैं. जिससे हम भी उदार होवें ॥२१॥

भावार्थः—दानपात्र अनुग्राह्य और उत्थाप्य वे पुरुष हैं जो जुह्वान और प्रचेता हों । ईश्वरीयेच्छा के अनुकूल शुभकर्मों में जिनकी प्रवृत्ति हो । वे जुह्वान और तदीय विभूतियों के अध्ययन और ज्ञान में निपुण जन प्रचेता हैं ॥२१॥

विद्वानों के निकट विनयवचन बोले ॥

वयं तद्वः सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम् ।
अश्याम तदादित्या जुह्वतो हविर्येन वस्योऽनशामहै ॥२२॥

पदार्थः—(सम्राजः) हे सब के ऊपर धर्मपूर्वक शासन करने वाले हे महाधिपति विद्वानो ! (तत्) जिस हेतु आप परमोदार हैं उस हेतु (वयम् वः आवृणीमहे) क्या हम भी आपके निकट मांग सकते हैं ? (पुत्रः न बहुपाय्यम्) जैसे पुत्र अपने पिता के निकट बहुत से भोज्य, पेय, लेह्य, चोष्य और परिधेय वस्तु मांगा करता है (आदित्याः) हे अखण्डव्रत हे सत्यप्रकाशको ! (हविः जुह्वतः) शुभकर्म करते हुए हम (तत् अश्याम) क्या उस धन को पा सकते हैं (येन) जिससे (वस्यः) धनिकत्व को (अनशामहै) प्राप्त करें अर्थात् हम भी इस संसार में धनसम्पन्न होवें ॥१२॥

भावार्थः—प्रथम हम ऐहलौकिक और पारलौकिक कर्मों में परमनिपुण होवें, पूर्ण योग्यता प्राप्त करें तब ही हम पुरस्कार के भी अधिकारी होवेंगे। विद्वानों के निकट सदा नम्र होकर विद्याग्रहण करें ॥२२॥

अष्टम मण्डल में यह सताईसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पंचर्चस्याष्टाविंशतितमस्य सूक्तस्य—मनुर्वैवस्वत ऋषिः ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, २ गायत्री । ३, ५ विराड्गायत्री । ४ विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—१–३, ५ षड्जः । ४ ऋषभः ॥

अब इन्द्रियसंयम का उपदेश देते हैं ॥

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन् ।
विदन्नह द्वितासनन् ॥१॥

पदार्थः—(त्रिंशति) तीस और उन से (परः) अधिक (त्रयः) तीन अर्थात् तेतीस (ये देवासः) जो देव हैं वे (बर्हिः) मेरे विस्तीर्ण अन्तःकरणरूप आसन पर (आसदन्) बैठें। चञ्चल चपल होकर इधर-उधर न भागें। यहां स्थित होकर (अह) निश्चित रूप से (विदन्) परमात्मा को प्राप्त करें और (द्विता) दो प्रकार के जो कर्मदेव और ज्ञानदेव हैं वे दोनों (असनन्) अपने-अपने समीप से दुर्व्यसन को फेंकें ॥१॥

भावार्थः—३३ देव कौन हैं—इस पर बहुत विवाद है। वेदों में ३३ तेतीस देव कहीं गिनाए हुए नहीं हैं। किन्तु वेदों में नियत संख्या का वर्णन आता है। अतः ये तेतीस देव इन्द्रिय हैं। हस्त, पाद, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय, और मुख ये पांच कर्मेन्द्रिय और नयन, कर्ण, घ्राण, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। और मन एकादश इन्द्रिय कहलाते हैं। ये उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार के इन्द्रिय ही ३३ तेतीस प्रकार के देव हैं

इनको अपने वश में रखने और उचित काम में लगाने से ही मनुष्य योगी, ऋषि, मुनि, कवि और विद्वान् होता है । अतः वेद भगवान् इनके सम्बन्ध में उपदेश देते हैं ॥१॥

इन्द्रिय-स्वभाव दिखलाते हैं ॥

वरुणो मित्रो अर्यमा स्मद्रातिषाचो अग्नयः ।

पत्नीवन्तो वषट्कृताः ॥२॥

पदार्थः—(वरुणः) पाशभृत् और न्याय से दण्डविधाता मानवप्रतिनिधि सम्राट् (मित्रः) सब से स्नेहकारी ब्राह्मणदल (अर्य्यमा) वैश्यवर्ग और (स्मद्रातिषाचः) शोभन विविध दानों से पोषक जो (अग्नयः) व्यापारपरायण इतरजन वे सब (पत्नीवन्तः) अपनी-अपनी पत्नी के साथ मुझसे (वषट्कृताः) वषट् शब्द द्वारा संमानित हुए हैं । वे सम्प्रति मुझ पर प्रसन्न होवें, यह प्रार्थना है ॥२॥

भावार्थः—इससे भगवान् यह शिक्षा देते हैं कि जगत् के उपकार करने वाले सबको आदरदृष्टि से देखो और यथायोग्य उनकी पूजा-शुश्रूषा करो । यद्वा—प्रथम और अन्तिम ऋचा से विस्पष्टतया विदित होता है कि यह सब वर्णन इन्द्रियों का ही है अतः यहां भी वरुण आदिकों का तत्परक ही अर्थ करना उचित है (मित्र) हितकारी इन्द्रिय (वरुण) वशीकृतेन्द्रिय (अर्य्यमा) गमनशीलेन्द्रिय और (अग्नयः) अग्नि-समान प्रचण्ड या उपकारी इन्द्रिय (पत्नीवान्) अपनी-अपनी शक्तिसहित जगत् के उपकारी होवें इत्यादि ॥२॥

वही प्रसंग आ रहा है ॥

ते नो गोपा अपाच्यास्त उदक्त इत्था न्यक् ।

पुरस्तात्सर्वया विशा ॥३॥

पदार्थः—(ते) वे वरुण=क्षत्र, मित्र=ब्रह्म, अर्य्यमा=वैश्य (सर्वया विशा) सर्व प्रजाओं के साथ (अपाच्याः) पश्चिम दिशा से (नः) हमारे रक्षक होवें (ते) वे ही (उदक्तः) उत्तर दिशा से हमारे रक्षक होवें । (इत्था) इस प्रकार दक्षिण दिशा से ऊर्ध्व दिशा से, भी हमें पालें । पुनः । (न्यक्) नीची दिशा से और (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से हमारे पालक होवें ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यदेव जो ब्राह्मणादिक हैं वे सदा सब ओर हमारी रक्षा करें, अथवा वे इन्द्रियगण हमारी रक्षा करें यह भाव ग्रहण करना चाहिये ॥३॥

कर्तव्य कहते हैं ॥

यथा वशन्ति देवास्तथेदसत्तदेषां नकिरा मिनत् ।

अरावा चन मर्त्यः ॥४॥

पदार्थः—(देवाः) सत्यसंकल्प, सत्यासक्त, परोपकारी, सर्वथा स्वार्थविरहित विद्वान् जन (यथा वशन्ति) जैसा चाहते हैं (तथा इत्) वैसाही (असत्) होता है क्योंकि (एषाम्) इन विद्वद्देवों की (तत्) उस कामना को (नकिः) कोई नहीं (मिनत्) हिंसित=निवारित कर सकता। परन्तु इतर मनुष्य वैसा नहीं होता क्योंकि वह (अरावा) अदाता होता है वह मूर्ख न देता, न होमता, न तपता, न कोई शुभकर्म ही करता है अतःएव वह (मर्त्यः) इतरजन मर्त्य है अर्थात् अविनाशी यश का वह उपार्जन नहीं करता इससे वह मर्त्य=मरणधर्मा है और असत्यसंकल्प है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य शुभकर्मों को करके देव बने ॥४॥

भावार्थः—जो अपने पीछे यश, कीर्ति और कोई चिरस्थायी वस्तु को छोड़ने वाला नहीं है वही मर्त्य है क्योंकि उसका कोई स्मारक नहीं रहता। जिनके स्मारक कुछ रह जाते हैं वे ही देव हैं अतः देव बनने के लिए सब प्रयत्न करें ॥४॥

इन्द्रिय-स्वभाव दिखलाते हैं ॥

सप्तानां सप्त ऋष्टयः सप्त द्युम्नान्येषाम् ।

सप्तो अधि श्रियो धिरे ॥५॥

पदार्थः—मानव शरीर में (सप्तानाम्) दो कर्ण, दो नयन, दो घ्राण और एक जिह्वा ये जो सात इन्द्रिय हैं, उनके (सप्त ऋष्टयः) सात आयुध हैं, दो-दो प्रकार के श्रवण और दर्शन, सूंघना और एक भाषण ये सातों महास्त्र हैं (एषाम्) इन कर्णादि देवों के (सप्त द्युम्नानि) ये ही श्रवण आदि शक्तियां अलङ्कार हैं (सप्तो) ये सातों (श्रियः) विशेष शोभाओं को (अधि धिरे) रखते हैं ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा ने मानवजाति में सर्व वस्तुओं के संग्राहक सप्त इन्द्रिय स्थापित किये हैं। उन से विद्वान् अनेकानेक अद्भुत वस्तु संग्रह करते हैं। किन्तु मूर्खगण इन्हीं को पापों में लगाकर विनष्ट कर दीन-हीन सदा रहते हैं, उनको शुभकर्म में लगाकर हे मनुष्यो ! सुधारो ॥५॥

अष्टम मण्डल में यह अठाईसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्यैकोनत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य मनुर्वैवस्वतः कश्यपो वा मारीच ऋषिः॥ विश्वेदेवा देवताः॥ छन्दः—१, २ आर्चीगायत्री। ३, ४, १० आर्चीस्वराड् गायत्री ५ विराड्गायत्री। ६–९आर्ची भुरिग्गायत्री॥ षड्जः स्वरः॥

मनोरूप देव का वर्णन करते हैं॥

बभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवाञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम्॥१॥

पदार्थः—(बभ्रुः) सर्वेन्द्रियधारक और पोषक (विषुणः) इतस्ततः गमनशील (सूनरः) इन्द्रियों का सुनेता तथा (युवा) सब में योग देनेवाला (एकः) एक मनोरूप देव (हिरण्ययम्) सुवर्णमय (अञ्जि) भूषण (अङ्क्ते) दिखला रहा है॥१॥

भावार्थः—वस्तुतः मनोरूप इन्द्रिय इस शरीर में एक अद्भुत भूषण है। इसको जो जानता है और अच्छे काम में इसको लगाता है वही मनुष्य जाति में भूषण बनता है॥१॥

चक्षुदेव को दिखलाते हैं॥

योनिमेक आ ससाद द्योतनोऽन्तर्देवेषु मेधिरः॥२॥

पदार्थः—(देवेषु) इन्द्रियों के (अन्तः) मध्य (द्योतनः) स्वतेज से प्रकाशमान और (मेधिरः) बुद्धिप्रद (एकः) एक नयनरूप देव (योनिम्) प्रधानस्थान (आससाद) पाए हुए है॥२॥

भावार्थः—शरीर में नयन देव का प्रधान आसन है। प्रथम मनुष्य की बुद्धि इससे बढ़ती है क्योंकि इससे देख-देख कर शिशु में जिज्ञासा शक्ति बढ़ती जाती है॥२॥

कर्णदेव का गुण दिखलाते हैं॥

वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः॥३॥

पदार्थः—(देवेषु अन्तः) देवों के मध्य (निध्रुविः) निश्चलस्याननिवासी (एकः) एक कर्णरूप देव (हस्ते) हाथ में (आयसीम्) लोहनिर्मित (वाशीम्) वसूला (बिभर्ति) रखता है॥३॥

भावार्थः—प्रथम कर्णदेव सब सुनकर और निश्चय कर मनों द्वारा आत्मा से कहता है, तब यह काट छाँट करता है, अतः यहाँ वाशी का वर्णन है॥३॥

आत्मदेव को दिखलाते हैं॥

वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते॥४॥

पदार्थः—(एकः) एक आत्मदेव (हस्ते आहितम्) हस्त में निहित=स्थापित (वज्रम्) विवेकरूप महान् आयुध (बिर्भात) रखता है (तेन) उस वज्र से (वृत्राणि) निखिल विघ्नों को (जिघ्नते) हनन करता रहता है ॥४॥

भावार्थः—केवल विद्या से वा ज्ञान से वा कर्म्मकलाप से यह जीव निषिद्ध कर्म्मों से निवृत्त नहीं होता किन्तु निवृत्ति के लिए वस्तुतत्त्व का पूर्णज्ञान और बलवती इच्छाशक्ति होनी चाहिये, यही दोनों आत्मा के महास्त्र हैं, इनका ही यत्न से उपार्जन करें ॥४॥

मुखदेव का गुण दिखलाते हैं ॥

ति॒ग्ममेको॑ बिभर्ति॒ हस्त॒ आयु॑धं॒ शुचि॑रु॒ग्रो जला॑षभेषजः ॥५॥

पदार्थः—(शुचिः) स्वतेज से दीप्यमान (उग्रः) तीव्र (जलाषभेषजः) सुखकारी भैषज्यधारी (एकः) मुखदेव (हस्ते) हाथ में (तिग्मम्) तीक्ष्ण (आयुधम्) आयुध (बिर्भात) रखता है ॥५॥

भावार्थः—मुख में जो अन्नों के पीसनेवाले दन्त हैं वे महोपकारी अस्त्र हैं ॥५॥

हस्तदेव का गुण दिखलाते हैं ॥

प॒थ एकः॑ पीपाय॒ तस्क॑रो यथाँ॑ ए॒ष वे॑द नि॒धीना॑म् ॥६॥

पदार्थः—(एकः)एक हस्तरूप देव (पथः) इन्द्रियों के मार्गों की (पीपाय) रक्षा करते हैं (एषः) यह देव (निधीनाम्) निहित धनों को (वेद) जानता है। हस्त सर्व इन्द्रियों की रक्षा करता है। यह तो प्रत्यक्ष ही है और जब किसी अङ्ग में कुछ भी शुभ वा अशुभ होता है तब शीघ्र ही हस्त जान लेता है, जानकर शीघ्र वहां दौड़ जाता है। यहां दृष्टान्त कहते हैं (तस्करः यथा) जैसे चोर धनहरणार्थ पथिकों के मार्ग की रक्षा करता है और गृह में निहित धनों को जान वहां से चोरी कर अपने बान्धवों को देता है। तद्वत् ॥६॥

भावार्थः—प्रत्येक कर्मेन्द्रिय का गुण अध्येतव्य है हाथ से हम उपासक क्या-क्या काम ले सकते हैं। इसमें कितनी शक्ति है और इसको कैसे उपकार में लगावें, इत्यादि विचार करें ॥६॥

चरणदेव का गुण दिखलाते हैं ॥

त्रीण्येक॑ उरुगा॒यो वि च॑क्रमे॒ यत्र॑ दे॒वासो॒ मद॑न्ति ॥७॥

पदार्थः—(उरुगायः) सबका आधार होने से विस्तीर्णकीर्ति (एकः) एक चरण-देव (त्रीणि) सूर्य्यवत् तीनों स्थानों में (वि चक्रमे) चलता है। (यत्र) जिस गमन से (देवासः) इतर इन्द्रियदेव (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं। जब चरण चलता है तब सुख-लाभ के कारण इन्द्रिय प्रसन्न होते हैं। यदि भ्रमण न हो तो सर्व इन्द्रियदेव रुग्ण हो जायें ॥७॥

भावार्थः—इससे यह शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को आलस्य करना उचित नहीं। चरण से चलकर अपना और अन्यों का उपकार सदा करे ॥७॥

मन और अहंकार दिखलाते हैं ॥

विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः ॥८॥

पदार्थः—(द्वा) दो देव मन और अहङ्कार (विभिः) वासनाओं के साथ (चरतः) चलते हैं और (एकया) एक बुद्धि के (सह) साथ (प्र वसतः) प्रवास करते हैं। यहां दृष्टान्त देते हैं (प्रवासा इव) जैसे दो प्रवासी सदा मिलकर चलते हैं तद्वत्। मन और अहङ्कार बुद्धिरूप पत्नी के साथ सदा चलायमान रहते हैं ॥८॥

भावार्थः—मन और अहंकार ये दोनों जीवों को अपथ में लेजानेवाले हैं। अतः इनको अपने वश में करके उत्तमोत्तम कार्य सिद्ध करें ॥८॥

मुख और रसना का वर्णन करते हैं ॥

सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि सम्राजा सर्पिरासुती ॥९॥

पदार्थः—इस ऋचा से मुख और मुखस्थ रसना का वर्णन है। (उपमा) उपम=उपमास्वरूप क्योंकि मुख की उपमा अधिक दी जाती है। अथवा जिनसे सब जाना जाय वे उपमा, मुख से ही सब परिचित होते हैं। पुनः (सम्राजा) सम्यक् प्रकाशमान पुनः (सर्पिरासुती) घृत आदि खाद्य पदार्थों के आस्वादक जो (द्वा) दो मुख और रसना वे हैं (दिवि) प्रकाशमान स्थान में (सदः) स्वनिवासस्थान (चक्राते) बनाते हैं ॥९॥

भावार्थः—अपने-अपने प्रत्येक इन्द्रिय के गुण, आकार और स्थिति जाने ॥९॥

अन्त में ईश ही पूज्य है यह दिखलाते हैं ॥

अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन् ॥१०॥

पदार्थः—(एके) परमविख्यात सर्व प्राण (अर्चन्तः) परमात्मदेव की अर्चना करते हुए (महि) बृहत् (साम) गेय वस्तु को (मन्वत) गाते हैं (तेन) उस सामगान

से (सूर्यम्) सूर्य-समान प्रकाशक विवेक को प्रकाशित करते हैं सब मनुष्य ईश की ही अर्चना, पूजा, स्तुति, प्रार्थना इत्यादि करें यह शिक्षा इससे देते हैं ॥१०॥

भावार्थः—जैसे योगी, यति और विद्वानों के प्राण ईश्वर में लगे रहते हैं। इतरजन भी यथाशक्ति अपने इन्द्रियों को परोपकार में लगावें ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह उनतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्ऋचस्य त्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—४ मनुर्वैवस्वत ऋषिः ॥ विश्वेदेवा देवता: । छन्दः—१ निचृद्गायत्री । २ पुर उष्णिक् । ३ विराड्बृहती । ४ निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—१ षड्जः । २ ऋषभः । ३ मध्यमः । ४ गान्धारः ॥

नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः ।
विश्वे सतो महान्त इत् ॥१॥

पदार्थः—(देवासः वः) दिव्यगुणी पदार्थों में से (न हि अर्भकः अस्ति) न कोई शिशु, अल्पवयस्क है; (न कुमारः) और न कोई किशोर है। देवताओं में किसी प्रकार का न उम्र का अन्तर है और न कोई सामर्थ्य में परस्पर न्यूनाधिक है। (विश्वे इत्) सभी देवता (महान्तः सतः) महान्, महदाशय हैं; उन सबका महत्त्व मानो समान ही है ॥१॥

भावार्थः—वक्ष्यमाण तेतीस देवता अपने-अपने स्थान पर सब महान् हैं ॥१॥

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ॥२॥

पदार्थः—(ये त्रयः च त्रिंशत् च) जो ये तीन और तीस अर्थात् तेतीस देवता हैं, वे (इति स्तुतासः) 'सब महान् ही हैं' इस प्रकार वर्णित होकर (रिशादसः असथा) मानव के दोषों और उनके शत्रुओं के विध्वंस में सहायक हैं। क्योंकि वे (मनोः देवाः) मननशील धार्मिक मनुष्य के सब प्रकार के लौकिक एवं अलौकिक व्यवहारों के सिद्धि के कारण और (यज्ञियासः) संगति के योग्य हैं ॥२॥

भावार्थः—इसी मण्डल के २८ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा है—"ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्"; शतपथ के १४वें काण्ड में इनकी गणना इस प्रकार की है—'अष्टौ वसव, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत् (३१); इन्द्रश्चैव, प्रजापतिश्च-त्रयस्त्रिंशत् ॥ इत्यादि ॥२॥

ते नंस्त्राध्वं तेऽवत त उं नो अधिं वोचत ।

मा नंः पथः पित्र्यान्मानवादधिं दूरं नैष्ट परावतंः ॥३॥

पदार्थः—(ते नः त्राध्वं) वे देवता अपने सामर्थ्य का दान कर हमें पालें; हानि से बचायें; (ते अवत) हमें तृप्त एवं आनन्दित करें तथा अन्य अनेक कार्यों में हमारे सहायक हों; [अव् धातु अनेकार्थक है] । (उ) तथा (ते नः अधि वोचत) वे हमें अपने उदाहरण तथा वाणी से उपदेश दें । हमको (नः) हमारे (पित्र्यात्) माता-पिता-गुरु आदि गुरुजनों की सेवा तथा (मानवात्) मनुष्योचित (पथः) मार्ग से, जीवनचर्या पद्धति से (अधिदूरं) बहुत अधिक दूर (नैष्ट) जाने देना न चाहें ॥३॥

भावार्थः—तैंतीस वर्णित देवताओं के महत्त्व को अन्तःकरण में बिठाये हुआ मनुष्य, मानवोचित जीवन-पद्धति पर चलता है ॥३॥

ये देंवास इह स्थन विश्वें वैश्वानरा उत ।

अस्मभ्यं शर्मं सप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत ॥४॥

पदार्थः—(ये देवासः) देवता जो (इह स्थन) यहां मूर्तरूप में प्रत्यक्ष हैं, (उत) अथवा (वैश्वानराः) सब मनुष्यों में सत्यधर्म और सत्य विद्या के प्रकाशक रूप में विद्यमान हैं, (विश्वे) वे सब (अस्मभ्यं) हमारे लिये (गवे) ज्ञानशक्ति के लिये (अश्वाय) हमारी कर्मशक्ति के लिये (सप्रथः) चारों ओर से विस्तृत (शर्म) सुख (यच्छत) प्रदान करें ॥४॥

भावार्थः—मूर्त एवं अमूर्त सभी देव मानव के लिये सुखदायी हैं ॥४॥

अष्टम मण्डल में यह तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ अष्टादशर्चस्यैकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१८ मनुर्वैवस्वत ऋषिः ॥ १—४ ईज्यास्तवो यजमानप्रशंसा च । ५—९ दम्पती । १०–१८ दम्पत्योराशिषो देवताः । छन्दः—१, ३, ५, ७, १२ गायत्री । २, ४, ६, ८ निचृद्गायत्री । ११, १३ विराड्गायत्री । १० पादनिचृद्गायत्री । ९ अनुष्टुप् । १४ विराडनुष्टुप् । १५—१७ विराट् पंक्तिः । १८ आर्ची भुरिक्पंक्तिः ॥ स्वरः—१—८, १०—१३ षड्जः । ९, १४ गान्धारः । १५—१८ पंचमः ॥

इस सूक्त के प्रथम चार मन्त्र यज्ञ एवं यजमान के प्रशंसापरक हैं ॥

यो यजाति यजांत इत्सुनवंच्च पचांति च ।

ब्रह्मेदिन्द्रंस्य चाकनत् ॥१॥

पदार्थः—(यः) जो व्यक्ति (यजाति) स्वयं दान-आदानमय सत्कर्म करता है (इत्) और (यजाते) यज्ञ करवाता है; (च) और (सुनवत्) किसी पदार्थ आदि को निष्पन्न कराता है (च) (पचाति) पका कर संस्कार करता है उस (इन्द्रस्य) कर्म-शक्ति सम्पन्न जीव व्यक्ति को (ब्रह्मा इत्) महान् प्रभु भी (चाकनत्) चाहता है ॥१॥

भावार्थः—कर्मशील व्यक्ति से ही प्रभु प्यार करते हैं ॥१॥

फिर वही विषय आ रहा है ॥

पुरोळाशं यो अस्मै सोमं ररत आशिरम् ।

पादित्तं शक्रो अंहसः ॥२॥

पदार्थः—ईश्वर को ही लक्ष्य करके निखिल शुभकर्म कर्तव्य हैं यह इससे शिक्षा दी जाती है। यथा-(यः) जो उपासक (अस्मै) सर्वत्र विद्यमान इस परमात्मा को प्रथम समर्पित कर (पुरोडाशम्) दरिद्रों के आगे अन्न (ररते) देता रहता है और (सोमम्) परमपवित्र अन्न को और (आशिरम्) विविध द्रव्यों से मिश्रित अन्न को जो देता रहता है (तम्) उसको (अंहसः) पाप से (शक्रः) सर्वशक्तिमान् ईश्वर (पात् इत्) पालता ही है ॥२॥

भावार्थः—संसार में दरिद्रता और अज्ञान अधिक हैं इस कारण ज्ञानी पुरुष ज्ञान और धनी जन विविध प्रकार के अन्न और द्रव्य इच्छुक जनों को सदा दिया करें। ईश्वर दाताओं को सर्व दुःखों से बचाया करता है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥२॥

तस्य द्युमाँ असद्रथो देवजूतः स शूशुवत् ।

विश्वा वन्वन्नमित्रिया ॥३॥

पदार्थः—जो ईश्वर के निकट सर्वभाव से पहुँचता है (तस्य) उस उपासक-जन का (रथः) शरीररूप रथ अथवा अश्वादियुक्त रथ (द्युमान्) दीप्तिमान् और (देवजूतः) शिष्टेन्द्रियों अथवा श्रेष्ठ अश्वों से प्रेरित (असत्) होता है अथवा उस रथ के चलाने वाले अच्छे-अच्छे विद्वान् होते हैं। तथा (विश्वा) समस्त (अमित्रिया) बाधाओं को (वन्वन्) विनष्ट करता हुआ वह उपासक (शूशुवत्) ज्ञानों, धनों और जनों से संसार में बढ़ता ही रहता है। उसका कभी भी अधःपतन नहीं होता ॥३॥

भावार्थः—संसार में उस भक्तजन का परम अभ्युदय फैलता है, शत्रु भी उसके वशीभूत होते हैं जो अन्तःकरण से परोपकार में लगे रहते हैं और आस्तिकता से जगत् को सुखी करते हैं ॥३॥

अस्य प्रजावती गृहेऽसंश्चन्ती दिवेदिवे ।
इळा धेनुमती दुहे ॥४॥

पदार्थः—जो मन से ईश्वर की उपासना करता है (अस्य) इसके (गृहे) गृह में (दिवेदिवे) दिन-दिन (प्रजावती) पुत्रादिकों से संयुक्त (असश्चन्ती) अचला और (धेनुमती) गौ आदि पशुओं से प्रशस्त (इला) अन्नराशि (दुहे) दुही जाती है। जैसे गौ दुही जाती है अर्थात् स्वेच्छानुसार दूध निकाल अपने काम में लाते हैं तद्वत् उस उपासक के गृह में उतने अन्न होते हैं जिनसे बहुत खर्च करने पर भी कभी क्षीण नहीं होता है ॥४॥

भावार्थः—ईश्वर के उपासक को किसी वस्तु का अभाव नहीं खलता ॥४॥

सुखी दम्पती का वर्णन करते हैं ॥

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः ।
देवासो नित्ययाशिरा ॥५॥

पदार्थः—(देवासः) हे देवो ! हे विद्वानो ! (या) जो (दम्पती) स्त्री और पुरुष (समनसा) शुभकर्म में समानमनस्क होकर (सुनुतः) यज्ञ करते हैं। (च) और (आ धावतः) ईश्वर की उपासना से अपने आत्मा को पवित्र करते हैं और (नित्यया) पवित्र (आशिरा) मिश्रित अन्न को दरिद्रों में बांटते हैं वे सदा सुख पाते हैं ॥५॥

भावार्थः—ईश्वरोपासक तथा दानदाता दम्पती सदा सुखी रहते हैं ॥५॥

पुनरपि दम्पती का वर्णन है।

प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते ।
न ता वाजेषु वायतः ॥६॥

पदार्थः—जो स्त्री और पुरुष (सम्यञ्चा) अच्छे प्रकार संगत होकर (बर्हिः) यज्ञ (आशाते) करते हैं (ता) वे (प्राशव्यान्) भोज्य पदार्थ (प्रतीतः) पाते हैं और (वाजेषु) अन्नों के लिये (न वायतः) कहीं अन्यत्र नहीं जाते ॥६॥

भावार्थः—परस्पर मेल से रहने वाले दम्पती अन्न आदि के अभाव से पीड़ित नहीं होते ॥६॥

पुनरपि दम्पती का वर्णन करते हैं ॥

न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः ।

श्रवो बृहद्विवासतः ॥७॥

पदार्थः—जो स्त्री पुरुष ईश्वरानुरागी होते हैं वे (देवानाम्)देवों का (न अपि ह्नुतः) अपलाप नहीं करते हैं । प्रतिज्ञा करके न देने का नाम अपलाप है । और (सुमतिम्) ईश्वर-प्रदत्त सुबुद्धि को (न जुगुक्षतः) नहीं छिपाते हैं । अर्थात् निज बुद्धि द्वारा अन्यान्य जनों का उपकार करते हैं । और इस प्रकार शुभाचरणों से जगत् में (बृहत् श्रवः) बहुत से यश अथवा अन्न का (विवासतः) विस्तार करते हैं या देते हैं ॥७॥

भावार्थः—ईश्वरानुरागी तथा बुद्धि का सदुपयोग करने वाले स्त्री-पुरुष सुखी रहते हैं ॥७॥

पुनरपि दम्पती का विषय कहा जाता है ॥

पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः ।

उभा हिरण्यपेशसा ॥८॥

पदार्थः—जो स्त्री पुरुष सदा ईश्वर की आज्ञा पालन करते हुए शुभकर्म में निरत रहते हैं (ता) वे स्त्री-पुरुष (पुत्रिणा) अच्छे पुत्र वाले और (कुमारिणा) सदा महोत्सवों से चित्तविनोदशील होते हैं और (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (व्यश्नुतः) पाते हैं । तथा (उभा) वे स्त्री-पुरुष, दोनों (हिरण्यपेशसा) सुवर्णों से सुभूषित रूपवाले होते हैं अर्थात् ऐहिक सम्पूर्ण सुखों से सदा संयुक्त रहते हैं ॥८॥

भावार्थः—ईश्वरभक्त स्त्री-पुरुषों को भली सन्तान मिलती है ॥८॥

वे दम्पती पुनः कैसे हैं ॥

वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्तामृताय कम् ।

समूधो रोमशं हतो देवेषु कृणुतो दुवः ॥९॥

पदार्थः—(वीतिहोत्रा) यज्ञप्रिय यद्वा जिनकी वाणी सब ही सुनना चाहते हैं । पुनः (कृतद्वसू) सत्पात्रों में धन वितीर्ण करने वाले । पुनः (अमृताय) अविनश्वर ईश्वर के उद्देश्य से अथवा मुक्तिकी प्राप्ति के उद्देश्य से(कम्) सुख को (दशस्यन्तौ) सब में देनेवाले । पुनः (ऊधः) गवादि और (रोमशम्) रोमयुक्त मेषादि पशुओं को (सम् हतः) वे दोनों प्राप्त करते हैं तथा (देवेषु) माता, पिता, आचार्य, गुरु, पुरोहित तथा परमदेव ईश्वर के निमित्त (दुवः) सेवा (कृणुतः) करते हैं ॥९॥

भावार्थः—जो स्त्री-पुरुष सत्पात्र में अपना धन देते हैं; माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा करते हैं, वे सुखी होते हैं ॥९॥

आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम् ।
आ विष्णोः सचाभुवः ॥१०॥

पदार्थः—(पर्वतानाम्) हिमालय आदि पर्वतों के निवासियों का अथवा पर्वतों का जो (शर्म) सुख है और (नदीनाम्) नदीतट निवासियों का या नदियों का जो सुख है उस शर्म=कल्याण को (सचाभुवः) सबके साथ होनेवाले सर्वव्यापी (विष्णोः) परमात्मा के निकट (आ वृणीमहे) मांगते हैं ॥१०॥

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह ईश्वर की परम विभूतियों को देखे, जाने, विचारे। पृथिवी पर पर्वत कैसा विस्तृत सुगठित और वृक्षादिकों से सुशोभायमान प्रतीत होता है, नदी का जल कितना जीव-हितकारी है। नदी के तट सदा शीतल और घासादि से युक्त रहते हैं। इसी प्रकार इस पृथिवी पर शतशः पदार्थ द्रष्टव्य हैं। इन्हें देख इनसे गुण ग्रहण करना चाहिये ॥१०॥

ऐतु पूषा रयिर्भगः स्वस्ति सर्वधातमः ।
उरुरध्वा स्वस्तये ॥११॥

पदार्थः—(रयिः) सब जीवों को स्वस्वकर्मानुसार फल देनेवाला (भगः) सब का सेव्य तथा (सर्वधातमः) अपने आधार से सब पदार्थ को धारण करने वाला (पूषा) पोषणकर्ता परमात्मा (स्वस्ति) कल्याण के साथ (ऐतु) हम उपासकों के निकट आवे। उसके आने के पश्चात् (अध्वा) हम लोगों का मार्ग (स्वस्तये) कल्याण के लिये (उरुः) विस्तीर्ण होवे ॥११॥

भावार्थः—पोषणकर्ता परमात्मा सब को कर्मानुसार फल देता है ॥११॥

अरमतिरनर्वणो विश्वो देवस्य मनसा ।
आदित्यानामनेह इत् ॥१२॥

पदार्थः—(अनर्वणः) अविनश्वर अगम्य अगाध (देवस्य) परमदेव का (विश्वः) सकल भक्तजन (मनसा) मानसिक श्रद्धा से (अरमतिः) पूर्ण बुद्धिवाला होता है।

और (आदित्यानाम्) प्रत्येक मास के बारह [द्वादश] सूर्य के समान भक्तजनों का कर्म (अनेहः इव) निष्पाप होता है ॥१२॥

भावार्थः—सच्चा परमेश्वरभक्त पापी नहीं होता ॥१२॥

यथा नो मित्रो अर्यमा वरुणः सन्ति गोपाः ।

सुगा ऋतस्य पन्थाः ॥१३॥

पदार्थः—वेदों में बहुत नामों से परमात्मा गाया गया है। किसी-किसी ऋचा में बहुत नाम आ गए हैं। वहां नामकृत बहुवचन भी है। अतः नाम पृथक्-पृथक् देवों के हैं। ऐसा भ्रम भाष्यकारों को हुआ है। वे ईश्वर के ही नाम हैं क्योंकि उसका चिह्न पाया जाता है। (मित्रः) सब के साथ स्नेहकर्ता जो मित्र-वाच्य परमात्मा है (अर्य्यमा) गृहस्थ पुरुषों से माननीय जो अर्य्यमा-वाच्य ईश्वर है (वरुणः) सब का स्वीकरणीय जो वरुण-वाच्य ब्रह्म है वे (यथा) जिस प्रकार (नः) हम उपासकों के (गोपाः सन्ति) रक्षक होवें। ऐसी सुबुद्धि हम लोगों को देवें और जैसे हम लोगों के (ऋतस्य) सत्य के (पन्थाः) मार्ग (सुगाः) सुगमनीय=सरल होवें। ऐसी कृपा करें ॥१३॥

भावार्थः—मित्र आदि नामों से वाच्य प्रभु की भक्ति से लक्ष्य प्राप्ति सरल हो जाती है ॥१३॥

अग्निं वः पूर्व्यं गिरा देवमीळे वसूनाम् ।

सपर्यन्तः पुरुप्रियं मित्रं न क्षेत्रसाधसम् ॥१४॥

पदार्थः—हे विद्वज्जनो ! (वः) आप लोगों के मध्य जैसे मैं (पूर्व्यम्) पुरातन (वसूनाम् देवम्) धनों के देव महाधनेश (अग्निम्) परमात्मा की (ईळे) स्तुति करता हूं। वैसे ही आप लोग भी (मित्रम् न) सब के मित्र अतएव (पुरुप्रियम्) बहु प्रिय= सर्वप्रिय (क्षेत्रसाधसम्) पृथिवी आदि लोक-लोकान्तर के उत्पादक परमात्मा को (सपर्यन्तः) पूजते हुए स्तुति कीजिये। अर्थात् कुपथ को त्याग सुपथ पर आइए ॥१४॥

भावार्थः—परम प्रभु लोक-लोकान्तरों के रचयिता हैं—तथा सच्चे मित्र की भांति प्रेम करते है ॥१४॥

मक्षू देववतो रथः शूरो वा पृत्सु कासु चित् ।

देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत् ॥१५॥

पदार्थः—(देववतः) देववान् अर्थात् एक परमात्मोपासक जनका (रथः) रमणीय वाहन (मक्षु) शीघ्र सर्वत्र सुप्रसिद्ध होता है (वा) अथवा वह स्वयम् (कासुचित्) किन्हीं (पृत्सु) सेनाओं में (शूरः) नायक होता है और (यः) जो (यजमानः) सदा परमात्मा के गुणों का यजन करनेवाला है और जो (देवानाम्) दिव्यगुणसम्पन्न पुरुषों के (मन इव) मन को ही (इयक्षति) अपने अनुकूल आचरणों से तथा ईश्वर की आज्ञा पर चलने से पूजता है अर्थात् आदर-सत्कार करता है वह (अयज्वनः) न यज्ञ करने वाले नास्तिकों का (अभि भुवद् इत्) अवश्य ही अभिभव करता है ॥१५॥

भावार्थः—परमात्मोपासक जन को जीवन-संघर्ष के लिये सुन्दर शरीर रूपी रथ मिलता है ॥१५॥

न यंजमान रिष्यसि न सुंन्वान न दे॑वयो ।

दे॒वानां॒ य इन्मनो॒ यज॑मान॒ इय॑क्षत्य॒भीद॑य॑ज्वनो भुवत् ॥१६॥

पदार्थः—(यजमान) हे यजमान ईश्वर-पूजक जन ! यदि आप सदा परमात्मा का ही यजन करते हैं तो (न रिष्यसि) न कदापि विनष्ट होंगे। (सुन्वान) हे शुभकर्म सम्पादक जन ! यदि आप सदा शुभकर्म ही करते रहेंगे तो (न रिष्यसि) आपका विनाश कदापि न होगा तथा (देवयो) हे देवाभिलाषीजन ! यदि आप सदा एक देव की ही इच्छा करेंगे तो (न रिष्यसि) आप कभी नष्ट न होंगे। इसी प्रकार (यः यजमानः) पूर्ववत् ॥१६॥

भावार्थः—एकमात्र ईश्वरपूजक को कभी कोई हानि नहीं पहुंचती ॥१६॥

नकिष्टं कर्मणा नशन्न प्र यो॑षन्न यो॑षति ।

दे॒वानां॒ य इन्मनो॒ यज॑मान॒ इय॑क्षत्य॒भीद॑य॑ज्वनो भुवत् ॥१७॥

पदार्थः—जो केवल परमात्मा के आश्रय पर रहता है (तम्) उस सुप्रसिद्ध भक्त को (नकिः) कोई नहीं (कर्मणा) अपने कर्म से (नशत्) व्यापता है अर्थात् स्वकर्म के द्वारा कोई उसके तुल्य नहीं होता है। और वह स्वयम् (न प्र योषत्) अपने स्थान से और भक्ति आदि से कभी प्रचलित नहीं होता है तथा (न योषति) पुत्र-पौत्रादिकों से तथा विविध प्रकार के धनों से वह कदापि पृथक् नहीं होता। अर्थात् वह सदा ऐहिक सुखों से युक्त रहता है। (देवानाम्) इत्यादि पूर्ववत् ॥१७॥

भावार्थः—भगवान् का आश्रय लेने वाला परन्तु कर्मठ व्यक्ति सब प्रकार के ऐश्वर्य से भरपूर रहता है ॥१७॥

असदत्र सुवीर्यमुत त्यदाश्वश्व्यम् ।
देवानां य इन्मनो यजमान इयक्षत्यभीदयज्वनो भुवत् ॥१८॥

पदार्थः—(अत्र) इस परमात्मोपासक जन में (सुवीर्यम्) शारीरिक और मानसिक बल (असत्) सदा बढ़ता ही रहता है (उत) और (आश्वश्व्यम्) शीघ्रगामी घोड़े आदि पशुसमूह (त्यत्) प्रसिद्ध धन उस उपासक के निकट बहुत होता है। (यजमानः) जो यजमान (देवानाम्) विद्वानों के (मनः इत्) मन को ही (इयक्षति) अपने आचरणों से वश में करता है (अयज्वनः) वह अयजनशील नास्तिकों का (अभि भुवत् इत्) अवश्य ही अभिभव करता है ॥१८॥

भावार्थः—परमात्मा के उपासक का शारीरिक बल तथा मनोबल सदा बढ़ता ही रहता है ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह इकत्तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिंशदृचस्य द्वात्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—३० मेधातिथिः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ७, १३, १५, २७, २८ निचृद्गायत्री । २, ४, ६, ८—१२, १४, १६, १७, २१, २२, २४—२६ गायत्री । ३, ५, १९, २०, २३, २९ विराड्गायत्री । १८, ३० भुरिग्गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

प्र कृतान्यृजीषिणः कण्वा इन्द्रस्य गाथया ।
मदे सोमस्य वोचत ॥१॥

पदार्थः—(ऋजीषिणः) विविध विद्या-उपार्जनशील (कण्वाः) मेधावी जन (सोमस्य मदे) विद्या द्वारा सम्पादित ऐश्वर्यकारक शास्त्रबोध की (मदे) उमङ्ग में (गाथया) गीतों में (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यसम्पन्न प्रभु, राजा, विद्युत, सूर्य आदि के (कृतानि) कृत्यों को (प्र वोचत) हमें सुनायें ॥१॥

भावार्थः—विविध शास्त्रों का अवगाहन करने वाले ही ऐश्वर्यवान् परमेश्वर आदि के गुणों का गान कर सकते हैं ॥१॥

यः सृबिन्दमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम् ।
वधीदुग्रो रिणन्नपः ॥२॥

पदार्थः—[उस इन्द्र के कृत्यों का वर्णन करें] कि (यः) जो (उग्रः) तीव्र प्रभावशाली (अपः) सर्वत्र व्याप्त जल को [विद्युत् रूप में], राज्य में व्याप्त

अव्यवस्था आदि दोषों को [राजा के रूप में], और अपने जीवन में व्याप्त असंयम आदि दोषों को [जीवात्मा रूप में] (रिणन्) व्याप्य में से पृथक् करके (सृविन्दं) फैलकर शक्तिशाली होते हुए को (अनर्शनिम्) निष्पाप को अपने वश में किये हुए को, (पिप्रुं) पेट्र को, (दासम्) उत्पीड़क को, (अहीशुवम्) कुटिल को गति-शील करने वाले को (वधीत्) नष्ट कर देता है ॥२॥

भावार्थः—अवर्षणशील मेघ आकाश में फैलकर शक्तिशाली बनता चला जाता है; वह रोगनाशक जल को रोके रखता है—तड़तड़ाती बिजली उसका भेदन कर जल को मुक्त कर देती है; राजा रूप में इन्द्र राज्य में फैले हुए, सज्जनों को अपने नियंत्रण में रख कर तंग करने वाले, स्वार्थी, कुटिलों के नेताओं का वध करके अव्यवस्था को दूर करता है। जीवात्मा इसी प्रकार असंयम आदि को दूर कर अपनी शक्तियों को उन्मुक्त करता है। इत्यादि ये सब 'इन्द्र' के कृत्य हैं ॥२॥

न्यर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिर ।

कृषे तदिन्द्र पौंस्यम् ॥३॥

पदार्थः—(बृहतः) विशाल (अर्बुदस्य) मेघ के (वर्ष्माणं) वर्षा कर सकने वाले (विष्टपं) व्याप्ति स्थान-अन्तरिक्ष पर (नि तिर) पूर्णरूप से अधिकार कर ले—इन्द्र अर्थात् वायु (तत्) इस (पौंस्यम्) पुरुषोचित साहस को (कृषे) पुरुषार्थपूर्वक करता है ॥३॥

भावार्थः—निरुक्त के दशम अध्याय के भाष्य में दुर्गाचार्य ने स्पष्ट किया है कि जल से भरा वायु अन्तरिक्ष में मेघों का जल फैला कर वरुण बनता है; वही फिर विभिन्न अवस्थाओं में 'रुद्र', इन्द्र' और 'पर्जन्य' नाम से पुकारा जाता है। वर्षा इन्द्र का प्रमुख कृत्य है ॥३॥

प्रति श्रुताय वो धृषत्तूर्णाशं न गिरेरधि ।

हुवे सुशिप्रमूतये ॥४॥

पदार्थः—वह सूर्य (तूर्णाशं न) मानो शीघ्रता में खाये गए के समान, शीघ्रता में पर्वत पर एकत्र हुए जल को (गिरेः अधि) मेघ मण्डल में से (वः) प्राणियों के (प्रति श्रुताय) प्रति किये गये वचन की पूर्ति के लिये ही मानो (धृषत्) बलपूर्वक नीचे गिरा देता है। मैं (ऊतये) रक्षा के लिये उस (सुशिप्रं) शोभनाकृति का आह्वान करता हूँ ॥४॥

भावार्थः—सूर्यमण्डल अपनी किरणों द्वारा अन्तरिक्ष के मेघमण्डलस्थ जल को नीचे गिराता है; राजा राज्य के पर्वत आदि अगम्य स्थानों में से दुष्टों को निकालता है और जीवात्मा अपनी बुद्धि में व्याप्त कुविचारों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त करता है। ये सब इन्द्र के कृत्य हैं ॥४॥

स गोरश्वस्य वि व्रजं मन्दानः सोम्येभ्यः ।

पुरं न शूर दर्षसि ॥५॥

पदार्थः—(शूर) हे पापियों के विध्वंसक (सः) वह आप इन्द्र (सोम्येभ्यः) सुख का सम्पादन करने योग्य जनों के हितार्थ (मन्दानः) सब को हर्षित करते हुए (गोः अश्वस्य) ज्ञान एवं कर्मशक्तियों के (व्रजं) बाड़े को (पुरं न) एक नगर की भांति विद्यमान को (विदर्षसि) विदीर्ण करते हैं ॥५॥

भावार्थः—दुष्टों के नगरों को तोड़ना भी इन्द्र का एक कृत्य है। जैसे ग्वाला पशुओं को बाड़े में रोक कर रखता है—ऐसे ही वणिक्वृत्ति जन राष्ट्र के धन को अपने कोषागारों में रोककर राष्ट्र की हानि करते हैं। इन्द्र राजा उसको मुक्त करता है; जीवात्मा की ज्ञान एवं कर्मशक्तियाँ दुर्भावनाओं के वशीभूत होकर निष्क्रिय हो जाती हैं; बुद्धि एवं हृदय की शुद्धि द्वारा जीवात्मा इन्द्र उन्हें मुक्त कर सक्रिय करता है ॥५॥

यदि मे रारणः सुत उक्थे वा दधसे चनः ।

आरादुप स्वधा गहि ॥६॥

पदार्थः—(यदि) यदि (मे) मेरे (सुते) निष्पादित सुखदायी ऐश्वर्य में (रारणः) तूने रमण किया हो (वा) और (उक्थे) मेरी स्तुति में (चनः) तुझे आनन्द (दधसे) आता हो तो (आरात्) दूर से तथा (उप) समीप से—कहीं से भी, (स्वधा) अपने स्वभाव से ही मुझे (गहि) प्राप्त कर ॥६॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये सांसारिक पदार्थों का सदुपयोग करता हुआ मग्न रहता है और साथ ही उसके गुणों का पाठ करता हुआ उन्हें जीवन में धारण करने का यत्न करता रहता है—उसको स्वभाव से ही परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त होता है ॥६॥

वयं घा ते अपि ष्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः ।

त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥७॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) वाणी से प्रार्थित (इन्द्र !) परमैश्वर्य सम्पन्न ! (वयं) हम (घा) ही (ते) आपके (स्तोतारः) स्तुतिकर्ता (अपि स्मसि) निश्चय से हैं। हे (सोमपाः) संसार में उत्पन्न पदार्थों से सबका पालन करने वाले श्रीमन् ! (त्वं) आप (नः) हमें (जिन्व) तृप्त कीजिये ॥७॥

भावार्थः—ऐश्वर्यवान् विद्वान्, राजा आदि की स्तुति का अर्थ है, उसके गुणों का ज्ञान, कथन, श्रवण और सत्य भाषण। स्तुति से स्तुत्य के गुण धारण करने की शक्ति प्राप्त होती है ॥७॥

उत नः पितुमा भर संरराणो अविक्षितम्।
मघवन्भूरि ते वसु ॥८॥

पदार्थः—हे (मघवन्) उदाराशय सम्पत्तिशाली राजन्! (ते वसु) आपका सुख में वसाने वाला ऐश्वर्य (भूरि) विद्या, आरोग्य, सुवर्ण आदि अनेक प्रकार का है। (नः) हमें (उत) भी (अविक्षितम्) अक्षय (पितुम्) भोजन (संरराणः) सम्यक् रीति से प्रदान करते हुए (आ भर) हमारा पालन-पोषण कीजिये ॥८॥

भावार्थः—विद्या, आरोग्य, सुवर्ण आदि विभिन्न प्रकार के वसाने वाले धन के स्वामियों को उनसे दूसरों का भरण-पोषण करना चाहिये ॥८॥

उत नो गोमतस्कृधि हिरण्यवतो अश्विनः।
इळाभिः सं रभेमहि ॥९॥

पदार्थः—हे ऐश्वर्यशालिन् ! (नः) हम को (गोमतः) उत्कृष्ट गौ आदि से युक्त, (हिरण्यवतः) सुवर्ण आदि मनोहारी रत्नवाले और (अश्विनः) वेगवान् अश्व आदि से युक्त (उत) भी कीजिये; अथवा हम जीव स्वयं ऐसा प्रयत्न करें कि हमारी ज्ञान, कर्मशक्तियाँ उत्कृष्ट हों तथा ज्ञान आदि उत्कृष्ट साधन हमें प्राप्त हों। इस प्रकार हम (इलाभिः) प्रशंसनीय धनों को (संरभेमहि) भली प्रकार अपने अधिकार में रखे रहें ॥९॥

भावार्थः—प्रशंसनीय धन—विद्या, आरोग्य, सुवर्ण आदि—हमारे अधिकार में रहें—ऐसा प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति अवश्य करे ॥९॥

बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये।
साधु कृण्वन्तमवसे ॥१०॥

पदार्थः—हम (वृबदुक्थं) व्यापक स्तोत्र अर्थात् वर्णनीय गुणों वाले (ऊतये) अपने संरक्षण में लेने के लिये (सुप्रकरस्नम्) रक्षणीय के आश्वासनार्थ मानो दोनों भुजायें फैलाये हुए और (अवसे) देखभाल के प्रयोजनार्थ (साधु कृण्वन्तं) सम्यक् प्रयत्नशील परमेश्वर, राजा आदि विद्वान्, अपने अन्तरात्मा—आदि के रूप में विद्यमान इन्द्र की (हवामहे) प्राप्ति की इच्छा करें ॥१०॥

भावार्थः—प्राणियों की देखभाल रखना परमेश्वर का तो अपना स्वभाव है ही; हमें राज्य का रक्षक भी ऐसे व्यक्ति को बनाना चाहिये जो प्रजा की रक्षा स्वेच्छापूर्वक करे, तथा स्वयं अपने आत्मा को परमेश्वर की उपासना से इस योग्य बनाना चाहिये कि अपना वचाव स्वयं कर सकें ॥१०॥

यः संस्थे चिच्छतक्रतुरादीं कृणोति वृत्रहा ।
जरितृभ्यः पुरूवसुः ॥११॥

पदार्थः—(यः) जो (जरितृभ्यः) स्तोताओं को (पुरूवसुः) विविध प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त करा, उनको बसाने वाला है और (संस्थे) स्थिर (चित्) चिदात्मा में (शतक्रतुः) नाना प्रकार से सैंकड़ों कर्म कराता है (आत्) अनन्तर (वृत्रहा) विघ्ननाशक बनकर (ईं) जीवात्मा को भी शतक्रतु (कृणोति) कर देता है ॥११॥

भावार्थः—परमेश्वर की स्तुति से जीव उसके गुणों को धारण कर विविध ऐश्वर्य प्राप्त करता है तथा स्थिर चित्त होने पर उसके जीवन मार्ग में आने वाले विघ्न नष्ट हो जाते हैं और तब वह भी 'शतक्रतु'—विविध कर्म करने लगता है ॥११॥

स नः शक्रश्चिदा शकद्दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥१२॥

पदार्थः—(सः इन्द्रः) वह परमैश्वर्यवान् परमेश्वर अथवा राजा (शक्रः चित्) समर्थ ही है; (दानवान्) दानशील है; (विश्वाभिः) सब प्रकार की सभी (ऊतिभिः) रक्षा-सामग्रियों के साथ वर्तमान होकर (अन्तः आभरः) हमारे अन्तःकरण को पुष्ट करता है और (आशकत्) इस प्रकार हमें सब ओर से समर्थ बनाता है ॥१२॥

भावार्थः—यदि हम अभ्यास से यह अनुभव कर लें कि दानशील भगवान् अथवा हमारा समर्थ राजा हमें सब प्रकार की रक्षा देने के लिये प्रस्तुत है तो हमारा मनोबल बढ़ता है और हम अपने को शक्तिमान् अनुभव करते हैं ॥१२॥

यो रायो३ऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा ।

तमिन्द्रमभि गायत ॥१३॥

पदार्थः—(यः) जो इन्द्र (रायः) शुभ दानयोग्य ऐश्वर्य का (अवनिः) प्रापक और दाता है; (महान्) पूजनीय है; (सुपारः) कर्मों को सुष्ठुतया पूर्ण कराता है; (सुन्वतः) धर्म-विद्या आदि को [स्वयं] निष्पन्न करने वाले व्यक्ति का (सखा) मित्र है; (तम् इन्द्रं) उस इन्द्र अर्थात् जीवनशक्ति के गुणों का (अभि गायत) गान करो ॥१३॥

भावार्थः—अध्यात्म में जीवात्मा ही इन्द्र है; सद्धर्म-कर्म का निष्पन्न करने वाले व्यक्ति का जीवात्मा मित्र होता है अर्थात् वह स्वयं अपना मित्र होता है: ऐसा व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से सभी श्रेष्ठ धनों का स्वामी होता है ॥१३॥

आयन्तारं महि स्थिरं पृतनासु श्रवोजितम् ।

भूरेरीशानमोजसा ॥१४॥

पदार्थः—[उस इन्द्र अर्थात् जीवनशक्ति के गुणों का गायन करो कि] जो (पृतनासु) संघर्षों में (आयन्तारं) नियामक है; (महि) महान् है; (स्थिरं) दृढ़ता से टिकने वाला है और (श्रवोजितम्) कीर्ति प्राप्त करता है; (ओजसा) बलवीर्य द्वारा (भूरेः) विविध प्रकार के धन एवं ऐश्वर्य का (ईशानम्) अधिपति है ॥१४॥

भावार्थः—जीवन-संघर्ष में अपनी इन्द्रिय-वृत्तियों को नियन्त्रण में रखकर स्वयं अविचल रहने वाला जीवात्मा यश और धनादि ऐश्वर्य का स्वामी होता है ॥१४॥

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् ।

नकिर्वक्ता न दादिति ॥१५॥

पदार्थः—(अस्य) इस इन्द्र—[परमैश्वर्यवान् परमेश्वर, राष्ट्राध्यक्ष राजा, जीवात्मा—] के (सूनृतानाम्) अनुग्रहशील एवं प्रभुशक्तिसम्पन्न (शचीनां) कृत्यों एवं कर्मशक्तियों का (नियन्ता) रोकने वाला (न किः) कोई नहीं है और (न दात्) 'इसने अमुक को नहीं दिया' (इति वक्ता) यह कहने वाला भी कोई नहीं है ॥१५॥

भावार्थः—परमैश्वर्यवान् परमेश्वर सबको देता है और अपने कार्यों में वह सम्प्रभु है। इसी प्रकार अनुग्रहशील, सब पर समान रूप से कृपालु

राष्ट्राध्यक्ष भी अपने कार्य में स्वतन्त्र है। मनुष्य के जीवन में जीवात्मा का वही स्थान है जो ब्रह्माण्ड के सञ्चालन में परमेश्वर का है॥१५॥

न नूनं ब्रह्मणामृणं प्राशूनामस्ति सुन्वताम्।
न सोमो अप्रता पपे॥१६॥

पदार्थः—(नूनं) निश्चय ही (सुन्वताम्) यज्ञ सम्पादन के लिये विद्या आदि धन को निष्पन्न करने वाले (प्राशूनां) अपने कार्य में अत्यन्त फुर्तीले (ब्रह्मणाम्) ब्राह्मण-वृत्ति वाले सज्जनों पर (ऋणं) कोई ऋण नहीं चढ़ता; (सोमः) यज्ञार्थ विद्या आदि का निष्पन्न करने वाला (अप्रता) समृद्ध व्यक्ति (न पपे) स्वयं पान नहीं करता॥१६॥

भावार्थः—"ऋणँह वै योऽस्ति स जायमान एव देवेभ्यः,ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः (श १. ९. २. १) शतपथ के इस वचन के अनुसार इस संसार में विद्यमान प्रत्येक मनुष्य पर देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण स्वतः ही आरूढ़ हो जाते हैं; परन्तु जो ब्राह्मण वृत्ति वाला व्यक्ति सब के हितार्थ कर्म करता है, मानो उस पर कोई ऋण आरूढ़ नहीं होता॥१६॥

पन्य इदुप गायत पन्यं उक्थानि शंसत।
ब्रह्मा कृणोत पन्य इत्॥१७॥

पदार्थः—स्तुतियोग्य परमेश्वर के निमित्त ही (उप) उसकी उपस्थिति को अनुभव करते हुए (गायत) उसके गुणों का गायन करो; (पन्ये, इत्) उस स्तुत्य परमेश्वर को लक्ष्य करके (उक्थानि) शास्त्रोक्त स्तुति वचनों द्वारा (शंसत) उसके गुणों का कथन करो। (उत) और (ब्रह्मा) मन को (पन्ये इत्) स्तुत्य में ही (कृणोत) लगाये रखो॥१७॥

भावार्थः—तस्य (पुरुषस्य) मन एव ब्रह्मा (कौ० १७. ७) कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार पुरुष का मन ही 'ब्रह्मा' है। मनुष्य का एकमात्र स्तुत्य परमैश्वर्यवान् [इन्द्र] परमेश्वर है। हम शास्त्र वचनों से परमेश्वर के गुणों का न केवल गान करें अपितु उनका मनन भी करें॥१७॥

पन्य आ दर्दिरच्छता सहस्रा वाज्यवृतः।
इन्द्रो यो यज्वनो वृधः॥१८॥

पदार्थः—(यः) जो (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर शत्रुहन्ता, सेनाधीश अथवा अपनी दुर्भावनाओं को दूर करने में प्रयत्नशील कर्मयोगी साधक है वह

(यज्वनः) यज्ञानुष्ठाता को (वृधः) बढ़ाता है, उसके उत्साह की वृद्धि करता है, वही (पन्यः) स्तुतियोग्य (वाजी) बलशाली (शताः, सहस्राः) सैंकड़ों हज़ारों अर्थात् अनगिनत (अवृतः) सम्पत्ति का विभाजन न करने वालों को (आ दर्दिरत्) काट देता है ॥१८॥

भावार्थः—बलशाली इन्द्र जहां राष्ट्र के यजनशीलों को बढ़ावा देता है, वहाँ वह स्वार्थियों को नष्ट भी करता है ॥१८॥

वि षू चर स्वधा अनु कृष्टीनामन्वाहुवः ।

इन्द्र पिब सुतानाम् ॥१९॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर अथवा राजन् ! (कृष्टीनां) परिश्रमी प्रजाओं की (आहुवः अनु) पुकारों अथवा यज्ञीय भावनाओं के अनुरूप और (स्वधा अनु) अपने स्वाभाविक दृढ़ निश्चय के अनुकूल (वि सु चर) विविध प्रकार से व्यवहार कर; हे इन्द्र ! (सुतानां) निष्पन्न पदार्थों का (पिब) उपभोग करा ॥१९॥

भावार्थः—संसार में परमात्मा परिश्रमी व्यक्तियों को उन द्वारा यज्ञ के लिए किये गए कर्मों के अनुसार भोग भुगवाता है; राजा राष्ट्र के व्यक्तियों को उनके कर्मों के अनुरूप भोग्य पदार्थ पहुँचाता है ॥१९॥

पिब स्वधैनवानामुत यस्तुग्र्ये सचा ।

उतायमिन्द्र यस्तव ॥२०॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) जीवात्मन् ! (यः) जो निष्पन्न आनन्द (स्वधैनवानां) तेरी अपनी आनन्ददात्री इन्द्रियों का है उसका (उत) और (यः) जो (तुग्र्ये सचा) बलिष्ठ होने की क्रिया के साथ है (उत) और (यः) जो (अयं) यह तेरा ही अपना स्वभावज है—उसका उपभोग कर ॥२०॥

भावार्थः—आध्यात्मिक आनन्द के गुणों का गान वेद में यत्र-तत्र मिलता है। 'स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय' (ऋ० १. ११०. ७.) 'उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु (ऋ० ६. ४७. १.) इत्यादि मन्त्रों में उस आध्यात्मिक आनन्द की ओर निर्देश किया है। यह आध्यात्मिक आनन्द जीवात्मा में कुछ तो स्वभावज होता है, कुछ शुभकर्मकर्त्री इन्द्रियों के द्वारा मिलता है ॥२०॥

अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपारणे ।

इमं रातं सुतं पिब ॥२१॥

पदार्थः—हे सेनाध्यक्ष अथवा मेरे साधक मन इन्द्र ! (मन्युषाविणं) क्रोध और अभिमान को उत्पन्न करने वाले (उपारणे) अरमणीय, कष्टदायी स्थिति की ओर (सुषुवांसं) प्रेरित करने वाले भोग्य रस को (अतीहि) लांघ जा; उसको मत ग्रहण कर। (इमं रातं) इस उपहाररूप से दिये गए अतएव प्रकृष्ट (सुतं) निष्पादित आनन्द का अथवा ध्यानयोग द्वारा प्रस्तुत परमानन्द का (पिब) उपभोग कर ।।२१।।

भावार्थः—व्यक्ति को ऐसे आनन्द का उपभोग नहीं करना चाहिये कि जो रोष, अभिमान आदि दुर्गुण उत्पन्न करे और इस प्रकार उसके लिये कठिन परिस्थितियाँ उपस्थित कर दे ।।२१।।

इहि तिस्रः परावत इहि पञ्च जनाँ अति।

धेना इन्द्रावचाकशत् ।।२२।।

पदार्थः—हे (इन्द्र) जीवात्मन् ! (तिस्रः परावतः) तीन दूरस्थ स्थितियों को (अति इहि) लांघकर और (पञ्चजनान्) पाँच सामान्य जनों (ब्राह्मण आदि चार वर्ण तथा पञ्चम निषाद) को भी (अति इहि) लांघकर मेरे समीप पहुँच। तू (धेनाः) दूध देने वाली गायों के समान आनन्दरस की वर्षा करने वाली वाणियों की (अवचाकशत्) प्रगाढ कामना कर ।।२२।।

भावार्थः—आध्यात्मिक रूप से सुखी होने के लिये मनुष्य ज्ञान-कर्म और भक्ति का निर्देश करने वाली वेदवाणियों का सेवन करे ।।२२।।

सूर्यो रश्मिं यथा सृजा त्वा यच्छन्तु मे गिरः।

निम्नमापो न सध्र्यक् ।।२३।।

पदार्थः—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (रश्मिम्) अपना प्रकाश (सृजा) फेंकता है; और (आपः न) जैसे जल (निम्नं) निचले स्थान पर (सध्र्यक्) एक साथ पहुँच जाता है, ऐसे ही (मे गिरः) मेरी वाणियां(त्वा) तुझ इन्द्र को (यच्छन्तु) रोकें ।।२३।।

भावार्थः—सूर्य का प्रकाश बिन माँगे स्वभावतः मिलता है; जल का अपना यह स्वाभाविक धर्म है कि वह नीचे की ओर बहता है और निचले भूभागों को एकदम घेर लेता है; ऐसे ही परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का गुण-गान करने वाली मेरी वाणी उसको स्वाभाविक रूप से घेरे रहें—भक्त तभी भगवान् के गुणों को निरन्तर अपने ध्यान में रख सकता है जबकि स्तुति करना उसकी स्वाभाविक क्रिया बन जाय ।।२३।।

अध्वर्य॑वा तु हि षि॒ञ्च सोमं॑ वी॒राय॑ शि॒प्रिणे॑ ।
भरा॑ सु॒तस्य॑ पी॒तये॑ ॥२४॥

पदार्थः—हे (अध्वर्यो) मेरे मन! तू (वीराय) वीर्यवान् (शिप्रिणे) शत्रुओं और शत्रुभूत दुर्भावनाओं को रुलाने वाले इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिये (सोमं) [अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त] प्राणशक्ति को (आ सिञ्च) चारों ओर से सींचकर रख। (सुतस्य) इस सम्पादित प्राण शक्ति को (पीतये) अपने उपभोग के लिये (भरा) भरले ॥२४॥

भावार्थः—शतपथ (१।५।१।२१) में मन को अध्वर्यु बताया है। जीवनयज्ञ के 'होता' आत्मा का यह एक सहायक ऋत्विक् ही है। साधारण यज्ञ में वेदी के स्थान व वेदीरचना तथा अन्य सामग्री जुटाना अध्वर्यु ही का काम होता है। इस जीवन यज्ञ की साधक सामग्री प्राणशक्ति को जुटाना मन का ही काम है। प्राणशक्तिसम्पन्न, सुदृढ़ मन ही जीवात्मा को शत्रुभूत दुर्भावनाओं को रुलाकर भगाने में समर्थ बना सकता है ॥२४॥

य उ॒द्नः फ॑लि॒गं भि॒नन्न्य१क्सिन्धूँ॑र॒वासृ॑जत् ।
यो गोषु॑ प॒क्वं धा॒रय॑त् ॥२५॥

पदार्थः—(यः) जो सूर्य (उद्नः) जल के लिये (फलिगं) उसके धारक मेघ को छिन्न-भिन्न करता है और (न्यक्) उसको नीचे पृथ्वी पर पहुँचा कर (सिन्धून्) तालाब, समुद्र, नदी, झील आदि जलाशयों की रचना करता है और (यः) जो सूर्य भूमियों में (पक्वं) पक्व अन्न आदि को (धारयत्) परिपुष्ट करता है—वह इन्द्र है ॥२५॥

भावार्थः—सूर्य अथवा विद्युत् मेघ का भेदन कर किस प्रकार उससे जल बरसा कर पृथ्वी पर छोटे-बड़े जलाशयों की रचना करता है किस प्रकार वृष्टिजल भूमि में पहुँचकर अन्न का उत्पादन, वर्धन और उसको परिपक्व करता है—यह सब विज्ञान जानना चाहिये ॥२५॥

अह॑न्वृ॒त्रमृची॑षम और्णवा॒भम॑ही॒शुव॑म् ।
हि॒मेना॑विध्य॒दर्बु॑दम् ॥२६॥

पदार्थः—(ऋचीषमः) दीप्ति के समान स्वयं दीप्त सूर्य (औणंवाभं) ऊन से भरे आच्छादक पदार्थ के समान जल को ढांप कर रखने वाले (अहीशुवम्) द्युलोक एवं भूलोक के मध्य अन्तरिक्ष में गतिमान् (वृत्रं) मेघ पर (अहन्) आक्रमण करता

है। वह (हिमेन) शीतता से (अर्बुदं) खूब फूले और कठोर बने हुए बादल को (अविध्यत्) वींध कर नष्ट-भ्रष्ट करता है ॥२६॥

भावार्थः—प्रकृति में मेघ-रचना और उसकी गतिविधियों का तथा किस प्रकार वर्षा होती है—इसका अनुसन्धान करना चाहिये ॥२६॥

प्र व उग्राय निष्टुरेऽषाळ्हाय प्रसक्षिणे ।

देवत्तं ब्रह्म गायत ॥२७॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! (उग्राय) तेजस्वी, (निस्तुरे) अजेय, (अषाळ्हाय) असह्य, और (प्रसक्षिणे) प्रकृष्ट तथा सामर्थ्यवान् सेनापति को (देवत्तं) दिव्य-भावनाओं द्वारा प्रदत्त (ब्रह्म) ब्राह्म बल के (प्र गायत) गुण सुनाओ ॥२७॥

भावार्थः—काठक संहिता (३७-११) में कहा—'ब्रह्म चैव क्षत्रं च सयुजौ करोति'—ब्राह्मबल और क्षात्रबल साथी रहने चाहियें। हमारे सेनापति, राजा और स्वयं जीवात्मा में जहां दुष्टदलन के लिए आवश्यक क्षात्र-बल हो वहां राष्ट्र व चरित्रनिर्माण के लिये ब्राह्मबल भी होना चाहिये ॥२७॥

यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धसः ।

इन्द्रो देवेषु चेतति ॥२८॥

पदार्थः—(यः) जो (अन्धसः) भोज्य पदार्थों के (सोमस्य) सौम्य रस के (मदे) हर्षदायक प्रभाव में (देवेषु) [राष्ट्र के] दिव्य गुणियों अथवा इन्द्रियों को (विश्वानि) सब (व्रता) कृत्य एवं नियम (अभि चेतति) सिखाता है—ऐसा है वह (इन्द्रः)—इन्द्र—राजा या आत्मा ॥२८॥

भावार्थः—भोग्य पदार्थों का सात्विक, राजसिक व तामसिक प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर पड़ा है; जैसा प्रभाव वैसा ही उसका मद या हर्ष ! राष्ट्र-निर्माता अथवा मानव-जीवन के कर्णधार जीव को चाहिये कि वह अपने दिव्यगुणियों अथवा इन्द्रियों को सौम्य बनावे ॥२८॥

इह त्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्या ।

वोळ्हामभि प्रयो हितम् ॥२९॥

पदार्थः—(त्या) वे (सधमाद्या) साथ-साथ तृप्त व हर्षित करने वाले (हिरण्यकेश्या) [ज्योतिर्वै हिरण्यम्—शत० ४-३-१-२१] ज्योतिर्मय सूर्य आदि की

किरणों के समान तेजःकिरणों से युक्त (हरी) [हरणशील] जीवन का भलीभांति निर्वाह कराने में समर्थ—दोनों ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियाँ (हितं) हितकारी, पथ्य, (प्रयः) भोग्य अथवा उससे प्राप्तव्य काम्य सुख (अभि) की ओर जाकर उसको (इह) जीवन में (वोळ्ह) ढोकर लाव ॥२९॥

भावार्थः—वृष्टिसुख के वाहक वायु विद्युत् हैं और राष्ट्र में सुख के वाहक राजा और प्रजाजन हैं। ऐसे ही मानव जीवन में आध्यात्मिक सुख के वाहक—ज्ञान एवं कर्म-इन्द्रियाँ है। हितकारी भोग्य पदार्थों का भोग ही हितकारी सार को उत्पन्न कर सकता है। प्रभु से प्रार्थना है कि राष्ट्र में राजा और प्रजाजन और व्यक्तिगत जीवन में ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियाँ हित अथवा पथ्य का ही सेवन करें, जिससे इनके मिलने वाला आनन्द भी हितकर हो ॥२९॥

अर्वाञ्चँ त्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी।
सोमपेयाय वक्षतः ॥३०॥

पदार्थः—हे (पुरु-स्तुत) बहुतों से स्तुत ! (अर्वाञ्चं त्वा) अभिमुख उपस्थित तुझ इन्द्र को (प्रियमेधस्तुता) मेधावियों द्वारा प्रशंसित (हरी) जीवन-यात्रा का निर्वाह करने में समर्थ ज्ञान एवं कर्म इन्द्रियाँ (सोमपेयाय) ऐश्वर्यकारक सारभूत रस का पान कराने के लिये (वक्षतः) ले जाती हैं ॥३०॥

भावार्थः—व्यक्ति [इन्द्र] की जो ज्ञान एवं कर्म इन्द्रियाँ भोग्य पदार्थों के सौम्य रस का पान कराती हैं, उनके और उनके अधिष्ठाता व्यक्ति के अनेक प्रशंसक होते हैं ॥३०॥

अष्टम मण्डल में यह बत्तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकोनविंशत्यृचस्य त्र्यस्त्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१९ मेधातिथिः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१—३, ५ बृहती। ४, ७, ८, १०, १२ विराड् बृहती। ६, ९, ११, १४, १५ निचृद्बृहती। १३ आर्ची भुरिग्बृहती। १६, १८ गायत्री। १७ निचृद्गायत्री। १९ अनुष्टुप्॥ स्वरः—१—१५ मध्यमः। १६—१८ षड्जः। १९ गान्धारः॥

वयं घं त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते ॥१॥

पदार्थः—(आपः न) जल के समान (वृक्तबर्हिषः) स्वच्छ अन्तःकरण वाले (त्वा सुतावन्तः) ध्यानरूपी यज्ञ द्वारा आपके सान्निध्य से प्राप्तव्य ब्रह्मानन्द को निष्पन्न करते हुए (वयं घा) हम भी, (हे वृत्रहन् !) हे विघ्नापहारी परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो ! (पवित्रस्य) पावन ब्रह्मानन्द के (प्रस्रवणेषु) प्रपातों के किनारे (स्तोतारः) आपकी उपासना करते हुए (परि आसते) बैठे हैं ॥१॥

भावार्थः—स्वच्छ अन्तःकरण में ही प्रभु की उपासना की जा सकती है ॥१॥

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥२॥

पदार्थः—हे (वसो !) समस्त जगत् को बसाने वाले (निरेके) संशयरहित अर्थात् निश्चित रूप से (सुते) अन्तःकरण में परमानन्द के निष्पन्न हो जाने पर (उक्थिनः नरः) स्तोताजन (त्वा) आपको (स्वरन्ति) पुकारते हैं। वे मानो कहते हैं कि हे (इन्द्र !) हे मेरे जीवात्मन् ! (स्वब्दीव) श्रेष्ठ जलदाता के समान (वंसगः) विभाग करके देने वाला तू (सुतं तृषाणः) निष्पन्न परमानन्द से प्यास बुझाना चाहते हुए के समान (ओके) निवास स्थान में (कदा आगमः) कब आयेगा ? ॥२॥

भावार्थः—जब साधक को भगवान् के सान्निध्यरूप परमानन्द का अनुभव होता है तो मानो वह अपने सभी तृषार्त्त अधिकरणों की प्यास उसके उपयोग से मिटा देना चाहता है ॥२॥

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥३॥

पदार्थः—हे (धृष्णो) बलवान् सेनापते ! आप (सहस्रिणं) सहस्रों सुखों से युक्त (धृषद् वाजं) विजय दिलाने वाले ऐश्वर्य को (आ दर्षि) हमें चारों ओर से दिलाते ही हैं। परन्तु हे (मघवन् !) हे पूजनीय ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (विचर्षणे) विविध प्रकार की दर्शनशक्ति अथवा विज्ञान से युक्त भगवन् ! हम (कण्वेभिः) बुद्धिमान् विद्वानों के द्वारा अब (मक्षू) शीघ्र ही (पिशङ्गरूपं) उज्ज्वल सुव्यवस्था में ढले हुए (गोमन्तं) ज्ञान-विज्ञान के ऐश्वर्य की (ईमहे) याचना करते हैं ॥३॥

भावार्थः—भौतिक ऐश्वर्य क्षात्रबल से प्राप्त होता है; परन्तु साथ ही ब्राह्म अथवा आध्यात्मिक बल की साधना का लक्ष्य भी रखना चाहिये ॥३॥

पाहि गायान्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे ।
यः संमिश्लो हर्योर्यः सुते सचा वज्री रथो हिरण्ययः ॥४॥

पदार्थः—हे (मेध्य अतिथे) पूजनीय अभ्यागत विद्वन् ! आप (पाहि) भक्ष्य और पेय ग्रहण कीजिये तथा (अन्धसः मदे) अन्न के हर्षदायक सुख में विभोर होकर (इन्द्राय) इन्द्र को लक्ष्य करके कुछ (गाय) गीतों में वर्णन कीजिये । उस इन्द्र का वर्णन कीजिये कि जो (हर्योः) शरीररूपी रथ को ले जाने वाली प्राण व अपान शक्तियों का (संमिश्लः) मिश्रण है; (सुते) उत्पन्न संसार में (अर्यः) योद्धा है, (सचा) साथ ही (वज्री) लक्ष्यप्राप्ति के साधनों से सम्पन्न है, (रथः) गतिशील और (हिरण्ययः) तेजोमय है ॥४॥

भावार्थः—राष्ट्र का अध्यक्ष राजा अथवा सेनापति प्राण एवं अपान की सम्मिलित शक्ति द्वारा बलिष्ठ; योद्धा अर्थात् संघर्षशील होकर सांसारिक पदार्थों को उपलब्ध करने वाला, साधन-सम्पन्न, गतिशील और तेजस्वी हो ॥४॥

यः सुषव्यः सुदक्षिण इनो यः सुक्रतुर्गृणे ।
य आकरः सहस्रा यः शतामघ इन्द्रो यः पूर्भिदारितः ॥५॥

पदार्थः—उस इन्द्र का वर्णन कीजिये कि (यः) जो (इन्द्रः) राष्ट्राध्यक्ष अथवा सेनापति (सु-सव्यः सुदक्षिणः) जिसका बायां और दायां–दोनों हाथ अर्थात् समस्त कर्मशक्तियां समर्थ हैं, (इनः) जो दृढ़ निश्चयी और साहसपूर्वक स्वामित्व करने वाला है, (यः सुक्रतुः) जिसकी संकल्प अथवा इच्छाशक्ति सुदृढ़ है–(गृणे) ऐसी घोषणा है । (यः आकरः सहस्रा) सहस्रों गुणों की खान है; (शत-मघः) सैकड़ों प्रकार के न्यायार्जित धन का स्वामी है; (यः पूर्भित्) जो शत्रु-नगरों को तोड़ गिराता है और (आरितः) सभी स्तुत्य गुण-कर्म-स्वभाव (=स्तोम) जिसमें विद्यमान हैं ॥५॥

भावार्थः—राष्ट्रनेता के आवश्यक गुणों का इस मन्त्र में वर्णन किया गया है ॥५॥

यो धृषितो योऽवृतो यो अस्ति श्मश्रुषु श्रितः ।
विभूतद्युम्नश्च्यवनः पुरुष्टुतः क्रत्वा गौरिव शाकिनः ॥६॥

पदार्थः—(यः) जो (धृषितः) साहसी है; (अवृतः) चाटुकारों अथवा वञ्चकों से घिरा नहीं रहता; (यः) जो (श्मश्रुषु श्रितः) पौरुष के चिह्नों से युक्त है; (विभूत-

द्युम्नः) विशिष्ट यशस्वी है; (च्यवनः) शत्रुओं को अपदस्थ करता है; (पुरुस्तुतः) बहुतों से प्रशंसित है, (क्रत्वा) क्रियाशील है; (शाकिनः) कर सकने वाले—सामर्थ्यवान् व्यक्ति के लिये (गौः इव) भूमि, वाणी अथवा गाय के समान फलप्रद है ॥६॥

भावार्थः—राजनेता जब साहसी, धूर्तों की संगति से रहित होता है तब समर्थ जन उससे लाभ उठाते हैं और उसकी सर्वत्र कीर्ति होती है ॥६॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।

अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥७॥

पदार्थः—(अयं) यह (यः) जो (शिप्री) सुमुख सेनापति (अन्धसः) अन्न आदि भोग्य पदार्थों से (सुते) उत्पन्न रस से (मन्दानः) तृप्त होकर, उत्पन्न बल से बली होकर (ओजसा) पराक्रम द्वारा (पुरः) शत्रुओं अथवा शत्रुभूत दुर्भावनाओं की दुर्गरचनाओं को (वि-भिनत्ति) तोड़-फोड़ डालता है, (ईं) उसको कौन जानता है; (सचा) साथ ही (पिबन्तं) पान किया हुआ (वयः) प्राण (कत्) कितना है—इस बात को कौन जानता है ? ॥७॥

भावार्थः—ऐतरेय ब्राह्मण (१-२८) के अनुसार 'प्राणो वै वयः'—प्राण ही वयस् है। शूर सेनापति अन्न के सेवन एवं प्राणशक्ति के संचय से बलवान् बनता है। उसके शारीरिक बल और साहस का यही रहस्य है ॥७॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।

नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा ॥८॥

पदार्थः—(दाना) चरणशील (मृग इव) पशु के समान—घास आदि चरता हुआ पशु जैसे (पुरुत्रा) अनेक स्थानों पर (चरथं) आजीविका को प्राप्त करता है; वैसे (वारणः) दोषनिवारक मन बहुत प्रकार से विचरणशीलता को (दधे) धारण करता है। हे मेरे मन ! तेरी इस गतिशीलता को (न किः नियमत्) कोई नियन्त्रित करने वाला नहीं है। (सुते आगमः) ध्यान धारणादि द्वारा प्रस्तुत परमानन्द के मध्य (आ गमः) आ पहुँच; (ओजसा महान् असि) तू तो अपने बल के कारण महान् है; बड़ा है ॥८॥

भावार्थः—इन्द्रियों का नियामक मन ही मनुष्य के सब दोषों का निवारक है-जो सदा गतिशील रहता है और मस्त हस्ती के समान किसी के अधीन नहीं होता। वह यदि ध्यान-धारणा द्वारा प्रस्तुत परमानन्द का उपभोग कर ले तो उसके सब विकार दूर हो जाते हैं ॥८॥

य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥९॥

पदार्थः—(यः) जो मन (उग्रः सन्) अति उत्तेजित अवस्था में (अनिष्टृतः) अजेय शक्तिशाली होता है; (स्थिरः) चञ्चलता छोड़ने पर (रणाय) जीवन में संघर्ष के लिये अथवा अनिष्ट प्रवृत्तियों से संघर्ष के प्रयोजन से (संस्कृतः) परिष्कृत होता है सब शक्तियों से युक्त हो जाता है। (यदि) यदि (मघवा) शोभन स्तुत्य शम-दमादि ऐश्वर्यवान् मन (स्तोतुः) अपने स्तोता साधक की (हवं) पुकार को (शृणवत्) सुन लेता है तो फिर यह (इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्न मन (न योषति) अन्यत्र कहीं नहीं भटकता; (आ गमत्) अपने अधिष्ठाता जीवात्मा की ओर—उसके वश में आ जाता है ॥९॥

भावार्थः—यम, नियम, धारणा, ध्यान आदि योग-साधनों से पहले मन को वश में करना चाहिये; तभी जीवात्मा को परमानन्द का भोग प्राप्त होता है ॥९॥

सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽवृतः ।
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः ॥१०॥

पदार्थः—(इत्था) इस प्रकार सुसंस्कृत मन (सत्यं इत्) सचमुच ही (वृषा असि) सुखों का वर्षक सिद्ध होता है; (वृषजूतिः) बलवती एकाग्रताशक्ति से युक्त है; (नः) हममें से (अवृतः) दुर्भावनावालों से घिरा हुआ नहीं है; हे (उग्र) बलवन्! तू (वृषा हि) निश्चित रूप से सुखवर्षक (शृण्विषे) प्रसिद्ध है; (परावति) दूर देश में भी (अर्वावति) तथा समीप में भी (वृषः) सुखवर्षक (श्रुतः) प्रसिद्ध है ॥१०॥

भावार्थः—मन जहां बलवान् है वहां वह सुखदाता भी है—उसको एकाग्रता के अभ्यास से दुर्भावनाओं द्वारा घेराव से बचाना चाहिये ॥१०॥

वृषणस्ते अभीशवो वृषा कशा हिरण्ययी ।
वृषा रथो मघवन्वृषणा हरी वृषा त्वं शतक्रतो ॥११॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) विविध प्रकार के अनेक दृढ़ संकल्प धारण करके तदनुसार सैकड़ों कर्म करने वाले पुरुष! चूंकि (ते अभीशवः) तेरे [जीवन-रथ के घोड़ों की नियन्त्रक रासें] चारों ओर फैले तेज (वृषणः) बलवान् हैं; (हिरण्ययी) न्यायप्रकाश से चमचमाती (कशा) नियन्त्रणसाधकक्रियारूपी चाबुक (वृषा) सुदृढ़

है, हे (मघवन्) साफ-सुथरे पूजायोग्य ऐश्वर्यवाले पुरुष ! (रथः) हर्षदायक सर्वथा स्वस्थ तेरा शरीर रूपी रथ (वृषा) मजबूत है, (हरी) हरणशील जीवनचक्र को चलानेवाली दो-दो प्रकार की—इन्द्रियां, ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियाँ (वृषणा) सर्वथा कार्यक्षम हैं; इसलिये तू अपने आप (वृषा) समर्थ एवं दानशील है ॥११॥

भावार्थः—जिस व्यक्ति के शरीर—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि जीवनचक्र के सभी चालक यंत्र सुदृढ़ होते हैं, वह संसार में नाना कर्म सुदृढ़ संकल्प द्वारा करता हुआ स्वयं समर्थ एवं दानशील होता है ॥११॥

वृषा सोता सुनोतु ते वृषन्नृजीपिन्ना भर।
वृषा दधन्वे वृषणं नदीष्वा तुभ्यं स्थातर्हरीणाम् ॥१२॥

पदार्थः—हे वीर पुरुष! (वृषा) बलवान् (सोता) वीर्य सम्पादक तेरा मन (ते) तेरे लिये (सुनोतु) वीर्यरूप ऐश्वर्य का सम्पादन करे; हे (वृषन्!) बलवान् (ऋजीषिन्) शत्रु-भावनाओं पर आक्रमण करने वाले तू (आ भर) सम्पादित होते उस वीर्यरूप ऐश्वर्य को खूब भर ले। हे (हरीणां) चञ्चल इन्द्रिय वृत्तियों के (स्थातः) स्थिर करने वाले पुरुष ! (तुभ्यं) तुझे प्रदान करने के लिये (वृषा) बलवान् मन (नदीषु) नाड़ियों में (वृषणं) बलवर्धक वीर्य रस को (आ दधन्वे) पुष्ट करे ॥१२॥

भावार्थः—यम नियमादि साधनों से समाहित मन द्वारा शरीर की नाड़ी-नाड़ी में वीर्य का आधान होता है; वीर पुरुष इसी प्रकार बलवान् बनता है ॥१२॥

एन्द्र याहि पीतये मधु शविष्ठ सोम्यम्।
नायमच्छा मघवा शृणवद्गिरो ब्रह्मोक्था च सुक्रतुः ॥१३॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) शौर्यरूप ऐश्वर्य के इच्छुक ! (शविष्ठ) बलवान् बनने के अभिलाषी जन ! तू (सोम्यं) वीर्यवान् बनाने में समर्थ (मधु) मधुर पेय के (पीतये) उपभोग के लिये (आ याहि) स्तोता मन का साथ कर। ऐसा किये बिना (मघवा) शुभ-पूजनीय धन वाला भी (सुक्रतुः) बुद्धिमान् भी (अयं इन्द्रः) यह वीर्यरूप ऐश्वर्य का इच्छुक पुरुष (न) न तो (ब्रह्म) वेद ज्ञान को (च) और न (उक्था) गुण-वर्णन करने वालों द्वारा किये गए गुणगानों को (अच्छा शृणवत्) भलीभांति सुन सकता है ॥१३॥

भावार्थः—मनुष्य सुकर्मा भी हो जाय तो भी जबतक वह मन एवं इन्द्रियों को यमनियमादि द्वारा समाहित कर उससे प्राप्त दिव्य आनन्द

का भोग नहीं करता तब तक वेदादि ज्ञान-विज्ञान की बातों को सुन नहीं सकता ॥१३॥

वहन्तु त्वा रथेष्ठामा हरयो रथयुजः ।
तिरश्चिदर्यं सवनानि वृत्रहन्नन्येषां या शतक्रतो ॥१४॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्) दिव्य आनन्द की प्राप्ति में आने वाली बाधाओं को दूर करते हुए (शतक्रतो) नानाविध संकल्प एवं कर्मों को सिद्ध करने वाले समर्थ जन ! (रथेष्ठां) अपनी जीवनयात्रा के साधनभूत [इन्द्रियादि सहित] शरीर रूपी रथ में अचल रूप से बैठे हुए तुझे (रथयुजः) तेरे शरीर में एकाग्रतापूर्वक संयुक्त (हरयः) इन्द्रियादि ले जाने वाले उपकरण (वहन्तु) ले चलें; (या) जो (सवनानि) प्रेरणायें (अन्येषां) दूसरों की, उन इन्द्रियादि साधनों की हैं जो तेरी अपनी या अपने वश में नहीं हैं वे तो, (अर्यं चित्) समर्थ भी तुझे—तेरे सामर्थ्य को (तिरः) तिरस्कृत कर देंगे ॥१४॥

भावार्थः—अपनी इन्द्रिय आदि को वश में करके समर्थ मनुष्य सुख-पूर्वक जीवन-निर्वाह कर सकता है; जिसकी इन्द्रियां आदि उसकी अपनी नहीं हैं—उसके अपने वश में नहीं हैं, उसका सामर्थ्य भी व्यर्थ हो जाता है ॥१४॥

अस्माकमद्यान्तमं स्तोमं धिष्व महामह ।
अस्माकं ते सवना सन्तु शन्तमा मदाय द्युक्ष सोमपाः ॥१५॥

पदार्थः—हे (महामह) बड़ों के भी पूजनीय परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (अद्य) अब शीघ्र ही (अन्तमं) सब दुःखों का अन्त करने वाले (स्तोमं) स्तुत्य गुण कर्म स्वभाव को (अस्माकं) हमें धारण कराइये। हे (सोमपाः) उत्पादित पदार्थों द्वारा सबके रक्षक ! (द्युक्ष) अपने ओज से प्रदीप्त परमेश्वर! (ते) आपकी (सवना) प्रेरणाएँ, जो (शंतमा) अति सुखदायी हैं वे (अस्माकं) हमें (मदाय सन्तु) हर्षित करें ॥१५॥

भावार्थः—प्रभु की प्रेरणा से मनुष्य श्लाघ्य गुण-कर्म-स्वभाव को प्राप्त कर मौज करता है ॥१५॥

नहि षस्तव नो मम शास्त्रे अन्यस्य रण्यति ।
यो अस्मान्वीर आनयत् ॥१६॥

पदार्थः—(यः वीरः) जो वीर पुरुष (अस्मान्) हम मन, इन्द्रिय आदि को (आनयत्) अपने वश में ले आता है, (सः) वह (न हि तव) न ही तेरे (मम) न मेरे (अन्यस्य) न किसी दूसरे के (शास्त्रे) शासन में (रण्यति) प्रसन्न रहता है ॥१६॥

भावार्थः—कहा है कि "सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्"। वीर पुरुष के मन-इन्द्रिय आदि जब तक अपने शासन अथवा वश में रहते हैं तभी तक वह प्रसन्न रहता है, किसी पराये के शासन में वह सुख नहीं मानता ॥१६॥

इन्द्रश्चिद्घा तदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मनः ।
उतो अह क्रतुं रघुम् ॥१७॥

पदार्थः—(चित्) फिर (इन्द्रः घ) अति समर्थ पति भी (इदं) यह (अब्रवीत्) कहे कि (स्त्रियाः) साथ चलने वाली स्त्री अर्थात् जीवन संगिनी के (मनः) मन को, उसकी विचारधारा को (अशास्यं) वश में करना कठिन है (उतो अह) साथ ही निश्चय से उसके (क्रतुं) बुद्धिबल अथवा संकल्प बल को भी यदि वह (रघुं) अल्प अथवा तुच्छ कहता है ॥१७॥

भावार्थः—अत्यन्त समर्थ पति तक भी यदि कभी अनुभव करे कि उसकी जीवनसंगिनी की विचारधारा का उसकी विचारधारा से सामञ्जस्य नहीं है तो··· (क्या होना चाहिये—यह अगले मन्त्र में बताया है) ॥१७॥

सप्ती चिद्घा मदच्युता मिथुना वहतो रथम् ।
एवेद्धूर्वृष्ण उत्तरा ॥१८॥

पदार्थः—(सप्ती चित्) शीघ्र चलने वाले भी पति-पत्नी निश्चय ही (मदच्युता) मन आदि के संयम द्वारा दिव्य आनन्द का भोग करते हुए (मिथुना) मिले हुए (रथं वहतः) जीवन के यान को वहन करते हैं। (एवेत्) इसी प्रकार (वृष्णः) बलवान् वीर्यसेचक अर्थात् पति का (धूः) भार—उत्तरदायित्व (उत्तरा) दोनों के भारों में से अधिक है ॥१८॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र में उठाई हुई शङ्का का उत्तर यह है कि पति-पत्नी का गृहस्थ-जीवन दोनों का सम्मिलित उत्तरदायित्व है परन्तु शारीरिक आदि दृष्टि से अधिक बलवान् अतएव दानशील पति का उत्तरदायित्व अधिक श्रेष्ठ है - ऐसे ही जैसे कि रथ आदि यान में नियुक्त जोड़ी में से अधिक बलवान् पर अधिक भार रहता है ॥१८॥

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥१९॥

पदार्थः—(स्त्री हि ब्रह्मा ब भूविथ) मानो कि [इस गृहस्थ रूप यज्ञ में] पुरुष की संगिनी, स्त्री ही (ब्रह्मा) ब्रह्मा नामक ऋत्विक् (वभूविथ) वन गयी हो—वह कहती है कि (अधः पश्यस्व) नीचे देख (उपरि मा) ऊपर नहीं; (पादकौ) दोनों पाँवों को (सन्तरां वह) सम्यक्तया संश्लिष्ट रूप से उठा कर चल। (ते) तेरे (कशप्लकौ) निम्नांग (मा दृशत्) नंगे न हों ॥१९॥

भावार्थः—यज्ञ में चार ऋत्विज् होते हैं; उनमें से 'ब्रह्मा' उदगाता आदि अन्य ऋत्विजों को प्रवोध देता रहता है कि ऐसा करो, ऐसा न करो आदि। गृहस्थ रूप यज्ञ की ब्रह्मा, मानो स्त्री ही होती है। वह कर्म करने के उत्तरदायी शक्तिशाली पुरुष—इन्द्र—को इस जीवन-यज्ञ में सुझाव देती रहती है। नीचे देखने का अभिप्राय 'विनयी' होना है; ऊपर देखना 'उद्धत' होना है। मनुष्य दो पाँवों को इस प्रकार सामञ्जस्य से चलाये कि उसके जीवन में 'प्रगति' हो ॥१९॥

अष्टम मण्डल में यह तेतीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टादशर्चस्य चतुस्त्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१५ नीपातिथिः काण्वः। १६—१८ सहस्रं वसुरोचिषोऽङ्गिरस ऋषिः॥ इन्द्रो देवता॥ छन्दः—१, ३, ८, १०, १२, १३, १५ निचृदनुष्टुप्। २, ४, ६, ७, ९ अनुष्टुप्। ५, ११, १४ विराडनुष्टुप्। १६, १८ निचृद्गायत्री। १७ विराड् गायत्री॥ स्वरः—१—१५ गान्धारः। १६—१८ षड्जः॥

एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम्।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥१॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील बलशाली मनुष्य! तू (हरिभिः) जीवन में ले चलने वाले अश्वों सदृश इन्द्रियों, [अन्तःकरण एवं प्राणों के साथ (कण्वस्य) बुद्धिमान् की (सुष्टुतिं) शोभन स्तुति—गुण वर्णन—को (उप याहि) समीप से सुन। (अमुष्य दिवः शासतः) जब तक उस दिव्यगुणी स्तोता का उपदेश हो रहा है, उसको सुनकर, हे (दिवावसो) दिव्यता को अपने आपमें बसाने की इच्छा वाले साधक मनुष्य! तू (दिवं यय) दिव्यता को प्राप्त कर ले ॥१॥

भावार्थः—स्तुति का अर्थ है गुणावगुणों का यथार्थ कथन। ऐसी स्तुति का फल उन गुणों को अपने में धारण करना और अवगुणों को छोड़ना होता है। दिव्यगुणी बुद्धिमान् द्वारा की गई ईश्वरादि की स्तुति को मनुष्य अपनी इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा प्राणादि साधनों द्वारा अपने में धारण करे तो वह स्वयं दिव्यगुणी बनता है; ऐसे अवसर न त्यागने का ही यहाँ निर्देश है ॥१॥

आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण यच्छतु।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥२॥

पदार्थः—(त्वा) तुझ ऐश्वर्यार्थी जन को (ग्रावा) पदार्थों का स्तोता अथवा उपदेष्टा (सोमी) स्वयं प्रशस्त पदार्थों को जानकर उनसे लाभान्वित विद्वान् (आ वदन्) तुझे बताता हुआ (घोषेण) शौर्य तथा उत्साहजनक चित्र-विचित्र बाजों की ध्वनि द्वारा (यच्छतु) तेरे अन्तःकरण में धारण करा दे। (अमुष्य...आदि पूर्ववत्) ॥२॥

भावार्थः—स्तोता विद्वान् न केवल अपनी वाणी से उपदेश करे अपितु उद्घोषक वादित्रों की सहायता से भी श्रोता के मन में अपने कथन को भलीभांति स्थापित कर दे ॥२॥

अत्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥३॥

पदार्थः—(वृकः उरां धूनुते) भेड़िया भेड़ को अपने बल से खूब झकझोर डालता है (न) इसी प्रकार (अत्रा) इस जीवनयात्रा में (एषां) इन स्तोताओं की (नेमिः) गर्जनध्वनि श्रोता साधक को बलपूर्वक (वि धूनुते) विशेष रूप से झकझोर डालती है। शेष पूर्ववत् ॥३॥

भावार्थः—स्तोता विद्वान् की वाणी में विद्युत् के गर्जन-सरीखा बल होना चाहिये—इतना बल हो कि श्रोता साधक को सुनना ही पड़े ॥३॥

आ त्वा कण्वा इहावसे हवन्ते वाजसातये।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥४॥

पदार्थः—(कण्वाः) स्तोता बुद्धिमान् विद्वान् (इह) इस जीवनयज्ञ में (वाजसातये) ज्ञानादि बल प्राप्त कराने के लिये—और (अवसे) रक्षा प्रदान करने के लिये (त्वा) तुझे (आ हवन्ते) स्वीकार करते हैं। शेष पूर्ववत् ॥४॥

भावार्थः—सद्गुणों के साधक मनुष्य ! यह तेरा सौभाग्य है कि बुद्धिमान् विद्वानों ने अपने गुणवर्णन के श्रोता के रूप में तुझे स्वीकार कर लिया है; इस अवसर को मत चूक ॥४॥

दधा॑मि ते सु॒तानां॒ वृष्णे॒ न पू॑र्व॒पाय्य॑म् ।

दिवो॑ अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दिवावसो ॥५॥

पदार्थः—[बुद्धिमान् स्तोता साधक पुरुष से कहता है कि] मैं (सुतानां) सुसंस्कृत गुणवर्णनों के (पूर्वपाय्यम्) पूर्व मात्रा को (वृष्णे न ते) जलवर्षक मेघ के समान दानशील तेरे अन्तःकरण में (दधामि) धारण कराता हूँ । शेष पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—स्तोता विद्वान् साधक को पात्र समझकर प्रथम उसे ही अपनी की हुई ईश्वरादि की स्तुति सुनाता है; साथ ही यह आशा करता है कि इस स्तुति को सुनकर वह इस को रोक कर अपने पास ही न रख ले; रोधक, वृत्र, मेघ न बने; अपितु वर्षणशील, दूसरों को ज्ञान देने वाला, बने ॥५॥

स्मत्पु॑रंधिर्न॒ आ ग॑हि वि॒श्वतो॑धीर्न॒ ऊ॒तये॑ ।

दिवो॑ अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दिवावसो ॥६॥

पदार्थः—(विश्वतो धीः) सब ओर जाने वाली बुद्धि तथा सर्वगामी कर्मशक्ति से सम्पन्न श्रोता साधक (स्मत् पुरन्धिः) बहुत प्रकार की श्रेष्ठ विद्या से युक्त हुआ (ऊतये) हमें ज्ञान प्रदान करने के लिये (नः) हमारा (आ गहि) हाथ पकड़ ले ॥६॥

भावार्थः—श्रोता साधक जब स्वयं वर्षणशील, ज्ञान की वर्षा करनेवाला है तो अन्य साधारण जन उससे यह अपेक्षा रखें कि वह अपनी कमाई हुई सारी सूझबूझ और कर्मशक्ति का औरों को उपदेश दे ॥६॥

आ नो॑ याहि महेमते॒ सह॑स्रोते॒ शता॑मघ ।

दिवो॑ अ॒मुष्य॒ शास॑तो॒ दिवं॑ य॒य दिवावसो ॥७॥

पदार्थः—हे (महेमते) पूजनीय ज्ञानवान् (सहस्रोते) अनेक प्रकार की ज्ञानधाराओं वाले ! (शतामघ) सैकड़ों प्रकार के ज्ञानबल आदि उत्तम धनों को चाहने वाले ! वीर्यसाधक इन्द्र! (नः) हमारे समीप (आ याहि) आ । शेष पूर्ववत् ॥७॥

भावार्थः—साधारणजन श्रोता साधक से प्रार्थी हैं कि स्वयं ज्ञानी बनकर वह अन्य साधारण जनों को अपनी उपदेशवृष्टि से लाभ पहुँचावे ॥७॥

आ त्वा होता मनुर्हितो देवत्रा वक्षदीड्यः ।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥८॥

पदार्थः—[हे साधक, बलार्थी, वीर मनुष्य !] (त्वा) तुझको (होता) दिव्यगुणियों को बुलाने वाला, (मनुः) मननशील (हितः) हितकारी (देवत्रा ईड्यः) दिव्यगुणियों में स्तुत्य गुणों के कारण प्रशंसनीय इन्द्र, बलशाली विद्वान् (आ वक्षत्) बढ़ाता और बलवान् करता है । शेष पूर्ववत् ॥८॥

भावार्थः—बलार्थी साधक को अपनी उन्नति के लिये मननशील, हितकारी, दिव्यगुणियों में श्रेष्ठ दिव्यगुणी का सेवन करना चाहिये ॥८॥

आ त्वा मदच्युता हरी श्येनं पक्षेव वक्षतः ।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥९॥

पदार्थः—(त्वा) तुझ बलार्थी साधक को (मदच्युता) अति बलिष्ठ अथवा शत्रु-भावनाओं के गर्व को दूर करने वाले (हरी) शरीर रूपी रथ को वहन करने वाले प्राण एवं अपान, (श्येनं पक्षा इव) अतिवेग से उड़ सकने वाले शक्तिशाली श्येन पक्षी को जैसे उसके पंख वहन करते हैं वैसे, [प्राण और अपान] तुझे बलशाली बनाये रखते हैं । शेष पूर्ववत् ॥९॥

भावार्थः—प्राणायाम द्वारा प्राणों पर आधिपत्य करने से बलार्थी साधक को बल मिल सकता है ॥९॥

आ याह्यर्य आ परि स्वाहा सोमस्य पीतये ।

दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥१०॥

पदार्थः—[बलार्थी साधक अपने उपदेष्टा विद्वान् से प्रार्थना करे कि हे !] (अर्य) प्रगतिशील, समर्थ विद्वन् ! (स्वाहा) सत्य वचनों, सत्य क्रिया और सत्यपुरुषार्थ द्वारा (परि सोमपीतये) निष्पन्न पदार्थों के विषय में ज्ञान का सब ओर से सम्यक्तया आदान-प्रदान करने के व्यवहार के लिये (आ) आइये । शेष पूर्ववत् ॥१०॥

भावार्थः—समर्थ विद्वान् को चाहिये कि पदार्थों के विषय में ज्ञान-विज्ञान के प्रदान-आदान का सच्चे हृदय से प्रयत्न करे । इस प्रकार साधक बलार्थी दिव्यता की ओर अग्रसर होता है ॥१०॥

आ नो याह्युपश्रुत्युक्थेषु रणया इह ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥११॥

पदार्थः—[बलार्थी साधक को विद्वान् मानो कह रहे हैं कि] हे साधक ! तू (नः) हमारे कथन के (उपश्रुति) उपयुक्त श्रवण को (आ याहि) प्राप्त हो; और (इह) इस उपयुक्त श्रवण के अवसर के प्राप्त होने पर (उक्थेषु) बनाये जा सकने वाले वेदस्थ सब स्तुति वचनों में (रणया) रमण कर। शेष पूर्ववत् ॥११॥

भावार्थः बलार्थी साधक को ऐसे अवसर की खोज में रहना चाहिये जबकि उसको विद्वानों के उपयुक्त कथन सुनने को मिलें। विद्वान् वेदों में वर्णित सृष्टि के पदार्थों के गुणावगुण का वर्णन (स्तोत्र) सुनाते हैं; साधक को परम आनन्द के साथ उन्हें सुनना चाहिये ॥११॥

सरूपैरा सु नो गहि संभृतैः सम्भृताश्वः ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥१२॥

पदार्थः—[बलार्थी साधक के प्रति विद्वानों का कथन है कि] (सम्भृताश्वः) सम्पुष्ट इन्द्रियरूप अश्वों वाला तू (संभृतैः) परिपुष्ट और (सरूपैः) अपने समान रूपवान् साथियों के साथ (नः) हमें (सु आ गहि) सुष्ठुतया ग्रहण कर। शेष पूर्ववत् ॥१२॥

भावार्थः—साधक अकेला ही नहीं, अपने जैसे, उतने ही परिपुष्ट, इन्द्रियादि साधनों वाले साथियों के साथ आकर विद्वानों का सहारा ले ॥१२॥

आ याहि पर्वतेभ्यः समुद्रस्याधि विष्टपः ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥१३॥

पदार्थः—हे साधक ! तू (पर्वतेभ्यः) पर्वतों के समान दुर्लंघ्य स्थानों पर से, (समुद्रस्य अधि) समुद्रों की गहराइयों में से और (विष्टपः) दूर-दूर तक व्याप्त अन्तरिक्ष तक से भी (आयाहि) आकर समर्थ विद्वान् की सेवा में पहुँच। शेष पूर्ववत् ॥१३॥

भावार्थः—साधक को अपने मार्ग की सभी प्रकार की विघ्न बाधाओं-दुर्गमता, गहराई और बहुत दूरी—को लांघकर समर्थ विद्वान् की सेवा में पहुँचना चाहिये ॥१३॥

आ नो गव्यान्यश्व्या सहस्रा शूर दर्दृहि ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥१४॥

पदार्थः—फिर साधक (नः) हमारे (सहस्रा) अनगिनत (गव्यानि) ज्ञानेन्द्रियों के लिये हितकारी तथा (अश्व्या) कर्मेन्द्रियों के हितकारी नाना बलों को (आ दर्दृहि) चारों ओर से बढ़ाये । शेष पूर्ववत् ॥१४॥

भावार्थः—साधक का कर्त्तव्य है कि वह विद्वानों का अनुसरण करे; उनके ज्ञान एवं कर्मबल के अनुसार अपने ज्ञान एवं कर्मबल को बढ़ाने का प्रयत्न करे ॥१४॥

आ नः सहस्रशो भरायुतानि शतानि च ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥१५॥

पदार्थः—[साधक की बलशाली विद्वान् से प्रार्थना है कि] हे विद्वन् ! आप (नः) हमें (सहस्रशः, अयुतानि, शतानि च) सैंकड़ों, हजारों, और लाखों ऐश्वर्यों से (आ भर) परिपूर्ण कर दें—पुष्ट करें । शेष पूर्ववत् ॥१५॥

भावार्थः—बलशाली उपदेष्टा विद्वान् से शिक्षा लेकर असंख्य प्रकार के पौष्टिक पदार्थों, बल बढ़ाने के योगाभ्यास आदि की साधनभूत क्रियाओं का अभ्यास करने का संकल्प साधक लें ॥१५॥

आ यदिन्द्रश्च दद्वहे सहस्रं वसुरोचिषः ।
ओजिष्ठमश्व्यं पशुम् ॥१६॥

पदार्थः—(यत्) जब (वसुरोचिषः) वास के साधनभूत ऐश्वर्य की दीप्ति के अभिलाषी हम (च इन्द्रः) तथा समर्थ विद्वान् (ओजिष्ठं) पराक्रम के साधनभूत, (अश्व्यं) कर्मेन्द्रियों के लिये हितकारी तथा (पशुं) दर्शनशक्ति वाले ज्ञानेन्द्रियों के प्रतीक, ज्ञानेन्द्रियों के हितकारी बल को (आ दद्वहे) प्राप्त करें ॥१६॥

भावार्थः—साधक तथा उसका उपदेष्टा शक्तिशाली विद्वान् वही बल ग्रहण करे कि जो उसकी ज्ञान और कर्मशक्ति को बढ़ाये ॥१६॥

य ऋज्रा वातरंहसोऽरुषासो रघुष्यदः ।
भ्राजन्ते सूर्या इव ॥१७॥

पदार्थः—(ये) जो (ऋज्राः) धर्म के सरल मार्ग से जीवनयापन करने वाले, (वातरंहसः) वायु के वेग के बराबर गतिशील, [आलस्यहीन] (अद्वासः) परन्तु अहिंसाशील तेजस्वी, (रघुष्यदः) मार्ग को सींचने वाले--निर्विघ्न करने वाले विद्वान् हैं वे (सूर्याइव) सूर्य की किरणों से चमकने वाले नक्षत्रों के समान (भ्राजन्ते) चमकते हैं ॥१७॥

भावार्थः—[रघुष्यदः=ये मार्गान् स्यन्दन्ते ते—ऋ० दया०] जो विद्वान् स्वयं धर्ममार्ग पर चलते हुए साधकों के लिये जीवनयात्रा का मार्ग सुगम एवं सुखद बनाते हैं—वे वस्तुतः स्तुत्य है; आकाश में जैसे सूर्य से प्रकाश ग्रहण कर नक्षत्र चमकते हैं—वैसी ही यशःकान्ति से ये विद्वान् चमकते हैं; यशस्वी होते हैं ॥१७॥

पारावतस्य रातिषु द्रवच्चक्रेष्वाशुषु ।
तिष्ठं वनस्य मध्य आ ॥१८॥

पदार्थः—जब (पारावतस्य) परमस्थिति में स्थिर परम पालक प्रभु की (रातिषु) दानभूत, (आशुषु) शीघ्रगामी अश्वरूप बलवती इन्द्रियाँ (द्रवत् चक्रेषु) शरीररूप रथ के चक्रों को अतिवेग से दौड़ने की स्थिति में आ जायें तब, मैं साधक (वनस्य मध्ये) ऐश्वर्य के मध्य (आ तिष्ठम्) आ विराजमान हो जाऊँ ॥१८॥

भावार्थः—जब मनुष्य की इन्द्रियाँ उसके वश में हों और उसकी जीवन-यात्रा निर्विघ्न रूप से पूरे वेग में होने लगे तो साधक सब प्रकार के ऐश्वर्य का अधिष्ठाता हो, इन्द्ररूप प्राप्त कर लेता है ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह चौंतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्विंशत्यृचस्य पञ्चत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—२४ श्यावाश्व ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः--१-५, १६, १८ विराट् त्रिष्टुप् । ७-६, १३ नि॰त्रिष्टुप् । ६, १०—१२, १४, १५, १७ भुरिक् पंक्तिः । २०, २१, २४ पंक्तिः । १६, २२ निचृत् पंक्तिः । २३ पुरस्ताज्ज्योतिर्नामजगती ॥ स्वरः-१-५, ७-६, १३, १६, १८ धैवतः । ६, १०—१२, १४, १५, १७, १६—२२, २४ पञ्चमः । २३ निषादः ॥

राजपुरुषों के कर्त्तव्य कहते हैं ॥

अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्वसुभिः सचाभुवा ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥१॥

पदार्थः—(अश्विना) हे अश्वयुक्त राजन् तथा मन्त्रिदल ! आप (अग्निना) अग्निहोत्रादि शुभकर्म के (सचाभुवा) साथ ही हुए हैं। यद्वा यह आत्मा नित्य है इस कारण अग्नि के साथ ही आप आविर्भूत हुए हैं। इसी प्रकार आगे भी जानना। यद्वा अग्नि सामर्थ्य के साथ राजा रहते हैं, क्योंकि आग्नेयास्त्रों का प्रयोग सदा ही करना पड़ता है। इसी प्रकार (इन्द्रेण) विद्युच्छक्ति के साथ आप हुए हैं, क्योंकि विद्युत् की सहायता से बहुत अस्त्र बनाये जाते हैं जिनसे राजाओं को सदा प्रयोजन रहता है। (वरुणेन) वरणीय जलशक्ति के साथ हुए हैं क्योंकि प्रजाओं के उपकारार्थ जलों को नाना प्रकार नहर आदिकों से नाना प्रयोग में राजा को प्रयुक्त करना पड़ता है। (विष्णुना) आप सूर्यशक्ति के साथ हुए हैं, क्योंकि सूर्य के समान विद्या प्रचारादि से अज्ञानान्धकार को छिन्न-भिन्न करते हैं। (आदित्यैः) द्वादश मासों की शक्ति के साथ हुए हैं, क्योंकि जैसे द्वादश मास द्वादश प्रकार से जीवों को सुख पहुँचाते हैं वैसे आप भी (रुद्रैः) एकादश प्राणों के सामर्थ्य के साथ हुए हैं, क्योंकि जैसे ये एकादश प्राण शरीर में सुख देते हैं तद्वत् आप प्रजामण्डल में विविध सुख पहुँचाते हैं। तथा (वसुभिः) आठ प्रकार के धनों के साथ ही आप हुए हैं। और (उषसा) प्रातःकाल इससे मृदुता शीलता आदि गुणों का (सूर्य्येण) सूर्य शब्द से तीक्ष्णता प्रताप आदि का ग्रहण है इसलिए मृदुता और तीक्ष्णता दोनों गुणों से आप (सजोषसा) सम्मिलित हैं क्योंकि उभयगुणसम्पन्न राजा को होना चाहिये। इस कारण (सोमम् पिबतम्) सोमरस का पान कीजिये क्योंकि आप इसके योग्य हैं। इस प्रकार आगे भी व्याख्या कर्तव्य है ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य जाति को उत्तम और सुशील बनाने के लिये तीन मार्ग हैं—विद्या, धर्म और राज-नियम। परन्तु इन तीनों में राजदण्ड से ही संसार की स्थिति बनी रहती है, क्योंकि इसके उग्रदण्ड से आपामर डरते हैं। अतः राजमण्डल का वर्णन इस प्रकार वेद में कहा गया है ॥१॥

विश्वा॑भि॒र्धी॒भि॒र्भुव॑नेन वाजिना दि॒वा पृ॑थि॒व्याद्रि॑भिः सचा॒भुवा॑।
स॒जोष॑सा उ॒षसा॒ सूर्ये॑ण च॒ सोमं॑ पिबतमश्विना ॥२॥

पदार्थः—(वाजिना) हे ज्ञानी वा बली (अश्विना) हे राजन् ! तथा अमात्यमण्डल आप (विश्वाभिः) सर्व प्रकार की (धीभिः) बुद्धियों के (सचाभुवा) साथ ही उत्पन्न हुए हैं। एवम् । (भुवनेन) सर्व प्राणियों के (दिवा) द्युलोक के (पृथिव्या) पृथिवी के (अद्रिभिः) पर्वतों या मेघों के साथ आविर्भूत हुए हैं। तथा (उषसा सूर्येण च) मृदुता और तीक्ष्णता दोनों से सम्मिलित हैं। अतः आप महान् हैं; इस कारण सोमरस पीवें ॥२॥

भावार्थः—जो राजा एवं उसका मन्त्रिमण्डल बुद्धिमत्ता के साथ द्युलोक आदि से लाभ उठाते हैं, वे दिव्य आनन्द के पात्र हैं ॥२॥

विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना ॥३॥

पदार्थः—हे राजन् ! तथा अमात्यदल ! आप (विश्वैः देवैः) सर्वदेव अर्थात् (त्रिभिः) त्रिगुणित (एकादशैः) एकादश याने ३३ (तेंतीस) देवों के (अद्भिः) जलों के (मरुद्भिः) मरुद्गणों के तथा (भृगुभिः) मर्जनकारी अग्नियों के (सचाभुवा) साथ ही उत्पन्न हुए हैं । आगे पूर्ववत् ॥३॥

भावार्थः—तेतीस देवों से लाभ उठाने वाले राजा व उसके मन्त्री सुख के अधिकारी होते हैं ॥३॥

जुषेथां यज्ञं बोधतं हवस्य मे विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चेषं नो वोळ्हमश्विना ॥४॥

पदार्थः—(अश्विना देवौ) हे राजदेव ! तथा मन्त्रिदल देव! आप सब मिलकर (यज्ञम्) शुभकर्म को (जुषेथाम्) प्रीतिपूर्वक सेवें । (मे) मेरे (हवस्य) आह्वान को (बोधतम्) जानें या प्राप्त करें । आप दोनों (उषसा) मृदुता और (सूर्येण च) तीक्ष्णता से (सजोषसा) संयुक्त होकर (नः) हम लोगों के निकट (इषम्) अन्न (आ वोढम्) मँगवावें ॥४॥

भावार्थः—राजा अपने मन्त्रिमण्डल सहित शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहें—इस प्रकार वे सुखी रहते हैं ॥४॥

स्तोमं जुषेथां युवशेव कन्यनां विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चेषं नो वोळ्हमश्विना ॥५॥

पदार्थः—(अश्विनौ देवौ) हे राजदेव तथा मन्त्रिमण्डल देव ! आप दोनों (सोमम्) प्रार्थनाओं को (जुषेथाम्) प्रीतिपूर्वक सेवें । यहां दृष्टान्त देते हैं (युवशा इव) जैसे युवा पुरुष (कन्यानाम्) कन्याओं की बातें सुनते हैं । (इह) इस संसार में, इत्यादि पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—राजा व उसके मन्त्री अपनी प्रजा की आवश्यकताओं को प्रीतिपूर्वक पूर्ण करें ॥५॥

गिरों जुषेथामध्वरं जुषेथां विश्वेह देवौ सवनाव गच्छतम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चेषं नो वोळ्हमश्विना ॥६॥

पदार्थः—(देवौ) हे देव ! हे राजन् ! हे अमात्यगण ! आप सब (गिरः) हम लोगों की सब प्रकार की भाषाओं को (जुषेथाम्) जानें और (अध्वरम्) अखिल यज्ञ को (जुषेथाम्) सेवें; (इह) इस संसार में, इत्यादि पूर्ववत् ॥६॥

भावार्थः—राजा और मन्त्रीजन अपनी विभिन्न प्रजाओं की विविध-भाषाओं को जानें जिससे उनके सुख-दुःख को जान सकें ॥६॥

हारिद्रवेव पतथो वनेदुप सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च त्रिर्वर्तिर्यातमश्विना ॥७॥

पदार्थः—(अश्विनौ) हे राजन् तथा मन्त्रिन् ! (हारिद्रवा इव) जैसे पिपासाकुल हारिद्रव पक्षी (वना इव) जलों की ओर उड़ते हैं वैसे ही आप दोनों हम लोगों की रक्षा के लिए इतस्ततः (पतथः) जाते हैं और (महिषा इव) जैसे महिष पिपासित होकर जल की ओर दौड़ते हैं तद्वत् आप (सुतम्) गृहस्थों से सम्पादित (सोमम्) समस्त पदार्थ को देखने के लिये (अवगच्छथः) दौड़ते हैं (अश्विना) हे अश्वि-देवो ! (त्रिः) प्रतिदिन तीनवार (वर्तिः यातम्) कार्य्यावेक्षण के लिये इतस्ततः यात्रा करें ॥७॥

भावार्थः—राजा एवं मन्त्रियों को चाहिये कि राज्य की विविध प्रजाओं के सुख-दुःख का अवेक्षण ऐसी ही लगन से करें कि जैसी लगन से प्यासे पशुपक्षी पानी के लिये दौड़ते हैं ॥७॥

हंसाविव पतथो अध्वगाविव सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च त्रिर्वर्तिर्यातमश्विना ॥८॥

पदार्थः—राजन् तथा मन्त्रिवर्ग (हंसा इव) जैसे पिपासित हंस पक्षी (अध्वगौ इव) जैसे पिपासित मार्गगामी पुरुष और (महिषौ इव) जैसे भैंस इत्यादि जल की ओर दौड़ते हैं। वैसे ही आप (सुतम्) मनुष्यों से तैयार किये हुए (सोमम्) अखिल पदार्थों की ओर जांचने के लिये जाते हैं। आप धन्य हैं (इह) इत्यादि पूर्ववत् ॥८॥

भावार्थः—प्यासे पशुपक्षी जैसे जल पर टूट पड़ते हैं वैसे ही राजा व उसके मन्त्री अपनी प्रजा द्वारा निष्पन्न पदार्थों की जाँच करें ॥८॥

श्येनाविव पतथो हव्यदातये सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः ।

सजोषसा उषसा सूर्येण च त्रिर्वर्तिर्यातमश्विना ।।९।।

पदार्थः—हे राजन् ! तथा मन्त्रिवर्ग ! आप दोनों (हव्यदातये) दानी पुरुष के लिये (सुतं सोमम्) मनुष्यसम्पादित सोम की ओर (श्येनौ इव) श्येन नाम के पक्षी जैसे (पतथः) जाते हैं। यह आपकी अधिक प्रशंसा है ।।९।।

भावार्थः—राजा एवं मन्त्री दानशील प्रजाजन को अतिशीघ्र समृद्ध करें ।।९।।

पिबतं च तृष्णुतं चा च गच्छतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।

सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना ।।१०।।

पदार्थः—(अश्विना) हे पुण्यात्मा राजन् ! तथा हे मन्त्रिदल ! प्रजाओं से दत्त सोमरसों को (पिबतम्) आप पीवें (तृष्णुतञ्च. और उन्हें पीकर तृप्त होवें (च) और (आगच्छतम् च) प्रजारक्षार्थ इधर-उधर आवें और जावें। (च) और जाकर (प्रजाम् च) प्रजाओं का (धत्तम्) धारण-पोषण करें (द्रविणम् च) और हमारे लिये नाना प्रकार के सुवर्णादि द्रव्य (धत्तम्) धारण करें। (नः) हमारे कल्याण के लिये (ऊर्जम्) बल भी आप धारण करें ।।१०।।

भावार्थः—राजा व मन्त्री प्रजा द्वारा प्रदत्त कर को प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर उससे प्रजा का ही पालन-पोषण करें ।।१०।।

जयतं च प्र स्तुतं च प्र चावतं प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम् ।

सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना ।।११।।

पदार्थः—हे राजन् ! तथा मन्त्रिदल ! आप शत्रुओं को (जयतम्) जीतें और जीतकर परमात्मा की (प्र स्तुतम्) स्तुति करें। और सब की (प्र अवतम्) रक्षा करें। शेष पूर्ववत् ।।११।।

भावार्थः—राजा व मन्त्री शत्रु को जीतने का सदा ध्यान रखें ।।११।।

हतं च शत्रून्यततं च मित्रिणः प्रजां च धत्तं द्रविणं धत्तम् ।

सजोषसा उषसा सूर्येण चोर्जं नो धत्तमश्विना ।।१२।।

पदार्थः—हे राजन् ! तथा हे मन्त्रिदल ! आप (शत्रून्) शत्रुओं को (हतम्)

विनष्ट करें (च) और (मित्रिणः) मैत्रीयुक्त पुरुषों के निकट (यततम्) जाया करें। शेष पूर्ववत् ॥१२॥

भावार्थः—राजा व मन्त्री न केवल शत्रुओं को नष्ट करें अपितु मित्रों से मेलमिलाप भी रखें ॥१२॥

मित्रावरुणवन्ता उत धर्मवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना ॥१३॥

पदार्थः—(अश्विनौ) हे राजन् ! तथा मन्त्रिमण्डल ! आप (मित्रावरुणवन्ता) ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों दलों से युक्त हैं (उत) और (धर्मवन्ता) धर्म से युक्त हैं और (मरुत्वन्ता) वैश्यों से यद्वा इन्द्रियों से युक्त हैं। वे आप (जरितुः) गुणों के गाने वाले के (हवम्) निवेदन को सुनने के लिये जायं। पुनः आप (उषसा) मृदुता से और (सूर्येण) तीक्ष्णता से (सजोषसा) सम्मिलित हैं, वे आप (आदित्यैः) सूर्यवत् प्रकाशित महापुरुषों के साथ शुभ कर्मों में (यातम्) जाया करें ॥१३॥

भावार्थः—राजा व राजपुरुषों की प्रजा में ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य—सभी प्रकार के जन सम्मिलित हैं ॥१३॥

अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना ॥१४॥

पदार्थः—(उत) और भी हे राजन् ! तथा सभाध्यक्षादि ! आप दोनों (अंगिरस्वन्ता) अग्निहोत्रादि शुभकर्मों से युक्त हैं। और (विष्णुवन्ता) भगवान् की आज्ञाओं से युक्त हैं। शेष पूर्ववत् ॥१४॥

भावार्थः—राजा व राजपुरुष स्वयं अग्निहोत्रादि शुभकर्मकर्ता हों ॥१४॥

ऋभुमन्ता वृषणा वाजवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना ॥१५॥

पदार्थः—हे राजन् ! तथा हे मन्त्रिदल ! आप दोनों (ऋभुमन्ता) ऋभुओं से युक्त हैं [तक्षा, बरही, लोहार, सुनार, रथकार इस प्रकार के व्यवसायी पुरुषों का नाम ऋभु है] पुनः (वृषणा) अन्नादि पदार्थों की वर्षा करने वाले हैं। पुनः (वाजवन्ता) ज्ञानविज्ञान से संयुक्त हैं। शेष पूर्ववत् ॥१५॥

भावार्थः—सभी प्रकार के शिल्पी, किसान व ज्ञान-विज्ञान के उपदेष्टा ब्राह्मण राजा की प्रजा में होते हैं ॥१५॥

ब्रह्मं जिन्वतमुत जिन्वतं धियों हतं रक्षांसि सेधंतममींवाः ।
सजोषंसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अंश्विना ॥१६॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजन् तथा हे मन्त्रिदल ! आप दोनों (ब्रह्म) ज्ञानि-दल को (जिन्वतम्) प्रसन्न रक्खें; (धियः) विद्या प्रचार आदि व्यापार से उनकी बुद्धियों को बढ़ाया करें। उनकी शान्ति के लिये (रक्षांसि) अखिल विघ्नों को या दुष्ट पुरुषों को (हतम्) दूर किया करें और (अमीवा) विविध चिकित्सालयों से तथा जलवायु के शोधने से विविध रोगों को (सेधतम्) देश से भगाया करें। हे राजन् ! (सोमम् सुन्वतम्) शुभ कर्म करने वालों की रक्षा किया करें। शेष पूर्ववत् ॥१६॥

भावार्थः—राजा व मन्त्रियों का कर्त्तव्य है कि विद्याप्रचारकों को प्रसन्न रखें; प्रजा के स्वास्थ्य व सुरक्षा के मार्ग में आने वाले रोग, चोर आदि विघ्नों को नष्ट करें ॥१६॥

क्षत्रं जिन्वतमुत जिन्वतं नृन्हतं रक्षांसि सेधंतममींवाः ।
सजोषंसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अंश्विना ॥१७॥

पदार्थः—हे राजन् ! तथा हे मन्त्रिमण्डल ! आप दोनों मिलकर (क्षत्रम्) क्षत्रिय जाति अर्थात् बलिष्ठ दल को (जिन्वतम्) प्रसन्न रखा करें (उत) और उनकी प्रसन्नता के लिए (नृन्) सर्व मनुष्यों को (जिन्वतम्) अपना प्रिय बनावें। शेष पूर्व-वत् ॥१७॥

भावार्थः—राजपुरुषों का कर्त्तव्य है कि प्रजा के क्षत्रियों को प्रसन्न रखें ॥१७॥

धेनूर्जिन्वतमुत जिन्वतं विशों हतं रक्षांसि सेधंतममींवाः ।
सजोषंसा उषसा सूर्येण च सोमं सुन्वतो अंश्विना ॥१८॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजन् ! और हे मन्त्रिमण्डल आप दोनों मिलकर (धेनूः) गौवों को (जिन्वतम्) बढ़ाया करें (उत) और उनके रक्षक (विशः) वैश्य जाति अर्थात् व्यापारिक दल को (जिन्वतम्) प्रसन्न रक्खा करें ॥१८॥

भावार्थः—राजपुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे गौ आदि पशुपालक व व्यापारी वैश्य वर्ग को प्रसन्न रखें ॥१८॥

अत्रेरिव शृणुतं पूर्व्यस्तुतिं श्यावाश्वस्य सुन्वतो मंदच्युता ।
सजोषंसा उषसा सूर्येण चाश्विंना तिरोअंह्नयम् ॥१९॥

पदार्थः—(अश्विना) हे पुण्यकृत राजन् ! तथा मन्त्रिदल ! आप दोनों (अत्रेः इव) जैसे माता पिता भ्राता तीनों से विहीन अनाथ पुरुष की प्रार्थना सुनते हैं तद्वत् (सुन्वतः) शुभकर्म करते हुए (श्यावाश्वस्य) रोगों के कारण मलिनेन्द्रिय अर्थात् पापरोगी पुरुष की भी (पूर्व्यस्तुतिम्) करुणायुक्तस्तुति को (शृणुतम्) सुनिये। (मदच्युता) हे आनन्द-दर्षिता उभयवर्ग ! (तिरो अह्न्यम्) दिन के अन्तर्हित होने पर रात्रि में सब मनुष्यों की रक्षा कीजिये ॥१९॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये अपनी प्रजा के पापरोगी आदि की भी करुण प्रार्थनाओं पर ध्यान दें ॥१९॥

सर्गाँ इव सृजतं सुष्टुतीरुपं श्यावाश्वस्य सुन्वतो मदच्युता ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाश्विना तिरोअह्न्यम् ॥२०॥

पदार्थः—(अश्विना) हे अश्विद्वय अर्थात् हे राजन् ! तथा हे मन्त्रिमण्डल ! आप दोनों (सुन्वतः) शुभकर्म करते हुए (श्यावाश्वस्य) पापरोग पीड़ित जन की (सुष्टुतीः) अच्छी स्तुतियों को (सर्गान् इव) आभरणों के समान (उपसृजतम्) हृदय में धारण कीजिये। शेष पूर्ववत् ॥२०॥

भावार्थः—राजपुरुष पापरोगियों की अच्छी स्तुतियों को आभूषण समझ कर धारण करें और उन पर ध्यान दें ॥२०॥

रश्मीँरिव यच्छतमध्वराँ उप श्यावाश्वस्य सुन्वतो मदच्युता ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाश्विना तिरोअह्न्यम् ॥२१॥

पदार्थः—हे राजन् तथा मन्त्रिमण्डल ! आप (सुन्वतः) शुभकर्मों में प्रवृत्त (श्यावाश्वस्य) रोगीजन के (अध्वरान्) हिंसारहित यागों को (रश्मीन् इव) घोड़े के लगाम जैसे (यच्छतम्) संभालिये। शेष पूर्ववत् ॥२१॥

भावार्थः—राजपुरुष पापरोगियों के भी हिंसारहित शुभकर्मों के संरक्षक बनें ॥२१॥

अर्वाग्रथं नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ।
आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥२२॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजन् तथा मन्त्रिवर्ग ! आप स्वकीय (रथम्) रथ को (अर्वाग्) हम लोगों की ओर (नियच्छतम्) लावें। लाकर (सोम्यम्) सोमरस-युक्त (मधु) मधु को (पिबतम्) पीवें। हे देवो ! (आयातम्) हमारी ओर आवें

(आगतम्) पुनः-पुनः आवें । (आवस्युः) रक्षाभिलाषी (अहम्) मैं (वाम्) आप दोनों को (हुवे) बुलाता हूं (दाशुषे) मुझ भक्त को (रत्नानि धत्तम्) रत्न देवें ॥२२॥

भावार्थः—राजपुरुष रक्षाभिलाषी एवं उत्कट इच्छुक प्रार्थी की प्रार्थना पर ध्यान देते ही हैं ॥२२॥

नमोवाके प्रस्थिते अध्वरे नरा विवक्षणस्य पीतये ।

आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥२३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे अश्विद्वय (नरा) हे सर्वनेता राजन् तथा मन्त्रिदल ! (नमोवाके) जिसमें नमः शब्द का उच्चारण हो ऐसे (अध्वरे) यज्ञ के (प्रस्थिते) प्रस्तुत होने पर आप दोनों ! (विवक्षणस्य) प्रवहणशील सोम के (पीतये) पीने के लिये (आयातम्) आवें । शेष पूर्ववत् ॥२३॥

भावार्थः—राजपुरुष सब के हित के लिये किये गए सत्कर्म (यज्ञ) से तृप्त होते हैं; इसलिये उनके प्रजाजन निष्काम भाव से सत्कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥२३॥

स्वाहाकृतस्य तृम्पतं सुतस्य देवावन्धसः ।

आ यातमश्विना गतमवस्युर्वामहं हुवे धत्तं रत्नानि दाशुषे ॥२४॥

पदार्थः—(अश्विना) हे अश्विद्वय (देवौ) हे देवो ! आप दोनों (स्वाहाकृतस्य) स्वाहा शब्द से पवित्रीकृत (सुतस्य) शोधित (अन्धसः) ओदन से (तृम्पतम्) तृप्त होवें । शेष पूर्ववत् ॥२४॥

भावार्थः—राजपुरुष सब के निमित्त किये गए सत्कर्म (यज्ञ) से तृप्त रहें और ऐसे सत्कर्म में प्रवृत्त प्रजाजनों को उत्साहित करते रहें ॥२४॥

अष्टम मंडल में यह पैंतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य षट्त्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—७ श्यावाश्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता । छन्दः—१, ५, ६ शक्वरी । २, ४ निचृच्छक्वरी । ३ विराट् शक्वरी । ७ विराड् जगती ॥ स्वरः—१—६ धैवतः । ७ निषादः ॥

अवितासि सुन्वतो वृक्तबर्हिषः पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो ।

यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः

समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते ॥१॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) विविधकर्मा (इन्द्र) मेरे अन्तरात्मन् ! तू (वृक्तबर्हिषः) पवित्र अन्तःकरण वाले (सुन्वतः) सुखों के उत्पादनकर्ता साधक को (अविताऽसि) सर्वथा सन्तुष्ट करेगा—इस हेतु (विश्वाः पृतनाः) सभी आक्रामक शत्रुभूत दुर्भावनाओं को (सं सेहानः) पूर्णतया पराजित करता हुआ; (उरुज्रयः) व्यापक एवं अत्यन्त तेजस्वी; (अप्सुजित्) प्राणशक्ति का विजेता=प्राणों को वश में किये हुआ; और इसीलिये (मरुत्वान्) इन्द्रियजयी तू इन्द्र, विद्वानों ने (ते) तेरा (यं भाग अधारयन्) दिव्य आनन्द में जितना अंश निश्चित किया है उस (कं) सुखी करने वाली (सोमं) प्रेरणा को (पिब) ग्रहण कर ।।१।।

भावार्थः—इन्द्र का यहां आध्यत्मिक अर्थ अन्तरात्मा, जीवात्मा आदि ग्रहण किया गया है। अन्तरात्मा को भी दिव्य आनन्द की प्राप्ति की प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिये। तभी वह सभी दुर्भावनाओं को दूर भगाकर इन्द्रियों एवं प्राणों का वशी बन सकेगा। और यह वही अन्तरात्मा कर सकेगा, जिसका अन्तःकरण दिव्य-आनन्द से प्रेरित है ॥१॥

प्राव॑ स्तो॒तारं॑ मघवन्न॒व त्वां पिबा॒ सोमं॒ मदा॑य कं शतक्रतो ।
यं ते॑ भा॒गमधा॑रय॒न्विश्वाः॑ सेहा॒नः पृत॑ना उ॒रु ज्रयः॑
सम॑प्सु॒जिन्म॒रुत्वाँ॑ इन्द्र सत्पते ॥२॥

पदार्थः—हे (मघवन्) पूजित ऐश्वर्यशालिन् मेरे अन्तरात्मन् ! तू (स्तोतारं) तेरे अपने गुणों की प्रशंसा कर उनको धारण करने के लिये प्रयत्नशील को (अव) संतृप्त कर; और वह स्तोता (त्वां) तेरी (अव) प्राप्ति करे; हे (शतक्रतो)···इत्यादि पूर्ववत् ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य को चाहिये कि वह शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक आदि ऐसे बल धारण करे कि जिनको सब प्राप्त करना चाहें। इस प्रयोजन से अन्तरात्मा को दिव्य आनन्द की प्राप्ति की प्रेरणा दी जानी चाहिये और यह उसी जीव के लिये शक्य है कि जिसका अन्तःकरण शुचि एवं दिव्यानन्द से प्रेरित है ॥२॥

ऊ॒र्जा दे॒वाँ अव॒स्योज॑सा॒ त्वां पिबा॒ सोमं॒ मदा॑य कं शतक्रतो ।
यं ते॑ भा॒गमधा॑रय॒न्विश्वाः॑ सेहा॒नः पृत॑ना उ॒रु ज्रयः॑
सम॑प्सु॒जिन्म॒रुत्वाँ॑ इन्द्र सत्पते ॥३॥

पदार्थः—(शतक्रतो) हे विविधकर्मा मेरे अन्तरात्मन् ! तू (देवान्) दिव्य-गुणों के प्रति आकृष्ट इन्द्रियों को (ऊर्जा) बल देकर (अवसि) सन्तृप्त करता है और वे इन्द्रियां (त्वां) तुझ को (ओजसा) ओजस्विता देकर प्रसन्न करती हैं। शेष पूर्ववत् ॥३॥

भावार्थः—जब जीव की इन्द्रियाँ दिव्यगुणों की ओर आकृष्ट होती हैं तो शक्तिशाली जीव उन्हें बल प्रदान करता है और इस प्रकार बलवती हुई इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव स्वयं तेजस्वी बनता है। जीव अपनी इन्द्रियों को बली तब ही बनाता है जबकि उसको दिव्य आनन्द की प्रेरणा मिले; इत्यादि पूर्ववत् ॥३॥

जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः
समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते ॥४॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) अनन्तकर्मा और बुद्धिमान् परमेश्वर ! आप (दिवः जनिता) स्वयंप्रकाश लोकों का प्रादुर्भाव करते हैं और (पृथिव्याः जनिता) स्वप्रकाश-रहित पृथिवी आदि लोकों का भी प्रादुर्भाव करते हैं। हे इन्द्र ! परमैश्वर्यवान्, परमशक्तिशाली परमेश्वर ! आप (विश्वाः पृतनाः सं सेहानः) सभी आक्रामक शक्तियों को भलीभांति पराजित करते हैं; (उरु ज्रयः) आप अति वेगवान् हैं, फुर्तीले हैं; (अप्सुजित्) अपने सर्वव्यापक गुण के कारण सर्वातिशायी हैं; (मरुत्वान्) प्राण-शक्ति के स्वामी हैं; (ते) आपका (यं भागं) जितने भागग्रहण का (अधारयन्) साधकों ने मनन से निश्चय किया है, (मदाय) हर्ष प्रदान करने के हेतु उतने (कं) सुखद (सोमं) शुभकर्मों में प्रवृत्ति को (पिब) सेवन कराइये ॥४॥

भावार्थः—साधक ही यह निश्चय करता है कि जीव को शुभ कर्मों का ग्रहण करवाने में परमेश्वर का कितना भाग है। यह अनुभव करने के पश्चात् ही साधक परमेश्वर की प्रेरणा को वस्तुतः ग्रहण कर सकता है ॥४॥

जनिताश्वानां जनिता गवामसि पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः
समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते ॥५॥

पदार्थः— हे (शतक्रतो) विविधकर्मा तथा विविध बुद्धियों से युक्त परम-सामर्थ्यवान् प्रभो ! आप (अश्वानां) अश्वों के तुल्य द्रुतगामी बलवान् कर्मेन्द्रिय रूप तथा (गवां) ज्ञानरूपी प्रकाश के कारणभूत ज्ञानेन्द्रिय रूप सञ्चालक शक्तियों के (जनिता असि) मूल उद्भावक कारण हैं। शेष पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—जीवात्मा की सञ्चालिका ज्ञान एवं कर्मेन्द्रिय शक्ति का मूल स्रोत परमेश्वर है; उसके गुणों से प्रेरणा ग्रहण कर प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन का सञ्चालन करना चाहिये ॥५॥

अत्रीणां स्तोममद्रिवो महस्कृधि पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो।
यं ते भागमधारयन्विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः
समप्सुजिन्मरुत्वाँ इन्द्र सत्पते ॥६॥

पदार्थः—हे (अद्रिवः) गुणों के कारण आदरणीय शतक्रतो ! आप (अत्रीणां) आत्मिक, वाचिक एवं शारीरिक—तीनों प्रकार के—दोषों से रहित जनों के (स्तोमं) स्तुति वचन को (महस्कृधि) महान् अथवा ग्राह्य समझते हैं। शेष पूर्ववत् ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य आत्मिक, वाचिक एवं शारीरिक—तीन प्रकार के दोषों को छोड़कर ही भगवान् के गुणों का आदर कर सकता है। और वही उसके गुणों का कीर्तन इस प्रकार करता है कि उनके ग्रहण का प्रयत्न करने लगता है—ऐसे स्तोता के लिये कहा गया है कि परमेश्वर ने उसके स्तुति-वचनों को सत्करणीय एवं ग्राह्य बना लिया है। मानो परमेश्वर ने उसकी स्तुति स्वीकार कर ली है ॥६॥

श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः।
प्र त्रसदस्युमाविथ त्वमेक इन्नृषाह्य इन्द्र ब्रह्माणि वर्धयन् ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) शक्तिशाली परमेश्वर ! (कर्माणि कुर्वतः) अपनी जीवन-यात्रा में निरन्तर कर्म करने में संलग्न (अत्रेः) विविध दोषों से रहित जन की स्तुति को आप (यथा अशृणोः) जिस प्रकार सुनते हैं (तथा) वैसे ही (सुन्वतः) सुख-सम्पादन में व्यस्त (श्यावाश्वस्य) अपनी गतिशीलता द्वारा लक्ष्यप्राप्ति में सफल इन्द्रिय रूप अश्वों वाले साधक की स्तुति भी सुनिये। (त्वं एक इत्) आप अकेले ही किसी सहायक के माध्यम के बिना, (नृषाह्ये) प्रमुख अथवा अग्रणी मानवों के सम्मेलन में (ब्रह्माणि) वेदविज्ञान की (वर्धयन्) व्याख्या करके (त्रसदस्युं) शत्रुभाव-

नाओं को भगा सकने वाले साधक को तथा उसके इस गुण को (प्र आविथ) बनाये रखते हैं ॥७॥

भावार्थः—इससे पूर्व मन्त्र में बताया गया है कि त्रिविध दोषों से रहित कर्मठ मनुष्य ईश्वरीय गुणों के ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। यहां यह बताया कि जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर ले चलने में सफल बना लेता है वह भी परमेश्वर के गुणग्रहण का अधिकारी होता है। ऐसे व्यक्ति जब मिलकर विचार करते हैं तब वेदवाक्य उन्हें, परमेश्वर की कृपा से, स्वयं अपना रहस्य ज्ञात कराने लगते हैं ॥७॥

विशेष—सूक्त की उपरलिखित व्याख्या में 'जीवात्मा' एवं परमेश्वर 'इन्द्र' की कतिपय शक्तियों का वर्णन किया गया है। 'इन्द्र' से यहां राजा या राजप्रमुख का अर्थ ग्रहण करके भी इसी प्रकार व्याख्या समझनी चाहिये।

अष्टम मण्डल में यह छत्तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य सप्तत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—७ श्यावाश्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ विराडतिजगती। २—६ निचृज्जगती। ७ विराड् जगती ॥ निषादः स्वरः ॥

प्रेदं ब्रह्म वृत्रतूर्येष्वाविथ प्र सुन्वतः शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ॥१॥

पदार्थः—हे (शचीपते) वाक्पते! (इन्द्र) विद्वान् ऐश्वर्यवान् राजन्! आप (वृत्रतूर्येषु) विघ्नकारक-प्रवृत्तियों के साथ किये जानेवाले संघर्षों के उपस्थित होने पर (प्रसुन्वतः) ज्ञानघन के सम्पादक के (इदं) इस निष्पादित (ब्रह्म) ज्ञानघन की (विश्वाभिः) सम्पूर्ण (ऊतिभिः) रक्षणादि क्रियाओं द्वारा (आविथ) रक्षा कराइये। हे (अनेद्य) अनिन्दनीय! (वृत्रहन्) विघ्नकर्ताओं के विध्वंसक! (वज्रिवः) सब साधनों वाले राजन् (माध्यंदिनस्य) दिन के मध्य में किये जाने वाले (सवनस्य) ऐश्वर्यप्राप्ति के साधक क्रियाकाण्ड रूपी (सोमस्य) सोम का (पिब) उपभोग कीजिये ॥१॥

भावार्थः—राजा स्वयं शस्त्रों का ज्ञाता हो, जिससे वह ज्ञानघन को सुरक्षित रख सके। राजा को चाहिये कि मध्याह्न समय करनेयोग्य ऐश्वर्य-साधक क्रियाकाण्ड का पूर्णतया निर्वाह करे ॥१॥

सेहान उग्र पृतना अभि द्रुहः शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यंन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ॥२॥

पदार्थः—हे (उग्र) तेजस्वी (शचीपते) प्रजापति अथवा कर्मनिष्ठ (इन्द्र) राजन् ! आप (विश्वाभिः ऊतिभिः) अपनी सम्पूर्ण रक्षणादि क्रियाओं द्वारा (अभि-द्रुहः) द्रोह करनेवाले (पृतनाः) मनुष्यों को (सेहानः) पराजित करें। और इस प्रकार हे (अनेद्य)—इत्यादि पूर्ववत् ॥२॥

भावार्थः—राजा को जहां अपनी विद्वत्ता द्वारा ब्राह्मबल को बनाये रखना चाहिये, वहां वह अपने प्रभाव द्वारा द्वेषी मनुष्यों को पराभूत रखे ॥२॥

एकराळस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यंन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ॥३॥

पदार्थः—हे (शचीपते) कर्मिष्ठ (इन्द्र) राजन् ! आप अपनी (विश्वाभिः) सम्पूर्ण (ऊतिभिः) रक्षणादि क्रियाओं द्वारा (अस्य भुवनस्य) इस लोक के (एकराट्) अद्वितीय प्रकाशमान अध्यक्ष के समान अथवा एकच्छत्र राजा के समान (राजसि) विराजमान हैं। इस प्रकार (अनेद्य)···आदि पूर्ववत् ॥३॥

भावार्थः—प्रत्येक शासक को अपनी प्रजा का अद्वितीय शासक अथवा सर्वोत्तम आदर्श शासक बनने का यत्न करना चाहिये ॥३॥

सस्थावाना यवयसि त्वमेक इच्छचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
माध्यंन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः ॥४॥

पदार्थः—हे (शचीपते) कर्मठ (इन्द्र) राजन् आप अपनी (विश्वाभिः) सम्पूर्ण (ऊतिभिः) रक्षणादि क्रियाओं के द्वारा (एक इत्) अकेले ही दो (सस्थावाना) समान स्थितिवाली प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को (यवयसि) परस्पर भिड़ने से पृथक् रखते हैं। शेष पूर्ववत् ॥४॥

भावार्थः—राजा को इतना शक्तिशाली होना आवश्यक है कि अपने शासनाधीन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों को परस्पर टकराने से रोक रखे। राष्ट्र में समान शक्तियों और स्थितियों वाली शक्तियां परस्पर सहायक तथा पूरक रहें, वे आपस में टकरायें नहीं ॥४॥

क्षेम॑स्य च प्र॒युज॑श्च॒ त्वमी॑शिषे शचीपत॒ इन्द्र॒ विश्वा॑भिरू॒तिभि॑: ।
माध्यं॑दिनस्य॒ सव॑नस्य॒ वृत्रहन्ननेद्य॒ पिबा॒ सोम॑स्य वज्रिवः ॥५॥

पदार्थः—हे (शचीपते) कर्मठ राजन् ! आप अपनी (विश्वाभिः) सम्पूर्ण (ऊतिभिः) रक्षणादि क्रियाओं के द्वारा (क्षेमस्य) प्राप्त ऐश्वर्य को बनाये रखने के (च) और उसकी (प्रयुजः) प्राप्ति कराने के (ईशिषे) अध्यक्ष हैं। शेष पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—कर्मठ राजा अपनी अध्यक्षता में ही प्रजा के योग-क्षेम का निष्पादक रहता है। वह अनुचित रीति से न प्रजा को ऐश्वर्यसाधन करने देता है और न अनुचित रूप से उसको संरक्षण देता है ॥५॥

क्ष॒त्राय॑ त्वमव॑सि॒ न त्वमा॑विथ॒ शचीपत॒ इन्द्र॒ विश्वा॑भिरू॒तिभि॑: ।
माध्यं॑दिनस्य॒ सव॑नस्य वृत्रहन्ननेद्य॒ पिबा॒ सोम॑स्य वज्रिवः ॥६॥

पदार्थः—हे (शचीपते) कर्मठ (इन्द्र) राजन् ! अपनी (विश्वाभिः ऊतिभिः) समग्र रक्षा क्रियाओं द्वारा (त्वं) आप (क्षत्राय) क्षात्रबल को प्राप्त कराने के लिये (अवसि) अपनी प्रजा के संरक्षक हैं। (त्वं) आपको (न आविथ) अपनी रक्षा कराने की आवश्यकता नहीं है। शेष पूर्ववत् ॥६॥

भावार्थः—राजा अपनी प्रजा के क्षात्रबल को बढ़ाये और उसको बनाये रखे; ऐसे कर्मठ राजा को अपनी रक्षा करने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती ॥६॥

श्या॒वाश्व॑स्य॒ रेभ॑त॒स्तथा॑ शृणु॒ यथाशृ॑णो॒रत्रे॑: कर्मा॑णि कृण्व॒तः ।
प्र त्र॒सद॑स्युमावि॒थ त्वमेक॑ इन्नृ॒षाह्य॒ इन्द्र॑ क्ष॒त्राणि॑ व॒र्धय॑न् ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) राजन् ! (त्वं एक इत्) आप अकेले ही (नृषाह्ये) राष्ट्र के नेताओं के सम्मिलन के अवसर पर (क्षत्राणि) क्षत्रिय कुलों को (वर्धयन्) प्रोत्साहित करते हुए (त्रसदस्युं) दस्युको भार भगाने वाले वीरता के गुण को (आविथ) आश्रय देते हैं। आप (कर्माणि कुर्वतः) कर्म में व्यस्त रहने वाले (अत्रेः) सुख भोक्ता की स्तुति को (यथा अशृणोः) जिस प्रकार सुनते हैं (तथा) उसी प्रकार (रेभतः) स्तुति-कर्ता (श्यावाश्वस्य) प्रगतिशील इन्द्रिय शक्तियों से सम्पन्न व्यक्ति द्वारा की गई स्तुति को सुनिये (साह्यम्=सहता=Union) ॥७॥

भावार्थः—राजा अपने राष्ट्र में स्थित क्षात्रकुलों को प्रोत्साहित करे और इस प्रकार दस्युओं को राज्य से दूर रखे ॥७॥

विशेष— इस सूक्त में राजा के प्रतीक इन्द्र का वर्णन किया गया है ॥

अष्टम मण्डल में यह सैंतीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्याष्टात्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१० श्यावाश्व ऋषिः ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ छन्दः—१, २, ४, ६, ९ गायत्री । ३, ५, ७, १० निचृद्गायत्री । ८ विराड् गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

अब ब्राह्मण और क्षत्रियों के कर्म दिखलाते हैं ॥

यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु ।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे क्षत्रिय तथा हे ब्राह्मण ! यद्वा हे राजन् तथा हे दूत ! आप दोनों (तस्य बोधतम्) उस इस ईश्वरीय बात का पूर्णरीति से ध्यान रखें, जानें, मानें और मनवावें (हि) क्योंकि आप दोनों (यज्ञस्य) सकल शुभकर्मों के (ऋत्विजा स्थः) सम्पादक ऋत्विक् हैं, (सस्नी) शुद्ध हैं और (वाजेषु) युद्ध और ज्ञानसम्बन्धी (कर्मसु) कर्मों में अधिकारी हैं ॥१॥

भावार्थः—इन्द्र का कर्म राज्यशासन है, अतः इससे यहां क्षत्रिय का ग्रहण है और अग्नि का कर्म यज्ञशासन है, अतः इससे ब्राह्मण का ग्रहण है, अथवा राजा और दूत का; क्योंकि अग्नि को दूत कहा है । ब्राह्मण, क्षत्रिय को उचित है कि वे कदापि ईश्वरीय आज्ञाओं का तिरस्कार न करें ॥१॥

पुनः उसी को कहते हैं ॥

तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता ।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्) हे क्षत्रिय तथा हे ब्राह्मण यद्वा हे राजन् तथा दूत आप दोनों इस बात का पूरा ध्यान रखें कि आप दोनों (तोशासा) शत्रु-संहारक, (रथयावाना) रथ पर चलने वाले, (वृत्रहणौ) निखिल विघ्नविनाशक और (अपराजिता) अपराजित=अन्यों से अजेय हैं ॥२॥

भावार्थः—जिस हेतु ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों प्रत्येक प्रकार के विघ्नों के शमन करने वाले हैं अतः वे कभी न अपना अधिकार भूलें और न उससे प्रमाद करें ॥२॥

पुनः उसी को कहते हैं ॥

इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः ।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण यद्वा हे राजन् तथा हे दूत (तस्य बोधतम्) आप इस विषय को अच्छे प्रकार आज जानें कि (वाम्) आप लोगों के लिये (नरः) ये प्रजाजन (अद्रिभिः) पर्वत समान परिश्रमों से (मदिरम्) आनन्द-प्रद (इदम् मधु) इस कृषिकर्मादि द्वारा मधुर-मधुर वस्तु (अधुक्षन्) पैदा कर रहे हैं ॥३॥

भावार्थः—ब्राह्मण और क्षत्रिय को प्रसन्न और सुखी रखने के लिये ये प्रजाजन अति परिश्रम से नाना वस्तु पैदा कर रहे हैं—यह बात इन्हें भूलनी न चाहिये किन्तु स्मरण रख सब की रक्षा में ये प्रवृत्त रहें ॥३॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

जुषेथां यज्ञमिष्टये सुतं सोमं सधस्तुती ।
इन्द्राग्नी आ गतं नरा ॥४॥

पदार्थः—(सधस्तुती) हे प्रजाओं के साथ स्तवनीय (नरा) हे प्रजाओं के नायक (इन्द्राग्नी) क्षत्रिय ! तथा ब्राह्मण ! यद्वा राजा और दूत ! आप दोनों (यज्ञम् जुषेथाम्) हम लोगों के शुभकर्म का सेवन रक्षा द्वारा करें और (इष्टये) यज्ञ के लिये (सुतम् सोमम्) सम्पादित सोमरस को पीने के लिये यहां (आ गतम्) आवें ॥४॥

भावार्थः—राजा और ब्राह्मण या राजा और दूत दोनों मिलकर यज्ञ की रक्षा करें ॥४॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

इमा जुषेथां सवना येभिर्हव्यान्यूहथुः ।
इन्द्राग्नी आ गतं नरा ॥५॥

पदार्थः—(नरा) हे नेता (इन्द्राग्नी) राजन् ! तथा दूत ! आप (इमा सवना) इन प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन तीनों दैनिक यज्ञों को (जुषेथाम्) सेवें, (यैः) जिनसे (हव्यानि) दातव्य द्रव्यों को आप (ऊहथुः) इतस्ततः पहुँचाया करते हैं ॥५॥

भावार्थः—यज्ञादि शुभकर्मों में जिस-जिस उद्देश्य से जो-जो दान हो उनको वहां-वहां राजा और दूत पहुंचाने का प्रयत्न करें ॥५॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

इमां गायत्रवर्तनिं जुषेथां सुष्टुतिं मम ।
इन्द्राग्नी आ गतं नरा ॥६॥

पदार्थः—(नरा) हे प्रजानेता (इन्द्राग्नी) राजन् तथा दूत ! आप दोनों (गायत्रवर्तनिम्) गायत्री छन्दोयुक्त (मम) मेरी (इमाम् सुष्टुतिम्) इस शोभन स्तुति को (जुषेथाम्) सेवें और तदर्थ (आगतम्) यहां आवें ॥६॥

भावार्थः—प्रजाजन जहां राजा को बुलावें वहां सगण जाकर वह प्रजा की रक्षा करें ॥६॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

प्रातर्यावभिरा गतं देवेभिर्जेन्यावसू ।
इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥७॥

पदार्थः—(जेन्यावसू) हे जययुक्त धन के यद्वा हे शत्रु धन के नेता (इन्द्राग्नी) राजन् ! तथा दूत ! आप दोनों (प्रातर्यावभिः) प्रातःकाल गमन करने वाले (देवेभिः) विद्वानों के साथ (सोमपीतये) सोमरस पीने के लिये (आगतम्) आइये ॥७॥

भावार्थः—राजा सदा धनसंग्रह करें और प्रजा के कार्य्य में उद्यत रहें ॥७॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

श्यावाश्वस्य सुन्वतोऽत्रीणां शृणुतं हवम् ।
इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे राजन् तथा हे दूत ! आप दोनों (सुन्वतः) शुभ कर्मों में प्रवृत्त (श्यावाश्वस्य) रोगी पुरुष का तथा (अत्रीणाम्) माता, पिता और बन्धु इन

तीनों से रहित अनाथों का (हवम्) निवेदन (शृणुतम्) सुनिये और (सोमपीतये) सोमादि पदार्थों को पीने के लिये यहां आवें ॥८॥

भावार्थः—रोगी और अनाथादि सब से प्रथम द्रष्टव्य और पालनीय हैं ॥८॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

एवा वांमह्व ऊतये यथाहुंवन्त मेधिराः ।

इन्द्राग्नी सोमंपीतये ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे राजन् तथा दूत ! (यथा) जैसे जिस नियमानुसार (मेधिराः) मेधाविगण (वाम् अहुवन्त) आपको निमन्त्रित करते हैं (एव) वैसे ही मैं भी (ऊतये) साहाय्य और (सोमपीतये) सोमपान के लिये आपको बुलाता हूं ॥९॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि विद्वानों और मूर्खों दोनों की विनति ध्यान से सुनें ॥९॥

विद्वान् राजा और दूत आदरणीय हैं यह विषय दिखलाते हैं ॥

आहं सरंस्वतीवतोरिन्द्राग्न्योरवों वृणे ।

याभ्यां गायत्रमृच्यतें ॥१०॥

पदार्थः—(याभ्याम्) जिन इन्द्र और अग्नि अर्थात् राजा और राजदूत के लिये (गायत्रम् ऋच्यते) गायत्र नाम का साम कहा जाता है उन (सरस्वतीवतोः) विद्यापूर्ण (इन्द्राग्न्योः) राजा और दूत के निकट (अवः अहम् वृणे) रक्षा और साहाय्य की याचना मैं करता हूं ॥१०॥

भावार्थः—प्रजाजन राजा के निकट साहाय्यार्थ याचना करें ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह अड़तीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्यैकोनचत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१० नाभाकः काण्व ऋषिः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ३, ५ भुरिक् त्रिष्टुप् । विराट् त्रिष्टुप् । ४, ६—८ स्वराट् त्रिष्टुप् । ९ निचृज्जगती । १० त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१—८, १० धैवतः । ९ निषादः ॥

पुनरपि अग्निनाम से परमात्मा की स्तुति का आरम्भ करते हैं ॥

अग्निमंस्तोष्यृग्मियंमग्निमीळा यजध्यैं । अग्निर्देवाँ अंनक्तु न उभे हि विदथें कविरन्तश्चरंति दूत्यं १ नभंन्तामन्यके संमे ॥१॥

पदार्थः—(अग्निम् अस्तोषि) मैं उपासक उस सर्वशक्तिप्रद अग्नि नाम से प्रसिद्ध परमात्मा की स्तुति करता हूं। (ऋग्मियम् अग्निम्) ऋचाओं से स्तवनीय उसी के गुणों का गान (यजध्यै) सर्व कर्मों में पूजनार्थ (ईडा) स्तुति द्वारा कर रहा हूं; (नः विदथे) हमारे यज्ञगृह में उपस्थित(देवान्) माननीय विद्वान् जनों को(अनक्तु) शुभकर्म में वह लगावे, जो ईश (कविः) सर्वज्ञ है और (उभे अन्तः) इन दोनो लोकों के मध्य (दूत्यम् चरति) दूत के समान काम कर रहा है उसी की कृपा से (अन्यके समे) अन्यान्य सब ही शत्रु (नभन्ताम्) विनष्ट हो जायं ॥१॥

भावार्थः—ऐसे स्थलों में अग्नि नाम ईश्वर का ही है जो सर्वगत सर्वलीन है। जैसे सब में अग्नि विद्यमान है। वह महाकवि और ध्येय तथा पूज्य है ॥१॥

शत्रु के विनाश के लिये प्रार्थना ॥

न्यग्ने नव्यसा वचस्तनूषु शंसमेषाम् । न्यराती ररावणां
विश्वा अर्यो अरातीरितो युच्छन्त्वामुरो नभन्तामन्यके समे ॥२॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्तिमन् ईश ! (एषाम्) इन हम लोगों के (तनूषु) शरीरों में (शंसम्) प्रशंसनीय (वचः) वचन को (नव्यसा) नूतन वचन के साथ बढ़ा। (ररावणम्) दाताओं के (विश्वाः अरातीः) सर्व शत्रुओं को (नि) दूर कीजिये। पुनः (इतः) इस संस्था से (आमूरः) मूर्ख (अरातीः) और अदाता (अर्य्यः) शत्रुगण (युच्छन्तु) यहां से दूर चले जायं। शेष पूर्ववत् ॥२॥

भावार्थः—हम लोग प्राचीन भाषा और नवीन भाषा दोनों की उन्नति करें और अनाथादिकों को सदा दान किया करें। जो न देवें उन्हें शिक्षा देकर दानपथ पर लावें ॥२॥

अब उसके गुणों का कीर्तन करते हैं ॥

अग्ने मन्मानि तुभ्यं कं घृतं न जुह्व आसनि । स देवेषु प्रचिकिद्धि
त्वं ह्यसि पूर्व्यः शिवो दूतो विवस्वतो नभन्तामन्यके समे ॥३॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्तिमन् ! (तुभ्यम्) तेरी प्रीति के लिये (आसनि) विद्वान् मनुष्यों के मुख में (घृतम् न) घृत के समान (मन्मानि) मननीय स्तोत्रों को (जुह्वे) होमता हूं। (देवेषु) देवों में सुप्रसिद्ध (सः) वह तू (पूर्व्यः) पुरातन (शिवः) सुखकारी और (दूतः) दूत के समान है अतः तेरी कृपा से (अन्यके समे) अन्य सब ही दुष्ट मनुष्य (नभन्ताम्) विनष्ट हो जायें ॥३॥

भावार्थः—विद्वान् सदा परमात्मा के गुणों का स्तवन करें वही प्रभु सदा सुखकारी है ॥३॥

अग्नि क्यों अवस्था और अन्न देता है यह दिखलाते हैं ॥

तत्त॑द॒ग्निर्वयो॑ द॒धे यथा॑यथा कृप॒ण्यति॑ । ऊ॒र्जाहु॑ति॒र्वसू॑नां॒ शं च॒ योश्च॒ मयो॑ द॒धे विश्व॑स्यै दे॒वहू॑त्यै॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥४॥

पदार्थः—(अग्निः) वह सर्वगत ईश (तत् तत्) उस उस शक्ति, खाद्य और वयःक्रम को सर्वत्र (दधे) स्थापित करता है; (यथा यथा कृपण्यति) जो-जो प्राणियों की स्थिति के लिये आवश्यक है, वह वह (ऊर्जाहुतिः) सम्पूर्ण बल और सामर्थ्य देनेवाला है; पुनः वह (वसूनाम्) पृथिव्यादि पदार्थों के मध्य अथवा धनों के मध्य (शम् च) कल्याण और (योः च) रोगादि निवर्तक (मयः दधे) सुख स्थापित करता है। और (विश्वस्यै देवहूत्यै) समस्त देवों के आवाहन के स्थान में केवल वही आहूत होता है अर्थात् सब देवों के मध्य वही पूज्य होता है। शेष पूर्ववत् ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! आवश्यकता के अनुसार वही सब में शक्ति और सामर्थ्य दे हा है; वही जीवों के लिए अन्नों का भी प्रबन्ध कर रहा है; अतः वही पूज्यतम है ॥४॥

वह कैसे जानता है यह इससे दिखलाते हैं ॥

स चि॑केत॒ सही॑यसा॒ग्निश्चि॒त्रेण॒ कर्म॑णा । स होता॒ शश्व॑तीनां॒ दक्षि॑णाभिर॒भीवृ॑त इ॒नोति॑ च प्रती॒व्यं१ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥५॥

पदार्थः—(सः अग्निः) वह सर्वाधार जगदीश (सहीयसा) सर्वाभिभावी= सब के ऊपर शासक, (चित्रेण) अद्भुत (कर्मणा) कर्म के द्वारा (चिकेत) जाना जाता है; (सः शश्वतीनाम् होता) वह सर्वदा चली आती हुई नित्य सृष्टियों का (दक्षिणाभिः) विविध दानों के कारण (होता) दाता अथवा अस्तित्व में लानेवाला है (अभीवृतः) सर्वतः वर्तमान अथवा सबसे स्वीकृति है और वह (प्रतीव्यम् च इनोति) विश्वासी के निकट पहुँचता भी है। शेष पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—सर्वत्र विद्यमान जगदीश केवल सृष्टिरचनारूप द्वारा ही जाना जाता है। वही सर्वपूज्य है ॥५॥

परमात्मा सर्ववित् है यह इससे दिखलाते हैं ॥

अ॒ग्निर्जा॒ता दे॒वाना॑म॒ग्निर्वे॑द॒ मर्ता॑नामपी॒च्य॑म् । अ॒ग्निः स द्र॑विणो॒दा अ॒ग्निर्द्वारा॒ व्यू॑र्णुते॒ स्वा॑हुतो॒ नवी॑यसा॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥६॥

पदार्थः—(अग्निः) सर्वाधार वह परमात्मा (देवानाम् जाता वेद) सूर्य्यादि देवों के जन्म जानता है; (अग्निः) वह देव (मर्त्तानाम् अपीच्यम्) मनुष्यों की गुह्य बातों को भी जानता है। (सः अग्निः द्रविणोदाः) वह अग्नि सब प्रकार का धनदाता है। (अग्निः) वह देव (द्वारा) सर्व पदार्थों का द्वार (व्यूर्णुते) प्रकाशित करता है और (स्वाहुतः) वह सुपूजित होकर (नवीयसा) नूतन विज्ञान के साथ उपासक के ऊपर कृपा करता है; उसी की कृपा से (अन्यके समे) अन्य सब ही शत्रु (नभन्ताम्) विनष्ट हो जायं ॥६॥

भावार्थः—सर्व देवों का वह जनक है। सब की दशा वह जानता है। सब का शासक है इत्यादि दिखलाने से भाव यह है कि वही एक पूज्य है अन्य नहीं ॥६॥

पुनः उसी अर्थ को कहते हैं ॥

अ॒ग्निर्दे॒वेषु॒ संव॑सुः॒ स वि॒क्षु य॒ज्ञिया॒स्वा। स मु॒दा काव्या॑ पु॒रु विश्वं॒ भूमे॑व पुष्यति दे॒वो दे॒वेषु॑ य॒ज्ञियो॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥७॥

पदार्थः—(अग्निः देवेषु) वह परमात्मा सब देवों के मध्य निवास करने वाला है (आ) और (सः यज्ञियासु विक्षु) यज्ञार्ह पवित्र प्रजाओं में भी निवास करने वाला है। (सः मुदा) वह हर्ष से (पुरु काव्या) उपासकों के बहुत स्तोत्रादि काव्यों को (पुष्यति) पुष्ट करता है और (भूम इव) पृथिवी के समान ही (विश्वम् पुष्यति) सब को पुष्ट करता है। (देवेषु यज्ञियः देवः) वह सूर्य्यादि देवों में पूज्य देव है अतः वही एक पूज्य है। शेष पूर्ववत् ॥७॥

भावार्थः—सब देवों में वही एक परमपूज्य है। हे मनुष्यो ! उसी की स्तुति-प्रार्थना करो; अन्य की नहीं ॥७॥

उसी की व्यापकता दिखलाते हैं ॥

यो अ॒ग्निः स॒प्तमा॑नुषः श्रि॒तो विश्वे॑षु॒ सिन्धु॑षु। तमाग॑न्म त्रि॒प॒स्त्यं म॑न्धा॒तुर्द॑स्यु॒हन्त॑मम॒ग्निं य॒ज्ञेषु॑ पू॒र्व्यं नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥८॥

पदार्थः—(यः अग्निः सप्तमानुषः) जो सर्वाधार परमात्मा सप्तमनुष्यों का ईश्वर है; (विश्वेषु समुद्रेषु) निखिल नदियों, समुद्रों, और आकाशों में (श्रितः) व्यापक है; (तम् अग्निम् आगन्म) उसको हम उपासकगण प्राप्त होवें। फिर वह (त्रिपस्त्यम्) तीनों लोकों में स्थित है (मन्धातुः) और जो उपासकों के (दस्युहन्तमम्) निखिल विघ्नों का हननकर्त्ता है और (अग्निम्) सर्वाधार है और (यज्ञेषु पूर्व्यम्) यज्ञों में प्रथम पूजनीय और परिपूर्ण है ॥८॥

भावार्थः—सप्तमानुष=दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण और एक रसना ये ही सप्त मनुष्य हैं। अथवा पृथिवी पर सात प्रकार के मनुष्य वंश। त्रिपस्त्यं=पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये ही तीन लोक वा तीन गृह वा तीन स्थान हैं। अतः इनका शासक व्यापक जगदीश परमपूज्य है ॥८॥

पुनः उसकी व्यापकता दिखलाते हैं ॥

अ॒ग्निस्त्रीणि॑ त्रि॒धातू॒न्या क्षे॑ति वि॒दथा॑ क॒विः । स त्रीँरे॑का द॒शाँ इ॒ह यक्ष॑च्च पि॒प्रय॑च्च नो॒ विप्रो॑ दू॒तः परि॑ष्कृतो॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥९॥

पदार्थः—(कविः) महाकवि सर्वज्ञ (अग्निः) सर्वाधार जगदीश (विदथा) विज्ञातव्य और (त्रिधातूनि) ईश्वर, जीव और प्रकृतिरूप तीनों पदार्थों से युक्त (त्रीणि) तीनों लोकों में (आक्षेति) निवास करता है। फिर (विप्रः) परम ज्ञानी, (दूतः) दूत के समान सर्वतत्त्वज्ञ और (परिष्कृतः) सर्वत्र कर्तृत्व से प्रसिद्ध (सः) वह जगदीश (त्रीन् एकादशान्) तेतीसों देवों को (इह यक्षत् च) इस संसार में सब प्रकार के दान देवें। और (नः) हम उपासकों को भी (पिप्रयत् च) समस्त कामनाओं से पूर्ण करें ॥९॥

भावार्थः—त्रिधातु=पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीनों धातु अर्थात् पदार्थ। अथवा ईश्वर, जीव और प्रकृति। अथवा कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय (मन आदि) ३३ देव=उत्तम, मध्यम और अधम भेद से एकादश इन्द्रिय ही ३३ देव हैं। पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और एक मन ये ही एकादश (११) इन्द्रिय देव हैं। परमात्मा ही जब इन पर कृपा करता है तब इनका प्रकाश होता है। अतः इस कारण भी वही पूज्यदेव है ॥९॥

वही सर्वधन का स्वामी भी है यह दिखलाते हैं ॥

त्वं नो॑ अग्न आ॒युषु॒ त्वं दे॒वेषु॑ पूर्व्य॒ वस्व॒ एक॑ इरज्यसि । त्वामापः॑ परि॒स्रुतः॒ परि॑ यन्ति॒ स्वसे॑तवो॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥१०॥

पदार्थः—(पूर्व्य) हे पूर्ण (अग्ने) सर्वाधार परमदेव ! (नः आयुषु) हमारे मनुष्यों में (त्वम्) तू ही (वस्वः इरज्यसि) धनका स्वामी है; (देवेषु) देवों में भी (एकः) एक तू ही धन का स्वामी है। (त्वाम्) तेरे चारों तरफ (आपः परि यन्ति) जल की धाराएँ बहती हैं जो (परिस्रुतः) तेरी कृपा से सर्वत्र फैल रही हैं और

(स्वसेतवः) अपने नियम में बद्ध हैं या स्यन्दनशील हैं। हे ईश ! तेरी कृपा से जगत् के (समे) सब ही (अन्यके) अन्य शत्रु (नभन्ताम्) नष्ट हो जायं या इनको तू ही दूर कर दे ॥१०॥

भावार्थः—धनों की कामना से भी वही प्रार्थनीय है क्योंकि सर्वधन का स्वामी वही है और जिससे धन उत्पन्न होता है वह जल भी उसी के अधीन है ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह उन्तालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य चत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१२ नाभाकः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ छन्दः—१, ११ भुरिक् त्रिष्टुप् । ३, ४ स्वराट् त्रिष्टुप् । १२ निचृत् त्रिष्टुप् । २ स्वराट् शक्वरी । ५, ७, ९ जगती । ६ भुरिग्जगती । ८, १० निचृज्जगती ॥ स्वरः—१—४, ११, १२ धैवतः । ५—१० निषादः ॥

इन्द्रा॑ग्नी यु॒वं सु नः॒ सह॑न्ता॒ दास॑थो र॒यिम् । येन॑ दृ॒ळ्हा

स॒मत्स्वा वी॒ळु चि॑त्साहिषी॒महा॑ग्नि॒र्वने॑व॒ वात॒ इन्नभ॑न्ताम॒-

न्य॒के स॑मे ॥१॥

पदार्थः—हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्य एवं ज्ञानरूप प्रकाश के प्रदाता, क्षात्र एवं ब्राह्म-बल धारण कराने वाले दो प्रकार के अध्यापको ! (युवं) आप दोनों (सु सहन्ता) सम्यक्तया धैर्य धारण किये हुए, बड़े धैर्य के साथ (नः) हमें (रयिं) बल एवम् ज्ञानधन (दासथः) प्रदान करते हो (येन) उस धन के द्वारा हम (समत्सु) जीवन में आने वाले संघर्षों के समय (दृळ्हा) सुदृढ़ (चित्) और (वीळु) बलशाली [शत्रु] को भी (साहिषीमहि) इस प्रकार पराभूत कर देंगे (इव) जैसे कि (वाते इत्) वायु के बहते समय (अग्निः) आग (वना) बड़े-बड़े जंगलों तक को भी नष्ट कर डालता है। (समे) सब (अन्यके) परायी अर्थात् शत्रुभूत—दुर्भावनायें (नभन्तां) नष्ट हो जायें ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य में शारीरिक बल तथा मानसिक विचार शक्ति का परस्पर मेल एवं सन्तुलन रहना चाहिए; प्रजा में क्षत्रियों और ब्राह्मणों का सहयोग रहे; शिक्षा के जगत् में शारीरिक एवं मानसिक शिक्षा देने वाले दोनों प्रकार के अध्यापकों का सहयोग रहे—तभी सब प्रकार के शत्रु नष्ट होते हैं ॥१॥

नहि वां वव्रयामहेऽथेन्द्रमिद्यजामहे शविष्ठं नृणां नरम् । स नः कदा चिदर्वता गमदा वाजसातये गमदा मेधसातये नभन्तामन्यके समे ॥२॥

पदार्थः—हे इन्द्राग्नी! यदि हम (वां) आप दोनों को (नहि) नहीं ही (वव्रयामहे) मिल पाते हैं (अथ) तो फिर (नृणां नरं) मानवों में से नेतृत्व गुण विशिष्ट (शविष्ठं) सबसे अधिक बलशाली (इन्द्रं इत्) ऐश्वर्यवान् की ही (यजामहे) प्रतिष्ठा और संगति करते हैं। (सः) वह (कदाचित्) कभी तो (अर्वता) ज्ञानवान् के साथ [अग्निर्वा अर्वा । तै० १।३।६।४] (वाजसातये) शारीरिक बलार्थ अत्युत्तम अन्नादि भोगों का विभागपूर्वक प्रदान करने के लिये (आगमत्) आजाय और (मेधसातये) विचारशक्ति के अर्थ धारणावती बुद्धि का विभाग पूर्वक प्रदान करने के लिये आ जाय। और इस प्रकार हमारे (समे) सभी (अन्यके) हमसे अपरिचित शत्रुभाव (नभन्ताम्) नष्ट हो जायें ॥२॥

भावार्थः—बलशाली नेता के आश्रय और संगति में भी कभी-कभी विद्वान् की प्राप्ति हो ही जाती है। इस प्रकार इन दोनों की संगति प्राप्त होने पर ही हमें शत्रुओं से और शत्रु भावनाओं से छुटकारा मिलता है ॥२॥

ता हि मध्यं भराणामिन्द्राग्नी अधिक्षितः । ता उ कवित्वना कवी पृच्छ्यमाना सखीयते सं धीतमश्नुतं नरा नभन्तामन्यके समे ॥३॥

पदार्थः—(ता) वे उपरिवर्णित (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (हि) निश्चय ही (भराणां) हमारे जीवन संघर्षों के [भरः a battle आप्टे] (मध्यं) आभ्यन्तर भाग में (अधि क्षितः) अध्यक्षरूप में स्थित रहते हैं—जीवन में संघर्ष उपस्थित होने पर हमारे पालन-पोषण के उत्तरदायी बनते हैं। (ता) वह दोनों (उ) ही (कवी) क्रान्तदर्शी (पृच्छ्यमाना) आदेशार्थ अथवा सन्देहनिवारणार्थ पूछे गये (कवित्वना) क्रान्तदर्शिता के द्वारा (सखीयते) मित्र की भाँति आचरण करने वाले जन के लिये, उसके सामने (संधीतं) सन्तोषदायक, कल्याणकारी, मननपूर्वक सुनिश्चित विचारधारा को (अश्नुतम्) संचित कर देते हैं। इस प्रकार···इत्यादि पूर्ववत् । ३॥

भावार्थः—हमारे जीवन संघर्ष के अधिष्ठाता तथा संचालक क्षात्रबल और ब्राह्मबल दोनों ही हैं। शंकाएँ उपस्थित होने पर हम इन दोनों

शक्तियों वाले विद्वानों पर ही निर्भर रहते हैं और वे हमें अपनी सुविचारित विचार धारा प्रदान कर हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं ॥३॥

अभ्यर्च नभाकवदिन्द्राग्नी यजसा गिरा । ययोर्विश्वमिदं जगं दियं द्यौः पृथिवी मह्युपस्थे बिभृतो वसु नभन्तामन्यके समे ॥४॥

पदार्थः—हे साधक तू (नभाकवत्) दुःखों को ध्वस्त करना चाहने वाले जन की भांति, (यजसा) आदरमयी (गिरा) भाषा द्वारा (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्नि का (अभि अर्च) स्वागत कर और उनकी आज्ञाओं का पालन कर (ययोः) जिनके (उपस्थे) गोद अथवा आश्रय पर ही (इदं विश्वं जगत्) यह सम्पूर्ण संसार अर्थात् (इयं द्यौः) यह स्वतःप्रकाशमान लोक और (इयं पृथिवी मही) यह अतिविस्तृत बड़ी भूमि, अपने निजी प्रकाश से रहित भूलोक—-दोनों ही (वसु) ऐश्वर्य को (बिभृतः) धारण किये हुए हैं। इस प्रकार'''इत्यादि पूर्ववत् ॥४॥

भावार्थः—सब प्रकार दुःखदायी तत्त्वों को विध्वस्त करने का अभिलाषी साधक क्षात्र एवं ब्राह्म दोनों प्रकार के बलों का, ऐसे बलशालियों का और ऐसी भावनाओं का आदर पूर्वक स्वागत करे। इन तत्त्वों पर ही सारा संसार पलता है ॥४॥

प्र ब्रह्माणि नभाकवदिन्द्राग्निभ्यामिरज्यत । या सप्तबुध्नमर्णवं जिह्मबारमपोर्णुत इन्द्र ईशान ओजसा नभन्तामन्यके समे ॥५॥

पदार्थः—हे साधको ! (नभाकवत्) अपने दुःखों का विध्वंस चाहने वाले के समान (इन्द्राग्निभ्यां) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्नि के लिये (ब्रह्माणि) गुण वर्णन के मन्त्रों का (इरज्यताम्) आधिपत्य प्राप्त करो; ऐसे मन्त्रों को भली-भांति समझ कर उनका प्रयोग करो। उन्हीं इन्द्र और अग्नि के लिये कि (या) जो (सप्तबुध्नं) सात-सात आधारों वाले अर्थात् अत्यन्त दृढ़ पेंदी वाले (जिह्मबारं) टेढ़ेमेढ़े द्वार वाले (अर्णवं) प्रबोध-जल के महासागर को (अप ऊर्णुतः) उघाड़ते हैं; (इन्द्रः) इन दोनों में से भी (इन्द्रः) सामर्थ्यवान् क्षात्रबली (ओजसा) अपनी ओजस्विता के कारण (ईशानः) स्वामित्व करता है। इस प्रकार ''इत्यादि पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—शुद्ध आत्मा के साथ मेल न खाने वाली, परायी शत्रुरूपा दुर्भावनाओं को दूर करने के लिये साधक को ज्ञान एवं कर्म दोनों शक्तियों की आवश्यकता है। इस विषयक प्रबोध एक गहरे महासागर की भांति है—उसके मुखद्वार का उद्घाटन भी टेढ़ी खीर है। ब्राह्मबल और क्षात्रबल

दोनों की सम्मिलित सहायता से ही इसका उद्घाटन सम्भव है—साथ ही ब्राह्मबल की तुलना में क्षात्रबल अधिक ओजस्वी है—इत्यादि वर्णन इस मन्त्र का विषय है ।।५।।

अपि॑ वृश्च पुराण॒वद्व्र॒तते॑रिव गुष्पि॒तमोजो॑ दा॒सस्य॑ दम्भय । व॒यं तद॑स्य॒ सम्भृ॑तं॒ वस्विन्द्रे॑ण॒ वि भ॑जेमहि॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ।।६।।

पदार्थः—हे शक्तिशाली राजन् ! (व्रततेः) बेल के (गुष्पितं) उलझे हुए गुच्छे को (पुराणवत्) जैसे कि पुराने को सरलता से (वृश्च) काट देते हैं वैसे ही (दासस्य) क्षीण करने वाले विध्वंसक दुष्ट पुरुष के (गुष्पितं) पुञ्जीभूत (ओजः) तेज को काट (अपि) और उसको (दम्भय) अपने आदेश के अधीन कर ले । (वयं) हम प्रजाजन (अस्य) इसके (तत्) उस (इन्द्रेण) बलशाली राजा आदि द्वारा (सम्भृतं) एकत्र कर दिये हुए (वसु) तेजरूपी ऐश्वर्य का (विभजेमहि) बांटकर सेवन करें ।।६।।

भावार्थः—राष्ट्र में दुष्ट पुरुषों को राजा न केवल निस्तेज करे अपितु उस में बिखर कर फैले हुए सारे ओज एवं धन को समेटकर राजा अपनी शिष्ट प्रजा में बांट दे ।।६।।

यदि॑न्द्राग्नी॒ जना॑ इ॒मे वि॒ह्वय॑न्ते॒ तना॑ गि॒रा । अ॒स्माके॑भि॒र्नृभि॑र्व॒यं सा॑स॒ह्याम॑ पृतन्य॒तो व॑नु॒याम॑ वनु॒ष्य॒तो नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ।।७।।

पदार्थः—(यद्) जब (इमे जनाः) ये हमारे जीव (तना) लगातार उच्चारित (गिरा) अपने शब्दों द्वारा (इन्द्राग्नी) उपरोक्त इन्द्र और अग्नि को (विह्वयन्ते) विह्वलता से पुकार लेते हैं—गुण वर्णन द्वारा उनका आधान अपने अन्तरात्मा में कर लेते हैं तब हम (अस्माकेभिः) इन अपने ही हुए (नृभिः) मनुष्यों को साथ लेकर (पृतन्यतः) आक्रान्ता शत्रुओं और शत्रु भावनाओं को (सासह्याम) धीरता के साथ पराजित करें और (वनुष्यतः) जो हमें पराजित करना चाहते हैं या विध्वस्त करना चाहते हैं हम उन्हें (वनुयाम) पराजित करें अथवा नष्ट कर दें । इस प्रकार···इत्यादि पूर्ववत् ।।७।।

भावार्थः—हमें चाहिये कि हम विविध प्रकार से ब्राह्म एवं क्षात्रबल-शालियों के गुणों का वर्णन करते हुए उन गुणों का अपने अन्तःकरण में आधान करें । हम अपने आक्रामक तथा आक्रमण करके हमें पराजित अथवा नष्ट करना चाहने वाले शत्रुओं और शत्रुभूत भावनाओं को इसी प्रकार पराभूत कर सकेंगे ।।७।।

या नु श्वेताववो दिव उच्चरात उप द्युभिः । इन्द्राग्न्योरनु व्रतमुहाना यन्ति सिन्धवो यान्त्सीं बन्धादमुञ्चतां नभन्तामन्यके समे ॥८॥

पदार्थः—(या) जो (श्वेतौ) सत्वगुणविशिष्ट [इन्द्र और अग्नि] (द्युभिः) अपने कमनीय गुणों की दीप्ति के द्वारा (अवः) निम्न, अन्धकार अथवा अज्ञान की अवस्था से (उप दिवः) उच्च, प्रकाश अथवा ज्ञान की अवस्था में (उच्चरातः) पहुँचा देते हैं; फिर वे (यान्) जिन [पदार्थों अथवा उच्च भावनाओं] को (बन्धात्) अपने बन्धन से (अमुञ्चताम्) मुक्त कर दें वे (सिन्धवः) विभिन्न प्रकार के गहन समुद्र की भान्ति कोश, जलों की भांति (इन्द्राग्न्योः व्रतं अनु) इन्द्र एवं अग्नि के सनातन नियम का अनुसरण करते हुए (उहानाः यन्ति) प्रवाहित हो जाते हैं । (समे) आदि शेष पूर्ववत् ॥८॥

भावार्थः—जो साधक सत्वगुणी क्षात्र एवं ब्राह्म बल अथवा ऐसे बलशाली क्षत्रिय और ब्राह्मण की शरण में पहुँच जाता है, उन दोनों की सहायता से उसका जीवन उच्च हो जाता है और उसको उनकी मुक्त दानशीलता के कारण अपार ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥८॥

पूर्वीष्ट इन्द्रोपमातयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः सूनो हिन्वस्य हरिवः । वस्वो वीरस्यापृचो या नु साधन्त नो धियो नभन्तामन्यके समे ॥९॥

पदार्थः—हे (हरिवः) जीवनयात्रा का सुष्ठुतया निर्वाह कर सकने वाली ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों की शक्तियों से युक्त, (हिन्वस्य) स्तुति द्वारा सन्तुष्ट करने वाले जन के (सूनो) प्रेरक, (इन्द्र) क्षात्रबल के धारक नेता ! (ते) तेरे (उपमातयः) दान [सायण] (पूर्वीः) सबसे प्रथम है (उत) इसीलिए तेरी (प्रशस्तयः) स्तुतियां भी (पूर्वीः) सर्वप्रथम हैं । (वीरस्य) तुझ वीर द्वारा की गई (आपृचः) आपूर्तियां, उदारतापूर्वक प्रदान की गई सिद्धियां (वस्वः) बसाने वाली हैं । (याः) और वे आपूर्तियां (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मों को—हमारे चिन्तन एवं कृत्यों—दोनों—को (साधन्त) सिद्ध करें । (समे) इत्यादि पूर्ववत् ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वर, ऐश्वर्यवान् क्षात्रबलोपेत राजा तथा स्वयं जीव जो सिद्धियों को प्राप्त कराते हैं—वे वस्तुतः मनुष्य की विचारधारा और उसकी

कर्तृत्वशक्तिको सम्पन्न बनाते हैं। यही भाव इस मन्त्र में व्यक्त किया गया है ॥९॥

तं शिंशीता सुवृक्तिभिंस्त्वेषं सत्वांनमृग्मियम्। उतो नु चिद्य ओजंसा शुष्णंस्याण्डानि भेदंति जेषत्स्वंर्वतीरपो नभंन्तामन्यके संमे ॥१०॥

पदार्थः—उस उपरिवर्णित क्षात्र बल रूपी इन्द्र को, जो (त्वेषं) शत्रुओं एवं शत्रु भावनाओं के लिये भयानक एवम् तेजस्वी है; (सत्वानम्) शुद्धान्तःकरण एवम् बलिष्ठ है; (ऋग्मियम्) स्तुति करने योग्य है; (उतो नु चित्) और (यः) जो (ओजसा) अपनी ओजस्विता से ही (शुष्णस्य) शोषक शत्रु, रोग अथवा दुर्भावना आदि के (आण्डानि) गर्भस्थ सन्तान को (भेदति) छिन्न-भिन्न कर देता है और इस प्रकार (स्वर्वतीः) सुखप्रापक (अपः) कर्मों को (जेषत्) जीत लेता है; (तं) उस इन्द्र को (सुवृक्तिभिः) शोभन दुःखवर्जक क्रियाओं द्वारा (शिशीत) अधिक तीक्ष्ण, कार्यसक्षम बनाओ। (समे) इत्यादि पूर्ववत् ॥१०॥

भावार्थः - क्षात्र बल की ओजस्विता के कारण ही शत्रुओं की सन्तानें गर्भावस्था में ही नष्ट हो जाती हैं; साधक के दुःखवर्जक कर्मों द्वारा यह बल अधिक कार्यक्षम बनता है ॥१०॥

तं शिंशीता स्वध्वरं सत्यं सत्वांनमृत्वियंम्। उतो नु चिद्य ओहंत आण्डा शुष्णंस्य भेदत्यजैः स्वर्वतीरपो नभंन्तामन्यके संमे ॥११॥

पदार्थः—जिस ब्राह्मबल के व्यवहार (स्वध्वरं) शोभन अहिंसा आदि हैं; (सत्यं) जो कभी विपरीत फल नहीं देता [अव्यभिचारी है]; (सत्वानं) सत्वगुण विशिष्ट एवम् बलवान् है; (ऋत्वियम्) जो नियमपूर्वक फलप्रद है; (उतो नु चित्) और (यः) जो (ओहते) तर्कवितर्क करता है विवेकशील है तथा (शुष्णस्य) शोषक की (आण्डा) गर्भस्थ सन्तानं को (भेदति) छिन्न-भिन्न कर देता है। (स्वर्वतीः) सुख प्रापिका (अपः) क्रियाओं को (अजैः) जीतता है—(तं) उस ब्राह्मबल को (शिशीत) कार्यक्षम बनाओ। (समे) इत्यादि पूर्ववत् ॥११॥

भावार्थः—ब्राह्मबल साधक को विवेकशीलता प्रदान करता है; जब कि क्षात्रबल में आक्रामकता तथा ओज प्रबल होता है। दोनों के सहयोग से ही शत्रुओं का पराजय होता है ॥११॥

एवेन्द्राग्निभ्यां पितृवन्नवीयो मन्धातृवदङ्गिरस्वदवाचि ।
त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान्वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१२॥

पदार्थः—(एव) इस प्रकार जिन (इन्द्राग्निभ्यां) इन्द्र एवम् अग्नि के लिए [उन्हें] (पितृवत्) पालक माता-पिता के समान, (मन्धातृवत्) ज्ञानधारक एवम् ज्ञानप्रकाशक के समान और (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के समान जीवनदाता के समान [पद देते हुए] (नवीयः) अतिशय स्तुतिकारक वचन (अवाचि) कहा वे इन्द्र और अग्नि (त्रिधातुना) तीन धारक तत्त्वों—सत्व, रज और तम से युक्त (शर्मणा) दुःखाभावरूप सुख से (अस्मान्) हम साधकों की (पातम्) रक्षा करें। (वयं) हम (रयीणां) दानशीलता के प्रवर्तक ऐश्वर्यों के (पतयः)पालक स्वामी (स्याम) हों ॥१२॥

भावार्थः—क्षात्रबल एवं ब्राह्मबल तथा उनके अधिष्ठाता राजा, विद्वान् एवं सर्वोपरि परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को पितृस्थानीय, बुद्धि तथा विचारशीलता प्रदान करने वाला और प्राणधारक मानकर उनके गुणों का वर्णन करते हुए उनको अपने अन्तःकरण में स्थापित करने का यत्न करना चाहिये। मनुष्य को दुःख से रहित सुख इस प्रकार की स्तुति से ही उपलब्ध हो सकता है ॥१२॥

विशेष—इस सूक्त के देवता इन्द्र और अग्नि हैं। उन्हीं के गुणों और कृत्यों का वर्णन समग्र सूक्त में किया गया है।

अष्टम मण्डल में यह चालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्यैकचत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१० नाभाकः काण्व ऋषिः ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः—१, ५ त्रिष्टुप् । ४, ७ भुरिक् त्रिष्टुप् । ८ स्वराट् त्रिष्टुप् । २, ३, ६, १० निचृज्जगती । ९ जगती । स्वरः—१, ४, ५, ७, ८ धैवतः । २, ३, ६, ९, १० निषादः ॥

अस्मा ऊ षु प्रभूतये वरुणाय मरुद्भ्योऽर्चा विदुष्टरेभ्यः । यो धीता मानुषाणां पश्वो गा इव रक्षति नभन्तामन्यके समे ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यगण आप (प्रभूतये) स्ववृद्धि, अभ्युदय और कल्याण के लिये (अस्मै) सर्वत्र विद्यमान इस (वरुणाय) परम स्वीकरणीय परमपूज्य परमात्मा की (उ) मन को स्थिर कर (सु) अच्छे प्रकार (अर्च) पूजा करो और (मरुद्भ्यः) जो मितभाषी योगीगण हैं उनकी भी पूजा करो तथा (विदुष्टरेभ्यः) जो अच्छे विद्वान्

हों उनको भी पूजो । (यः) जो वरुणवाच्य परमदेव (मानुषाणाम्) मनुष्यों के (पशवः) पशुओं को भी (धीता) अपने कर्म से (गाः इव) पृथिव्यादि लोकों के समान (रक्षति) बचाता है । जिससे (समे) सब ही (अन्यके) शत्रु (नभन्ताम्) नष्ट हों ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा की पूजा यदि मन और श्रद्धा से की जाय तो सर्व फल देती है, और उस उपासक के सर्व विघ्न भी नष्ट हो जाते हैं ॥१॥

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः । नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥२॥

पदार्थः—हे मनुष्यगण ! आप (तम् उ) उसी वरुण-वाच्य ईश्वर की (समना) समान (गिरा) स्तुति से (सु) अच्छे प्रकार स्तुति कीजिये और (पितॄणाम् च) अपने पूर्वज पितरों के (मन्मभिः) मननीय स्तोत्रों से स्तुति कीजिये; (नाभाकस्य) संसार विरक्त ऋष्यादि कृत (प्रशस्तिभिः) प्रशंसनीय स्तोत्रों से उसकी स्तुति कीजिये । (यः) जो वरुणदेव(सिन्धूनाम्) स्यन्दनशील इन्द्रियोंके (उप) समीप में(उदये) उदित होता है और जो (सप्तस्वसा) दो नयन, दो कर्ण, दो घ्राण और एक मुखस्थ रसना इन सातों के लिये कल्याणप्रद है; (सः) वही (मध्यमः) सब के मध्य में स्थित है । उसकी स्तुति से (समे अन्यके नभन्ताम्) सर्व शत्रु नष्ट हों ॥२॥

भावार्थः—उसकी स्तुति अपनी भाषा द्वारा या पूर्व रचित स्तोत्र द्वारा किसी प्रकार करे; इसमें मनुष्य का कल्याण है ॥२॥

स क्षपः परि षस्वजे न्युस्रो मायया दधे स विश्वं परि दर्शतः । तस्य वेनीरनु व्रतमुषस्तिस्रो अवर्धयन्नभन्तामन्यके समे ॥३॥

पदार्थः—हे मनुष्यगण (सः) वह वरुणवाच्य ईश्वर (क्षपः) रात्रि में भी (परि षस्वजे) व्यापक है अर्थात् रात्रि में भी मनुष्यों के सर्व कर्मों को देखा करता है । (दर्शतः) परम दर्शनीय (सः) वह ईश्वर (उस्रः) सर्वव्यापी होकर (मायया) निज शक्ति और बुद्धि से (परि) चारों तरफ (विश्वम्) सकल पदार्थ को (नि दधे) अच्छे प्रकार धारण किये हुए है । (तस्य व्रतम्) उसके व्रत को (वेनीः) उससे कामनाओं की इच्छा करती हुई सारी प्रजाएं (तिस्रः उषः) तीन कालों में (अवर्धयन्) बढ़ा रही हैं अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान या प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में उसकी कीर्ति बढ़ा रही हैं ॥३॥

भावार्थः—वह परमात्मा सब काल में सर्वत्र व्यापक है—यह जान पापों से निवृत्त रहे ॥३॥

यः ककुभो निधारयः पृथिव्यामधि दर्शतः । स माता पूर्व्यं पदं तद्वरुणस्य सप्त्यं स हि गोपा इवेर्यो नभन्तामन्यके समे ॥४॥

पदार्थः—(पृथिव्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर (दर्शत) दर्शनीय और विज्ञेय (यः) जो परमात्मा (ककुभः) सम्पूर्ण दिशाओं को (निधारयः) धारण करता है (स माता) वही जगत् का भी निर्माता, पाता और संहर्ता है । (वरुणस्य) उसी परमात्मा का (तत् पदम्) वह स्थान (पूर्व्यम्) पूर्ण और अति प्राचीन है और (सप्त्यम्) सबके जानने योग्य है । (सः हि) वही (गोपाः इव) गोपालक के समान जगत् का पालक है वह (ईर्यः) सर्वश्रेष्ठ ईश्वर है । (नभन्ताम्) इत्यादि पूर्ववत् ॥४॥

भावार्थः—जिस कारण वह जगत् का कर्ता है अतः सर्वभाव से वही पूज्य और उपास्यदेव है ॥४॥

यो धर्ता भुवनानां य उस्राणामपीच्या३वेद नामानि गुह्या । स कविः काव्या पुरु रूपं द्यौरिव पुष्यति नभन्तामन्यके समे ॥५॥

पदार्थः—(यः) जो वरुण (भुवनानाम्) सम्पूर्ण सूर्य्यादि जगत् और समस्त प्राणियों का (धर्ता) धारण करने वाला है और (उस्राणाम्) सूर्य्य की किरणों का भी वही धाता विधाता है और (अपीच्या) अन्तर्हित=भीतर छिपे हुए (गुह्या) गोपनीय (नामानि) नामों को भी (वेद) जानता है । (सः कविः) वह महाकवि है और वह (काव्या) काव्यों को (पुरु) बहुत बनाकर (पुष्यति) पुष्ट करता है । (इव) जैसे (द्यौः) सूर्य्य (रूपम्) रूप को पुष्ट करता है तद्वत् ॥५॥

भावार्थः—वह परमात्मा लोक-लोकान्तरों का रचयिता व पालक है; अतः उपास्य है ॥५॥

यस्मिन्विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता । त्रितं जूती सपर्यत व्रजे गावो न संयुजे युजे अश्वाँ अयुक्षत नभन्तामन्यके समे ॥६॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! आप वरुणदेव की महिमा देखिये । (यस्मिन्) जिस वरुण में (विश्वा) सम्पूर्ण (काव्या) काव्यकलाप (श्रिता) आश्रित है, जैसे—(चक्रे) चक्र में (नाभिः इव) नाभि स्थापित रहता है तद्वत् उस परमदेव में स्वयं काव्यकलाप

स्थित है। हे मनुष्यो ! उस (त्रितम्) त्रिलोकव्यापी वरुण को (जूती) शीघ्र ही प्रेम से (सपर्य्यत) पूजो; ऐसे ही (गावः न) जैसे गाएं (व्रजे) गोष्ठ में (संयुजे) संयुक्त होने के लिये शीघ्रता करती हैं, तद्वत्। पुनः (युजे) जुए में जैसे] मनुष्य (अश्वान्) घोड़ों को (अयुक्षत)जोतते हैं तद्वत्। हे मनुष्यो आप अपने को ईश्वर की पूजा के लिये शीघ्रता करो ॥६॥

भावार्थः—ईश्वर स्वयं महाकवि है। तथापि विद्वान् अपनी वाणी को पवित्र करने के लिये ईश्वरीय स्तोत्र रचते हैं। स्वकल्याणार्थ उसको पूजो। आलस्य मत करो ॥६॥

य आस्वत्क आशये विश्वा जातान्येषाम्। परि धामानि मर्मृश-
द्वरुणस्य पुरो गये विश्वे देवा अनु व्रतं नभन्तामन्यके समे ॥७॥

पदार्थः—(यः) जो वरुण (आसु) इन प्रजाओं में (अत्कः) व्याप्त है अथवा इन में सतत गमनशील है और जो (एषाम्) इन प्राणियों के (विश्वा जातानि) समस्त उत्पन्न चरित्र को (आशये) जानता है और (धामानि) समस्त स्थानों में (परि) चारों तरफ से (मर्मृशत्) व्याप्त होते हुए (वरुणस्य) वरुण के (गये पुरः) रथ के सामने (विश्वे देवाः) समस्त सूर्य्यादि देव (व्रतम् अनु) नियम के पीछे-पीछे चलते हैं। (नभन्ताम्) इत्यादि पूर्ववत् ॥७॥

भावार्थः—जिस ईश्वर के नियम के अनुसार सब सूर्य्यादि देव चल रहे हैं, हे मनुष्यो ! उसकी पूजा करो ॥७॥

पुनः वरुण का वर्णन करते हैं ॥

स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे।
स माया अर्चिना पदास्तृणान्नाकमारुहन्नभन्तामन्यके समे ॥८॥

पदार्थः—(सः) वह वरुण (समुद्रः) समुद्र है अर्थात् जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न हों वह समुद्र। यद्यपि सकल जगद्योनि वह है तथापि प्रत्यक्ष नहीं किन्तु (अपीच्यः) सबके मध्य में स्थित है। पुनः (तुरः) सर्व सूर्य्यादि देवों से शीघ्रगामी है। पुनः (द्याम् इव) जैसे सूर्य आकाश में क्रमशः चढ़ता है तद्वत् वह सबके हृदय में आरूढ़ है। (यद्) जो वरुण (आसु) इन प्रजाओं में (यजुः) दान (नि दधे) देता है और (सः) वह भगवान् (मायाः) दुष्टों की कपटताओं को (अर्चिना) ज्वालायुक्त (पदा) पद से (अस्तृणात्) नष्ट करता है और (नाकम्) सुखमय स्थान में (आरुहत्) रहता है ॥८॥

भावार्थः—जिस कारण वह कपटता नहीं चाहता, अतः निष्कपट होकर उसकी उपासना करो और उसको अपने-अपने हृदय में देखो ॥८॥

यस्य॑ श्वेता वि॑चक्ष॒णा ति॒स्रो भूमी॑रधिक्षि॒तः । त्रिरुत्त॑राणि प॒प्रतु॒र्वरु॑णस्य ध्रु॒वं सदः॒ स स॑प्ताना॒मिर॑ज्यति॒ नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥९॥

पदार्थः—(अधिक्षितः) सर्वोपरि निवास करते हुए और सबके ऊपर अधिकार रखते हुए (यस्य) जिस परमदेव के (श्वेता) श्वेत और दिव्य (विचक्षणा) तेज (तिस्रः भूमीः) तीनों भूमियों में और (उत्तराणि) अत्युत्तम (त्रिः) तीनों भुवनों में (पप्रतुः) पूर्ण हैं और जिस वरुण का (सदः) यह जगद्रूप भवन (ध्रुवम्) निश्चल और अविनश्वर है (सः) वही देव (सप्तानाम्) सर्पणशील जंगम और स्थावर पदार्थमात्र का (इरज्यति) स्वामी है। अतः हे मनुष्यो उसी की पूजा करो ॥९॥

भावार्थः—इस ऋचा द्वारा परमात्मा की महती शक्ति दिखलाते हैं। जीवात्मा की दृष्टि में ये तीन लोक हैं, परन्तु लोक-लोकान्तर की कोई संख्या नहीं है। यह सृष्टि अनन्त है। परमात्मा उनसे भी अलग रहता हुआ सब में है यह इसकी आश्चर्य्य-लीला है। हे मनुष्यो विचार-दृष्टि से इसकी विभूतियाँ देखो और तुम क्या हो सो भी विचारो ॥९॥

यः श्वेताँ अधि॑निर्णिज॑श्च॒क्रे कृ॒ष्णाँ अनु॑ व्र॒ता । स धाम॑ पू॒र्व्यं म॑मे॒ यः स्क॒म्भेन॒ वि रोद॑सी अ॒जो न द्याम॒धार॑य॒न्नभ॑न्तामन्य॒के स॑मे ॥१०॥

पदार्थः—(अनु व्रता) कर्मों के अनुसार (यः) जो वरुणवाच्य परमात्मा (श्वेतान्) श्वेत (निर्णिजः) किरणों को अर्थात् दिनों को (अधि चक्रे) बनाता है और (कृष्णान्) कृष्ण किरणों को अर्थात् रात्रि को बनाता है अथवा (श्वेतान्) सात्त्विक और (कृष्णान्) तद्विपरीत तामस (निर्णिजः) जीवों को बनाता है। पुनः (अनु व्रता) कर्म के अनुसार ही (सः) वह वरुण (पूर्व्यम् धाम) पूर्व धाम को (ममे) रचता है। (यः) जो (स्कम्भेन) स्वमहिमा से (रोदसी) परस्पर रोधनशील द्यावापृथिवी को (वि अधारयत्) अच्छे प्रकार धरे हुए है; ऐसे ही (अजः न द्याम्) जैसे सूर्य अपने परितःस्थित ग्रहों को धारण करता है, तद्वत् ॥१०॥

भावार्थः—वह परमात्मा ही दिन-रात और सात्त्विक तथा तामस जीवों को बनाता है ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह इकतालीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षडर्चस्य द्वाचत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—६ नाभाकः काण्व अर्चनाना वा। अथवा १—३ नाभाकः काण्वः। ४—६ नाभाकः काण्व अर्चनाना वा ऋषयः॥ १—३ वरुणः। ४—६ अश्विनौ देवते॥ छन्दः—१—३ त्रिष्टुप्। ४—६ अनुष्टुप्॥ स्वरः—१—३ धैवतः ४—६ गान्धारः॥

अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥१॥

पदार्थः—(असुरः) सब में प्राण देने वाला (विश्ववेदाः) सर्व धन और सर्व ज्ञानमय वह वरुण-वाच्य जगदीश्वर (द्याम्) पृथिवी से ऊपर समस्त जगत् को (अस्तम्नात्) स्तम्भ के समान पकड़े हुए विद्यमान है। पुनः (पृथिव्याः वरिमाणम्) पृथिवी के परिमाण को (अमिमीत) जो बनाता है और जो (विश्वा भुवनानि) सम्पूर्ण भुवनों को बनाकर (आसीदत्) उन पर अधिकार रखता है; (सम्राड्) वही सबका महाराज है। हे मनुष्यो! (वरुणस्य) वरणीय परमात्मा के (व्रतानि) कर्म (तानि) वे ये (विश्वा इत्) सब ही हैं। कहां तक उनका वर्णन किया जाय। इसकी यह शक्ति जानकर इसी को गाओ और पूजो॥१॥

भावार्थः—परमात्मा ने ये सब लोक बनाये हैं और वही इनका आधार हैं; उसी की पूजा करो॥१॥

एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम्।
स नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसत्पातं नो द्यावापृथिवी उपस्थे॥२॥

पदार्थः—हे मनुष्यगण आप (बृहन्तम्) महान् (वरुणम्) वरणीय परमात्मा की (वन्दस्व) वन्दना करें। पुनः (धीरम्) सर्ववित् (अमृतस्य) अमृत=मुक्ति का (गोपाम्) रक्षक उसी वरुण-वाच्य ईश्वर को (नमस्य) नमस्कार करो (सः) वह इस प्रकार पूजित हो (नः) हमको (त्रिवरूथम्) त्रिभूमिक अथवा त्रिलोकवरणीय (शर्म) गृह, कल्याण और मङ्गल (वि यंसत्) देवे। (द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिवी! (उपस्थे) आपके क्रोड़ में वर्तमान हम उपासकों को आप (पातम्) निखिल उपद्रवों से बचावें॥२॥

भावार्थः—जो ईश्वर की पूजा और वन्दना करते हैं उनकी सब ही पदार्थ रक्षा करते हैं। अतः हे मनुष्यो! यदि अपनी रक्षा चाहते हो तो केवल उसी की पूजा करो॥२॥

इमां धियं शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि ।
ययाति विश्वा दुरिता तरेम सुतर्माणमधि नावं रुहेम ॥३॥

पदार्थः—(वरुण देव) हे निखिल पापनिवारक महादेव (शिक्षमाणस्य) अपना जानते पूर्ण परिश्रम और धार्मिक कार्य्य में मनोयोग देते हुए मेरी (इमाम्) इस (धियम्) सुक्रिया को तथा (क्रतुम् दक्षम्) यज्ञ और आन्तरिक बल को (सं शिशाधि) अच्छे प्रकार तीक्ष्ण कीजिये; (यया) जिस सुक्रिया क्रतु और बल से (विश्वा दुरिता) निखिल पापों, व्यसनों और दुःखों को (अति तरेम) तैर जायं और (सुतर्माणम् नावम्) अच्छे प्रकार पार लगाने वाली सुक्रियारूप नौका पर (अधिरुहेम) चढ़ें ॥३॥

भावार्थः—हे देव ! बुद्धि, बल और क्रियाशक्ति—ये तीनों हमको दे जिससे हम पापादि दुःखों को तैर कर विज्ञानरूपी नौका पर चढ़ तेरे निकट पहुँच सकें ॥३॥

आ वां ग्रावाणो अश्विना धीभिर्विप्रा अचुच्यवुः ।
नासत्या सोमपीतये नभन्तामन्यके समे ॥४॥

पदार्थः—(नासत्या) हे असत्यरहित शुद्ध (अश्विना) अश्वयुक्त राजा और अमात्यगण ! (ग्रावाणः) निष्पाप या पाषाणवत् स्वकर्म में निश्चल और दृढ़ और (धीभिः) बुद्धियों से संयुक्त (विप्राः) ये मेधाविगण (सोमपीतये) जौ, गेहूँ, धान आदि पदार्थों को सुखपूर्वक भोगने के लिये (वाम्) आप लोगों के निकट (आ अचुच्यवुः) पहुँचते हैं; (समे) सब (अन्यके) शत्रु (नभन्ताम्) नष्ट हो जायं ॥४॥

भावार्थः—विद्वानों के ऊपर भी यदि कोई आपत्ति आवे तो वे भी राजा और अमात्यादि राज्य-प्रबन्धकर्त्ताओं के निकट जावें और उनसे साहाय्य लेकर निखिल विघ्नों को नष्ट करें ॥४॥

यथा वामत्रिरश्विना गीर्भिर्विप्रो अजोहवीत् ।
नासत्या सोमपीतये नभन्तामन्यके समे ॥५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे असत्यरहित (अश्विना) अश्वयुक्त राजवर्ग ! (अत्रिः) रक्षारहित (विप्रः) मेधावी (यथा) जैसे (वाम्) आपको (सोमपीतये) समस्त पदार्थों की रक्षा के लिये (अजोहवीत्) बुलाते हैं तद्वत् अन्य भी आपको बुलाया करें जिससे (समे) समस्त (अन्यके नभन्ताम्) शत्रु और विघ्न नष्ट होवें ॥५॥

भावार्थः—राजा और राज्य-कर्मचारियों को उचित है कि विद्वान्, मूर्ख, धनी, गरीब और असहाय आदि सर्व प्रकार के मनुष्यों की पूरी रक्षा करें, जिससे कोई विघ्न न रहने पावे ॥५॥

एवा वांमह्व ऊतये यथाहुंवन्त मेधिंराः ।

नासत्या सोमंपीतये नभंन्तामन्यके संमे ॥६॥

पदार्थः—(नासत्या) हे असत्यरहित राज्यप्रबन्धकर्त्ताओ ! (यथा) जैसे (मेधिराः) विद्वान् मेधाविगण (वाम्) आपको (अहुवन्त) स्वकार्य्य के लिये बुलाते हैं (एव) वैसे मैं भी (वाम्) आपको (ऊतये) साहाय्य के लिये (अह्वे) बुलाता हूँ ॥६॥

भावार्थः—राजा का सत्कार सब कोई करे ॥६॥

अष्टम मण्डल में यह बयालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशदृचस्य त्रिचत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—३३ विरूप आङ्गिरस ऋषिः ॥ अग्निर्देवता ॥छन्दः–१, ९—१२, २२, २६, २८, २९, ३३ निचृद्गायत्री । २–८, १३, १५–२१, २३—२५, २७, ३१, ३२ गायत्री । १४ ककुम्मती गायत्री । ३० पादनिचृद्गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

अग्निवाच्य ईश्वर की स्तुति ॥

इमे विप्रंस्य वेधसोऽग्नेरस्तृंतयज्वनः ।

गिरः स्तोमांस ईरते ॥१॥

पदार्थः—(विप्रस्य) मेधावी और विशेषकर ज्ञान विज्ञान प्रचारक (वेधसः) विविध स्तुतियों के कर्त्ता मुझ उपासक के (इमे स्तोमासः) ये स्तोत्र, (अस्तृतयज्वनः) जिसके उपासक कभी हिंसित और अभिभूत नहीं होते और (गिरः) जो स्तवनीय परमपूज्य है (अग्नेः) उस परमात्मा की ओर (ईरते) जाएँ ॥१॥

भावार्थः—जिस ईश्वर के उपासक कभी दुःख में निमग्न नहीं होते उसकी ही स्तुति मेरी जिह्वा करे; उसी की ओर मेरा ध्यान-वचन पहुँचे ॥१॥

अस्मैं ते प्रतिहर्यंते जातवेदो विचर्षणे ।

अग्ने जनांमि सुष्टुतिम् ॥२॥

पदार्थः—(जातवेदः) हे सर्वज्ञ, हे सर्वधन, हे सर्वज्ञान बीजप्रद, (विचर्षणे) हे सर्वदर्शिन्, (अग्ने) सर्वव्यापिन् भगवन् ! (प्रतिहर्यते) निखिल कामनाओं को देते हुए और उपासकों के कल्याणाभिलाषी (अस्मै ते) इस आपके लिये मैं (सुष्टुतिम्) अच्छी स्तुति (जनामि) जानता हूँ; हे भगवन् आप इसे ग्रहण करें ॥२॥

भावार्थः—भगवान् स्वयं सर्वज्ञ और सर्वज्ञानमय है। उसी की स्तुति हम लोग अपने कल्याण के लिये करें। वह परमदेव इतना अवश्य चाहता है कि समस्त प्राणी मेरी आज्ञा पर चलें ॥२॥

आरोका इव घेदह तिग्मा अग्ने तवत्विषः ।

दद्भिर्वनानि बप्सति ॥३॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वव्यापिन् महान् देव ! (तव) आपके ये (तिग्माः) तीक्ष्ण (त्विषः) दीप्ति प्रकाश अर्थात् सूर्य्यादिरूप प्रकाश (आरोकाः इव) मानो सबके रुचिकर होते हुए (दद्भिः) विविध दानों के साथ (वनानि) कमनीय सुन्दर इन जगतों को (बप्सति) सदा उपकार कर रहे हैं। (घ इत् अह) इसमें सन्देह नहीं ॥३॥

भावार्थः—ईश्वर की तीक्ष्ण दीप्ति ये ही सूर्य्यादिक हैं जिनसे जगत् को कितने ही लाभ हो रहे हैं; उनका कौन वर्णन कर सकता है !

विशेष—ये ऋचाएं भौतिक अग्नि के विषय में भी लगाई जा सकती हैं ॥३॥

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि ।

यतन्ते वृथगग्नयः ॥४॥

पदार्थः—हे भगवन् ! आपके उत्पादित ये (अग्नयः) सूर्य्य, विद्युत्, अग्नि और चन्द्र आदि सर्वजगत् (पृथक्) पृथक्-पृथक् (यतन्ते) स्व स्व कार्य्य में यत्न कर रहे हैं। ये सब (हरयः) परस्पर हरणशील हैं; परस्परोपकारक हैं। पुनः (धूमकेतवः) इनके चिह्न धूम हैं; पुनः (वातजूताः) ये स्थूल और सूक्ष्म वायुओं से प्रेरित होते हैं। पुनः (उप द्यवि) कोई पदार्थ द्युलोक में, कोई पृथिवी पर और कोई मध्यलोक में स्व स्व कार्य में लगे हुए हैं ॥४॥

भावार्थः—उसकी महती शक्ति है जिससे सूर्य्यादि लोकों में भी कार्य्य हो रहे हैं। हे मनुष्यो ! आप उसकी पूजा कीजिये ॥४॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

एते त्ये वृथगग्नय इद्धासः समदृक्षत ।

उषसामिव केतवः ॥५॥

पदार्थः—हे भगवन् ! आप से उत्पादित (एते त्ये) ये वे (अग्नयः) सूर्य्य, विद्युत् और अग्नि आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के आग्नेय पदार्थ (इद्धासः) दीप्त होने से (पृथक्) पृथक्-पृथक् (समदृक्षत) देख पड़ते हैं यद्यपि सब समान ही हैं। पुनः (उषसाम् केतवः इव) प्रातःकाल के ये सब ज्ञापक हैं अथवा [उष—दाहे] दाह के सूचक हैं ।।५।।

भावार्थः—जिस ईश्वर के उत्पादित ये सूर्य्यादि अग्नि, जगत् में उपकार कर रहे हैं उसकी उपासना करो। उसकी परम विभूतियां देखो ! तब ही उस प्रभु को पहिचान सकते हो ।।५।।

अब अग्नि के गुण दिखलाए जाते हैं ।।

कृष्णा रजांसि पत्सुतः प्रयाणे जातवेदसः ।
अग्निर्यद्रोधति क्षमि ।।६।।

पदार्थः—(यद्) जब (अग्निः) भौतिक अग्नि (क्षमि) पृथिवी पर (रोधति) फैलता है तब (जातवेदसः) उस जातवेदा अग्नि के (प्रयाणे) प्रसरण से (पत्सुतः) नीचे की (रजांसि) धूलियां (कृष्णा) काली हो जाती हैं ।।६।।

भावार्थः—कहीं-कहीं पर वेद स्वाभाविक वर्णन दिखलाते हैं जिससे मनुष्य यह शिक्षा ग्रहण करे कि प्रथम प्रत्येक वस्तु का मोटा-मोटा गुण जाने। तत्पश्चात् विशेष गुण का अध्ययन करे। हे मनुष्यो ! इन बातों की सूक्ष्मता की ओर ध्यान दो ।।६।।

पुनः अग्नि के गुण दिखलाते हैं ।।

धासिं कृण्वान ओषधीर्बप्सदग्निर्न वायति ।
पुनर्यन्तरुणीरपि ।।७।।

पदार्थः—(अग्निः) अग्निदेव (ओषधीः) गोधूम आदि समस्त वनस्पतियों को (धासिम्) निज भक्त बनाकर (बप्सत्) उनको खाते हुए भी (न वायति) तृप्त नहीं होते। यही नहीं, वे अग्निदेव (तरुणीः) नवीन तरुण ओषधियों को (अपि) भी (यन्) प्राप्त कर उनमें फैलते हुए खाना चाहते हैं ।।७।।

भावार्थः—यह भी स्वाभाविक वर्णन है। आग्नेय शक्तियां ही पदार्थमात्र को बढ़ाती और घटाती हैं। इस कारण सदा पदार्थों में उपचय और अपचय होता ही रहता है। हे मनुष्यो ! यह पदार्थगति देख ईश्वर के चिन्तन में लगो। एक दिन तुम्हारा भी अपचय आरम्भ होगा ।।७।।

फिर उसी विषय को कहते हैं ॥

जि॒ह्वाभि॒रह॒ नन्न॑मद॒र्चिषा॑ जञ्जणा॒भव॑न् ।

अ॒ग्निर्वने॑षु रोचते ॥८॥

पदार्थः—(अग्निः) यह भौतिक अग्नि (जिह्वाभिः अह) अपनी ज्वालाओं से ही (नंनमद्) समस्त वनस्पतियों को नम्र करता हुआ और (अर्चिषा) तेज से (जंजणाभवन्) जलता हुआ (वनेषु) वनों में (रोचते) प्रकाशित हो रहा है ॥८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! प्रथम भौतिक अग्नि के गुणों का पठन पाठन करो। देखो, कैसी तीक्ष्ण इसकी गति है और इससे कौन-कौन कार्य्य हो रहे हैं ॥८॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

अ॒प्स्व॑ग्ने॒ सधि॒ष्टव॒ सौष॑धी॒रनु॑ रुध्यसे ।

गर्भे॒ सञ्जा॑यसे॒ पुनः॑ ॥९॥

पदार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (तव) तेरा (सधिः) स्थान—गृह (अप्सु) जलों में है। (सः) वह तू (ओषधीः अनु) समस्त वनस्पतियों के मध्य (रुध्यसे) प्रविष्ट है। (पुनः) पुनः (गर्भे) उन ओषधियों और जलों के गर्भ में (सन्) रहता हुआ (जायसे) नूतन होकर उत्पन्न होता है ॥९॥

भावार्थः—यह ऋचा भौतिक और ईश्वर दोनों में घट सकती है। ईश्वर भी जलों और ओषधियों में व्यापक है और इनके ही द्वारा प्रकट भी होता है। भौतिक अग्नि के इस गुण के वर्णन से वेद का तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा का बनाया हुआ है यह अग्नि कैसा विलक्षण है जो मेघ और समुद्र में भी रहता है और वहां वह बुझता नहीं है। विद्युत् जल से ही उत्पन्न होती है, परन्तु जल इसको शमित नहीं कर सकता—यह कैसा आश्चर्य्य है !॥९॥

बाह्य जगत् में अग्निक्रिया दिखला कर होमीय अग्निक्रिया कहते हैं ॥

उद॑ग्ने॒ तव॒ तद्घृ॒ताद॒र्ची रो॑चत॒ आहु॑तम् ।

निसा॑नं जु॒ह्वो॒३॒ मुखे॑ ॥१०॥

पदार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (आहुतम्) नाना द्रव्यों से आहुत (तव तद् अर्चिः) तेरी वह ज्वाला (घृतात्) घृत की सहायता से (उद् रोचते) ऊपर जाकर

प्रकाशित होती है। पुनः (जुह्वः) जुहू नाम की स्रुवा के (मुखे मिसानम्) मुख में चाटती हुई वह ज्वाला शोभित होती है ॥१०॥

भावार्थः—इससे वेद यह शिक्षा देते हैं कि अग्नि में प्रतिदिन विविध सामग्रियों से होम किया करो, होम के लिये जुहू, उपभृत, स्रुक् आदि नाना साधन तैयार कर ले और यह ध्यान रक्खे कि धूम न होने पावे किन्तु निरन्तर ज्वाला ही उठती रहे। इस प्रकार हवन से अनेक कल्याण होंगे ॥१०॥

इस समय अग्निवाच्य ईश्वर ही पूज्य है यह दिखलाते हैं ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥११॥

पदार्थः—हम उपासक (अग्नये) उस सर्वव्यापी जगदीश्वर की (स्तोमैः) विविध स्तोत्रों और मन से (विधेम) उपासना करें। जो ईश्वर (उक्षान्नाय) धन-वर्षक सूर्य्यादिकों का भी अन्नवत् पोषक है; (वशान्नाय) स्ववशीभूत समस्त जगतों का भी अन्नवत् धारक पोषक है और (वेधसे) सब के रचयिता भी हैं। ऐसे जगदीश्वर की उपासना करें ॥११॥

भावार्थः—जो सबका धाता, विधाता और ईश है उसकी उपासना सर्वभाव से करो ॥११॥

पुनः परमात्मा ही उपासनीय है यह इस ऋचा से दिखलाते हैं ॥

उत त्वा नमसा वयं होतर्वरेण्यक्रतो ।
अग्ने समिद्भिरीमहे ॥१२॥

पदार्थः—(उत) और (होतः) हे सर्वप्राणप्रद, हे परमदाता, (वरेण्यक्रतो) हे श्रेष्ठकर्मन्, (अग्ने) सर्वव्यापिन् देव ! (वयम्) हम उपासक (त्वा) आपको (नमसा) नमस्कार और (समिद्भिः) सम्यक् दीप्त शुद्ध इन्द्रियों से पूज कर (ईमहे) मांगते हैं ॥१२॥

भावार्थः—कामनाओं की पूर्ति के लिये अन्यान्य देवों से याचना लोग करते हैं। इस ऋचा द्वारा उसका निषेध कर केवल ईश्वर से ही याचना करनी चाहिये यह शिक्षा देते हैं ॥१२॥

उत त्वा भृगुवच्छुचे मनुष्वदग्न आहुत ।
अङ्गिरस्वद्धवामहे ॥१३॥

पदार्थः—(शुचे) हे परमपवित्र (अग्ने) हे सब में गति देने वाले (आहुत) हे पूज्यतम विश्वेश्वर ! (उत) और (त्वा) आपको (भृगुवत्) भृगु के समान (मनुष्वत्) मनु के समान और (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिरा के समान हम उपासकगण (हवामहे) पूजते हैं ॥१३॥

भावार्थः—भृगु=भ्रस्ज पाके, जो जन तपस्या, कठिन व्रत आदि में पारङ्गत हो वह भृगु। [मनु=मन अवबोधने]जो मनन करने में निपुण हो, जो सब विषयों को अच्छी तरह समझता हो। अङ्गिरा=परमात्मा का यह सम्पूर्ण जगत् अङ्गवत् है अतः उसको अङ्गी कहते हैं, उस अङ्गि में जो सदा रत हो वह अङ्गिराः। अथवा जो अङ्गों का रस हो, जो अग्नेय विद्या में निपुण हो जो अग्नित्व को समझने समझाने वाला हो, इत्यादि अनेक अर्थ इस शब्द के प्राचीन करते आए हैं ॥१३॥

इस ऋचा से ईश्वर का महत्त्व दिखलाते हैं ॥

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन्त्सता ।
सखा सख्या समिध्यसे ॥१४॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगतिप्रद परमात्मन् ! (हि) जिस हेतु (त्वम्) तू (अग्निना) अग्नि के साथ अग्नि होकर (समिध्यसे) भासित होता है (विप्रेण) मेधावी विद्वान् के साथ (विप्रः) विद्वान् होकर (सता) साधु के साथ (सत्) साधु होकर, (सख्या सखा) मित्र के साथ मित्र होकर प्रकाशित हो रहा है; अतः तू अगम्य और अबोध्य हो रहा है ॥१४॥

भावार्थः—जैसे सूर्य्य और वायु आदि दृश्य होते हैं तद्वत् परमात्मा स्वरूप से कहीं पर भी दृश्य नहीं होता। उसकी कोई आकृति रूप नहीं। अतः वेद कहते हैं तत् तत् रूप के साथ तत् तत् स्वरूप ही वह है। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि भी इसी अभिप्राय से कहा गया है। अतः वह अगम्य हो रहा है ॥१४॥

स त्वं विप्राय दाशुषे रयिं देहि सहस्रिणम् ।
अग्ने वीरवतीमिषम् ॥१५॥

पदार्थः—(अग्ने)हे सर्वगतिप्रद ईश ! (सः त्वम्) वह तू (विप्राय) मेधावी जनों को तथा (दाशुषे) ज्ञान विज्ञानदाता जनों को (सहस्रिणम्) अनन्त (रयिम्) धन को (देहि) दे। पुनः (वीरवतीम्) वीर पुत्र पौत्र आदि सहित (इषम्) अन्न को दे ॥१५॥

भावार्थः—भगवान् उसी के ऊपर अपने आशीर्वाद की वर्षा करता है जो स्वयं परिश्रमी हो और धन या ज्ञान प्राप्त कर दूसरों का उपकार करता हो। अतः 'विप्र' और 'दाश्वान्' पद आये हैं। जो परिश्रम करके प्राकृत जगत् से अथवा विद्वानों से शिक्षा लाभ करता है वही विप्र मेधावी होता है। जिसने कुछ दिया है या देता है उसी को दाश्वान् कहते हैं। वीरवती= जिस मनुष्य में वीरता नहीं है जगत् में उसका आना और न आना बराबर है। अवीर पुरुष अपनी जीविका भी उचित रूप से नहीं कर सकता ॥१५॥

परमात्मा सखा है यह वारम्वार कहा जाता है। यहां उसमें भ्रातृत्व का भी आरोप करते हैं॥

अग्ने भ्रातः सहस्कृत रोहिदश्व शुचिव्रत।
इमं स्तोमं जुषस्व मे ॥१६॥

पदार्थः—(भ्रातः) हे जीवों के भरणपोषणकर्ता (सहस्कृत) हे जगत्कर्ता (रोहिदश्व) हे संसाराश्वारूढ़ (शुचिव्रत) हे शुद्ध नियमविधायक (अग्ने) परमात्मन्! (मे) मेरे (इमम् स्तोमम्) इस स्तोत्र को (जुषस्व) कृपया ग्रहण कीजिये ॥१६॥

भावार्थः—'सहस्कृत' 'रोहिदश्व' आदि पद आग्नेय सूक्तों में अधिक आते हैं। ईश्वर और भौतिक अग्नि इन दोनों पक्षों में दो अर्थ होंगे। लोक में भी ऐसे बहुत उदाहरण आते हैं। ईश्वर पक्ष में सहस=संसार अथवा बल, बलदाता भी वही है; अग्नि पक्ष में केवल बल। इसी प्रकार रोहित आदि पदों का भी भिन्न-भिन्न अर्थ करना चाहिये ॥१६॥

उत त्वाग्ने मम स्तुतो वाश्राय प्रतिहर्यते।
गोष्ठं गाव इवाशत ॥१७॥

पदार्थः—(उत) और (अग्ने) हे सर्वगतिप्रद परमात्मन्! (मम स्तुतः) मेरी स्तुतियां (त्वा) तुझको (आशत) प्राप्त हों। ऐसे ही (गावः इव) जैसे गायें (वाश्राय) नाद करते हुए और (प्रतिहर्यते) दुग्धाभिलाषी वत्स के लिये (गोष्ठम् आशत) गोष्ठ में प्रवेश करती हैं ॥१७॥

भावार्थः—जैसे वत्स के लिये गौ दौड़कर गोष्ठ में जाती है तद्वत् मेरे स्तोत्र भी शीघ्रता से आपके निकट प्राप्त हों यह इसका आशय है ॥१७॥

तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक्।
अग्ने कामाय येमिरे ॥१८॥

पदार्थः—(अङ्गिरस्तम) हे देवों में अतिशय श्रेष्ठ (अग्ने) परमात्मन् ! (कामाय) निज-निज मनोरथ की सिद्धि के लिए (विश्वाः) समस्त (ताः) वे (सुक्षितयः) प्रजाएं (तुभ्यम्) तेरी ही (पृथक्) पृथक्-पृथक् (येमिरे) स्तुति करती हैं ॥१८॥

भावार्थः—परमात्मा ही एक पूज्य, स्तुत्य, ध्येय और गेय है—यह शिक्षा इससे देते हैं ॥१८॥

सर्वपूज्य ईश्वर ही है यह इससे दिखलाते हैं ॥

अग्निं धीभिर्मनीषिणो मेधिरासो विपश्चितः ।

अद्मसद्याय हिन्विरे ॥१९॥

पदार्थः—(मनीषिणः) मनस्वी और मन के ऊपर अधिकार रखने वाले (मेधिरासः) विद्वान् और (विपश्चितः) तत्त्ववित् और आत्मद्रष्टा जन (अद्मसद्याय) ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि के लिये अथवा विविध भोग के लिए (धीभिः) सर्व प्रकार की सुमतियों तथा कर्मों से (अग्निम्) अग्नि-वाच्य परमात्मा को ही प्रसन्न करते हैं ॥१९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जब श्रेष्ठ पुरुष निखिल मनोरथ की सिद्धि के लिये उसी को प्रसन्न करते हैं तब आप भी अन्यान्य भौतिक अग्नि सूर्य्यादिकों की उपासना व पूजा आदि छोड़कर केवल उसी को पूजो ॥१९॥

पुनः उसी विषय को कहते हैं ॥

तं त्वामज्मेषु वाजिनं तन्वाना अग्ने अध्वरम् ।

वह्निं होतारमीळते ॥२०॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वव्यापिन् सर्वशक्तिप्रद देव ! (अज्मेषु) स्वस्वगृहों में (अध्वरम्) याग पूजा पाठ उपासना आदि शुभकर्मों को (तन्वानाः) विस्तारपूर्वक करते हुए मेधावी जन (वाजिनम्) ज्ञानस्वरूप और बलप्रद (वह्निम्) इस सम्पूर्ण जगत् को ढोने वाले (होतारम्) सर्वधनप्रदाता (तम् त्वाम्) उस तेरी ही (ईळते) स्तुति करते हैं ॥२०॥

भावार्थः—प्रत्येक शुभकर्म में वही ईश्वर पूज्य है, अन्य नहीं ॥२०॥

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः ।

समत्सु त्वा हवामहे ॥२१॥

पदार्थः—हे महेश ! (हि) जिस कारण तू (पुरुत्रा) सर्व प्रदेश में (सदृङ्

असि) समानरूप से विद्यमान है और (विश्वा:) समस्त (विश: अनु) प्रजाओं का (प्रभु:) स्वामी है अत:(त्वा) तुझको ही (सनत्सु) संग्रामों और शुभकर्मों में (हवामहे) पूजते, ध्याते और नाना स्तोत्रों से तेरी ही स्तुति करते हैं ॥२१॥

भावार्थ:—जिस कारण परमात्मा में किञ्चिन्मात्र भी पक्षपात का लेश नहीं है और सब का स्वामी भी वही है अत: उसी को सब पूजते चले आते हैं। इस समय भी तुम उसी की कीर्ति गाओ ॥ १॥

तमी॑ळिष्व॒ य आहु॑तो॒ऽग्निर्वि॒भ्राज॑ते घृ॒तैः ।
इ॒मं नः॑ शृणव॒द्धव॑म् ॥२२॥

पदार्थ:—हे विद्वन् ! (तम् ईळिष्व) उस परमात्मा की स्तुति करो (यः अग्निः) जो अग्निवाच्य ईश्वर (घृतैः) घृत के समान विविध स्तोत्रों से (आहुतः) पूजित होकर उपासकों के हृदय में (विभ्राजते) प्रकाशित होता है और जो (नः) हम मनुष्यों के (इमम् हवम्) इस आह्वान, स्तुति और निवेदन को (शृणवत्) सुनता है ॥२२॥

भावार्थ:—जिस कारण परमात्मा चेतन देव है अत: वह हमारी प्रार्थना स्तुति को सुनता है। अन्य सूर्य्यादि देव जड़ हैं अत: व हमारी प्रार्थना को नहीं सुन सकते। इस कारण केवल ईश्वर की ही स्तुति कर्त्तव्य है ॥२२॥

तं त्वा॑ व॒यं ह॑वामहे शृ॒ण्वन्तं॑ जा॒तवे॑दसम् ।
अग्ने॒ घ्नन्त॒मप॒ द्विषः॑ ॥२३॥

पदार्थ:—(अग्ने) हे सर्वगतिप्रददेव ! (शृण्वन्तम्) हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हुए (जातवेदसम्) निखिल ज्ञानोत्पादक और (द्विषः) जगत् के द्वेष विघ्नों को (अप घ्नन्तम्) विनष्ट करते हुए (तम् त्वा) उस तुझको (वयम्) हम उपासक (हवामहे) पूजें, गावें, और तेरा आवाहन करें ॥२३॥

भावार्थ:—जिस कारण वही देव हमारी प्रार्थनाएं सुनता और निखिल विघ्नों को दूर करता है अत: वही एक मनुष्यों का परम पूज्य, ध्येय और स्तुत्य है ॥२३॥

वि॒शां राजा॑न॒मद्भु॑तम॒ध्य॑क्षं॒ धर्म॑णामि॒मम् ।
अ॒ग्निमी॑ळे॒ स उ॑ श्रवत् ॥२४॥

पदार्थ:—मैं उपासक (विशाम् राजानम्) प्रजाओं के स्वामी, (अद्भुतम्)

महाश्चर्य्य और (धर्मणाम्) निखिल कर्मों के (अध्यक्षम्) अध्यक्ष (इमम् अग्निम्) इस अग्निवाच्य परमात्मा की (ईळे) स्तुति करता हूँ; (सः उ) वही (श्रवत्) हमारी प्रार्थना और स्तुति को सुनता है ।।२४।।

भावार्थः—सब का अधिपति और अध्यक्ष वही परमात्मा है; अतः क्या विद्वान् क्या मूर्ख क्या राजा और प्रजा सब का वही पूज्य देव है ।।२४।।

अ॒ग्निं वि॒श्वायु॑वेपसं॒ मर्यं॒ न वा॒जिनं॑ हि॒तम् ।
सप्तिं॒ न वाजयामसि ।।२५।।

पदार्थः—(अग्निम्) उस परमात्मदेव को हम उपासक (वाजयामसि) पूजें, उसकी स्तुति करें जो (विश्वायुवेपसम्) सब को बल देने वाला है (मर्य्यम् न) मित्र मनुष्य के समान (हितम्) हितकारी है। पुनः (वाजिनम्) स्वयं महाबलिष्ठ और सर्वज्ञानमय है; पुनः (सप्तिम् न) मानो एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करने वाला है। उस देव की उपासना करो ।।सू५।।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उसकी विभूति देखो सूर्य्यादिकों को भी वह बलप्रद है। वही सबका हितकारी है उसी की उपासना करो ।।२५।।

घ्नन्मृ॒ध्राण्यप॒ द्विषो॒ दह॒न्रक्षां॑सि वि॒श्वहा॑ ।
अग्ने॑ ति॒ग्मेन॑ दीदिहि ।।२६।।

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्ते सर्वाधार देव ! तू (मृध्राणि) हिंसक (द्विषः) द्वेषी पुरुषों को (अप घ्नन्) विनष्ट करता हुआ और (विश्वाहा) सब दिन (रक्षांसि) महामहा दुष्ट अत्याचारी अन्यायी घोर पापी जनों को (तिग्मेन) तीक्ष्ण तेज से (दहन्) जलाता हुआ (दीदिहि) इस भूमि को उज्ज्वल बना ।।२६।।

भावार्थः—उसकी कृपा से मनुष्यों के निखिल विघ्न शान्त होते हैं अतः हे मनुष्यो ! उसी की उपासना करो ।।२६।।

यं त्वा॒ जना॑स इन्ध॒ते म॑नु॒ष्वद॑ङ्गिरस्तम ।
अग्ने॒ स बो॑धि॒ मे॒ वचः॑ ।।२७।।

पदार्थः—(अङ्गिरस्तम) हे सबको अतिशय रसप्रद ! (अग्ने) हे सर्वाधार सर्वशक्ते ! (मनुष्वत्) बोद्धा विज्ञाता मनुष्यों के समान (यम् त्वाम्) जिस तुझको (जनासः) मनुष्य (इन्धते) समाधि में देखते हैं (सः) वह तू (मे वचः) मेरी स्तुतिरूप वचन को (बोधि) जान अर्थात् कृपापूर्वक सुन ।।२७।।

भावार्थः—हे भगवन् ! मैं आपकी केवल स्तुति ही करता हूँ; इसी के ऊपर कृपा कर। यद्यपि तुझको ध्यान में योगिगण देखते हैं तथा मैं उसमें असमर्थ होकर केवल तेरी कीर्ति गाता हूं ।।२७।।

यदग्ने दिविजा अस्यप्सुजा वा सहस्कृत ।

तं त्वा गीर्भिर्हवामहे ।।२८।।

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्ते सर्वगतिप्रद (सहस्कृत) हे समस्त जगत्कर्ता परमात्मन् ! (यत्) जो तू (दिविजाः) सर्वोपरि द्युलोक में भी (असि) विद्यमान है (वा) अथवा (अप्सुजाः) सर्वत्र आकाश में तू व्यापक है (तम् त्वाम्) उस तुझको (गीर्भिः) वचनों द्वारा (हवामहे) स्तुति करते हैं; तेरी महती कीर्ति को गाते हैं ।।२८।।

भावार्थः—लोग समझते हैं कि भगवान् सूर्य्य अग्नि आदि तैजस पदार्थों में ही व्यापक है। इस ऋचा द्वारा दिखलाते हैं कि भगवान् सर्वत्र व्यापक है। जो सब में व्याप्त है उसी की कीर्ति हम गाते हैं; आप भी गावें ।।२८।।

तुभ्यं घेत्ते जना इमे विश्वाः सुक्षितयः पृथक् ।

धासिं हिन्वन्त्यत्तवे ।।२९।।

पदार्थः—हे परमदेव ! (ते इमे) वे ये दृश्यमान (जनाः) स्त्री पुरुषमय जगत् तथा (विश्वाः) ये समस्त (सुक्षितयः) चराचर प्रजाएं (धासिम् अत्तवे) निज-निज आहार की प्राप्ति के लिये (तुभ्यम् घ) तुझ को ही (पृथक्) पृथक्-पृथक् (हिन्वन्ति) प्रसन्न करती हैं ।।२९।।

भावार्थः—उसी की कृपा से अन्न की भी प्राप्ति होती है, वायु, जल और सूर्य्य का प्रकाश ये तीनों प्राणियों के अस्तित्व के परम साधन हैं जिनके विना क्षणमात्र भी प्राणी नहीं रह सकता; इनको उसने बहुतसी राशि में बना रखा है। तथापि इनको छोड़ विविध गेहूं जौ आदि अन्नों की आवश्यकता है इन अन्नों को परमात्मा दान दे रहा है। अतः वही देव उपास्य पूज्य है ।।२९।।

ते घेदग्ने स्वाध्योऽहा विश्वा नृचक्षसः ।

तरन्तः स्याम दुर्गहा ।।३०।।

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार परमात्मन् ! (ते घ इत्) तेरी ही महती कृपा

से (नृचक्षसः) मनुष्यों की ऊंच नीच विविध दशाओं को देख उनसे घृणायुक्त अतएव (विश्वा अहा) सब दिन (स्वाध्यः) शुभ कर्मों को करते हुए आप से प्रार्थना करते हैं कि (दुर्गहा) दुर्गम क्लेशों को (तरन्तः स्याम) पार करने में हम समर्थ होवें ॥३०॥

भावार्थः—जब ज्ञानी जन अपनी तथा अन्यान्य जीवों की विचित्र दशाओं पर ध्यान देते हैं तब उनसे घृणा और वैराग्य उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उनकी निवृत्ति के लिए वह ईश्वर के निकट पहुंचता है। सदा ईश्वर की ओर आओ--यह शिक्षा इससे देते हैं ॥३०॥

अ॒ग्निं म॒न्द्रं पु॑रुप्रि॒यं शी॒रं पा॑व॒कशो॑चिषम् ।
हृ॒द्भिर्म॒न्द्रेभि॑रीमहे ॥३१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! हम उपासकगण (मन्द्रम्) आनन्दविधायक (पुरुप्रियम्) बहुप्रिय (शीरम्) सब पदार्थों में शयनशील अर्थात् व्यापक और (पावकशोचिषम्) पवित्र तेजोयुक्त (अग्निम्) उस परमदेव से (हृद्भिः) मनोहर और (मन्द्रैः) आनन्दप्रद स्तोत्रों द्वारा (ईमहे) प्रार्थना करते हैं आप भी उसी की प्रार्थना कीजिये ॥३१॥

भावार्थः— सब कोई उसी देव की पूजा--उपासना करें; अन्य की नहीं ॥३१॥

स त्वम॑ग्ने वि॒भाव॑सुः सृ॒जन्त्सूर्यो॒ न र॒श्मिभिः॑ ।
शर्ध॒न्तमां॑सि जिघ्नसे ॥३२॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार ईश ! (विभावसुः) जिस कारण आप सबको अपने तेज से प्रकाशित करने वाले हैं और (शर्धन्) समर्थ हैं; अतः (सः त्वम्) वह आप (न) जैसे (रश्मिभिः) किरणों से (सृजन्) उदित होता हुआ सूर्य्य अन्धकारों को दूर करता है तद्वत् (तमांसि) हमारे निखिल अज्ञानों को (जिघ्नसे) दूर कीजिये ॥३२॥

भावार्थः—परमात्मा के ध्यान और पूजन से अन्तःकरण उज्ज्वल होता जाता है और वह उपासक दिन-दिन पाप से छूटता जाता है ॥३२॥

तत्ते॑ सहस्व ईमहे दा॒त्रं यन्नोप॒दस्य॑ति ।
त्वद॑ग्ने॒ वार्यं॒ वसु॑ ॥३३॥

पदार्थः—(सहस्वः) हे महाबलिष्ठ यद्वा हे जगत्कर्त्ता, (अग्ने) हे सर्वाधार ईश ! (यत्) जो (ते) आपका धन (न उपदस्यति) कदापि क्षीण नहीं होता अर्थात्

विज्ञानरूप वा मोक्षरूप धन है (तत्) उस (दात्रम्) दानीय (वार्य्यम्) वरणीय=स्वीकरणीय (वसु) धन को (त्वत्) आपसे (ईमहे) माँगते हैं ॥३३॥

भावार्थः—अपने पुरुषार्थ से लौकिक धन उपार्जन करे, परन्तु विज्ञानरूप धन उस जगदीश्वर से माँगे ॥३३॥

अष्टम मण्डल में यह त्रितालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रिंशदृचस्य चतुश्चत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १--३० विरूप आङ्गिरस ऋषिः। अग्निर्देवता ॥ छन्दः--१, ३, ४, ६, १०, २०--२२, २५, २६, गायत्री। २, ५, ७, ८, ११, १४--१७, २४ निचृद्गायत्री। ९, १२, १३, १८, २८, ३० विराड्गायत्री ॥ २७ यवमध्यागायत्री। २९ ककुम्मती गायत्री। १९, २३ पादनिचृद्गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

प्रथम इससे अग्निहोत्र का उपदेश देते हैं ॥

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (समिधा) इन्धन और चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से (अग्निम् दुवस्यत) अग्नि की सेवा करो और (अतिथिम्) अतिथिस्वरूप इस अग्नि को (बोधयत) जगाओ और (अस्मिन्) इस अग्नि में (हव्या) हव्य द्रव्यों को (आ जुहोतन) होमो ॥१।

भावार्थः -- भगवान् उपदेश देते हैं कि अग्निहोत्र प्रतिदिन करो। घृत, चन्दन, गुग्गुल, केशर आदि उपकरणों से शाकल्य तैयार कर, सुशोभन कुण्ड बना, उसमें अग्नि प्रदीप्त कर होमो ॥१॥

अग्निहोत्र के समय अग्निसंज्ञक परमात्मा स्तवनीय है यह उपदेश इससे देते हैं ॥

अग्ने स्तोमं जुषस्व मे वर्धस्वानेन मन्मना ।
प्रति सूक्तानि हर्य नः ॥२॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत सुसूक्ष्म ईश ! (मे) मुझ उपासक का (स्तोमम्) स्तोत्र (जुषस्व) ग्रहण कीजिये। हे भगवन् ! (अनेन) इस (मन्मना) मननीय चिन्तनीय मनोहर स्तोत्र से पूजित और प्रार्थित होकर आप (वर्धस्व) हमको शुभकार्य्य में बढ़ावें। हे ईश (नः) हमारे (सूक्तानि) शोभन वचनों को (प्रति हर्य) सुनने की इच्छा करें ॥२॥

भावार्थः—अग्निहोत्र काल में नाना स्तोत्र बना कर ईश्वर की कीर्ति गाओ और सुन्दर भाषा से उसकी स्तुति और प्रार्थना करो ॥२॥

विशेष—अग्नि यह शब्द जिन धातुओं से बनता है उनसे सर्वाधार सर्वशक्ति सुसूक्ष्म आदि अर्थ निकलते हैं।

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे ।

देवाँ आ सादयादिह ॥३॥

पदार्थः—जैसे ईश्वर हम लोगों का सखा, बन्धु, भ्राता, पिता, माता और जनयिता कहलाता है वैसे ही वह दूत भी है; वह आत्मा को सन्देश देता है। अथवा दूत के समान हितकारी है अथवा दूत शब्द का अर्थ निखिल दुःखहारी भी होता है। मैं उपासक (दूतम्) दूत (अग्निम्) और सर्वाधार ईश को (पुरोदधे) आगे रखता हूँ अर्थात् मन में स्थापित करता हूँ। और स्थापित करके (हव्यवाहम्) उस स्तोत्ररूप हव्यग्राहक परमात्मा की (उपब्रुवे) स्तुति करता हूँ, वह आप (इह) इस ध्यान योग में (देवान्) सर्व इन्द्रियों को (आ) अच्छे प्रकार (सादयात्) प्रसन्न करें अर्थात् स्थिर करें ॥३॥

भावार्थः—ध्यान-योग के समय मन में ईश्वर को स्थापित कर इन्द्रियों को वश में ला स्तुति प्रार्थना करे ॥३॥

वि०—वेद में यह एक विचित्रता है कि जिस शब्द द्वारा ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करते हैं वह शब्द यदि भौतिक में भी घटता है तो उसके पर्य्याय भी ईश्वर के लिये प्रयुक्त होते हैं; परन्तु ऐसे स्थलों में यौगिक अर्थ करके घटाना चाहिये ॥

उच्चे बृहन्तो अर्चयः समिधानस्य दीदिवः ।

अग्ने शुक्रास ईरते ॥४॥

पदार्थः—(दीदिवः) हे समस्त जगत् को स्वतेज से प्रदीप्त करने हारे (अग्ने) हे सर्वाधार महेश ! (समिधानस्य) सम्यक् सर्वत्र देदीप्यमान (ते) तेरी (बृहन्तः) महान् और (शुक्रासः) शुचि (अर्चयः) सूर्य्यादिरूप दीप्तियां (उदीरते) ऊपर-ऊपर फैल रही हैं ॥४॥

भावार्थः—ईश्वर सब में व्यापक होकर स्वतेज से सबको प्रदीप्त कर रहा है। अग्नि और सूर्य्यादिक में उसी की दीप्ति है; पृथिवी में उसकी शक्ति से सर्व वस्तु उत्पन्न हो रही हैं। वायु में उसकी गति है; इस अनन्त ईश्वर की उपासना करो जिससे हे मनुष्यो ! तुम्हारा कल्याण हो ॥४॥

मनुष्य के सर्व कर्म उसकी प्रीति के लिये हों, यह इससे सिखलाते हैं ॥

उपं त्वा जुह्वो३ मम घृताचीर्यन्तु हर्यत ।

अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥५॥

पदार्थः—(हर्यत) हे भक्तजनों के मंगलाभिलाषिन् ! (अग्ने) परमदेव ! (घृताचीः) घृत संयुक्त (मम) मेरे (जुह्वः) जुहू स्रुवा उपभृति आदि हवनोपकरण भी (त्वा) आपकी प्रीति के लिए (उप यन्तु) होवें । हे ईश ! (नः) हमारे (हव्या) स्तोत्रों को तू (जुषस्व) ग्रहण कर ॥५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम वैसे शुद्ध कर्म करो जिससे परमात्मा प्रसन्न हो ॥५॥

मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम् ।

अग्निमीळे स उ श्रवत् ॥६॥

पदार्थः—मैं (अग्निं) उपासक (अग्निम् ईळे) अग्निवाच्य परमात्मा की स्तुति करता हूँ, क्योंकि (सः उ) वही (श्रवत्) मेरे स्तोत्र और अभीष्टों को सुनता है । जो (मन्द्रम्) आनन्दप्रद, (होतारम्) दाता (ऋत्विजम्) ऋतु-ऋतु में सर्व पदार्थों को इकट्ठा करने वाला, (चित्रभानुम्) आश्चर्य्य तेजोयुक्त और (विभावसुम्) सब को प्रकाशित करने वाला और आदर देने वाला है । वही एक देव उपास्य है ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उसी की उपासना करो जो तुम्हारी बातों को सुनता और पूर्ण करता है ॥६॥

प्रत्नं होतारमीड्यं जुष्टमग्निं कविक्रतुम् ।

अध्वराणामभिश्रियम् ॥७॥

पदार्थः—मैं(अग्निं) उस अग्निवाच्य ईश्वर की स्तुति करता हूँ जो(प्रत्नम्)पुराण और शाश्वत है; (होतारम्) दाता, (ईड्यम्) स्तुत्य, (जुष्टम्) सेवित, (कविक्रतुम्) महाकवीश्वर और (अध्वराणाम्) सकल शुभकर्मों का (अभिश्रियम्) सब तरह से शोभाप्रद है ॥७॥

भावार्थः—वही ईश पूज्य है ॥७॥

जुषाणो अङ्गिरस्तमेमा हव्यान्यानुषक् ।

अग्ने यज्ञं नय ऋतुथा ॥८॥

पदार्थः—(अङ्गिरस्तम) हे सर्व देवों में पूज्यतम यद्वा सर्व अंगों के अतिशय आनन्दप्रद रसदाता (अग्ने) सर्वाधार महेश ! तू (इमा) मेरे इन (हव्यानि) हव्य समान स्तोत्रों के प्रति (आनुषक्) अनुरक्त हो (जुषाणः) ग्रहण कर। तथा (ऋतुथा) ऋतु-ऋतु में (यज्ञम् नय) यज्ञ करवा ॥८॥

भावार्थः—हे ईश्वर मुझ में तथा सर्व मनुष्यों में ऐसी शक्ति, श्रद्धा और भक्ति दे जिससे सर्वदा सर्व ऋतु में तेरी उपासना—पूजा कर सकें ॥८॥

समिधान उं सन्त्य शुक्रंशोच इहा वंह ।
चिकित्वान्दैव्यं जनंम् ॥९॥

पदार्थः— (सन्त्य) हे संभजनीय, हे सेवनीय, (शुक्रशोचे) हे पवित्र दीप्ति परमात्मन् ! तू (समिधानः उ) सम्यक् दीप्यमान होता हुआ मेरे योग्य अभीष्ट (इह) मेरे निकट लावे क्योंकि तू (दैव्यम् जनम्) इस अपने सम्बन्धी जन को (चिकित्वान्) जानता हुआ है। अर्थात् तू मुझको जानता है अतः मेरे कल्याण का वाहन बन ॥९॥

भावार्थः—मनुष्य प्रथम अपने को शुद्ध सत्य और उदार बनावे तब ईश्वर के निकट याचना करे ॥९॥

विप्रं होतारमद्रुहं धूमकेतुं विभावसुम् ।
यज्ञानां केतुमीमहे ॥१०॥

पदार्थः—हम उपासकगण परमात्मा से अभीष्ट की (ईमहे) याचना करते हैं जो ईश (विप्रम्) सर्वज्ञानमय और अभीष्ट पूरक है; (होतारम्) दाता, (अद्रुहम्) शत्रु न होने के कारण द्रोहरहित, (धूमकेतुम्) अज्ञानावृत जनों को ज्ञानदाता, (विभावसुम्) सब में प्रदीपक और (यज्ञानाम् केतुम्) यज्ञों का ज्ञापक है। उससे हम प्रार्थना करें ॥१०॥

भावार्थः—अनेक विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि उपासक के मन में ईश्वर के गुण बैठ जायं और वह उपासक भी सम्पूर्ण माननीय सद्गुणों से संयुक्त होवे ॥१०॥

अग्ने नि पाहि नस्त्वं प्रति ष्म देव रीषतः ।
भिन्धि द्वेषः सहस्कृत ॥११॥

पदार्थः—(देव) हे देवाधिदेव ! (सहस्कृत) संसारकर्त्ता (अग्ने) सर्वशक्ते,

सर्वाधार, परमात्मन् ! (नः प्रति) हम उपासकों को (रिषतः) हिंसक पुरुष से (नि पाहि) अच्छे प्रकार बचाओ । तथा (द्वेषः) जगत् के द्वेषियों को (भिन्धि) विदीर्ण कर यहां से उठालो ॥११॥

भावार्थः—प्रत्येक आदमी यदि द्वेष छोड़ता जाय तो द्वेषी कहां रहेगा! जब अपने पर आपत्ति आती है तब आदमी ईश्वर और सत्यता की पुकार मचाता है। इस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य को विचार कर देखना चाहिये कि द्वेष कहां से आता है। अपनी-अपनी भावी आपत्ति देख यदि आदमी अन्याय और असत्यता से निवृत्त हो जाय तो कितना सुख पहुँचे! यही शिक्षा इस मन्त्र द्वारा दी जाती है ॥११॥

परमात्मा कैसे प्रसन्न होता है इस ऋचा से दिखलाते हैं ॥

अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस्तन्वं स्वाम् ।
कविर्विप्रेण वावृधे ॥१२॥

पदार्थः—(प्रत्नेन) पुरातन नित्य (मन्मना) मननीय स्तोत्र से अथवा मन से ध्यात वह (कविः अग्निः) महाज्ञानी कवीश्वर सर्वाधार ईश्वर (स्वाम् तन्वम्) स्वकीय उपासक की तनु को (शुंभानः) प्रकाशित करता हुआ (विप्रेण) उस उपासक के साथ (वावृधे) रहता है ॥१२॥

भावार्थः—इस का तात्पर्य्य यह है कि मन से और प्रेम से ध्यात, गीत, स्तुत होने पर वह प्रसन्न होता है और उस उपासक के साथ सदा निवास करता है ॥१२॥

ऊर्जो नपातमा हुवेऽग्निं पावकशोचिषम् ।
अस्मिन्यज्ञे स्वध्वरे ॥१३॥

पदार्थः—(अस्मिन्) इस (स्वध्वरे) हिंसारहित अथवा अहिंस्य (यज्ञे) ध्यान यज्ञ में (अग्निम्) सर्वाधार महेश की (आहुवे) स्तुति करता हूँ जो देव (ऊर्जः नपातम्) बल और शक्ति का वर्धक है और (पावकशोचिषम्) पवित्र तेजोयुक्त है ॥१३॥

भावार्थः—अध्वर और यज्ञ दोनों शब्द एकार्थक हैं तथापि यहां विशेषणवत् अध्वर शब्द प्रयुक्त हुआ है। भाव इसका यह है कि ईश्वर बल-दाता है उसकी उपासना से महान् बल प्राप्त होता है ॥१३॥

स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा ।
देवैरा सत्सि बर्हिषि ॥१४॥

पदार्थः—(मित्रमहः) हे मित्रभूत जीवों से सुपूज्य (अग्ने) महेश ! (शुक्रेण) शुद्ध (शोचिषा) तेज से युक्त (सः त्वम्) वह तू (देवैः) हमारी इन्द्रियों के साथ (नः) हमारे (बर्हिषि) हृदयाऽऽसन पर (आसत्सि) बैठ ॥१४॥

भावार्थः—ईश्वर को हृदय में बैठाकर ध्यान करे और इन्द्रियों को प्रथम वश कर उसकी स्तुति मन से करे। [देव शब्द इन्द्रियवाचक है—यह प्रसिद्ध है] ॥१४॥

यो अग्निं तन्वो३ दमे देवं मर्तः सपर्यति ।
तस्मा इदीदयद्वसु ॥१५॥

पदार्थः—(यः मर्तः) जो मरणशील उपासक (तन्वः) शरीर के (दमे) गृह में अर्थात् शरीररूप गृह में (अग्निम् देवम्) सर्वाधार अग्निवाच्य महादेव की (सपर्य्यति) पूजा करता है, परमात्मा प्रसन्न होकर (तस्मै इत्) उसी को (वसु) अभीष्ट धन (दीदयत्) देता है ॥१५॥

भावार्थः—मनुष्य मिथ्या ज्ञान के कारण नाना तीर्थों में जाकर उसकी पूजा करता है और समझता है कि इन स्थानों में वह पूज्य इष्टदेव साक्षात् विराजमान है जिसके दर्शन पूजन आदि से निखिल पाप छूटते हैं। यह मिथ्या भ्रम है। हे मनुष्यो! यह सर्वत्र है।[अपने हृदय को पवित्र कर उसी को शुद्ध मन्दिर मान वहाँ ही उसकी पूजा करो] ॥१५॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥१६॥

पदार्थः—(अयम् अग्निः) यह सर्वत्र विद्यमान ईश (मूर्धा) सब का मूर्धा=शिर है और (दिवः मूर्धा ककुत्) द्युलोक का शिर और उससे भी ऊपर विद्यमान है और यह (पृथिव्याः पतिः) पृथिवी का पति है। यह (अपाम्) जल के (रेतांसि) स्थावर जंगमरूप बीजों को (जिन्वति) पुष्ट करता और जिलाता है ॥१६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो ईश्वर त्रिभुवन का अधिपति और स्थावरों और जंगमों का प्राणस्वरूप है उसकी आज्ञाएं मानो और उसी को जान-पहिचान कर पूजो, उसकी ही स्तुति करो। अन्य की पूजा छोड़ो ॥१६॥

उद॑ग्ने॒ शुच॑य॒स्तव॑ शु॒क्रा भ्राज॑न्त ईरते ।

तव॒ ज्योतीं॑ष्य॒र्चय॑: ॥१७॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्ति सर्वगतिप्रद ईश ! (तव) तेरी (अर्चयः) सूर्य्यादिरूप ज्वालाएं (उद् ईरते) ऊपर फैलती हैं। जो (शुचयः) परम पवित्र हैं, (शुक्राः) शुक्ल हैं, (भ्राजन्तः) सर्वत्र दीप्यमान हो रही हैं। हे भगवन् ! (तव ज्योतींषि) आपके तेज सर्वत्र फैल रहे हैं ॥१७॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ईश्वर का तेज देखो। सूर्य्य उसकी ज्वाला है। तुम स्वयं उसके ज्योति हो। जिसमें सर्वज्ञान भरा हुआ है वह मानव-जाति किस प्रकार भटक रही है ॥१७॥

ईशि॑षे॒ वार्य॑स्य॒ हि दा॒त्रस्या॑ग्ने॒ स्व॑र्पतिः ।

स्तो॒ता स्यां॒ तव॒ शर्म॑णि ॥१८॥

पदार्थः—(अग्ने) हे परमात्मन् ! (हि) जिस कारण तू (स्वर्पतिः) सुख और ज्योति का अधिपति है और (वार्यस्य) वरणीय सुखकारक (दात्रस्य) दातव्य धन का (ईशिषे) ईश्वर है; अतः हे भगवन् ! मैं (तव शर्मणि) तुझ में कल्याणरूप शरण पाकर (स्तोता स्याम्) स्तुति पाठक बनूं ॥१८॥

भावार्थः—जिस कारण वह ईश्वर सुख और प्रकाश का अधिपति है और धनों का भी वही स्वामी है अतः हे मनुष्यो ! उसी की शरण लो। उसी की कीर्ति गाते हुए स्तुति पाठक और विद्वान् बनो ॥१८॥

त्वाम॑ग्ने मनी॒षिण॒स्त्वां हि॑न्वन्ति॒ चित्ति॑भिः ।

त्वां व॑र्धन्तु नो॒ गिर॑: ॥१९॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगतिप्रद ईश ! (त्वाम्) तुझ को ही (मनीषिणः) मनस्वी विद्वान् ध्याते हैं; (त्वाम्) तुझको ही विद्वद्वर्ग (चित्तिभिः) चित्तों और विविध कर्मों के द्वारा (हिन्वन्ति) प्रसन्न करते हैं। अतः हे भगवन् ! (नः) हमारे (गिरः) वचन (त्वाम्) आपकी ही कीर्ति को (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥१९॥

भावार्थः—विद्वानों को उचित है कि वे उसी की पूजा करें, करवावें और उसी की कीर्त्ति गावें। इतर जन भी इनका ही अनुकरण करें ॥१९॥

अद॑ब्धस्य स्व॒धाव॑तो दू॒तस्य॒ रेभ॑त॒: सदा॑ ।

अग्ने॑ स॒ख्यं वृ॑णीमहे ॥२०॥

पदार्थः—हम उपासकगण (अग्नेः) उस परमात्मा की (सख्यम्) मित्रता को (सदा) सर्वदा (वृणीमहे) चाहते हैं। जो ईश्वर (अवध्यस्य) अविनश्वर और शाश्वत है, (स्वधावतः) प्रकृतिधारक है, (दूतस्य) निखिल दुःखनिवारक है और (रेभतः) जो महाकवीश्वर है ॥२०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उस परमात्मा के साथ मित्रता करो जिससे तुम्हारा परम कल्याण होगा। जो सदा रहने वाला है ॥२०॥

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः।
शुची रोचत आहुतः ॥२१॥

पदार्थः—(अग्निः) वह सर्वगति ईश (शुचिव्रततमः) अतिशय पवित्रकर्मा, अतिशय पवित्र नियमों को स्थापित करनेवाला है। वह (शुचिः विप्रः) अतिशय पवित्र विद्वान् है। वह (शुचिः कविः) अतिशय शुद्ध कवि है। (शुचिः) वह महाशुचि है। (आहुतः) पूजित होने पर उपासकों के हृदय को पवित्र करता हुआ (रोचते) प्रकाशित होता है ॥२१॥

भावार्थः—ईश्वर परम पवित्र है अतः उसकी उपासना भी पवित्र बन कर करो ॥२१॥

उत त्वा धीतयो मम गिरो वर्धन्तु विश्वहा।
अग्ने सख्यस्य बोधि नः ॥२२॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगति सर्वशक्ति ईश ! (मम) मेरे (धीतयः) सम्पूर्ण ध्यान, समस्त कर्म और (गिरः) सर्व वचन, विद्याएं और स्तुतियां (त्वा) तेरी ही कीर्ति को (उप वर्धन्तु) बढ़ावें। (अग्ने) हे ईश ! (नः सख्यस्य) हमारी मित्रता को (बोधि) स्मरण रखिये ॥२२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम्हारे ध्यान ईश्वर के गुण बढ़ाने वाले हों, तुम्हारे वचन भी उसी की कीर्ति बढ़ावें और गावें; उसी की शरण में तुम पहुँचो। तब ही तुमको वह मित्र के समान ग्रहण करेगा ॥२२॥

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥२३॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्ते, सर्वाधार, ईश ! (यद्) यदि (अहम्) मैं

(त्वम्) तू (स्याम्) होऊं, यदि वा (त्वम्) तू (अहम् स्याः) मैं हो, तब (ते) तेरे (आशिषः) समस्त आशीर्वचन (सत्याः स्युः) सत्य होवें ॥२३॥

भावार्थः—इसका आशय यह प्रतीत होता है कि मनुष्य अपनी न्यूनता के कारण ईश्वर से विविध कामनाएं चाहता है। किन्तु अपनी सब कामनाओं को पूर्ण होते न देख इष्टदेव में दोष लगाता है। अतः आकुल होकर कभी-कभी उपासक इष्टदेव से प्रार्थना करता है कि हे देव मेरी आवश्यकता आप नहीं समझते, यदि आप मेरी दशा में रहते तब आपको मालूम होता है कि दुःख क्या वस्तु है ! आपको कदाचित् दुःख का अनुभव नहीं है, अतः आप मेरी दुःखमयी प्रार्थना पर ध्यान नहीं देते, इत्यादि ॥२३॥

वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः ।

स्याम ते सुमतावपि ॥२४॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगति ईश ! (हि) जिस कारण तू (वसुः) उपासकों का धनस्वरूप वा वास देने वाला है, (वसुपतिः) धनपति है और (विभावसुः असि) प्रकाशमय धनवाला है; अतः हे भगवन् ! क्या हम उपासक (ते) तेरी (सुमतौ अपि) कल्याणमयी बुद्धि में (स्याम) निवास कर सकते हैं ? अर्थात् क्या हम उपासक तेरी कृपा प्राप्त कर सकते हैं ॥२४॥

भावार्थः—ईश्वर महा धनपति है; वह परमोदार है; उसका धन प्रकाशरूप है। अतः हम मनुष्यों को उचित है कि अपने शुद्धाचरण से और सत्यता से उसकी कृपा और आशीर्वाद के पात्र बनें ॥२४॥

अग्ने धृतव्रताय ते समुद्रायेव सिन्धवः ।

गिरो वाश्रास ईरते ॥२५॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत सर्वव्यापी देव ! मुझ उपासक के (वाश्रासः) इच्छुक या स्थिर (गिरः) वचन (ते) आपकी ओर (ईरते) दौड़ते हैं; जिस आपने (धृतव्रताय) जगत् के कल्याण के लिये सुदृढ़तर नियम स्थापित किये हैं। ऐसे ही (इव) जैसे (सिन्धवः) नदियां (समुद्राय) समुद्र की ओर दौड़ती हैं। तद्वत् मेरी वाणी···॥२५॥

भावार्थः—यह शरीरस्थ जीव ईश्वर का सखा और सेवक है। यह अपने स्वामी का महान् ऐश्वर्य्य चिरकाल से देखता आता है। यद्यपि शरीरबद्ध होने से कुछ काल के लिए यह स्वामी से विमुख हो रहा है तथापि

इसकी स्वाभाविकी गति ईश्वर की ओर ही है जैसे नदियों की गति समुद्र की ओर होती है ॥२५॥

युवानं विश्पतिं कविं विश्वादं पुरुवेपसम् ।
अग्निं शुम्भामि मन्मभिः ॥२६॥

पदार्थः—मैं उपासक (अग्निम्) सर्वगत महेश्वर को (मन्मभिः) मननीय स्तोत्रों से (शुंभामि) सुभूषित करता हूँ जो ईश (युवानम्) प्रकृति और जीवों को एक साथ मिलाने वाला है, (विश्पतिम्) समस्त प्रजाओं का एक अधिपति है, (कविम्) महाकवीश्वर है, (विश्वादम्) सबका भक्षक अर्थात् संहर्ता है। पुनः (पुरुवेपसम्) सर्वविध कर्मकारी है ॥२६॥

भावार्थः—वह परमात्मा महान् देव है सबका अधिपति है। कर्त्ता, धर्ता, संहर्ता वही है। उसको जैसे विद्वान् पूजते, गाते और उसकी आज्ञा पर चलते हैं वैसा ही सब करें ॥२६॥

यज्ञानां रथ्ये वयं तिग्मजम्भाय वीळवे ।
स्तोमैरिषेमाग्नये ॥२७॥

पदार्थः—(वयम्) हम उपासकगण (अग्नये) सर्वाधार सर्वगत ईश्वर को (स्तोमैः) स्तोत्रों से, स्तोत्र रूप उपहारों के द्वारा (इषेम) प्राप्त करने की इच्छा करें, जो ईश (यज्ञानाम् रथ्ये) हमारे सकल शुभ कर्मों के नायक-चालक है; (तिग्मजंभाय) जिसके तेज और प्रताप अत्यन्त तीव्र हैं और जो (वीळवे) सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं ॥२७॥

भावार्थः—जिसकी कृपा से लोगों की शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है और यज्ञादिकों की पूर्ति होती है, जिसके सूर्य्यादिक तेज और प्रताप प्रत्यक्ष हैं उसको हम उपासक शुद्धाचारों और प्रार्थनाओं के द्वारा प्राप्त होवें ॥२७॥

अयमग्ने त्वे अपि जरिता भूतु सन्त्य ।
तस्मै पावक मृळय ॥२८॥

पदार्थः—(सन्त्य) हे सब में विद्यमान साधो (अग्ने) परमात्मन् ! (अयम्) यह मनुष्य समाज जो आप से विमुख हो रहा है (त्वे अपि) आपकी ही ओर (भूतु) होवे और आपका ही (जरिता) स्तुतिकर्ता होवे। (पावक) हे परमपवित्र देव ! (तस्मै) उस जन-समाज को (मृळय) सुखी बनाओ ॥२८॥

भावार्थः—ईश्वर-विमुख मनुष्य-समाज को देख विद्वान् को प्रयत्न करना चाहिये कि लोग उच्छृंखल, नास्तिक और उपद्रवकारी न होने पावें क्योंकि उनसे जगत् की बड़ी हानि होती है। जैसे राजनियमों को कार्य्य में लाने के लिये प्रथम अनेक उद्योग करने पड़ते हैं तद्वत् धार्मिक नियमों को भी ॥२८॥

धीरो ह्यस्य॑द्म॒सद्विप्रो न जागृ॑विः सदा॑ ।

अग्ने॑ दी॒दय॑सि॒ द्यवि॑ ॥२९॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत देव ! (हि) जिस कारण तू (धीरः असि) धीर गंभीर है; (अद्मसद्) सबके हृदय रूप गृह में निवासी है, (न) और (विप्रः) विशेष रूप से मनोरथ पूर्ण करने वाला है तथा (सदा) सर्वदा (जागृविः) भुवन के हित के लिये जागरणशील है। हे देव ! (द्यवि) प्रकाशमय स्थान में तू (दीदयसि) दीप्यमान हो रहा है। अतः तुझको प्रत्यक्षवत् देखकर मैं गाता हूं ॥२९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो तुम्हारे कल्याण के लिये सदा जागृत है उसकी आज्ञा में चलो ॥२९॥

पुराग्ने॑ दुरि॒तेभ्यः॑ पुरा मृ॒ध्रेभ्यः॑ कवे ।

प्र ण॒ आयु॑र्वसो तिर ॥३०॥

पदार्थः—(कवे) हे महाकवीश्वर ! (वसो) हे वासदाता (अग्ने) परमात्मन् ! (दुरितेभ्यः) पापों के आगमन के (पुरा) पूर्व ही और (मृधेभ्यः) हिंसकों के आगमन के (पुरा) पूर्व ही (नः) हमारी (आयुः) आयु को (प्रतिर) बढ़ाओ ॥३०॥

भावार्थः—अन्त में आशीर्वाद मांगते हैं। पापों और शत्रुओं से बचने के लिये केवल ईश्वर की शरण है और उसमें श्रद्धा और विश्वास। और सब से बढ़कर उसी की आज्ञा पर चलना है ॥३०॥

अष्टम मण्डल में यह चवालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वाचत्वारिंशदृचस्य पञ्चचत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—४२ त्रिशोकः काण्व ऋषिः ॥ १ इन्द्राग्नी । २—४२ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३—६, ८, ९, १२, १३, १५—२१, २३—२५, ३१, ३६, ३७, ३९—४२ गायत्री । २, १०, ११, १४, २२, २८—३०, ३३—३५ निचृद्गायत्री । २६, २७, ३२, ३८ विराड्गायत्री । ७ पादनिचृद्गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

सम्प्रति इस सूक्त से जीव-धर्म दिखलाते हैं ॥

आ घा ये अ॒ग्निमि॒न्धते॑ स्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरा॑नु॒षक् ।

येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑ ॥१॥

पदार्थः—(ये) जो मानव (आ) अच्छे प्रकार (घ) सिद्धान्त निश्चित करके अग्निहोत्र कर्म के लिये (अग्निम् इन्धते) अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और जो अतिथियों, दीनों तथा रोगी प्रभृतियों के लिये (आनुषक्) प्रेमपूर्वक (बर्हिः) कुशासन (स्तृणन्ति) बिछाते हैं और (येषाम्) जिनका (इन्द्रः) आत्मा (युवा) युवा अर्थात् कार्य्य करने में समर्थ और (सखा) मित्र है और जिनका आत्मा अपने वश में और ईश्वराभिमुख है, दुष्टाचारी दुर्व्यसनी नहीं हैं, वे ही धन्य हैं ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यमात्र को उचित है कि वह प्रतिदिन अग्निहोत्र करे और अतिथिसेवा के लिये कभी मुख न मोड़े और अपने आत्मा को दृढ़ विश्वासी और मित्र बना रखे। आत्मा को कभी उच्छृंखल न बनावे ॥१॥

विशेष—इन्द्र=यह नाम जीवात्मा का भी है। इन्द्रिय शब्द ही इसका प्रमाण है। इस सूक्त को आद्योपान्त प्रथम पढ़िये तब इसका आशय प्रतीत होगा। इस सूक्त में इन्द्र और उसकी माता का परस्पर सम्वाद भी कहा गया है। एक बात यह भी स्मरणीय है कि ईश्वर, राजा, सूर्य्य आदि जब इन्द्र शब्द के अर्थ होते हैं तब जिस प्रकार के शब्द पर्य्याय और हन्तव्य शत्रु आदि का वर्णन आता है। वैसे ही जीव प्रकरण में भी रहेंगे। हां, किञ्चिन्मात्र का भेद होगा, वह भेद सूक्ष्म विवेक से विदित होगा।

फिर उसी के अर्थ को दृढ़ करते हैं ॥

बृ॒हन्निदि॒ध्म ए॑षां॒ भूरि॑ श॒स्तं पृ॒थुः स्वरुः॑ ।

येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑ ॥२॥

पदार्थः—जिन (एषाम्) इन मनुष्यों का (इध्मः) अग्निहोत्रोपकरण समिधा आदि (बृहन् इत्) बड़ा है, जिनका (भूरि) बहुत (शस्तम्) स्तोत्र है; जिनका (स्वरुः) सदाचाररूप वज्र अथवा यज्ञोपलक्षक यूपखण्ड (पृथुः) महान् है; (येषाम् इन्द्रः) जिनका आत्मा (युवा) सर्वदा कार्य करने में समर्थ हो, (सखा) सखा है; वे धन्य हैं ॥२॥

भावार्थः—इस ऋचा से पुनः पूर्वोक्त अर्थ को ही दृढ़ करते हैं। भगवान् उपदेश देते हैं कि मनुष्य निज कल्याण के लिये प्रथम अग्निहोत्रादि

कर्म अवश्य करे और अपने आत्मा को सदा दृढ़ बना रखे। तब ही कल्याण है ॥२॥

इस ऋचा से फल दिखलाते हैं ॥

अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥

पदार्थः—(येषाम्) जिन पुरुषों का (इन्द्रः) आत्मा (युवा सखा) युवा और सखा है और जो अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना सहित है; वह (अयुद्धः इव) योद्धा न भी हो तथापि (शूरः) शूरवीर होकर (सत्वभिः) निज आत्मिक बलों के साहाय्य से (युधा) विविध योद्धाओं से (वृतम्) आवृत शत्रु को भी (अजति) दूर फेंक देता है ॥३॥

भावार्थः—ईश्वर की उपासना और अग्निहोत्रादि कर्मों के सेवने से आत्मा बलिष्ठ होता है और अपने निकट भी पापों को नहीं आने देता है ॥३॥

आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद्वि मातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥४॥

पदार्थः—(वृत्रहा) निखिलविघ्नविनाशक (जातः) प्रसिद्ध आत्मा अर्थात् जो आत्मा विघ्न विनाश करने में प्रसिद्ध है वह (बुन्दम् आददे) निज सदाचार की रक्षा और अन्याय को रोकने के लिये सदा उपासना और कर्मरूप बाण को हाथ में रखता है और उसको लेकर (मातरम्) बुद्धिरूपा माता से (विपृच्छत्) पूछता है कि (के) कौन मेरे (उग्राः) भयङ्कर शत्रु हैं और (के ह) कौन (शृण्विरे) प्रसिद्ध शत्रु सुने जाते हैं ॥४॥

भावार्थः—जब उपासक ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करता रहता है तब उसका आत्मा शुद्ध पवित्र होकर बलिष्ठ हो जाता है। वह आत्मा अपने निकट पापों को कदापि आने नहीं देता है। उस अवस्था में वह 'वृत्रहा', 'नमुचि', 'सूदन' आदि पदों से भूषित होता है और मानो अपनी रक्षा के लिये सदा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहता है। उस समय मानो, यह बुद्धि से पूछता है मेरे कितने और कौन-कौन शत्रु हैं इत्यादि इसका आशय है। इससे यह शिक्षा दी गई है कि आत्मा यदि तुम्हारा वास्तव में सखा है तो उसका उद्धार करना ही परमधर्म है और उद्धार केवल कर्म और उपासना से हो सकता है ॥४॥

विशेष—माता। इस प्रकरण में माता शब्द से बुद्धि का ग्रहण है, क्योंकि वही जीव को अच्छी सम्मति देती रहती है। और सुमति ही आत्मा को पुष्ट और बलिष्ठ बनाती है; अतः माता कहलाती है। राजा पक्ष में सभा ही माता है इत्यादि अर्थ अनुसन्धेय है।

प्रतिं त्वा शवसी वंदद्गिरावप्सो न योधिषत्।

यस्तें शत्रुत्वमाचके ॥५॥

पदार्थः—स्वयं आत्मा अपने से कहता है कि हे इन्द्र! (त्वा) तुझको (शवसी) बलवती बुद्धिरूपा माता (प्रति वदत्) कहेगी कि (यः ते) जो तेरे साथ (शत्रुत्वम्) शत्रुता की (आचके) आकाङ्क्षा करता है वह (गिरौ) पर्वत के ऊपर (अप्सः न) दर्शनीय राजा के समान (योधिषत्) युद्ध करेगा ॥५॥

भावार्थः—जब आत्मा में ईश्वर की उपासना से कुछ-कुछ बल आने लगता है तब वह शत्रुरहित और निश्चिन्त होने लगता है उस समय बुद्धि कहती है कि हे आत्मन्! आप निश्चिन्त न होवें अभी आपके शत्रु हैं वे आप से युद्ध करेंगे। ईश्वर की शरण में पुनः-पुनः जाओ। उसकी उपासना स्तुति प्रार्थना मत छोड़ो ॥५॥

उत त्वं मंघवञ्छृणु यस्ते वष्टिं वृवक्षि तत्।

यद्वीळयासि वीळु तत् ॥६॥

पदार्थः—(उत) और (मघवन्) हे धनसंयुक्त आत्मन्! (त्वम् शृणु) तू यह सुन। (यत्) जो वस्तु (ते) तुझ से उपासक (वष्टि) चाहता है (तत्) उस वस्तु को (ववक्षि) उसके लिये तू ले आता है। (यद् वीळयासि) जिसको तू दृढ़ करता है (तत् वीळु) वह ही दृढ़ होता है ॥६॥

भावार्थः—यह समस्त वर्णन सिद्ध जितेन्द्रिय आत्मा का है यह ध्यान रखना चाहिये। भाव इसका यह है कि यदि आत्मा वश में हो और ईश्वरीय नियमवित् हो तो उस आत्मा से कौन वस्तु प्राप्त नहीं होती। लोग आत्मा को नहीं जानते अतः वे स्वयं दरिद्र बने रहते हैं। हे उपासको! स्व आत्मा को पहिचानो ॥६॥

यदाजिं यात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप।

रथीतंमो रथीनाम् ॥७॥

पदार्थः—(आजिकृत्) सांसारिक प्रत्येक कार्य्य के साथ युद्धकृत् (इन्द्रः) वह बलिष्ठ ईश्वर-भक्तिपरायण आत्मा (स्वश्वयुः) मनोरूप अश्व को चाहता हुआ (यद्) जब (आजिम्) संग्राम में (उपयाति) पहुँचता है तब (रथीनाम्) सब महारथों में (रथीतमः) श्रेष्ठ रथी होता है ॥७॥

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य को निजी अनुभव है कि उसको प्रतिदिन कितना युद्ध करना पड़ता है। जीविका के लिये प्रतिष्ठा और मर्य्यादा के लिये सन्मान में प्रतिष्ठित होने के लिये एवं व्यापारादि में ख्यातिलाभ के लिए मनुष्य को सदा युद्ध करना ही पड़ता है। इन सब से भी अधिक उस समय घोर समर रचना पड़ता है जब किसी प्रिय अभीष्ट वस्तु के लाभ की चिन्ता उपस्थित होती है। कितने ही युवक युवती न पाकर आत्म-हत्या की गोद में जा बैठे। परन्तु जब ज्ञानी आत्मा युद्ध में भी जाता है तब वह सुशोभित ही होता है ॥७॥

उपासक अपने आत्मा को समझता है ॥

वि षु विश्वा अभियुजो वज्रिन्विष्वग्यथा वृह ।

भवा नः सुश्रवस्तमः ॥८॥

पदार्थः—(वज्रिन्) हे स्वशीलरक्षा के लिये महादण्डधारिन् मेरा आत्मा आप मेरी (विश्वाः) समस्त (अभियुजः) उपद्रवकारिणी प्रजाओं को (सु) अच्छे प्रकार (विवृह) निर्मूल कर नष्ट कर देवें जिससे वे (यथा) जैसे (विष्वग्) छिन्न-भिन्न होकर नाना मार्गावलम्बी हो जायं और आप, हे अन्तरात्मन् ! (नः) हमारे (सुश्रवस्तमः) शोभन यशोधारी हूजिये ॥८॥

भावार्थः—प्रतिदिन हमारे अन्तःकरण में नाना दुष्ट वासनाएं उत्पन्न होती रहती हैं। ये ही हमारे महाशत्रु हैं। इनको ज्ञानी सुशील आत्मा अपने निकट नहीं आने देता; ऐसा आत्मा ही संसार में यशोधारी होता है। अतः हे मनुष्यो ! अपने आत्मा में बुरी वासनाएं मत उत्पन्न होने दो ॥८॥

अस्माकं सु रथं पुर इन्द्रः कृणोतु सातये ।

न यं धूर्वन्ति धूर्तयः ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्रः) वह शुद्ध और दृढ़व्रती जीवात्मा (अस्माकम्) हमारे (सु रथम्) शरीररूप सुन्दर रथ को (सातये) अभीष्ट लाभ के लिये (पुरः कृणोतु) इस संसार में सब के आगे करे अर्थात् इस शरीर को यशस्वी बनावे। (यम्) जिस

अन्तरात्मा को (धूर्तयः) हिंसक पापाचार (न धूर्वन्ति) हिंसित नहीं कर सकते ॥९॥

भावार्थः—जो आत्मा पापाचरणों से रहित और सदाचारों से सुभूषित और विवेकी है वही स्वाधार शरीर को जगत् में श्रेष्ठ और पूज्य बनाता है। अतः हे मनुष्यो ! आत्मकल्याण के मार्गों के तत्त्वविद् पुरुषों की शिक्षा पर चलकर अपने को सुधारो ॥९॥

वृज्याम ते परि द्विषोऽरं ते शक्र दावने ।

गमेमेदिन्द्र गोमतः ॥१०॥

पदार्थः—(शक्र) हे शक्तिसम्पन्न अन्तरात्मन् ! हम उपासक (ते) तेरे (द्विषः) द्वेषी पापाचारों को (परि वृज्याम) सर्वथा त्याग देवें उनके निकट न जावें। किन्तु (गोमतः) प्रशस्त इन्द्रियों से युक्त (ते) तेरे द्वारा किये जाने वाले (दावने) दान के लिये, (इन्द्र) हे इन्द्र ! (गमेम इत्) तेरे निकट अवश्य पहुँचे ॥१०॥

भावार्थः—इस अन्तरात्मा के गुण पहिचानो। जो कोई इसे जान इसको शुद्ध बनाता और पापों से बचाता है वह इसके द्वारा बहुत कुछ पाता है। हे मनुष्यो ! यह 'शक्र' है। यह महादण्डधारी है। इसको पापाचार से स्वभावतः घृणा है। इसकी उपासना करो ॥१०॥

शनैश्चिद्यन्तो अद्रिवोऽश्वावन्तः शतग्विनः ।

विवक्षणा अनेहसः ॥११॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे महादण्डधर अन्तरात्मन् ! हम उपासक संसार के कार्य में (शनैः चित्) मन्द मन्द (यान्तः) चलते हुए सुखी होवें (अश्वावन्तः) अश्व, गौ और मेष आदि पशुओं से युक्त होवें तथा (शतग्विनः) शतधनोपेत यथार्थ विविध प्रकार के धनों से युक्त होवें तथा (विवक्षणाः) नित्य नवीन नवीन वस्तुओं को प्राप्त करते हुए हम (अनेहसः) उपद्रवरहित होवें ॥११॥

भावार्थः—हम अपनी-अपनी उन्नति धीरे-धीरे करें। विविध पशुओं को भी पाल कर उनसे लाभ उठावें और सदा वैसे आचार और विचार से चलें जिससे कोई उपद्रव न आवे ॥११॥

यहां से इन्द्रवाच्य ईश्वर की स्तुति कहते हैं ॥

ऊर्ध्वा हि ते दिवेदिवे सहस्रा सूनृता शता ।

जरितृभ्यो विमंहते ॥१२॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (ते) तेरे (जरितृभ्यः) स्तुतिपाठकों को (दिवे दिवे) प्रतिदिन जनता बहुत धन (वि मंहते) दिया करती है; वह (ऊर्ध्वा) श्रेष्ठ और मुख्य वस्तु देती है। (सूनृता) उनके निकट सत्यसाधन उपस्थित करती है तथा (सहस्रा शता) अनेक प्रकार के बहुविध धन देती है ॥१२॥

विशेष—अन्तरात्मा में भी ये ऋचाएं घट सकती हैं। जो आत्मा सिद्ध तपस्वी जितेन्द्रिय लोकोपकारी बनता है उसको लोग क्या नहीं देते हैं ! इस प्रकार दो तीन पक्ष दिखलाए जा सकते हैं। परन्तु ग्रन्थ-विस्तार के भय से कोई एक ही पक्ष भाष्यान्वित किया जाता है। इस पर ध्यान रखना चाहिये ॥१२॥

विद्मा हि त्वां धनञ्जयमिन्द्र दृळ्हा चिदारुजम् ।

आदारिणं यथा गयम् ॥१३॥

पदार्थः—(इन्द्र) परमैश्वर्य्यशालिन् देव ! (त्वाम् विद्म हि) तुझ को हम उपासक जानते ही हैं। आपको (धनञ्जयम्) धनंजय (दृढा चित्) दृढ़ शत्रुओं को भी (आरुजम्) भग्न करने वाले (आदारिणम्) और विदीर्ण करने वाले जानते हैं और (गयम् यथा) जैसे गृह विविध उपद्रवों से रक्षक होता है वैसे आप भी हमको नाना विघ्नों से बचाते हैं ॥१३॥

भावार्थः—परमेश्वर को जानकर ही उसकी उपासना करनी चाहिये। वह धन का स्वामी है अतः धन के लिये भी उसी की स्तुति करें। वह दुष्टों को विदीर्ण करने वाला है और गृहवद् रक्षक है; अतः सर्व कामनाओं के लिये उसी के निकट आदमी पहुंचे ॥१३॥

ककुहं चित्त्वा कवे मन्दन्तु धृष्णविन्दवः ।

आ त्वा पणिं यदीमहे ॥१४॥

पदार्थः—(कवे) हे महाकवि हे परमज्ञानी देव ! (धृष्णो) हे पापियों के प्रति महाभयंकर देव ! यद्यपि आप (ककुहम्) महाश्रेष्ठ और सर्वोत्तम हैं तथापि (त्वम्) आपको (इन्दवः) ये समस्त स्थावर और जंगम पदार्थ (मदन्तु) आनन्द देवें। हे भगवान् ! (यद्) जब हम उपासक (त्वाम् पणिम्) आपको पणि अर्थात् व्यवहारकुशल जानकर (आ) आपके समीप और आपकी ओर होकर (ईमहे) अपना अभीष्ट मांगें ॥१४॥

भावार्थः—ईश्वर स्वयं पणि है; उसको जो तुम दोगे उसके बदले में वह भी कुछ तुमको देगा। अतः उसकी सेवा करो ॥१४॥

यस्ते रेवाँ अदाशुरिः प्रममर्ष मघत्तये ।
तस्य नो वेद आ भर ॥१५॥

पदार्थः—हे इन्द्र, हे महेश ! आप (तस्य) उस कृपण पुरुष का (वेदः) धन (नः) हमारे लिये (आभर) ले आवें (यः) जो (रेवान्) धनिक होकर भी (ते) आपके उद्देश से दीन दरिद्र मनुष्यों के मध्य (अदाशुरिः) कुछ नहीं देता, प्रत्युत (मघत्तये) धन दान करने के लिये (प्रममर्ष) अन्यान्य उदार पुरुषों की जो निन्दा किया करता है ॥१५॥

भावार्थः—कृपण को धन का स्वामी नहीं रहने देना चाहिये ॥१५॥

इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः ।
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥१६॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ईश ! (इमे) ये मेरे (सखायः) जनसमुदाय मित्र (सोमिनः) शुभकर्मी होकर (त्वा उ) तेरी ओर देखते हैं तेरी ही प्रतीक्षा करते हैं। (यथा) जैसे (पुष्टावन्तः) घासों से पुष्ट स्वामी (पशुम्) अपने पशुओं की राह देखता है ॥१६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! प्रथम तुम शुभकर्मी बनो तब ईश्वर की प्रतीक्षा करो। अन्यथा वह तुम्हारा साथी कदापि न होगा। तुम सब के सखा बनो। किसी की हानि की चिन्ता मत करो। देखो, संसार में कितने दिन तुम्हें रहना है ! ॥१६॥

उत त्वाबधिरं वयं श्रुत्कर्णं सन्तमूतये ।
दूरादिह हवामहे ॥१७॥

पदार्थ—(उत) और (वयम्) हम उपासक (दूरात्) दूर देश से (इह) अपने-अपने गृह और शुभ कर्म में (त्वाम्) तुझको (हवामहे) बुलाते हैं जो तू (अबधिरम्) हमारे अभीष्ट सुनने के लिये सदा सावधान है और इसी कारण (श्रुत्कर्णम्) श्रवण-पर है और (सन्तम्) सर्वत्र विद्यमान है; उस तुझको (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये बुलाता हूँ ॥१७॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम्हें निश्चय हो कि वह बधिर नहीं है; वह हमारा वचन सुनता है। वह प्रार्थना पर ध्यान देता है और आवश्यकता को पूर्ण करता है। अतः उसी की स्तुति प्रार्थना करो ॥१७॥

यच्छुश्रूया इमं हवं दुर्मर्षं चक्रिया उत।

भवेरापिर्नो अन्तमः ॥१८॥

पदार्थः—हे ईश्वर ! (यद्) यदि तू हम लोगों के (इमम् हवम्) इस आह्वान को (शुश्रूयाः) एक वार भी सुन चुका है तो उसको (दुर्मर्षम्) अविस्मरणीय (चक्रियाः) वनाओ (उत) और (नः) सकल जनसमुदाय का तू (अन्तमः) अतिशय समीपवर्ती (आपिः भवेः) वन्धु और मित्र हो ॥१८॥

भावार्थः—यह स्वाभाविक प्रार्थना है। ईश्वर को सब ही अपना बन्धु बनाना चाहते हैं परन्तु वह किस का सखा बनता है? यह पुनः पुनः विचारना चाहिये ॥१८॥

यच्चिद्धि ते अपि व्यथिर्जगन्वांसो अमन्महि।

गोदा इदिन्द्र बोधि नः ॥१९॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (अपि चित्) और भी (यद्) जब-जब हम (व्यथिः) दुःखों से व्यथित होते हैं तब-तब (ते) आपकी ओर (जगन्वांसः) जाते हुए हम (अमन्महि) आपका स्मरण करते हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! तब-तब आप (गोदाः इत्) गोदाता होकर ही (नः) हमारी प्रार्थना (बोधि) जानें; प्रार्थना पर ध्यान देवें ॥१९॥

भावार्थः—इसमें सन्देह नहीं कि जब-जब मनुष्य आपद्ग्रस्त होता है तब-तब ईश्वर का साहाय्य चाहता है परन्तु ऐसा न करके सदा ईश्वर की आज्ञा पर चलो तब ही कल्याण है ॥१९॥

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते।

उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥२०॥

पदार्थः—(शवसः पते) हे बलाधिदेव इन्द्र ! (न) जैसे (जिव्रयः) जीर्ण वृद्ध पुरुष (रम्भम्) दण्ड को अपना अवलम्बन बनाते हैं तद्वत् हम (त्वाम्) आपको (आ ररम्भ) अपना अवलम्बन और आश्रय वनाते हैं (आ) और सदा (त्वाम्) आपको (सधस्थे) यज्ञस्थान में (उश्मसि) चाहते हैं ॥२०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ईश्वर को अपना आश्रय बनाओ। उस पर विश्वास करो। प्रत्येक शुभकर्म में उसकी उपासना करो ॥२०॥

स्तोत्रमिन्द्राय गायत पुरुनृम्णाय सत्वने।

नकिर्यं वृण्वते युधि ॥२१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! उस (इन्द्राय) परमात्मा के लिये (स्तोत्रम् गायत) अच्छे-अच्छे स्तोत्र गाओ; (यम्) जिस इन्द्र को (युधि) युद्ध में (नकिः) कोई नहीं (वृण्वते) निवारण कर सकते यद्वा जिसको युद्ध के लिये कोई स्वीकार नहीं करता है। पुनः वह इन्द्र कैसा है? (पुरुनृम्णाय) सर्वधनसम्पन्न और (सत्वने) परमबलस्वरूप है ॥२१॥

भावार्थः—समर में भी परमात्मा का ही गान करे, क्योंकि उसी की कृपा से वहां भी विजय होती है ॥२१॥

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये।

तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥२२॥

पदार्थः—(वृषभ) हे उपासकों को अभीष्ट देने वाले देव! (त्वाम् अभि) आप के उद्देश्य से अर्थात् आपकी प्रसन्नता के लिये (सुते) इस प्रस्तुत यज्ञक्रिया में (पीतये) मनुष्यों के पान और भोग के लिये (सुतम्) सोमयुक्त विविध पदार्थ (सृजामि) देता हूं। हे इन्द्र! (तृम्प) उनको आप तृप्त करें और (मदम्) उनके आनन्द को (व्यश्नुहि) बढ़ावें ॥२२॥

भावार्थः—मनुष्य विविध पदार्थों की रचना कर उन्हें परमात्मा को समर्पित करे अर्थात् वे सबके उपयोग के लिये हों ॥२२॥

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्।

माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥२३॥

पदार्थः—हे इन्द्र! (त्वा) तुमको (मूराः) मूढ़जन (मा दभन्) न ठगने पावें तथा (उपहस्वानः) हंसी और दिल्लगी करने वाले भी तुमको (मा दभन्) न ठगने पावें जब वे (अविष्यवः) आपकी सहायता की आकाङ्क्षा करें और हे ईश! (ब्रह्मद्विषः) प्रार्थना, ईश्वर, वेद और ब्राह्मण आदिकों से द्वेष रखनेवालों को आप (माकिम् वनः) कदापि पसन्द न करें ॥२३॥

भावार्थः—प्रायः देखा गया है कि संसार के द्वेषी नाना पाप और अपराध सदा करते रहते हैं; ईश्वरीय नियमों को तोड़ डालते हैं, अपितु ईश्वर-भक्तों की निन्दा किया करते हैं किन्तु अपने ऊपर आपत्ति आने पर ईश्वर की शरण में जाकर उन्हें भी ठगना चाहते हैं और उतनी देर के लिये परमभक्त बन जाते हैं; अतः इसमें प्रार्थना है कि ऐसे आदमी उन्नत न होने पावें ॥२३॥

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे।
सरो गौरो यथा पिब ॥२४॥

पदार्थः—हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त महादेव! आपकी कृपा से (इह) इस संसार में (त्वा) तुम्हारे उपदेश से (महे राधसे) बहुत धनों की प्राप्ति के उत्सव के लिये (गोपरीणसा) गौवों के दूध, दही आदि पदार्थों से (मन्दन्तु) गृहस्थ जन परस्पर आनन्दित होवें और करें। हे महेन्द्र! (यथा) जैसे (गौरः) तृषित मृग (सरः) सरस्स्थ जल पीता है तद्वत् आप बड़ी उत्कण्ठा के साथ यहां आकर (पिब) हमारे समस्त पदार्थों का अवलोकन करें ॥२४॥

भावार्थः—जब-जब नवीन अन्न या अधिक लाभ हो तब-तब मनुष्य को उचित है कि वे ईश्वर के नाम पर अपने परिजनों तथा मित्रों को बुलाकर उत्सव करें और ईश्वर को धन्यवाद देवें ॥२६॥

या वृत्रहा परावति सना नवा च चुच्युवे।
ता संसत्सु प्र वोचत ॥२५॥

पदार्थः—(वृत्रहा) निखिल विघ्नविनाशक इन्द्रदेव मनुष्य को (परावति) किसी दूर देश में या गृह पर (या) जो (सना) पुराने या (नवा) नवीन धन (चुच्युवे) देता है (ता) उनको धनस्वामी (संसत्सु) सभाओं में (प्र वोचत) कह सुनावें ॥२५॥

भावार्थः—परमात्मा की कृपा से मनुष्य को जो कुछ प्राप्त हो उसके लिये ईश्वर को धन्यवाद देवे और सभा में ईश्वरीय कृपा का फल भी सुनादे ताकि लोगों को विश्वास और प्रेम हो ॥२५॥

इन्द्र संसार का संहार भी करता है यह इससे दिखलाते हैं॥

अपिबत्कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे।
अत्रादेदिष्ट पौंस्यम् ॥२६॥

पदार्थः—(इन्द्रः) सर्वशक्तिमान् देव (कद्रुवः) प्रकृति देवी के इस (सुतम्) विरचित संसार को अन्त में (अपिबत्) पी जाता है। तब (अत्र) यहां (सहस्रबाह्वे) सहस्र बाहु=अनन्तकर्मा अनन्त शक्तिधारी उस ईश्वर का (पौंस्यम्) परमबल (अदेदिष्ट) प्रदीप्त होता है ॥२६॥

भावार्थः—जब ईश्वर अन्त में इस अनन्त सृष्टि को समेट लेता है तब अल्पज्ञ जीवों को यह देख आश्चर्य प्रतीत होता है। तब ही उस में जीव श्रद्धा और भक्ति करता है ॥२६॥

सत्यं तत्तुर्वशे यदौ विदानो अह्नवाय्यम् ।
व्यानट् तुर्वणे शमि ॥२७॥

पदार्थः—परमात्मा (तुर्वशे) शीघ्र वश में होने वाले सरल स्वभावी (यदौ) मनुष्य में (अह्नवाय्यम्) प्रतिदिन किए हुए (तत् सत्यम्) उस सत्य को (विदानः) पाकर उसके लिये (तुर्वणे) इस संसार-संग्राम में (शमि) कल्याण का मार्ग (व्यानट्) फैलाता है ॥२७॥

भावार्थः—ईश्वर जिसमें सत्यता पाता है उसके लिये मंगलमय मार्ग खोलता है अतः हे मनुष्यो ! प्रतिदिन सत्यता की ओर जाओ । असत्यता में फँसकर अपने को पतित मत बनाओ ॥२७॥

तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः ।
समानमु प्र शंसिषम् ॥२८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) तुम (जनानाम्) मनुष्यों को (तरणिम्) दुःखों से पार लगाने वाले और (गोमतः) गौ, मेष आदि पशुओं से संयुक्त (वाजस्य) धन के (त्रदम्) रक्षक और दायक हो और (समानम् उ) सर्वत्र समान हो; उस आर देव की मैं (प्रशंसिषम्) प्रशंसा करता हूँ ॥२८॥

भावार्थः—जो ईश्वर सबका स्वामी है और जो समानरूप से सर्वत्र विद्यमान और हितकारी है उस की स्तुति मैं करता हूँ और आप लोग भी करें ॥२८॥

ऋभुक्षणं न वर्तव उक्थेषु तुग्र्यावृधम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥२९॥

पदार्थः—(न) पुनः (उक्थेषु) त्रिविध स्तोत्रों से संयुक्त शुभकर्मों के प्राप्त होने पर मैं (ऋभुक्षणम्) महान् और (तुग्र्यावृधम्) जल के वर्धयिता पिता परमात्मा को (वर्तवे) ग्रहण के लिये उसकी स्तुति करता हूँ । तथा (सुते) अनुष्ठित (सोमे) सोमयज्ञ में भी (सचा) कर्म के साथ-साथ (इन्द्रम्) इन्द्र की ही स्तुति करता हूँ ॥२९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो जैसे प्रत्येक लौकिक या वैदिक कर्म के समय मैं ईश्वर की स्तुति करता हूँ वैसे आप भी करें ॥२९॥

यः कृन्तदिद्धि योन्यं त्रिशोकाय गिरिं पृथुम् ।
गोभ्यो गातुं निरेतवे ॥३०॥

पदार्थः—(हि) जिस कारण (यः इत्) जो ही इन्द्रवाच्य परमात्मा (त्रिशोकाय) निखिल जीवों के लिये (योन्यम्) सब के कारण (पृथुम्) विस्तीर्ण=सर्वत्र फैलने वाले (गिरिम्) मेघ को (कृन्तत्) बनाता है और (गोभ्यः) उन जलों के (निरेतवे) अच्छे प्रकार चलने के लिये (गातुम्) पृथिवी को भी बनाता है ॥३०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! परमात्मा की महती शक्ति को देखो ! यदि जल न होता तो इस पृथिवी पर एक भी जीव न देख पड़ता। यह उसकी कृपा है कि उसने ऐसा मेघ बनाया और उसका मार्ग भी भूमि पर तैयार किया वही पूज्य है ॥३०॥

यद्दधिषे मनस्यसि मन्दानः प्रेदियक्षसि ।
मा तत्करिन्द्र मृळय ॥३१॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य्यशालिन् परमोदार देव! (मन्दानः) स्तुति पाठकों के ऊपर प्रसन्न होकर उनको देने के लिये (यद् दधिषे) जो वस्तु आप रखते हैं अथवा (मनस्यसि) करने का मन में निश्चय करते हैं यद्वा (प्र इयक्षसि इत्) जो वस्तु देही देते हैं (तत् मा कः) वे सब आप करें या न करें किन्तु (मृळय) हमको सब तरह से सुखी बनावें ॥३१॥

भावार्थः—इसका आशय यह है कि हमारे लिये आप को अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं। हम आपसे सदा मांगते रहते हैं, आप यथाकर्म हमें देते रहते हैं यह सब न करके आप केवल हमारे लिये उतना कीजिये कि जिससे हम सुखी रहें ॥३१॥

दभ्रं चिद्धि त्वावतः कृतं शृण्वे अधि क्षमि ।
जिगात्विन्द्र ते मनः ॥३२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वावतः) तुम से रक्षित जन का (दभ्रम् चित् हि) बहुत थोड़ा भी (कृतम्) कृत कर्म (क्षमि अधि) इस पृथिवी पर (शृण्वे) विख्यात हो जाता है, फैल जाता है। इस हेतु (ते मनः) आपका मन अर्थात् आपकी वैसी कृपा मुझ में भी (जिगातु) प्राप्त होवे। मेरी भी कीर्ति पृथिवी पर फैले सो करें ॥३२॥

भावार्थः—इसका आशय स्पष्ट है। जिसके ऊपर परमात्मा की

कृपा होती है वह पृथिवी पर सुप्रसिद्ध हो जाता है। यह दृश्य देख उपासक कहता है कि हे इन्द्र ! मैं भी आपका पात्र बनकर देशविख्यात होऊं इत्यादि। ऐसी शुभ इच्छा बहुत पुरुषों की होती है, यह मानवस्वभाव है। अतः ऐसी-ऐसी प्रार्थनाएं वेद में आती हैं ॥३२॥

तवेदु ताः सुकीर्तयोऽसन्नुत प्रशस्तयः ।

यदिन्द्र मृळयासि नः ॥३३॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (यत्) जो आप कृपा कर (नः) हम उपासक जनों को (मृळयासि) सब प्रकार से सुखी रखते हैं। (ताः) वे (तव इत् उ) आपकी ही (सुकीर्तयः) सुकीर्तियां (असन्) हैं (उत) और वे आपकी ही (प्रशस्तयः) प्रशंसाएं हैं ॥३३॥

भावार्थः—सुस्पष्ट ऋचा को भी भाष्यकार और टीकाकार कठिन बना देते हैं। इस ऋचा का अर्थ स्पष्ट है। इन्द्र के निकट निवेदन किया जाता है कि आप जो हमको सुखी करते हैं वह आपकी कृपा सुकीर्ति और प्रशंसा हैं ॥३३॥

वि०—इसका द्वितीय अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि (यद्) यदि आप (नः मृळयासि) हमको सुखी बनावें तो (ताः) वे (तव इत्) आप की ही (सुकीर्तयः असन्) सुकीर्तियां होंगी या होवें; वे आपकी ही (प्रशस्तयः) प्रशंसाएं होंगी ॥३३॥

मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु ।

वधीर्मा शूर भूरिषु ॥३४॥

पदार्थः—(शूर) हे न्यायी महावीर परेश ! (नः) हम दुर्बल जनों को (एकस्मिन् आगसि) एक अपराध होने पर (मा वधीः) मत दण्डित करें। (द्वयोः) दो अपराध हो जाने पर (मा) हमको दण्ड न देवें (त्रिषु) तीन अपराध होने पर भी हमको दण्ड न देवें। किंबहुना (भूरिषु) बहुत अपराध होने पर भी (मा) हमको दण्ड न देवें ॥३४॥

भावार्थः—मनुष्य अन्तःकरण से दुर्बल है; वह वारम्वार ईश्वरीय आज्ञाओं को तोड़ता रहता है; उससे बात-बात में अनेक अपराध हो जाते हैं। देखता है कि इन सबके बदले में यदि मुझको दण्ड मिला तो मैं सदा कारागार में निगडित ही रहूँगा। अतः मानवदुर्बलता के कारण ऐसी प्रार्थना होती है ॥३४॥

बिभया हि त्वावत उग्रादभिप्रभङ्गिणः ।

दस्मादहमृतीषहः ॥३५॥

पदार्थः—हे न्यायाधीश जगदीश ! (त्वावतः) आपके समान न्यायवान् से (अहम्) मैं सदा (हि) निःसन्देह (बिभय) डरता रहता हूँ । हे भगवन् ! जिस कारण आप (उग्रात्) पापियों के प्रति महा भयङ्कर हैं; (अभिप्रभंगिणः) चारों तरफ से दुष्टों को भग्न करने वाले हैं; (दस्मात्) पापियों को दूर फेंकने वाले हैं और (ऋतीसहः) निखिल विघ्नों को दूढ़ाने वाले हैं; अतः मैं डरता हूँ ॥३५॥

भावार्थः—पूर्व में प्रार्थना की गई है कि अपराध होने पर भी आप हमको दण्ड न देवें । इसपर उपासक मन में कहता है कि हे ईश ! मैं जान-बूझकर अपराध न करूंगा । आपको मैं जानता हूँ कि आप न्यायाधीश हैं । पापी आपके निकट नहीं रह सकता, अतः आप से मैं सदा डरता हूँ आपके नियम पर चलता हूँ तथापि अपराध हो जाय तो कृपा कर क्षमा करें ॥३५॥

मा सख्युः शूनमा विदे मा पुत्रस्य प्रभूवसो ।

आवृत्वद्भूतु ते मनः ॥३६॥

पदार्थः—(प्रभूवसो) हे समस्त सम्पत्तिसंयुक्त महेश ! मैं (सख्युः) अपने मित्रगण की (शूनम्) न्यूनता का (मा आविदे) बोध न करूं तथा (पुत्रस्य) पुत्र की न्यूनता का (मा आविदे) बोध न करूं तथा (पुत्रस्य) पुत्र की न्यूनता का बोध (मा) मैं न करूं; ऐसी कृपा आप करें । (ते मनः) आपका मन (आवृत्वत्) इस मेरी प्रार्थना की ओर आवे ॥३६॥

भावार्थः—प्रत्येक आदमी को उतना उद्योग अवश्य करना चाहिये जिससे कि वह अपने गृह तथा मित्र-वर्ग को सुखी रख सके । अनुद्योगी और आलसी ही पुरुष ईश्वर के राज्य में क्लेश पाते हैं । देखो, निर्बुद्धि परन्तु परिश्रमी पक्षिगण कैसे प्रसन्न रहते हैं ॥३६॥

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत् ।

जहा को अस्मदीषते ॥३७॥

पदार्थः—(मर्याः) हे मनुष्यो (कः नु) कौन (सखा) मित्र (अमिथितः) अबाधित होने पर भी अर्थात् निष्कारण (सखायम्) अपने मित्र को (अब्रवीत्) कहता है अर्थात् मित्र के ऊपर दोषारोपण करता है ! (कः) कौन कृतघ्न मित्र अपने मित्र को

आपत्ति में (जहा) छोड़ता है और कौन कहता है कि (अस्मद्) हम को छोड़कर हमसे दूर (ईषते) मित्र भाग गया है ॥३७॥

भावार्थः—सच्चा मित्र मित्र पर कभी निष्कारण दोषारोषण नहीं करता और न आपत्ति में छोड़ता ही है ॥३७॥

एवारे वृषभा सुतेऽसिन्वन्भूर्यावयः ।

श्वघ्नीव निवता चरन् ॥३८॥

पदार्थः—(वृषभ) हे सकल मनोरथपूरक महादेव ! हमारे इस (एवारे) परमप्रिय (सुते) शुभकर्म में (भूरि) बहुत धन (असिन्वन्) देता हुआ तू (आवयः) आ । (इव) जैसे (निवता चरन्) द्यूत खेलता हुआ (श्वघ्नी) कितव=जुआरी सभा स्थान में आता है ॥३८॥

भावार्थः—परमात्मा सकल मनोरथदाता होने के कारण वृषभ कहाता है । अतः हे मनुष्यो ! उसी की सेवा करो और उसी से अपनी आकांक्षित वस्तु मांगो ॥३८॥

आ त एता वचोयुजा हरी गृभ्णे सुमद्रथा ।

यदीं ब्रह्मभ्य इद्ददः ॥३९॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (वचोयुजा) निज-निज वाणियों और भाषाओं से युक्त (सुमद्रथौ) अनादि अचलकालरूप रथ में नियुक्त (ते) तेरे (एते) ये प्रत्यक्ष (हरी) परस्पर हरणशील स्थावर और जंगमरूप द्विविध संसार के तत्त्वों और नियम को तेरी कृपा से (आ गृभ्णे) जानता हूँ; (यद् ईम्) जिस कारण (ब्रह्मभ्यः इत्) ब्रह्मविद् पुरुषों को तू (ददः) तत्त्व जानने की शक्ति देता है ॥३९॥

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि यथासाध्य इस संसार के नियमों और रचना प्रभृति को जाने; विद्वानों को इस ओर अधिक ध्यान देना उचित है ॥३९॥

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।

वसु स्पार्हं तदा भर ॥४०॥

पदार्थः—हे विश्वम्भर इन्द्र ! मेरी प्रार्थना सुनकर (विश्वाः) समस्त (द्विषः) द्वेष करनेवाली प्रजाओं को (अपभिन्धिः) इस संसार से उठा लो और (बाधः) बाधाएं डालने वाले (मृधः) संग्रामों को भी (परि जहि) निवारण करो; (तद्) तब इस संसार में (स्पार्हम्) स्पृहणीय (वसु) धन को (आभर) भर दो ॥४०॥

भावार्थः—इस संसार में द्वेष करने वाली मनुष्य जाति या पशु प्रभृति जातियां कितनी हानि करने वाली हैं यह प्रत्यक्ष है और उन्मत्त स्वार्थी राजा लड़कर कितनी बाधाएं सन्मार्ग में फैलाते हैं यह भी प्रत्यक्ष ही है; अतः इन दोनों उपद्रवों से छूटने के लिये वारंवार वेद में प्रार्थना आती है। और इन दोनों के अभाव होने से ही संसार में सुख पहुंचता है। इत्यादि ॥४०॥

यद्वीळाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसुं स्पार्हं तदा भर ॥४१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वमंगलमय देव ! (यत्) जो विज्ञान या धन आपने (वीळौ)सुदृढ़तर स्थान में (यत्) जो धन (स्थिरे) निश्चल स्थान में,(यत्) जो (पर्शानि) विकट स्थान में, (पराभृतम्) रखा है (तत्) उस सब (स्पार्हम्) स्पृहणीय (वसु) धन को इस जगत् में (आभर) अच्छी तरह से भर दो ॥४१॥

भावार्थः—पर्वत, समुद्र और पृथिवी के आभ्यन्तर में बहुत धन गुप्त हैं। वैज्ञानिक पुरुष इसको जानते हैं। विद्वानों को उचित है कि उस-उस धन को जगत् के कल्याण के लिये प्रकाशित करें ॥४१॥

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति ।
वसुं स्पार्हं तदा भर ॥४२॥

पदार्थः—हे महेश ! (विश्वमानुषः) समस्त मनुष्य (ते) आपके (दत्तस्य) दिए हुए (यस्य) जिस (भूरेः) बहुत दान को (वेदति) जानते हैं (तत्) उस (स्पार्हम्) स्पृहणीय (वसु) धन को जगत् में (आभर) भर दो ॥४२॥

भावार्थः—परमात्मा से अपने और जगत् के कल्याण के लिये सदा प्रार्थना करनी चाहिये ॥४२॥

अष्टम मण्डल में यह पंतालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशदृचस्य षट्चत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—३३ वशोऽश्व्य ऋषिः ॥ देवताः—१—२०, २९—३१, ३३ इन्द्रः । २१—२४ पृथुश्रवसः कानीतस्य दानस्तुतिः । २५—२८, ३२ वायुः ॥ छन्दः—१ पादनिचृद्गायत्री । २, १०, १५, २९ विराड्गायत्री । ३, २३ गायत्री । ४ प्रतिष्ठा गायत्री । ६, १३, ३३ निचृद्गायत्री । ३० आर्चीस्वराड् गायत्री । ३१ स्वराड् गायत्री । ५ निचृदुष्णिक् । १६ भुरिगुष्णिक् ।

७, २०, २७, २८ निचृद् बृहती । ६, २६, स्वराड् बृहती । ११, १४ विराड् बृहती । २१, २५, ३२ बृहती । ८ विराडनुष्टुप् । १८ अनुष्टुप् । १९ भुरिगनुष्टुप् । १२, २२, २४ निचृत् पङ्क्तिः । १७ जगती । स्वरः --१—४, ६, १०, १३, १५, २३, २९—३१, ३३ षड्जः । ५, १६, ऋषभः । ७, ९, ११, १४, २०, २१, २५—२८, ३२ मध्यमः । ८, १८, १९ गान्धारः । १२, २२, २४ पञ्चमः । १७ निषादः ॥

त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।

स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥१॥

पदार्थः—(पुरूवसो) हे भूरिधन हे निखिल सम्पत्तिसंयुक्त ! (प्रणेतः) हे निखिल निधियों तथा सम्पूर्ण भुवनों के विधाता (हरीणाम् स्थातः) परस्पर हरणशील भुवनों के अधिष्ठाता, (इन्द्र) हे परमैश्वर्य्यशालिन् महेश्वर ! (त्वावतः) तेरे ही उपासक (वयम् स्मसि) हम मनुष्य हैं; अतः हमारी रक्षा और कल्याण जिससे हो सो करें ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर ही सर्वविधाता सर्वकर्त्ता है; उसी के सेवक हम मनुष्य हैं अतः उसी की उपासना स्तुति और प्रार्थना हम करें ॥१॥

त्वां हि सत्यमद्रिवो विद्म दातारमिषाम् ।

विद्म दातारं रयीणाम् ॥२॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे महादण्डधारिन् ईश ! (सत्यम्) इसमें सन्देह नहीं कि (त्वाम् हि) तुझको (इषाम् दातारम्) अन्नों का दाता (विद्म) हम जानते हैं और (रयीणाम् दातारम्) सम्पत्तियों का दाता तुझको (विद्म) जानते हैं ॥२॥

भावार्थः—अन्नों और धनों का अधिपति और दाता ईश्वर को मान उसी की उपासना करो ॥२॥

आ यस्य ते महिमानं शतमूते शतक्रतो ।

गीर्भिर्गृणन्ति कारवः ॥३॥

पदार्थः— (शतमूते) हे अनन्त प्रकार से रक्षाकारक (शतक्रतो) हे अनन्तकर्म-संयुक्त महाकर्मन् देव ! (यस्य ते) जिस तेरे (महिमानम्) महिमा को (कारवः) स्तुतिकर्त्तृगण (गीर्भिः) अपने-अपने गद्य-पद्यमय वचनों से (गृणन्ति) गाते हैं ॥३॥

भावार्थः—अच्छे विद्वान् स्तुतिपाठक और अन्यान्य आचार्य्यगण उसी की स्तुति करते हैं; अतः हे मनुष्यो ! आप भी उसी की महिमा गाओ ॥३॥

सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा ।

मित्रः पान्त्यद्रुहः ॥४॥

पदार्थः—(घ) यह विषय सर्वत्र प्रसिद्ध है कि (सः मर्त्यः) वह मनुष्य (सुनीथः) सुयश होता है अर्थात् उस मनुष्य के सकल वैदिक या लौकिक कर्म पुष्पित और सुफलित होते हैं; यद्वा वह अच्छे प्रकार जगत् में चलाया जाता हैं; (यम्) जिसकी (मरुतः) राज्यसेनाएं (अद्रुहः) द्रोहरहित होकर (पान्ति) रक्षा करती हैं; (यम् अर्यमा) जिसकी रक्षा श्रेष्ठ पुरुष करते हैं; (मित्रः) ब्राह्मण=मित्रभूत ब्रह्मवित् पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं ॥४॥

भावार्थः—जिसके ऊपर ईश्वर तथा लोक की कृपा हो वही श्रेष्ठ पुरुष है। अतः प्रत्येक मनुष्य को शुभकर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। शुभकर्मों से शत्रु भी प्रसन्न रहते हैं ॥४॥

दधानो गोमदश्ववत्सुवीर्यमादित्यजूत एधते ।

सदा राया पुरुस्पृहा ॥५॥

पदार्थः—(आदित्यजूतः) परमात्मा के अनुग्रहपात्र ईश्वरोपासक जन (गोमत्) गौ, मेषी आदि दुग्ध देनेवाले पशुओं से युक्त धन पाते हैं तथा (अश्ववत्) वहन समर्थ गज आदि पशुओं से युक्त सम्पत्ति पाते हैं। तथा (सुवीर्य्यम्) वीरतोपेत पुत्र पौत्रादिकों से वे युक्त होते हैं और इनके साथ (एधते) जगत् में प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं और (पुरुस्पृहा) जिस धन को बहुत आदमी चाहते हैं वैसे (राया) धन से युक्त हो (सदा) सदा बढ़ते हैं ॥५॥

भावार्थः—जो ईश्वर के प्रेमी हैं उनकी वृद्धि सदा होती है। इसमें कारण यह है कि वह भक्त सब से प्रेम रखता है, उसके सुख दुःख में सम्मिलित होता है, सत्यता से वह अणुमात्र भी डिगता नहीं। अतः लोगों की सहानुभूति और ईश्वर की दया से वह प्रतिदिन बढ़ता जाता है ॥५॥

तमिन्द्रं दानमीमहे शवसानमभीर्वम् ।

ईशानम् राय ईमहे ॥६॥

पदार्थः—हम उपासकजन (तम् इन्द्रम्) उस इन्द्रवाच्य परमात्मा से (दानम् रायः) दातव्य धन की (ईमहे) याचना करते हैं जो ईश्वर (शवसानम्) बलप्रदाता (अभीर्वम्) निर्भय और (ईशानम्) जगत् का स्वामी है ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! अपनी आकांक्षा ईश्वर के निकट निवेदन करो । वह उसको पूर्ण करेगा ॥६॥

तस्मिन्हि सन्त्यूतयो विश्वा अभीरवः सचा ।

तमा वहन्तु सप्तयः पुरूवसुं मदाय हरयः सुतम् ॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (तस्मिन्) उस इन्द्रवाच्य जगदीश में (विश्वाः) समस्त (अभीरवः) अकातर=निर्भय (ऊतयः) रक्षाएं (सचा सन्ति) समवेत हैं अर्थात् विद्यमान हैं । (तम्) उस (पुरूवसुम्) बहु धन और सर्वधन ईश्वर को (सप्तयः) संचलनशील (हरयः) ये सम्पूर्ण संसार (मदाय) आनन्द के लिये (सुतम्) इस यज्ञ में (आवहन्तु) प्रकाशित करे ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा में सब रक्षाएं विद्यमान हैं । इसका आशय यह है कि वही सब रक्षा कर सकता है । उसको ये संसार प्रकट कर सकते हैं ॥७॥

इससे ईश्वरीय आनन्द का वर्णन करते हैं ॥

यस्ते मदो वरेण्यो य इन्द्र वृत्रहन्तमः ।

य आददिः स्व१र्नृभिर्यः पृतनासु दुष्टरः ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्रवाच्य ईश ! (यः ते मदः) जो आपका आनन्द (वरेण्यः) सर्वश्रेष्ठ और स्वीकरणीय है, (यः) जो (वृत्रहन्तमः) अतिशय विघ्न-विनाशक है और (यः) जो (स्वः आददिः) सुख का देने वाला है (पृतनासु) सांसारिक संग्रामों में (नृभिः) मनुष्यों से (दुष्टरः) अत्यन्त अनभिभवनीय=अजेय है, उस आनन्द को हम मनुष्य प्राप्त करें ॥८॥

भावार्थः—इससे यह शिक्षा दी जाती है कि मनुष्य को ईश्वरीय कार्य्य में सदा आनन्दित रहना चाहिये, तब ही मनुष्य सुखी हो सकता है ॥८॥

यो दुष्टरो विश्ववार श्रवाय्यो वाजेष्वस्ति तरुता ।

स नः शविष्ठ सवना वसो गहि गमेम गोमति व्रजे ॥९॥

पदार्थः—(विश्ववार) हे सर्वजनवरणीय सर्वश्रेष्ठ इन्द्र ! जिस तेरा (यः) जो आनन्द (दुस्तरः) दुस्तर (श्रवाय्यः) सुनने योग्य और (वाजेषु तरुता अस्ति) संग्रामों में पार उतारने वाला है (सः) वह तू (नः) हमारे (सवना) प्रातः, मध्याह्न

और सायंकाल के तीनों यज्ञों में (आगहि) आ और हम लोग (गोमति व्रजे) गो-संयुक्त स्थान में अथवा आनन्दमय प्रदेश में (गमेम) प्राप्त होवें ।।९।।

भावार्थः—परमेश्वर की स्तुति से वह आनन्द प्राप्त होता है, जो उसे संसार-सागर से पार उतार देता है। अतः अन्य सब को छोड़ एक परमेश्वर की ही स्तुति करना योग्य है ।।९।।

गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया ।

वरिवस्य महामह ।।१०।।

पदार्थः—(महामह) हे महानों में महान्, हे श्रेष्ठों में श्रेष्ठ ! हे परमपूज्य, हे महाधनेश्वर जगदीश ! (यथा पुरा) पूर्ववत् (उ) इस समय भी (नः) हम उपासकों को (गव्या) गो धन देने की इच्छा से (उत) और (अश्वया) घोड़े देने की इच्छा से (रथया) रथ देने की इच्छा से (वरिवस्य) यहां कृपाकर आवें ।।१०।।

भावार्थः—ईश्वर में सब पदार्थ अतिशय हैं; वह कितना महान् है—यह मनुष्य की बुद्धि में नहीं आ सकता; उसके निकट कितना धन है उसकी न तो संख्या हो सकती है और न मानव-मन ही वहां तक पहुंच सकता है। अतः उसके साथ महान् आदि शब्द लगाए जाते हैं। इस ऋचा से यह शिक्षा होती है कि जब वह इतना महान् है तब उसको छोड़कर दूसरों से मत मांगो। गौ, अश्व और रथ आदि पदार्थ गृहस्थाश्रम के लिये परमोपयोगी हैं; अतः इनकी प्राप्ति के लिये बहुधा प्रार्थना आती है ।।१०।।

पुनः उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं ।।

नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा ।

दशस्या नो मघवन्नू चिदद्रिवो धियो वाजेभिराविथ ।।११।।

पदार्थः—(शूर) हे महावीर महेश ! (ते) तेरे (राधसः) पूज्य धन का (अन्तम्) अन्त मैं उपासक (सत्रा) सत्य ही (नहि विन्दामि) नहीं पाता हूं, इस कारण (मघवन्) हे महाधनेश (अद्रिवः) हे महादण्डधर इन्द्र ! (नू चित्) शीघ्र ही (नः) हमको (दशस्य) दान दे तथा (वाजेभिः) ज्ञानों और धनों से हमारे (धियः) कर्मों की (आविथ) रक्षा करो ।।११।।

भावार्थः—इसमें सन्देह नहीं कि उसके धन का अन्त नहीं है। ईश्वर के समान हम उपासक उससे अपनी आवश्यकता निवेदन करें और उसी की इच्छा पर छोड़ देवें ।।११।।

य ऋष्वः श्रावयत्सखा विश्वेत्स वेद जनिमा पुरुष्टुतः ।

तं विश्वे मानुषा युगेन्द्रं हवन्ते तविषं यतस्रुचः ॥१२॥

पदार्थः—(यः) जो इन्द्रवाच्य ईश्वर (ऋष्वः) प्रकृतियों में दृश्य है या जो परम दर्शनीय है या महान् है; जो (श्रावयत्सखा) उपासकों का परम प्रसिद्ध मित्र है; जिसके सखा अर्थात् उपासक जिसके यशों को सुनाने वाले हैं; (सः) वह इन्द्र (विश्वा इत्) सब ही (जनिमा) जन्म (वेद) जानता है अर्थात् सकल प्राणियों का जन्म जानता है । पुनः वह (पुरुष्टुतः) बहुतों से स्तुत है (तम् तविषम्) उस महाबल (इन्द्रम्) ईश्वर की (विश्वे मानुषाः) सर्व मनुष्य और (यतस्रुचः) सर्व याज्ञिकगण (युगा) सर्वदा (हवन्ते) स्तुति करते हैं ॥१२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिसकी उपासना सब कोई आदिकाल से करते आए हैं आज भी उसी की उपासना करो, वह चिरन्तन ईश्वर है ॥१२॥

स नो वाजेष्वविता पुरूवसुः पुरः स्थाता ।

मघवा वृत्रहा भुवत् ॥१३॥

पदार्थः—(सः) वह इन्द्र नामक ईश्वर (नः) हमारे (वाजेषु) सांसारिक और आध्यात्मिक आदि विविध संग्रामों में (अविता) रक्षक (भुवत्) हो जिसके (पुरुवसुः) बहुत धन हैं; (पुरः स्थाता) जो सब के आगे खड़ा होनेवाला है अर्थात् जो सर्वत्र विद्यमान है। (मघवा) जिसका नाम ही धनवान् धनस्वामी है जो (वृत्रहा) निखिल विघ्नों का प्रहारी है; वह हमारा रक्षक और पूज्य होवे ॥१३॥

भावार्थः—वही संकट में भी रक्षक है; वही धनस्वामी है, उसी की स्तुति प्रार्थना करो ॥१३॥

अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम् ।

इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥१४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोगों को जब-जब (अन्धसः मदेषु) अन्न का आनन्द प्राप्त हो अर्थात् ऋतु-ऋतु में जब-जब अन्न की फसल हो तब-तब (गिरा) निज-निज वाणी से (इन्द्रम्) परमात्मा का (अभि गायत) गान अच्छे प्रकार करो। जो (वीरम्) महावीर, (महा) महान्, (विचेतसम्) और महा प्रज्ञान है; (नाम श्रुत्यम्) जिसका नाम श्रवणीय है। पुनः (शाकिनम्) जो सब कार्यों में समर्थ है,

जिसकी शक्ति अनन्त है; (वचः यथा) जहां तक वाणी की गति हो वहां तक हे मनुष्यो ! उसका गान करो ॥१४॥

भावार्थः—उसकी कृपा से जब-जब कुछ लाभ हो तब तब ईश्वर के नाम पर उत्सव रचें । सब मिलकर उसकी कीर्ति का गान करें ॥१४॥

दुदी रेक्णंस्तन्वे दुदिर्वसुं दुदिर्वाजेषु पुरुहूत वाजिनंम् ।

नूनमर्थं ॥१५॥

पदार्थः—(पुरुहुत) हे सर्वजनाहूत ! हे सर्वमानवसुपूजित देव ! मेरे (तन्वे) शरीर के पोषण के लिये तू (रेक्णः) धन का (ददिः) दाता हो; (वसु ददिः) कोश दे; (वाजेषु) संग्राम उपस्थित होने पर (वाजिनम्) नाना प्रकार के अश्व आदि पशु (ददिः) दो । ये सब (नूनम्) निश्चय करके दो (अथ) और भी जो आवश्यकता हो उसे भी तू पूर्ण कर ॥१५॥

भावार्थः—आपत्ति और सम्पत्ति के सब समयों में ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना करो ॥१५॥

विश्वेषामिरज्यन्तं वसूनां सासह्वांसं चिदस्य वर्पसः ।

कृपयतो नूनमत्यर्थ ॥१६॥

पदार्थः—हम उपासक गण (विश्वेषाम् वसूनाम्) सर्वसम्पत्तियों के (इरज्यन्तम्) स्वामी परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करते हैं जो (सासह्वांसम्) हमारे निखिल विघ्नों, रोगों और मानसिक क्लेशों को निवारण करने वाला है । जो (अस्य वर्पसःचित्) इस संसार के सब रूपों का भी स्वामी है । जो रूप (नूनम्) इस समय या (अथ) आगे (अति कृपयतः) होनेवाला है उस सबका वही स्वामी है ॥१६॥

भावार्थः—परमात्मा सर्वसम्पत्तियों और सर्व रूपरंगों का अधिपति है उसकी उपासना हम करते हैं और इसी प्रकार सब करें ॥१६॥

महः सु वो अरंमिषे स्तवांमहे मीळ्हुषे अरंगमाय जग्मये ।

युज्ञेभिर्गीर्भिर्विश्वमंनुषां मुरुतांमियक्षसि गाये त्वा नमंसा गिरा ॥१७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! हम मनुष्य उस इन्द्र की (स्तवामहे) स्तुति करते हैं जो (मीळ्हुषे) सम्पूर्ण कल्याणों की वर्षा करनेवाला है । पुनः(अरंगमाय) जो अतिशय भ्रमणकारी है और (जग्मये) भक्तों के निकट जाना जिसका स्वभाव है। हे भगवन् तू (विश्वमनुषाम्) सकल मनुष्यजातियों में और (मरुताम्) वायु आदि देवजातियों

में (इयक्षसि) पूज्य और यजनीय है। हे ईश! (यज्ञेभिः) यज्ञों से (गीभिः) निज-निज भाषाओं से, (नमसा) नमस्कार से, (गिरा) स्तुति से, (त्वा) तुझको ही (गाये) मैं गाता हूँ, हम सब गाते हैं॥१७॥

भावार्थः—उसी ईश्वर का सब गान करें जो परमपूज्य है॥१७॥

ये पातयन्ते अज्मभिर्गिरीणां स्नुभिरेषाम्।

यज्ञं महिष्वणीनां सुम्नं तुविष्वणीनां प्राध्वरे॥१८॥

पदार्थः—यहां इन्द्र–प्रकरण है। किन्तु इस ऋचा में इन्द्र का वर्णन नहीं, अतः विदित होता है कि यह इन्द्र सम्बन्धी कार्य्य का वर्णन है। पृथिवी, जल, वायु, सूर्य आदि पदार्थ उसी इन्द्र के कार्य हैं। यहां दिखलाया जाता है कि इसके कार्य्यों से लोगों को सुख और दान मिल रहे हैं। यथा—(ये) जो वायु पृथिवी सूर्यादिक देव (अज्मभिः) स्व स्व शक्तियों से हमारे उपद्रवों को (पातयन्ते) नीचे गिराते हैं और जो देव (एषाम्) इन (गिरीणाम्) मेघों के (स्नुभिः) प्रसरणशील जलों से हमारे दुर्भिक्षादिकों को दूर करते हैं, हे मनुष्यो! उन देवों का (अध्वरे) संसाररूप यज्ञक्षेत्र में (यज्ञम्) दान और (सुम्नं) सुख हम पाते हैं (महिस्वनीनाम्) जिनकी ध्वनि महान् है, पुनः (तुविस्वनीनाम्) जिनकी ध्वनि बहुत है॥१८॥

भावार्थः—ईश्वरीय प्रत्येक पदार्थ से लाभ हो रहा है यह जान उसको धन्यवाद दो॥१८॥

प्रभङ्गं दुर्मतीनामिन्द्र शविष्ठा भर।

रयिमस्मभ्यं युज्यं चोदयन्मते ज्येष्ठं चोदयन्मते॥१९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वसम्पत्तियुक्त! (शविष्ठ) हे महाबलवान् महेश! (दुर्मतीनाम्) दुष्ट बुद्धिवाले जनों के और निकृष्ट बुद्धियों के (प्रभङ्गम्) भञ्जक पदार्थ हमको (आभर) दे। (चोदयन्मते) हे शुभकर्मों में बुद्धिप्रेरक देव! (युज्यम्) सुयोग्य उचित (रयिम्) धन (अस्मभ्यम्) हमको दे। (चोदयन्मते) हे ज्ञान–विज्ञान-प्रेरक! हे चैतन्यप्रद ईश! (ज्येष्ठम्) श्रेष्ठ प्रशस्त हितकारी वस्तु हमको दे॥१९॥

भावार्थः—दुर्जनों और नीच बुद्धियों से जगत् की बहुत हानि होती है। अतः विद्वानों को उचित है कि सुबुद्धि और सुजन जगत् में उत्पन्न करें॥१९॥

सनितः सुसनितरुग्र चित्र चेतिष्ठ सूनृत।

प्रासहा सम्राट् सहुरिं सहन्तं भुज्युं वाजेषु पूर्व्यम्॥२०॥

पदार्थः—(सनितः) हे दाता ! (सुसनितः) हे परमदाता ! (उग्र) हे उग्र ! (चित्र) हे चित्र आश्चर्य्य ! (चेतिष्ठ) हे चितानेवाले ज्ञानविज्ञानप्रद ! (सूनृत) सत्यस्वरूप ! (प्रसहा) हे विघ्नविनाशक ! शत्रुनिवारक ! (सम्राट्) हे महाराज ! तू (सहुरिम्) सहनशील (सहन्तम्) दुःखनिवारक (भुज्युम्) भोग्योचित (पूर्व्यम्) पुरातन पूर्ण धन दे ॥२०॥

भावार्थः—उपासकों के हृदय में ईश्वरीय गुण प्रविष्ट हों अतः नाना विशेषणों द्वारा वर्णन होता है ॥२०॥

ईश्वर के कृपापात्र जन का वर्णन यहाँ से आरम्भ करते हैं ॥

आ स एतु य ईवदाँ अदेवः पूर्तमाददे ।

यथा चिद्वशो अश्व्यः पृथुश्रवसि कानीतेऽस्या व्युष्याददे ॥२१॥

पदार्थः—(सः) वे प्रसिद्ध विद्वान् (आ एतु) इतस्ततः उपदेश के लिये आवें और जायें (यः अदेवः) जो देव-भिन्न मनुष्य (ईवत्) व्यापक सर्वत्र गमनशील और (पूर्तम्) परिपूर्ण ईश्वर को (आददे) स्वीकार करते हैं अर्थात् ईश्वर की आज्ञा पर चलते हैं वे विद्वान् इस प्रकार भ्रमण करें कि (यथा चित्) जिस प्रकार (अश्व्यः) कर्मफलभोक्ता (वशः) वशीभूत जीवात्मा (कानीते) कमनीय—वांछनीय (पृथुश्रवसि) महायशस्वी ईश्वर के निकट (अस्याः) इस प्रभातवेला के (व्युष्टौ) प्रकाश में (आददे) उसकी महिमा को ग्रहण कर सके ॥२१॥

भावार्थः—विद्वान् इस प्रकार उपदेश करें जिससे जीवगण ईश्वराभिमुख हों ॥२१॥

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता ।

दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा ॥२२॥

पदार्थः—उस ईश्वर की कृपा से मैं उपासक (अश्व्यस्य षष्टि सहस्रा) ६०००० साठि सहस्र घोड़ों को (असनम्) रखता हूँ; (अयुता) अन्यान्य पशु मेरे निकट कई एक अयुत हैं (उष्ट्राणाम् विंशतिम् शता) बीस शत ऊंट मेरे पास हैं (श्यावीनाम् दश शता) दश शत घोड़ियाँ मेरे निकट हैं। (त्र्यरुषीणाम्) तीन स्थानों में श्वेत चिह्नवाली (गवाम्) गाएं (दश सहस्रा) दश सहस्र हैं ॥२२॥

भावार्थः—जैसे विवाह के मन्त्र वर, वधू ही पढ़ती हैं सब के लिये नहीं हैं इसी प्रकार जिन राजा महाराजा आदिकों के निकट इतने पशु हों वे इन मन्त्रों को उच्चारण कर ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करें। उसको धन्यवाद दें ॥२२॥

दर्श श्यावा ऋधद्रयो वीतवारास आशवः ।
मथ्रा नेमिं नि वावृतुः ॥२३॥

पदार्थः—उस परमात्मा की कृपा से (दश) दश (श्यावाः) श्याव वर्ण के (आशवः) शीघ्रगामी घोड़े (नेमिम्) रथनेमि को (नि वावृतुः) ले चलते हैं अर्थात् मेरे रथ में दश अश्व जोते जाते हैं जो (ऋधद्रयः) बड़े वेग वाले हैं (वीतवारासः) जिनके पूंछ बड़े लम्बे हैं और (मथ्राः) जो रण में शत्रुओं को मथन करने वाले हैं ॥२३॥

भावार्थः—जिनके निकट इस प्रकार की सामग्री हो वे ऐसी प्रार्थना करें ॥२३॥

दानासः पृथुश्रवसः कानीतस्य सुराधसः ।
रथं हिरण्ययं ददन्मंहिष्ठः सूरिरभूद्वर्षिष्ठमकृत श्रवः ॥२४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (पृथुश्रवसः) महामहा कीर्ति (कानीतस्य) कमनीय (सुराधसः) परम धनाढ्य उस ईश्वर के (दानासः) दान अनेक और अनन्त हैं । मुझ को (हिरण्ययं रथम्) सुवर्णमय रथ (ददत्) देता हुआ (मंहिष्ठः) परमपूज्य होता है । हे मनुष्यो! वह (सूरिः) सब प्रकार के धन का प्रेरक है । (वर्षिष्ठम् श्रवः अकृत) उपासकों के महान् यश को वह फैलाता है ॥२४॥

भावार्थः—ईश्वर से लोग याचना करते हैं परन्तु उसके दान लोग नहीं जानते हैं । उसकी कृपा और दान अनन्त हैं । वह सुवर्णमय रथ देता है जो शरीर है । इससे जीव सब कुछ प्राप्त कर सकता है उसको धन्यवाद दो ॥२४॥

आ नो वायो महे तने याहि मखाय पाजसे ।
वयं हि ते चकृमा भूरि दावने सद्यश्चिन्महि दावने ॥२५॥

पदार्थः—(वायो) हे सर्वगते, सर्वशक्ते ! महेशान ! आप (नः) हमारे (महे तने) महान् विस्तार के लिये, (मखाय) यज्ञ के लिये, (पाजसे) बल के लिये (आ याहि) हमारे गृह पर हृदय में और शुभकर्मों में आवें । आप (भूरि दावने) बहुत-बहुत देने वाले हैं आप (महि दावने) महान् वस्तु देने वाले हैं, हे भगवन् (सद्यः चित्) सर्वदा (ते) उस आपके लिये (वयम् हि) हम मनुष्य (चकृमा) स्तुति करते हैं, आप की कीर्ति गाते हैं ॥२५॥

भावार्थः—वह ईश्वर हमारी सम्पूर्ण आवश्यकताएं जानता और यथाकर्म पूर्ण करता है। उससे बढ़कर कौन दानी है। हे मनुष्यो! उसी की स्तुति प्रार्थना करो ॥२५॥

यो अश्वेभिर्वहते वस्त उस्रास्त्रिः सप्त सप्ततीनाम्।

एभिः सोमेभिः सोमसुद्भिः सोमपा दानाय शुक्रपूतपाः ॥२६॥

पदार्थः—(यः) जो सर्वग ईश (अश्वेभिः) संसार के साथ ही (वहते) वहता है अर्थात् इस जगत् के साथ ही सब कार्य्य कर रहा है जो (उस्राः) प्राणियों की इन्द्रियों में व्याप्त होकर विद्यमान है जो इन्द्रिय (त्रिः सप्त) त्रिगुण सात हैं (सप्ती-नाम्) ७० (सत्तर) के जो (एभिः) इन सोम प्रभृति ओषधियों के साथ और (सोम-सुद्भिः) उन ओषधियों को काम में लाने वाले प्राणियों के साथ विद्यमान है। (सोमपाः) हे सोमरक्षक (शुक्रपूतपाः) हे शुचि और पवित्र जीवों के रक्षक देव! (दानाय) महादान के लिये आप इस रचना को रचते हैं ॥२६॥

भावार्थः—हमारी सभी इन्द्रिय-शक्तियों का मूल स्रोत स्वयं विश्व का रचयिता परमेश्वर है॥२६॥

यो म इमं चिदु त्मनामन्दच्चित्रं दावने।

अरट्वे अक्षे नहुषे सुकृत्वनि सुकृत्तराय सुक्रतुः ॥२७॥

पदार्थः—(यः) जो (सुक्रतुः) अपनी शोभन प्रज्ञा तथा शोभन कर्मों द्वारा सुबुद्धि एवं सुकर्मों का प्रेरक प्रभु (अरट्वे) [अ-लट्वे] बालकपन से मुक्त, (अक्षे) व्यवहार कुशल [ऋ० द०], (सुकृत्वनि) शोभन कर्म करने का संकल्प धारण किये हुए (नहुषे) मनुष्य में (सुकृत्तराय) और अधिक सुष्ठुकर्म की प्रवृत्ति के हेतु तथा (दावने) दानशीलता का आधान करने के लिये (मे) मेरे (इमं) इस पूर्ववर्णित (चित्रं) आश्चर्यजनक रूप से बहुविध ऐश्वर्य को (त्मना) स्वयं अपने आप (अमन्दत्) भुगवाता है ॥२७॥

भावार्थः—परमप्रभु ने संसार में सुकर्मा को जो भोगसाधन प्रदान कर रखे हैं, वे सब साधन इन प्रयोजन से दिये हैं कि उपभोक्ता स्वयं दान-शील बने ॥२७॥

उचथ्ये३ वपुषि यः स्वराळुत वायो घृतस्नाः।

अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितं प्राज्म तदिदं नु तत् ॥२८॥

पदार्थः—(वायो) हे नियन्ता परमेश्वर ! (यः) जो आप (उचथ्ये) प्रशंसनीय, स्तुत्य (वपुषि) इस आश्चर्यजनक प्रपञ्च में [वपुस्=Ved. A wonderful phenomenon आप्टे] (स्वराट्) स्वयं अध्यक्षवत् विराजमान हैं (उत) और (घृतस्नाः) ज्ञानरूप प्रकाश को टपकाते हैं ! वह आप साधक को उसकी (अश्वेषितं) आशुगति प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित, (रजेषितं) अनुराग अथवा लवलीनता प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित तथा (शुनेषितं) परमानन्द प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित (अज्म) भोग्य को (प्र) प्रदान करते हैं; (नु) निश्चय ही (इदं) यह मुझे प्राप्त सब भोग्य(तत्, तत्) वही, वही ही है ॥२८॥

भावार्थः—इस सारे आश्चर्यजनक प्रपञ्च (संसार) का रचयिता परमेश्वर ही इसका एकमात्र अध्यक्ष है; उसने ही सारे भोग साधक को प्रदान किये हुए हैं—और ये सब भोग साधक को गतिशीलता, लवलीनता और परमानन्द प्रदान करते हैं ॥२८॥

विशेष—इस सूक्त के २५ से २८ तक के मन्त्रों का देवता 'वायु' है। वायु का अर्थ यहाँ—'नियन्ता' है; =नियन्ता परमेश्वर। परमेश्वर ने ऐश्वर्य प्रदान कर मनुष्य को सामर्थ्यवान् बनाया है परन्तु इस शर्त के साथ कि यह सारा ऐश्वर्य अभावपीडित की पीडा दूर करने के लिये हो। यही भाव अगले मन्त्र में व्यक्त किया गया है ॥२८॥

अध प्रियमिषिराय षष्टिं सहस्रासनम् ।
अश्वानामिन्न वृष्णाम् ॥२९॥

पदार्थः—(अध) अनन्तर मैं इन्द्र, ऐश्वर्यवान् मानव (वृष्णां) बलशाली (अश्वानां) अश्वों के (न) समान बलशाली (सहस्रा षष्टिं) साठ सहस्र धनों से—अनेक प्रकार के भौतिक, शारीरिक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक आदि पदार्थों से निर्मित ऐश्वर्य को, जो (इषिराय) इच्छुक, अभावग्रस्त के लिये (प्रियं) अभीष्ट है, उसका मैं (असनम्) सेवन करूं ॥२९॥

भावार्थः—ऐश्वर्यशाली इन्द्र का ऐश्वर्य, गर्जमन्दों-अभावग्रस्तों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही संचित रहना चाहिये ॥२९॥

गावो न यूथमुप यन्ति वध्रय उप मा यन्ति वध्रयः ॥३०॥

पदार्थः—(वध्रयः) अतिवृद्ध [ऋ० द०] बैल (न), जैसे (गावः) गायों के अपने (यूथं) समूह का (उप यन्ति) आश्रय लेते हैं; ऐसे ही (वध्रयः) [धन आदि से] निर्बल जन (मा उपयन्ति) मेरा आश्रय लेते हैं ॥३०॥

भावार्थः - ऐश्वर्यवान् यह समझे कि अकिंचन जनों का भरण करना मेरा कर्त्तव्य है ॥३०॥

अध यच्चारथे गणे शतमुष्ट्राँ अचिक्रदत् ।

अध श्वित्नेषु विंशतिं शता ॥३१॥

पदार्थः—(अध) अनन्तर (यत्) जब (चारथे) अपने चलते (गणे) समूह में से (शतं, उष्ट्रान्) सैंकड़ों ऊंटों को (अध) और अनन्तर (श्वित्नेषु) शुभ्रवर्ण के पशुओं में से (विंशति शता) दो सहस्रों का (अचिक्रदत्) आह्वान करता है ॥३१॥

भावार्थः—ऐश्वर्यवान् व्यक्ति (इन्द्र) अपने यहां एकत्रित उष्ट्र आदि पशुओं में से अनेक पशुओं को दान के लिये बुलाता है अर्थात् दान करने का संकल्प करता है ॥३१॥

शतं दासे बल्बूथे विप्रस्तरुक्ष आ ददे ।

ते ते वायविमे जना मदन्तीन्द्रगोपा मदन्ति देवगोपाः ॥३२॥

पदार्थः—(बल्बूथे) बलशाली के (शतं दासे) सैंकड़ों पदार्थों के ऐश्वर्य के दाता होने पर (तरुक्षः) तारक (विप्रः) बुद्धिमान् उस ऐश्वर्य को (आ, ददे) स्वीकार कर लेता है। हे (वायो) नियन्ता परमेश्वर! (ते ते) वे (इमे) और ये सब (ते जनाः) तेरे उपासक जन(इन्द्र गोपाः) ऐश्वर्यशाली द्वारा रक्ष्यमाण होकर(मन्दन्ति) प्रसन्न रहते हैं और (देवगोपाः) विद्वानों द्वारा सुरक्षित हुए (मदन्ति) आनन्द मनाते हैं ॥३२॥

भावार्थः—नियन्ता प्रभु की प्रेरणा के अनुसार राजा आदि ऐश्वर्यशाली वीर पुरुषों से धनादि ऐश्वर्य उपलब्ध करने वाले साधक सर्व प्रकार से सुरक्षित रहते हैं ॥३२॥

अध स्या योषणा मही प्रतीची वशमश्व्यम् ।

अधिरुक्मा वि नीयते ॥३३॥

पदार्थः—(अध) ऐश्वर्यप्राप्ति कराने के पश्चात् (मही) महती पूज्या (प्रतीची) अनुकूल (स्या) प्रसिद्ध (अधिरुक्मा) सुवर्णालङ्कारविभूषिता (योषणा) स्त्री (अश्व्यं वशं) संयमी विद्वान् पुरुष की ओर (विनीयते) विनयपूर्वक पहुँचायी जाती है ॥३३॥

भावार्थः—ज्ञान, अन्न, कीर्ति आदि धनों की यथेच्छ प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति को अनुकूल एवं विनयी स्त्रीसे विवाह करना चाहिये ॥३३॥

अष्टम मण्डल में यह छियालीसवां सूक्त समाप्त हुआ॥

अथाष्टादशर्चस्य सप्तचत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१८ त्रित आप्त्य ऋषिः ॥ १-१३ आदित्याः । १४–१८ आदित्या उषाश्च देवते ॥ छन्दः—१ जगती । ४, ६—८, १२ निचृज्जगती । २, ३, ५, ९, १३, १५, १६, १८ भुरिक् त्रिष्टुप् । १०, ११, १७ स्वराट् त्रिष्टुप् । १४ त्रिष्टुप् ॥ स्वरः–१, ४, ६–८, १२ निषादः । २, ३, ५, ९–११, १३–१८ धैवतः ॥

इस सूक्त में श्रेष्ठ नरों की स्तुति की जाती है ॥

महिं वो महतामवो वरुंण मित्रं दाशुषें । यमांदित्या अभि द्रुहो रक्षंथा नेमघं नंशदनेहसों व ऊतयंः सुऊतयों व ऊतयंः ॥१॥

पदार्थः—(वरुण) हे वरणीय राज प्रतिनिधे ! (मित्र) हे ब्राह्मण प्रतिनिधे! हे अन्यान्य श्रेष्ठ मानवगण ! (महताम् वः) आप लोग बहुत बड़े हैं और (दाशुषे) सज्जन, न्यायी परोपकारी जनों के लिये आप लोगों का (अवः) रक्षण भी (महि) महान् है । (आदित्याः) हे सभाध्यक्ष पुरुषो ! (यम्) जिस सज्जन को (द्रुहः) द्रोहकारी दुष्ट से बचाकर (अभि रक्षथ) आप सब प्रकार रक्षा करते हैं (ईम्) निश्चय उसको पाप क्लेश और उपद्रव आदि (न नशत्) प्राप्त नहीं होता, क्योंकि (वः ऊतयः) आप लोगों की सहायता, रक्षा और निरीक्षण (अनेहसः) निष्पाप, निष्कारण और हिंसारहित हैं; (वः ऊतयः सु ऊतयः) आपकी सहायता अच्छी सहायता है। (वः ऊतयः) आपकी रक्षा प्रशंसनीय है ॥१॥

भावार्थः—अधिलोकार्थ में वरुण, मित्र, अर्य्यमा, आदित्य आदि शब्द लोकवाचक होते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण वेद देवतास्तुतिपरक ही प्रतीत होते हैं तथापि इनकी योजना अनेक प्रकार से होती है। देवता शब्द भी वेद में सर्ववाचक हैं क्योंकि इषु देवता, धनुष देवता, ज्या देवता, अश्व देवता, मण्डूक देवता, वनस्पति यूप देवता आदि शतशः प्रयोग उस भाव को दिखला रहे हैं। सम्पूर्ण ऋचा का आशय यह है कि मनुष्य के प्रत्येक वर्ग के मुख्य-मुख्य पुरुष राष्ट्र-सभासद हों और निरपेक्ष और निःस्वार्थ भाव से मनुष्य जाति की हित-चिन्ता में सदा लगे रहें और जो सर्वोत्तम कार्य करके अपने प्रतिवासियों, ग्रामीणों और देशियों को विशेष लाभ पहुँचाते हों उन्हें सदा पारितोषिक दान देना चाहिये। और देश में पापों का उदय न हो इसका सदा उद्योग करते रहना चाहिये ॥१॥

विदा देवा अघानामादित्यासो अपाकृतिम् । पक्षा वयो यथोपरि व्य१स्मे शर्म यच्छतानेहसों व ऊतयंः सुऊतयों व ऊतयंः ॥२॥

पदार्थः—(देवाः) हे दिव्यगुणयुक्त मनुष्यो ! (आदित्याः) हे सभाध्यक्षजनो ! हे माननीय श्रेष्ठ पुरुषो ! आप लोग (अघानाम्) निखिल पाप दुर्भिक्ष रोगादि क्लेशों को (अपाकृतिम् विद) दूर करना जानते हैं। इसलिये (यथा) जैसे (वयः) पक्षिगण (उपरि) अपने बच्चों के ऊपर (पक्षा) रक्षार्थ दोनों पक्षों को फैला देते हैं तद्वत् (अस्मे) हम लोगों के ऊपर आप (शर्म) मंगलमय कल्याणकारी रक्षण (वि यच्छत) विस्तीर्ण करें (अनेहसः) इत्यादि पूर्ववत् ।।२।।

भावार्थः—विद्वानों, सभासदों, श्रेष्ठ पुरुषों को उचित है कि उपद्रवों की शान्ति का उपाय जानें और कार्य्य में लावें ।।२।।

व्य१स्मे अधि शर्म तत्पक्षा वयो न यन्तन । विश्वानि विश्ववेदसो वरूथ्या मनामहेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥३॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्षजनो ! (न वयः पक्षा) जैसे पक्षिगण अपने शिशुओं के ऊपर पक्ष रखते हैं तद्वत् आप (अस्मे अधि) हम मनुष्यों के ऊपर (तत् शर्म) उस कल्याण को (वि यन्तन) विस्तीर्ण कीजिये। (विश्ववेदसः) हे सर्वधनोपेत श्रेष्ठ जनो ! हम प्रजागण (विश्वानि) समस्त (वरूथ्या) गृहोचित धन (मनामहे) आपसे चाहते हैं; कृपाकर उन्हें पूर्ण करें। (अनेहसः) इत्यादि पूर्ववत् ।।३।।

भावार्थः—श्रेष्ठ सभासदों का कर्त्तव्य है कि वे सामान्य प्रजाजन की सदा-सर्वदा सहायता करें ।।३।।

यस्मा अरासत क्षयं जीवातुं च प्रचेतसः । मनोर्विश्वस्य घेदिम आदित्या राय ईशतेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥४॥

पदार्थः—(प्रचेतसः) परमज्ञानी वे सभासद्जन (यस्मै) जिस सज्जन को (क्षयम्) निवासार्थ गृह (च) और (जीवातुम्) जीवन साधनोपाय (अरासत) देते हैं (घ इत्) निश्चय (इमे आदित्याः) ये सभासद् उस (विश्वस्य मनोः) सर्वकृतज्ञ मनुष्य के (रायः) धन के ऊपर (ईशते) अधिकार भी रखते हैं। (अनेहसः) इत्यादि पूर्ववत् ।।४।।

भावार्थः—इसका आशय यह है कि सभासद् जिसको पारितोषिकरूप धनादि देवें उसके धन के वे रक्षक भी होवें ।।४।।

परि णो वृणजन्नघा दुर्गाणि रथ्यो यथा । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मण्यादित्यानामुतावस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥५॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (रथ्यः) रथी=सारथि (दुर्गाणि) दुर्गम, ऊंच-नीच मार्गों को छोड़ देता है तद्वत् (नः) हम मनुष्यों को (अघा) पाप, रोग, अकिंचनता इत्यादि क्लेश (परि वृणजन) छोड़ देवें। अर्थात् हमारे निकट क्लेश न आने पावें इसके लिये (इन्द्रस्य) परमात्मा या सभापति के (शर्मणि) मंगलमय शरण में (स्याम इव) सदा निवास करें तथा (आदित्यानाम्) सभासदों के (अवसि) रक्षण और साहाय्य में सदा स्थित रहें। (अनेहसः) इत्यादि पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—हम लोग सदा ईश्वर आचार्य्य, गुरु, श्रेष्ठजन तथा धर्मात्मा सभासदों के संगम में निवास करें जिससे न तो पाप और न आपत्तियां ही हमारे निकट आवें ॥५॥

परिह्वृतेदना जनो युष्मादत्तस्य वायति। देवा अदभ्रमाश वो यमादित्या अहेतनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥६॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष जनो! (परिह्वृता इव) क्लेश से ही (अना) प्राण धारण करता हुआ (जनः) जन (युष्मादत्तस्य) आप से पुरस्कार स्वरूप धन पाकर (वायति) जगत् में बढ़ता है। (देवाः) हे देवो! (आशवः) हे शीघ्रगामी जनो! (आदित्याः) हे सभ्य पुरुषो! (यम्) जिस सज्जन के निकट (अहेतनः) आप जाते हैं वह (अदभ्रम्) अधिक आनन्द, बहुत धन और बहुत सुख पाता है। (अनेहसः) इत्यादि पूर्ववत् ॥६॥

भावार्थः—राष्ट्र-नियमानुकूल चलने से जगत् में कल्याण होता है। राष्ट्र चलाने वाले विद्वान् हितैषी निःस्वार्थी और विषय-विमुख होने चाहियें ॥६॥

न तं तिग्मं चन त्यजो न द्रासदभि तं गुरु। यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वमनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥७॥

पदार्थः—(तम्) उस पुरुष के ऊपर (तिग्मम् चन) तीक्ष्ण (त्यजः) क्रोध भी (न द्रासत्) नहीं गिरता है और (तम्) उसके निकट (गुरु) महान् क्लेश भी (न अभि द्रासत्) नहीं आता, (आदित्यासः) हे सभासदो! (यस्मै उ) जिसको आप लोग (सप्रथः) अति विस्तीर्ण (शर्म) शरण (अराध्वम्) देते हैं। (अनेहसः) इत्यादि पूर्ववत् ॥७॥

भावार्थः—अपने व्यवहार और आचार इस प्रकार बना रखे कि उसके ऊपर कोई आपत्ति न पड़े ॥७॥

युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु। यूयं महो न एनसो यूयमर्भादुरुष्यतानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥८॥

पदार्थः—(देवाः) हे सभ्यपुरुषो! (वर्मसु) कवचों में होकर अर्थात् कवचों को धारण कर (युध्यन्तः इव) योद्धा शूरवीर के समान हम (अपि) भी (युष्मे) आपके अन्तर्गत (स्मसि) विद्यमान हैं। और हे सभ्यो! (यूयम्) आप (महः एनसः) बड़े पाप, महान् क्लेश और आपत्ति से (नः) हमको (उरुष्यत) बचाते हैं और (अर्भात्) छोटे-छोटे अपराधों और दुःखों से भी (यूयम्) आप हमको बचाते हैं ॥८॥

भावार्थः—ईश्वरीय और राष्ट्र सम्बन्धी आज्ञाओं के मानने से मनुष्य सुखी रहता है ॥८॥

अदितिर्न उरुष्यत्वदितिः शर्म यच्छतु। माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य चानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥९॥

पदार्थः—(अदितिः) प्रजास्थापित अखण्डनीया राजसभा जो (मित्रस्य) ब्राह्मण-दल की, (रेवतः) धनवान् (अर्यम्णः) वैश्य-दल की, (च) तथा (वरुणस्य) राज-दल की (माता) निर्मात्री है वह (नः) हमारी (उरुष्यतु) रक्षा करे। पुनः (अदितिः) वह सभा (शर्म) कल्याण, शरण, सुख और आनन्द (यच्छतु) देवे ॥९॥

भावार्थः—समस्त प्रजाएं मिलकर सुदृढ़तर सभा स्थापित करें। वहाँ देश के बुद्धिमान्, विद्वान्, शूरवीर और प्रत्येक दल के मुख्य मुख्य पुरुष और नारियां सभासद बनाए जायें जो देश का सर्वप्रकार से हित किया करें ॥९॥

यद्देवाः शर्म शरणं यद्भद्रं यदनातुरम्। त्रिधातु यद्वरूथ्यं१ तदस्मासु वि यन्तनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥१०॥

पदार्थः—(देवाः) दुष्टों के जीतने वाले हे विजयी सभासदो! (यत् शर्म) जो सुखसम्पत्ति, (शरणम्) जो रक्षण, (यद् भद्रम्) जो भद्र, (यद् अनातुरम्) जो रोगरहित वस्तु, (त्रिधातु) तीन प्रकार के धातु (यद् वरूथ्यम्) गृहोचित उपकरण जगत् में है (तत्) उस सब को (अस्मासु) हम प्रजाजनों में (वि यन्तन) स्थापित कीजिये ॥१०॥

भावार्थः—राज्यसम्बन्धी कर्मचारियों, सभासदों, प्रतिनिधियों तथा अन्यान्य पुरुषों को उचित है कि सब प्रकार अपने देश को परम समृद्ध बनाने की चेष्टा करें ॥१०॥

आदित्या अव हि ख्यताधि कूलादिव स्पशः। सुतीर्थमर्वतो यथानु नो नेषथा सुगमनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥११॥

पदार्थः—(आदित्याः) हे सभाधिकारि जनो ! (अवख्यत हि) नीचे हम लोगों को देख; ऐसे ही—जैसे (अधि कूलात् इव) नदी के तट से (स्पशः) पुरुष नीचे जल देखता है (तद्वत्) । पुनः (यथा) जैसे अश्वरक्षक (अर्वतः) घोड़ों को (सुतीर्थम्) अच्छे चलने योग्य मार्ग से ले चलते हैं तद्वत् (नः) हम को (सुगम्) अच्छे मार्ग की ओर (अनु नेषथ) ले चलो ॥११॥

भावार्थः—विद्वानों सभासदों तथा अन्य हितकारी पुरुषों को उचित है कि वे प्रजाओं को सुमार्ग में ले जायं ॥११॥

नेह भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत । गवे च भद्रं धेनवे वीराय च श्रवस्यतेऽनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥१२॥

पदार्थः—हे सभाधिष्ठातृवर्ग ! (इह) इस संसार में (रक्षस्विने) राक्षस के साथी को भी (भद्रम् न) कल्याण न हो [तब राक्षस को कहां से हो सकता है !] (अवयै न) जो हमको मारने के लिये ताकता फिरता है उसका भद्र न हो (च) किन्तु (गवे) हमारे गौ आदि पशुओं को (धेनवे च) नवप्रसूतिका गौ आदि को (भद्रम्) कल्याण हो (च) तथा (श्रवस्यते वीराय) यशःकामी शूरवीर का कल्याण हो ॥१२॥

भावार्थः—दुष्ट निषिद्ध और हानिकारी कर्म करने वाले राक्षस कहलाते हैं। उन्हें शिक्षा और दण्ड देकर सुपथ पर लाना चाहिये ॥१२॥

यदाविर्यदपीच्यं देवासो अस्ति दुष्कृतम् । त्रिते तद्विश्वमाप्त्य आरे अस्मद्दधातनानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥१३॥

पदार्थः—(देवासः) हे दिव्यगुणयुक्त सभासदो ! (यद् दुष्कृतम्) जो दुर्व्यसन, पाप और क्लेश आदि आपत्तियां (आविः) प्रकाशित हैं और जो (अपीच्यम्) अन्तर्हित=गुप्त हैं और (यद्) जो (विश्वम्) समस्त दुर्व्यसनादि पाप (आप्त्ये त्रिते)

व्याप्त तीन लोक में विद्यमान हैं; उन सबको (अस्मद् आरे) हम से दूर स्थल में (दधातन) रख दो। (अनेहसः) इत्यादि पूर्ववत् ॥१३॥

भावार्थः—हे भगवन्! इस संसार में नाना विघ्न, नाना उपद्रव, विविध क्लेश और बहुविधि प्रलोभन विद्यमान हैं; इन सब से हम को दूर करो ॥१३॥

यच्च गोषु दुःष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिवः। त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वहानेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥१४॥

पदार्थः—(दिवः दुहितः) हे दिवः कन्ये बुद्धे! यद्वा हे उषो देवि! (यद् दुःस्वप्न्यम्) जो दुःस्वप्न=अनिष्टसूचक स्वप्न (गोषु) इन्द्रियों में होता है अर्थात् इन्द्रियों के सम्बन्ध में होता है और (यत् च) जो दुष्ट स्वप्न (अस्मे) हमारे अन्यान्य अवयवों के सम्बन्ध में होता है, (विभावरि) हे प्रकाशमय देवि मते! (तत्) उस सब दुःस्वप्न को (आप्त्याय त्रिताय) व्यापक जगत् के लिये (परा वह) कहीं दूर फेंक देवें। शेष पूर्ववत् ॥१४॥

भावार्थः—जाग्रदवस्था में अनुभूत पदार्थ स्वप्नावस्था में दृढ़ होते हैं। प्रातःकाल लोग अधिक स्वप्न देखते हैं। अतः उषा देवी का सम्बोधन किया गया है। यद्वा (दिवः दुहिता) प्रकाश की कन्या बुद्धि है क्योंकि इसी से आत्मा को प्रकाश मिलता है। अतः बुद्धि सम्बोधित हुई है। स्वप्न से किसी प्रकार का भय करना उचित नहीं अतः बुद्धि से कहा जाता है कि स्वप्न को दूर करो ॥१४॥

निष्कं वा घा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिवः। त्रिते दुःष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥१५॥

पदार्थः—(दिव. दुहितः) हे प्रकाशकन्ये बुद्धि देवि! (वा) अथवा (निष्कम्) आभरण (कृणवते) धारण करने वाले (वा) अथवा (स्रजम्) माला पहिनने वाले अर्थात् आनन्द के समय में भी मुझको जो दुःस्वप्न प्राप्त होता है (तत् सर्वम् दुःस्वप्न्यम्) उस सब दुःस्वप्न को (आप्त्ये) व्याप्त (त्रिते) तीनों लोकों में (परि दद्मसि) हम रखते हैं। अर्थात् वह दुःस्वप्न इस विस्तृत संसार में कहीं चला जाय। शेष पूर्ववत् ॥१५॥

भावार्थः—बुद्धि से विचार करना चाहिये कि स्वप्न क्या वस्तु है? जब शिर में गरमी पहुंचती है तब निद्रा अच्छी तरह नहीं होती, उस समय

लोग नाना स्वप्न देखते हैं, इसलिये शिर को सदा शीतल रखे। पेट को सदा शुद्ध रखें। बल वीर्य्य से शरीर को नीरोग बनावें। व्यसन में कभी न फंसें। कोई भयंकर काम न करें। इस प्रकार के उपायों से स्वप्न कम होंगे ॥१५॥

तदंन्नाय तदंपसे तं भागमुंपसेदुषें । त्रिताय च द्विताय चोषो दुःष्वप्न्यं वहानेहसों व ऊतयंः सुऊतयों व ऊतयंः ॥१६॥

पदार्थः—(उषः) हे देवि उषे ! हे प्रकाशप्रदात्रि बुद्धे ! (तदन्नाय) उस अन्नवाले (तदपसे) उस कर्म वाले और (तम् भागम्) उस-उस भाग को (उपसेदुषे) प्राप्त करने वाले अर्थात् जागरावस्था में जो-जो अन्न, जो-जो कर्म और जो-जो भोग विलास करता है वे वे ही पदार्थ जिसको स्वप्न में भी प्राप्त हुए हैं ऐसा जो (त्रिताय) समस्त संसार है और (द्विताय) एक-एक जीव है उस संसार और उस जीव को (दुःस्वप्न्यम्) जो दुःस्वप्न प्राप्त होता है उसको (वह) कहीं अन्यत्र ले जाय। यह मेरी प्रार्थना है; शेष पूर्ववत् ॥१६॥

भावार्थः—तीनों लोकों का एक नाम त्रित है, क्योंकि यह नीचे ऊपर और मध्य इन तीनों स्थानों में जो तत=व्याप्त हो वह त्रित=त्रितत। द्वित=यह नाम जीव का इसलिये है कि इस लोक और परलोक से सम्बन्ध रखता है। अथवा इस शरीर में भी रहता है और इसको छोड़ अन्यत्र भी रहता है अतः उसको द्वित कहते हैं। अथवा कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय द्वारा इसका कार्य्य होता है अतः इसको द्वित कहते हैं।

मन्त्र का आशय यह है कि दुःस्वप्न से मानसिक और शारीरिक हानि होती है। अतः शरीर को ऐसा नीरोग रखे कि वह स्वप्न न देखे। प्रातःकाल का सम्बोधन इसलिये भी वारंवार किया गया है कि उस समय शयन करना उचित नहीं। एवं स्वप्न भी एक आश्चर्य्य-जनक मानसिक व्यापार है अतः इसका वर्णन वेद में पाया जाता है शेष पूर्ववत् ॥१६॥

यथां कलां यथां शफं यथं ऋणं सन्नयामसि । एवा दुःष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये सं नंयामस्यनेहसों व ऊतयंः सुऊतयों व ऊतयंः ॥१७॥

पदार्थः—मनुष्य (यथा) जैसे (कलाम्) अपनी अंगुली से मृत नख को कटवा कर (संनयामसि) दूर फेंक देते हैं, (यथा शफम्) जैसे पशुओं के मृत खुर को कटवा कर अलग कर देते हैं अथवा (यथा) जैसे (ऋणम्) ऋण को दूर करते हैं (एव)

वैसे ही (आप्त्ये) व्यापक संसार में जो (दुःस्वप्न्यम्) दुःस्वप्न विद्यमान हैं (सर्वम्) उन सब को (संनयामसि) दूर फेंक देते हैं ॥१७॥

भावार्थः—ईश्वर से प्रार्थना करे कि वह दुःस्वप्न न देखे, क्योंकि उससे हानि होती है। इसका आशय यह है कि अपने शरीर और मन को ऐसा स्वस्थ, शान्त, नीरोग और प्रसन्न बना रखे कि वह स्वप्न न देखे ॥१७॥

अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम् । उषो यस्माद्दुःष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छत्वनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः ॥१८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वयम्) हम सब मिलकर (अद्य) आजकल (अजैष्म) निखिल विघ्नों, दुःखों, क्लेशों और मानसिक आधियों को जीतें। उनको जीतकर नाना भोग-विलास (असनाम) प्राप्त करें (च) और (अनागसः) निरपराध और निष्पाप (अभूम) होवें (उषः) हे उषा देवि ! (यस्मात् दुःस्वप्न्यात्) जिस दुःस्वप्न से (अभैष्म) हम डरें (तत्) वह पापस्वरूप दुःस्वप्न (अप उच्छतु) दूर होवे; शेष पूर्ववत् ॥१८॥

भावार्थः—इसका आशय यह है कि कल्पित अवस्तु और संकल्पमात्र में स्थित पदार्थ पदार्थों से न डर कर और उनकी चिन्ता न करके हम मनुष्य निखिल आपत्तियों को दूर करने की चेष्टा करें जिससे हम सुखी होकर ईश्वर की और मनुष्यों की सेवा कर सकें। हे मनुष्यो ! जिससे यह अपूर्व जीवन सार्थक सफल और हितकर हो वैसी चेष्टा सदा किया करो ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह सैंतालीसवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चदशर्चस्याष्टाचत्वारिंशत्तमस्य सूक्तस्य १—१५ प्रगाथः काण्व ऋषिः ॥ सोमो देवता ॥ छन्दः—१, २, १३ पादनिचृत्त्रिष्टुप् । १२, १५ आर्चीस्वराट् त्रिष्टुप् । ३, ७—९ विराट् त्रिष्टुप् । ४, ६, १०, ११, १४ त्रिष्टुप् । ५ विराड् जगती ॥ स्वरः—१—४, ६—१५ धैवतः । ५५ निषादः ॥

इस सूक्त में अन्न की प्रशंसा है ॥

स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधाः स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य ।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि सञ्चरन्ति ॥१॥

पदार्थः—मैं (वयसः) अन्न (अभक्षि) खाऊँ। हम मनुष्यजाति अन्न खायं किन्तु मांस न खायं। कैसा अन्न हो जो (स्वादोः) स्वादु हो; जो (वरिवोवित्तरस्य) सत्कार के योग्य हो, जिसको देख कर ही चित्त प्रसन्न हो। पुनः (यम्) जिस अन्न को (विश्वे) सकल (देवाः) श्रेष्ठ (उत) और (मर्त्यासः) साधारण मनुष्य (मधु ब्रुवन्तः) मधुर कहते हुए (अभि संचरन्ति) खाते हैं। उस अन्न को हम सब खायं। खाने वाले कैसे हों—(सुमेधाः) सुमति और बुद्धिमान् हों और (स्वाध्यः) सुकर्मा, स्वाध्यायशील, उद्योगी और कर्मपरायण हों ॥१॥

भावार्थः—इसका आशय यह है कि जो जन, बुद्धिमान्, परिश्रमी, स्वाध्यायनिरत हैं उनको ही मधुमय स्वादु अन्न प्राप्त होते हैं; जो जन आलसी, कुकर्मी और असंयमी हैं वे यदि महाराज और महामहा श्रेष्ठी भी हैं तो भी उन्हें अन्न मधुर और स्वादु नहीं मालूम होते क्योंकि उनका क्षुधाग्नि अतिशय मन्द हो जाता है। उदराशय बिगड़ जाता है। परिपाक शक्ति बहुत थोड़ी हो जाती है। इस कारण उन्हें मधुमान् पदार्थ भी अति कटु लगने लगते हैं; उत्तमोत्तम भोज्य वस्तु को भी उनका जी नहीं चाहता। अतः कहा गया है कि परिश्रमी, नीरोग और संयमी आदमी ही अन्न का स्वाद ले सकता है। द्वितीय बात इसमें यह है कि मनुष्य और श्रेष्ठ मनुष्यों को उचित है कि मांस, अपवित्र अन्न, जिससे शरीर की नीरोगिता में बाधा पड़े और जो देखने में घृणित हो वैसे अन्न न खायं ॥१॥

पुनः अन्न का ही वर्णन करते हैं ॥

अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य ।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः ॥२॥

पदार्थः—(इन्दो) हे अन्नश्रेष्ठ ! (च) पुनः जब तू (अन्तः) हृदय के भीतर (प्रागाः) जाता है तब तू (अदितिः) अदीन=उदार होता है। पुनः (दैव्यस्य हरसः) दिव्य क्रोध का भी (अवयाता) दूर करने वाला होता है। पुनः (इन्द्रस्य) जीव का (सख्यम्) हित (जुषाणः) सेवता हुआ (राये अनु ऋध्याः) ऐश्वर्य की ओर ले जाता है। ऐसे ही जैसे (श्रौष्टी इव धुरम्) शीघ्रगामी अश्व रथ को अभिमत प्रदेश में लेजाता है ॥२॥

भावार्थः—प्रथम यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जड़ वस्तु को सम्बोधित कर चेतनवत् वर्णन करने की रीति वेद में है। अतः पदानुसार ही इसका अर्थ सुगमता के लिये किया गया है। इसी को प्रथम पुरुषवत् वर्णन समझ लीजिये। अब आशय यह है—जब वैसे मधुमान् अन्न शरीर के

आभ्यन्तर जाते हैं तो इनसे अनेक सुगुण उत्पन्न होते हैं। इनसे शुद्ध रक्त और मांस आदि बनते हैं। शरीर की दुर्बलता नहीं रहती। मंन प्रसन्न रहता है। परन्तु जब पेट में अन्न नहीं रहता या अन्न के अभाव से शरीर कृश हो जाता है। तब क्रोध भी बढ़ जाता है। वह क्रोध भी अन्नप्राप्ति से निवृत्त हो जाता है शरीर नीरोग और पुष्ट रहने से दिन-दिन धनोपार्जन में मन लगता है। अतः कहा जाता है कि अन्न क्रोध को दूर करता है। इत्यादि ॥२॥

अन्न-भक्षण का लाभ कहते हैं ॥

अपा॑म॒ सोम॑म॒मृता॑ अभू॒माग॑न्म॒ ज्योति॒रवि॑दाम दे॒वान्।
किं नू॒नम॒स्मान्कृ॑णव॒दरा॑तिः॒ किमु॑ धू॒र्तिर॑मृत॒ मर्त्य॑स्य ॥३॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वश्रेष्ठ ! रसमय अन्न (अपाम) तुमको हम पीवें। (अमृताः अभूम) अमृत होवें; (ज्योतिः अगन्म) शरीरशक्ति या परमात्मज्योति को प्राप्त हों; (देवान्) इन्द्रियशक्तियों को (अविदाम) प्राप्त करें; (अस्मान्) हमारा (नूनम्) इस अवस्था में (अरातिः) आन्तरिक शत्रु (किं कृणवत्) क्या करेगा! (अमृत) हे ईश ! हे मरणरहित देव ! (धूर्तिः) हिंसक जन (मर्त्यस्य) मरणधर्मी भी मुझको (किम्) क्या करेगा ! ॥३॥

भावार्थः—सोम यह नाम ईदृग् स्थल में श्रेष्ठान्न श्रेष्ठ रसवाची होता है। यह एक प्रकार से ईश्वर से प्रार्थना ही है। बहुधा मनुष्य उत्तमोत्तम अन्न और फलादिक इसलिये खाते हैं कि शरीर में पूर्ण बल हो और उससे रात्रिन्दिव स्त्रैण भोगविलास कर सकें; सदैव स्त्रियों का नृत्य-गान और हाव-भाव देखा करें या वीर शक्तिमान् होकर निपराध जनों को लूट-लूट कर देश में यशस्वी बनें इत्यादि; इस आशय से जो अपने शरीर को पुष्ट करते हैं वे ही असुर हैं, किन्तु मनुष्य को उचित है कि अन्न खाने पीने से जो बल प्राप्त हो उससे परोपकार करें। देश की दीनता और अज्ञानता के दूर करने में उस सामर्थ्य को लगावें। विद्यादि धन देकर दैशिक जनों को सुधारें। राज्य का संगठन अच्छे प्रकार करें जिससे दीन-हीन प्रजाएं लूटी न जायं। और इस प्रकार के कार्य्य करते हुए अन्त में ईश्वर की प्राप्ति हो अर्थात् सदा ईश्वर की आज्ञाओं को अन्तःकरण में रखकर सांसारिक काम करे। तब निश्चय उस मनुष्य का कौन शत्रु होगा। कैसे उसके इन्द्रियगण विचलित होंगे। कैसे कोई उस जन की हानि के साधन खोजेगा ! इत्यादि महान् आशय इसका है ॥३॥

शं नो॑ भव हृ॒द आ पी॒त इ॑न्दो पि॒तेव॑ सोम सू॒नवे॑ सु॒शेवः॑ ।

सखे॑व॒ सख्य॑ उरुशंस॒ धीरः॒ प्र ण॒ आयु॑र्जी॒वसे॑ सोम तारीः ॥४॥

पदार्थः—(इन्दो) हे आह्लादप्रद (सोम) हे सर्वश्रेष्ठ रस तथा शरीरपोषक अन्न ! तू (पीतः) हम जीवों से पीत और भुक्त होकर (नः हृदे) हमारे हृदय के लिये (शम् आ भव) कल्याणकारी हो । यहां दो दृष्टान्त देते हैं (पिता इव सूनवे) जैसे पुत्र के लिये पिता सुखकारी होता है; पुनः (सखा इव) जैसे मित्र मित्रों को (सख्ये) मित्रता में रखकर अर्थात् जैसे मित्र मित्रों को अहित दुर्व्यसन आदि दुष्कर्मों से छुड़ाकर हितकार्य्य में लगा (सुशेवः) सुखकारी होता है तद्वत् । (उरुशंस सोम) हे बहुप्रशंसनीय सोम ! (धीरः) तू धीर होकर (जीवसे) जीवन के लिये (नः आयुः) हमारी आयु (प्र तारीः) बढ़ा दे ॥४॥

भावार्थः—ऐसा अन्न और रस खाओ और पिओ जिससे शरीर और आत्मा को लाभ पहुँचे और आयु बढ़े ॥४॥

फिर सोम का निरूपण करते हैं ॥

इ॒मे मा॑ पी॒ता य॒शस॑ उरु॒ष्यवो॒ रथं॒ न गावः॒ सम॑नाह॒ पर्व॑सु ।

ते मा॑ रक्षन्तु वि॒स्रस॑श्च॒रित्रा॑दु॒त मा॒ स्रामा॑द्यवयन्त्व॒न्दवः॑ ॥५॥

पदार्थः—(इमे पीताः) ये सोमरस पीत होने पर हमारे (यशसः) यशस्कर और (उरुष्यवः) रक्षक होवें और (पर्वसु) मेरे शरीर के प्रत्येक पर्व में प्रविष्ट हों । (मा) मुझको (समनाह) प्रत्येक वीर कार्य्य में संनद्ध करे । ऐसे ही (न) जैसे (रथम्) रथ को (गावः) बलीवर्द सब काम में तैयार रखते हैं । (ते) वे सोम (विस्रसः चरित्रात्) शिथिल ढीले चरित्र से (मा रक्षन्तु) मुझको बचावें (उत) और (इन्दवः) आह्लादकर वे सोम (स्रामाद्) व्याधियों से (मा) मुझको (यवयन्तु) पृथक् करें ॥५॥

भावार्थः—हम मनुष्य ऐसे अन्न खायं जिनसे शरीर की रक्षा, फुर्ती और वीरता प्राप्त होवे, उत्तेजक मद्यादि न पीवें जिससे शुभ चरित्र भ्रष्ट हो और व्याधियां बढ़ें । अन्नों के खान-पान से ही विविध रोग होते हैं । अतः विधिपूर्वक अन्नसेवन करें । इसी कारण इस सूक्त में अन्न का ऐसा वर्णन आया है ॥५॥

अ॒ग्निं न मा॑ मथि॒तं सं दि॑दीपः॒ प्र च॑क्षय कृणु॒हि वस्य॑सो नः ।

अथा॒ हि ते॒ मद॒ आ सो॑म॒ मन्ये॑ रे॒वाँ इ॑व॒ प्र च॑रा पु॒ष्टिमच्छ॑ ॥६॥

पदार्थः—हे सोम ! (मा) मुझको (मथितम्) दो लकड़ियों से मथ कर निकाले हुए (अग्निं न) अग्नि के समान (संदिदीपः) संदीप्त कर; जगत् में अग्नि के समान चमकीला और तेजस्वी बना। (प्रचक्षय) दिखला अर्थात् नयन में देखने की पूरी शक्ति दे। और (नः) हमको (वस्यसः) अतिशय धनिक (कृणुहि) बना। (अथ हि) इस समय (ते मदे) तेरे आनन्द में (आ मन्ये) ईश्वरीय भाव का मनन करता हूँ या उसकी स्तुति करता हूँ। मैं (रेवान् इव) धनसम्पन्न पुरुष के समान (प्रच्छ) अच्छे प्रकार (पुष्टिम्) पोषण और विश्राम (प्रचर) प्राप्त करूं। या मुझको वह अन्न पुष्टिप्रद हो ॥६॥

भावार्थः—ऐसा अन्न सेवन करे जिससे वह अग्निवत् तेजस्वी भासित हो, नेत्र की शक्ति बढ़े और वह दिन-दिन धनवान् ही होता जाय अर्थात् मद्यादि पान कर लम्पटता द्यूतादि कुकर्म में धन व्यय न करे। जब-जब अन्न प्राप्त हो तब-तब ईश्वर को धन्यवाद दे। और सदा अदीन भाव से रहे। ये सब शिक्षाएं इससे मिलती हैं ॥६॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

इ॒षि॒रेण॑ ते॒ मन॑सा सु॒तस्य॑ भक्षी॒महि॒ पित्र्य॑स्येव रा॒यः।
सोम॑ राजन्प्र ण॒ आयूं॑षि तारी॒रहा॑नीव॒ सूर्यो॑ वास॒राणि॑ ॥७॥

पदार्थः—हे सोम (इषिरेण मनसा) उत्सुक मन से (ते सुतस्य) तुझ पवित्र अन्न को हम (भक्षिमहि) भोग करें ऐसे (पित्र्यस्य इव रायः) जैसे पितापितामहादि से प्राप्त धन को पुत्र-पौत्र भोगता है। (सोम राजन्) हे राजन् सोम! तू (नः आयूंषि) हमारी आयु को (प्र तारी) बढ़ा। (इव) जैसे (सूर्य्यः) सूर्य्य (वासराणि) वासप्रद (अहानि) दिनों को बढ़ाते हैं ॥७॥

भावार्थः—इसका आशय स्पष्ट है। जबतक खूब भूख न लगे, अन्न के लिये आकुलता न हो तब तक भोजन न करे। इसी अवस्था में अन्न सुखदायी होता है और आयु बढ़ती है। सोम राजा इसलिये कहाता है कि शरीर में प्रवेश कर यही चमकता है और सब इन्द्रियों पर अधिकार रखता है। यदि अन्न न खाया जाय तो सब इन्द्रियां शिथिल हो जायं और शरीर भी न रहे। अतः शरीर का शासक होने से अन्न राजा है ॥७॥

सोम॑ राजन्मृ॒ळया॑ नः स्व॒स्ति तव॑ स्मसि व्र॒त्या३॒स्तस्य॑ विद्धि।
अल॑र्ति॒ दक्ष॑ उ॒त म॒न्युरि॑न्दो॒ मा नो॑ अ॒र्यो अ॑नुका॒मं परा॑ दाः ॥८॥

पदार्थः— (सोम राजन्) हे सोम राजन् ! (नः) हमको (मृळय) सुखी कर, (स्वस्ति) कल्याण दे । (तव स्मसि) तेरे ही हम हैं; (व्रत्याः) हम संयमी और व्रती हैं; (तस्य) तू (विद्धि) इस बात को जान । (दक्षः अळति) हम में बल विद्यमान है (उत मन्युः) और मननशक्ति भी विद्यमान है । (इन्दो) हे आनन्दप्रद (नः) हमको (अर्य्यः) शत्रु की (अनुकामम्) इच्छा के अनुसार (मा परादाः) मत ले चल । इसको ईश्वरपरक ही लगा सकते हैं ॥८॥

भावार्थः—इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा अन्न हम खायं जिससे सुख और कल्याण हो । हम सदा संयमी होवें । अन्न खाकर सात्त्विक बल धारण करें और काम क्रोध आदि शत्रु के वशीभूत न होवें ॥८॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

त्वं हि नंस्तन्वः सोम गोपा गात्रेगात्रे निषसत्थां नृचक्षाः ।
यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि स नो मृळ सुषखा देव वस्यः ॥९॥

पदार्थः—(सोमदेव) हे सर्वश्रेष्ठ और प्रशंसनीय रस और अन्न ! (नः) हमारे (तन्वः) शरीर का (गोपाः) रक्षक (त्वम् हि) तू ही है; इसलिये (गात्रे-गात्रे) प्रत्येक अङ्ग में (निषसत्थ) प्रवेश कर; तू (नृचक्षाः) मानव शरीर का पोषणकर्ता है । (यद्) यद्यपि (वयम्) हम मनुष्यगण (ते व्रतानि) तेरे नियमों को (प्रमिनाम) तोड़ते हैं तथापि (सः) वह तू (वस्यः) श्रेष्ठ (नः) हम जनों को (सुसखा) अच्छे मित्र के समान (मृळ) सुख ही देता है ॥९॥

भावार्थः—भाव इसका स्पष्ट है । अन्न ही हमारे शरीर का पोषक है इस में सन्देह नहीं । वह प्रत्येक अंग में जाकर पोषण करता है । अन्न के व्रतों को हम लोग भग्न करते हैं । इसका भाव यह है नियमपूर्वक शक्ति के अनुसार भोजन नहीं करते । कभी-कभी देखा गया है कि अतिशय भोजन से तत्काल आदमी मरगया है । अतिभोजन से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । स्वल्प भोजन सदा हितकारी होता है ॥९॥

ऋदूदरेण सख्या सचेय यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः ।
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः ॥१०॥

पदार्थः—मैं जैसे (ऋदूदरेण) शरीर हितकारी उदररक्षक (सख्या) मित्रसमान लाभदायक सोमरस को (सचेय) ग्रहण करता हूं तद्वत् अन्यान्य जन भी करें । (यः पीतः) जो पीने पर (मा न रिष्येत्) मुझको हानि नहीं पहुंचाता है वैसे स्वल्प पीने से

किसी को हानि न पहुँचावेगा। (हर्य्यश्व) हे आत्मन्! (अयम् यः सोमः) यह जो सोमरस (अस्मे न्यधायि) हम लोगों के उदर में स्थापित है वह चिरकाल तक हमें सुखकारी हो। (तस्मै प्रतिरन् आयुः) उससे आयु अधिक बढ़े ऐसी (इन्द्रम् एमि) ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ॥१०॥

भावार्थः—ईश्वर से सब कोई प्रार्थना करें कि उत्तमोत्तम अन्न खा पीकर हम बलवान् और लोकोपकारी हों॥१०॥

अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन्तमिषीचीरभैषुः।

आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥११॥

पदार्थः—(त्याः) वे (अनिराः) अनिवार्य (अमीवाः) सर्व रोग हमारे शरीर से (अप अस्थुः) दूर हो जायं। वे यद्यपि (तमिषीचीः) अत्यन्त बलवान् हैं तथापि अब (निरत्रसन्) उनकी शक्ति न्यून हो गई और वे (अभैषुः) अत्यन्त दुर्बल हो गए। इसके जानने का कारण यह है कि (सोमः) उत्तमोत्तम रस और अन्न (अस्मान्) हम लोगों को (आ अरुहत्) प्राप्त होते हैं जो (विहाया.) सर्व रोगों के विनाशक हैं। और हम लोग (अगन्म) वहां आकर बसें (यत्र) जहाँ (आयुः) आयु (प्रतिरन्ते) बढ़ती है॥११।

भावार्थः—इसमें सन्देह नहीं कि उत्तमोत्तम अन्न के खाने पीने और उत्तम गृह में रहने से रोग नहीं होते और शरीर में विद्यमान रोग भी नष्ट हो जाते हैं॥११॥

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश।

तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम॥१२॥

पदार्थः—(पितरः) हे श्रेष्ठ पुरुषो! (यः इन्दुः) जो आनन्दप्रद सोमरस (अमर्त्यः) चिरकालस्थायी है और जो (हृत्सु पीतः) हृदय में पीत होने पर बलवर्धक होता है; जो ईश्वर की कृपासे (नः मर्त्यान् आविवेश) हम मनुष्यों को प्राप्त हुआ है (तस्मै सोमाय हविषा विधेम) उस सोम का अच्छे प्रकार प्रयोग करें और (अस्य) इस प्रयोग से (मृळीके) सुख में और (सुमतौ) कल्याणबुद्धि में (स्याम) रहें॥१२॥

भावार्थः—श्रेष्ठ खाद्य पदार्थ का प्रयोग ऐसे करें कि जिससे सुख हो और बुद्धि न बिगड़े॥१२॥

यहां से सोमवाच्येश्वर प्रार्थना कही जाती है॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।

तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥१३॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वप्रिय देव महेश ! (पितृभिः) परस्पर रक्षक परमाणुओं के साथ (संविदानः) विद्यमान (त्वम्) तू (अनु) क्रमशः (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक प्रभृति को (आततन्थ) बनाया करता है। (इन्दो) हे जगदाह्लादक ईश ! (तस्मै ते) उस तेरी (हविषा) हृदय से और नाना स्तोत्रादिकों से (विधेम) सेवा करें। तेरी कृपा से (वयम् रयीणाम् पतयः स्याम) हम सब धनों के अधिपति होवें ॥१३॥

भावार्थः—वेद की एक यह रीति है कि भौतिक पदार्थों को वर्णन कर उसी नाम से अन्त में ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। अतः इन तीन मन्त्रों से ईश्वर की प्रार्थना का विधान है ॥१३॥

त्रातारो देवा अधि वोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।

वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१४॥

पदार्थः—हे (त्रातारः) हे रक्षको ! (देवाः) हे विद्वानो ! आप सब मिलकर (नः अधिवोचत) हम अशिक्षित मनुष्यों को अच्छे प्रकार सिखला दीजिए जिससे (निद्राः मा नः ईशत) निद्रा, आलस्य, क्रोधादि दुर्गुण हमारे प्रभु न बन जाएं (उत) और (जल्पिः) निन्दक पुरुष भी (मा नः) हमारी निन्दा न करें। (विश्वह) सब दिन (वयम्) हम (सोमस्य प्रियासः) परमात्मा के प्रिय बने रहें और (सुवीरासः) सुवीर होकर (विदथम्) विज्ञान का (आ वदेम) उपदेश करें या अपने गृह में रहकर आपकी स्तुति प्रार्थना करें ॥१४॥

भावार्थः—हम लोग समय-समय पर विद्वानों से उपदेश ग्रहण करें ताकि आलस्यादि दोष न आने पावें और ईश्वर के प्रिय सदा बने रहें ॥१४॥

त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः ।

त्वं न इन्द ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात् ॥१५॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वप्रिय जगद्रचयिता ईश ! (त्वम्) तू (नः) हम लोगों को (विश्वतः) सर्व प्रकार और सर्व दिशाओं से (वयोधाः) अन्न दे रहे हो; (त्वम् स्वर्विद्) तू ही सुख देने वाला है; तू ही (नृचक्षाः) मनुष्यों के निखिल कर्मों को देखने वाला है। वह तू (आविश) हमारे हृदय में प्रवेश कर। (इन्दो) हे जगदाह्लादक ! (त्वम् सजोषाः) तू हम लोगों के साथ प्रसन्न होता हुआ (पश्चातात्) पीछे (उत वा पुरस्तात्) या आगे (ऊतिभिः) रक्षाओं और साहाय्यों से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ॥१५॥

भावार्थः—परमेश्वर ही सब को अन्नादि प्रदान कर सुख देता है और वह सबके कर्मों का द्रष्टा तथा तदनुसार फल देता है ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह अड़तालीसवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ वालखिल्यम्

अथ दशर्चस्यैकोनपञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य १—१० प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः। इन्द्रो देवता। छन्दः—१ बृहती। ३ विराड्बृहती। ५ भुरिग्बृहती। ७, ९ निचृद्बृहती। २ पङ्क्तिः। ४, ६, ८, १० निचृत् पङ्क्तिः॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९ मध्यमः। २, ४, ६, ८, १० पञ्चमः॥

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥

पदार्थः—(यः) जो (मघवा) उत्तम् धनादि-ऐश्वर्य का अध्यक्ष, (पुरुवसुः) बहुतों को बसाने वाला, (जरितृभ्यः) स्तोताओं को [उन द्वारा स्तुत गुणों के धारण द्वारा] (सहस्रेण इव) निश्चय ही सहस्रों प्रकार का ऐश्वर्य (शिक्षति) प्रदान करता है; जो (सुराधसं) शोभन सिद्धि प्रदान करता है; उस (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की ओर (अभि) लक्ष्य करके (यथाविदे) यथायोग्य के लाभ के लिये (प्र, अर्च) प्रकृष्ट अर्चन करो—उसकी स्तुति करो ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर के गुणकीर्तन द्वारा उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करना चाहिये; वह इसी प्रकार सब को बसाता है ॥१॥

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥

पदार्थः—जैसे (शतानीक इव) सैंकड़ों सेनाओंवाला सेनापति (प्रजिगाति) प्रकृष्टता से विजयी बनता है; वैसे ही वह परमेश्वर भी जो 'शतानीक'—सैंकड़ों शक्तियों से युक्त है; वह इन द्वारा प्रकृष्ट विजयी है; (धृष्णुया) साहस एवं दृढ़ता के गुणों द्वारा वह (दाशुषे) अपने लिये समर्पित भक्त के हितार्थ (वृत्राणि) उसके मार्ग की सभी विघ्न-बाधाओं को (हन्ति) नष्ट कर देता है; (अस्य) इस (पुरुभोजसः) बहुतों का पालन-पोषण करने वाले के (दत्राणि) दिये गए ऐश्वर्य दान—[पदार्थ एवं

शक्तियाँ]—(प्रपिन्विरे) जगत् को ऐसे तृप्त करते हैं (इव) जैसे कि (गिरेः) मेघ से प्राप्त (रसाः) जल [संसार को तृप्त करते हैं] ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वर से प्राप्त शक्तियाँ अटूट एवं दृढ़ हैं—प्रभु के भक्त को पदार्थों के साथ-साथ ये शक्तियाँ भी मिलती हैं; इन्हीं पर संसार पलता है ॥२॥

आ त्वा सुतास इन्दवो मदा य इन्द्र गिर्वणः।

आपो न वज्रिन्नन्वोक्यं१ सरः पृणन्ति शूर राधसे ॥३॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) भक्त की वाणी से सेवित, स्तुत (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमेश्वर ! (ये) जो (मदाः) तृप्तिकारक (इन्दवः) आनन्दप्रद (सुतासः) भक्त द्वारा निष्पादित भक्तिरस हैं, वे हे (शूर) स्वयं शौर्ययुक्त तथा भक्त को उसके जीवन-संघर्ष में शौर्य की प्रेरणा देने वाले !, (वज्रिन् !) साधनसम्पन्न ! (राधसे) भक्त को संसिद्धि प्राप्त कराने के लिये(त्वा) आपको(आपृणन्ति) चारों ओर से तृप्त करते हैं—आप में ही विश्राम ग्रहण करते हैं—कैसे ? जैसे कि (आपः) जल (ओक्यं) अपने गृह—आश्रयभूत महाजलाशय को (आ पृणन्ति) भर कर तृप्त करते हैं ॥३॥

भावार्थः—साधक की भक्ति का आश्रय एकमात्र परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ही है; उसकी भक्ति के आनन्द में विभोर होकर भक्त न केवल स्वयं सन्तृप्त होता है, भगवान् भी उससे प्रसन्न होते हैं और ऐसी प्रेरणा देते हैं कि वह उनके गुणों की प्राप्ति के लिये उत्सुक हो जाय ॥३॥

अनेहसं प्रतरणं विवक्षणं मध्वः स्वादिष्ठमीं पिब।

आ यथा मन्दसानः किरासि नः प्र क्षुद्रेव त्मना धृषत् ॥४॥

पदार्थः—हे इन्द्र—परम ऐश्वर्य के लिये साधक आत्मन् ! (ई) इस दिव्यानन्द को, जो (अनेहसं) सदा रक्षणीय है (प्रतरणं) प्रवर्धक अर्थात् उन्नतिप्रद है, (विवक्षणं) विशेषरूप से स्फूर्तिदायक है, (मध्वः स्वादिष्ठं) सामान्य मधु से भी अधिक स्वादिष्ट है, उसका तू (पिब) उपभोग कर; (यथा) जिस प्रकार, उसका उपभोग करके, (मन्दसानः) सजीव हुआ तू (धृषत्) शत्रुभावनाओं को धक्का देता हुआ (क्षुद्रा इव) मधुमक्खी की भाँति (नः) हम अन्य साधकों की ओर भी (आ, किरासि) उसे फेंक देगा ॥४॥

भावार्थः—साधक को प्रभुभक्ति के रस में डुबकी लगानी चाहिये; उसका उपभोग करने से उसकी दुर्भावनायें दूर होंगी और फिर वह अपने इस दिव्य आनन्द को दूसरों को भी प्रदान करेगा ॥४॥

आ नः स्तोममुप द्रवद्धियानो अश्वो न सोतृभिः ।
यं ते स्वधावन्त्स्वदयन्ति धेनव इन्द्र कण्वेषु रातयः ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य के साधक मेरे मन ! (स्वधावन्) हे अमृत-रूप गुणों से सम्पन्न ! (यं) जिस (ते) तेरे (स्तोमं) स्तुतिरूप गुणप्रकाश को (कण्वेषु) बुद्धिमान् जनों की (रातयः) मित्र (धेनवः) तुझ साधक की पालन-पोषण करनेवाली धेनुरूपा इन्द्रियाँ (स्वदयन्ति) स्वादु बना लेती हैं उस गुणप्रकाश को (सोतृभिः हियानः अश्वः न) प्रेषकों से प्रेरित शीघ्रगन्ता अश्व की भाँति (नः आ उपद्रवत्) हमारे समीप पहुँचा ॥५॥

भावार्थः—बुद्धिमान् स्तोताओं की संगति में साधक की इन्द्रियाँ भी परमप्रभु की अभ्यस्त स्तोता बन जाती हैं ॥५॥

उग्रं न वीरं नमसोप सेदिम विभूतिमक्षितावसुम् ।
उद्रीव वज्रिन्नवतो न सिञ्चते क्षरन्तीन्द्र धीतयः ॥६॥

पदार्थः—हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (विभूतिं) विविधरूप धारण करने वाले, (अक्षितावसुम्) वास देने की अक्षीण शक्तिवाले तथा (उग्रं न) प्रचण्ड-पराक्रमी के सदृश (वीरं) बलिष्ठ आप की सेवा में हम (नमसा) विनयपूर्वक (उपसेदिम) पहुँचते हैं। हे (वज्रिन् !) अभेद्य साधनसम्पन्न ! (इन्द्र) इन्द्र ! (उद्रीव) जल से भरे (अवतः न) कूप के सदृश (सिञ्चते) सिंचन करते आप के प्रति (धीतयः) हमारी विचार धारायें (क्षरन्ति) बह रही हैं ॥६॥

भावार्थः—जल से भरे कुँए से खेत सींचे जाते हैं; विविध रूप में सब को बसाने वाले बलिष्ठ परमेश्वर नाना पदार्थ देकर सुख रूपी जल से हमारे अन्तःकरणों को सींचकर तृप्त करते हैं; इसीलिये हमारा ध्यान उन की ओर जाता है ॥६॥

यद्ध नूनं यद्वा यज्ञे यद्वा पृथिव्यामधि ।
अतो नो यज्ञमाशुभिर्महेमत उग्र उग्रेभिरा गहि ॥७॥

पदार्थः—हे (महेमते) पूजनीय बुद्धिशक्ति के धनी प्रभो ! (यद्ध नूनं) आप जहाँ कहीं भी हैं—निश्चय से हैं; आप (यद्वा) या तो (यज्ञे) किसी परोक्ष सत्कर्म आदि में विद्यमान हैं [परोक्षं यज्ञः०—श. ३. १.३. २५] अथवा यहीं (पृथिव्याम् अधि) भूलोक में अधिष्ठाता हैं। [आप जहाँ भी कहीं हैं] (अतः) उस स्थान से (उग्रः) अतिबलिष्ठ आप (आशुभिः) वेगवती (उग्रैः) अति बलशाली शक्तियों के साथ

(नः) हमारे (यज्ञं) धर्मार्थकाम मोक्षसाधक व्यवहार में (आ गहि) आइये—सम्मिलित होइये ।।७।।

भावार्थः—जबतक साधक धारणा-ध्यान-समाधि आदि धर्मार्थ काम-मोक्ष साधक व्यवहार में मन नहीं लगाता तब तक सर्वदा सह स्थित भी परमेश्वर अनुभव नहीं होता; परमप्रभु को सदा उपस्थित समझते हुए ही सब सत्कर्म करने चाहियें ।।७।।

अजिरासो हरयो ये त आशवो वाता इव प्रसक्षिणः ।
येभिरपत्यं मनुषः परीयसे येभिर्विश्वं स्वर्दृशे ।।८।।

पदार्थः—हे ऐश्वर्यवन् ! (ते) आपके (ये) जो (अजिरासः) जीर्ण न होने वाली, (हरयः) हरणशील शक्तियां हैं वे (वाताः इव) प्रवहमान वायुओं के समान (आशवः) शीघ्रगामिनी हैं और (प्रसक्षिणः) वायुओं के समान ही बलात् गतिशील हैं—उनको कोई रोकने वाला नहीं है। (येभिः) उन्हीं शक्तियों द्वारा [आप] (मनुषः) मानव के (अ-पत्यं) अपतन के हेतुत्व को (परीयसे) प्राप्त होते हैं और (येभिः) उन्हीं शक्तियों द्वारा (विश्वं) समग्र (स्वः) सुख को (दृशे) दर्शाते हैं ।।८।।

भावार्थः—जब साधक अपनी साधना में परिपक्व होता है तो वह अनुभव करता है कि परमप्रभु अब शीघ्र ही मुझे प्राप्त होंगे— उनके और मेरे सान्निध्य में विघ्न डालने वाली कोई शक्ति नहीं है। परमेश्वर का आराधन मनुष्य को धर्ममार्ग से च्युत नहीं होने देता ।।८।।

एतावतस्त ईमहे इन्द्र सुम्नस्य गोमतः ।
यथा प्रावो मघवन्मेध्यातिथिं यथा नीपातिथिं धने ।।९।।

पदार्थः—हे (मघवन्) आदरणीय ऐश्वर्य के स्वामिन् परमेश्वर ! आप (यथा) जिस प्रकार (मेध्यातिथिं) पवित्रता की ओर सदा गतिशील को (प्र, अवः) खूब तृप्त करते हैं और (यथा) जिस प्रकार (नीपातिथिं) विचार सागर की गहराइयों में जाने के अभ्यस्त को (धने) सफल करते हैं [धन् धान्ये—बौर लगाना, सफल करना]; हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमेश्वर हम (एतावतः) इतने ही—ऐसे ही (गोमतः) गौ आदि पशुओं से और ज्ञान-विज्ञान आदि प्रकाश से समृद्ध (सुम्नस्य) सुख की (ईमहे) याचना करते हैं ।।९।।

भावार्थः—जब साधक के जीवन का लक्ष्य परम पवित्र परमेश्वर हो जाय और गहरा विचार करने का अभ्यस्त हो जाय तब वह भरेपूरे सर्व प्रकार से समृद्ध सुख का पात्र हो जाता है ।।९।।

यथा कण्वे मघवन्त्रसदस्यवि यथा पक्थे दशव्रजे ।
यथा गोशर्ये असनोर्ऋजिश्वनीन्द्र गोमद्धिरण्यवत् ॥१०॥

पदार्थः—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! आप जैसे (कण्वे) मेधावी स्तोता के निमित्त (यथा) जैसे (त्रसदस्यवि) नष्ट करने वाले विचारों अथवा व्यक्तियों को डराकर भगाने वाले साधक के निमित्त (यथा) जैसे (पक्थे) सुपक्व जीवन वाले (दशव्रजे) दसों इन्द्रियों के गन्तव्य=आश्रयभूत साधक के निमित्त (यथा) जैसे (गोशर्ये) इन्द्रियों को प्रेरणा देने वाले साधक के निमित्त और (ऋजिश्वनि) सीधे-सादे मार्गगामी, कुटिलतारहित जीवन बिताने वाले साधक के निमित्त (गोमत्) गौ आदि पशुओं से समृद्ध और (हिरण्यवत्) मनोहारी पदार्थों व भावनाओं से समृद्ध ऐश्वर्य (असनोः) प्रदान करते हैं वैसे सुख की हम याचना करते हैं ॥१०॥

भावार्थः—साधक जब सब प्रकार के हिंसाशील शत्रुओं और भावनाओं को दूर भगाने में समर्थ हो जाता है; उसकी इन्द्रियां उसके वश में हो जाती हैं, उसके जीवन में कुटिलता नहीं रहती—तब उसे भगवान् से मानो सर्व कुछ मिल जाता है ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह उन्चासवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य पञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य १—१० पुष्टिगुः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३, ५, ७ निचृद्बृहती । ९ विराड्बृहती । २, ४, ६, १० पङ्क्तिः । ८ निचृत् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९ मध्यमः । २, ४, ६, ८, १० पञ्चमः ॥

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये ।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥१॥

पदार्थः—(यः) जो परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (सुन्वते) ऐश्वर्य के इच्छुक एवं उसका उत्पादन करने वाले, (स्तुवते) [वेदादि शास्त्रों के अर्थ की प्रशंसा करते हुए अर्थात्] उनको हृदयंगम करते हुए साधक के लिये (काम्यं वसु) कामना करने योग्य ऐश्वर्य को (सहस्रेणेव) सहस्रों की संख्या में [नानाविध ऐश्वर्यों को] (मंहते) बढ़ाता है, उस (सुश्रुतं) भली-भाँति प्रसिद्ध, (सुराधसं) सम्यक् सिद्धि के प्रेरक, (शक्रं) शक्तिशाली परमेश्वर की (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये (प्र) प्रकृष्ट रीति से (अर्च) स्तुति कर ॥१॥

भावार्थः—ऐश्वर्य का इच्छुक साधक वेदादि शास्त्रों के अर्थ को समझे, उसके अनुसार प्रभु के गुणों का सम्पादन करने का प्रयत्न करे; इस प्रकार वह सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का पात्र बनता है ॥१॥

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः ।

गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः ॥२॥

पदार्थः—(यदि) जब (सुताः) सम्पादित भक्तिरस (ईं) इस परमैश्वर्यवान् को (अमन्दिषुः) हर्षित कर देते हैं तब (अस्य) इस (इन्द्रस्य) ईश की (शतानीकाः) शतमुख, (दुष्टराः) अजेय (हेतयः) गतियाँ [हि गतौ वृद्धौ च] (मघवत्सु) पूजनीय=उत्तम ऐश्वर्य से सम्पन्न बनना चाहने वालों में (महीः) मूल्यवान् (इषः) इष्ट पदार्थों को, (न) जैसे (भुज्मा) पालक (गिरिः) मेघ पृथिवी को वर्षाजल से सींचता है वैसे दे कर सेवा करती हैं ॥२॥

भावार्थः—यद्यपि भगवान् की शक्तियां बहुमुखी हैं परन्तु भक्ति से प्रसन्न भगवान् भी उन्हीं भक्तों की इच्छाएं पूर्ण करते हैं कि जो आदरणीय ऐश्वर्य चाहते हैं ॥२॥

यदीं सुतास इन्दवोऽभि प्रियममन्दिषुः ।

आपो न धायि सवनं म आ वसो दुघा इवोप दाशुषे ॥३॥

पदार्थः—(यदि) जब (सुतासः) भक्त द्वारा निष्पन्न (इन्दवः) आनन्दकर सोम गुण [सोमो वा इन्दुः— श. २. २, ३. २३.] (ईं) इस (प्रियं) प्रिय परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को (अमन्दिषुः) प्रसन्न कर दें तो उस प्रभु से भक्त की प्रार्थना है कि हे (वसो) बसाने वाले! (दाशुषे मे) आपको अपना सर्वस्व समर्पित करने वाले मुझ भक्त के लिये वे सोम गुण, (आपः न) जैसे कि जल और (दुघाः इव) जैसे कि दुधार गौवें (सवनं) यज्ञ के अर्थ धारण की जाती हैं वैसे, (सवनं) यज्ञसाधक प्रेरणा को धारण (आ उप धायि) करावें ॥३॥

भावार्थः—जैसे शुद्ध जल और दुधार गौवों का दुग्ध भौतिक यज्ञ के आवश्यक उपकरण हैं, वैसे ही ऐश्वर्य साधक प्रेरणा को सफल बनाने के लिये भक्त द्वारा सुसम्पादित सौम्य गुण आवश्यक हैं—उनसे ही भगवान् प्रसन्न होकर उसको प्रेरणा देते हैं ॥३॥

अनेहसं वो हवमानमूतये मध्वः क्षरन्ति धीतयः ।

आ त्वा वसो हवमानास इन्दव उप स्तोत्रेषु दधिरे ॥४॥

पदार्थः—हे परमैश्वर्यवन् परमेश्वर! (ऊतये) रक्षण, आदि साहाय्य की प्राप्ति के लिये (वः) आपको (हवमानं) पुकारते हुए (अनेहसं) अतः, सर्वथा रक्षणीय साधक के प्रति आपकी (मध्वः) मननीय अतएव मधुर [मन्यत इति मधु] (धीतयः) विचार-धारायें (क्षरन्ति) बह कर आती हैं। (आ) और (इन्दवः) ऐश्वर्य के अभिलाषी सौम्यगुणसम्पन्न साधक, (वसो) हे बसाने वाले इन्द्र ! (हवमानासः) आपका गुण-गान करते हुए (स्तोत्रेषु) अपने द्वारा की जाती हुई स्तुतियों में (त्वा उप दधिरे) आप को अपने समीप स्थापित करते हैं ॥४॥

भावार्थ—जो साधक परमेश्वर के गुणों का गान करते हुए वेदों में वर्णित प्रभु के विचारों का मनन करते हैं, उन्हें परमेश्वर की सायुज्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है ॥४॥

आ नः सोमे स्वध्वर इयानो अत्यो न तोशते ।
यं ते स्वदावन्त्स्वदन्ति गूर्तयः पौरे छन्दयसे हवम् ॥५॥

पदार्थः—हे (स्वध्वर) शोभनीय हिंसारहित व्यवहारों के प्रेरक परमेश्वर ! (नः) हमारे (सोमे) सम्पूर्ण गुणों, ऐश्वर्यों, एवं कल्याण आदि के निष्पादक, यज्ञ कर्म, के अवसर पर (इयानः) पहुँचते हुए आप (अत्यः न) सततगमनशील प्रवाह की भांति (तोशते) रिसते रहते हैं। हे (स्वदावन्) भोग्यपदार्थों का आस्वादन कराने वाले (यं) जिस (ते) आपकी (हवम्) स्तुति का (गूर्तयः) उद्यमशील प्रजायें (स्वदन्ति) स्वादपूर्वक भोग करती हैं उस स्तुति को (पौरे) अपना ही पेट भरने के स्वभाव वाले स्वार्थी की ओर भी (छन्दयसे) प्रेरित कर ॥५॥

भावार्थः—प्रत्येक सर्वहितकारी कर्म अर्थात् यज्ञ में परमात्मा की सहायता निरन्तर बहने वाले झरने के जल की भांति हमें तृप्त करती रहती है; क्या ही अच्छा हो कि निरा स्वार्थभरा जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति भी प्रभु की इस अनवरत स्यन्दमान कृपा के झरने में स्नान करें ॥५॥

प्र वीरमुग्रं विविचिं धनस्पृतं विभूतिं राधसो महः ।
उद्रीव वज्रिन्नवतो वसुत्वना सदा पीपेथ दाशुषे ॥६॥

पदार्थः—यह ऐश्वर्यसाधक भक्त (वीरं) सब दुःखों को फिकवा देने वाले, (उग्रं) तेजस्वी (विविचं) विवेकशील, (धनस्पृतं) सफलता-प्रदायक ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले, परमैश्वर्यवान् परमेश्वर से (महः) आदरणीय (राधसः) संसिद्धि के कारणभूत ऐश्वर्य को (प्र=प्रार्थये)चाहता है। हे (वज्रिवन्) बहुत से प्रशंसनीय एवं

वज्रवत् दृढ़ साधनों वाले भगवन् ! (उद्री अवतः इव) जैसे जलभरा कूप अपने जल से सब को तृप्त करता है वैसे आप (दाशुषे) अपने को समर्पित किये हुए भक्त को (सदा) सर्वदा (पीपेथ) सन्तृप्त करते हैं ॥६॥

भावार्थः—साधक सदा ऐसे ऐश्वर्य की कामना व प्रार्थना करे कि जो उसको सन्मान पूर्वक समृद्ध करे; भगवान् के साधन, उसकी शक्तियाँ विविध और अभेद्य हैं—वह भक्त को सदा भरा पूरा, सन्तुष्ट एवं पुष्ट रखता है ॥६॥

यद्ध नूनं परावति यद्वा पृथिव्यां दिवि ।
युजान इन्द्र हरिभिर्महेमत ऋष्व ऋष्वेभिरा गहि ॥७॥

पदार्थः—हे (महेमते) पूज्य बुद्धि के धनी परमेश्वर ! (यद् ह) जहां कहीं भी, (परावति) दूर देश में, (पृथिव्यां) पृथिवी पर, (दिवि) अन्तरिक्ष में (नूनं) निश्चित रूप से आप वर्तमान तो हैं ही। हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! [आप जहां भी कहीं हैं, वहीं से] हे (ऋष्व) प्राप्ति के योग्य भगवन् ! (ऋष्वेभिः) ज्ञान की साधिका (हरिभिः) अपनी हरणशील शक्तियों के साथ (युजानः) संयुक्त हुए (आ गहि) आइये ॥७॥

भावार्थः—यों तो परमेश्वर सदा सर्वत्र विद्यमान है—उसका आना-जाना होता ही नहीं है, परन्तु साधनहीन साधक को उसका सायुज्य प्राप्त-नहीं होता। उसकी प्रभु से प्रार्थना है कि उसे वे साधन, ज्ञानसाधिका इन्द्रिय शक्तियाँ प्राप्त हों जिनके द्वारा भगवान् का सायुज्य प्राप्त हो ॥७॥

रथिरासो हरयो ये ते अस्रिध ओजो वातस्य पिप्रति ।
येभिर्नि दस्युं मनुषो निघोषयो येभिः स्वः परीयसे ॥८॥

पदार्थः—हे परमेश्वर! (ये) जो (रथिरासः) रमणसाधन के योग्य (अस्रिधः) अहिंसनीय तथा अक्षय विज्ञानयुक्त (हरयः) हरणसमर्थ तेरी शक्तियां, [रथ में जोतने योग्य, अक्षोभनीय अश्वों के समान (लुप्तोपमा)], (येभिः) जिनके द्वारा (मनुषः) मानव की (दस्युं) मानवता को पीड़ा पहुँचाने वाली या नष्ट करने वाली शक्ति को (नि घोषयः) आप मौन कर देते हैं और (येभिः) जिन शक्तियों द्वारा (स्वः) दिव्य आनन्द को (परीयसे) प्राप्त करते और प्राप्त कराते हैं, (ते) वे शक्तियाँ (वातस्य) प्राण की (ओजः) ओजस्विता से (पिप्रति) परिपूर्ण होती हैं ॥८॥

भावार्थः—मानव को क्षीण करने वाली भावनाओं को निष्क्रिय (मौन) परमेश्वर द्वारा प्राप्त इन्द्रियों (ज्ञान-कर्मसाधनों) को सफल बनाकर ही

किया जा सकता है और इन्द्रियां प्रबल बनेंगी प्राण की ओजास्विता का पान करके । प्राणायाम से इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं । 'पुष्टिगु' ऋषि का यही ध्येय प्रतीत होता है ॥८॥

एतावतस्ते वसो विद्याम शूर नव्यसः ।

यथा प्राव एतशं कृत्व्ये धने यथा वशं दशव्रजे ॥९॥

पदार्थः—हे (शूर) प्रेरणा द्वारा दोषविनाशक परमेश्वर ! (वसो) सब को वास देने वाले ! (ते) आपके (एतावतः) इतने (नव्यसः) स्तुत्य सामर्थ्य को हम (विद्याम) जान लें और प्राप्त करलें कि (यथा) जिस प्रकार (कृत्व्ये धने) कर्त्तव्य सफलता की प्राप्ति के निमित्त (एतशं) गमनकुशल साधक की (प्रावः) प्रकृष्टतासे रक्षा हो जाय और (दशव्रजे) दसों इन्द्रियों के आश्रय के निर्माणार्थ (वशं) संयमी साधक की (प्रावः) सम्यक्तया रक्षा हो जाय ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वर के स्तुत्य सामर्थ्य द्वारा गतिशील साधक अपनी इतिकर्तव्यता=सफलता को प्राप्त करता है और उस द्वारा ही संयमी साधक अपनी इन्द्रियशक्तियों की रक्षार्थ आश्रयस्थान का निर्माण करता है ॥९॥

यथा कण्वे मघवन्मेधे अध्वरे दीर्घनीथे दमूनसि ।

यथा गोशर्ये असिषासो अद्रिवो मयि गोत्रं हरिश्रियम् ॥१०॥

पदार्थः—हे (मघवन्) आदरणीय ऐश्वर्य के स्वामिन्, परमेश्वर ! आपने (यथा) जिस प्रकार अथवा जितनी मात्रा में (कण्वे) स्तुतिकर्ता मेधावी के निमित्त, (मेधे) विद्वानों के संगमार्थ, (अध्वरे) हिंसारहित सत्कर्म के निमित्त, (दीर्घनीथे) सुदीर्घ काल तक नेतृत्वक्षम के निमित्त, (गोशर्ये) इन्द्रियप्रेरक साधक के निमित्त, (असिषासः) प्रदान किया है; उसी प्रकार अथवा उतनी मात्रा में तो अवश्य ही, हे (अद्रिवः) अतिशय प्रशंसित ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! (मयि) मुझ साधक के अधिकार में मेरा (गोत्रं) इन्द्रियों का समूह (हरिश्रियम्) मुझे आपकी दिशा में ले चलने के गुण से सुशोभित हो ॥१०॥

भावार्थः—स्तुतिकर्ता विद्वान् आदि को परमात्मा से सामर्थ्य प्राप्त होता है; इन्द्रियों को सफल बनाने का लक्ष्य रखनेवाला साधक भी ऐसी साधना करे कि इन्द्रियाँ उसके वश में हों, जिससे वह परमेश्वर से सायुज्य प्राप्त कर सके ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह पचासवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्यैकपञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य १—१० श्रुष्टिगुः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३, ९ निचृद्बृहती । ५ विराड्बृहती ७ बृहती । २ विराट् पङ्क्तिः । ४, ६, ८, १० निचृत् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९ मध्यमः । २, ४, ६, ८, १० पञ्चमः ॥

यथा मनौ सांवरणौ सोममिन्द्रापिबः सुतम् ।
नीपातिथौ मघवन्मेध्यातिथौ पुष्टिगौ श्रुष्टिगौ सचा ॥१॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! आपने (यथा) जिस परिमाण में (सांवरणौ) दोषों से अपना संवरण-आच्छादन बचाव किये हुए (मनौ) मननशील साधक के अन्तःकरण में (सुतं) निष्पादित (सोमं) ऐश्वर्यकारक शास्त्रबोध आदि का (अपिबः) संरक्षण किया और जिस परिमाण में (नीपातिथौ) ज्ञान सागर की गहराइयों में गमनशील के अन्तःकरण में, (मेध्यातिथौ) पवित्रता की ओर निरन्तर गतिशील के अन्तःकरण में और (पुष्टि गौ) इन्द्रियों को पुष्ट रखने वाले साधक के अन्तःकरण में ऐश्वर्यकारक शास्त्रबोधादि का (अपिबः) संरक्षण किया है उतनी ही मात्रा में, (हे मघवन्) आदरणीय ऐश्वर्य के स्वामी आप (श्रुष्टिगौ) क्रियाशील [शीघ्रतामय] इन्द्रियों वाले साधक के अन्तःकरण में (सच) एकत्रित कीजिये ॥१॥

भावार्थः—ज्ञान विज्ञान आदि नाना ऐश्वर्यों के कारक हैं; ये कैसे साधक के अन्तःकरण में परमेश्वर द्वारा प्रेरित [निष्पादित] होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ बताया है कि विभिन्न दोषों से बचाव रखते हुए मनन में रत; गहरा विचार करने वाले, इन्द्रियों को पवित्र, पुष्ट और सक्रिय रखने वाले साधकों के अन्तःकरण शास्त्रबोध आदि के लिये ईश्वरप्रेरित रहते हैं ॥१॥

पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम् ।
सहस्राण्यसिषासद् गवामृषिस्त्वोतो दस्यवे वृकः ॥२॥

पदार्थः—(पार्षद्वाणः) वाणी के विध्वंसक रोग आदि ने (जिव्रि) आयु में वृद्ध, (उद्धितं) अपनी स्थिर स्थिति से उखड़े हुए, (शयानं) सोते हुए, अतएव, असावधान (प्रस्कण्वं) प्रकृष्ट स्तोता बुद्धिमान् को (सम् असादयत्) दबोच लिया; तब उस (वृकः) आक्रमण के शिकार, (ऋषिः) मन्त्रद्रष्टा ने (त्वोतः) आप परमेश्वर से आदेश-प्रेरणा-पाये हुए ने (दस्यवे) हिंसक लुटेरे के लिये—उसके प्रभाव को दूर करने के लिये (गवां सहस्राणि) अनेक सूर्यकिरणों का (असिषावत्) सेवन करना चाहा ॥२॥

भावार्थः—प्रकृष्ट स्तोता परन्तु असावधान होकर वाणी का प्रयोग करने वाला विद्वान् भी कभी अचानक वाणी के हिंसक रोगादि का शिकार हो सकता है। सूर्य किरणों के सेवन से ऐसे रोग आदि के नष्ट होने का यहां संकेत है ॥२॥

य उक्थेभिर्न विन्धते चिकिद्य ऋषिचोदनः।

इन्द्रं तमच्छा वद नव्यस्या मत्यरिष्यन्तं न भोजसे ॥३॥

पदार्थः—(ऋषिचोदनः) तत्त्वज्ञानार्थ तर्क का प्रेरक [या तत्त्वज्ञानार्थोहा सैव तर्कशब्देन गृह्यते; अत्र तर्क एव ऋषिरुक्तः।], (चिकिद्यः) जानने योग्य (यः) जो परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (उक्थेभिः) केवल मात्र शास्त्रोपदेशों से ही (न) नहीं (विन्धते=विन्द्यते) उपलब्ध होता; (तं) उस (भोजसे) भोग अथवा ज्ञान आदि पुष्ट करने वाले [पदार्थों के लिये] (न अरिष्यन्तं) हिंसित अथवा कष्टापन्न न करने वाले (इन्द्रं) इन्द्र के प्रति (मती) [मतिः=Devotion आप्टे] भक्ति के साथ (नव्यस्या) स्तुति वचन [अच्छा] भली-भांति (वद) उच्चारण कर ॥३॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञान के लिये ऊहापोह की शक्ति परमेश्वर से ही मिलती है परन्तु निरे ऊहापोह या तर्क से ही परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती; अपितु भक्तिपूर्वक उसके गुणों का गान करते हुए उन गुणों का अन्तः-करण में आधान करके उसकी सायुज्यता प्राप्त होती है ॥३॥

यस्मा अर्कं सप्तशीर्षाणमानृचुस्त्रिधातुमुत्तमे पदे।

स त्विमा विश्वा भुवनानि चिक्रदादिज्जनिष्ट पौंस्यम् ॥४॥

पदार्थः—(यस्मा) जिस परमेश्वर को भली-भांति समझने के लिये (उत्तमे पदे) उत्कृष्टतम स्थान में स्थित (सप्तशीर्षाणं) सप्तविध रश्मियों वाले (त्रिधातुं) भू आदि तीनों लोकों के पोषक (अर्कं) सूर्य की (आनृचुः) अर्चना करते हैं अर्थात् उससे गुणों को जान कर उनसे लाभ उठाते हैं और (स तु) वह परमेश्वर (इमाः विश्वा भुवनानि) इन सब लोकों को—सारी सृष्टि को—(अचिक्रदत्) निरन्तर पुकारता है—उपदेश देता है; और (आत् इत्) इसके पश्चात् (पौंस्यं) पौरुष का (अजनिष्ट) प्रादुर्भाव करता है ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वर की सृष्टि में सूर्य आदि अनेक स्तुत्य उत्कृष्ट पदार्थ विद्यमान हैं; उनके गुणों को जानकर उनसे लाभ उठाना परमेश्वर की शक्ति को समझने का सर्वोत्तम साधन है। परमात्मा अपने उदाहरण से

सारी सृष्टि को अपने अनुकरण का उपदेश देता है—मानव में पौरुष का प्रादुर्भाव इसी प्रका होता है ॥४॥

यो नो॑ दा॒ता वसू॑ना॒मिन्द्रं॒ तं हू॑महे व॒यम् ।

वि॒द्मा ह्य॑स्य सु॒म॒तिं नवी॑यसीं ग॒मेम॒ गोम॑ति व्र॒जे ॥५॥

पदार्थः—(यः) जो इन्द्र (नः) हमें (वसूनां) ऐश्वर्य (दाता) प्रदान कराता है (तं) उस इन्द्र का (वयम्) हम (हूमहे) गुणगान करते हैं; (हि) ताकि हमें इस प्रकार (अस्य) इसकी (नव्यसीं) नित्य नयी-नयी (सुमतिं) अनुग्रहबुद्धि का (विद्मः) ज्ञान हो और (गोमति) ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित (व्रजे) [व्रजन्ति विद्वांसो यस्मिन्=सन्मार्गे] सन्मार्ग पर हम (गमेम) चलने लगें ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वर के गुणगान से स्तोता को उसके अनुग्रहों का नित्य नया ज्ञान प्राप्त होता है और सन्मार्ग पर चलने की समझ उसमें उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वह परमेश्वर के अधिकाधिक निकट होता चला जाता है ॥५॥

यस्मै॒ त्वं व॑सो दा॒नाय॒ शिक्ष॑सि॒ स रा॒यस्पोष॑मश्नुते ।

तं त्वा॑ व॒यं म॑घवन्निन्द्र गिर्वणः सु॒तावं॑न्तो हवामहे ॥६॥

पदार्थः—हे (वसो) ऐश्वर्य के द्वारा सब को बसाने वाले परमेश्वर! (यस्मै) जिसको (त्वं) आप (दानाय) दान देने की (शिक्षसि) शिक्षा [अपने उदाहरण से] देते हैं (सः) वह व्यक्ति (रायस्पोषं) ऐश्वर्य की पुष्टता को (अश्नुते) प्राप्त कर लेता है; वह अत्यन्त ऐश्वर्यशाली हो जाता है। हे (मघवन्) सन्माननीय ऐश्वर्य के स्वामी (इन्द्र) इन्द्र! आप की स्तुति (गिर्वण) वाणी से की जाती है; हम (सुतावन्तः) ऐश्वर्ययुक्त हों—इस प्रयोजन से आप को (हवामहे) पुकारते हैं ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वर ने सब कुछ रचकर संसार को ही सब प्रदान कर दिया है; और फिर भी वह मघवा—उत्तम ऐश्वर्यशाली है। इसी प्रयोजन से हम उस प्रभु के गुणगान करते हैं कि उसके उदाहरण से कर्त्तव्य कर्म की शिक्षा लेकर हम भी धनस्वामी बनें ॥६॥

क॒दा च॒न स्त॒रीर॑सि॒ नेन्द्र॑ सश्चसि दा॒शुषे॑ ।

उ॒पोपेन्नु म॑घव॒न्भूय॒ इन्नु ते॒ दानं॑ दे॒वस्य॑ पृच्यते ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर! आप (कदाचन) कभी (दाशुषे) प्रदानशील के लिये (स्तरीः) निष्फल (न असि) नहीं होते; (सश्चसि) उसको सदा प्राप्त कराते ही हैं। हे (मघवन्) आदरणीय ऐश्वर्यवन्! (ते) आप के निमित्त किया हुआ (दानं) दान (नु) निश्चय ही (नु) शीघ्र ही (भूयः इत्) और अधिक होकर (देवस्य) दाता के साथ (पृच्यते) सम्पृक्त हो जाता है ॥७॥

भावार्थः—ऐश्वर्य के एकमात्र स्वामी परमेश्वर को समर्पण बुद्धि से किया हुआ, सत्पात्र में दिया हुआ दान, और अधिक होकर दाता की सेवा में लौट आता है ॥७॥

प्र यो ननक्षे अभ्योजसा क्रिविं वधैः शुष्णं निघोषयन्।
यदेदस्तम्भीत्प्रथयन्नमूं दिवमादिज्जनिष्ट पार्थिवः ॥८॥

पदार्थः—(अमूं) इस भूमि को (प्रथयन्) प्रकट करते हुए (यत् इत्) जब भी जिसने (दिवं) प्रकाशलोक को (अस्तभीत्) थाम्भा (आत् इत्) और तदनन्तर (यः) जो (पार्थिवः) स्वामी (अजनिष्ट) आवश्यक रूप से निरूपित हुआ उसने (शुष्णं) शोषकको (वधैः) आघातों द्वारा (निघोषयन्) निःशब्द, [मौन अतएव मृत] करते हुए (क्रिविं अभि) हिंसक को (ओजसा) अपनी ओजस्विता के द्वारा (प्र, ननक्षे) व्याप्त कर लिया ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वर जब सारी सृष्टि को रचकर इसका आधार बना तब वह स्वभावतः इसका स्वामी, अधीश्वर कहलाया। अधीश्वर के रूप में वह सभी प्रकार के शोषकों और हिंसाशीलों को नियंत्रित करता है ॥८॥

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः ॥९॥

पदार्थः—(अयं) यह (विश्वः) सारा संसार, भले ही वह (आर्यः) प्रगतिशील हो या (दासः) प्रगति का विध्वंसक हो; (शेवधिपाः) धन का रक्षक हो या (अरिः) लूटने वाला शत्रु हो (यस्य) जिसके पीछे है; (सः रयिः) वह ऐश्वर्य (तिरः चित्) अप्रत्यक्ष रूप से (अर्ये) स्वामिभूत, (रुशमे) हिंसक भावनाओं के हिंसक, (पवीरवि) साधनयुक्त (तुभ्येत्) आप इन्द्र में ही स्थापित है ॥९॥ [रुशमः, हिंसकान् मिन्वति यः सः–ऋ० द०]।

भावार्थः—संसार में विभिन्न भावनाओं वाले सभी व्यक्ति ऐश्वर्य के

इच्छुक हैं; परन्तु इस ऐश्वर्य का अध्यक्ष तो एकमात्र परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ही है, उससे निर्दिष्ट साधनों से ही उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है ॥९॥

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः ॥१०॥

पदार्थः—(तुरण्यवः) फुर्तीले (विप्रासः) बुद्धिमान् साधक (मधुमन्तं) अमृत-रस, मोक्षसुखयुक्त, (घृतश्चुतं) ज्ञानरूप तेज चुवाते—तेज से ओत-प्रोत—(अर्कं) पूज-नीय परमेश्वर की (अर्चन्ति) इन शब्दों में स्तुति करते हैं—"(अस्मे) हममें (रयिः) दानभावना से प्रदत्त ऐश्वर्य (प प्रथे) बढ़े; और (वृष्ण्यं) बलिष्ठ में पाया जाने वाला (शवः) बल बढे तथा (सुवानासः) प्रेरणा (अन्तर्ज्ञान) के प्रदाता (इन्दवः) आनन्दरस प्राप्त हों ॥१०॥

भावार्थः—बुद्धिमान् वही हैं जो परम ऐश्वर्य, मोक्षसुख के धनी परम प्रभु के क्षात्र एवं ब्राह्मबल का ध्यान करते हुए स्वयं शारीरिक बल और आत्मिक शक्ति अर्जित करने का प्रयत्न करते हैं ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह इक्यावनवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य द्वापञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य १—१० आयुः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ७ निचृद्बृहती । ३, ५ बृहती । ९ विराड् बृहती । २ पादनिचृद् पङ्क्तिः । ४, ६, ८, १० निचृत् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९ मध्यमः । २, ४, ६, ८, १० पञ्चमः ॥

यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम् ।
यथा त्रिते छन्द इन्द्र जुजोषस्यायौ मादयसे सचा ॥१॥

पदार्थः—हे (शक्र) साधना द्वारा शक्तिसम्पन्न मेरे आत्मन् ! जिस प्रकार तू (विवस्वति) अज्ञानान्धकार को दूर भगाकर ज्ञान के प्रकाश से आलोकित (मनौ) मननशील साधक के अन्तःकरण में (सुतं) निष्पादित (सोमं) ऐश्वर्यकारक प्रबोध का (अपिबः) पान करता है और (त्रिते) त्रिविध सुख से युक्त साधक के अन्तःकरण में विद्यमान (छन्दः) सन्तृप्ति सुख के समान सुख का (जुजोषसि) लगातार खूब सेवन करता है, (आयौ) सत्यासत्य के विवेचक साधक के अन्तःकरण में विद्यमान वैसे ही परमानन्द में भी (सचा) संगति द्वारा (मादयसे) तू मग्न होता है ॥१॥

भावार्थः—अज्ञानान्धकार से रहित, प्रबोधसम्पन्न साधक का आत्मा एक प्रकार के ऐश्वर्य का उपभोग करता है और त्रिविध सुखप्राप्त साधक का आत्मा सन्तृप्ति से आनन्दित होता है, इसी प्रकार सत्यासत्य की विवेचना करने वाले साधक का आत्मा भी दिव्य आनन्द में मग्न रहता है ॥१॥

पृषंध्रे मेध्यें मातरिश्वनीन्द्र सुवाने अमंन्दथाः ।
यथा सोमं दशंशिप्रे दशोंण्ये स्यूमंरश्मावृजूंनसि ॥२॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसाधक मेरे मन ! (सोमं) ऐश्वर्यकारक बोध की (सुवाने) प्रेरणा प्राप्त कर रहे (पृषध्रे) दिव्यानन्दधारी, (मातरिश्वनि) अन्तरिक्ष में अव्याहतगति वायु के समान बलिष्ठ एवं वेगवान्, (दशशिप्रे) बहुविध सुष्ठु सुख से परिपूर्ण, (दशोण्ये) बहुत प्रकार से स्वाश्रितों के दुःख दूर करने वाले, (स्यूमरश्मौ) अंग-अंग में व्याप्त विज्ञान-किरण तथा (ऋजूनसि) सरल आचार-व्यवहार वाले अभ्यासी की संगति में (यथा) उचित (अमन्दथाः) तृप्ति अनुभव कर ॥२॥

[दश=दशान्तैव संख्या; स्यूमाः संयुक्ता विज्ञानरश्मयो यस्मिन्; नासिका नसतेः गतिकर्मणः; ओणी-ओणृ अपनयने]।

भावार्थः—ऐश्वर्यकारक बोध प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति दिव्यानन्द-धारी, बलिष्ठ, उत्तम सुख सुविधाओं से पूर्ण, विज्ञानरश्मियों द्वारा तेजस्वी हो जाता है और पूर्णतया तृप्त रहता है ॥२॥

य उक्था केवंला दधे यः सोमं धृषितापिंबत् ।
यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विंचक्रम उपं मित्रस्य धर्मंभिः ॥३॥

पदार्थः—(यः) जिसने (केवला=केवलानि) विशुद्ध (उक्था=उक्थानि) प्रोत्साहन एवं उपदेश देने योग्य वेदस्थ स्तोत्रों को ही धारण किया है [उक्थानि=परिभाषितुमर्हाणि वेदस्थानि सर्वाणि स्तोत्राणि—स्वा० द०]; (यः) जो (धृषिता) दृढ़ एवं विजयी होने के लक्ष्य से (सोमं) पौष्टिक ओषधि आदि के रस का (अपिबत्) पान करता है और (यस्मै) जिसके हित के लिये (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर स्वयं (मित्रस्य धर्मभिः) मित्रता के कर्त्तव्यों के साथ मित्रता का निर्वाह करते हुए (त्रीणि) तीन भागों को—स्वरचित जगत् के तीन चौथाई भाग को (विचक्रमे) निरन्तर सचेष्ट करते हैं—ऐसा है यह जीवात्मा ॥३॥

भावार्थः—पुरुष सूक्त यजु० ३१-३ में कहा है कि 'पादोऽस्य विश्वा-

भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'—अर्थात् 'उस पुरुष की महिमा अनन्त है; क्योंकि प्रकृति आदि पृथ्वी पर्यन्त यह जो सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है—सो उसके एक चौथाई अर्थात् एक देश में वसता है और जो प्रकाश-गुण वाला (प्रकाशक) जगत् है वह उससे तिगुना और है और वह स्वयं मोक्षस्वरूप, सर्वप्रकाशक है। बस अपने मित्र जीवात्मा के लाभ के लिये परम प्रभु अपने इस प्रकाशक तिगुने भाग को सतत रूप से सचेष्ट रखते हैं ॥३॥

यस्य त्वमिन्द्र स्तोमेषु चाकनो वाजे वाजिञ्छतक्रतो ।
तं त्वा वयं सुदुघामिव गोदुहो जुहूमसि श्रवस्यवः ॥४॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) विज्ञानादि बल-धारण करने वाले, (शतक्रतो) सैकड़ों कर्म करने वाले (इन्द्र) परमैश्वर्य से सम्पन्न होने वाले जीवात्मन् ! (त्वं) तू विज्ञानादि बल के लिये (यस्य) जिसके (स्तोमेषु) स्तुतिवचनों में (चाकन) प्रीति रखता है (तं) उस परमेश्वर को (श्रवस्यवः वयं) अन्न आदि ऐश्वर्य की इच्छा रखते हुए हम (गोदुहः) गाय से दूध दुहने वाले (सुदुघां इव) सुगमता से दुही जाने वाली गाय को जैसे दाना आदि देकर उससे दूध लेते हैं वैसे हम (जुहुमः) उस परमेश्वर का गुणगान करके मानो उसे कुछ अर्पित करते हैं और फिर उसके गुणों को ग्रहण करते हैं ॥४॥

भावार्थः—जीवात्मा परमेश्वर का स्तुतिगान करके उसको यों तो वस्तुतः कुछ देता नहीं है परन्तु वही मानो उसका प्रभु को दान है। इस 'दान' से उसमें परमेश्वर के गुणग्रहण की शक्ति सञ्चित होती है—यही 'आदान' है; इस प्रकार 'दानादान' की यह क्रिया अथवा यज्ञ निष्पन्न हो रहा है ॥४॥

यो नो दाता स नः पिता महाँ उग्र ईशानकृत् ।
अयामन्नुग्रो मघवा पुरूवसुर्गोरश्वस्य प्र दातु नः ॥५॥

पदार्थः—(यः) जो परमेश्वर (नः) हमें (दाता) ऐश्वर्यों का दान करता है, (सः) वही (नः पिता) हमारा पालक है, (महान् उग्रः) अति तेजस्वी है और (ईशान-कृत्) अभावग्रस्त को भी ऐश्वर्य का शासक, स्वामी बना देता है और (अयामन्) अगन्तव्य मार्ग पर चलने वाले पापकर्मा के प्रति वह (उग्रः) भयानक रूप धारण कर लेता है। वह (पुरूवसुः) बहुतों को वसाने वाला (मघवा) स्वयं ऐश्वर्यसम्पन्न (नः) हमें (गोः अश्वस्य) गाय, अश्व आदि ऐश्वर्य प्रदान करे ॥५॥

भावार्थः—पापमार्ग पर चलने वाले को भगवान् के गुणगान से कोई लाभ नहीं हो सकता; हम कुमार्गगामी न हों और उसके गुणों को धारण करने का सामर्थ्य उत्पन्न करें ॥५॥

यस्मै त्वं वसो दानाय मंहसे स रायस्पोषमिन्वति ।
वसूयवो वसुंपति शतक्रतुं स्तोमैरिन्द्रं हवामहे ॥६॥

पदार्थः—हे (वसो) वसाने वाले परमेश्वर! आप (यस्मै) जिस साधक के लिये (दानाय) दानार्थ (मंहसे) [महि भाषार्थो वा] आदेश देते हैं (सः) वह साधक (रायस्पोषं) ऐश्वर्य की पुष्टि को (इन्वति) प्राप्त कर लेता है—वह धन से समृद्ध हो जाता है। इसलिये (वसूयवः) ऐश्वर्य के इच्छुक हम साधक (स्तोमैः) स्तुति वचनों द्वारा (वसुपतिं शतक्रतुं) धनपालक, बहुकर्मा (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का ही (हवामहे) दूसरों को उपदेश देते हैं और उस ही के गुणों को सुनते हैं ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वर के समृद्ध रूप का स्तवन करते-करते जब साधक गुणग्रहण के लिये सुपात्र बन जाता है तब उसको भगवान् के गुणों का दान ऐसे मिल जाता है कि मानो भगवान् के आदेश से ही ऐसा हुआ है। इसीलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह भगवान् के गुणों को स्वयं सुने और दूसरों को सुनाये भी। यही भगवत्-कीर्तन यज्ञ है ॥६॥

कदा चन प्र युच्छस्युभे नि पासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियमा तस्थावमृतं दिवि ॥७॥

पदार्थः—हे (तुरीय) चतुर्थ कारण अर्थात् परमकारण! (आदित्य) विनाशरहित परमेश्वर! (इन्द्रियं) ऐश्वर्य की प्राप्ति का लक्षक (अमृतं) मोक्षप्रापक (ते) आपका (हवनं) आवाहन अथवा प्रार्थना (दिवि) ज्ञान के प्रकाश पर (आतस्थौ) आश्रित है। आप तो (उभे) दोनों प्रकार के=अच्छे तथा बुरे—स्वभाव से पापी व पुण्यात्मा—दोनों (जन्मनी) जीवों का (निपासि) विशेष ध्यान रखते हैं; द्रष्टा के अपने इस कर्त्तव्य में आप (कदाचन) कभी (न) [न का अध्याहार] नहीं (प्रयुच्छसि) प्रमाद करते ॥७॥

भावार्थः—संसार के पापी-पुण्यात्मा—दोनों-प्रकार के मनुष्यों के कर्मों का द्रष्टा परमेश्वर है—इस कार्य में उसका कभी प्रमाद नहीं होता। हां, जो परमात्मा का आवाहन करने लगते हैं—उनको मानो उस अविनाशी, परमकारण प्रभु का ऐश्वर्य मिल गया हो। परन्तु यह आवाहन वह जीव करता है जिसको ज्ञान का प्रकाश मिल जाता है ॥७॥

यस्मै त्वं मघवन्निन्द्र गिर्वणः शिक्षो शिक्षसि दाशुषे ।
अस्माकं गिर उत सुष्टुतिं वसो कण्ववच्छृणुधी हवम् ॥८॥

पदार्थः—हे (मघवन्) ऐश्वर्यशाली ! हे (गिर्वणः) वाणियों से याचनीय ! (शिक्षो) हे शिक्षक ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) आप (यस्मै दाशुषे) जिस आत्म-समर्पक भक्त को (शिक्षसि) शिक्षा देते हैं; (अस्माकं) उसके सदृश हमारी भी हे (वसो) बसाने वाले ! (गिरः) प्रार्थनाओं को (उत) और (सुष्टुतिं) शोभन स्तुति को (कण्ववत्) स्तुत्य के समान (त्वं) आप (शृणुधि) सुनिये ॥८॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र में बताया था कि जब जीव परमेश्वर से प्रार्थना करने योग्य होता है तब समझो वह प्रभु से ऐश्वर्य प्राप्त करने लगा है और यह योग्यता उसे ज्ञान का प्रकाश मिलने पर निर्भर करती है। इस मन्त्र में बताया कि प्रभु ईश्वरार्पणबुद्धिसे काम करने वाले आत्मसमर्थक भक्त को ही उक्त शिक्षा अथवा प्रकाश देते हैं ॥८॥

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ।९।

पदार्थः—(मन्म) मननीय (पूर्व्यं) सनातन (ब्रह्म) वेदज्ञान (अस्तावि) स्तुति द्वारा सिद्ध किया गया है, उसका (इन्द्राय) ऐश्वर्य की साधना कर रहे जीवात्मा को (वोचत) उपदेश दो। (ऋतस्य) परमसत्य अथवा यथार्थ [परम सत्य] का ज्ञान देने वाली (पूर्वीः) सनातन (बृहतीः) बृहती ऋचाओं द्वारा (अनूषत) स्तुति करें। इस प्रकार (स्तोतुः) स्तोता की (मेधा) बुद्धिशक्ति की (असृक्षत) रचना होती है ॥९॥

भावार्थः—विधिपूर्वक परमेश्वर की स्तुति द्वारा साधक के अन्तःकरण में परमेश्वर के गुणों का आधान होता है और वह सर्वप्रकार से समृद्ध हो जाता है। इस मंत्र में बताया गया है कि स्तुति के उपयुक्त शब्द सनातन वेद के शब्द हैं; उन्हीं का विधिपूर्वक पाठ करना चाहिये ॥९॥

समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम् ।
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्र) ऐश्वर्यसाधक मननशील जीवात्मा उपर्युक्त (बृहतीः) बृहती ऋचाओं रूप (रायः) ऐश्वर्य को (सं अधूनुत) सम्यक् प्रकार से प्रवर्तित करे

[घृ=to excite आप्टे] और इस स्तवन से (क्षोणी) द्युलोक से पृथिवी लोक तक को (उ) और (सूर्यं) सूर्यलोक को—सभी लोकों को (सम्, अघूनुत) गुञ्जा दे। उस इन्द्र को (शुक्रासः) वीर्यकारक, और (शुचयः) पवित्र (सोमाः) दिव्यानन्द रस और (गवाशिरः) ज्ञानमिश्रत दिव्यानन्द रस (सम्, अमन्दिषुः) भली भान्ति मग्न करते हैं ॥१०॥

भावार्थः—भगवद्गुणकीर्तन भलीभान्ति करना चाहिये। ज्ञान-पूर्वक—शब्दों के अर्थों को भलीभान्ति हृदयंगम करते हुए—किया हुआ गुणकीर्तन अपूर्व मग्नता प्रदान करता है ॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह बावनवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टर्चस्य त्रिपंचाशत्तमस्य सूक्तस्य १—८ मेध्यः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ५, ७ विराड् बृहती । ३ आर्ची स्वराड् बृहती । २, ४, ६ निचृत् पंङ्क्तिः । ८ विराड् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७ मध्यमः । २, ४, ६, ८ पञ्चमः ॥

उपमं त्वा मघोनां ज्येष्ठं च वृषभाणाम् ।
पूर्भित्तमं मघवन्निन्द्र गोविदमीशानं राय ईमहे ॥१॥

पदार्थः—हे (मघवन्) पूजित ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त ! (इन्द्र) पर-मैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (मघोनां) उदारों में (उपमं) दृष्टान्तस्वरूप, (वृषभाणां) सुख आदि के वर्षकों में (ज्येष्ठं) प्रशंसनीय, (पूर्भित्तमं) [दुष्टों की] रक्षापंक्तियों को छिन्न-भिन्न करने वाले, (गोविदं) पृथ्वी आदि पदार्थों के प्रापक, (ईशानं) ऐश्वर्य के हेतु सृष्टिकर्ता, (राये) दानभावना से सुसंस्कृत ऐश्वर्य के लिये (त्वा) आप को (ईमहे) प्राप्त करें अर्थात् जानें ॥१॥

भावार्थः—जगत् का अधिपति परमोदार है; ऐश्वर्य प्राप्ति का एक-मात्र उपाय उसको जानकर उसके गुणों का आधान करना ही है; इस प्रकार उस से अधिष्ठित-पूजित ऐश्वर्य हमें प्राप्त होता है ॥१॥

य आयुं कुत्समतिथिग्वमर्दयो वावृधानो दिवेदिवे ।
तं त्वा वयं हर्यश्वं शतक्रतुं वाजयन्तो हवामहे ॥२॥

पदार्थः—(दिवेदिवे) प्रतिदिन (वावृधानः) बढ़ाते हुए (यः) जो परमेश्वर (आयुं) प्राप्तव्य अन्न-ज्ञान-आदि को, (कुत्सं) शत्रुओं और शत्रुभावनाओं को तिर-

स्कृत करने के साधन वज्र आदि को तथा (अतिथिग्वं) अतिथिवद् पूज्यों का संगम कराने के साधनों को (अर्वथः) प्राप्त कराते हैं (तं) उन, (हर्यश्वं) मनुष्यों को सुमार्ग पर शीघ्र चलाने वाले, (शतक्रतुं) सैकड़ों प्रज्ञा एवं कर्मवाले, आपको (वाजयन्तः) प्राप्त करना चाहते हुए हम (हवामहे) आपका गुणगान करते हैं ॥२॥

भावार्थः—संसार के सभी पदार्थ, अन्न-ज्ञान-विभिन्न साधन—परम प्रभु की ही देन हैं; वही मनुष्य को सुमार्ग दिखाते हैं; उन प्रभु को प्राप्त करने के लिए उनके गुणों का वार-वार स्मरण एवं उच्चारण आवश्यक है ॥२॥

आ नो विश्वेषां रसं मध्वः सिञ्चन्त्वद्रयः ।

ये परावति सुन्विरे जनेष्वा ये अर्वावतीन्दवः ॥३॥

पदार्थः—(ये) जो (इन्दवः) सोमगुणसम्पन्न विद्वान् (परावति) दूरस्थ—अनुत्सुक, उत्साहशून्य—(जनेषु) जनके प्रति (सुन्विरे) सुखसम्पादक क्रियाओं का उपदेश देते हैं और जो (अर्वावति) उत्सुक-स्वाभिमुख अपनी ओर कान दिये जन को तो सुखसाधक क्रियाएं बताते हैं वे (अद्रयः) [मेघों के समान तापहारी उपदेशामृत को] सींचने वाले विद्वान् (विश्वेषां) सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान का (मध्वः) मधुर (रसं) सारभूत द्रव (नः) हमारे अन्तःकरण में (सिञ्चन्तु) सींचें अर्थात् हमें वह बोध प्रदान करें ॥३॥

भावार्थः—मेघ, कोई चाहे या न चाहे, वृष्टिजल का आसेचन करता ही है। सौम्य विद्वान् भी इसी प्रकार अपने उपदेशामृत की वर्षा अनुत्सुक प्रजा में भी करते हैं ॥३॥

विश्वा द्वेषांसि जहि चाव चा कृधि विश्वे सन्वन्त्वा वसु ।

शीष्टेषु चित्ते मदिरासो अंशवो यत्रा सोमस्य तृम्पसि ॥४॥

पदार्थः—(यत्र) जब (शीष्टेषु) प्रशिक्षित, सधे हुए (चित्ते) अन्तःकरण (सोमस्य) सम्पादयितव्य सुख के (मदिरासः) मादक (अंशवः) कणों से (तृम्पसि) तृप्त हो जाते हैं तब (विश्वाः) सब (द्वेषांसि) द्वेषभावनाएं (जहि) छूट जाती हैं (च) और [साधक] सब द्वेषभावनाओं को (अवकृधि) तिरस्कृत कर देता है। उस अवस्था में (विश्वे) समग्र (वसु) वासक ऐश्वर्य (सन्वन्तु) साधक की सेवा करते हैं ॥४॥

भावार्थः—भगवद्भक्ति के परमसुख से आप्लावित चित्त कुछ विशेष

नियमों में आबद्ध होकर हर्षित हो उठता है: ऐसे चित्त से द्वेषभावनाएं दूर हो जाती हैं और साधक सब प्रकार से समृद्ध हो जाता है ॥४॥

इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः ।

आ शंतम शंतमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (मितमेधाभिः) सुष्ठुतया रचित अनुग्रह-बुद्धियों सहित (ऊतिभिः) रक्षणादि क्रियाओं के साथ (नेदीयः) समीपतर (इत्) ही (आ इहि) आइये। हे (शन्तम) अधिकतम कल्याणकारी परमेश्वर! (शन्तमाभिः) अधिकतम कल्याण-कर (अभिष्टिभिः) हमारी कामनाओं को पूर्ण करते हुए आइये; हे (स्वापे!) सुष्ठुतया सुखप्राप्त परमेश्वर! आप (स्वापिभिः) सुष्ठुतया सुखों को प्राप्त कराने वाली शक्तियों को लिये हुए आइये ॥५॥

भावार्थः—साधक को परमेश्वर के गुणों का गान इस प्रयोजन से करना चाहिये कि उसके गुणों को अपने अन्तःकरण में आधान कर वह परमप्रभु के अनुग्रह का पात्र बने; और उसका अधिक से अधिक कल्याण हो। उसकी कल्याणकारिणी इच्छायें अधिक से अधिक पूर्ण हों और इस प्रकार वह सुखी हो ॥५॥

आजितुरं सत्पतिं विश्वचर्षणिं कृधि प्रजास्वाभगम् ।

प्र सू तिरा शचीभिर्ये त उक्थिनः क्रतुं पुनत आनुषक् ॥६॥

पदार्थः—हे परमेश्वर! आप (प्रजासु) हमारी सन्तति को (आजितुरं) संघर्ष में पार पहुँचाने वाले, (सत्पतिं) सज्जनों के पालन के साधक (विश्वचर्षणिं) समग्र मनुष्यों के रक्षासाधन (भगम्) ऐश्वर्य को (आ कृधि) प्रदान कीजिये। (ये) जो (उक्थिनः) स्तोता (ते) आप की (आनुषक्) अनुकूलता के साथ (क्रतुं) प्रशस्त यज्ञ कर्म (पुनते) करते हैं उनको (शचीभिः) कर्तृत्व एवं प्रज्ञाशक्तियों के द्वारा (सुप्रतिर) सम्यक्तया खूब बढ़ाइये ॥६॥

भावार्थः—मनुष्य के ऐश्वर्य का प्रयोजन सज्जनों और सभी मनुष्यों की रक्षा हो। जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञाओं के अनुसार, उसके अनुकूल, अपना बर्ताव रखता है, उसकी बुद्धि तीव्र होती है और वह सदा कर्मठ बना रहता है ॥६॥

यस्ते साधिष्ठोऽवसे ते स्याम भरेषु ते ।

वयं होत्राभिरुत देवहूतिभिः ससवांसो मनामहे ॥७॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! (ते) आपके (भरेषु) उत्तरदायित्वों के प्रति, (ते) आपकी (अवसे) प्रसन्नता अथवा सन्तोष के प्रयोजन के अनुसार (यः) जो (ते) आप की दृष्टि में (साविष्ठः) सबसे अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ हो वैसे उतने ही उपयुक्त हम (स्याम) हों। (ससवांसः) ऐश्वर्यप्राप्ति के इच्छुक (वयं) हम (होत्राभिः) वाणियों द्वारा (उत) और (देवहूतिभिः) विद्वानों के आह्वानों द्वारा (मनामहे) आपका मनन करें ॥७॥

भावार्थः—साधक को यह संकल्प धारण करना चाहिये कि वह परमेश्वर के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाने वालों में सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हो। भगवान् के गुणों का स्तवन वह अपनी वाणी से विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट शब्दों में करे ॥७॥

अहं हि ते हरिवो ब्रह्म वाजयुराजिं यामि सदोतिभिः ।
त्वामिदेव तममे समश्वयुर्गव्युरग्रे मथीनाम् ॥८॥

पदार्थः—हे (हरिवः) आकर्षक गुणों से युक्त (ब्रह्म) महान्, परमेश्वर ! (हि) निश्चय ही (वाजयुः) ऐश्वर्य का इच्छुक (अहं) मैं साधक (सदा) सदा (ते) आपकी (ऊतिभिः) देखभाल के साथ (आजिं) जीवन संग्राम में (यामि) पहुँचता हूँ। पुनश्च (अश्वयुः) बलवती कर्मेन्द्रियों का इच्छुक मैं (त्वां इत् एव तं) उस आपको ही (मथीनां) मन्थन करने वालों के (अग्रे) अग्रभाग में (सं अमे) अपना मित्र बनाता हूँ ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वर की देखभाल में जीवन संघर्ष का निर्वाह करने का अभिप्राय है, उसकी आज्ञाओं के अनुसार अपना बर्ताव रखना। परमेश्वर का आज्ञाकारी मानव भला किस विघ्न-बाधा से आतंकित हो सकता है ! वह तो परमेश्वर के अग्रणी मित्रों में स्थान प्राप्त कर लेता है ॥८॥

अष्टम मण्डल में यह त्रेपनवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टर्चस्य चतुष्पञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य १—८ मातरिश्वा काण्व ऋषिः ॥ १, २, ५—८ इन्द्रः । ३, ४ विश्वेदेवा देवताः ॥ छन्दः—१, ५ निचृद् बृहती । ३ बृहती । ७ विराड् बृहती । २, ४, ६, ८ निचृत् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७ मध्यमः । २, ४, ६, ८ पञ्चमः ॥

एतत्त इन्द्र वीर्यं गीर्भिर्गृणन्ति कारवः ।
ते स्तोभन्त ऊर्जमावन्घृतश्चुतं पौरासो नक्षन्धीतिभिः ॥१॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (कारवः) स्तोता विद्वान् (गीर्भिः) अपनी वाणियों द्वारा (ते) आपके (एतत् वीर्यं) इस पराक्रम का (गृणन्ति) बखान करते हैं; वे कहते हैं कि (ते पौरासः) वे सामान्य जन (स्तोभन्तः) स्तुति करते हुए (ऊर्जं) बल को (आ अवन्) प्राप्त करते हैं तथा (धीतिभिः) धारणा और ध्यान द्वारा (घृतश्चुतं) तेज टपकाते=अतितेजस्वी आनन्द को (नक्षन्ते) प्राप्त कर लेते हैं ॥१॥

भावार्थः—मनुष्य को परमेश्वर के गुणकीर्तन से जो आत्मिक बल प्राप्त होता है, धारणा-ध्यान एवं समाधि से वही अति तेजस्वी रूप में प्राप्त होता है ॥१॥

नक्षन्त इन्द्रमवसे सुकृत्यया येषां सुतेषु मन्दसे ।
यथा संवर्ते अमदो यथा कृश एवास्मे इन्द्र मत्स्व ॥२॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के इच्छुक ! (येषां) जिन साधकों के (सुतेषु) निष्पादित विज्ञान बल आदि पर (मन्दसे) तू प्रसन्न होता है वे (अवसे) अपनी सुरक्षा व सहायता के लिये (सुकृत्यया) शोभन कर्मों की धारा के द्वारा, निरन्तर सुकर्म करते हुए (इन्द्रं) परमेश्वर को (नक्षन्ते) प्राप्त कर लेते हैं। तू (यथा) जितना (संवर्त्ते) सब कुछ समेट कर रखने वाले में (अमदः) प्रसन्न होता है और (यथा) जितने (कृशे) कुछ भी संचय न करने वाले—ऐश्वर्य में निर्बल में(अमदः) प्रसन्न होता है (एव) उसी प्रकार (अस्मे) हम–संचित कर दान करने वालों में (मत्स्व) प्रसन्न हो ।२॥

[संवर्तः=आप्टे के अनुसार 'समुच्चय' प्रलयकालीन उस मेघ का नाम संवर्त है जिसमें असाधारण रूप से जल का समुच्चय हो जाता है। इस प्रकार यहाँ 'संवर्त' उस व्यक्ति का नाम है जो धनादि ऐश्वर्य का असाधारण संचय कर लेता है]

भावार्थः—मनुष्य को न तो निरा संचयी ही होना चाहिये और न निरा धनहीन। संचय करते हुए दानशील होना ही प्रभु की आज्ञा का पालन है ॥२॥

आ नो विश्वे सजोषसो देवासो गन्तनोप नः ।
वसवो रुद्रा अवसे न आ गमञ्छृण्वन्तु मरुतो हवम् ॥३॥

पदार्थः—(विश्वे) सभी (देवासः) मूर्तिमान् तथा अमूर्तिमान् देव (नः सजोषसः) हमसे प्रीतियुक्त हुए (नः) हमारे (उप गन्तन) समीप पहुँचें—हमारे अनुकूल हों। (वसवः) अग्नि आदि आठों—सब को वास देने वाले—और (रुद्राः) शरीर से निकल जाने पर सम्बन्धियों को रुलाने वाले ग्यारहों रुद्र देवता (नः) हमारे

(अवसे) उपकार के प्रयोजन से (आ गमन्) आवें और (मरुतः) ऋत्विज्, वायु के समान बलिष्ठ वीरजन तथा अन्य विद्वान् (नः) हमारी (हवं) पुकार को सुनें ॥३॥

भावार्थः—मूर्तिमान् दिव्य पदार्थों के गुणों का अध्ययन कर हम उनको अपना समीपी बनावें और उनको उपयोग में लावें तथा विद्वानों का सत्संग कर उनके उपदेशों से लाभ उठावें ॥३॥

पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वत्यवन्तु सप्त सिन्धवः ।

आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवंम् ॥४॥

पदार्थः—(पूषा) सब का पोषक सूर्य, (विष्णुः) व्यापक वायु, (सरस्वती) वाणी और (सप्त सिन्धवः) सात स्थानों पर स्थित जल [भूमिपर समुद्र, नदी, कूप और तडाग—इन चार स्थानों में स्थित; तथा अन्तरिक्ष में निकट, मध्य एवं दूर पर स्थित] (मे हवं) मेरे आह्वान का (अवन्तु) प्रतिपालन करें। इसी प्रकार (आपः) व्यापक अन्तरिक्ष (वातः) वायु, (पर्वतासः) मेघ, (वनस्पति) वृक्ष, लता आदि, (पृथिवी) भूमि मेरी (हवं) पुकार को (शृणोतु) सुनें ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उदाहरण रूप से कुछ प्रमुख जड़ दिव्य पदार्थों का नाम लिया है। इनके गुणों का समीप से अध्ययन करना ही इनका आह्वान है; मनुष्य को चाहिये कि उनके गुणों को जानकर इनसे यथोचित उपकार ग्रहण करे ॥४॥

यदिन्द्र राधो अस्ति ते माघोनं मघवत्तम ।

तेन नो बोधि सधमाद्यो वृधे भगो दानाय वृत्रहन् ॥५॥

पदार्थः—हे (मघवत्तम) आदरणीय ऐश्वर्य के स्वामियों में से सर्वश्रेष्ठ, (इन्द्र) परमेश्वर ! (यत् ते राधः) जो आपका सिद्धिप्रद ऐश्वर्य (माघोनं) मघवा—ऐश्वर्य के वास्तविक स्वामी आप - से शासित (अस्ति) है, हे (वृत्रहन्) विघ्नापहारक प्रभो ! आप (सधमाद्यः) साथ-साथ प्रसन्न होने वाले तथा (भगः) सहभागी होकर (वृधे) हमें बढ़ाने के लिये तथा (दानाय) दानशीलता के लिये, (तेन) उस उपर्युक्त ऐश्वर्य का (नः बोधि) हमें बोध दीजिये ॥५॥

भावार्थः—परम प्रभु ऐश्वर्य से होने वाली हमारी प्रसन्नता में सहभागी तभी हो सकता है कि जब हम ऐश्वर्य को उसके वास्तविक स्वामी से शासित समझें—उसका उपयोग परमेश्वर से प्राप्त निर्देशों के अनुसार करते रहें। ये निर्देश हमें प्रभु के गुणकीर्तन तथा सिद्ध पुरुषों के उपदेशों से प्राप्त होते हैं ॥५॥

आजिपते नृपते त्वमिद्धि नो वाज आ वक्षि सुक्रतो ।
वीती होत्राभिरुत देववीतिभिः ससवांसो वि शृण्विरे ॥६॥

पदार्थः—(आजिपते) युद्ध आदि संघर्षों में हमारी पालना करने वाले (सुक्रतो) शोभन प्रज्ञा एवं कर्मवान्; (नृपते) राजन् ! (त्वं इत् हि) आप ही (नः) हमें (वाजे) युद्ध आदि संघर्ष में (आ वक्षि) वहन करते हैं; (वीती) कामना के साथ किये गये (होत्राभिः) दानादान रूप सत्कर्मों के द्वारा और (देववीतिभिः) विद्वानों की विशेष नीतियों का आश्रय लेकर (ससवांसः) अन्न आदि ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुए हम प्रजाजन (विशृण्विरे) विशेष रूप से प्रसिद्ध होते हैं ॥६॥

भावार्थः—प्रजा राजा की सहायता से युद्ध आदि में विजय प्राप्त करती है और यज्ञ आदि सत्कर्मों एवं विद्वानों की नीतियों का अवलम्बन कर सम्पन्न तथा परिणामतः प्रसिद्ध होती है ॥६॥

सन्ति ह्यर्य आशिष इन्द्र आयुर्जनानाम् ।
अस्मान्नक्षस्व मघवन्नुपावसे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम् ॥७॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! (जनानाम्) मनुष्यों की (आशिषः) सिद्ध होने वाली इच्छायें तथा (आयुः) जीवन एवं जीवन के हेतु अन्न आदि सब (अर्ये) सब के स्वामी (इन्द्रे) आप सर्वैश्वर्यवान् ईश्वर के आधार पर (सन्ति) वर्तमान हैं। हे (मघवन्) पूजित ऐश्वर्य के धनी ! आप (अस्मान्) हमें (उप नक्षस्व) समीप से व्याप्त कीजिये, और (अवसे) हमारी रक्षा एवं सहायता के लिये (पिप्युषीम्) अत्यन्त पालक (इषं) प्राप्तव्यकी प्रेरणा (धुक्षस्व) पूरित कीजिये, दीजिये ॥७॥

भावार्थः—मानव की सभी सफल-इच्छायें प्रभु पर निर्भर हैं—प्रभु के यथार्थ स्वरूप को अपने समक्ष रखता हुआ मानव यदि उससे सही प्रेरणा ले तो उसे सभी प्राप्तव्य पदार्थ मिलते हैं ॥७॥

वयं त इन्द्र स्तोमेभिर्विधेम त्वमस्माकं शतक्रतो ।
महि स्थूरं शशयं राधो अह्रयं प्रस्कण्वाय नि तोशय ॥८॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (स्तोमेभिः) सामगानादि स्तुतियों द्वारा (ते) आप का (विधेम) गुणगान करें तो हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्मों एवं अनन्त प्रज्ञा वाले तथा इसीलिये हमारी सब मनोकामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ प्रभो ! आप (प्रस्कण्वाय) प्रकृष्ट उपासक मुझे (महि) आदर दिलाने वाले, (अह्रयं)

जिसको प्राप्त कर समाज में लज्जास्पद न होना पड़े ऐसे (स्यूरं) स्थिर (शश्वयं) सदा प्रवहमान [शश प्लुतगतौ] (राधः) सिद्धिदायक ऐश्वर्यं (नि तोशय) देकर सन्तुष्ट होइये ॥१॥

भावार्थः – सब ऐश्वर्यों के अधिपति तथा जीवों को उसे प्रदान करने वाले परमप्रभु के और जोवों के आदर का कारण वही ऐश्वर्य होता है जिसकी प्राप्ति साधक ने परम प्रभु के गुणों को अपने अन्त:करण में रखते हुए एवं वाणी से उनका गान करते हुए की हो। ऐसा ऐश्वर्य सदा प्रवहमान, दूसरों को दिया जाता होना चाहिये; किसी एक स्थान पर रुकना नहीं चाहिये। और फिर भी वह स्थिर होगा—प्रभु की सारी सृष्टि के समान प्रवाहरूप में स्थिर ॥८॥

अष्टम मण्डल में यह चौवनवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य पञ्चपञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य १-५ कृशः काण्व ऋषिः ॥ प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिर्देवता ॥ छन्दः—१ पादनिचृद्गायत्री । २, ४ गायत्री । ३, ५ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, २, ४ षड्जः । ३, ५ गान्धारः ॥

भूरीदिन्द्रस्य वीर्यं१ व्यख्यमभ्यायति ।

राधस्ते दस्यवे वृक ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् के (भूरि) प्रभूत (वीर्यं) बल की मैं (व्यख्यम्) विशेष रूप से व्याख्या करता हूँ: हे (दस्यवे) लुटेरे के लिए (वृक) उसको काट डालने वाले ! (ते) तेरा ऐश्वर्य (अभि, आ, अयति) मेरे सन्मुख आ रहा है ॥१॥

भावार्थः—इन ऋचाओं का अभिप्राय स्तोता की दानशीलता की प्रशंसा करना है। इस ऋचा में बताया है कि ऐश्वर्यवान् व्यक्ति का बल बहुत अधिक होता है; वह लुटेरे को तो सहन तक नहीं करता; अपना धन-ऐश्वर्य दान कर सकता है—लुटवाना पसन्द नहीं करता ॥१॥

शतं श्वेतास उक्षणो दिवि तारो न रोचन्ते ।

मह्ना दिवं न तस्तभुः ॥२॥

पदार्थः—(शतं) सैंकड़ों (श्वेतासः) शुभ्रवर्ण के (उक्षणः) वीर्यसेक्ता, अतएव सन्तति द्वारा वृद्धिकारक वृषभ आदि जो (रोचन्ते) शोभित हैं, ऐसे (न) जैसे कि (दिवि) आकाश में (तारः) तारे चमकते हैं।(मह्ना) अपने महत्त्व के द्वारा वे (दिवं न) मानो आकाश को ही (तस्तभुः) थाम्भे हुए हैं ॥२॥

भावार्थः—इन्द्र के ऐश्वर्य में सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण पदार्थ 'उक्षा' हैं—अर्थात् सेचन द्वारा वृद्धि कराने वाले। इसमें सभी उत्पादक शक्तियों वाले पदार्थ सम्मिलित हैं ॥२॥

शतं वेणूञ्छतं शुनः शतं चर्माणि म्लातानि।
शतं मे बल्बजस्तुका अरुषीणां चतुःशतम् ॥३॥

पदार्थः—(शतं) सैंकड़ों (वेणून्) वीणायें. (शतं) अनेक कुत्ते, (शतं म्लातानि चर्माणि) सैंकड़ों परिष्कृत चमड़े, (शतं) सैंकड़ों (बल्बजस्तुकाः) विशेष प्रकार की घास के गुच्छे, (अरुषीणां) चमकती हुई [भूमियों की] (चतुः शतम्) चार सौ संख्या ॥३॥

भावार्थः—ऐश्वर्यवान् की ऐसी-ऐसी विविध प्राकृतिक व परिष्कृत विभूतियां हैं ॥३॥

सुदेवाः स्थ काण्वायना वयोवयो विचरन्तः।
अश्वासो न चङ्क्रमत ॥४॥

पदार्थः—(वयोवयः) कमनीय जीवन-जीवन में (विचरन्तः) विचरण करते हुए, (काण्वायनाः) शिष्य-प्रशिष्यों समेत स्तोताओ! (सुदेवाः) शोभन गुण कर्म स्वभावों से दीप्यमान होओ। (अश्वासः न) अश्वों के समान वीरतापूर्वक (चङ्क्रमत) लगातार चलते रहो ॥४॥

भावार्थः—शुभगुण कर्म स्वभाव युक्त स्तोताओं का समूह भी प्रमुख स्तोता का एक प्रकार का ऐश्वर्य ही है। प्रकृष्ट स्तोता अकेला नहीं होता; उसका एक समूह, परिवार का परिवार ही, होता है। यह भी उसकी विभूति है ॥४॥

आदित्साप्तस्य चर्किरन्नानूनस्य महि श्रवः।
श्यावीरतिध्वसन्पथश्चक्षुषा चन संनशे ॥५॥

पदार्थः—(आदित्) इसके अनन्तर तो उन्होंने (साप्तस्य) सप्तविध ऐश्वर्य के स्वामी तथा (अनूनस्य) सब प्रकार की न्यूनताओं से रहित के (श्रवः) यश को भी (महि) आदरणीय (न) नहीं (चर्किरन्) ठहराया। बात यह है कि (श्यावीः) अन्धेरे (पथः) मार्गों को (अति ध्वसन्) पार करता हुआ (चक्षुषा चन) आंख तक से भी नहीं (संनशे) उन मार्गों को व्याप्त कर सकता है ॥५॥

भावार्थः—अन्धेरे मार्ग पर प्रकाश के अभाव में आँख भी काम नहीं देती—भगवान् के भक्त का ऐश्वर्य सभी प्रकार के ऐश्वयों से बढ़ा-चढ़ा होता है—उसके अभाव में दूसरे सब ऐश्वर्य एक प्रकार से फीके ही रहते हैं; ऐसे ही जैसे कि प्रकाश के विना आँख भी व्यर्थ रहती है ॥५॥

अष्टम मण्डल में यह पचपनवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य षट्पञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य पृषध्रः काण्व ऋषिः ॥ १—४ प्रस्कण्वस्य दानस्तुतिः । ५ अग्निसूर्यौ देवते ॥ छन्दः—१, ३, ४ विराड्गायत्री । २ गायत्री । ५ निचृत् पङ्क्तिः ॥ स्वरः१—४ षड्जः । ५ पञ्चमः ॥

प्रति॑ ते दस्यवे वृक॒ राधो॑ अदर्श्यह्र॒यम् ।

द्यौर्न प्र॑थि॒ना शवः॑ ॥१॥

पदार्थः—हे (दस्यवे) लुटेरे को नष्ट करने के लिये (वृक) वृक के समान भयङ्कर ! (ते राधः) तेरे ऐश्वर्य को मैंने (अह्रयं) लज्जा आदि दोषों से रहित (प्रति अदर्शि) समझा । (ते शवः) तेरा बल (द्यौः, न) आकाश के समान (प्रथिना) विस्तृत है ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर के प्रकृष्ट गुण कीर्तन करने वाले स्तोता को जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वह उसको लज्जित नहीं करता; ऐसे स्तोता की दानशीलता के कारण उसका प्रभाव चारों ओर विस्तृत हो जाता है ॥१॥

दश॒ मह्यं॑ पौतक्र॒तः स॒हस्रा॒ दस्य॑वे॒ वृकः॑ ।

नित्या॑द्रा॒यो अमं॑हत ॥२॥

पदार्थः—(दस्यवे वृकः) लुटेरे घातक के लिये वृक के समान भयङ्कर एवं कठोर हृदय वाला (पौतक्रतः) पवित्र ज्ञान एवं पवित्र कर्मकर्ता ऐश्वर्यवान् राजा आदि (नित्यात्) अपने निरन्तर बने रहने वाले (रायः) दान के प्रयोजन से संगृहीत ऐश्वर्य में से (दशसहस्रा) दश सहस्र अर्थात् बहुत सा धन (मह्यं) मुझ स्तोता को (अमंहत) प्रदान करता है ॥२॥

भावार्थः—ऐश्वर्य का अधिपति, स्तोता-साधक को अपने कोश में से दे; लुटेरे को नहीं । (रायः) उसका कोश तो देने के लिये ही है ॥२॥

श॒तं मे॑ गर्द॑भानां श॒तमूर्णा॑वतीनाम् ।

श॒तं दा॒साँ अति॒ स्रजः॑ ॥३॥

पदार्थः—वह धनाधिपति (मे) मुझ स्तोता को (शतं गर्दभानाम्) सैंकड़ों गर्दभ आदि पशु; (ऊर्णावतीनां शतम्) सैंकड़ों ऊन वाले पशु और (शतं दासान्) सैंकड़ों कार्य में सहायता देने वालों सहायकों को [दासः दासते, दानकर्मणः] (अतिस्रजः) प्रदान करता है ॥३॥

भावार्थः—ऐश्वर्य का अधिपति जहां विभिन्न प्रकार के पशुओं का पालन कर उनसे विविध उपयोग ले सकता है वहाँ वह अपने कार्यों में सहायकों को नियुक्त कर उनका भी पालन कर सकता है ॥३॥

तत्रो अपि प्राणीयत पूतक्रतायै व्यक्ता ।

अश्वानामिन्न यूथ्याम् ॥४॥

पदार्थः—(तत्रो अपि) उनमें भी निश्चय ही (पूतक्रतायै) पवित्र ज्ञान एवं संकल्परूपा ऐश्वर्यशक्ति के लिये,(व्यक्ता) विविध गमनशील उन्होंने (अश्वानां इत् न) मानो वेगवान् अश्वों के ही (यूथ्यां) समूह में सम्भव शक्ति का (प्र अनीयत) प्रणयन किया ॥४॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र में जो पशु-आदि ऐश्वर्य दिखाया है उसको और अधिक शक्तिमान् बनाये जाने का संकेत इस मन्त्र में प्रतीत होता है ॥४॥

अचेत्यग्निश्चिकितुर्हव्यवाट् स सुमद्रथः ।

अग्निः शुक्रेण शोचिषा बृहत्सूरो अरोचत दिवि सूर्यो अरोचत ॥५॥

पदार्थः—(चिकितुः) ज्ञानवान् (हव्यवाट्) दातव्य एवं आदातव्य पदार्थों, भावों, विचारों आदि को एक स्थान से व एक व्यक्ति से दूसरे स्थान व व्यक्ति तक पहुँचाने वाला (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् पुरुष (अचेति) ज्ञानप्रदान करता है; (सः) वह (सुमद्रथः) स्वयं गतिशील है। (अग्निः) विद्वान् पुरुष जो (बृहत् सूरः) महान् प्रेरक है, वह (शुक्रेण) पवित्र (शोचिषा) विज्ञान के साथ (दिवि) ज्ञान के प्रकाश में (अरोचत) रुचिकर प्रतीत होता है; ऐसे ही जैसे कि (दिवि) द्युलोक में स्थित (सूर्यः) सूर्य (अरोचत) सब को प्रिय प्रतीत होता है ॥५॥

भावार्थः—ज्ञान से समृद्ध विद्वान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि अपने ज्ञान को सर्वत्र बाँटे; इसके लिये स्वयं गतिशील हो; द्युलोक स्थित सूर्य अपना प्रकाश और ताप सर्वत्र पहुँचाता है और सब का प्यार अर्जित करता है—इसी प्रकार विद्वान् अपने ज्ञानरूपी प्रकाश को बांटता हुआ ही अच्छा लगता है ॥५॥

अष्टम मण्डल में यह छप्पनवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्ऋचस्य सप्तपञ्चाशत्तमस्य सूक्तस्य १—४ मेध्यः काण्व ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१ विराट् त्रिष्टुप् । २, ३ निचृत्त्रिष्टुप् । ४ पादनिचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

युवं देवा क्रतुना पूर्व्येण युक्ता रथेन तविषं यजत्रा ।
आगच्छतं नासत्या शचीभिरिदं तृतीयं सवनं पिबाथः ॥१॥

पदार्थः—हे (नासत्या) सदा सत्याचरणशील (देवा) दानशील, सुशिक्षित स्त्री पुरुषो ! (युवं) तुम दोनों (पूर्व्येण) पूर्वजों द्वारा साक्षात्कृत (क्रतुना) अपने द्वारा उपार्जित ज्ञान (युक्ताः) के साथ तथा (रथेन) रमणीय तेज के साथ (तविषं) अपने सामर्थ्य को (यजत्रा) दूसरों से संगत कराते हुए—दूसरों को भी अपने-सरीखा बली बनाते हुए (आगच्छतं) आओ; (शचीभिः) अपनी शक्तियों को साथ में लिये हुए आओ और (इदं तृतीयं सवनं) तृतीय सवन=४८ वर्ष पर्यन्त तक ब्रह्मचर्य-सेवन का (पिबथः) पालन करो; इस तृतीय अवस्था का उपभोग करो। [अथ यान्यष्टाचत्वारिंशत् वर्षाणि तत् तृतीयं सवनम् ।] ॥१॥

भावार्थः—स्त्री-पुरुषों के जीवन यज्ञ का तृतीय सवन ४८ वर्ष की वयस् पर्यन्त ब्रह्मचर्य का सेवन है। इस उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करने वाले स्त्री-पुरुष उपार्जित ज्ञानवान्,तेजस्वी और बलवान् स्वयं तो होते ही हैं परन्तु उन्हें अपने शारीरिक,मानसिक व आत्मिक सामर्थ्य का दूसरों को भी उपदेश देते रहना चाहिये ॥१॥

युवां देवास्त्रय एकादशासः सत्याः सत्यस्य ददृशे पुरस्तात् ।
अस्माकं यज्ञं सवनं जुषाणा पातं सोममश्विना दीद्यग्नी ॥२॥

पदार्थः—हे (अश्विना) स्त्री पुरुषो ! (युवां) तुम दोनों को (सत्याः) न चूकने वाले (त्रयः एकादशासः) ३×११=३३ (देवाः) देवताओं ने (पुरस्तात्) पहले ही (सत्यस्य) सत्य को (ददृशे) दिखला रखा है। (दीद्यग्नी) अपने संकल्पबल को प्रदीप्त करते हुए, अब तुम दोनों (सवनं) तृतीय सवन का (जुषाणा) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए (अस्माकं) हमारे (सोमं) सकल गुणों, ऐश्वर्य तथा कल्याण के निष्पादक अध्ययनाध्यापन रूप (यज्ञं) इस जीवन यज्ञ का (पातं) पालन करवाइये ॥२॥

भावार्थः—वसु आदि ३३ देवताओं के गुणों का अध्ययन तथा जीवन में उनसे उपयोग तो तृतीय सवन में पहुंचने से पूर्व ही स्त्री पुरुष कर चुके हैं

और सत्य अर्थात् यथार्थ का दर्शन कर चुके हैं। अब साधक उनसे अपने जीवन-यज्ञ में सहायक होने की प्रार्थना करता है ॥२॥

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत्ताँ उप याता पिबध्यै ॥३॥

पदार्थः—हे (अश्विना) ब्रह्मचर्यव्रती स्त्री पुरुषो ! (दिवः) द्युलोक से, (रजसः) अन्तरिक्ष से और (पृथिव्याः) भूलोक से (वृषभः) सुख की वर्षा करने वाले सूर्य, मेघ और विद्वान् पुरुष ने (तत्) वह (वां) तुम्हारा (कृतं) कर्म (पनाय्यं कृतं) स्तुत्य बताया है। (उत) और (गविष्टौ) सुखविशेष की इच्छा की पूर्ति के निमित्त (ये) जो (सहस्रं) हजारों (शंसाः) कथन—वैदिक उपदेश—हैं (पिबध्यै) उनको अपने अन्तःकरण में संरक्षण देने के लिये (सर्वान् इत तान्) उन सभी के (उप यातं) समीप जाओ; समीप से, सावधान होकर, उन्हें सुनो ॥३॥

भावार्थः—सुखवर्षक परमेश्वर की आज्ञाओं, विद्वानों के उपदेशों, तथा सम्यक् प्रयोग से सुख देनेवाले सूर्य, मेघ आदि के गुणों को तृतीय सवन के सेवी स्त्री-पुरुष अपने अन्तःकरण में स्थान दें और अभीष्ट सुख प्राप्त करें ॥३॥

अयं वां भागो निहितो यजत्रेमा गिरो नासत्योप यातम् ।
पिबतं सोमं मधुमन्तमस्मे प्र दाश्वांसमवतं शचीभिः ॥४॥

पदार्थः—हे (यजत्रा) संगति करनेयोग्य (नासत्या) सदा सत्याचार में रत स्त्री-पुरुषो ! (अयं वां भागः निहितः) यज्ञ में यह तुम्हारा भाग सुरक्षित है; (इमाः गिरः उपयातम्) इन वैदिक वाणियों के समीप पहुँचो; इन वैदिक आदेशों को अपने अन्तःकरण में धारण करो। (अस्मे) हम साधकों के लिये (मधुमन्तं) मधुर (सोमं) प्रबोध रस को (पिबतं) अपने अन्तःकरण में सुरक्षित करो और (दाश्वांसं) जो तुम्हें सब कुछ दे देता है—उस समर्पित भक्ति की, (शचीभिः) अपनी शक्तियों और सत्क्रियाओं से, (प्र अवतं) प्रकृष्ट रूप से रक्षा करो ॥४॥

भावार्थः—आदित्य ब्रह्मचारी स्त्री पुरुष सामान्य जनों के जीवन-यज्ञ में सहभागी बनें; उनकी आवश्यकताओं के अनुसार अपने अनुभवों का उन्हें लाभ पहुंचावें। साधारण जन भी उनका आदर-सत्कार कर उनसे उपदेश लाभ करें और अपने जीवनों को सुरक्षित बनावें ॥४॥

अष्टम मण्डल में यह सत्तावनवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्र्यृचस्य अष्टापंचाशत्तमस्य सूक्तस्य मेध्यः काण्व ऋषिः ॥ १ विश्वे देवा ऋत्विजो वा । २, ३ विश्वे देवा देवताः ॥ छन्दः—१ भुरिक् त्रिष्टुप् । २ निचृत् त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति ।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ॥१॥

पदार्थः—(यं) जिस (इमं) इस (यज्ञं) पुरुष अर्थात् मानव के भोग साधन जीवन रूप यज्ञ का [पुरुषो वै यज्ञः—श० १०-३-२-१ आदि] (ऋत्विजः) ऋतु के अनुकूल संगत होकर नियम से कार्य करने वाले मनुष्य के अंग [आत्मा वै यज्ञस्य-यजमानोंगान्यृत्विजः । श० ९-५-२-१६] (बहुधा) वार-वार (कल्पयन्तः) समर्थ होकर और (सचेतसः) परस्पर सहमत एवं जागरूक रहकर (वहन्ति) सञ्चालन करते हैं। फिर जब (यः) कोई (अनूचानः) विद्वान् (ब्राह्मणः) ब्रह्मवेत्ता (युक्तः) सर्वोच्च शक्ति परमेश्वर से युक्त हो जाता है, उससे एकात्मता प्राप्त कर लेता है, तब तो (यजमानस्य) इस यज्ञ के यजमान आत्मा की (संवित्) प्रतिबोध की उपलब्धि (का स्वित्) आश्चर्यजनक हो जाती है ॥१॥

भावार्थः—मानव जीवन आत्मा का भोगसाधन है; उसका यह जीवन एक यज्ञ है जिसके ऋत्विक् शरीर के अंग हैं; वे जब सशक्त और परस्पर सहमत रहते हुए उसका सञ्चालन करते हैं तो ब्रह्मवेत्ता जीवात्मा को परम प्रभु का सायुज्य प्राप्त हो जाता है, यह उस यजमान आत्मा की सर्वोत्कृष्ट आश्चर्यजनक उपलब्धि होती है। मानव का कर्त्तव्य है कि वह अपने अंगों को वार-वार सशक्त बनाये और वे एक-दूसरे के सहायक बने हुए मानव-जीवन रूपी यज्ञ का सञ्चालन करते रहें।

विशेष—मानव का जीवन क्यों यज्ञ है? इसका अन्यत्र भी इस प्रकार विश्लेषण किया गया है—'यज्ञो वै भुज्युः (यजु० १८-४२—सुखों के भोगने का हेतु [ऋ० द०]) (यज्ञो वै सर्वाणि भूतानि भुनक्ति श०-९-४-१-११)—मानव को अपने भोगसाधन जीवन को एक यज्ञ-कर्म मानना चाहिये जिसका यजमान वह स्वयं (आत्मा) है और सब अंग 'ऋत्विक्' (नियम-पूर्वक यज्ञ करने में समर्थ) हैं ॥१॥

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥२॥

पदार्थः—अपने जीवन-यज्ञ का सम्पादन करते हुए मानव अनुभव करता है कि (एकः एव) अकेला एकही(अग्नि) अग्नि (बहुधा) अनेक रूपों में (समिद्धः) संदीप्त किया जाता है; [मानव अनुभव करता है कि] (एकः) अकेला (सूर्यः) सूर्य (विश्वं) सम्पूर्ण संसार के (अनु प्रभूतः) जन्म-मरण चक्र का सञ्चालन करता है (एका एव) एक ही (उषा) प्रभातकाल अथवा प्रातःकालीन प्रकाश (इदं सर्वं) इस समग्र संसार को (विभाति) चमका देता है—दिखा देता है। (वा) वस्तुतः तो (एकं) एक ही ब्रह्म (इदं सर्वं) इस समग्र जगत् में (विबभूव) व्यापक है ॥२॥

भावार्थः—मानव अपने जीवन में भौतिक अग्नि के अनेक रूपों—आग, जाठराग्नि, वाडवाग्नि, विद्युत्—आदि को देखता है; वह अनुभव करता है कि सूर्य ही स्थावर एवं जंगम संसार की आत्मा—प्रेरक-शक्ति—है और इसी प्रकार अन्त में अनुभव करता है कि परमेश्वर ही शक्ति रूप में कण-कण में व्यापक है—वही संसार का वास्तविक संचालक है॥२॥

ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।

चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अति रिक्तं पिबध्यै ॥३॥

पदार्थः—(वां=वः) तुम सब दिव्यों में से जो (अतिरिक्तं) सर्वोच्च सर्वोत्कृष्ट है; (ज्योतिष्मन्तं) सूर्यादि प्रकाशमान दिव्य पदार्थ जिसके प्रकाश्य हैं (केतुमन्तं) सर्वज्ञ होने से प्रजायें व कर्म जिसके विषय हैं; (त्रिचक्रं) तीनों अर्थात् सभी लोक-लोकान्तरों में पहुँच वाला है; (सुखं) निरतिशय आनन्दस्वरूप है, (रथं) सतत गमनशील है, (सुसदं) भलीभान्ति सुस्थित है, (भूरिवारं) अतिशय वरणीय है—अतिशय प्रिय है, (यस्य योगे) जिसका योग=सम्मिलन हो जाने पर (चित्रामघा) प्रभात, अर्थात् अज्ञान नष्ट होकर प्रबोध, का उदय होता है—देवताओं में से उस सर्वातिशायी देव परमेश्वर को मैं अपने में (पिबध्यै) लीन करने के लिये (हुवे) स्तुति द्वारा स्वीकार करता हूँ ॥३॥

भावार्थः—चराचर को प्रकाश व ज्ञान देनेवाला, सर्वगत प्रभु ही एक-मात्र सर्वोत्कृष्ट देवता है कि जिसका जीवात्मा से सायुज्य हो जाने पर प्रभात हो जाता है—सारा अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। [यहां 'चित्रा-मघा' शब्द का अर्थ 'प्रभात' आप्टे के अनुसार किया गया है] ॥३॥

इस सूक्त के देवता 'विश्वेदेवा:' हैं—प्रथम मंत्र में मानव जीवन के ऋत्विजों (देवों) की बात कहकर शेष दो मंत्रों में देवों के देव परमेश्वर की सर्वोत्कृष्टता का उल्लेख है।

अष्टम मंडल में यह अठावनवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्यैकोनषष्टितमस्य सूक्तस्य १—७ सुपर्णः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१ जगती । २, ३ निचृज्जगती । ४, ५, ७ विराड् जगती । ६ त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१—५, ७ निषादः । ३ धैवतः ॥

इमानि वां भागधेयानि सिस्रत इन्द्रावरुणा प्र महे सुतेषु वाम् ।
यज्ञेयज्ञे ह सवना भुरण्यथो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षथः ॥१॥

पदार्थः—हे (इन्द्रावरुणा) शक्ति एवं न्याय तथा प्रेमभावना की प्रतीक दिव्य शक्तियो ! (इमानि वां) ये तुम्हारे (भागधेयानि) गुण हैं [भागधेयं=Property आप्टे] जो (प्रमहे) मेरे प्रकृष्ट जीवन यज्ञ में (वां) तुम से (सुतेषु) प्रेरित ऐश्वर्यों में (सिस्रते) आ जाते हैं । (यत्) जब तुम (सुन्वते) जीवन-यज्ञ करते हुए (यजमानाय) यज्ञ के यजमान 'आत्मा' को (शिक्षथः) सिखाते हो तो (ह) निश्चय ही (यज्ञेयज्ञे) प्रत्येक पुरुष रूपी जीवनयज्ञ में (सवना) ऐश्वर्यप्रापक क्रियाकाण्ड को [स्वा० द०] (भुरण्यथः) शीघ्र पहुँचाते हो ॥१॥

भावार्थः—प्रत्येक व्यक्ति संसार में जीवनयज्ञ कर रहा है—उसका आत्मा यजमान है जो प्रभु से शक्ति, न्याय और प्रेमभावना की प्रेरणा प्राप्त कर रहा है । मनुष्य का प्रत्येक क्रियाकाण्ड ईश्वरीय शक्ति, प्रेम एवं न्यायभावना से प्रेरित होना चाहिये ॥१॥

निः षिध्वरीरोषधीराप आस्तामिन्द्रावरुणा महिमानमाशत ।
या सिस्रतू रजसः पारे अध्वनो ययोः शत्रुर्नकिरादेव ओहते ॥२॥

पदार्थः—(ओषधीः) उष्णता को धारण करने वाले (निःषिध्वरीः) अमङ्गल का निषेध एवं उसको भस्म कर, मंगलकारी शक्ति के प्रतीक ओषधिपदार्थ और स्नेह के प्रतीक (आपः) व्यापक जल मनुष्य के जीवन-यज्ञ में (आस्तां) उपयुक्त स्थान पावें और इस प्रकार (इन्द्रा वरुणा) शक्ति, प्रेम एवं न्याय शक्तियां (महिमानं) महत्त्व को (आशत) प्राप्त करें । (या) जो ये दोनों शक्तियां (रजसः पारे अध्वनः) अन्धकार के पार विद्यमान प्रकाशमय मार्ग से (सिस्रतुः) आती हैं—(ययोः) और जिनका शत्रु (न किः आदेव) कोई भी तो नहीं (ओहते) व्यवहार में आता है [व्यवहारान् वहति—स्वा० द०] ॥२॥

भावार्थः—मनुष्य के जीवन में उपयोगी सभी पदार्थों का मूल उष्णता=दाहक गुण और शामक गुण हैं—इनके प्रतीक इन्द्र एवं वरुण हैं । ये दोनों शक्तियां जीवन में प्रकाश देने वाली भी हैं । इनकी विपरीत शक्तियां व्यव-

हार-साधक नहीं हैं; अतः जीवन-यज्ञ, में शक्ति, प्रेम और न्यायभावना का आह्वान करना चाहिये ॥२॥

सत्यं तदिन्द्रावरुणा कृशस्यं वां मध्वं ऊर्मिं दुंहते सप्त वाणीः ।
ताभिंर्दाश्वांसमवतं शुभस्पती यो वामदंब्धो अभि पाति चित्तिंभिः॥३॥

पदार्थः—हे (इन्द्रावरुणा) शक्ति, न्याय व प्रेम की प्रतीक दिव्यशक्तियो ! (युवां) तुम दोनों (सप्तवाणीः) सात छन्दों वाली वेदवाणी को दुहकर (तत्) वह प्रसिद्ध (मध्वः, ऊर्मिम्) मधुरता की लहर के सदृश (सत्यं) सत्यज्ञान को (कृशस्य) तपस्वी के हेतु (दुहते) प्राप्त करती हो। (ताभिः) उन वेदवाणियों के द्वारा, हे (शुभस्पती) शुभ की पालको ! तुम उस (दाश्वांसं) दानशील समर्पित भक्त का (अवतं) पालन करो (यः) जो (वां) तुम दोनों प्रकार की शक्तियों को (चित्तिभिः) मननपूर्वक (अभि पाति) बनाये रखता है ॥३॥

भावार्थः—शक्ति, न्याय तथा प्रेम के माध्यम से अति कृश भी तपस्वी को वेदवाणी के रूप में मधुर सत्य का बोध मिलता है। और यह साधक मनन द्वारा इन शक्तियों को जागृत रखता है ॥३॥

घृतप्रुषः सौम्यां जीरदानवः सप्त स्वसारः सदंन ऋतस्यं ।
या हं वामिन्द्रावरुणा घृतश्चुतस्ताभिंर्धत्तं यजमानाय शिक्षतम् ॥४॥

पदार्थः—हे (इन्द्रावरुणा) शक्ति, न्याय एवं प्रेम भावनाओं की प्रतीक दिव्य शक्तियो ! (ऋतस्य सदने) परम सत्य की प्राप्ति के साधनभूत जीवन यज्ञ में साथ देने वाले, (घृतप्रुषः) तेजःपूर्ण, (सौम्याः) सौम्य स्वभाव, (जीरदानवः) जीवन-प्रदाता, (याः) जो (वां) तुम्हारी (सप्तस्वसारः) सात भगिनियों सरीखे पाञ्च प्राण और मन तथा बुद्धि उपकरण हैं और वे (घृतश्चुतः) तेज को देने वाले भी हैं (ताभिः) उन स्वसा-भूत सातों उपकरणों से (धत्त) इस यज्ञ को पुष्ट करो और (यजमानाय) यजमान आत्मा को (शिक्षतम्) बोध प्रदान करो ।॥४॥

भावार्थः—मानव के जीवन-यज्ञ में पांच प्राण और मन तथा बुद्धि—इन सात उपकरणों का बहुत अधिक महत्त्व है; इनको सधाने से मानव का जीवन तेजस्वी बनता है। परन्तु यह तभी जब कि ये सातों साधन परस्पर 'स्वसाओं' की भांति साथ-साथ चलें। यज्ञकार्य में परस्पर मेल से काम करें। निरुक्त (५-१) में कहा है—'सह सर्पणात् स्वसारः ता हि सह सर्पन्ति' ॥४॥

अवोचाम महते सौभगाय सत्यं त्वेषाभ्यां महिमानमिन्द्रियम् ।

अस्मान्त्स्विन्द्रावरुणा घृतश्चुतस्त्रिभिः साप्तेभिरवतं शुभस्पती ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्रावरुणौ) शक्ति, न्याय एवं स्नेह के प्रतीक दिव्यगुणियो ! (महते सौभगाय) महान् सौभाग्य के प्रयोजन से (त्वेषाभ्यां) बल एवं न्यायदीप्ति से प्रतापवान् तुम दोनों द्वारा (सत्यं) यथार्थ (महिमानं) महत्त्वपूर्ण (इन्द्रियं) परमेश्वर द्वारा प्रदान किये हुए सर्वसुख के साधन का (अवोचाम) उपदेश हम प्राप्त करते हैं। (शुभस्पती) कल्याणकारी सुखों द्वारा पालन करने वाले तुम दोनों (घृतश्चुतः) तेजस्वी (अस्मान्) हम को (त्रिभिः साप्तेभिः) सात-सात के तीन समूहों द्वारा (अवतं) अपने संरक्षण में रखो ॥५॥

भावार्थः—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, विराट्, परमाणु, प्रकृति इन सात का एक समूह है, दूसरा समूह,—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, इच्छा और प्रयत्न का है। पांच प्राणों मन तथा बुद्धि का तीसरा साप्त समूह है। परमेश्वर द्वारा प्रदत्त इन साधनों को समुचित रीति से प्रयुक्त करने वाला साधक शक्तिशाली, न्यायशील साथ ही स्नेही बनकर सब का पालन करता है ॥५॥

इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे ।

यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम् ॥६॥

पदार्थः—हे (इन्द्रावरुणा) शक्ति एवं न्याय तथा स्नेह की प्रतीक दिव्यशक्तियो (ऋषिभ्यः) मंत्रद्रष्टाओं को (यत्) जो (मनीषां) विचारशक्ति की प्रेरणा, (वाचः) वाणियां (मतिं) मननशक्ति (श्रुतं) श्रवण शक्ति (अग्रे) पहले (अदत्तम्) तुम दोनों ने दी—उनको, (यज्ञं तन्वानाः) यज्ञ का विस्तार करते हुए (धीराः) संयमी जन (यानि) जिन (स्थानानि) महत्त्वपूर्ण स्थितिस्थान (असृजन्त) बना लेते हैं—उनको भी, मैं साधक (तपसा) तप द्वारा (अभि अपश्यम्) देख लूं, साक्षात् कर लूं, भलीभांति समझ लूं ॥६॥

भावार्थः—मन्त्रद्रष्टा की बुद्धि, उसका मनन, और उसकी श्रवणशक्ति में जहां ओज हो वहां उसमें न्याय और स्नेह का भावना का होना भी आवश्यक है ॥६॥

इन्द्रावरुणा सौमनसमदृप्तं रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् ।

प्रजाम्पुष्टिम्भूतिमस्मासु धत्तं दीर्घायुत्वाय प्र तिरतं न आयुः ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्रावरुणा) शक्ति एवं न्याय तथा प्रेमभावना की प्रतीक दिव्य शक्तियो! तुम (यजमानेषु) जीवन-यज्ञ का निष्ठापूर्वक सम्पादन करने वाले आत्माओं में (सौमनसं) सुहृद्भावना और (अदृप्तं) गर्वरहित (रायस्पोषं) ऐश्वर्य की पुष्टि का (धत्तम्) आधान करते हो; (अस्मासु) हम साधकों को (प्रजां) सन्तति, (पुष्टिम्) पुष्टता और (भूतिम्) वैभव (धत्तम्) धारण कराओ; (दीर्घायुत्वाय) दीर्घजीवन के लिये (नः आयुः) हमारी जीवनावधि को (प्रतिरतम्) बढ़ाओ॥७।

भावार्थः—साधक शक्ति, स्नेहपूर्ण न्याय करने की सामर्थ्य का आवाहन तो करे परन्तु उसका उद्देश्य सब के प्रति सहृदयता और गर्व-शून्यता हो। इसी उद्देश्य से सन्तति, पुष्टि और वैभव की आकांक्षा करे और प्रभु से प्रार्थना करे कि इस सत्कर्म के लिये उसकी जीवनावधि बढ़े॥७॥

अष्टम मण्डल में यह उनसठवाँ सूक्त समाप्त हुआ॥

इति वालखिल्यं समाप्तम्॥

अथ विंशत्यृचस्य षष्टितमस्य सूक्तस्य १—२० भर्गः प्रागाथ ऋषिः॥ अग्निर्देवता॥ छन्दः—१, ९, १३, १७ विराड् बृहती। ३, ५ पादनिचृद् बृहती। ११, १५ निचृद् बृहती। ७, १९ बृहती। २ आर्चीस्वराट् पङ्क्तिः। १०, १६ पादनिचृत् पङ्क्तिः। ४, ६, ८, १४, १८, २० निचृत् पङ्क्तिः। १२ पङ्क्तिः॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९ मध्यमः। २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २० पंचमः॥

प्रथम अग्नि नाम से परमात्मा की स्तुति करते हैं।

यह सूक्त भौतिक अग्नि के पक्ष में भी घटता है॥

अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे।

आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे॥१॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्ते! सर्वाधार! ईश! (त्वा) तुझको ही (वृणीमहे) हम उपासक स्तुति, प्रार्थना, पूजा इत्यादि के लिये स्वीकार करते हैं। तू (अग्निभिः) सूर्य्य अग्नि प्रभृति आग्नेय शक्तियों के साथ (आ याहि) इस संसार में आ और आकर इसकी सुरक्षा कर। जो तू (होतारम्) सर्व धनप्रदाता है। हे ईश! पुनः (प्रयता) अपने-अपने कार्य्य में नियत और (हविष्मती) होत्रादि शुभकर्मवती प्रजा (त्वां आ अनक्तु) तुझको ही अलङ्कृत करें। जो तू (यजिष्ठम्) परम यजनीय है वह तू (बर्हिः) हृदय-प्रदेश को (आसदे) प्राप्त कर; वहां बैठ॥१॥

भावार्थः—अग्नि यह नाम ईश्वर का परम प्रसिद्ध है। उसकी स्तुति प्रार्थना हम मनुष्य सदा करें ॥१॥

यज्ञ में अग्नि नाम से परमात्मा ही पूज्य होता है यह इससे दिखलाते हैं ॥

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥२॥

पदार्थः—(सहसः सूनो) हे जगदुत्पादक ! (अंगिरः) हे अङ्गिन् ! हे सर्वगत ! देव ! (अध्वरे) यज्ञ में (त्वा हि) तुझको ही (अच्छ) प्राप्त करने के लिये (स्रुचः) अग्निहोत्री के स्रुवा आदि साधन (चरन्ति) कार्य्य में प्रयुक्त होते हैं वैसे (अग्निम्) अग्नि नाम से प्रसिद्ध तुझको ही हम उपासक (ईमहे) प्रार्थना करते हैं, जो तू (ऊर्जः नपातम्) बलप्रदाता है; (घृतकेशम्) जलादिकों का ईश है; पुनः (यज्ञेषु पूर्व्यम्) यज्ञों में सब पदार्थों को पूर्ण करने वाला तू ही है ॥२॥

भावार्थः—यह सम्पूर्ण सूक्त यज्ञिय अग्नि में भी घट सकता है। अतः बहुत से विशेषण ऐसे रक्खे गए हैं कि वे दोनों के वाचक हों, दोनों अर्थों को देने में समर्थ हों जैसे (सहसः सूनुः) इसका अग्नि पक्ष में बल का पुत्र अर्थ है क्योंकि बलपूर्वक रगड़ से अग्नि उत्पन्न होता है। इत्यादि ॥२॥

अब अग्नि का वर्णन करते हैं ॥

अग्ने कविर्वेधा असि होता पावक यक्ष्यः ।
मन्द्रो यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यो विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः ॥३॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार सर्वशक्ते महेश ! (कविः) तू ही महाकवि है। (वेधाः) तू ही सर्व कर्मों और जगतों का विधाता है; (होता) तू ही होता है। (पावक) हे पवित्रकारक, हे परमपवित्र, देव ! तू (मन्द्रः) आनन्दप्रद, (यजिष्ठः) अतिशय यजनीय और (अध्वरेषु) सब शुभकर्मों में (विप्रैः) मेधावी विद्वानों द्वारा (मन्मभिः) मननीय स्तोत्रों से (ईड्यः) स्तुत्य, पूज्य और प्रशंसनीय है। (शुक्र) हे सर्वदीपक ! तू ही परम पूज्य है ॥३॥

भावार्थः—ईश्वर ही सदा पूज्य है यह इसका अभिप्राय है ॥३॥

अद्रोघमा वहोशतो यविष्ठ्य देवाँ अजस्र वीतये ।
अभि प्रयांसि सुधिता वसो गहि मन्दस्व धीतिभिर्हितः ॥४॥

पदार्थः—(यविष्ठ्य) हे युवतम ! हे मिश्रणामिश्रणकारी ! (अजस्र) हे नित्य ! हे शाश्वत ! हे सदा स्थायी एकरसदेव ! (अद्रोघम् मा) द्रोह, हिंसा, कुटिलता आदि दुर्गुणों से रहित मेरे निकट (वीतये) भोजनार्थ अर्थात् सत्कार ग्रहणार्थ (उशतः) साहाय्यों के अभिलाषी (देवान्) सत्पुरुषों को (आवह) भेजिये और तदर्थ (वसो) हे धनदाता हे वासदाता ईश (सुधिता) उत्तमोत्तम (प्रयांसि) अन्नों को (अभि गहि) दीजिये तथा (धीतिभिः) हमारे कर्मों से (हितः) प्रसन्न और हितकारी हो (मन्दस्व) हमको आनन्दित कीजिये ॥४॥

भावार्थः—कभी किसी से द्रोह करने की बात न सोचे और सदा सत्पुरुषों को अपने गृह पर बुलाकर सत्कार करे और प्रयत्नपूर्वक अन्नोपार्जन कर दरिद्रोपकार किया करे ॥४॥

त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतस्कविः ।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ॥५॥

पदार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (त्रातः) हे रक्षक ! (त्वम् इत्) तू ही (सप्रथाः) सबसे बड़ा और विस्तीर्ण है । तू (ऋतः) सत्य है; (कविः) तू महाकवि है; (समिधान) हे जगद्दीपक ! (दीदिवः) हे जगद्भासक ! (त्वाम्) तुझको ही (विप्रासः) मेधाविगण तथा (वेधसः) कर्मविधातृगण आचार्यादिक महापुरुष (आविवासन्ति) सेवते हैं ॥५॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर को सबही सेवते हैं हे मनुष्यो ! तुम भी उसी की सेवा करो, जो सत्यरूप और महाकवि है जिससे बड़ा कोई नहीं ॥५॥

शोचा शोचिष्ठ दीदिहि विशे मयो रास्व स्तोत्रे महाँ असि ।
देवानां शर्मन्मम सन्तु सूरयः शत्रूषाहः स्वग्नयः ॥६॥

पदार्थः—हे ईश ! (शोच) प्रकृतियों में तू दीप्यमान हो; (शोचिष्ठ) हे अतिशय प्रकाशमय ! (दीदिहि) सबको प्रकाशित कर । (विशे) प्रजामात्र को तथा (स्तोत्रे) स्तुतिपाठक जन को (मयः) कल्याण (रास्व) दे । तू (महान् असि) महान् है । हे ईश ! (मम) मेरे (सूरयः) विद्वद्वर्ग (देवानाम्) सत्पुरुषों के (शर्मन्) कल्याणसाधन में ही सदा (सन्तु) रहें और वे (शत्रूषाहः) शत्रुओं को दबाने वाले और (स्वग्नयः) अग्निहोत्रादि शुभकर्मवान् हों ॥६॥

भावार्थः—यह ईश्वर से आशीर्वाद मांगना है । उसी की कृपा से धन,

जन, बल और प्रताप प्राप्त होते हैं। हमारे स्वजन और परिजन भी जगत् के हितकारी हों और नित्य नैमित्तिक कर्मों में सदा आसक्त रहें ॥६॥

यथा चिद्वृद्धमतसमग्ने सञ्जूर्वसि क्षमि ।

एवा दह मित्रमहो यो अस्मध्रुग्दुर्मन्मा कश्च वेनति ॥७॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार ईश ! तू (यथाचित्) जिस प्रकार (क्षमि) पृथिव्यादि लोकों में वर्तमान (वृद्धम्) अतिशय जीर्ण (अतसम्) शरीर को (संजूर्वसि) जीवात्मा से छुड़ाकर नष्टभ्रष्ट कर देता है क्योंकि तू ही संहारकर्त्ता भी है (एव) वैसे ही (वह) उस दुर्जन को दग्ध करदे, (मित्रमहः) हे सर्वजीव पूज्य ! (यः अस्मध्रुग्) जो हम लोगों का द्रोही है, (दुर्मन्मा) दुर्मति है और (वेनति) सब के अहित की ही कामना करता है ॥७॥

भावार्थः—यह सूक्त भौतिकाग्नि में भी प्रयुक्त होता है अतः इसके शब्द द्व्यर्थक हैं। अग्नि पक्ष में जैसे अग्नि बहुत बढ़ते हुए काष्ठ को भी भस्मकर पृथिवी में मिला देता है तद्वत् मेरे शत्रु को भी भस्म कर इत्यादि। ऐसे-ऐसे मन्त्रों से यह शिक्षा मिलती है कि किसी की अनिष्ट चिन्ता नहीं करनी चाहिये किन्तु परस्पर मित्र के समान व्यवहार करते हुए जीवन बिताना चाहिये। इस थोड़े से जीवन में जहां तक हो उपकार कर जाओ ॥७॥

मा नो मर्ताय रिपवे रक्षस्विने माघशंसाय रीरधः ।

अस्रेधद्भिस्तरणिभिर्यविष्ठ्य शिवेभिः पाहि पायुभिः ॥८॥

पदार्थः—(यविष्ठ्य) हे युवतम, सदा एकरस, हे सर्वाधार देव ! तू (नः) हम को (रिपवे मर्ताय) शत्रुजन के निकट शिकार के लिये (मा रीरधः) मत फेंक तथा (अघशंसाय) पापीजन के निकट (मा) हमको मत लेजा किन्तु तू (पायुभिः) पालकजनों के साथ हमको रखकर (पाहि) बचा। वे जो जन (अस्रेधद्भिः) अहिंसक हों; (तरणिभिः) दुःखों से तारक हों और (शिवेभिः) सदा कल्याण चाहने वाले हों, ऐसे पुरुषों के सङ्ग में हमको रख ॥८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! दुर्जनों का संग छोड़ उत्तम पुरुषों के साथ वास और संवाद करो ॥८॥

पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया ।

पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥९॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत ! (ऊर्जाम् पते) हे बलाधिदेव, महाबलप्रद, ईश ! (नः) हम जीवों को (एकया) मधुरमयी वाणी से (पाहि) रक्षा कर (तिसृभिः गीर्भिः) लौकिकी, वैदिकी और आध्यात्मिकी वाणियों से (पाहि) हमारी रक्षा कर। (वसो) हे वासदाता सर्वत्रवासी देव (चतसृभिः) तीन पूर्वोक्त तथा एक दैवी—इन चारों वाणियों से हमको पाल ॥९॥

भावार्थः—प्रथम मनुष्य अपनी वाणी मधुर और सत्य बनावें। तब वेदशास्त्रों के वाक्यों को इस प्रकार पढ़े और व्याख्यान करे कि लोग मोहित हों और उनके हृदय से अज्ञान निकल बाहर भाग जाय। तब आत्मा के अभ्यन्तर से जो-जो विचार उत्पन्न हों उन्हें बहुत यत्न से लिखता जाय, उन पर सदा ध्यान देवे और उन्हें बढ़ाया जाय। तत्पश्चात् आत्मा के साथ जो ईश्वरीय आदेश हों उन्हें एकान्त में निश्चिन्त हो विचारे और जगत् को सुनावे। यह सब तभी हो सकता है जब अन्तःकरण शुद्ध हो ॥९॥

पाहि विश्वस्माद्रक्षसो अराव्णः प्र स्म वाजेषु नोऽव ।
त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे ॥१०॥

पदार्थः—हे ईश ! (विश्वस्मात् रक्षसः) समस्त दुष्ट पुरुषों से (नः पाहि) हमको बचा; (अराव्णः) अदाता से हमको बचा; तथा (वाजेषु) संसार-सम्बन्धी संग्रामों में तू (प्र अव) हमारी रक्षा कर। हे ईश ! (देवतातये) सम्पूर्ण शुभकर्म के लिये और (वृधे) सांसारिक अभ्युदय के लिये भी (त्वाम् इत् हि) तुमको ही (नक्षामहे) आश्रय बनाते हैं; क्योंकि तू (नेदिष्ठम्) अति समीप है; तू (आपिम्) यथार्थ बन्धु है ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो जब तुम ईश्वर की शरण में प्राप्त होगे तब ही तुम्हारे सकल विघ्न दूर होंगे। ईश्वर को ही अपने समीपी सम्बन्धी और बन्धु समझो और उसके आश्रय में सदा वास करो ॥१०॥

आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती स्वयशस्तरम् ॥११॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत, (पावक) हे परमपवित्र, हे आत्मसंशोधक, (उपमाते) सबके समीप वर्तमान देव ! तू (नः) हम लोगों के लिये (वयोवृधम्) अन्न पशु पुत्रादि की वर्धक और (शंस्यम्) प्रशंसनीय (रयिम्) सम्पत्ति (आ) लाकर दे (च) पुनः (सुनीती) सुनीति द्वारा (पुरुस्पृहम्) बहुप्रिय और (स्वयशस्तरम्) निज यशोवर्धक धन, जन और ज्ञान (नः) हमको (रास्व) दे ॥११॥

भावार्थः—धन या जन वैसा हो जो प्रशंसनीय हो अर्थात् लोकोपकारी और उद्योगी हो । जिस धन से अनाथों और असमर्थों की रक्षा न हुई तो वह किस काम का ! धनादिकों की तब ही प्रशंसा हो सकती है जब उनका सदुपयोग और साहाय्यार्थ हो । बहुत आदमी धन प्राप्त कर उनका उपयोग न जान उससे धर्म के स्थान में अधर्म कमाते हैं ॥११॥

येन वंसाम पृतनासु शर्धतस्तरन्तो अर्य आदिशः ।
स त्वं नो वर्ध प्रयसा शचीवसो जिन्वा धियो वसुविदः ॥१२॥

भावार्थः—(येन) जिस धनसे या ज्ञान से (पृतनासु) व्यावहारिक और पारमार्थिक संग्रामों में (शर्धतः) बल करते हुए (अर्य्यः) शत्रुओं को और (आदिशः) उनके गुप्त विचारों और मन्त्रों को (तरन्तः) दबाते हुए हम उपासकगण (वंसाम) नष्ट भ्रष्ट कर देवें, वह धन दे और (सः त्वम्) वह तू (नः) हमको (प्रयसा) अन्नों के साथ (वर्ध) बढ़ा । (शचीवसो) हे ज्ञान और कर्म के बल से बसाने वाले ईश्वर ! तू (धियः जिन्व) हमारी बुद्धियों और कर्मों को (जिन्व) तेज बना—जो बुद्धियाँ और कर्म (वसुविदः) धन सम्पत्तियों को उपार्जन करने में समर्थ हों ॥१२॥

भावार्थः—हमारे बाह्य और आन्तरिक शत्रु हैं । उनको सर्वदा दबा रखने के उपाय सोचें और अपनी बुद्धि और कर्मों को ईश्वर की प्रार्थना से शुद्ध और तेज बनावें ॥१२॥

ईश्वर से डरना चाहिये यह इससे सिखलाते हैं ॥

शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत् ।
तिग्मा अस्य हनवो न प्रतिधृषे सुजम्भः सहसो यहुः ॥१३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम ईश्वर से डरो, अर्थात् ईश्वर न्यायी है यदि उससे विपरीत चलोगे तो वह अवश्य दण्ड देवेगा । (अग्निः) वह सूर्य्यादि अग्नि के समान जाज्वल्यमान है; (दविध्वत्) दुष्टों को सदा कंपाया करता है; (यथा) जैसे (शृङ्गे शिशानः) सींगों को तेज बनाता हुआ (वृषभः) सांड गौवों को डराता है । (अस्य हनवः) इसके हनुस्थानीय दंत (तिग्माः) बड़े तीव्र हैं; (न प्रतिधृषे) वे अनिवार्य्य हैं; (सुजंभः) वह सुदंष्ट्र है और (सहसः) इस संसार का (यहुः) महान् रक्षक है । अतः इसके नियमों को पालो ॥१३॥

भावार्थः—ईश्वर परम न्यायी है केवल प्रार्थना से वह प्रसन्न नहीं होता जो कोई उसकी आज्ञा पर चलता है वही उसका प्रिय है ॥१३॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

नहि ते अग्ने वृषभ प्रतिधृषे जम्भासो यद्वितिष्ठसे ।
स त्वं नो होतः सुहुतं हविष्कृधि वंस्वा नो वार्या पुरु ॥१४॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत, (वृषभ) हे निखिल कामवर्षक देव! दुर्जनों के प्रति जाज्वल्यमान (ते) तेरे (जंभासः) दन्त (नहि प्रतिधृषे) अनिवार्य हैं, उन्हें कोई निवारण नहीं कर सकता; (यत्) क्योंकि (वितिष्ठसे) तू सर्वत्र व्याप्त होकर वर्तमान है जीवों के सुकर्मों और दुष्कर्मों दोनों को तू देखता है। (होतः) हे स्वयं होता! (सः त्वम्) वह तू (हविः) परोपकार और निजोपकार के लिये अग्नि में प्रक्षिप्त घृतादि शाकल्य को (सुहुतम् कृधि) भस्म कर यथास्थान में लेजा। हे भगवन् (वार्य्या) स्वीकरणीय और (पुरु) बहुत धन सम्पत्ति और विज्ञान (वंस्व) दे ॥१४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! परमात्मा के न्याय से डरो और अपनी आवश्यकता के लिये उसी के निकट प्रार्थना करो ॥१४॥

शेषे वनेषु मात्रोः सं त्वा मर्तास इन्धते ।
अतन्द्रो हव्या वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥१५॥

पदार्थः—हे सर्वगत देव! तू (मात्रोः) द्युलोक और पृथिवी के मध्य वर्तमान सर्व संसारों में (शेषे) व्याप्त है। (मर्तासः) मनुष्य (त्वा) तुझको ही (सम् इन्धते) हृदय में प्रज्वलित करते हैं या तेरे ही नाम पर अग्नि को प्रज्वलित करते हैं; (आद् इत्) तब तू (हविष्कृतः) उन यजमानों के (हव्या) हव्य पदार्थों को (अतन्द्रः) अनलस होकर (वहसि) इधर-उधर ले जाता है। तू ही (देवेषु) सूर्य्यादिक देवों में (राजसि) विराजमान हो ॥१५॥

भावार्थः– द्यावा पृथिवी का नाम माता है। ईश्वर के नाम पर ही अग्निहोत्रादि शुभकर्म करने चाहियें क्योंकि अग्नि आदि देवों में वही विराजमान है। वह मनुष्य के प्रत्येक कर्म को देखता है। वही कर्मफलदाता है ॥१५॥

सप्त होतारस्तमिदीळते त्वाग्ने सुत्यजमह्रयम् ।
भिनत्स्यद्रिं तपसा वि शोचिषा प्राग्ने तिष्ठ जनाँ अति ॥१६॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वगत ईश! (तम् इत् त्वा) उस व्यापी तेरी ही (सप्त होतारः) सात होता (ईळते) स्तुति करते हैं। जो तू (सुत्यजम्) सर्व प्रकार के दान

देनेवाला है और (अह्रयम्) अक्षय है; (अग्ने) हे सर्वाधार परमात्मन् ! तू (तपसा) ज्ञानमय तपसे और (शोचिषा) तेज से (अत्रिम्) आदि सृष्टि को (भिनत्सि) बनाता है; वह तू (जनान् अति) मनुष्यों के प्रति समीप में (प्र तिष्ठ) स्थित हो ॥१६॥

भावार्थः—यज्ञ में परमात्मा की ही स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये। सप्त होता, दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएं और एक जिह्वा ये सात हैं। अथवा होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा और यजमान-पत्नी और पत्नी की सहायिका। यह इसका आशय है। इत्यादि ॥१६॥

अ॒ग्निम॒ग्निं वो॒ अध्रि॑गुं हु॒वेम॑ वृ॒क्तब॑र्हिषः ।
अ॒ग्निं हि॒तप्र॑यसः शश्व॒तीष्वा होता॑रं चर्षणी॒नाम् ॥१७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः चर्षणीनाम्) तुम मनुष्यों के हित के लिये (अग्निम्) परमात्मा का ही (आहुवेम) हम आवाहन करें; उनकी ही स्तुति प्रार्थना करें। जो मनुष्य (शाश्वतीषु) बहुत भूमियों पर विद्यमान हैं उन सबके लिये हम ईश्वर की स्तुति करें। उस ईश की कि जो (अध्रिगुम्) सर्वत्र विद्यमान है और जो (होतारम्) सब कुछ देने वाला है। हम मनुष्य कैसे हैं ? (वृक्तबर्हिषः) दर्भादि होम-साधनसम्पन्न और (हितप्रयसः) बहुत अन्नों से युक्त ॥१७॥

भाभार्थः—भाव यह है कि जो सदा अग्निहोत्रादि कर्म करते हों और सुखी हों, वे, दूसरों की भलाई के लिये ईश्वर से प्रार्थना करें ॥१७॥

केते॑न॒ शर्म॑न्त्सचते सुषा॒मण्य॑ग्ने॒ तुभ्यं॑ चिकि॒त्वना॑ ।
इ॒ष॒ण्यया॑ नः पुरु॒रूप॒मा भ॑र॒ वाजं॒ नेदि॑ष्ठमू॒तये॑ ॥१८॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार ईश ! (तुभ्यम्) तुझ को ही (केतेन) ज्ञापक प्रदर्शक (चिकित्वना) विज्ञान द्वारा मनुष्यगण पूजते हैं—जो तू सदा (सु सामानि) सुन्दर सामगानों से युक्त (शर्मन्) मंगलमय यज्ञादि स्थान में (सचते) निवास करता है। वह तू (इषण्यया) स्वकीय इच्छा से (ऊतये) हम लोगों की रक्षा और साहाय्य के लिये (पुरुरूपम्) नानाविध (नेदिष्ठम्) और सदा समीप में रहने वाले (वाजम्) ज्ञान, विज्ञान और अन्नादिक पदार्थ (नः) हम उपासकों को (आ भर) दे ॥१८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जहां तुम निवास करो उसको पवित्र बना कर रखो। वहां सर्वदा ईश्वर की स्तुति प्रार्थना के लिये पवित्र स्थान बनाओ और उसी की आज्ञा पर सदा चला करो तब ही तुम्हारा कल्याण होगा ॥१८॥

फिर अग्नि का वर्णन करते हैं ॥

अग्ने॒ जरि॑तर्वि॒श्पति॑स्तेपा॒नो दे॑व र॒क्षसः॑ ।

अप्रो॑षिवान्गृ॒हप॑तिर्म॒हाँ अ॑सि दि॒वस्पा॒युर्दु॑रोण॒युः ॥१९॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार, सर्वशक्ते, (देव) सर्वदिव्यगुणयुक्त, (जरितः) हे स्तुतिशिक्षक, ज्ञानदायक भगवन् ! तू (विश्पतिः) समस्त मनुष्य जाति का स्वामी और रक्षक है। हे ईश तू ही (रक्षसः तेपानः) दुष्ट जनों को तपाने वाला है। तू ही (अप्रोषिवान्) न कभी छोड़ने वाला सदा निवासी (गृहपतिः) गृहपति है (महान्) तू महामहान् (दिवः पायुः असि) तू केवल गृहपति ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जगत् का भी पति है (दुरोणयुः) तू भक्तजनों के हृदय-रूप गृह में निवास करने वाला है ॥१९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! भगवान् को ही अपना और जगत् का पालक मान कर पूजो ॥१९॥

मा नो॒ रक्ष॒ आ वे॑शीदाघृणी वसो॒ मा या॒तुर्या॑तु॒माव॑ताम् ।

प॒रो॒ग॒व्यू॒त्यनि॑रा॒मप॒ क्षुध॑मग्ने॒ सेध॑ रक्ष॒स्विनः॑ ॥२०॥

पदार्थः—(आघृणीवसो) हे प्रकाशमयधनोपेत, हे प्रकाशयुक्तवासदाता ईश्वर! (नः) हम लोगों के मध्य (रक्षः मा वेशीत्) दुष्ट, दुर्जन, पिशुन, महादुराचारी, अन्यायी डाकू आदि प्रवेश न करें, ऐसी कृपाकर तथा (यातुमावताम्) उन जगत्पीड़क राक्षसों की (यातुः मा) पीड़ा हमको पीड़ित न करे और (अग्ने) हे सर्वाधार महेश! (अनिराम्) दरिद्रता (क्षुधम्) क्षुधा और (रक्षस्विनः) राक्षस गण और उनके सुहृद्-गणों को (परो गव्यूति) अत्यन्त दूर देश में (अपसेध) लेजा ॥२०॥

भावार्थः—जगत् में ऐसा न्याय और शिक्षा फैलावे कि मनुष्य परस्पर द्वेष द्रोह करना छोड़ मित्र होकर रहें। तब ही वे सुखी रहकर ईश्वर की भी उपासना कर सकते हैं ॥२०॥

अष्टम मण्डल में यह साठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टादशर्चस्यैकषष्टितमस्य सूक्तस्य १—१८ भर्गः प्रागाथ ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ५, ११, १५ निचृद् बृहती । ३, ९ विराड् बृहती । ७, १७ पादनिचृद् बृहती । १३ बृहती । २, ४, १० पङ्क्तिः । ६, १४, १६ विराट् पंक्तिः । ८, १२, १८ निचृद् पंक्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७ मध्यमः । २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६, १८ पञ्चमः ॥

इन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति कहते हैं ॥

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥१॥

पदार्थः—(अर्वाग्) हम लोगों के अभिमुख होकर (इन्द्रः) सर्वैश्वर्य्ययुक्त महेश (नः) हमारे (उभयम् च) लौकिक और वैदिक, यद्वा, गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के (इदम् वचः) इस प्रस्तूयमान वचन को (शृणवत्) सुने और (मघवा) परम धनवान् (शविष्ठः) परम बली परमेश्वर (सत्राच्या) सब के साथ पूजित होने वाली व सब को आनन्दित करने वाली (धिया) हम लोगों की क्रिया और बुद्धि से प्रसन्न होकर (सोमपीतये) हमारे निखिल पदार्थों और प्रिय भोजनों की रक्षा के लिये (आगमत्) यहां उपस्थित हो ॥१॥

भावार्थः—वह परमदेव परम धनाढ्य परम बलिष्ठ और परमोदार है; उसी को अपनी वाणी, प्रार्थना और स्तुति सुनाकर प्रसन्न करें ॥१॥

इन्द्र की महिमा दिखलाते हैं ॥

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः ।
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥२॥

पदार्थः—(धिषणे) ये दृश्यमान द्युलोक और पृथिवीलोक अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन (तम् हि) उसी इन्द्र की (नि ततक्षतुः) पूजा स्तुति और प्रार्थना करता है; (ओजसे) महाबल, प्रताप और ऐश्वर्य्यादि की प्राप्ति के लिये भी उसी को पूजता है जो (स्वराजम्) सबका स्वतन्त्र राजा है, जो सदा से स्वयं विराजमान है और जो (वृषभम्) निखिल मनोरथों को पूर्ण करने वाला है । (उत) और हे परमात्मन् ! (उपमानाम्) स्वसमीप वर्तमान सब पदार्थों के मध्य (प्रथमः) तू श्रेष्ठ और उनमें व्यापक है (हि) हे ईश, निश्चय (ते मनः) तेरा ही मन (सोमकामम्) सकल पदार्थों की रक्षा करने में लगा है ॥२॥

भावार्थः—जिसकी स्तुति प्रार्थना जगत् कर रहा है, जिसका महत्त्व यह सम्पूर्ण भुवन दिखला रहा है वही पूज्य है ॥२॥

आ वृषस्व पुरूवसो सुतस्येन्द्रान्धसः ।
विद्मा हि त्वा हरिवः पृत्सु सासहिमधृष्टं चिद्दधृष्वणिम् ॥३॥

पदार्थः—(पुरुवसो) हे बहुधन, हे सर्वधन, (इन्द्र) हे परमेश, तू जगत् के कल्याण के लिये (सुतस्य) पवित्र जो मनुष्य हितकारी हो वैसा (अन्धसः) अन्न (आवृषस्व) चारों तरफ सींच। (हि) निश्चय करके हम (त्वा विद्म) तुझको जानते हैं कि तू महाधनिक है। क्योंकि (हरिवः) हे संसारवान्! जो तू संसार का अधीश्वर है और (पृत्सु सासहिम्) सम्पूर्ण जगत् में दुष्टों का शासन करने वाला है; (अधृष्टम्) तुझको कोई दबा नहीं सकता; (दधिष्वणिम्) तू सब को दबा सकता है ॥३॥

भावार्थः—ईश्वर ही सब धनाधिपति है। वही जगत् में सबको सुख पहुंचाता है, वही उपास्यदेव है ॥३॥

अप्रामिसत्य मघवन्तथेदसदिन्द्र क्रत्वा यथा वशः।

सनेम वाजं तव शिप्रिन्नवसा मक्षू चिद्यन्तो अद्रिवः ॥४॥

पदार्थः—(अप्रामिसत्य) हे अपरिणामि सत्य, हे अपरिवर्तनीय सत्य, हे सत्य में दृढ़तम, हे सत्यसन्ध, (मघवन्) हे धनवन्! (इन्द्र) हे इन्द्र, परमेश्वर (तथा) वैसा (इत्) ही (असत्) होता है (यथा) जैसा (क्रत्वा) विज्ञानरूप कर्म से (वशः) तू चाहता है। हे भगवन्! (शिप्रिन्) हे शिष्टजनमनोरथप्रपूरक! (अद्रिवः) हे महादण्डधर देव! (तव अवसा) तेरी रक्षा के कारण (मक्षु) शीघ्र ही (यन्तः चित्) सांसारिक अभ्युदय और परमोन्नति को प्राप्त करते हुए हम उपासक सम्प्रति आपकी कृपा से (वाजम्) परम विज्ञान और मोक्ष सुख (सनेम) पावें ॥४॥

भावार्थः—इसके द्वारा ईश्वर को धन्यवाद और प्रार्थना की जाती है। जो जन ईश्वर की कृपा से सांसारिक सब पदार्थों से सम्पन्न हैं वे ईश्वर की प्राप्ति के लिये यत्न किया करें ॥४॥

शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।

भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥५॥

पदार्थः—(शचीपते) हे सृष्टिक्रियाधिदैवत (इन्द्र) हे परमेश्वर! तू (विश्वाभिः) समस्त (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (सु) अच्छे प्रकार (ऊ) निश्चित रूप से हमको (शग्धि) सब कार्य में समर्थ कर, (हि) क्योंकि (शूर) हे महावीर! (त्वा अनु) तेरी ही आज्ञा के अनुसार हम लोग (चरामसि) सदा विचरण करते हैं। जो तू (भगम् न) जगत् का भाग्यस्वरूप है यद्वा भजनीय सेवनीय और पूजनीय है (यशसम्) यशःस्वरूप है और (वसुविदम्) समस्त धन देने वाला है ॥५॥

भावार्थः—ईश्वर ही जगत् का भाग्य है। यह यशोरूप है, हे मनुष्यो! वह सृष्टि का अधिदैवत है; अतः उसी की स्तुति प्रार्थना करो ॥५॥

पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत्त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥६॥

पदार्थः—(देव) हे सर्वपूज्य इन्द्र ! तू इस (अश्वस्य) संसार या घोड़े का (पौरः) पूरक और दायक है। तू (गवाम् पुरुकृत्) इन्द्रियों और गौ आदि पशुओं को बहुधा बनाने वाला है; (उत्सः असि) तू आनन्द का प्रस्रवण है, (हिरण्ययः) सुवर्णादिक धातुओं और सूर्यादिक लोकों का स्वामी है। हे परमात्मन् ! (त्वे दानम्) आपके निकट जो जगत् को देने के लिये दातव्य पदार्थ हैं उनको (नकिः परिमर्धिषत्) कोई रोक नहीं सकता। आप चाहें जिसको देवें। इसलिये (यद् यद् यामि) जो जो मैं मांगता हूँ (तद् तद् आभर) सो सो मुझको दे ॥६॥

भावार्थः—वेद प्रेममय स्तोत्र पद्धति है। किस प्रेम से, किस सम्बन्ध से यहां प्रार्थना की जाती है उस पर पाठकों को विचारना चाहिये। इसका भावार्थ स्पष्ट है ॥६॥

त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
उद्वावृषस्व मघवन्गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥७॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (त्वम् हि) तू अवश्य ही (चेरवे) स्वभक्तजनों के उद्धार के लिये जगत् में (एहि) आ। और (वसुत्तये) मनुष्यों को अतिशय धनिक बनाने के लिये (भगम् विदाः) परमैश्वर्य दे। तथा (मघवन्) हे परमैश्वर्ययुक्त ! (इन्द्र) हे महेश ! (गविष्टये) गौ आदि पशुओं को चाहने वाले जगत् को गवादि पशुओं को (उद् ववृषस्व) बहुत वर्षा कर तथा (अश्वमिष्टये) अश्व आदि पशुओं को चाहने वाले जगत् को अश्वादि पशुओं की (उद्) बहुत वर्षा कर ॥७॥

भावार्थः—ईश्वर की प्रार्थना, उस पर पूर्ण विश्वास और जगत् में पूर्ण उद्योग करके सब कोई सुखी होवें। दीन हीन रहना एक प्रकार का पाप ही है। अतः वेद में वारंवार धन के लिये प्रार्थना आती है। भिक्षावृत्ति की चर्चा वेद में नहीं है। यह भी पाप ही है ॥७॥

फिर भी दान की प्रार्थना करते हैं ॥

त्वं पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे ।
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्रं गायन्तोऽवसे ॥८॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (त्वम्) तू (दानाय) जगत् को दान देने के लिये (पुरु) अनेक (सहस्राणि) सहस्र (यूथा) पशुओं के झुण्ड (मंहसे) रखता है। (च) पुनः (शतानि) अनन्त अनन्त पशुयूथ तू रखता है। हे मनुष्यो ! (विप्रवचसः) विशेषरूप से प्रार्थना करते हुए और उत्तमोत्तम वचनों को धारण करने वाले हम उपासक (पुरन्दरम्) दुष्टों के नगरों को विदीर्ण करने वाले परमात्मा का ही (आ चकृम) आश्रय लेते हैं। (अवसे) रक्षा और सहायता के लिये (इन्द्रम् गायन्तः) परमात्मा का ही गान करते हुए हम उसी का आश्रय लेते हैं ॥८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ईश्वर के निकट सहस्र-सहस्र अनन्त-अनन्त पदार्थ हैं। वह परम कृपालु है। अतः सांसारिक द्रव्य के लिये भी उसी की सेवा करो। विद्वान् लोग उसी की पूजा करते हैं ॥८॥

अविप्रो वा यदविधद्विप्रो वेन्द्र ते वचः।
स प्र ममन्दत्त्वाया शतक्रतो प्राचामन्यो अहंसन ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (शतक्रतो) हे अनन्तकर्मा (प्राचामन्यो) हे अप्रतिहतक्रोध !. (अहंसन) हे अहं नाम जगदीश ! (अविप्रः वा) अविप्र या (विप्रः वा) विप्र (यद्) जब-जब (ते वचः) तेरी स्तुति प्रार्थना और उपासना (अविधत्) करता है तब तब (त्वाया) तेरी कृपा से (सः) वह स्तुतिकर्त्ता (प्र ममन्दत्) जगत् में सब सुख पाकर आनन्द करता है। तू धन्य है ! तेरी स्तुति मैं भी करूं ॥९॥

भावार्थः—अहंसन—"अहम्" यह नाम परमात्मा का इसलिये है कि वही एक मुख्य है। दूसरा उसके सदृश नहीं। उसकी स्तुति प्रार्थना महा-पंडित से लेकर महा मूर्ख तक अपनी-अपनी भाषा द्वारा करे। जो मन, प्रेम और श्रद्धा से स्तुति करेगा वह अवश्य सुखी होगा ॥९॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं॥

उग्रबाहुर्म्रक्षकृत्वा पुरन्दरो यदि मे शृणवद्धवम्।
वसूयवो वसुपतिं शतक्रतुं स्तोमैरिन्द्रं हवामहे ॥१०॥

पदार्थः—(उग्रबाहुः) दुष्टों के प्रति भयानक भुजधारी, (म्रक्षकृत्वा) सृष्टि के अन्त में संहारकारी, (पुरन्दरः) दुर्जनों के नगरों के विदारयिता, ईश, (यदि मे हवम्) यदि मेरी प्रार्थना आह्वान और आवाहन (शृणवत्) सुने तो मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा और तब (वसूयवः) सम्पत्यभिलाषी हम सब मिलकर (वसुपतिम्) धनेश,

(शतक्रतुम्) अनन्तकर्मा, (इन्द्रम्) उस भगवान् की (स्तोमैः) स्तोत्रों से (हवामहे) प्रार्थना करें ॥१०॥

भावार्थः—ईश्वर के विशेषण में उग्रबाहु और पुरन्दर आदि शब्द दिखलाते हैं कि वह परम न्यायी है। इसके निकट पापी, अपराधी और नास्तिक खड़े नहीं हो सकते। अतः यदि मनुष्य निज कल्याण चाहें तो असत्यादि दोष प्रथम सर्वथा त्याग देवें ॥१०॥

ईश्वर को निज सखा बनाना चाहिये—यह शिक्षा इससे देते हैं ॥

न पापासो मनामहे नारायासो न जह्लवः ।
यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहे ॥११॥

पदार्थः—हम उपासक (पापासः) पापिष्ठ होकर उस इन्द्र की (न मनामहे) स्तुति प्रार्थना नहीं करते किन्तु पापों को त्याग सुकर्म करते हुए ही उसको पूजते हैं। इसी प्रकार (अरायसः) धन पाकर अदानी होकर (न) उसकी प्रार्थना नहीं करते किन्तु दानी होकर ही; और (न जह्लवः) अग्निहोत्रादि कर्मरहित होकर भी उसकी प्रार्थना नहीं करते किन्तु शुभकर्मों से युक्त होकर ही। (यद् इत्) इसी कारण (नु) इस समय (वृषणम्) निखिल कर्मों की वर्षा करने वाले (इन्द्रम्) परमात्मा को (सुते सचा) शुभकर्म में सब कोई मिलकर (सखायम्) अपना मित्र (कृणवामहे) बनाते हैं ॥११॥

भावार्थः—पूर्वगत अनेक मन्त्रों में दर्शाया गया है कि वह इन्द्रवाच्य परमदेव परमन्यायी, शुद्ध, विशुद्ध, पापरहित और सदा पापियों को दण्ड देने वाला है। अतः इस मन्त्र द्वारा उपदेश दिया जाता है कि हे मनुष्यो ! यदि तुम परमात्मा को निज मित्र और इष्टदेव बनाना चाहते हो तो निखिल पापों कुटिलताओं और दुर्व्यसनों को छोड़ अग्निहोत्रादि शुभकर्मों को करते हुए और धन विद्यादि गुण पाकर उनको सत्पात्रों में वितीर्ण करते हुए एक ही ईश्वर में प्रेमभक्ति और श्रद्धा करो ॥११॥

सर्वत्र ईश्वर ही प्रार्थनीय है यह इस ऋचा से दिखलाते हैं ॥

उग्रं युयुज्म पृतनासु सासहिमृणकातिमदाभ्यम् ।
वेदा भृमं चित्सनिता रथीतमो वाजिनं यमिदू नशत् ॥१२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! हम उपासकगण (पृतनासु) भयङ्कर संग्रामों में भी (उग्रम्) न्यायी होने के कारण लोक में उग्रत्वेन प्रसिद्ध परमात्मा की ही (युयुज्म)

प्रार्थना करते हैं। उसी के न्याय पर विजय की आशा रखते हैं जो परमात्मा (सासहिम्) सदा अन्याय को दबाता है, (ऋणकातिम्) जो ऋण के समान अवश्य फल दे रहा है; (अदाभ्यम्) जिसको सम्पूर्ण संसार भी परास्त नहीं कर सकता, (सनिता) जो अवश्य कर्मानुसार सुख-दुःख का विभाग करने वाला है, (रथीतमः) संसार रूप महारथ का जो एक मात्र स्वामी है; पुनः वह (भुर्मचित्) मनुष्य को पोषण करने वाला भी (वेद) जानता है अर्थात् कौन पुरुष उपकारी है उसको भी जानता है और (वाजिनम्) धर्म और सुख के लिये कौन युद्ध कर रहा है उसको भी जानता है; (यम् इत् ऊ) जिस के निकट (नशत्) वह पहुँचता है वही विजयी होता है ॥१२॥

भावार्थः—सुख हो या दुःख, सब काल में उसी के आश्रय में रहना चाहिये ॥१२॥

यत॑ इन्द्र॒ भया॑महे॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कृधि।

मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ तन्न॑ ऊ॒तिभि॒र्वि द्विषो॒ वि मृधो॑ जहि ॥१३॥

पदार्थः—(इन्द्र) परमैश्वर्य्यशाली महान् देव! (यतः) जिस दुष्ट और पापादि से हम (भयामहे) डरते हैं (ततः) उससे (नः) हमको (अभयम् कृधि) अभय कर दे। (मघवन्) हे अतिशय धनाढ्य! (शग्धि) हमको सर्व कार्य्य में समर्थ कर; (तव) तू अपनी (तत् ऊतिभिः) उन प्रसिद्ध रक्षाओं से (नः) हमारे (द्विषः) शत्रुओं को (विजहि) हनन कर; (मृधः) जगत् को हानि पहुँचाने वाले हिंसक पुरुषों को (वि) दूर कर ॥१३॥

भावार्थः—जो हमारे शत्रु हों या अहितचिन्तक हों उनको ईश्वरीय न्याय पर छोड़ो ॥१३॥

त्वं हि रा॑धसस्पते॒ राध॑सो म॒हः क्षय॒स्यासि॑ विध॒तः।

तं त्वा॑ व॒यं म॑घवन्निन्द्र गिर्वणः सु॒तावं॑न्तो हवामहे ॥१४॥

पदार्थः—(राधस्पते) हे सर्वधन स्वामी! (त्वम् हि) तू (विधतः) स्वसेवक, उपकारी और सत्यपक्षावलम्बी पुरुष के (महः राधसः) महान् धन को और (क्षयस्य) उसके वासस्थान को बढ़ाने वाला (असि) होता है। (मघवन्) हे परम धनिन्! (इन्द्र) हे इन्द्र! (गिर्वणः) हे लौकिक वैदिक वचनों से स्तवनीय ईश! (सुतावन्तः) शुभकर्मी (वयम्) हम उपासक (तम् त्वा) उस तुझको (हवामहे) साहाय्य के लिये पुकार रहे हैं, आपकी प्रार्थना स्तुति कर रहे हैं वह आप हमारे सहायक हों ॥१४॥

भावार्थः—वह ईश्वर ही धनपति और गृहपति है। उसी की कृपा से मनुष्य का गृह सुखमय और वर्धिष्णु होता है। विद्वानो ! अतः उसी की आराधना करो ॥१४॥

इन्द्रः स्पळुत वृत्रहा परस्पा नो वरेण्यः ।
स नो रक्षिषच्चरमं स मध्यमं स पश्चात्पातु नः पुरः ॥१५॥

पदार्थः—(इन्द्रः) वह परमात्मा (स्पट्) सबका मन जानता है (उत) और (वृत्रहा) सर्वविघ्ननिवारक है, (परस्पाः) शत्रुओं से बचाने वाला है और (नः वरेण्यः) हमारा पूज्य स्वीकार्य और स्तुत्य है। (सः नः रक्षिषत्) वह हमारी रक्षा करे; (सः चरमम्) वह अन्तिम पुत्र या पितामहादि की रक्षा करे। (सः मध्यमम्) वह मध्यम की रक्षा करे। (सः नः पश्चात्) वह हमको पीछे से और (पुरः) आगे से (पातु) बचावे ॥१५॥

भावार्थः—हे ईश ! तू हमारी सब ओर से रक्षा कर, क्योंकि तू सब पापी और धर्मात्मा को जानता है ॥१५॥

त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात्पुर इन्द्र नि पाहि विश्वतः ।
आरे अस्मत्कृणुहि दैव्यं भयमारे हेतीरदेवीः ॥१६॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ईश ! (त्वम्) तू (नः) हमको (पश्चात्) आगे से (अधरात्) नीचे और ऊपर से (उत्तरात्) उत्तर और दक्षिण से (पुरः) पूर्व से अर्थात् (विश्वतः) सर्व प्रदेश से (नि पाहि) बचा। हे भगवन् ! (दैव्यम् भयम्) देवसम्बन्धी भय को (अस्मत्) हमसे (आरे कृणुहि) दूर करो और (अदेवीः हेतीः) अदेव सम्बन्धी आयुधों को भी (आरे) दूर करो ॥१६॥

भावार्थः—मनुष्यसमाज को जितना भय है उतना किसी प्राणी को नहीं। कारण इसमें यह है—देखा गया है कभी-कभी उन्मत्त राजा सम्पूर्ण देश को विविध यातनाओं के साथ भस्म कर देता है। कभी किसी विशेष वंश को निर्मूल कर देता है। कभी इस भयंकरता से अपने शत्रु को मारता है कि सुनने मात्र से रोमाञ्च हो जाता है। इसके अतिरिक्त कृषक खेती करने में भी स्वतन्त्र नहीं है। राजा और जमींदार उससे कर लेते हैं। चोर डाकू आदि का भी भय सदा बना रहता है। इसी प्रकार विद्युत्पात, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, महामारी आदि अनेक उपद्रवों के कारण मनुष्य भयभीत रहता है, अतः इस प्रकार की प्रार्थना आती है ॥१६॥

अद्याद्या श्वःश्व इन्द्र त्रास्व परे च नः।
विश्वा च नो जरितॄन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः ॥१७॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अद्य अद्य) आज-आज (श्वः श्वः) कल कल (परे च) और तीसरे चौथे पञ्चम आदि दिनों में भी (नः त्रास्व) हमारी रक्षा कर। (नः जरितॄन्) हम स्तुतिपाठकों को (विश्वा अहा) सब दिनों में (दिवा च नक्तम् च) दिन और रात्रि में (सत्पते) हे सत्पालक देव (रक्षिषः) बचा ॥१७॥

भावार्थः—वही रक्षक, पालक और आश्रय है। अतः सब प्रकार के विघ्नों से बचने के लिये उसी से प्रार्थना करनी चाहिये ॥१७॥

इस ऋचा से उसका न्याय दिखलाते हैं ॥

प्रभङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः सम्मिश्लो वीर्याय कम्।
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥१८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! यह परमात्मा (प्रभंगी) दुष्टों को मर्दन करने वाला, (शूरः) अति पराक्रमी, महावीर, (मघवा) सर्वधनसम्पन्न, (तुवीमघः) महाधनी, (संमिश्लः) कर्मानुसार सुख और दुःखों से मिलाने वाला और (वीर्य्याय कम्) पराक्रम के लिये सर्वथा समर्थ है। उसी को पूजो। (शतक्रतो) हे अनन्तकर्मन्, महेश ! (ते) तेरे (उभा बाहू) दोनों बाहू (वृषणा) सुकर्मियों को सुख पहुँचाने वाले और (या) वे पापियों के लिये (वज्रम्) न्यायदण्ड (निमिमिक्षतुः) धारण करते हैं वैसे तुझको ही हम पूजते हैं ॥१८॥

भावार्थः—ईश्वर के बाहु आदि का वर्णन आरोप से होता है। वह परम न्यायी और सर्वद्रष्टा है। अतः हे मनुष्यो पापों से डरो, नहीं तो उसका न्याय तुम को दण्ड देगा ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह इकसठवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य द्वाषष्टितमस्य सूक्तस्य १—१२ प्रगाथः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३, ६, १०, ११ निचृत् पङ्क्तिः। २, ५ विराट् पङ्क्तिः। ४, १२ पंक्तिः। ७ निचृद् बृहती। ८, ९ बृहती ॥ स्वरः—१—६, १०—१२ पञ्चमः। ७—९ मध्यमः ॥

फिर भी परमात्मा की स्तुति कहते हैं॥

प्रो अस्मा उपस्तुतिं भरता यज्जुजोषति।

उक्थैरिन्द्रस्य माहिनं वयो वर्धन्ति सोमिनो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (अस्मै) इस परमात्मा-वाची इन्द्र के लिये (उपस्तुतिम्) उत्तमोत्तम स्तुति (प्रो भरत) गान कीजिये क्योंकि (यत्) जो इन्द्र भक्तजनों की प्रार्थना और स्तुति सुनकर (जुजोषति) अति प्रसन्न होता है। हे मनुष्यो! (सोमिनः) सम्पूर्ण जगदुत्पादक (इन्द्रस्य) इन्द्रवाच्य ईश्वर का (माहिनम्) महत्त्व-सूचक (वयः) सामर्थ्य (वर्धन्ति) सब विद्वान् बढ़ा रहे हैं अर्थात् दिखला रहे हैं, क्योंकि (इन्द्रस्य रातयः) उस इन्द्र के दान (भद्राः) मङ्गल विधायक हैं॥१॥

भावार्थः—ईश्वर मंगलमय है उसके सब कार्य ही मंगलविधायक हैं। विद्वद्वर्ग भी उसकी परम महिमा को दिखला रहे हैं। अतः हे मनुष्यो! उसकी आज्ञा में सदा निवास करो॥१॥

वि०—'भद्रां', 'इन्द्रस्य', 'रातयः' इन पदों की आवृत्ति सम्पूर्ण सूक्त में है।

इन्द्र का महत्त्व दिखलाते हैं॥

अयुजो असमो नृभिरेकः कृष्टीरयास्यः।

पूर्वीरति प्र वावृधे विश्वा जातान्योजसा भद्रा इन्द्रस्य रातयः।२॥

पदार्थः—(अयुजः) वह इन्द्र अपने कार्य में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता है; (असमः) उसके सदृश कोई नहीं हैं; (नृभिः एकः) वह मनुष्यों और देवों में एक ही है। पुनः (अयास्यः) उसका क्षय कोई नहीं कर सकता। पुनः (पूर्वीः कृष्टीः) पहले की और आज की सर्व प्रजाओं को (अति) उल्लङ्घन कर (प्र ववृधे) अत्यन्त विस्तृत है अर्थात् (ओजसा) निज पराक्रम और प्रताप से (विश्वा जातानि) सम्पूर्ण जगत् से वह बढ़कर के है॥२॥

भावार्थः—वह परमात्मा सर्वशक्तिमान् है अर्थात् वह अपने कार्य में किसी की सहायता नहीं लेता॥२॥

अहितेन चिदर्वता जीरदानुः सिषासति।

प्रवाच्यमिन्द्र तत्तव वीर्याणि करिष्यतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र! (वीर्याणि करिष्यतः तव) संसार के स्थापन, रक्षक और संहरण तत्तद्रूप पराक्रम करते हुए तेरा (तत् प्रवाच्यम्) वह महत्त्व

सदा प्रशंसनीय है। क्योंकि तू (जीरदानुः) भक्तों को शीघ्र दान और उनका उद्धार करने वाला है और तू (अहितेन अर्वता) स्वयं प्रवृत्त इस संसार को कर्मानुसार (सिषासति) सकल सुख दे रहा है॥३॥

भावार्थः—ईश्वर की कीर्ति और उसकी दया सदा गेय है क्योंकि इससे प्रथम मन की प्रसन्नता रहती और कृतज्ञता का प्रकाश होता है और उसके उपकार अनन्त हैं इसको सब जानें। जिससे आत्मा शुद्ध होकर उसकी ओर लगे॥३॥

आ याहि कृणवाम त इन्द्र ब्रह्माणि वर्धना।
येभिः शविष्ठ चाकनो भद्रमिह श्रवस्यते भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र! (शविष्ठ) हे परम बलवान् विश्वेश्वर! हम उपासक (ते) तेरे महत्त्व को (वर्धना) बढ़ाने वाले (ब्रह्माणि) स्तोत्रों को (कृणवाम) विशेषरूप से गा रहे हैं। अतः तू (आ याहि) यहां आने की कृपा कर। हे इन्द्र! (येभिः) जिन स्तुतियों से प्रसन्न होकर (इह श्रवस्यते) इस जगत् में कीर्ति अन्नादिक चाहने वाले शिष्टजनों का तू (भद्रम् चाकनः) कल्याण किया करता है॥४॥

भावार्थः—उस महान् देव की आज्ञा पर चलते हुए उसकी कीर्ति का गान सब कोई करें क्योंकि सबको कल्याण वही दे रहा है॥४॥

धृषतश्चिद्धृषन्मनः कृणोषीन्द्र यत्त्वम्।
तीव्रैः सोमैः सपर्यतो नमोभिः प्रतिभूषतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र परमेश! (यत्) जिस कारण जो कोई तुझको (तीव्रैः सोमैः) तीव्र आनन्दजनक प्रिय पदार्थों से (सपर्यतः) पूजते हैं और (नमोभिः प्रतिभूषयतः) विविध नमस्कार स्तुति आदियों से तुझको ही अलङ्कृत करते हैं और जो उपासना के कारण (धृषतः चित्) अति बलवान् भी हैं उनके (मनः धृषत् कृणोति) मन को और भी अधिक बलिष्ठ बना देता है। अतः (त्वम्) तू ही उपास्यदेव है॥५॥

भावार्थः—वह महेश्वर अतिशय महाबलिष्ठ है और जो कोई उसके निर्धारित पथ पर चलते हैं उनको और भी अध्यात्मरूप से बलिष्ठ बनाता जाता है॥५॥

अव चष्ट ऋचीषमोऽवताँ इव मानुषः।
जुष्ट्वी दक्षस्य सोमिनः सखायं कृणुते युजं भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥६॥

पदार्थः—(ऋचीसमः) ऋचाओं और ज्ञानों से स्तवनीय और पूजनीय वह महेश्वर हम प्राणियों के सब कर्मों को (अव चष्टे) नीचे देखता है, (अवटान् इव मानुषः) जैसे मनुष्य कूपादिकों को नीचे देखता है। देखकर (जुष्ट्वी) यदि हमारे शुभ होते हैं तो वह प्रसन्न और यदि अशुभ अमङ्गल और अन्याय को वह देखता है तो अप्रसन्न होता है। हे मनुष्यो ! जो (दक्षस्य) ईश्वर के मार्ग पर चलते हुए उन्नति कर रहे हैं और (सोमिनः) सदा शुभकर्मों में लगे रहते हैं उनके आत्मा को (सखायम्) जगत् के साथ मित्र बनाता है और (युजम् कृणुते) सब कार्य के लिये योग्य बनाता है अतः वही महान् देव उपास्य है ॥६॥

भावार्थः—ईश्वर उसी का साहाय्य करता है जो स्वयं उद्योगी है और उसके पथ पर चलता है ॥६॥

विश्वे॑ त इन्द्र वी॒र्यं॑ दे॒वा अनु॒ क्रतुं॑ ददुः ।

भुवो॒ विश्व॑स्य॒ गोप॑तिः पुरुष्टुत भ॒द्रा इन्द्र॑स्य॒ रातयः॑ ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (पुरुष्टुतः) हे सर्वस्तुत देव ! (ते) तेरे (वीर्य्यम्) वीर्य, (क्रतुम्) कर्म और प्रज्ञा को (विश्वे देवाः) सब पदार्थ (अनु ददुः) धारण किये हुए हैं अर्थात् तेरी शक्ति, कर्म और ज्ञान से ही ये सकल पदार्थ शक्तिमान्, कर्मवान् और ज्ञानवान् हैं। इस हेतु तू (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत् का (गोपतिः) चरवाहा है ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वर की शक्ति से ही संसार के सकल पदार्थ शक्तिमान्, कर्मवान् और ज्ञानवान् हैं। ऐसे परमेश्वर की स्तुति करनी चाहिये ॥७॥

गृणे तदि॑न्द्र ते॒ शव॑ उप॒मं दे॒वता॑तये ।

यद्धंसि॑ वृ॒त्रमोज॑सा शचीपते भ॒द्रा इन्द्र॑स्य॒ रातयः॑ ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! परमैश्वर्यसंयुक्त ! (शचीपते) बलाधिदेव ! (यद्) जिस कारण तू (ओजसा) स्वीयनियमरूप प्रताप से (वृत्रम् हंसि) निखिल विघ्नों को दूर किया करता है; इस कारण (देवतातये) शुभ कामना की सिद्धि के लिये (ते) तेरे (उपमम्) प्रशंसीय (तत् शवः) उस-उस बल को मैं (गृणे) गाता हूँ या सब ही गा रहे हैं ॥८॥

भावार्थः—हम सब मिल कर प्रतिदिन उसको धन्यवाद देवें क्योंकि वह हमको प्रतिक्षण सुख दे रहा है ॥८॥

समनेव वपुष्यतः कृणवन्मानुषा युगा ।
विदे तदिन्द्रश्चेतनमध श्रुतो भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥९॥

पदार्थः—भगवान् (मानुषा) माननीय जातियों तथा (युगा) मास, वर्ष, ऋतु आदि कालों को (कृणवत्) बनाता और अपने वश में रखता है ऐसे ही (इव) जैसे (समना) समान मनस्का और मनोहारिणी (वपुष्यतः) स्त्रीदेहाभिलाषी पुरुषों को अपने वश में रखती है। (इन्द्रः) वह भगवान् (तत् चेतनम्) उस वशीकरण विज्ञान को (विदे) जानता है; (अध श्रुतः) अतः वह परम प्रसिद्ध है ॥९॥

भावार्थः - हे मनुष्यो ! जैसे ईश्वर अपनी अधीनता में सबको रखता है तद्वत् अपने आचरणों से सत्पुरुषों को विवश करो ॥९॥

उज्जातमिन्द्र ते शव उत्त्वामुत्तव क्रतुम् ।
भूरिगो भूरि वावृधुर्मघवन्तव शर्मणि भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (भूरिगो) बहुसंसार ! (मघवन्) हे परम धनिन्! भगवन् ! जो विद्वान् (ते शर्मणि) तेरी आज्ञा और कृपा के आश्रय में विद्यमान हैं वे (भूरि) बहुत-बहुत तेरे यश को गाते हैं और जो (ते शवः) तेरा बल (जातम्) इन प्रकृतियों में फैला हुआ है उसको (उद् ववृधुः) अपने गान से बढ़ा रहे हैं। (त्वाम्) तुझको साक्षात् (उद्) उच्च स्वर से गाते हैं (तव क्रतुम्) तेरे विज्ञानों और कर्मों को (उत्) उच्चस्वर से गाते हैं ॥१०॥

भावार्थः—गौ यह नाम पृथिवी का है यह प्रसिद्ध है, यहां उपलक्षण है अर्थात् सम्पूर्ण संसार से अभिप्राय है। यद्वा संसार और गो शब्द का धात्वर्थ एकही प्रतीत होता है "संसरतीति संसारः गच्छतीति गौः"। इस कारण ये दोनों शब्द ऐसे स्थलों में पर्य्यायवाची हैं ॥१०॥

अहं च त्वं च वृत्रहन्त्सं युज्याव सनिभ्य आ ।
अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥११॥

पदार्थः—(वृत्रहन्) हे निखिलविघ्ननिवारक ! (अद्रिवः) हे महादण्डधर ! (शूर) हे शूर ! (आसनिभ्यः) मुझको सुखलाभ जब तक हो तब तक (अहम् च त्वम् च) मैं और तू और यह संसार सब (संयुज्याव) मिल जायं। जिस प्रकार हम मनुष्य परस्पर सुख के लिये मिलते हैं इसी प्रकार तू भी हमारे साथ संयुक्त हो। (नौ) इस प्रकार संयुक्त हम दोनों को (अरातिवा चित्) दुर्जन भी (अनु मंसते) अनुमति—अपनी सम्मति देवेंगे ॥११॥

भावार्थः—इसका अभिप्राय यह है कि हमको तब ही सुख प्राप्त हो सकता है जब हम ईश्वर से मिलें। मिलने का आशय यह है कि जिस स्वभाव का वह है उसी स्वभाव के हम भी होवें। वह सत्य है, हम सत्य होवें। वह उपकारी है, हम उपकारी होवें। वह परम उदार है, हम परमोदार होवें इत्यादि। ऐसे-ऐसे विषयों में सबकी एक ही सम्मति होती है ॥११॥

मनुष्य-कर्त्तव्यता और ईश्वरीय न्याय इससे दिखलाते हैं ॥

स॒त्यमि॒द्वा उ॒ तं व॒यमिन्द्रं॑ स्तवाम॒ नानृ॑तम्।

म॒हाँ असु॑न्वतो व॒धो भूरि॒ ज्योतीं॑षि सुन्व॒तो भ॒द्रा इन्द्र॑स्य रा॒तयः॑॥१२॥

पदार्थः—मूर्ख, विद्वान्, स्त्रियां, पुरुष—हम सब—मिलकर या पृथक्-पृथक् (तम् इन्द्रम्) उस भगवान् को (वै उ) वारम्वार निश्चित कर उसके गुण और स्वभाव को अच्छे प्रकार जान कर (सत्यम् इव) सत्य ही मान कर (स्तवाम) स्तुति करें; (अनृतम् न) मिथ्याभूत असत्यकारी मानकर स्तुति न करें क्योंकि (असुन्वतः) अशुभकारी, ईश्वराविश्वासी नास्तिकजन के लिये (महान् वधः) महान् वध है और (सुन्वतः भूरि ज्योतींषि) आस्तिक, विश्वासी, श्रद्धालु, सत्याश्रयीजन के लिये बहुत-बहुत प्रकाश, सुख दिये जाते हैं क्योंकि (इन्द्रस्य रातयः भद्राः) इन्द्र के दान कल्याण-विधायक हैं ॥१२॥

भावार्थः—आशय इसका यह है कि बहुतसे मनुष्य असत्य व्यवहार के लिये भी ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु वह उनकी बड़ी भारी भूल है, भगवान् सत्यस्वरूप है; वह किसी के लिये भी असत्य व्यवहार नहीं करता। वह किसी का पक्षपाती नहीं। जो कोई भूल में पड़कर ईश्वर को अपने पक्ष में समझ असत्य काम करते हैं वे अवश्य दण्ड पावेंगे ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह बासठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य त्रिषष्टितमस्य सूक्तस्य १-१२ प्रगाथः काण्व ऋषिः ॥ १—११ इन्द्रः। १२ देवा देवताः ॥ छन्दः—१, ४, ७ विराडनुष्टुप्। ५ निचृदनुष्टुप्। २, ३, ६ विराड् गायत्री। ८, ९, ११, निचृद्गायत्री। १० गायत्री। १२ त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, ४, ५, ७ गान्धारः। २, ३, ६, ८—११ षड्जः ॥ १२ धैवतः ॥

इस सूक्त से इन्द्र की स्तुति की जाती है ॥

स पू॒र्व्यो म॒हानां॑ वे॒नः क्रतु॑भिरानजे।

यस्य॒ द्वारा॒ मनु॑ष्पि॒ता दे॒वेषु॒ धिय॑ आन॒जे ॥१॥

पदार्थः—(सः) वह पूर्वोक्त सर्वत्र प्रसिद्ध स्वयंसिद्ध इन्द्र नामधारी परेश (पूर्व्यः) सर्वगुणों से पूर्ण और सबसे प्रथम है और (महानाम् वेनः) पूज्य महान् पुरुषों का भी वही कमनीय अर्थात् वाञ्छित है। वही (क्रतुभिः) स्वकीय विज्ञानों और कर्मों से (आनजे) सर्वत्र प्राप्त है। पुनः (यस्य द्वारा) जिसकी सहायता से (पिता) पालक (मनुः) मन्ता, बोद्धा (धियः) विज्ञानों और कर्मों को (आनजे) पाते हैं ॥१॥

भावार्थः—देव शब्द सर्व पदार्थवाची है यह वेद में प्रसिद्ध है। 'धी' इस शब्द के अनेक प्रयोग हैं। विज्ञान, कर्म, ज्ञान, चैतन्य आदि इसके अर्थ होते हैं। अर्धर्च का आशय यह है कि उस ईश्वर की कृपा से ही मननशील पुरुष प्रत्येक पदार्थ में ज्ञान और कर्म देखते हैं। प्रत्येक पदार्थ को ज्ञानमय और कर्ममय समझते हैं। यद्वा प्रत्येक पदार्थ में ईश्वरीय कौशल और क्रिया देखते हैं ॥१॥

इन्द्र की स्तुति करते हैं ॥

दिवो मानं नोत्सदन्त्सोमपृष्ठासो अद्रयः ।
उक्था ब्रह्म च शंस्या ॥२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (सोमपृष्ठासः) सोमलता आदि ओषधियों से संयुक्त पृष्ठ वाले (अद्रयः) स्थावर पर्वत आदिकों ने भी उप (दिवः मानं) द्युलोक के निर्माण-कर्ता और प्रकाश प्रदाता को (न उत्सदन्) नहीं त्यागा है और न त्यागते हैं। क्योंकि वे पर्वत आदि भी नाना पदार्थों से भूषित हो उसी के महत्त्व को दिखला रहे हैं। तब मनुष्य उनको कैसे त्यागे —यह इसका आशय है। अतः हे बुद्धिमानो ! उसके लिये (उक्था) पवित्र वाक्य और (ब्रह्म च) स्तोत्र (शंस्या) वक्तव्य है। अर्थात् उसकी प्रसन्नता के लिये तुम अपनी वाणी को प्रथम पवित्र करो और उसके द्वारा उसकी स्तुति गाओ ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जब स्थावर भी उसका महत्त्व दिखला रहे हैं तब तुम वाणी और ज्ञान प्राप्त करके भी यदि उसकी महती कीर्ति को नहीं दिखलाते, गाते तो तुम महा कृतघ्न हो ॥२॥

इन्द्र का महत्त्व दिखलाते हैं ॥

स विद्वाँ अङ्गिरोभ्य इन्द्रो गा अवृणोदप ।
स्तुषे तदस्य पौंस्यम् ॥३॥

पदार्थः—(सः इन्द्रः विद्वान्) वह इन्द्रवाच्य ईश्वर सर्वविद् है अतएव (अंगि-

रोभ्यः) प्राणसहित जीवों के कल्याण के लिये इसने (गाः) पृथिव्यादि लोकों को (अप अवृणोत्) प्रकाशित किया है। अर्थात् जो पृथिव्यादि लोक अव्यक्तावस्था में थे उनको जीवों के हित के लिये ईश्वर ने रचा है। (तत्) इस कारण (अस्य तत् पौंस्यम्) इसका वह पुरुषार्थ और सामर्थ्य (स्तुषे) स्तवनीय है ॥३॥

भावार्थः—अङ्गिरस् —यह नाम प्राणसहित जीव का है। यदि यह सृष्टि न होती तो सदा ही ये नित्य जीव कहीं निष्क्रिय पड़े रहते। इनका विकास न होता। अतः इन्द्र ने इनके कल्याण के लिये यह सृष्टि रची है। इस कारण भी जीवों द्वारा वह स्तवनीय और पूजनीय है ॥३॥

इन्द्र के गुणों को दिखलाते हैं॥

स प्रत्नथा कविवृध इन्द्रो वाकस्य वक्षणिः।
शिवो अर्कस्य होमन्यस्मत्रा गन्त्ववसे ॥४॥

पदार्थः—(सः इन्द्रः) वह इन्द्रवाच्य ईश्वर (प्रत्नथा) पूर्ववत् अब भी (कविवृधः) कवियों का वर्धयिता (वाकस्य वक्षणिः) स्तुति रूप वाणी का श्रोता और (अर्कस्य) अर्चनीय आचार्य्यादिकों को (शिवः) सुख पहुँचाने वाला है। वह ईश (अस्मत्रा होमनि) हम लोगों के होमकर्म में (अवसे गन्तु) रक्षा के लिये जाये ॥४॥

भावार्थः—जिस कारण सत्पुरुषों को वह सदा कल्याण पहुंचाता है अतः यदि हम भी सन्मार्ग पर चलेंगे तो वह हमारे लिये भी सुखकारी होगा; इसमें सन्देह नहीं ॥४॥

आदू नु ते अनु क्रतुं स्वाहा वरस्य यज्यवः।
श्वात्रमर्का अनूषतेन्द्र गोत्रस्य दावने ॥५॥

पदार्थः— (इन्द्र) हे इन्द्र! (वरस्य यज्यवः) उत्तमोत्तम कर्म करने वाले ऋत्विग्गण (स्वाहा) स्वाहा शब्द का उच्चारण कर (ते क्रतुम्) तेरे प्रशंसनीय कर्म को (अनु) क्रमपूर्वक (आद् उ नु) निश्चयरूप से और शीघ्रता से (अनूषत) गाते हैं। तथा (अर्काः) लोक में माननीय वे ऋत्विक् (गोत्रस्य दावने) पृथिव्यादि लोकों के रक्षक तेरी प्राप्ति के लिये (श्वात्रम्) शीघ्रता से तेरी (अनूषत) स्तुति करते रहते हैं ॥५॥

भावार्थः—हम जीव भी वैसे ही सत्यमार्गावलम्बी हों और उसकी कीर्ति का गान करें ॥५॥

उसी का महत्त्व दिखलाया जाता है ॥

इन्द्रे विश्वानि वीर्या कृतानि कर्त्वानि च ।

यमर्का अध्वरं विदुः ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्रे) इसी परमात्मा में (विश्वानि वीर्य्या) सर्व सामर्थ्य विद्यमान हैं जो सामर्थ्य (कृतानि) पूर्व समय में दिखलाए गए और हो चुके हैं और (कर्त्वानि च) कर्त्तव्य हैं (अर्का:) अर्चनीय और माननीय आचार्य्यादिक (यम्) जिसको (अध्वरम् विदु:) अहिंसक कृपालु और पूज्यतम समझते हैं ॥६॥

भावार्थः—सृष्टि आदि की रचना पूर्वकाल में हो चुकी है और कितने लोक लोकान्तर अब भी बन रहे हैं और कितने अभी होने वाले हैं। यह सब उसी का महत्त्व है। अतः उसी को गाओ ॥६॥

उसके अनुग्रह को दिखलाते हैं ॥

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत ।

अस्तृणाद् बर्हणा विपो३र्यो मानस्य स क्षयः ॥७॥

पदार्थः—(यद्) जब जब (पाञ्चजन्यया विशा) समस्त मनुष्य जातियां अपने अपने देश के पवित्र स्थानों में सम्मिलित हो (इन्द्रे) परमात्मा के निकट (घोषाः असृक्षत) निज प्रार्थनाओं को सुनाती हैं तब तब वह देव (बर्हणा) स्वकीय महत्त्व से (अस्तृणात्) उनके विघ्नों को दूर कर देता है क्योंकि वह (विपः) विशेषरूप से पालक है, (अर्य्यः) माननीय है और (मानस्य) पूजा का (क्षयः) निवासस्थान है ॥७॥

भावार्थः—विश्व के सभी देशों की प्रजा का एकमात्र आराध्य वही परमेश्वर है और वह सब के विघ्न दूर करता है ॥७॥

इयमु ते अनुष्टुतिश्चकृषे तानि पौंस्या ।

प्रावश्चक्रस्य वर्तनिम् ॥८॥

पदार्थः—हे ईश ! (इयम्) हम लोगों से विधीयमान यह (अनुष्टुतिः) अनुकूल स्तुति (उ) निश्चय ही (ते) तेरी ही है क्योंकि तू ही (तानि) उस उस सृष्टिकरण पालन संहरण आदि (पौंस्या) जीवों के कल्याण के लिये वीर्य्य करता है। हे परेश ! तू ही (चक्रस्य वर्तनिम्) सूर्य्य, चन्द्र, बृहस्पति आदि ग्रहों के चक्रों के मार्गों को (प्र आवः) अच्छे प्रकार बचाता है ॥८॥

भावार्थः—इससे भगवान् शिक्षा देते हैं कि अन्यान्य देवों को छोड़ कर केवल ईश्वर को ही स्रष्टा, पाता, संहर्त्ता समझो और उसी की महती शक्ति को देख उसकी स्तुति करो ॥८॥

अस्य वृष्णो व्योदंन उरु क्रमिष्ट जीवसें ।

यवं न पश्व आ ददे ॥९॥

पदार्थः—(अस्य वृष्णोः) सर्वत्र प्रत्यक्ष के समान भासमान इस वर्षाकारी जगदीश्वर से (वि ओदने) विविध प्रकार के अन्नों को पाकर यह जीवलोक (जीवसे) जीवन के लिये (उरु क्रमिष्ट) वारंवार क्रीड़ा करता है (न) जैसे (पश्वः) पशु (यवम्) घास को पाकर (आददे) आनन्द प्राप्त करते हैं ॥९॥

भावार्थः—इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर जीवलोक को बहुत अन्न देवे जिससे इसमें उत्सव हो । और ये प्राणी प्रसन्न हो उसकी कीर्ति गावें ॥९॥

तद्दधाना अवस्यवों युष्माभिर्दक्षंपितरः ।

स्याम मरुत्वंतो वृधे ॥१०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! हम सब (युष्माभिः) आप लोगों के साथ मिलकर (मरुत्वतः) प्राणप्रद परमात्मा के गुणों और यशों को बढ़ाने के लिये ही (स्याम) जीवन धारण करें । तथा (तत् दधानाः) सदा उसको अपने-अपने सर्व कर्म में धारण करें और उसी से (अवस्यवः) रक्षा की इच्छा करें और (दक्षपितरः) बलों के स्वामी होवें ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ईश्वर हमारा पिता है, हम उसके पुत्र हैं । अतः हमारा जीवन उसके गुणों और यशों को सदा बढ़ावे अर्थात् हम उसके समान पवित्र सत्य आदि होवें । हम उसको कदापि न त्यागें ॥१०॥

बळृत्वियांय धाम्न ऋक्वंभिः शूर नोनुमः ।

जेषांमेन्द्र त्वया युजा ॥११॥

पदार्थः—(शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे महेश ! हम मनुष्य तुझको ही (ऋक्वभिः) विविध मन्त्रों द्वारा (नोनुमः) वारंवार नमस्कार करें । (बट्) वह सत्य है जो तू (ऋत्वियाय) ऋतु-ऋतु में अपनी महिमा को दिखलाता है और तू (धाम्ने) तेज, आनन्द, कृपा, धन आदि का धाम है । हे इन्द्र (त्वया युजा) तुझ मित्र के साथ (जेषाम) निखिल विघ्नों को जीतें ॥११॥

भावार्थः—हम अपने अन्तःकरण से उसकी उपासना करें जिससे वह सत्य अर्थात् फलप्रद हो और उसी की सहायता से अपने-अपने निखिल विघ्नों को दूर किया करें ॥११॥

इन्द्र के निकट प्रार्थना की जाती है ॥

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः ।

यः शंसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ अवन्तु देवाः ॥१२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र=परमेश्वर ! (अस्मे) हमारे निकट (रुद्राः) परदुःखहारी जन(वृत्रहत्ये भरहूतौ)=विघ्नविनाशक सांसारिक संग्राम के समय (अवन्तु) आवें (मेहनः) दया और सुवचनों की वर्षा करने वाले (पर्वतासः) ज्ञानादि से पूर्ण और प्रसन्न करने वाले (सजोषाः) हमारे साथ समान प्रीति रखने वाले (ज्येष्ठाः देवाः) ज्येष्ठ श्रेष्ठ विद्वान् (अवन्तु) हमारे निकट आवें। तथा (शंसते) ईश्वरीय प्रशंसक के और (स्तुवते) स्तावक जन के निकट (यः धायि) जो दौड़ता है (पज्रः) जो बलवान् हो इस प्रकार के जन सदा हमको प्राप्त हों ॥१२॥

भावार्थः—पर दुःखहरण आदि शुभ कर्मों के सभी अनुष्ठाताओं का परस्पर सहयोग होना चाहिये ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह तरेसठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य चतुष्षष्टितमस्य सूक्तस्य १—१२ प्रगाथः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ५, ७, ९ निचृद्गायत्री । ३ आर्चीस्वराड्गायत्री । ४ विराड्गायत्री । २, ६, ८, १०—१२ गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

इन्द्रवाच्येश्वर पुनरपि इस सूक्त से स्तुत और प्रार्थित होता है ॥

उत्त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।

अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे संसाररचयिता महेश ! हमारे (स्तोमाः) स्तव (त्वा) तुझको (उत्) उत्कृष्टरूप से (मन्दन्तु) प्रसन्न करें। और तू (राधः) जगत् के पोषण के लिये पवित्र अस्त्र अन्न (कृणुष्व) उत्पन्न कर और (ब्रह्मद्विषः) जो ईश्वर वेद और शुभकर्मों के विरोधी हैं उनको (अव जहि) यहां से दूर ले जायें ॥१॥

भावार्थः—इस सूक्त में बहुत सरल प्रार्थना की गई है भाव भी स्पष्ट ही है। हम लोग अपने आचरण शुद्ध करें और हृदय से ईश्वर की प्रार्थना करें जिससे हमारा कोई शत्रु न रहने पावे ॥१॥

पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
नहि त्वा कश्चन प्रति ॥२॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (अराधसः) धनसम्पन्न होने पर भी जो शुभकर्म के लिये धन खर्च नहीं करते उन (पणीन्) लुब्ध पुरुषों को (पदानि) चरणाघात से (नि बाधस्व) दूर कर दे । (महान् असि) तू महान् है (हि) क्योंकि (कः चन) कोई भी मनुष्य (त्वा प्रति) तुझ से बढ़कर (न) समर्थ नहीं है ॥२॥

भावार्थः—पणि=प्रायः वाणिज्य करने वाले के लिये आता है। यह भी देखा गया है कि प्रायः वाणिज्यकर्त्ता धनिक होते हैं। किन्तु जो धन-पाकर व्यय नहीं करते ऐसे लोभी पुरुष को वेदों में पणि कहते हैं। धन संचय करके क्या करना चाहिये यह विषय यद्यपि सुबोध है तथापि सम्प्रति यह जटिल-सा हो गया है। देशहितकार्य्य में धन व्यय करना यह निर्विवाद है। किन्तु देशहित भी क्या है इसका जानना कठिन है ॥२॥

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम् ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ईश ! (त्वम्) तू (सुतानाम्) शुभकर्मों में निरत जनों का (ईशिषे) स्वामी है और (असुतानाम्) कुकर्मियों और अकर्मियों का भी (त्वम्) तू स्वामी है। न केवल इनका ही किन्तु (जनानाम् त्वम् राजा) सर्व जनों का तू ही राजा है ॥३॥

भावार्थः—ईश्वर को कोई माने या न माने उसकी प्रार्थना कोई करे या न करे किन्तु वह सब का शासन राजावत् करता है। कर्मानुसार अनुग्रह और निग्रह करता है। अतः वही सर्वथा पूज्यतम है ॥३॥

एहि प्रेहि क्षयो दिव्या३ घोषञ्चर्षणीनाम् ।
ओभे पृणासि रोदसी ॥४॥

पदार्थः—हे ईश ! यद्यपि तेरा (क्षयः) निवासस्थान (दिवि) पवित्र शुद्ध कपटादि रहित और परमोत्कृष्ट प्रदेश में है, तू अशुद्धि अपवित्रता के निकट नहीं जाता तथापि हम सब (चर्षणीनाम्) तेरे ही अधीन प्रजाएं हैं तेरे ही पुत्र हैं अतः हम लोगों के मध्य (आघोषन्) स्वकीय आज्ञाओं को सुनाता हुआ (एहि) आ और (प्रेहि) जा। हे भगवन् तू (उभे) दोनों (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक को

(आपृणासि) प्रसन्न पूर्ण और सुखी रखता है अतः तेरे अनुग्रहपात्र हम जन भी हैं ॥४॥

भावार्थः—ईश्वर परमपवित्र है वह अशुद्धि को नहीं चाहता अतः यदि उसकी सेवा में रहना चाहते हो तो वैसे ही बनो ॥४॥

त्वं चित्पर्वतं गिरिं शतवन्तं सहस्रिणम् ।

वि स्तोतृभ्यो रुरोजिथ ॥५॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! तू ही जलवर्षिता भी है, तू (स्तोतृभ्यः) स्तुतिपरायण इन समस्त प्राणियों के कल्याण के लिये (त्वम् चित्) उस (गिरिम्) मेघ को (विरुरोजिथ) विविध प्रकार से छिन्न भिन्न कर बरसाता है जो मेघ (पर्वतम्) अनेक पर्वतों से युक्त है; जो (शतवन्तम्) संख्या में सैकड़ों और (सहस्रिणम्) सहस्रों है ॥५॥

भावार्थः—जल वर्षणकर्ता भी वही देव है। सृष्टि की आदि में कहां से ये मेघ आए इनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई; यदि मेघ न हो तो जीव भी यहाँ न होते इत्यादि भावना सदा करनी चाहिये ॥५॥

वयमु त्वा दिवा सुते वयं नक्तं हवामहे ।

अस्माकं काममा पृण ॥६॥

पदार्थः—हे भगवन् (वयम्) हम उपासकगण (उ) निश्चय करके (दिवा) दिन में, (सुते) शुभकर्म के समय (त्वा हवामहे) तेरा आवाहन, प्रार्थना और स्तुति करते हैं और (वयम् नक्तम्) हम सब रात्रि काल में भी तेरी स्तुति करते हैं। इस कारण (अस्माकम्) हम लोगों की (कामम्) इच्छा को (आ पृण) पूर्ण कर ॥६॥

भावार्थः—जब समय हो तब ही ईश्वर की प्रार्थना करे और उससे अपना अभीष्ट निवेदन करे ॥६॥

वृषभरूप से उस इन्द्र की स्तुति करते हैं ॥

क्व१स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः ।

ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥७॥

पदार्थः—(स्यः) वह सर्वत्र प्रसिद्ध (वृषभः) निखिल कामनाप्रद वृष अर्थात् इन्द्र (क्व) कहां है ! कौन जानता है ! जो (युवा) नित्य तरुण और जीवों के

साथ इस जगत् को मिलाने वाला है; (तुविग्रीवः) विस्तीर्ण कन्धर अर्थात् सर्वत्र विस्तीर्ण व्यापक है; जो (अनानतः) अनम्रीभूत अर्थात् महान्=उच्च से उच्च और सर्वशक्तिमान् है; (तम्) उस ईश्वर को (कः ब्रह्मा) कौन ब्राह्मण (सपर्य्यंति) पूज सकता है ! ॥७॥

भावार्थः—जब उसके रहने का कोई पता नहीं है तब कौन उसकी पूजा विधान कर सकता है अर्थात् वह अगम्य अगोचर है ॥७॥

किसी के यज्ञ में इन्द्र जाता या नहीं यह वितर्कना करते हैं ॥

कस्यं स्वित्सवनं वृषां जुजुष्वाँ अव गच्छति ।

इन्द्रं क उं स्विदा चंके ॥८॥

पदार्थः—(स्वित्) मैं उपासक वितर्क कर रहा हूँ कि (कस्य सवनम्) किस पुरुष के याग में वह इन्द्र (अव गच्छति) जाता जो (वृषा) वृषा अर्थात् अभीष्ट वस्तुओं की वर्षा करनेवाला इस नाम से प्रसिद्ध है और (जुजुष्वान्) जो शुभकर्मियों के ऊपर प्रसन्न होने वाला है। (कः उ स्वित्) कौन ज्ञानी विज्ञानी (इन्द्रम्) उस इन्द्र को (आचके) अच्छे प्रकार जानता है ? ॥८॥

भावार्थः—ईदृग् ऋचाओं से उस परमदेव की अनवगम्यता और दुर्बोधता दिखलाई जाती है। उस महती शक्ति को विरले ही विद्वान् जानते हैं ॥८॥

कं ते दाना असक्षत वृत्रंहन्कं सुवीर्या ।

उक्थे क उं स्विदन्तंमः ॥९॥

पदार्थः—(वृत्रहन्) हे विघ्नविनाशक इन्द्र ! (कम्) किसको (ते दानाः) तेरे दान (असक्षत) प्राप्त होते हैं ? (कम्) किसको तेरी कृपा से (सुवीर्य्या) शोभन वीर्य्य और पुरुषार्थ मिलते हैं ? (उक्थे) स्तोत्र सुनकर (कः उ स्वित्) कौन उपासक तेरा (अन्तमः) समीपी और प्रियतम होता है ॥९॥

भावार्थः—उसके अनुग्रहपात्र कौन हैं इस पर सब कोई विचार करें ॥९॥

अयं ते मानुषे जने सोमः पूरुषु सूयते ।

तस्येहि प्र द्रंवा पिबं ॥१०॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (ते) तेरे लिये (मानुषे जने) मुझ मनुष्य के निकट और

(पूरुषु) सम्पूर्ण मनुष्य जातियों में (अयम् सोमः सूयते) यह तेरा प्रिय सोमयाग किया जाता है। (तस्य एहि) उसके निकट आ; (प्रद्रव) उसके ऊपर कृपा कर; (पिब) और कृपादृष्टि से उसको देख ॥१०॥

भावार्थः—पूर्व ऋचाओं में दिखलाया गया है कि वह किसके याग में जाता है; वह किसके गृह पर जाता है या नहीं। इसमें प्रार्थना है कि हे भगवन् समस्त मनुष्य जातियों में तेरी पूजा होती है, तू उस पर कृपा कर। इत्यादि ॥१०॥

अयं ते शर्यणावति सुषोमायामधि प्रियः ।
आर्जीकीये मदिन्तमः ॥११॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (शर्य्यणावति) इस विनश्वर शरीर में (सुसोमायाम्) इस रसमयी बुद्धि में और (आर्जीकीये) समस्त इन्द्रियों के सहयोग में (अधिश्रितः) आश्रित (ते) तेरे अनुग्रह से (मदिन्तमः) तेरे लिये आनन्दजनक याग सदा हो रहा है, इसको ग्रहण कीजिये ॥११॥

भावार्थः—याग दो प्रकार के हैं। जो विविध द्रव्यों से किया जाता है वह बाह्य और जो इस शरीर में बुद्धि द्वारा अनुष्ठित होता है वह आभ्यन्तर याग है। इसी को मानसिक, आध्यात्मिक आदि भी कहते हैं। और यही यज्ञ श्रेष्ठ भी है ॥११॥

तमद्य राधसे महे चारुं मदाय घृष्वये ।
एहीमिन्द्र द्रवा पिब ॥१२॥

पदार्थः—हम उपासक (अद्य) आज (चारुम्) परम सुन्दर (तम्) उस परमदेव की स्तुति करते हैं, (राधसे) धन और आराधना के लिये (मदाय) आनन्द के लिये और (घृष्वये) निखिल शत्रु के विनाश के लिये उसकी उपासना करते हैं (इन्द्र) हे इन्द्र वह तू (ईम्) इस समय (एहि) आ (द्रव) कृपा कर और (पिब) कृपा दृष्टि से देख ॥१२॥

भावार्थः—परमेश्वर की उपासना करने वाले को धन और आनन्द की कमी नहीं रहती ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह चौसठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य पञ्चषष्टितमस्य सूक्तस्य १—१२ प्रागाथः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, २, ५, ६, ६, ११, १२ निचृद्गायत्री । ३, ४ गायत्री । ७, ८, १० विराड् गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

पुनरपि इन्द्र की प्रार्थना का विधान करते हैं ॥

यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
आ याहि तूयमाशुभिः ॥१॥

पदार्थः—(यद्) यद्यपि, (इन्द्र) हे इन्द्र आपको (नृभिः) उपासक जन (प्राक्) पूर्व दिशा में, (अपाक्) पश्चिम दिशा में (उदङ्) उत्तर दिशा में (वा) अथवा (न्यक्) नीचे की ओर (हूयसे) बुलाते हैं, तथापि आप (आशुभिः) शीघ्रगामी वाहकों द्वारा वहन किये जाकर (तूयं) शीघ्र ही मेरे घर में (आ याहि) आइये ॥१॥

भावार्थः—सभी दिशाओं में सर्वत्र लोग परमात्मा का गुणगान करते ही हैं; मैं चाहता हूं कि मैं भी अपने अन्तःकरण में उसको जागृत करूं ॥१॥

उसी की व्यापकता दिखलाते हैं ॥

यद्वा प्रस्रवणे दिवो मादयासे स्वर्णरे ।
यद्वा समुद्रे अन्धसः ॥२॥

पदार्थः—हे ईश ! (यद्वा) अथवा (स्वर्णरे) प्रकाशमय ! (दिवः प्रस्रवणे) सूर्य्य के गमन स्थान में (यद्वा) यद्वा (समुद्रे) अन्तरिक्ष में यद्वा (अन्धसः) अन्नोत्पत्तिकरण पृथिवी के गमन स्थान में अर्थात् जहां तहां सर्वत्र स्थित होकर तू (मादयसे) प्राणिमात्र को आनन्दित कर रहा है तथापि हम उपासक तेरे शुभागमन के लिये तुझ से प्रार्थना करते हैं ॥२॥

भावार्थः—परमेश्वर यों तो सर्वत्र सब को आनन्दित कर रहा है तथापि हम सभी अपने अन्तःकरण में उसके गुणों का ध्यान करें ॥२॥

आ त्वा गीर्भिर्महामुरुं हुवे गामिव भोजसे ।
इन्द्र सोमस्य पीतये ॥३॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (सोमस्य पीतये) इस संसार की रक्षा के लिये (गीर्भिः) विविध स्तोत्रों से (त्वा) तेरा (आ हुवे) आवाहन और स्तवन करता हूँ, जो तू (महाम्) महान् और (उरुम्) सर्वत्र व्याप्त है—ऐसे ही जैसे (भोजसे) घास खिलाने के लिये (गाम् इव) गौ को बुलाते हैं ॥३॥

भावार्थः—जो महान् और उरु अर्थात् सर्वत्र विस्तीर्ण है वह स्वयं संसार की रक्षा में प्रवृत्त है; तथापि प्रेमवश भक्तजन उसका आह्वान और प्रार्थना करते हैं ॥३॥

आ त्वं इन्द्र महिमानं हरयो देव ते महः ।

रथे वहन्तु बिभ्रतः ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य्यसम्पन्न ! (देव) हे देव भगवन् ! (ते) तेरे (महिमानम्) महिमा को और (ते महः) तेरे तेज को (बिभ्रतः) धारण करते हुए ये (हरयः) परस्पर हरणशील सूर्य्यादि लोक तुझको (रथे) रमणीय संसार में (वहन्तु) प्रकाशित करें ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ईश्वर की महिमा इस संसार में देखो, इसी में यह विराजमान है यह इससे उपदेश देते हैं ॥४॥

इन्द्रं गृणीष उं स्तुषे महाँ उग्र ईशानकृत् ।

एहि नः सुतं पिब ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र भगवन् ! तू (गृणीषे) सबसे गीयमान होता है अर्थात् तेरी कीर्ति को सबही गाते-बजाते हैं । (उ) निश्चय करके (महान्) तुझको महान्, (उग्रः) न्याय दृष्टि से भयंकर और (ईशानकृत्) ऐश्वर्य्ययुत धनदाता मानकर (स्तुषे) स्तुति करते हैं । वह तू (नः एहि) हमारे निकट आ और (सुतम् पिब) इस सृष्टि संसार को उपद्रवों से बचा ॥५॥

भावार्थः—ईश्वर सबसे महान् है और वही धन का भी स्वामी है और उग्र भी है क्योंकि उसके निकट पापी नहीं ठहर सकते । अतः उसकी स्तुति-प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये ॥५॥

सुतावन्तस्त्वा वयं प्रयस्वन्तो हवामहे ।

इदं नो बर्हिरासदे ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (सुतावन्तः) सदा शुभकर्मपरायण और (प्रयस्वन्तः) दरिद्रों के देने के लिये और अग्निहोत्रादि कर्म करने के लिये सब प्रकार के अन्न और सामग्रियों से सम्पन्न होकर (वयम्) हम उपासक (नः) हमारे (इदम् बर्हिः) इस हृदय प्रदेश में (आसदे) प्राप्त होने के लिये (त्वाम्) तुझको (हवामहे) बुलाते और स्तुति करते हैं ॥६॥

भावार्थः—सुतावन्तः=इससे यह दिखलाते है कि प्रथम शुभकर्मी बनो। प्रयस्वन्तः=और सकल सामग्रीसम्पन्न होओ तब तुम ईश्वर को बुलाने के अधिकारी होगे ॥६॥

यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम् ।
तं त्वा वयं हवामहे ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे ईश ! (यद्) जिस कारण (शश्वताम्) सदा स्थायी मनुष्यसमाजों का (त्वम् साधारणः) तू साधारण=समान स्वामी (अस्ति) है, (हि) यह प्रसिद्ध और (चित्) निश्चय है। इस कारण (तम् त्वाम्) उस तुझको (वयम् हवामहे) हम सब अपने शुभकर्मों में बुलाते और स्तुति करते हैं ॥७॥

भावार्थः—शश्वताम्=इसका अर्थ चिरन्तन और सदा स्थायी है। मनुष्यसमाज प्रवाहरूप से अविनश्वर है, अतः यह शाश्वत है। परमात्मा सबका साधारण पोषक है। इसमें सन्देहस्थल ही नहीं। अतः प्रत्येक शुभकर्म में प्रथम उसी का स्मरण, कीर्त्तन, पूजन व प्रार्थना करना उचित है ॥७॥

प्रथम अन्नादिक सब वस्तु परमात्मा को समर्पणीय हैं ॥

इदं ते सोम्यं मध्वधुक्षन्नद्रिभिर्नरः ।
जुषाण इन्द्र तत्पिब ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमदेव ईश्वर ! (नरः) कर्म तत्त्ववित् कर्मपरायण जन (ते) तेरे लिये (इदम् सोम्यम् मधु) इस सोमसम्बन्धी मधुर रसको (अद्रिभिः) शिला द्वारा (अधुक्षन्) निकालते हैं। (तत्) उसको (जुषाणः) प्रसन्न होकर (पिब) ग्रहण कीजिये ॥८॥

भावार्थः—इससे यह शिक्षा दी जाती है कि पर्वत के टुकड़ों से अन्न प्रस्तुत करने के लिये अनेक साधन बनाने चाहियें। जैसे चक्की और मसाला आदि पीसने के लिये शिला और खल बनाए जाते हैं। जब-जब कोई नूतन वस्तु प्रस्तुत हो तब-तब ईश्वर के नाम पर प्रथम उस वस्तु को रखे; फिर सब मिल कर ग्रहण करें। अग्नि में होमना यह सहजोपाय है ॥८॥

विश्वाँ अर्यो विपश्चितोऽति ख्यस्तूयमा गहि ।
अस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥९॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! तू सबका साधारण (अर्य्यः) स्वामी है अतः थोड़ी देर (विश्वान्) समस्त (विपश्चितः) तत्त्वज्ञ पण्डितों को भी, जिनके ऊपर स्वभावतः तेरी कृपा रहती है, (अति) छोड़कर (खः) मूर्ख किन्तु तेरे भक्त हम जनों को देख और (तूयम् आगहि) शीघ्र हमारी ओर आ। और आकर (अस्मे) हम लोगों में (बृहत्) बहुत बड़ा (श्रवः) यश, अन्न, पुरस्कार आदि विविध वस्तु (धेहि) स्थापित कर ।।९।।

भावार्थः—यह हम लोगों को अच्छे प्रकार मालूम है कि ईश्वर ज्ञानमय है। अतः ज्ञानीजन उसके प्रिय हैं। भक्तों से भी प्रिय ज्ञानी है। ज्ञान से बढ़कर कोई पवित्र वस्तु नहीं। परन्तु ईश्वर की प्रार्थना मूर्ख और पण्डित दोनों करते हैं। अतः यह स्वाभाविक प्रार्थना है। अपने स्वार्थ के लिये सब ही उसकी स्तुति प्रार्थना करते हैं ।।९।।

दाता मे पृषतीनां राजा हिरण्यवीनाम् ।

मा देवा मघवा रिषत् ।।१०।।

पदार्थः—इन्द्रनामी परमात्मा (मे दाता) मेरा दाता है या वह मेरा दाता होवे। क्योंकि वह (हिरण्यवीनाम्) सुवर्णवत् हितकारिणी (पृषतीनाम्) नाना वर्णों की गायों=अन्यान्य पशुओं तथा धनों का (राजा) शासक स्वामी है। (देवाः) हे विद्वान् जनो ! जिससे (मघवा) वह परम धन सम्पन्न परमात्मा हम प्राणियों पर (मा रिषत्) रुष्ट न होवे ऐसी शिक्षा और अनुग्रह हम लोगों पर करो ।।१०।।

भावार्थः—मनुष्यों की प्रिय वस्तु गौ है क्योंकि थोड़े ही परिश्रम से वह बहुत उपकार करती है। स्वच्छन्दतया वन में चरकर बहुत दूध देती है। अतः इस पशुप्राप्ति के लिये अधिक प्रार्थना आती है। और जो जन धन-जन-ज्ञानादिकों से हीन हैं वे समझते ही हैं कि हमारे ऊपर उसकी उतनी कृपा नहीं है। अतः "मघवा रुष्ट न हो" यह प्रार्थना है ।।१०।।

इस मन्त्र को पढ़कर ईश्वर के निकट कृतज्ञता प्रकाश करे ।।

सहस्रे पृषतीनामधि श्चन्द्रं बृहत्पृथु ।

शुक्रं हिरण्यमा ददे ।।११।।

पदार्थः—मैं उपासक (पृषतीनाम्) नाना वर्णों की गौवों के (सहस्रे अधि) एक सहस्र से अधिक अर्थात् एक सहस्र गौवों के अतिरिक्त (हिरण्यम् आददे) सुवर्ण कोश को भी पाया हुआ हूँ। जो हिरण्य (चन्द्रम्) आनन्दप्रद है (बृहत्) महान् और (पृथु) ढेर है और (शुक्रम्) शुद्ध है ।।११।।

भावार्थः—यह ऋचा यह शिक्षा देती है कि उसकी कृपा से जिसको धन जैसा प्राप्त हो वैसा ईश्वर से निवेदन करे और अपनी कृतज्ञता प्रकाश करे। वही धन ठीक है जो शुक्र=शुद्ध हो अर्थात् पापों से उत्पन्न न हुआ हो और चन्द्र अर्थात् आनन्दजनक हो। शुभकर्म और सुदान में लगाने से धन सुखप्रद होता है। इत्यादि ॥११॥

नपा॑तो दु॒र्गह॑स्य मे स॒हस्रे॑ण सु॒राध॑सः ।

श्रवो॑ दे॒वेष्व॑क्रत ॥१२॥

पदार्थः—हे ईश ! यद्यपि मैं (दुर्गहस्य) दुःख में निमग्न हूँ तथापि (मे) मेरे (नपातः) पौत्र, दौहित्र आदि जन (सहस्रेण) आपके दिए हुए अपरिमित धन से (सुराधसः) धन सम्पन्न होवें और (देवेषु) श्रेष्ठ पुरुषों में वे (श्रवः) यश, अन्न, पशु, हिरण्य और आपकी कृपा (अक्रत) पावें ॥१२॥

भावार्थः—इस मन्त्र से अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र और दौहित्रादिकों को सुखी होने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करें ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह पैंसठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चदशर्चस्य षट्षष्टितमस्य सूक्तस्य १—१५ कालः प्रागाथ ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ बृहती । ३, ५, ११, १३ विराड् बृहती । ७ पादनिचृद् बृहती । २, ८, १२ निचृत् पंक्तिः । ४, ६ विराट् पंक्तिः । १४ पादनिचृत् पंक्तिः । १० पंक्तिः । ९, १५ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ११, १३ मध्यमः, । २, ४, ६, ८, १०, १२, १४ पञ्चमः । ९, १५ गान्धारः ॥

ईश्वर की प्रार्थना के लिये जनों को उपदेश देते हैं ॥

तरो॑भिर्वो वि॒दद्व॑सु॒मिन्द्रं॑ स॒बाध॑ ऊ॒तये॑ ।

बृ॒हद्गाय॑न्तः सु॒तसो॑मे अध्व॒रे हु॒वे भरं॒ न का॒रिण॑म् ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (सबाधः) भय, रोगादि बाधाओं से युक्त इस संसार में (ऊतये) रक्षा पाने के लिये (बृहद् गायन्तः) उत्तमोत्तम बृहत् गान गाते हुए (तरोभिः) बड़े वेग से (इन्द्रम्) उस परमपिता जगदीश की सेवा करो जो (वः) तुम्हारे लिये (विदद्वसु) वास, वस्त्र और धन दे रहा है। हे मनुष्यो ! मैं उपदेशक भी (भरं न) जैसे स्त्री भर्ता भरणकर्ता स्वामी को सेवती तद्वत् (कारिणम्) जगत्कर्ता उसको (सुतसोमे) सर्वपदार्थसम्पन्न (अध्वरे) नाना पथावलम्बी संसार में (हुवे) पुकारता और स्मरण करता हूँ ॥१॥

भावार्थः—अध्वर=संसार। अध्व+र=जिसमें अनेक मार्ग हों। जीवन के धर्मों के ज्ञानों के और रचना आदिकों के जहां शतशः मार्ग देख पड़ते हैं। इस शब्द का अर्थ आजकल याग किया जाता है। इसका बृहत् अर्थ लेना चाहिये। याग करने का भी बोध इस संसार के देखने से ही होता है। आम्र प्रतिवर्ष सहस्रशः फल देता है। एक कूष्माण्डबीज शतशः कूष्माण्ड पैदा करता है। इस सबका क्या उद्देश्य है, किस अभिप्राय से इतने फल एक वृक्ष में लगते हैं। विचार से इसका उद्देश्य परोपकार ही प्रतीत होता है। उस वृक्ष का उतने फलों से कुछ प्रयोजन नहीं दीखता। ये ही उदाहरण मनुष्य जीवन को भी परोपकार और परस्पर साहाय्य की ओर ले जाते हैं इसीसे अनेक यागादि विधान उत्पन्न हुए हैं ॥१॥

सोम=वेद में सोम की अधिक प्रशंसा है। आश्चर्य यह है कि यद्यपि इस में बहुत प्रकार के विघ्न हैं तथापि इसमें सुखमय पदार्थ भी बहुत हैं। उन्हीं आनन्दप्रद पदार्थों का एक नाम सोम है। यह शब्द भी अनेकार्थक हैं॥

आशय—इसका आशय यह है कि यह संसार सुखमय या दुःखमय कुछ हो, हम सब मिलकर उस परमात्मा की स्तुति प्रार्थना किया करें। हम मनुष्यों का इसी से कल्याण है ॥

ईश्वर स्वतन्त्र कर्ता है इस ऋचा में दिखलाते हैं ॥

न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धसः ।
य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यम् ॥२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (अन्धसः मदे) धन देने से (यम्) जिस इन्द्र को (दुध्राः) दुर्धर राजा महाराजा आदि (न वरन्ते) न रोक सकते (स्थिराः) स्थिर (मुराः न) मनुष्य भी जिसको न रोक सकते। जो (सुशिप्रम्) शिष्टजनों को धनादिकों से पूर्ण करने वाला है और जो (आदृत्य) श्रद्धा भक्ति और प्रेम से आदर करके उसकी (शशमानाय) कीर्ति की प्रशंसा करने वाले जन को, (सुन्वते) शुभकर्मी को और (जरित्रे) स्तुतिकर्ता को (उक्थ्यम्) वक्तव्यवचन, धन और पुत्रादिक पवित्र वस्तु (दाता) देता है ॥२॥

भावार्थः—आशय यह है कि जो शुभकर्म में निरत हैं वे उसकी कृपा से सुखी रहते हैं ॥२॥

यः शक्रो मृक्षो अश्व्यो यो वा कीजो हिरण्ययः ।
स ऊर्वस्य रेजयत्यपावृतिमिन्द्रो गव्यस्य वृत्रहा ॥३॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (शक्रः) सर्वशक्तिमान्, (मृक्षः) शुद्ध और (अश्व्यः) व्यापक है (यः वा) और जो (कीजः) कीर्तनीय, (हिरण्यः) हित और रमणीय है, (सः) वह (ऊर्वस्य) अतिविस्तीर्ण (गव्यस्य) गतिमान् जगत् की (अपवृतिम्) निखिल बाधाओं को (रेजयति) दूर किया करता है। क्योंकि जो (वृत्रहा) वृत्रहा= निखिल विघ्ननिवारक नाम से प्रख्यात है ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् व शुद्धादि गुण भूषित है अतः वही मनुष्यों का कीर्तनीय, स्मरणीय और पूजनीय है ॥३॥

उसकी महिमा दिखलाते हैं।

निखांतं चिद्यः पुंरुसम्भृतं वसूदिद्वपंति दाशुषे ।
वज्री सुशिप्रो हर्यश्व इत्करदिन्द्रः क्रत्वा यथा वशंत् ॥४॥

पदार्थः—(यः) जो परमात्मा (दाशुषे) परोपकारी, श्रद्धालु और भक्तजन को (निखातम् चिद्) पृथिवी के अभ्यन्तर गाड़े हुए भी (पुरुसंभृतम्) बहुत संचित (वसु उद्) धन अवश्य (वपति इत्) देता ही है; जो (वज्री) न्यायदण्डधारी (सुशिप्रः) शिष्टजनभर्ता और (हर्यश्वः) सूर्य्य पृथिव्यादि में व्यापक ही है, वह (इन्द्रः) इन्द्र (यथा वशत्) जैसा चाहता है (क्रत्वा) कर्म से (करत् इत्) वैसा करता ही है ॥४॥

भावार्थः—वह सब प्रकार हितकारी स्वतन्त्र कर्ता है; अतः वही एक उपास्यदेव है ॥४॥

यद्वावन्थं पुरुष्टुत पुरा चिच्छूर नृणाम् ।
वयं तत्तं इन्द्र सं भंरामसि यज्ञमुक्थं तुरं वचः ॥५॥

पदार्थः—(पुरुष्टुत) हे बहुस्तुत ! (शूर) महावीर, ईश ! (पुरा चित्) पूर्वकाल में सृष्टि की आदि में तू ने (नृणाम्) मनुष्यों के कर्तव्य के विषय में (यत् ववन्थ) जो जो कामना की, जो जो नियम स्थापित किया, (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते तत्) तेरी उस उस वस्तु को और (तुरम्) शीघ्र (वयम्) हम (उक्थम्) यज्ञ स्तोत्र (वचः) सत्यवचन इत्यादि नियम का पालन करते हैं। अतः हमारी रक्षा कर ॥५॥

भावार्थः—जो कोई ईश्वरीय नियम पर चलते हैं वे इस ऋचा द्वारा प्रार्थना करें। उसने जो जो कर्तव्य चलाए हैं उनको विद्वान् जैसे निवाहते हैं हम भी उनका निर्वाह करें ॥५॥

सचा सोमेषु पुरुहूत वज्रिवो मदाय द्युक्ष सोमपाः ।
त्वमिद्धि ब्रह्मकृते काम्यं वसु देष्ठः सुन्वते भुवः ॥६॥

पदार्थः—(पुरुहूत) हे बहुपूजित ! (वज्रिवः) हे दण्डधर ! (द्युक्ष) हे दिव्यलोकस्थ ! (सोमपाः) हे संसाररक्षक देव ! तू (मदाय) आनन्द के लिये (सोमेषु) जगतों में (सचा) सब पदार्थों के साथ निवास कर। हे इन्द्र ! (त्वम् इत् हि) तू ही (ब्रह्मकृते) स्तोत्र रचयिता को और (सुन्वते) शुभकर्मियों को (काम्यम्) कमनीय (वसु) धन (देष्ठः भुवः) देने वाला हो ॥६॥

भावार्थः—सोम=संसार। पुरु=बहुत। देष्ठ=दातृतम। ब्रह्मकृत्। ब्रह्म=स्तोत्र। परमात्मा स्तोता और सत्कर्मी को खूब ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥६॥

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (इदा) इस समय हम लोगों का यह कर्त्तव्य है कि जैसे हम उपासक (ह्यः) गत दिवस (एनम् वज्रिणम्) इस न्यायपरायण महादण्डधारी जगदीश की स्तुति प्रार्थना द्वारा (इह) इस यज्ञ में (अपीपेम) प्रसन्न कर चुके हैं वैसे आप लोग भी सदा किया कीजिये और (अद्य) आज (तस्मै उ) उसी की प्रसन्नता के लिये (समनाः) एकमन होकर आप लोग (सुतम्) उससे उत्पादित जगत् को (भरः) धनादिकों से भरण पोषण कीजिये। (श्रुते) जिस कार्य्य के सुनने से वह (नूनम्) अवश्य ही (आ भूषत) उपासकों को सब तरह से भूषित करता है ॥७॥

भावार्थः—[ऐसे-ऐसे मन्त्र उपदेशपरंपरा की सिद्धि के लिये हैं।] जो उपदेशक प्रतिदिन नियम पालते आए हैं वे इसके अधिकारी हैं। वे शिक्षा देवें कि हे मनुष्यो! हम आज, कल, परसों, गतदिन और आगामी दिन अपने आचरणों से उसको प्रसन्न रखते हैं और रखेंगे। तुम लोग भी वैसा करो ॥७॥

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥८॥

पदार्थः—(वृकः चित्) वृक के समान महादुष्ट जन भी (वारणः) सबके बाधक भी (उरामथिः) मार्ग में लूटने वाले भी जन (अस्य वयुनेषु) इसी की कामना

में रहते हैं अर्थात् अन्याय करके भी इसी की शरण में आते हैं, इसी की प्रार्थना और नाम जपते हैं यह आश्चर्य्य की बात है! (इन्द्र) हे इन्द्र! (सः) वह तू (नः इमम् स्तोमम्) हमारे इस निवेदन को (जुजुषाणः) सुनता हुआ (आ गहि) आ। हे भगवन्! (चित्रया धिया) विविध और अद्भुत-अद्भुत कर्म और ज्ञान की वृद्धि के लिये तू हमारे हृदय में वस ॥८॥

भावार्थः—उस परमदेव को सन्त, असन्त, चोर, डाकू, मूर्ख, विद्वान् सब ही भजते हैं। परन्तु वे अपने-अपने कर्म के अनुसार फल पाते हैं॥८॥

ईश्वर की पूर्णता दिखलाते हैं॥

कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम्।
केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा॥९॥

पदार्थः—(अस्य इन्द्रस्य) इस परमात्मा का (कद् नु) कौनसा (पौंस्यम्) पुरुषार्थ (अकृतम् अस्ति) करने को बाकी है अर्थात् उसने कौन कर्म अभी तक नहीं किये हैं जो उसे अब करने हैं अर्थात् वह सर्व पुरुषार्थ कर चुका है उसे अब कुछ कर्त्तव्य नहीं। हे मनुष्यो! (केनो नु कम्) किसने (श्रोमतेन) श्रवणीय कर्म के कारण (न शुश्रुवे) उसको न सुना है क्योंकि (जन्मनः परि) सृष्टि के जन्म दिन से ही वह (वृत्रहा) निखिल विघ्नविनाशक नाम से प्रसिद्ध है॥९॥

भावार्थः—वह ईश्वर सब प्रकार से पूर्ण धाम है। उसे अब कुछ कर्त्तव्य नहीं। वह सृष्टि के आरम्भ से प्रसिद्ध है; उसी की उपासना करो॥९॥

कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि॥१०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (अस्य तविषीः) इसकी शक्तियां (कदू) कितनी (महीः) बड़ी पूजनीय और (अधृष्टाः) अक्षुण्ण हैं! (वृत्रघ्नः) इस निखिल दुःखनिवारक भगवान् का यश (कदु) कितना (अस्तृतम्) अविनश्वर और महान् है! हे मनुष्यो! (इन्द्रः) वह परमात्मा मनुष्यजाति की भलाई के लिये (विश्वान्) समस्त (बेकनाटान्) सूदखोरों को (क्रत्वा) उनके कर्म के अनुसार (अहर्दृशः) केवल इसी जन्म में सूर्य्य को देखने देता है अर्थात् दूसरे जन्म में उनको अन्धकार में फेंक देता है। (उत) और (पणीन्) जो वणिक् मिथ्या व्यवहार करते हैं, असत्य बोलते, हैं असत्य तोलते, गौ आदि उपकारी पशुओं को गुप्त रीति से कसाइयों के हाथ बेचते हैं—इस प्रकार के

मिथ्या व्यवसायी को वेद में पणि कहते हैं उनको भी वह इन्द्र (अभि) चारों तरफ से समाजों से दूर फेंक देता है ।।१०।।

भावार्थः—बेकनाट—संस्कृत में इसको कुसीदी, वृद्धिजीवी आदि नामों से पुकारते हैं। जो द्विगुण, त्रिगुण सूद खाता है। शास्त्र, राजा और समाज के नियम से जितना सूद बंधा हुआ है उससे द्विगुण त्रिगुण जो सूद लेता है वह बेकनाट। इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार लोग करते हैं। बे क नाट=द्विशब्द के अर्थ में बे शब्द है। मैं एक रुपया आज देता हूं। ठीक एक वर्ष में दो रुपये मुझे दोगे। इस प्रकार गुण प्राप्त होने पर जो नाट=नाचता है उसे बेकनाट कहते हैं। उसकी शक्ति अनन्त है। वह जगत् के शासन के लिये दुष्टों का सदा शासन करता है—यह इसका आशय है ।।१०।।

वयं घा ते अपूर्व्येन्द्र ब्रह्माणि वृत्रहन् ।

पुरूतमासः पुरुहूत वज्रिवो भृतिं न प्र भरामसि ॥११॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य्य ! (वृत्रहन्) हे सर्वदुःखनिवारक ! (पुरुहूत) हे बहुपूजित ! हे बहुतों से आहूत ! (वज्रिवः) हे महादण्डधर भगवन् ! (भृतिम् न) जैसे नियमपूर्वक लोग वेतन देते हैं तद्वत् (पुरूतमासः) पुत्र, पौत्र कलत्र बन्धु आदिकों से बहुत (वयम्) तेरे उपासक (खलु) हम सब निश्चितरूप से (ते) तुझको (अपूर्व्य) अपूर्व (ब्रह्माणि) स्तोत्र (प्र भरामसि) समर्पित करते हैं। उन्हें ग्रहण कर और हम जीवों को सुखी रख ।।११।।

भावार्थः—वृत्रहन्—वृत्रान् विघ्नान् हन्तीति वृत्रहा। वृत्र=विघ्न, दुःख, क्लेश, मेघ, अन्धकार, अज्ञान आदि। पुरुहूत=पुरु=बहुत। हूत=आहूत, पूजित। हम लोगों को उचित है कि उस परमदेव को नवीन-नवीन स्तोत्र बनाकर सुनावें ।।११।।

पूर्वीश्चिद्धि त्वे तुविकूर्मिन्नाशसो हवन्त इन्द्रोतयः ।

तिरश्चिदर्यः सवना वसो गहि शविष्ठ श्रुधि मे हवम् ।।१२।।

पदार्थः—(तुविकूर्मिन्) हे बहुकर्मा ! हे अनन्तकर्मा ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वे) तुझमें (आशसः) विद्यमान आशाएं (पूर्वीः चित्) पूर्ण ही हैं; (ऊतयः) तुझमें रक्षाएं भी पूर्णरूप से विद्यमान हैं। अतः आशा और रक्षा के लिये (हवन्ते) तुझको लोग बुलाते, पूजते और तेरी स्तुति गाते हैं। (हे वसो) हे सबको वास देने

वाले ! (शविष्ठ) हे महाशक्ते ! बलाधिदेव भगवन् ! (अर्य्यः) वह माननीय देव तू (तिरः चित्) गुप्तरूप से भी (सवना आगहि) हमारे यज्ञों में आ और (मे हवम्) मेरे आह्वान, निवेदन, प्रार्थना आदि को (श्रुधि) सुन ॥१२॥

भावार्थः—समस्त शुभकर्म करते समय मनुष्य को चाहिये कि वह परमेश्वर को विद्यमान समझ उसकी स्तुति प्रार्थना आदि इस प्रकार करे मानो परमात्मा उसके समक्ष ही बैठा है ॥१२॥

वयं घां ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि ।

नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥१३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य्यसंयुक्त महेश्वर ! (वयम् घ) हम उपासकगण (ते) तेरे ही हैं; तेरे ही पुत्र और अनुग्रहपात्र हैं। इसी कारण (विप्राः) हम मेधावी स्तुतिपाठक (त्वे इद् ऊ) तेरे ही आधीन होकर(स्मसि) विद्यमान और जीवननिर्वाह करते हैं; (अपि) इसमें सन्देह नहीं। (हि) क्योंकि (पुरुहूत) हे बहुहूत ! हे बहुपूजित ! (मघवन्) हे सर्वधन महेश ! (त्वदन्यः) तुझसे बढ़कर अन्य (कश्चन) कोई देव या राजा या महाराज (मर्डिता न अस्ति) सुख पहुँचाने वाला नहीं है ॥१३॥

भावार्थः—ईश्वर से बढ़कर पालक पोषक व कृपालु कोई नहीं; अतः उसी की उपासना प्रेम, भक्ति और श्रद्धा से करनी चाहिये ॥१३॥

त्वं नो अस्या अमतेरुत क्षुधो३भिशस्तेरव स्पृधि ।

त्वं न ऊती तव चित्रया धिया शिक्षा शचिष्ठ गातुवित् ॥१४॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (त्वम्) तू (नः) हम आश्रित जनों को (अस्याः अमतेः) इस अज्ञान से (अवस्पृधि) अलग कर (उत क्षुधः) और इस क्षुधा अर्थात् दरिद्रता से हमको पृथक् ले जा। और (अभिशस्तेः) इस निन्दा से भी हमको दूर कर। हे भगवन् ! तू (नः) हमको (ऊती) रक्षा और सहायता (शिक्ष) दे। तथा तू (तव) अपनी (चित्रया धिया) आश्चर्य बुद्धि और क्रिया हमको दे। (शविष्ठ) हे बलाधिदेव, महाशक्ते ! तू (गातुवित्) सर्व मार्ग और सर्वरीति जानता है ॥१४॥

भावार्थः—इस ऋचा में अज्ञान, दरिद्रता और निन्दा से बचने के लिये और रक्षा सहायता और श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त करने के लिये शिक्षा देते हैं ॥१४॥

सोम इद्वः सुतो अस्तु कलयो मा बिभीतन ।
अपेदेष ध्वस्मायति स्वयं घैषो अपायति ॥१५॥

पदार्थः—(कलयः) हे कलाविदो ! यद्वा हे शुभकर्मकर्त्ताओ ! (वः) तुम्हारे गृहों में (सोमः) प्रिय रसमय और मधुर पदार्थ और सोमयज्ञ (सुतः इत्) सम्पादित होवे; (मा बिभीतन) तुम मत डरो क्योंकि ईश्वर की कृपा से (एषः ध्वस्मा) यह ध्वंसक शोक मोह आदि (अपायति इत्) जा रहे हैं; (एषः) यह (स्वयम् घ) स्वयं (अपायति) दूर भाग रहा है ॥१५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम सदा शुभकर्म करो जिनसे तुम्हारे सर्व-भय दूर हो जायंगे और शोक मोह आदि क्लेश भी तुम्हें प्राप्त न होंगे ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह छियासठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकेनोविंशत्यृचस्य सप्तषष्टितमस्य सूक्तस्य १—२१ मत्स्यः सामदो मान्यो वा मैत्रावरुणिर्बहवो वा मत्स्या जालनद्धा ऋषयः । आदित्या देवताः । छन्दः—१—३, ५, ७, ९, १३—१५, २१ निचृद्गायत्री । ४, १० विराड्गायत्री । ६, ८, ११, १२, १६—२० गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

त्यान्नु क्षत्रियाँ अव आदित्यान्याचिषामहे ।
सुमृळीकाँ अभिष्टये ॥१॥

पदार्थः—(अभिष्टये) अभिमत फलों की प्राप्ति के लिये हम प्रजागण (तान् नु क्षत्रियान्) उन सुप्रसिद्ध न्यायपरायण बलिष्ठ वीर पुरुषों के निकट (अवः) रक्षा की (याचिषामहे) याचना करते हैं जो (आदित्यान्) सूर्य्य के समान तेजस्वी, प्रतापी और अज्ञानान्धकारनिवारक हैं और (सुमृळीकान्) जो प्रजाओं, आश्रितों और असमर्थों को सुख पहुँचाने वाले हैं ॥१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में रक्षकों और रक्ष्यों के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं । सर्व प्रकार से रक्षक सुखप्रद हों और रक्ष्य उनसे सदा अपनी रक्षा करावें । इसके लिये परस्पर प्रेम और कर-वेतन आदि की सुव्यवस्था होनी चाहिये ॥१॥

मित्रो नो अत्यंहतिं वरुणः पर्षदर्यमा ।
आदित्यासो यथा विदुः ॥२॥

पदार्थः—(मित्रः) ब्राह्मण प्रतिनिधि, (वरुणः) क्षत्रिय प्रतिनिधि (अर्य्यमा) वैश्यप्रतिनिधि, (आदित्यासः) और सूर्य्यवत् प्रकाशमान और दुःखहरणकर्ता अन्यान्य सभासद् (यथा विदुः) जैसा जानते हों या जानते हैं उस रीति से (नः) हम प्रजागणों के (अंहतिम्) क्लेश, उपद्रव, दुर्भिक्ष, पाप और इस प्रकार के निखिल विघ्नों को (अति पर्षद्) अत्यन्त दूर ले जायं ॥२॥

भावार्थः—मित्र=जो स्नेहमय और प्रेमागार हो। वरुण=जो न्याय-दृष्टि से दण्ड दे और सत्यता का स्तम्भ हो। अर्य्यमा=अर्य्य=वैश्य। मा=माननीय=वैश्यों का माननीय। यद्वा न्याय के लिये जिसके निकट लोग पहुँचे वह अर्य्यमा=अभिगमनीय अंहति=जो प्राप्त होकर प्रजाओं का हनन करे जिसका आगमन असह्य हो। सभासद् वे हों जो बड़े बुद्धिमान्, बड़े परि-श्रमी, बड़े उद्योगी, सत्यवादी, निर्लोभ और परहित-समर्थ हों ॥२॥

तेषां हि चित्रमुक्थ्यं१ वरूथमस्ति दाशुषे।

आदित्यानामरंकृते ॥३॥

पदार्थः—(दाशुषे) जो लोग प्रजा के कार्य्य में अपना समय, धन, बुद्धि, शरीर और मन लगाते हैं वे दाश्वान् कहलाते हैं और जो (अरंकृते) अपने सदाचारों से प्रजाओं को भूषित रखते हैं और प्रत्येक कार्य्य में जो क्षम हैं वे अलंकृत कहाते हैं। इस प्रकार मनुष्यों के लिये (तेषाम् हि आदित्यानाम्) उन सभासदों का (चित्रम्) बहुविध (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वरूथम्) दान, सत्कार, पुरस्कार पारितोषिक और धन आदि होता है ॥३॥

भावार्थः—जो राष्ट्र के उच्चाधिकारी हों वे सदा उपकारी जनों में इनाम बांटा करें; इससे देश की वृद्धि होती जाती है। केवल अपने स्वार्थ में कदापि भी मग्न नहीं होना चाहिये ॥३॥

महि वो महतामवो वरुण मित्रार्यमन्।

अवांस्या वृणीमहे ॥४॥

पदार्थः—(वरुण मित्र अर्य्यमन्) हे वरुण! हे मित्र! हे अर्य्यमन्! (वः महताम्) आप महान् पुरुषों का (अवः) रक्षण, साहाय्य और दान आदि (महि) प्रशंसनीय और महान् है (अवांसि) उन रक्षण आदिकों को आप से हम (आवृणीमहे) मांगते हैं ॥४॥

भावार्थः—राष्ट्रीय सभासदों के निकट प्रजागण सदा अपनी-अपनी आवश्यकताएं जनाया करें और उनसे उनकी पूर्ति कराया करें ॥४॥

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात् ।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥५॥

पदार्थः—(आदित्यासः) हे राज्यसभासदो ! (हथात् पुरा) प्रजाओं में उपद्रवों और विघ्नों के आने के पहले ही (नः जीवान्) हम जीते हुए जनों के उद्धार के लिये (अभि धेतन) चारों ओर से दौड़ कर आवें। (हवनश्रुतः) हे प्रार्थनाओं के श्रोताओ ! (कत् ह स्थ) आप मन में विचार करें कि आप कौन हैं अर्थात् आप इसी कार्य के लिये सभासद् नियुक्त हुए हैं। प्रजाओं के प्रार्थनापत्र आप ही सुनते हैं। यदि इस कार्य्य में आपकी शिथिलता हुई तो कितनी हानि होगी, इसको सोचिये। आपके किंचित् आलस्य से प्रजाओं में महान् मृत्यु उपस्थित होगी ॥५॥

भावार्थः—राज्यसभासद् प्रजाओं में उपद्रव फैलने से पूर्व उनकी आवश्यकताएं जानें और उनकी पूर्ति करें ॥५॥

यद्वः श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति यच्छर्दिः ।
तेना नो अधि वोचत ॥६॥

पदार्थः—हे राज्यसभासदो ! प्रबन्धकर्ताओ ! (श्रान्ताय) अति परिश्रमी, उद्योगी, साहसी और (सुन्वते) सदा शुभकर्म में निरत जनों के लिये (वः) आप लोगों का (यद् वरूथम्) जो दान के लिये धन, साहाय्य और पुरस्कार आदि हैं और (यद् छर्दिः) रहने के लिये बड़े-बड़े भवन और आश्रय हैं (तेन) उन दोनों प्रकारों के उपकरणों से (नः) हम प्रजाजनों की (अधिवोचत) सहायता और रक्षा कीजिये ॥६॥

भावार्थः—परिश्रमी और सुकर्मी जनों को राज्य की ओर से सब सुविधा मिलनी चाहिये—यह शिक्षा इससे देते हैं ॥६॥

अस्ति देवा अंहोरुर्वस्ति रत्नमनागसः ।
आदित्या अद्भुतैनसः ॥७॥

पदार्थः—(आदित्याः देवाः) हे देव सभासदो ! (अद्भुतैनसः) आप सब निरपराध और निष्पाप हैं। हे देवो ! (अंहोः) हिंसक अपराधी और पापी जनों का (उरु अस्ति) महाबन्धन और (अनागसः) निरपराधी जनों के लिये (रत्नम्) रमणीय श्रेय होता है ॥७॥

भावार्थः—सभासद् अपने सदाचार को वैसा बनावें कि वे कभी पाप और अपराध करते हुए न पाए जायं क्योंकि हिंसक पापी जनों को महादण्ड और निरपराधी को श्रेय मिलता है ॥७॥

मा नः सेतुः सिषेदयं महे वृणक्तु नस्परि।
इन्द्र इद्धि श्रुतो वशी ॥८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! (नः) हम लोगों को (सेतुः) पापरूप बन्धन जैसे दृढ़ता से (न सिषेत्) न बांधे—ऐसा वर्ताव रखना चाहिये। (अयम्) यह न्यायाधीश जगदीश (नः) हम लोगों को (महे) पुण्यकार्य्य के लिये (परि वृणक्तु) छोड़ देवे (हि) क्योंकि (इन्द्रः इत्) यही परमेश्वर (श्रुतः) विख्यात (वशी) वशी है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में रखने वाला है॥८॥

भावार्थः—हम लोगों को सदा शुभकर्म के सेवन में रखना चाहिये जिससे ईश्वरीय दण्ड हम पर न गिरे। हमारा सम्पूर्ण जीवन प्राणिहितार्थ हो॥८॥

मा नो मृचा रिपूणां वृजिनानामविष्यवः।
देवा अभि प्र मृक्षत ॥९॥

पदार्थः—(अविष्यवः) हे रक्षितृसभाध्यक्षो! (वृजिनानाम्) पापिष्ठ हिंसक (रिपूणाम्) शत्रुओं की (मृचा) हत्या (नः मा) हम लोगों के मध्य न आवे। (देवाः) हे देवो! वैसा प्रबन्ध आप (अभि) सब ओर से (प्रमृक्षत) करें॥९॥

भावार्थः—सभाध्यक्षगण ऐसा प्रबन्ध करें कि जिससे प्रजाओं में कोई बाधा न आने पावे॥९॥

यहां सभा को संबोधित करते हैं॥

उत त्वामदिते मह्यहं देव्युप ब्रुवे।
सुमृळीकामभिष्टये ॥१०॥

पदार्थः—(महि) हे पूज्ये! (देवि) हे देवि! (अदिते) अदीने सभे! (उत) और सभास्थ पुरुषो! (अभिष्टये) अभिमत फलप्राप्ति के लिये (अहम्) मैं (सुमृळीकाम्) सुखदात्री (त्वा) तेरे निकट भी (उप ब्रुवे) प्रार्थना करता हूं॥१०॥

भावार्थः—अदिति=यह राज्यसम्बन्धी प्रकरण है और मित्रवरुण और अर्य्यमा आदि प्रतिनिधियों का वर्णन है। अतः यहां अदिति शब्द से सभा का ग्रहण है यह भी एक वैदिक शैली है कि सभा को सम्बोधित करके प्रजागण अपनी प्रार्थना सुनावें॥१०॥

पर्षि दीने गंभीर आँ उग्रंपुत्रे जिघांसतः ।
माकिंस्तोकस्यं नो रिषत् ॥११॥

पदार्थः—(उग्रपुत्रे) हे उग्रपुत्रे सभे ! (जिघांसतः) हिंसक शत्रुओं से (दीने) गाध जल में या गाध संकट में (आ) और (गभीर) अति अगाध संकट में हम लोगों को (पर्षि) सदा बचाया करती है और इसी प्रकार बचाया कर। हे अदिते ! (नः तोकस्य) हमारी बीजभूत सन्तानों को (माकिः रिषत्) कोई प्रबल शत्रु भी विनष्ट न करने पावे; ऐसा प्रबन्ध आप करें ॥११॥

भावार्थः—दीन गभीर शब्द से अल्प और अधिक क्लेश द्योतित होता है। यहां गभीर शब्द का अर्थ जल भी सायण करते हैं। यद्यपि उदक नाम में इस शब्द का पाठ है तथापि यहां स्वाभाविक अर्थ यह प्रतीत होता है कि छोटे-बड़े सब संकट से आप हमारी रक्षा करती हैं; अतः आप धन्यवाद के पात्र हैं। आगे हमारा बीज नष्ट न हो सो उपाय कीजिये ॥११॥

अनेहो नं उरुव्रज उरूचि वि प्रसंर्तवे ।
कृधि तोकाय जीवसें ॥१२॥

पदार्थः—(उरुव्रजे) हे अति विस्तीर्णगते ! (उरूचि) हे बहुशासिके सभे ! (नः) हम लोगों को भी (अनेहः) शत्रुओं से बचा; अहिंसित रख; विस्तीर्ण (कृधि) बनाओ (वि प्र सर्तवे) जिससे हम लोग भी आनन्द से इधर उधर गमन कर सकें तथा यह भी आशीर्वाद दें कि (तोकाय जीवसे) हमारे सन्तानरूप बीज सदा जीवित रहें ॥१२॥

भावार्थः—अनेहाः=अहिंसित अपाप इत्यादि। उरुव्रजा=क्योंकि राष्ट्रीय सभा का प्रभाव सम्पूर्ण देश में पड़ता है अतः वह उरुव्रजा और बहुतों का शासन करती है अतः वह उरूचि कहाती है। उस सभा का सब ही आदर करते हैं—इस कारण भी वह उरूचि कहाती है ॥१२॥

ये मूर्धानः क्षितीनामदंब्धासः स्वयंशसः ।
व्रता रक्षन्ते अद्रुहः ॥१३॥

पदार्थः—सभासद् कैसे होने चाहियें इसका वर्णन इसमें है। (क्षितीनाम्) मनुष्यों के मध्य (ये मूर्धानः) जो गुणों के द्वारा सर्वश्रेष्ठ हों; (अदब्धासः) दूसरों की विभूति, उन्नति और मंगल देखकर ईर्ष्या न करें; (स्वयशसः) अपनी वीरता, सद्-

गुण विद्यादि द्वारा और परिश्रम करके जो स्वयं यश उत्पन्न करते हों। पुनः, जो (अद्रुहः) किसी का द्रोह न करें वे ही सभासद् हो सकते हैं और वे ही (व्रता रक्षन्ते) ईश्वरीय और लौकिक नियमों को भी पाल सकते हैं ॥१३॥

भावार्थः—जो समय-समय पर समाजों में श्रेष्ठ गुणों से भूषित हों वे सभासद् चुने जायं ॥१३॥

ते नं आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत ।

स्तेनं बद्धमिवादिते ॥१४॥

पदार्थः—(आदित्यासः) हे सभासदो ! (वृकाणाम्) हिंसक, चोर, डाकू और द्रोही असत्यवादी और वृक पशु के समान भयंकर जनों के (आस्नः) मुख से (नः) हम प्रजाओं को (मुमोचत) बचाओ। (अदिते) हे सभे ! (बद्धम् स्तेनम्) बद्ध चोर को जैसे छोड़ते हैं वैसे दुर्भिक्षादि पापों से पीड़ित और बद्ध हम लोगों को बचाइये ॥१४॥

भावार्थः—प्रजा कितने प्रकारों से लूटी जाती है इसका दृश्य यदि देखना हो तो आंख फैलाकर ग्राम-ग्राम में देखो। मनुष्य वृकों और व्याघ्रों से भी बढ़कर स्वजातियों के हिंसक बन रहे हैं। सभा को उचित है कि इन उपद्रवों से प्रजा की रक्षा करे ॥१४॥

अपो षु णं इयं शरुरादित्या अपं दुर्मतिः ।

अस्मदेत्वजघ्नुषी ॥१५॥

पदार्थः—(आदित्याः) हे सभासदो ! माननीय पुरुषो ! आप लोगों की कृपा और राज्यप्रबन्ध से (इयम् शरुः) यह हिंसा करनेवाला दुर्भिक्षादिरूप आपत्तिजाल (नः) हम लोगों को (अजघ्नुषी) न सताते हुए (अस्मद्) हम लोगों से (सु अपो एतु) कहीं दूर चले जायं। और इसी प्रकार (दुर्मतिः) हमारी दुर्मति भी (अप) यहां से कहीं दूर भाग जाय ॥१५॥

भावार्थः—अज्ञानता और दरिद्रता ये दोनों महापाप हैं; इनको यथाशक्ति सदा क्षीण-हीन बनाया करो ॥१५॥

शश्वद्धि वः सुदानव आदित्या ऊतिभिर्वयम् ।

पुरा नूनं बुभुज्महे ॥१६॥

पदार्थः—(सुदानवः आदित्याः) हे परमोदार परमदानी सभासदो ! (वः

ऊतिभिः) आप लोगों की रक्षा, साहाय्य और राज्यप्रबन्ध से (वयम् हि) हम प्रजागण (शश्वत्) सर्वदा (पुरा) पूर्वकाल में और (नूनम्) इस वर्तमान समय में (बुभुज्महे) आनन्द भोग विलास करते आए हैं और कर रहे हैं। अतः आप लोग धन्यवाद के पात्र हैं ॥१६॥

भावार्थः—राज्य-कर्मचारियों का अच्छे काम होने पर अभिनन्दन करें ॥१६॥

शश्वन्तं हि प्रचेतसः प्रतियन्तं चिदेनसः ।

देवाः कृणुथ जीवसे ॥१७॥

पदार्थः—इस ऋचा से विनय की प्रार्थना करते हैं—(प्रचेतसः) हे ज्ञानिवर, हे उदारचेता, हे सुबोद्धा (देवाः) विद्वानो ! उन पुरुषों को (जीवसे) वास्तविक, मानव-जीवन प्राप्त करने के लिये (कृणुथ) सुशिक्षित बनाओ कि जो (शश्वन्तम् हि) अपराध और पाप करने के सदा अभ्यासी हो गए हैं; परन्तु (एनसः) उनको करके पश्चात्ताप के लिये (प्रतियन्तम्) जो आपके शरण में आ रहे हैं उन्हें आप सुशिक्षित और सदाचारी बनाने का प्रयत्न करें ॥१७॥

भावार्थः—पापियों, अपराधियों, चोरों, व्यसनियों इत्यादि प्रकार के मनुष्यों को अच्छा बनाना भी राष्ट्र का काम है ॥१७॥

तत्सु नो नव्यं सन्यस आदित्या यन्मुमोचति ।

बन्धाद्बद्धमिवादिते ॥१८॥

पदार्थः—(आदित्याः) हे प्रकाशमान सभासदो ! (अदिते) हे सभे ! (सन्यसे) हमारे कल्याण और महोत्सव के लिये (तत् नव्यम्) क्या आप लोगों की ओर से वह नूतन साहाय्य और रक्षण (नः) हमको (सु) सुविधा और आराम के साथ प्राप्त हो सकता है (यत् मुमोचति) जो हमको विविध क्लेशों से छुड़ाया करता है। ऐसे ही (बन्धात् बद्धम् इव) जैसे बन्धन से बद्ध पशु या पुरुष को खोलते हैं ॥१८॥

भावार्थः—हे सभ्यो ! प्रजाओं में नये-नये उपाय और साहाय्य पहुँचाने का प्रबन्ध करो ॥१८॥

नास्माकमस्ति तत्तर आदित्यासो अतिष्कदे ।

यूयमस्मभ्यं मृळत ॥१९॥

पदार्थः—(आदित्यासः) हे सभासदो ! सभा नेताओ ! (अतिष्कदे) दुःख, व्यसन आपत्ति आदिकों से बचने के और उन्हें भगाने-कुचलने के लिये (अस्माकम्)

हम लोगों में (तव् तरः न अस्ति) वह वेग, सामर्थ्य, विवेक नहीं है जो आप लोगों में विद्यमान है। अतः हे सभ्यो ! (यूयम्) आप लोग ही (अस्मभ्यम् मृळत) हमको सुख पहुँचावें और सामर्थ्य प्रदान करें ॥१९॥

भावार्थः—जिस कारण राष्ट्रीय सभा के अधीन शतशः सहस्रशः सेनाएं कोष और प्रबन्ध रहते हैं और वे सब प्रजाओं की ओर से ही एकत्रित रहते हैं। अतः सभा का बल प्रजापेक्षया अधिक हो जाता है। अतः सभा को ही मुख्यतया प्रजाओं की रक्षा आदि का प्रबन्ध करना चाहिये ॥१९॥

मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः।
पुरा नु जरसो वधीत् ॥२०॥

पदार्थः—(आदित्याः) हे राष्ट्र-प्रबन्धकर्ताओ ! आप वैसा प्रबन्ध करें कि जिससे (जरसः पुरा नु) जरावस्था की प्राप्ति के पूर्व ही (विवस्वतः हेति) कालचक्र का आयुध (नः मा वधीत्) हमको न मारे। अर्थात् वृद्धावस्था के पहले ही हम प्रजागण न मरें सो उपाय कीजिये। जो आयुध (कृत्रिमा) बड़ी कुशलता और विद्वत्ता से बना हुआ है और (शरुः) जो जगत् को अवश्य मार कर गिराने वाला है ॥२०॥

भावार्थः – मरना सबको अवश्य ही है परन्तु जरावस्था के पूर्व मरना प्रबन्ध और अविवेक की न्यूनता से होता है। अतः राज्य की ओर से रोगादि निवृत्ति का पूरा प्रबन्ध होना उचित है ॥२०॥

वि षु द्वेषो व्यंहतिमादित्यासो वि संहितम्।
विष्वग्वि वृहता रपः ॥२१॥

पदार्थः—(आदित्यासः) हे राज्यप्रबन्धकर्त्ताओ (विष्वग्) सब प्रकारसे और सब दिशाओं से आप सब मिलकर (द्वेषः) द्वेषियों को (सु) अच्छे प्रकार (वि वृहत) मूल से उखाड़ नष्ट कीजिये। (अंहतिम्) पापों को (वि) हमसे दूर फेंक दीजिये (संहितम्) सम्मिलित आक्रमण को (वि) रोका कीजिये। तथा (रपः वि) रोग, शोक, अविद्या आदि पापों को विनष्ट कीजिये। यह अन्तिम विनय आप से है ॥२१॥

भावार्थः—राज्य की ओर से बड़े-बड़े विवेकी विद्वानों को देश की दशाओं के निरीक्षण के लिये नियुक्त करो और उनके कथनानुसार राज्यप्रबन्ध करो; तब निखिल उपद्रव शान्त रहेंगे ॥२१ ॥

अष्टम मण्डल में यह सतसठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकोनविंशत्यृचस्याष्टषष्टितमस्य सूक्तस्य १—१९ प्रियमेध ऋषिः ॥ १—१३ इन्द्रः । १४—१९ ऋक्षाश्वमेधयोर्दानस्तुतिर्देवता ॥ छन्दः—१ अनुष्टुप् । ४, ७ विराडनुष्टुप् । १० निचृदनुष्टुप् । २, ३, १५ गायत्री । ५, ६, ८, १२, १३, १७, १९ निचृद्गायत्री । ११ विराड्गायत्री ९, १४, १८ पादनिचृद्गायत्री । १६ आर्चीस्वराड्गायत्री ॥ स्वरः—१, ४, ७, १० गान्धारः । २, ३, ५, ६, ८, ९, ११—१९ षड्जः ॥

पुनरपि इन्द्रनाम से परमात्मा के महिमा की स्तुति करते हैं ॥

आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र शविष्ठ सत्पते ॥१॥

पदार्थः—(शविष्ठ) हे महाबलाधिदेव ! (सत्पते) हे सुजनरक्षक ! (इन्द्र) हे परमैश्वर्य्य संयुक्त महेश ! (ऊतये) अपनी-अपनी सहायता और रक्षा के लिये (सुम्नाय) स्वाध्याय, ज्ञान और सुख के लिये(त्वा आवर्तयामसि) तुझ को हम अपनी ओर खैंचते हैं अर्थात् हम पर कृपादृष्टि करने के लिये तेरी प्रार्थना करते हैं; ऐसे ही (यथा रथम्) जैसे रथ को खैंचते हैं ! तू कैसा है ? (तुविकूर्मिम्) तेरे अनन्त कर्म हैं; (ऋतीसहम्); तू निखिल विघ्नों को निवारण करने वाला है ॥१॥

भावार्थः—तुवि=बहुत । शविष्ठ=शव इष्ठ । शव=बल । सब ही उसी की प्रार्थना करें ॥१॥

तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते ।
आ पप्राथ महित्वना ॥२॥

पदार्थः—(तुविशुष्म) हे सर्वशक्ते ! (तुविक्रतो) हे सर्वज्ञ ! (शचीवः) हे अनन्तकर्मन् ! (मते) हे ज्ञानरूप देव ! तू (विश्वया) समस्तव्यापी (महित्वना) निज महत्त्व से (आ पप्राथ) सर्वत्र पूर्ण है ॥२॥

भावार्थः—तुवि=बहुत । १—उरु २—तुवि ३—पुरु ४—भूरि ५—शश्वत् ६—विश्व ७—परीणसा ८—व्यानशि ९—शत १०—सहस्र ११—सलिल और १२—कुविन् ये १२ (द्वादश) बहुनाम हैं । (निघण्टु ३। १ ।) शुष्म=बल । शची=कर्म । निघण्टु देखो । हे मनुष्यो ! जिसके बल, प्रज्ञा और कर्म अनन्त हैं; जो स्वयं ज्ञानरूप से सर्वत्र व्याप्त है; वही सबका पूज्य है॥२॥

यस्य॑ ते महि॒ना म॒हः परि॑ ज्मा॒यन्त॑मी॒यतुः॑ ।
हस्ता॒ वज्रं॑ हिर॒ण्ययम्॑ ॥३॥

पदार्थः—हे ईश ! (महः) महान् और महातेजस्वी (यस्य ते) जिस तेरे (हस्ता) हाथ (महिना) अपने महत्त्व से (वज्रम्) नियमरूप दण्ड को (परि ईयतुः) धारण किये हुए हैं; जो वज्र (ज्मायन्त) सर्वव्यापक है और (हिरण्ययम्) जो हित और रमणीय है ॥३॥

विशेष—ज्मायन्तम्=ज्मा=पृथिवी। यहां यह शब्द उपलक्षक है अर्थात् केवल पृथिवी पर ही नहीं कि जो सर्वत्र व्यापक है। वज्र=संसार में जो ईश्वरीय नियम व्यापक है उसी को वेद में वज्र और अद्रि आदि कहते हैं। उन्हीं नियमों से सब अनुग्रह और निग्रह पा रहे हैं। हस्त=उसके हाथ पैर, देह आदि नहीं हैं तथापि मनुष्य के बोध के लिये इस प्रकार का वर्णन आता है (विश्वतश्चक्षुरुत॥ आदि मन्त्र देखिये)। भाव इसका यह है कि इस संसार में ईश्वर ने ऐसे नियम स्थापित किये हैं कि जिनको न पालने से प्राणी स्वयं दण्ड पाते रहते हैं। अतः हे नरो ! उसकी प्रार्थना करो और उसके नियमों को पालो ॥३॥

वि॒श्वान॑रस्य व॒स्पति॒मना॑नतस्य॒ शव॑सः ।
ए॒वैश्च॑ चर्षणी॒नामू॒ती हु॑वे॒ रथा॑नाम् ॥४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः पतिम्) आप मनुष्यों के पालक परमदेव को (चर्षणीनाम्) प्रजाओं और (रथानाम्) रथस्वरूप इन जगत्प्राणियों की (एवैः) स्वेच्छापूर्वक (ऊती) रक्षा, साहाय्य और कृपा करने के लिये (हुवे) शुभकर्मों में स्तुति करता हूं, अपने हृदय में ध्यान करता और आवश्यकताएं मांगता हूं। जो परमात्मा (विश्वानरस्य) समस्त नरसमाज का पति है और (अनानतस्य) सूर्यादि लोकों और (शवसः) उनकी शक्तियों का भी शासक देव है ॥४॥

भावार्थः—जिस कारण वह सबका पालक, शासक और अनुग्राहक है और सर्वशक्तिमान् है अतः जगत् के कल्याण के लिये उसी की मैं उपासना करता हूं ॥४॥

अ॒भिष्ट॑ये स॒दावृ॑धं॒ स्व॑र्मीळ्हेषु॒ यं नरः॑ ।
नाना॒ हव॑न्त ऊ॒तये॑ ॥५॥

पदार्थः—(नरः) मनुष्य (यम् सदावृधम्) जिस सदा बढ़ाने-सदा सुख पहुँचाने वाले और सदा जगत्पोषक ईश्वर को (स्वर्मीळ्हेषु) संकटों, सुखों और जीवन-यात्रा में (अभिष्टये) स्वमनोरथ सिद्धि के लिये और (ऊतये) साहाय्य के लिये (नाना) विविध प्रकार (हवन्ते) स्तुति, पूजा, पाठ और कीर्ति गान करते हैं, उसको मैं भी भजता हूँ ॥५॥

भावार्थः—उसका महान् यश है जिसको सब ही गा रहे हैं। हम भी सदा उसी की उपासना करें ॥५॥

परोमात्रमृचीषममिन्द्रमुग्रं सुराधसम्।
ईशानं चिद्वसूनाम् ॥६॥

पदार्थः— हे विवेकी पुरुषो ! मैं (इन्द्रम्) उस परमैश्वर्य्यशाली ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और गान करता हूँ, तुम भी करो जो (परोमात्रम्) अतिशय पर है अर्थात् जो अपरिमित है तथापि (ऋचीसमम्) ऋचा के सम है। भाव यह है—यद्यपि वह परमात्मा अपरिछिन्न है तथापि हम मनुष्य उसकी स्तुति प्रार्थना करते हैं अतः मानो वह ऋचा के बराबर है; ऋचा जहाँ तक पहुँचती वहाँ तक है। पुनः (उग्रम्) महाबलिष्ठ और भयङ्कर है (सुराधसम्) सुशोभन धनसम्पन्न है और (वसूनां चित्) धनों व वासों का (ईशानम्) शासक भी है ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा अनन्त-अनन्त है तथापि जीवों पर दया करने वाला भी है। अतः वह उपास्य है ॥६॥

तन्तमिद्राधसे मह इन्द्रं चोदामि पीतये।
यः पूर्व्यामनुष्टुतिमीशे कृष्टीनां नृतुः ॥७॥

पदार्थः—मैं उपासक (पीतये) कृपादृष्टि से अवलोकनार्थ और (महः राधसे) महान् पूज्य सर्व प्रकार के धनों की प्राप्ति के लिये (तम् तम् इत् इन्द्रम्) उसी इन्द्र-वाच्य जगदीश की (चोदामि) स्तुति करता हूँ। उसे परमदेव को छोड़ अन्य की स्तुति नहीं करता जो (पूर्व्याम् अनुष्टुतिम्) प्राचीन और नवीन अनुकूल स्तुति को सुनता है और जो (कृष्टीनाम्) समस्त प्रजाओं का (ईशे) शासकस्वामी है और (नृतुः) जो सबका नायक है ॥७॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! उसी की कीर्ति गाओ जो सबका स्वामी है। वह इन्द्र-नामधारी जगदीश है ॥७॥

न यस्यं ते शवसान सख्यमानंश मर्त्यः ।

नकिः शवांसि ते नशत् ॥८॥

पदार्थः—(शवसान) हे बलाधिदेव ! हे महाशक्ते ! हे सर्वशक्ते ! जगदीश ! (यस्य ते) जिस तेरी (सख्यम्) मैत्री को कोई भी (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य कदापि भी (न आनंशः) प्राप्त न कर सका तब मैं आपकी मैत्री प्राप्त करूंगा, इसकी कौन सी आशा है तथापि मैं आपकी ही स्तुति करता हूँ ! हे भगवन् ! (नकिः) कोई मनुष्य या देवगण (ते शवांसि) आपकी उन शक्तियों को भी (नशत्) प्राप्त नहीं कर सकता ॥८॥

भावार्थः—वह जगदीश अनन्त शक्तिसम्पन्न है। उसी की शक्ति की मात्रा से यह समस्त जगत् शक्तिमान् हो रहा है। तब उसको कौन पा सकता है; उसकी मैत्री परम पवित्र शुद्ध सत्यवादी पा सकते हैं, किन्तु वैसे नर विरले हैं ॥८॥

त्वोतासस्त्वा युजाप्सु सूर्ये महद्धनम् ।

जयेम पृत्सु वज्रिवः ॥९॥

पदार्थः—(वज्रिवः) हे दुष्टनिग्राहक ! शिष्टानुग्राहक ! परमन्यायी महेश ! हम प्रजाजन (त्वोतासः) तुझसे सुरक्षित होकर और (त्वा युजा) तुझ सहाय के साथ (अप्सु) जल में स्नानार्थ और (सूर्य्ये) सूर्य्यदर्शनार्थ (पृत्सु) इस जीवन-यात्रा रूप महासंग्राम में (महत् धनम्) आयु, ज्ञान, विज्ञान, यश, कीर्ति, लोक, पशु इत्यादि और अन्त में मुक्तिरूप महाधन (जयेम) प्राप्त करें ॥९॥

भावार्थः—सूर्य्य को मैं बहुत दिन देखूं, इस प्रकार की प्रार्थना बहुधा आती है, परन्तु (अप्सु=सूर्य्ये) जल में शतवर्ष स्नान करूं इस प्रकार की प्रार्थना बहुत स्वल्प है। परन्तु जलवर्षण की प्रार्थना अधिक है। अतः अप्सु=इसका अर्थ जल निमित्त भी हो सकता है। भारतवासियों को ग्रीष्म ऋतु में जल-स्नान का सुख मालूम है और सृष्टि में जैसे सूर्य्य आदि अद्भुत पदार्थ हैं तद्वत् जल भी है। अपने शुद्ध आचरण से आयु आदि धन बढ़ावें ॥९॥

तं त्वा यज्ञेभिरीमहे तं गीर्भिर्गिर्वणस्तम ।

इन्द्र यथा चिदाविथ वाजेषु पुरुमाय्यम् ॥१०॥

पदार्थः—(गिर्वणस्तम) हे अतिशय स्तुतिस्तवनीय ! हे स्तोत्रप्रियतम !

देव ! (तम् त्वाम्) जो तू सर्वत्र प्रसिद्ध और व्यापक है, उस तुझ को (यज्ञैः) विविध शुभकर्मों के अनुष्ठान द्वारा (ईमहे) याचते और खोजते हैं। हे भगवन् ! (तम्) उस तुझको (गीर्भिः) स्व स्व भाषाओं के द्वारा स्तुति करते हैं ! (इन्द्र) हे निखिलैश्वर्य्य-सम्पन्न महेश तू (यथाचित्) जिस किसी प्रकार से (वाजेषु) इन सांसारिक संग्रामों में (पुरुमाय्यम्) बहु ज्ञानी पुरुष को अवश्य और सदा (आविथ) बचाता और सहायता देता है ॥१०॥

भावार्थः—परमेश्वर सर्व अवस्था में ज्ञानी जन को बचाता है। अतः ज्ञानग्रहण का अभ्यास करना चाहिये ॥१०॥

यस्यं ते स्वादु सख्यं स्वाद्वी प्रणीतिरद्रिवः ।

यज्ञो वितन्तसाय्यः ॥११॥

पदार्थः—हे ईश ! (यस्य ते) जिस तेरी (सख्यम्) मैत्री (स्वादु) अत्यन्त प्रिय और रसवती है। (अद्रिवः)हे संसारोत्पादक!(प्रणीतिः) तेरी जगद्रचना भी (स्वाद्वी) मधुमयी है इस कारण तेरी स्तुति प्रार्थना के लिये (यज्ञः) शुभकर्म (वितंतसाय्यः) अवश्य और सदा कर्तव्य और विस्तारणीय है ॥११॥

भावार्थः—ईश्वर के साथ प्रेम या भक्ति से क्या आनन्द प्राप्त होता है इसको कोई योगी ध्यानी और ज्ञानी ही अनुभव कर सकते हैं; उसका प्रेम मधुमय है। हे मनुष्यो ! उसकी भक्ति करो ॥११॥

उरु णस्तन्वे३ तनं उरु क्षयाय नस्कृधि ।

उरु णो यन्धि जीवसे ॥१२॥

पदार्थः—हे भगवन् ! (नः तन्वे) हमारे शरीर या पुत्र के लिये (उरु कृधि) बहुत सुख दो। (तने) हमारे पौत्र के लिये बहुत सुख दो। (नः क्षयाय कृधि) हमारे निवास के लिये कल्याण करो। (नः जीवसे) हमारे जीवन के लिये (उरु यंधि) बहुत सुख दो ॥१२॥

भावार्थः—क्षय=वैदिक भाषा में क्षय शब्द निवासार्थक है। यन्धि=यम धातु दानार्थक है। आशय इसका यह है कि हम शुभ कर्म करें; अवश्य उसका फल सुख मिलेगा ॥१२॥

उरुं नृभ्य उरुं गव उरुं रथाय पन्थाम् ।

देववीतिं मनामहे ॥१३॥

पदार्थः—हम उपासकगण (देववीतिम्) शुभकर्म को (मनामहे) समझते हैं कि यह (नृभ्यः उरुम्) मनुष्य के लिये बहु विस्तृत शुभ (पन्थाम्) मार्ग है; (गवे उरुम्) गौ अश्वादि पशुओं के लिये भी यह हितकारी है तथा (रथाय उरुम् पन्थाम्) रथों के लिये भी सुखकारी है ॥१३॥

भावार्थः—मनुष्यों का शुभ यज्ञादि कर्म केवल अपने ही लिये नहीं किन्तु जड़ और चेतन दोनों का कल्याणकारी है ॥१३॥

यहां से आगे कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं ॥

उप॑ मा॒ षड् द्वाद्वा॒ नरः॒ सोम॑स्य ह॒र्ष्या॑ ।

ति॒ष्ठ॑न्ति स्वादुरा॒तयः॑ ॥१४॥

पदार्थः—उस ईश्वर की कृपा से (सोमस्य हर्ष्या) सोम के हर्ष से (द्वा द्वा) दो-दो मिल के (षट्) छः—दो नयन—दो नासिकाएं और दो कर्ण ये छः प्रकार के इन्द्रिय (मा उपतिष्ठन्ति) मुझे प्राप्त हैं जो (नरः) अपने-अपने विषयों के नायक और शासक हैं। पुनः (स्वादुरातयः) जिनके दान स्वादिष्ट हैं ॥१४॥

भावार्थः—षट्=नयन आदि इन्द्रिय संख्या में छै हैं परन्तु साथ ही (द्वा) दो दो हैं। अतः मन्त्र में "षट्" और "द्वा द्वा" पद आये हैं। ये इन्द्रियगण यद्यपि सब को मिले हैं तथापि विशेष पुरुष ही इनके गुणों और कार्य्यों से सुपरिचित हैं और विरले ही इनसे वास्तविक काम लेते हैं। ईश्वर की कृपा से जिनके इन्द्रियगण यथार्थ नायक और दानी हैं वे ही पुरुष धन्य हैं ॥१४॥

ऋ॒ज्रावि॑न्द्रो॒त आ द॑दे॒ हरी॒ ऋक्ष॑स्य सू॒नवि॑ ।

आ॒श्व॒मे॒धस्य॒ रोहि॑ता ॥१५॥

पदार्थः—मैं उपासक (इन्द्रोते) ईश्वर से व्याप्त इस शरीर के निमित्त (ऋज्रा) ऋजुगामी नासिका रूप दो अश्व, (आददे) लेता हूं। (ऋक्षस्य सूनवि) शुद्ध जीवात्मा के पुत्र शरीर के हेतु (हरी) हरणशील नयनरूप दो अश्व विद्यमान हैं और पुनः (आश्वमेधस्य) इन्द्रयाश्रय शरीर के कल्याण के लिये (रोहित) प्रादुर्भूत कर्णरूप दो इसमें संयुक्त हैं ॥१५॥

भावार्थः—हे नरो! यह पवित्र शरीर तुमको दिया गया है इससे शुभ कर्म करो ॥१५॥

पुनः उसी विषय को अन्य प्रकार से कहते हैं।

यह वर्णन समुदाय इन्द्रियों का है।

सुरथाँ आतिथिग्वे स्वभीशूँरार्क्षे।

आश्वमेधे सुपेशसः॥१६॥

पदार्थः—(आतिथिग्वे) इस शरीर के निमित्त(सुरथान्)अच्छे रथयुक्त इन्द्रियरूप अश्वों को मैं प्राप्त करता हूँ (आर्क्षे) ईश्वरविरचित शरीर के हितार्थ (स्वभीशून्) अच्छे लगाम सहित इन्द्रियाश्वों को मैं प्राप्त होता हूँ। इसी प्रकार (आश्वमेधे) इन्द्रियाश्रय देह के मंगलार्थ (सुपेशसः) सुन्दर इन्द्रियाश्वों को मैं प्राप्त होता हूँ॥१६॥

भावार्थः—अपनी इन्द्रियों से शुभ कर्म करते हुए शरीर-जन्म को सफल करो॥१६॥

षडश्वाँ आतिथिग्व इन्द्रोते वधूमतः।

सचा पूतक्रतौ सनम्॥१७॥

पदार्थः—पुनः उसी अर्थ को कहते हैं—(आतिथिग्वे) इस शरीर में नयन आदि (षड्) छः घोड़ों को (सचा सनम्) साथ ही मैं प्राप्त करता हूँ। इसी प्रकार (इन्द्रोते) ईश्वरव्याप्त शरीर में (वधूमतः) बुद्धिरूप नारी सहित और (पूतक्रतौ) शुद्धकर्म शरीर में इन्द्रियगण प्राप्त हैं॥१७॥

भावार्थः—वारम्वार इसलिये इस प्रकार का वर्णन आता है कि उपासक अपने इन्द्रियगणों को वश में करके इनसे पवित्र काम लेवे॥१७॥

बुद्धि का वर्णन करते हैं।

ऐषु चेतद्वृषण्वत्यन्तर्ऋज्रेष्वरुषी।

स्वभीशुः कशावती॥१८॥

पदार्थः—(एषु ऋज्रेषु) इन सरलगामी इन्द्रियों के (अन्तः) मध्य में वर्तमान एक (कशावती) विवेकवती बुद्धिरूपा नारी (आचेतत्) सबको चिताती और शासन करती है जो (वृषण्वती) सुख की वर्षा करने वाली है और (स्वभीशुः) जिसके हाथ में अच्छा लगाम है॥१८॥

भावार्थः—इन इन्द्रियों के साथ अदभुत शक्तिशालिनी जो विवेकवती बुद्धि है उसको मनन आदि व्यापारों से सदा बढ़ाना और शुद्ध रखना चाहिए; यह सम्पूर्ण जगत् इसी के वश में है॥१८॥

न युष्मे वाजबन्धवो निनित्सुश्चन मर्त्यः।

अवद्यमधि दीधरत् ॥१९॥

पदार्थः—(वाजबन्धवः) हे विज्ञानरूप अन्न से परस्पर बद्ध बन्धुभूत इन्द्रिय पुरुषो ! (युष्मे) तुम में (निनित्सुः चन) निन्दाभ्यासी(मर्त्यः चन) जन भी (अवद्यम्) निन्दा या अपराध (न अधि दीधरत्) स्थापित नहीं करता ॥१९॥

भावार्थः—यह शुद्ध इन्द्रियों का वर्णन है। जिनके इन्द्रिय शुद्ध और विज्ञानयुक्त हैं, वे धन्यवाद के पात्र हैं ॥१९॥

अष्टम मण्डल में यह अड़सठवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टादशर्चस्यैकोनसप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१८ प्रियमेध ऋषिः ॥ देवताः- १-१०, १३-१८ इन्द्रः। ११ विश्वे देवाः। ११, १२ वरुणः ॥ छन्दः—१, ३, १० विराडनुष्टुप्। ७, ६, १२, १३, १५ निचृदनुष्टुप्। ८ पादनिचृद्गायत्री। १४ अनुष्टुप्। २ निचृदुष्णिक्। ४, ५ निचृद्गायत्री। ६ गायत्री। ११ पङ्क्तिः। १६ निचृत् पंक्तिः। १७ बृहती। १८ विराड् बृहती॥ स्वरः—१, ३, ७—१०, १२—१५ गान्धारः। २ ऋषभः। ४—६ षड्जः। ११, १६ पञ्चमः। १७, १८ मध्यमः ॥

पुनरपि इन्द्रवाच्य ईश्वर की प्रार्थना उपासना आदि प्रारम्भ करते हैं ॥

प्रप्रं वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दद्वीरायेन्दवे।

धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) तुम सब ही मिलके (मन्दद्वीराय) धार्मिक पुरुषों को आनन्द देने वाले (इन्दवे) और जगत् को विविध सुखों से सींचने वाले परमात्मा के निमित्त (त्रिष्टुभम् इषम्) स्तुतिमय अन्न (प्र प्र) अच्छे प्रकार समर्पित करो, वह ईश्वर (धिया) शुभकर्म और (पुरन्ध्या) बहुत बुद्धि की प्राप्ति के हेतु (मेधसातये) यज्ञादि शुभकर्म करने के लिये (वः विवासति) तुमको चाहता है ॥१॥

भावार्थः—वीर उसका नाम है जो गरीबों और असमर्थों को अन्यायी पुरुषों से बचाता है और स्वयं ब्रह्मचर्य्यादि धर्म पालने और शारीरिक मानसिक शक्तियों को बढ़ाते हुए सदा देशहित कार्य्य में नियुक्त रहता है। परमात्मा ऐसे पुरुषों से प्रसन्न(मन्ददवीरः)होता है। इससे यह शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक नर-नारी को वीर-वीरा बनना चाहिये ॥१॥

विवासति—यह क्रिया दिखलाती है कि ईश्वर अपने सन्तानों की चिन्ता में रहता है और वह चाहता है कि मेरे पुत्र शुभकर्मी हों। तब भी उनकी बुद्धि और क्रियात्मक शक्ति की वृद्धि होगी। मेध=जितने शुभकर्म हैं वे सबही छोटे-बड़े यज्ञ ही हैं। स्वार्थ को त्याग परार्थ के लिये प्रयत्न करना यह महायज्ञ है। हे मनुष्यो ! मनुष्यसमाज बहुत बिगड़ा हुआ है। इसको ज्ञान-विज्ञान देकर धर्म में लगाकर सुधार करना एक महान् अध्वर है ॥१॥

नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम् ।

पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम उस ईश्वर को प्रसन्न करने की इच्छा करो जो देव (वः ओदतीनाम्) तुम्हारी सम्पत्तियों का रक्षक है और (यो युवतीनाम्) परम सुन्दरी स्त्रियों का (नदम्) पालक है और जो (वः) तुम्हारी (अघ्न्यानाम्) अहन्तव्य (धेनूनाम्) दुग्धवती गौवों का(पतिम्) पति है; उस परमदेव की आज्ञा पर चलो ॥२॥

भावार्थः—इस ऋचा में ओदती, योयुवती और धेनु ये तीनों स्त्री-लिङ्ग शब्द हैं। इससे दिखलाते हैं कि जैसे स्त्रीजाति का रक्षक ईश्वर है वैसे ही प्रत्येक वीर पुरुष को उचित है कि वे स्त्रियों पर कभी अत्याचार न करें ॥२॥

ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।

जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥३॥

पदार्थः—(अस्य) इस सर्वत्र प्रसिद्ध (दिवः) परमात्मदेव के (त्रिषु आरोचने) तीनों प्रकाशमान पृथिव्यादि लोकों में जो (देवानाम् जन्मन्) समस्त पदार्थों के जन्म की कारण (विशः) प्रजाएँ हैं (ताः) वे सबही (पृश्नयः) गौवों के समान (सोमम् श्रीणन्ति) मधुर मधुर पदार्थ दे रही हैं। कैसी गौएं ? (सूददोहसः) कूप के समान थन वाली ॥३॥

भावार्थः—जैसे गौएं मधुर दूध देती हैं वैसे ही सब पदार्थ मधुरता उत्पन्न कर रहे हैं। इसको देखिये और विचारिये ॥३॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।

सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥

पदार्थः—हे मनुष्यगण ! (यथा विदे) जैसे विज्ञात और प्रख्यात पुरुष को पूजते हो वैसे ही (गिरा) स्वस्ववाणी से (अभि) अन्तःकरण के सर्वभाव से (इन्द्रम्) उस परमात्मा को (प्राचं) पूजो जो जगदीश (गोपतिम्) पृथिव्यादि लोकों का रक्षक है (सत्यस्य सूनुम्) सत्य का जनयिता और (सत्पतिम्) सत्पति है ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वर को प्रत्यक्ष देखते नहीं हैं। अतः उसके अस्तित्व में लोग संदिग्ध रहते हैं और उसकी पूजा पाठ में आलस्य करते हैं। इस कारण विश्वासार्थ कहा जाता है कि विज्ञात पुरुष जैसे देखते और उसको पूजते तद्वत् उसको भी समझो। क्योंकि यदि वह न हो तो ये पृथिवी आदि कहां से आए। उसको विचारो ॥४॥

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।
यत्राभि संनवामहे ॥५॥

पदार्थः—उस इन्द्रवाच्य परमात्मा ने (अधि बर्हिषि) इस निराधार आकाश में (अरुषीः) प्रकाशमान इन (हरयः) परस्पर हरणशील पृथिव्यादि लोकों को (ससृज्रिरे) बनाया है; (यत्र) जहां हम लोग (संनवामहे) निवास करते हैं ॥५॥

भावार्थः—बर्हिष् यह आकाश का नाम है (निघण्टु १ । ३ ।) इससे ईश्वर की महती शक्ति दिखलाई गई है ॥५॥

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥६॥

पदार्थः—(वज्रिणे) दण्डधारी (इन्द्राय) उस इन्द्र के लिये (गावः) ये पृथिव्यादि लोक (आशिरम्) पुष्टिकर (मधु दुदुह्रे) मधु दे रहे हैं। (यत्) जिस को (उपह्वरे) समीप में ही (सीम्) सर्वत्र (विदत्) वह पाता है ॥६॥

भावार्थः - इसका आशय यह है कि जिस परमात्मा की प्रीति के लिये मानो ये सम्पूर्ण जगत् ही अपना-अपना स्वत्व दे रहे हैं और ईश्वर सर्वत्र व्यापक होने के कारण वह वहां ही उसे पा भी रहा है, तब स्वल्प मनुष्य उसको क्या दे सकेगा! तथापि हे मनुष्यो ! तुम्हारे निकट जो कुछ हो उसकी प्रीत्यर्थ उसको दो ॥६॥

उद्यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।
मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥७॥

पदार्थः—यद्यपि ईश्वर दृष्टिगोचर नहीं तथापि उसका अनुभव यह जीव करता है। वेद के अनुसार वह हमारा पिता और बन्धु है। वह रक्षक है, वह हमारी प्रार्थना सुनता और उसका फल देता है। इत्यादि विचारों के साथ वेद विद्यमान हैं। इस अवस्था में यह मन्त्र वक्ष्यमाण प्रकार का विचार उपस्थित करता है। अध्यात्मार्थ—(ब्रध्नस्य) सूर्य्यवत् प्रकाशक शिरसम्बन्धी (यत् विष्टपम्) जो विस्तृत और वितप्त (गृहम्) गृह है। वहां मैं उपासक (इन्द्रः च) और परमात्मा दोनों (उद् गन्वहि) जावें और वहां (मध्वः पीत्वा) मुक्ति का सुख भोगते हुए (त्रिः सप्त) एकविंशति विवेकयुक्त (सख्युः पदे) अपने मित्र के पद पर (सचेवहि) संयुक्त होवें ॥७॥

भावार्थः—त्रिः+सप्त=२१—भाष्यकार सायण आदि समझते हैं कि देवताओं के स्थानों में इक्कीसवां उत्तम सूर्य्य का स्थान है। वही परम पद भी कहलाता है, किन्तु यह व्याख्या वेद की नहीं हो सकती। क्योंकि देवों के सब स्थान मिलकर (२१) इक्कीस ही हैं इसका भी कोई निश्चय नहीं। अतः यह वर्णन अध्यात्म है। इस शिर में दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएं और एक रसना। ये सातों अपने-अपने विषयों के विचारकर्ता हैं॥ उत्तम, मध्यम और अधम भेद से इनके तीन प्रकार के विचार हैं। अतः ७×३=२१ प्रकार के अनुभव या विचार इस शिर में सदा होते रहते हैं। अतः यही शिर एकविंशति विचारों से युक्त है। सखा=परमात्मा का सखा जीव है। उसका मुख्य स्थान शिर ही है जैसे लोक में मित्र को बुलाकर लोग सत्कार करते हैं वैसे ही यह उपासक जीवात्मा परमात्मा को अपने स्थान में बुलाता है और उसे मधु समर्पित करता है।

वेदभगवान् मानवस्वभाव का निरूपक ग्रन्थ है। हम लोगों की बुद्धि की गति जितनी हो सकती है उतना वर्णन रहता है। इसी कारण वेदों के बहुत स्थलों में कहा गया है कि यद्यपि वह अपरिमित और अपरिच्छिन्न है तथापि वह ऋचीसम्=ऋचा के बराबर है। वेद वाणी जहाँ तक पहुँचती है उतना ही ईश्वर है। और वह वेदवाणी बहुधा मानव बुद्धि का अनुसरण करती है। हाँ क्वचित् वेदों में ऐसा भी वर्णन है। जहां बुद्धि नहीं पहुंचती यथा सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन ॥७॥

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।

अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥८॥

पदार्थः—(प्रियमेधासः) हे यज्ञप्रिय मनुष्यो! तुम सब मिलकर उसकी (अर्चत) पूजा करो; (प्रार्चत) अच्छे प्रकार उसको गाओ; अवश्यमेव (अर्चत) उसकी

स्तुति प्रार्थना उपासना आदि सुकर्म करो । केवल तुम ही नहीं (उत) किन्तु (पुत्रकाः) तुम्हारे पुत्र-पौत्र और भावी सन्तान भी (अर्चन्तु) उसकी कीर्ति गावें ! (न) जैसे (धृष्णु पुरम्) विजयी पराक्रमी और महान् नगर की प्रशंसा लोग गाते हैं तद्वत् उसको गाओ ।।८।।

भावार्थः—उसको छोड़ अन्य की उपासना या प्रार्थना न करो यह इसका आशय है ।।८।।

वैराग्योत्पादन के लिये संसार की विलक्षणता दिखलाते हैं ।।

अव॑ स्वराति॒ गर्ग॑रो गो॒धा परि॑ सनिष्वणत् ।

पिङ्गा॒ परि॑ चनिष्कद॒दिन्द्रा॑य॒ ब्रह्मोद्य॑तम् ।।९।।

पदार्थः—(गर्गरः) गर्गर शब्दयुक्त नक्कारा आदि बाजा (अव स्वराति) भयावह शब्द कर रहा है (गोधा) ढोल मृदङ्ग आदि (परि सनिस्वनत्) चारों तरफ बड़े जोर से बज रहे हैं । इसी प्रकार (पिंगा) अन्यान्य वाद्य भी (परि चनिष्कदत्) चारों ओर भय दिखलारहे हैं । अतः हे मनुष्यो ! (इन्द्राय) उस परमात्मा के लिये (ब्रह्म उद्यतम्) स्तुतिगान का उद्योग हो ।।९।।

भावार्थः—यह संसार एक भयानक युद्ध क्षेत्र है : इसमें प्रतिक्षण अपने-अपने अस्तित्व के लिये प्रत्येक जीव युद्ध कर रहा है । अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य-समाजों में अधिक संग्राम है । अतः इसमें कौन बचेगा और कौन मरेगा—इसका निश्चय नहीं । इस हेतु प्रथम परमात्मा का स्मरण करो ।।९।।

आ यत्पत॑न्त्ये॒न्य॑: सु॒दुघा॒ अन॑पस्फुरः ।

अ॒प॒स्फुर॑ं गृभायत॒ सोम॒मिन्द्रा॑य॒ पात॑वे ।।१०।।

पदार्थः—(यत्) जब (सुदुघाः) सुगमता से दुहने योग्य, सुष्ठु फल देनेवाली (एन्यः) गमन (प्रगति) शील और (अनपस्फुरः=अन्+अप+स्फुरः) स्फुरित होने अथवा सूझजानेवाली शारीरिक व आत्मिकबल की साधक क्रियायें [साधक के अन्तःकरण में] (आपतन्ति) आकर उपस्थित हो जाती हैं तब (इन्द्राय पातवे) ऐश्वर्यसाधक जीवात्मा के उपभोग के लिये (अप स्फुरं) न हिलनेवाले (सोमं) [उन क्रियाओं द्वारा निष्पादित] शारीरिक व आत्मिक बल को (गृभायत) ग्रहण करायें ।।१०।।

भावार्थः—सच्चे साधक को उन क्रियाओं की सूझ-बूझ फलने लगती है कि जिनके करने से जीवात्मा बलवान् होता है । बस, इनको क्रिया में परिणत करने में नहीं चूकना चाहिये ।

विशेष—स्फुर-स्फुरणे—इसके दोनों अर्थ हैं; स्फुरित होना और हिलना। 'अनपस्फुरः' क्रियाओं का विशेषण है जिसमें स्फुर् (सूझना) के साथ दो निषेधार्थक शब्द 'न' तथा 'अप' के संयोग 'सूझना' अर्थ को दृढ़ किया गया है। 'अपस्फुरं' 'सोमं' का विशेषण है—इससे सोम की 'चञ्चलता' का निषेध किया गया है ॥१०॥

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत।

वरुण इदिह क्षयत्तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥११॥

पदार्थः—(तं) उस सोम का (इन्द्रः अपात्) परमैश्वर्य का साधक जीवात्मा, राजा आदि पान करता है; (अग्निः) ज्ञान का साधक इसका पान करता है; (विश्वेदेवाः) सभी दिव्यगुणों का आधान करने वाली शक्तियाँ (अमत्सन) इसके पान से हर्षित होती हैं; (वरुणः इत्) न्याय एवं स्नेहभावनाओं की प्रतीक दिव्य शक्ति (इह क्षयत्) इस सोम में ही निवास करती है—इस पर आश्रित है; (आपः) सद्गुण प्राप्त करनेवाले साधक उस सोम के (अभि, अनूषत) गुणों का कीर्तन करें ऐसे ही जैसे कि (सं शिश्वरीः) गर्व से फूली हुई [माताएँ] (वत्सं) अपने प्रिय शिशु की प्रशंसा करती हैं ॥११॥

भावार्थः—प्रभु द्वारा उत्पादित पदार्थों का नाम 'सोम' है। ये ही सब नाना दुःखों के नाशक हैं—रोग आदि के नाशक हैं; सारभूत होने से भी 'सोम' हैं। न्याय, प्रेम आदि शुभ भावनाएँ भी 'सोम' हैं। इस प्रकार सांसारिक पदार्थ विभिन्न रूप से मानव को सुखी करके इन्द्र आदि पदवाच्य बनाते हैं ॥११॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।

अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥१२॥

पदार्थः—हे (वरुण) ज्ञानरूपी जल के भण्डार, श्रेष्ठ उपदेशक! तू (सुदेवः) शोभन प्रबोधदाता है; वह तू कि (यस्य ते) जिस तेरी जलवाहक नदियों-सरीखी (सप्त) सात या बहने वाली (सिन्धवः) सुख को बहाकर लाने वाली ज्ञानेन्द्रियाँ [२ आँख, २ कान, २ नाक और १ रसना] अपने निष्पादित ज्ञान को (काकुदं) शब्द के साथ प्रेरणा देनेवाले तालु में इस प्रकार (अनुक्षरन्ति) चुआ देती हैं जैसे कि (सुषिरां) खोखली (सूर्म्यं) मूर्ति में जल चू पड़ता है ॥१२॥

भावार्थः—श्रेष्ठ विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा

एकत्रित ज्ञान-जल का प्रयोग वाणी द्वारा उच्च स्वर में दूसरों को प्रबोध देने में करे। ऐसा उपदेष्टा वस्तुतः ज्ञान का गम्भीर समुद्र है॥१२॥

यो व्यतीँरफाणयत्सुयुक्ताँ उप दाशुषे।

तक्वो नेता तदिद्वपुरुपमा यो अमुच्यत॥१३॥

पदार्थः—(यः) जो ऐश्वर्य का इच्छुक साधक (उपदाशुषे) अपने अन्तःकरण में दानशीलता और समर्पणशीलता प्राप्त करने के लिये (व्यतीन्) अपने मार्ग से भटके इन्द्रियाश्वों को (सुयुक्तान्) सुष्ठतया शरीररूप रथ में संयुक्त (अफाणयत्) कर लेता है, (आत् इत्) तदनन्तर (यः) जो (तक्वः) सहनशील, (नेता) नेता, (वपुः) रूपवान्, (उपमा) आदर्श उपमान होकर (अमुच्यत) विश्रान्ति, मन की शान्ति अनुभव करता है॥१३॥

[व्यतीन्=वि+अति+इ=मार्गच्युतान्।]

भावार्थः—जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने वश में न हों वह प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण नहीं कर सकता; इस भावना को अर्जित करने के लिये व्यक्ति आत्मसंयमी बने। उसके पश्चात् ही वह मन को अशान्त करनेवाली दुश्चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है॥१३॥

अतीदु शक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः।

भिनत्कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा॥१४॥

पदार्थः—(इन्द्रः) ऐश्वर्य का साधक (विश्वाः) सम्पूर्ण (द्विषः) द्वेषभावनाओं को (अति) जीतकर (अति, इत्) उच्च अवस्था में पहुँचा हुआ (ओहते) समाधियोग में संलग्न होता है। पुनश्च (परः कनीनः) उत्कृष्ट एवं कान्तियुक्त होकर (पच्यमानं) प्रत्यक्ष होते हुए अथवा पूर्णता को प्राप्त होते हुए (ओदनं) चावलों के समान सुपच, बुद्धिस्थ होने वाले प्रबोध रूपी भक्ष्य को (गिरा) अपनी वाणी से (भिनत्) अंश अंश करके बाँट देता है॥१४॥

[ओहते=ऊह्, वितर्के; ओहः Meditation आप्टे। पच्यमानम्=पचि व्यक्तीकरणे से निष्पन्न।]

भावार्थः—साधक जब सम्पूर्ण द्वेष-भावनाओं पर विजय पा लेता है तभी उसका मन भगवान् के ध्यान में सम्यक्तया संलग्न होता है और फिर धीरे-धीरे जब उसका अपना प्रबोध पकने लगता है, पूर्ण होने लगता है तब उपदेष्टा के रूप में वह उसे अंश-अंश करके बाँटने लगता है॥१४॥

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम् ।
स पंक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम् ॥१५॥

पदार्थः—ऐश्वर्य का साधक इन्द्र (न अर्भकः) न तो शिशु अवस्था का हो और (न कुमारकः) न बालक ही हो; अपितु सर्वथा युवक सशक्त शरीरादि का हो तो वह (नवं) स्तुतियोग्य (रथं) शरीररूपी रथ पर आरूढ़ होकर (सः) वह साधक (पित्रे, मात्रे) पिता और माता के पद के योग्य पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये (महिषं) महान् (मृगं) अनुसन्धातव्य (विभुक्रतुम्) व्यापक प्रज्ञा एवं कर्मों वाले प्रभु को (पक्षत्) प्रत्यक्ष करता है। [मृगः=मृग्+क; मृग् अन्वेषणे ।] ॥१५॥

भावार्थः—ऐश्वर्य के इच्छुक मनुष्य का अन्तिम एवं महान् लक्ष्य परमेश्वर है। उसका मार्गण-अन्वेषण, उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना ही मनुष्य का महान् लक्ष्य है। कहा भी है—'अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते ।' प्रशंसनीय शरीररथ वही होगा कि जिसके वाहक, इन्द्रियाश्व, बुद्धिरूपी सारथि तथा मनरूपी प्रग्रह के माध्यम से जीव के पूर्णतया वश में हों। इसी रीति से वह प्रभु प्रत्यक्ष होता है ॥१५॥

आ तू सुंशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम् ।
अधं द्युक्षं संचेवहि सहस्रंपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम् ॥१६॥

पदार्थः—हे (सुशिप्र) सुष्ठु सुख प्रापक ! अथवा सेवा करने से शोभन फलप्रद ! (दंपते) ब्रह्माण्ड रूपी विशाल गृह के स्वामिन् ! (तू=तु) आप मेरे इस (हिरण्ययम्) तेजोमय तथा यशस्वी (रथं) रमणीय यान सरीखे शरीर पर (आ तिष्ठ) उपस्थित हूजिये (अध) अनन्तर हम दोनों ही इस (द्युक्षं) द्युतिमान् (सहस्रपादं) असंख्यात गमनसाधन रूप पहियों से युक्त, (अरुषं) क्षयकारक दोष आदि से बचाये जाने योग्य, (स्वस्तिगां) सुख प्रापक, (अनेहसं) सतत रक्षणीय इस रथ का (सचेवहि) साथ-साथ सेवन करें ॥१६॥

भावार्थः—प्रभु ने जीव को जीवनयात्रा को पूरा करने के लिये सुन्दर शरीर-रूपी रथ दिया है; यह तभी द्युतिमान्, असंख्य पहियोंवाला, सुखप्रापक आदि होना सम्भव है जब कि इस पर इस ब्रह्माण्ड के स्वामी परम प्रभु को भी जीव अपने साथ बैठा ले; जीव अपने अन्तःकरण में प्रभु का साक्षात्कार कर ले ॥१६॥

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने ॥१७॥

पदार्थः—(यत्) जब (अस्य) इस (दावने) दाता इन्द्र, परमेश्वर की (एतवे) प्राप्ति के लिये और (सुधितं) इसके सुनिहित (अर्थं) प्राप्त करने योग्य गुण तथा इसके दिये हुए द्रव्य समूह को (चित्) भी प्राप्त करने के लिये (आवर्तयन्ति) इसके गुणों का बार-बार कीर्तन करते हैं, (घ) निश्चय ही (नमस्विनः) आज्ञानुवर्ती साधक (तं) उस (स्वराजं) स्वयं प्रकाशित ऐश्वर्यवान् प्रभु की (इत्था) इसी प्रकार (उप, आसते) उपासना करते हैं ॥१७॥

[दावने=देवस्य देवं वा, षष्ठ्यर्थे द्वितीयार्थे वा चतुर्थी निघ० ४-१-३२]

भावार्थः—पूर्व मंत्र में जीवात्मा को उपदेश दिया है कि वह प्रभु को अपने समीप बैठावे—पर कैसे? इसका उत्तर यह है कि बार-बार उसके गुणों का कीर्तन करे; गुणों का कीर्तन करने से उन गुणों की प्राप्ति का संकल्प बढ़ेगा और इस संकल्पबल के सहारे उसके गुण जीव धारण कर सकेगा; यही उसकी सच्ची उपासना-पद्धति है ॥१७॥

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम्।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत ॥१८॥

पदार्थः—(एषां) इन आज्ञानुवर्ती साधकों में से जो (प्रियमेधासः) धारणावती बुद्धि को चाहते हैं वे अपने (पूर्वां) पूर्ववर्ती (प्रयतिं) संकल्प (अनु) के अनुसार (वृक्तबर्हिषः) जिन्होने अपने हृदय रूपी अन्तरिक्ष को स्वच्छ किया हुआ हो वे, तथा जो (हितप्रयसः) बढ़े हुए सुखवाले हैं, उन्होंने (प्रत्नस्य ओकसः=प्रत्नं ओकं) अपने बहुत पुराने निवास स्थान को=स्वर्गलोक को=सुखमयी स्थिति को (आशत) प्राप्त किया ॥१८॥

भावार्थः—तैत्तिरीय संहिता १-५-७-१ के अनुसार 'स्वर्गो लोकः प्रत्नः' स्वर्ग का अर्थ है सुखमय और लोक का अर्थ है स्थान या स्थिति। यह सुखमयी स्थिति है ब्राह्मी स्थिति। इस स्थिति की प्राप्ति का उपाय इस मंत्र में यह बताया है कि इस स्थिति की प्राप्ति का संकल्प धारणकर अपने अन्तःकरण को स्वच्छ करे: बस स्वच्छ अन्तःकरण में परमेश्वर आ स्थित होते हैं—इसी का नाम सुखमयी स्थिति है ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह उनहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ॥

अथ पञ्चदशर्चस्य सप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१५ पुरुहन्मा ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१ पादनिचृद् बृहती । ५, ७ विराड्बृहती । ३ निचृद् बृहती । ८, १० आर्ची स्वराड् बृहती । १२ आर्ची बृहती । ६, ११ बृहती । २, ६ निचृत् पङ्क्तिः । ४ पङ्क्तिः । १३ उष्णिक् १५ निचृदुष्णिक् । १४ भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ३, ५, ७—१२ मध्यमः । २, ४, ६, पञ्चमः । १३, १५ ऋषभः । १४ गान्धारः ॥

पुनरपि इन्द्र की महिमा दिखलाते हैं ॥

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।

विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥१॥

पदार्थः—(यः) जो इन्द्रवाच्य परमात्मा (चर्षणीनाम्) समस्त प्रजाओं का (राजा) राजा है जो (रथैः) परम रमणीय इन सकल पदार्थों के साथ (याता) व्यापक है और (अध्रिगुः) अतिशय रक्षक है । रक्षा करने में जो विलम्ब नहीं करता (विश्वासाम् पृतनानां) जगत् की समस्त सेनाओं का विजेता है (ज्येष्ठः) सर्वश्रेष्ठ और (वृत्रहा) निखिल विघ्नों का हन्ता है; (गृणे) उस ईश की मैं प्रार्थना स्तुति और गुणगान करता हूं ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर सर्व धाता विधाता और पिता पालक है उसकी पूजा करो ॥१॥

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।

हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥२॥

पदार्थः—(पुरुहन्मन्) हे ईश्वरोपासक जन ! (अवसे) रक्षा के लिये (तम् इन्द्रम्) उस परमैश्वर्य्यशाली ईश्वर को स्तुति प्रार्थना आदियों से (शुंभ) भूषित करो (यस्य विधर्तरि) जिस धारक पोषक और दण्डव्यवस्थापक ईश्वर में (द्विता) निग्रह और अनुग्रह दोनों विद्यमान हैं; दण्डार्थ जिसके (हस्ताय) हाथ में (वज्रः प्रति धायि) वज्र स्थापित है और अनुग्रहार्थ जो (दर्शतः) परम-दर्शनीय है; (महः) तेजःस्वरूप है; (दिवे न सूर्य्यः) जैसे आकाश में सूर्य्य वैसे ही जो सर्वत्र प्रकाशमान है । उसकी पूजा करो ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! देखो ईश्वर के कैसे अखण्डनीय नियम हैं जिनके वश में चराचर चल रहे हैं ॥२॥

नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।

इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम् ॥३॥

पदार्थः—(तम्) उस ईश्वरोपासक की तुलना (कर्मणा) कर्म द्वारा (नकिः नशत्) कोई भी नहीं कर सकता; जो जन (यज्ञैः) शुभकर्म द्वारा (इन्द्रम् न) उस परमात्मा को ही (चकार) अपने अनुकूल बनाता है जो इन्द्र (सदावृधम्) सदा धनों जनों को बढ़ानेवाला है; (विश्वगूर्तम्) सबका गुरु वा पूज्य, (ऋभ्वसम्) महान् व्यापक, (अधृष्टम्) अधर्षणीय है और (धृष्णोजसम्) जिसका बल जगत् को कंपाने वाला है ॥३॥

भावार्थः—वह परमात्मा सबका पूज्य, व्यापक, अधर्षणीय तथा अपने बल से जगत् को कंपानेवाला है ॥३॥

अषाळ्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः ॥४॥

पदार्थः—मैं उस परमात्मा की स्तुति करता हूं जो (असाळहम्)दुष्टों को भी क्षमा नहीं करता, इसी कारण (उग्रम्) वह दण्डविधाता है और जगत् की उपद्रवकारी (पृतनासु) सेनाओं का (सासहिम्) शासक और विनाशक है; (यस्मिन् जायमाने) जिसके सर्वत्र विद्यमान होने के कारण (उरुज्रयः) महा वेगवान् (मही) बड़े (धेनवः) द्युलोक और पृथिव्यादिलोक (सम् अनोनवुः) नियम से चल रहे हैं। धेनु शब्दार्थ स्वयं श्रुति करती है (द्यावः क्षामः) द्युलोक और पृथिव्यादिलोक हैं ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! वह जगदीश महान्यायी और महोग्र है जिसकी आज्ञा में वह सम्पूर्ण जगत् चल रहा है। उसकी कीर्ति का गान करो ॥४॥

परमात्मा का अपरिमेयत्व दिखलाते हैं ॥

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य्यशाली देव ! (यद्) यदि एतत्सदृश (शतम् द्यावः) शतशः द्युलोक (स्युः) हों (उत) और (भूमीः) शतशः पृथिवी हों तथापि (ते) तेरा परिमाण इन दोनों से नहीं हो सकता। (वज्रिन्) हे दण्डधर ! (सहस्रम् सूर्य्याः) एक सहस्र सूर्य्य भी (त्वा न) तुझको व्याप्त नहीं कर सकते। हे भगवन् ! किंबहुना कोई भी वस्तु (जातम्) सर्वत्र व्याप्त तुझको (न अन्वष्ट) व्याप्त नहीं कर सकती (रोदसी) यह सम्पूर्ण द्युलोक और पृथिव्यादि लोक मिलकर भी तुझको व्याप नहीं सकता। क्योंकि पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक और सम्मिलित सब लोकों से वह बड़ा है ॥५॥

भावार्थः—परमात्मा सब लोकों से बड़ा और सर्वत्र व्यापक है। सब लोक पृथक्-पृथक् या सब एक साथ मिलकर भी उसे व्याप्त नहीं कर सकते ॥५॥

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिन् चित्राभिरूतिभिः ॥६॥

पदार्थः—(वृषन्) हे अभीष्ट फलवर्षक ! (शविष्ठ) हे परमशक्तिशालिन् ! (मघवन्) हे महाधनेश्वर ! (वज्रिन्) हे न्यायकारिन् देव ! तू (महिना) स्वकीय महिमा से (वृष्ण्या) आनन्द वर्षाकारक (शवसा) बल द्वारा (विश्वा) समस्त जगत् को (आ पप्राथ) अच्छे प्रकार पूर्ण कररहा है। अतः हे भगवन् ! (गोमति व्रजे) गवादि पशुयुक्त गोष्ठ में (चित्राभिः ऊतिभिः) विविध रक्षाओं और साहाय्यों से (अस्मान् अव) हमारी रक्षा और साहाय्य कर ॥६॥

भावार्थः—जिस कारण वह देव स्वयं सम्पूर्ण जगत् को सुखों से पूर्ण कर रहा है। अतः धन्यवादार्थ उसकी कीर्ति गाओ ॥६॥

न सीमदेव आपदिषं दीर्घायो मर्त्यः ।
एतग्वा चिद्य एतशा युयोजते हरी इन्द्रो युयोजते ॥७॥

पदार्थः—(दीर्घायो) हे चिरन्तन ! हे नित्यसनातन देव ! (अदेवः) जो तेरी उपासना प्रार्थना आदि से रहित (मर्त्यः) मनुष्य है वह (सीम् इषम्) किसी प्रकार के अन्नों को (न आपत्) न पावे। (यः) जो तू (एतग्वा चित्) नाना वर्णयुक्त (एतशा) इन दृश्यमान स्थावर और जंगम रूप संसारों को (युयोजते) कार्य्य में लगाकर शासन कररहा है। पुनश्च, (इन्द्रः हरी युयोजते) परमात्मा इन परस्पर हरणशील द्विविध संसारों को नियोजित कर रहा है। उस परमपिता को जो नहीं भजता है उसका कल्याण कैसे हो सकता है ॥७॥

भावार्थः—'अदेव' शब्द से यह दिखलाया गया है कि जो ईश्वरोपासना से रहित है वह इस लोक और परलोक दोनों में दुःखभागी होता है ॥७॥

पुनः उस अर्थ को कहते हैं ॥

तं वो महो महाय्यमिन्द्रं दानाय सक्षणिम् ।
यो गाधेषु य आरणेषु हव्यो वाजेष्वस्ति हव्यः ॥८॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) आप सब मिल कर (महः) तेजःस्वरूप (महाय्यम्) परमपूज्य और (दानाय) जीवों को कर्मानुसार फल देने के लिये सर्वत्र (सक्षणिम्) विद्यमान (तम् इन्द्रम्) उस परमात्मा को गाओ और पूजो (गाधेषु) गाध और अगाध जल में और (यः) जो (आरणेषु) स्थलों में (हव्यः) स्तवनीय और प्रार्थनीय होता है और जो (वाजेषु) वीरों के वीर कर्मों में (हव्यः अस्ति) प्रार्थनीय होता है जिसको लोग सर्वत्र बुलाते हैं, वह परम पूज्य है ॥८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! वह ईश्वर जीवों को प्रतिक्षण दान दे रहा है। सुख, दुःख, सम्पत्ति, विपत्ति, नदी, समुद्र, अरण्य, जल और स्थल सर्वत्र और सब काल में उसकी उपासना करो ॥८॥

पुनः उस अर्थ को कहते हैं ॥

उदू॒ षु णो॑ वसो म॒हे मृ॒शस्व॑ शूर॒ राध॑से ।
उदू॒ षु म॒ह्यै म॑घवन्मघत्त॑य॒ उदि॑न्द्र॒ श्रव॑से म॒हे ॥९॥

पदार्थः—(वसो) हे सर्वजीवों को वासप्रद तथा सर्वत्र निवासिन् देव ! (नः सु उ) हम लोगों को अच्छे प्रकार (महे राधसे) महती सम्पत्ति के लिये (उन्मृशस्व) ऊपर उठा। (मघवन्) हे सर्वधन सम्पन्न ! (मह्यै मघत्तये) महा धन के लिये हमको (सु उ) अच्छे प्रकार (उन्मृशस्व) ऊपर उठा (इन्द्र) हे इन्द्र (महे श्रवसे) प्रशंसनीय प्रसिद्धि के लिये हमको (उत्) ऊपर उठा ॥९॥

भावार्थः—इस ऋचा में महा सम्पत्ति, महा धन और महा कीर्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना है। निःसन्देह जो तन-मन से ईश्वर के निकट प्राप्त होते हैं उनका मनोरथ अवश्य सिद्ध होता है; उसमें विश्वास कर उसकी आज्ञा पर चलो ॥९॥

त्वं न॑ इन्द्र ऋत॒युस्त्वा॒निदो॒ नि तृ॑म्पसि ।
मध्ये॑ वसिष्व तुविनृम्णो॒र्वोर्नि दा॒सं शि॑श्नथो॒ हथैः॑ ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! जिस कारण (त्वम्) तू (ऋतयुः) सत्यप्रिय और सत्यकामी है अतः (त्वानिदः) नास्तिक, चोर, डाकू आदि दुष्टों की अपेक्षा (नः नि तृम्पसि) हमको अतिशय तृप्त करता है। (तुविनृम्ण) हे समस्त धनशाली इन्द्र ! (ऊर्वोः) द्युलोक और पृथिवी लोक के (मध्ये) मध्य हम लोगों को सुख से (वसिष्व) वसा और (दासम्) दुष्ट को (हथैः) प्रहारों से (नि शिश्नथः) हनन कर ॥१०॥

भावार्थः—क्योंकि ईश्वर सत्यप्रिय है, अतः असत्यवादी और उप-

द्रवियों को दण्ड देता है और सत्यवादियों को दान । अतः हे मनुष्यो ! सत्य-प्रिय बनो ॥१०॥

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।

अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥११॥

पदार्थः—इन्द्र (सखा) जो जगत् का हितेच्छु (पर्वतः) दण्डधारी न्यायी राजा है वह उस पुरुष को (स्वः) समस्त सुखों से (अव दुधुवीत) दूर फेंक दे; केवल उसको दूर ही न करे किन्तु (दस्युम्) उस दुष्ट मनुष्य-विनाशक को (सुघ्नाय) मृत्यु के मुख में (पर्वतः) न्यायी राजा फेंक दे जो (अन्यव्रतम्) परमात्मा को छोड़ किसी नर देवता की उपासना पूजादि करता हो; (अमानुषम्) मनुष्य से भिन्न राक्षसादिवत् जिसकी चेष्टा हो; (अयज्वानम्) जो शुभकर्म यज्ञादिकों से भागता हो; (अदेव-युम्) जिसका स्वभाव महादुष्ट और जगद्धानिकारक हो । ऐसे समाज-हानिकारी दुष्टों को राजा सदा दण्ड दिया करे ॥११॥

भावार्थः—लोगों को उचित है कि वे केवल ईश्वर की उपासना करें; समाजों में, देशों में या ग्रामों में राक्षसी काम न करें; स्त्रीलम्पटता, बाल-हत्यादि पातक में प्रवृत्त न हों । राजा अपने प्रबन्ध से समाज को सुधारा करे ॥११॥

त्वं न इन्द्रासां हस्ते शविष्ठ दावने ।

धानानां न सं गृभायास्मयुर्द्विः सं गृभायास्मयुः ॥१२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमैश्वर्य्यशाली (शविष्ठ) हे महा महाशक्तिधारी देव ! (अस्मयुः) हम लोगों के ऊपर प्रेम करता हुआ (त्वम्) तू (नः) हमको (दावने) देने के लिये (आसाम्) इन गो, भूमि, हिरण्य आदि सम्पत्तियों को (हस्ते संगृभाय) अपने हाथ में ले लो (धानानाम् न) जैसे चर्वण करने वाला हाथ में धान लेता है तद्वत् । हे भगवन् (अस्मयुः) हम लोगों को कृपादृष्टि से देखता और चाहता हुआ तू (द्विः) वारंवार (संगृभाय) उन सम्पत्तियों को हाथ में ले और यथाकर्म हम लोगों में बांट दे ॥२॥

भावार्थः—यह प्रेममय प्रार्थना है, जैसे बालक अपने पिता-माता से खानपान के लिये याचना करता रहता है । तद्वत् सबके समान पिता उस जगदीश से हम अपनी आवश्यकताएं मांगें ॥१२॥

सखायः क्रतुमिच्छत कथा राधाम शरस्य ।

उपस्तुतिं भोजः सूरिर्यो अह्रयः ॥१३॥

पदार्थः—(सखायः) हे मित्रो ! (क्रतुम्) शुभकर्म की (इच्छत) इच्छा करो। अन्यथा (शरस्य) वृत्रहन्ता उस परमात्मा की (कथा राधाम) कैसे आराधना कर सकेंगे ? कैसे (उपस्तुतिम्) उसकी प्रिय स्तुति करेंगे ? अतः शुभ कर्म करो। जो ईश (भोजः) सब प्रकार से सुख पहुँचाने वाला है; (सूरिः) सर्वज्ञ और (यः) जो (अह्लयः) अविनश्वर है ॥१३॥

भावार्थः—इसका विस्पष्ट आशय यह है कि प्रत्येक मनुष्य को शुभ कर्म करना चाहिये। यज्ञादि करने से केवल आत्मा का ही उपकार नहीं होता किन्तु देशवासियों को भी इससे लाभ पहुंचता है और दुराचारों से बचता है शरीर में रोग नहीं होता। मरणपर्य्यन्त सुख से जीवन बीतता है ॥१३॥

भूरि॑भिः समह॒ ऋषि॑भिर्ब॒र्हिष्म॑द्भिः स्तविष्यसे ।

यदि॒त्थमेक॑मेक॒मिच्छर॑ व॒त्सान्प॑रा॒दद॑ः ॥१४॥

पदार्थः—(समह) हे सर्वपूज्य जगदीश ! तू (बर्हिष्मद्भिः) सर्वसाधन सम्पन्न (भूरिभिः ऋषिभिः) बहुत ऋषियों से (स्तविष्यसे) पूजित होता है। (शर) हे विघ्न-विनाशक ! (यद्) जो तू (इत्थम्) इस प्रकार (एकमेकम् इत्) एक-एक करके (वत्सान्) बहुत वत्स सत्पुरुषों को (पराददः) दिया करता है ॥१४॥

भावार्थः—इसका आशय यह है कि उसकी पूजा जब महा महर्षि करते हैं तब हम क्यों न करें और जब देखते हैं कि जो उपासक हैं उनके धन की क्रमशः वृद्धि होती है। परमात्मा एक-एक देकर उसको लाख दे देता है। अतः वही चिन्तनीय है ॥१४॥

क॒र्ण॒गृह्या॑ म॒घवा॑ शौरदे॒व्यो व॒त्सं न॑स्त्रि॒भ्य आन॑यत् ।

अ॒जां सू॒रिर्न धात॑वे ॥१५॥

पदार्थः—(मघवा) परमैश्वर्य्यशाली (शौरदेव्यः) शूरों और देवों का हित-कारी ईश्वर (नः) हमको (त्रिभ्यः) तीनों लोकों से (कर्णगृह्या) कान पकड़ कर (वत्सम्) वत्स लाकर देता है; (न) जैसे (सूरिः) स्वामी (धातवे) पिलाने के लिये (अजाम्) बकरी को लाता है ॥१५॥

भावार्थः—ईश्वर जिसको देना चाहता है उसको अनेक उपायों से देता है। मानो तीनों लोकों में से कहीं से आनकर उसको अभिलषित देता है, क्योंकि वह महा धनेश्वर है। हे मनुष्यो ! उसकी उपासना प्रेम से करो ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह सत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चदशर्चस्यैकसप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१५ सुदीति पुरुमीळ्हौ तयोर्वान्यतर ऋषिः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ४, ७ विराड् गायत्री । २, ६, ८, ९ निचृद् गायत्री । ३, ५ गायत्री । १०, १३ निचृद् बृहती । १४ विराड् बृहती । १२ पादनिचृद् बृहती । ११, १५ बृहती ॥ स्वरः—१, ९ षड्जः । १०, १५ मध्यमः ॥

इस सूक्त में अग्नि नाम से परमात्मा की स्तुति की जाती है ॥

त्वं नो॑ अग्ने म॒होभिः॑ पा॒हि विश्व॑स्या॒ अरा॑तेः ।

उ॒त द्वि॒षो मर्त्य॑स्य ॥१॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार, हे सर्वशक्ते, जगन्नियन्ता, ईश ! (त्वम्) तू (महोभिः) स्वकीया महती शक्तियों के द्वारा (विश्वस्याः) समस्त (अरातेः) शत्रुता, दीनता और मानसिक मलीनता आदि से (नः) हमको (पाहि) बचा (उत) और (मर्त्यस्य) मनुष्य के द्वेष, ईर्ष्या और द्रोह आदिकों से भी हमको बचा ॥१॥

भावार्थः—इससे यह शिक्षा देते हैं कि तुम प्रथम निष्कारण शत्रुता न करो । केवल मनुष्यता क्या है इसपर पूर्ण विचार कर इसका प्रचार करो । अपने अंतःकरण से सर्वथा हिंसाभाव निकाल दो ॥१॥

न॒हि म॒न्युः पौरु॑षेय॒ ईशे॑ हि वः॑ प्रियजात ।

त्वमिद॑सि॒ क्षपा॑वान् ॥२॥

पदार्थः—(प्रियजात) हे सर्व प्राणियों के प्रिय सर्वशक्ते, जगदीश ! (वः) तेरे ऊपर (पौरुषेयः मन्युः) मनुष्यसम्बन्धी क्रोध (नहि ईशे) अपना प्रभाव नहीं डाल सकता । क्योंकि (त्वम् इत्) तू ही (क्षपावान् असि) पृथिवीश्वर है ॥२॥

भावार्थः—क्योंकि परमात्मा ही पृथिवीश्वर है, अतः उसके ऊपर मनुष्य का प्रभाव नहीं पड़ सकता, किन्तु उसका प्रभाव मनुष्यों के ऊपर पड़ता है, क्योंकि वह क्षपावान्=पृथिवीश्वर है । कोई इस शब्द का अर्थ रात्रि-स्वामी भी करते हैं । क्षपा=रात्रि ॥२॥

इससे धन की याचना करते हैं ॥

स नो॒ विश्वे॑भिर्दे॒वेभि॒रूर्जो॑ नपा॒द्भद्र॑शोचे ।

र॒यिं दे॑हि वि॒श्ववा॑रम् ॥३॥

पदार्थः—(ऊर्जोनपात) हे बलप्रद ! (भद्रशोचे) हे कल्याणकारि तेजोयुक्त प्रभो ! (सः) सर्वत्र दीप्यमान तू (विश्वेभिः देवेभिः) समस्त पदार्थों के साथ (नः) हम प्राणियों को (विश्ववारम्) सर्व वरणीय=सर्व ग्रहणीय (रयिम्) सम्पत्ति (देहि) दे ॥३॥

भावार्थः—ऊर्ज=बल। नपात्=न गिराने वाला। जो बल को न गिरावे वह ऊर्जोनपात अर्थात् बलप्रद। देव=यह शब्द सर्व पदार्थवाचक है। मन्त्र का आशय यह है कि सकल प्राणियों के साथ मुझको भी साहाय्य दे ॥३॥

उसका महत्त्व दिखलाते हैं ॥

न तमग्ने अरातयो मर्तं युवन्त रायः ।

यं त्रायसे दाश्वांसम् ॥४॥

पदार्थः हे अग्ने तू (यं दाश्वांसम्) जिस दाता और उदार पुरुष को (त्रायसे) साहाय्य और रक्षा करता है (तम् मर्तम्) उस मर्त्य को (अरातयः) शत्रु और दुष्ट (रायः) कल्याण सम्पत्ति से (न युवन्त) कोई भी पृथक् नहीं कर सकता ॥४॥

भावार्थः—परमात्मा की कृपा जिस पर होती है उसको कौन शक्ति कल्याण-मार्ग से पृथक् कर सकती है ? ॥४॥

यं त्वं विप्र मेधसातावग्ने हिनोषि धनाय ।

स तवोती गोषु गन्ता ॥५॥

पदार्थः—(विप्र) हे जगत्पोषक, हे प्रेम से संसारदर्शक, (अग्ने) सर्वाधार, ईश ! (मेधसातौ) देवयज्ञ में (धनाय) धनों की प्राप्ति के लिये (यम् त्वम्) जिसको तू (हिनोषि) प्रेरणा करता है (सः) वह (तव ऊती) तेरी सहायता और रक्षा से (गोषु गन्ता) गौ आदि पशुओं का स्वामी होता है ॥५॥

भावार्थः—गो शब्द अनेकार्थ प्रसिद्ध है। जो कोई देवयज्ञ करता है उसको सब प्रकार के धन प्राप्त होते हैं और (गौ) सकल इन्द्रिय उसके वशीभूत होते हैं ॥५॥

परमानन्द की प्राप्ति के लिये यह प्रार्थना है ॥

त्वं रयिं पुरुवीरमग्ने दाशुषे मर्ताय ।

प्र णो नय वस्यो अच्छ ॥६॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार परमदेव ! (त्वम्) तू (दाशुषे मर्ताय) परमोदार मनुष्य को (पुरुवीरम् रयिम्) बहुत वीरों से संयुक्त सम्पत्तियां देता है। हे ईश ! (नः) हमको (वस्यः) परमानन्द की (अच्छ) ओर (प्र नय) ले चल ॥६॥

भावार्थः—वस्यः=जो आनन्द सर्वत्र व्यापक है वह मुक्तिरूप सुख है। उसी

की ओर लोगों को जाना चाहिये । वह इस लोक में भी विद्यमान है परन्तु उसको केवल विद्वान् ही अनुभव कर सकता है ॥६॥

उरुष्या णो मा परा दा अघायते जातवेदः ।

दुराध्ये॒ मर्ताय ॥७॥

पदार्थः—हे ईश ! (नः) हमारी (उरुष्य) रक्षा कर और (जातवेदः) हे सर्वज्ञ सर्वसम्पत्ते ! (अघायते) जो सदा पाप किया करता है और दूसरों की अनिष्ट चिन्ता में रहता है ऐसे पुरुष के निकट (मा परा दाः) हमको मत ले जा । तथा (दुराध्ये) जिसकी बुद्धि परद्रोह के कारण विकृत होगई है, जो दूसरों के अमंगल का ही ध्यान करता है (मर्ताय) ऐसे पापिष्ठ के निकट भी हमको मत लेजा ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य को उचित है कि अपनी ही जाति के अशुभ करने में न लगा रहे और अनिष्ट चिन्तन से अपने मनको दूषित न करे; अन्यथा महती हानि होगी ॥७॥

अग्ने माकिष्टे देवस्य रातिमदेवो युयोत ।

त्वमीशिषे वसूनाम् ॥८॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्ते ! (ते देवस्य रातिम्) तुम देव के दान को (अदेवः) महामहा दुष्ट पुरुष (माकिः युयोत) नष्टभ्रष्ट न करे क्योंकि (त्वम् वसूनाम् ईशिषे) तू ही सर्वसम्पत्तियों का अधीश्वर और शासक है ॥८॥

भावार्थः—इसका आशय है कि ईश्वर प्रतिक्षण वायु, जल, अन्न और आनन्द का दान दे रहा है । दुष्टजन इनको भी अपने आचरणों से गन्दा बनाते रहते हैं अथवा गौ, मेष, अश्व, हाथी आदि इनको चुरा-चुरा कर नष्ट न करने पावें, क्योंकि ईश्वर सबका रक्षक है ॥८॥

इस ऋचा से कृतज्ञता का प्रकाश करते हैं ॥

स नो वस्व उप मास्यूर्जो नपान्माहिनस्य ।

सखे वसो जरितृभ्यः ॥९॥

पदार्थः—(ऊर्जः) हे महाशक्तियों के (नपात्) प्रदाता, (सखे) हे प्राणियों के मित्रवत् हितकारी, (वसो) वास देनेवाले जगदीश ! (सः) वह तू (नः जरितृभ्यः) हम स्तुतिपाठकों को (वस्वः) प्रशंसनीय सम्पत्तियां और (माहिनस्य) महत्त्व दोनों देता है ॥९॥

भावार्थः—ईश्वर बलदा, सखा और वासदाता है। हे मनुष्यो ! इसका तुम अनुभव और विचार करो। वह जैसे विविध दान और महत्त्व हमको दे रहा है वैसे तुमको भी देगा, यदि उसकी आज्ञा पर चलो ॥९॥

अच्छा॑ नः शी॒रशो॑चिषं॒ गिरो॑ यन्तु दर्श॒तम् ।

अच्छा॑ य॒ज्ञासो॒ नम॑सा पुरू॒वसुं॑ पुरुप्रश॒स्तमू॒तये॑ ॥१०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (नः) हम लोगों की स्तुति प्रार्थना और विनय वाक्य (अच्छ) उस ईश्वर की ओर जायं (शीरशोचिषम्) जिसका तेज सर्वत्र व्याप्त है और जो (दर्शतम्) परम दर्शनीय है। तथा (यज्ञासः) हमारे सर्व यज्ञादि शुभकर्म (नमसा) आदर के साथ (अच्छ) उस परम पिता की ओर जायं जो ईश (पुरुवसुम्) समस्त सम्पत्तियों का स्वामी है और (ऊतये) अपनी-अपनी रक्षा और साहाय्य के लिये (पुरुप्रशस्तम्) जिसकी स्तुति सब करते हैं ॥१०॥

भावार्थः—हमारे जितने शुभकर्म धन और पुत्रादिक हों वे सब ईश्वर के लिये ही होवें ॥१०॥

अ॒ग्निं सू॒नुं सह॑सो जा॒तवे॑दसं दा॒नाय॒ वार्या॑णाम् ।

द्वि॒ता यो भू॒दमृ॑तो॒ मर्त्ये॒ष्वा होता॑ म॒न्द्रत॑मो वि॒शि ॥११॥

पदार्थः—(सहसः) इस जगत् के (सूनुम्) उत्पादक, (जातवेदसम्) सर्वज्ञ (अग्निम्) और सर्वाधार सर्वव्यापी ईश की ओर हम लोगों की प्रार्थना जायं। जिससे कि (वार्य्याणां दानाय) उत्तमोत्तम सुखप्रद सम्पत्तियों का दान प्राप्त हो और (यः) जो (द्विता) दो प्रकार से भासित होता है सूर्य्य चन्द्र पृथिवी आदि देवों में वह (अमृतः) अमृतरूप होकर व्याप्त है (मर्त्येषु आ) और मनुष्यों में (होता) दान-दाता और (विशि) गृह-गृह में (मन्द्रतमः) अतिशय आनन्दप्रद हो रहा है ॥११॥

भावार्थः—यद्यपि वह स्वयं कर्मानुसार आनन्द दे रहा है तथापि अपनी-अपनी इच्छा की पूर्त्ति के लिये उसकी प्रार्थना प्रतिदिन करे ॥११॥

अ॒ग्निं वो॑ देवय॒ज्यया॒ग्निं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे ।

अ॒ग्निं धी॒षु प्र॑थ॒मम॒ग्निमर्व॑त्य॒ग्निं क्षैत्रा॑य॒ साध॑से ॥१२॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोग (देवयज्यया) देवयजनार्थ (अग्निम्) उस परम देव की स्तुति कीजिये; (अध्वरे प्रयति) यज्ञ के समय में भी (अग्निम्) उस परमात्मा का गान कीजिये; (धीषु) निखिल शुभकर्मों में या बुद्धि के निमित्त (प्रथमम्

अग्निम्) प्रथम अग्नि को ही स्मरण कीजिये; (अर्वति) यात्रा के समय (अग्निम्) ईश्वर का ही स्मरण कीजिये और (क्षैत्राय साधसे) क्षेत्र के साधनों के लिये (अग्निम्) उसी ईश से मांगिये ॥१२॥

भावार्थः—सब वस्तु की प्राप्ति के लिये सब काल में उसी की स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये ॥१२॥

अग्निरिषां सख्ये ददातु न ईशे यो वार्याणाम् ।
अग्निं तोके तनये शश्वदीमहे वसुं सन्तं तनूपाम् ॥१३॥

पदार्थः—(यः) जो अग्निवाच्येश्वर (वार्य्याणाम्) सर्वश्रेष्ठ धनों का (ईशे) सर्वाधिकारी है (अग्निः) वह अग्नि (सख्ये) जिस हेतु वह सबका मित्र पालक है अतः (नः) हम लोगों को (इषाम् ददातु) सर्व प्रकार के सुखों को देवे। (तोके) पुत्र (तनये) पौत्र आदिकों के लिये (शश्वत्) सदा (अग्निम् ईमहे) ईश्वर से सुख सम्पत्ति की याचना करते हैं जो ईश (वसुम्) सबको वसाने वाला (सन्तम्) सर्वत्र विद्यमान और (तनूपाम्) शरीररक्षक है ॥१३॥

भावार्थः—वह ईश सबका सखा और पोषक है अतः सर्व वस्तु के लिये उससे प्रार्थना करें ॥१३॥

अग्निमीळिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः ॥१४॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! (अवसे) अपनी रक्षा और साहाय्य के लिये (गाथाभिः) स्तुतियों के द्वारा (अग्निम्) उस सर्वाधार परमात्मा की (ईळिष्व) स्तुति करो जिसका (शीरशोचिषम्) तेज सर्वत्र व्याप्त है। (पुरुमीळ्ह) हे बहुतों को सन्तोषप्रद विद्वन् ! (राये) समस्त सुख की प्राप्ति के लिये (अग्निम्) ईश्वर की स्तुति करो। (नरः) इतर जन भी (श्रुतम्) सर्वत्र विख्यात (अग्निम्) उस परमात्मा की स्तुति करें जो (सुदीतये) प्राणिमात्र को (छर्दिः) निवास देता है ॥१४॥

भावार्थः—जो ईश्वर प्राणिमात्र को निवास और भोजन देरहा है उसकी स्तुति प्रार्थना हम मनुष्य करें ॥१४॥

अग्निं द्वेषो योतवै नो गृणीमस्यग्निं शं योश्च दातवे ।
विश्वासु विक्ष्ववितेव हव्यो भुवद्वस्तुर्ऋषूणाम् ॥१५॥

पदार्थः—हम उपासकगण (नः) अपने (द्वेषः) द्वेषियों को (योतवै) दूर करने के लिये (अग्निम्) परमात्मा से (गृणीमसि) प्रार्थना करते हैं और (शम् योः

च) सुख के मिश्रण को (दातवे) देने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। जो परमात्मा (विश्वासु)समस्त (विक्षु) प्रजाओं में(अविता इव) रक्षक रूप से स्थित है और जो (ऋषूणाम्) ऋषियों का (हव्यः) स्तुत्य है और (वस्तुः) वास देनेवाला (भुवत्) है ॥१५॥

भावार्थः किसी के साथ हम द्वेष न करें जहां तक हो जगत् में सुख पहुंचावें और उस ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करें जो सब का अधीश्वर है ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह इकहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टादशर्चस्य द्विसप्ततितमस्य सूक्तस्य १–१८ हर्यतः प्रागाथ ऋषिः ॥ अग्निर्हवींषि वा देवताः ॥ छन्दः–१, ३, ८—१०, १२, १६ गायत्री । २ पादनिचृद् गायत्री । ४—६, ११, १३—१५, १७ निचृद् गायत्री ७, १८ विराड्गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

यज्ञ के लिये मनुष्य को नियोजित करता है ॥

हविष्कृणुध्वमा गमदध्वर्युर्वनते पुनः ।
विद्वाँ अस्य प्रशासनम् ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! यज्ञ के लिये (हविः) घृत, शाकल्य, समिधा और कुण्ड आदि वस्तुओं की (कृणुध्वम्) तैयारी करो। (आगमत्) इसमें सकल समाज आवे। (अध्वर्युः) मुख्य, प्रधान याजक (पुनः वनते) पुनः पुनः परमात्मा की कामना करे जो (अस्य प्रशासनम्) इस यज्ञ का प्रशासन=विधान (विद्वान्) जानते हैं वे ईश्वर की कामना करें ॥१॥

भावार्थः—यज्ञारम्भ के पूर्व समग्र सामग्री एकत्रित कर लोगों को बुला अध्वर्यु ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करे ॥१॥

होतृकार्य दिखलाते हैं ॥

नि तिग्ममभ्यंशुं सीदद्धोता मनावधि ।
जुषाणो अस्य सख्यम् ॥२॥

पदार्थः– (होता) होता नाम के ऋत्विक् (अस्य सख्यम्) ईश्वर की मित्रता प्रार्थना और यज्ञसम्बन्धी अन्यान्य व्यापार (जुषाणः) करते हुए (मनौ अधि) जहां सब बैठे हों उससे उच्च आसन पर (तिग्मम् अंशुम्) तीव्र अंशु अर्थात् अग्निकुण्ड के (अभि) अभिमुख होकर (निषीदत्) बैठे ॥२॥

भावार्थः—होता कुछ उच्च आसन पर बैठ ईश्वर का ध्यान करे ॥२॥

ईश्वर का ग्रहण कैसे होता है यह दिखलाते हैं ॥

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया ।

गृभ्णन्ति जिह्वया ससम् ॥३ ।

पदार्थः—(रुद्रम्) सर्वदुःखनिवारक (तम्) उस ईश को (परः मनीषया) अतिशयित बुद्धि के द्वारा (जने अन्तः) प्राणियों के मध्य देखने और अन्वेषण करने की (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं। और (ससम्) सर्वत्र प्रसिद्ध उसको (जिह्वया) जिह्वा से—स्तुतियों से (गृभ्णन्ति) ग्रहण करते हैं ॥३॥

भावार्थः—यज्ञ में जिसकी स्तुति प्रार्थना होती है वह कहां है इस शङ्का पर कहते हैं कि प्राणियों के मध्य में ही उसको खोजो और स्तुति द्वारा उसको ग्रहण करो ॥३॥

जाम्यतीतपे धनुर्वयोधा अरुहद्वनम् ।

दृषदं जिह्वयावधीत् ॥४॥

पदार्थः—अन्तरिक्षस्थ अग्नि, सूर्य, (जामि) सर्वातिशायी (धनुः) अन्तरिक्ष को (अतीतपे) अत्यधिक तपा देता है; पुनश्च (वयोधाः) अन्न प्रदान करने वाला वह सूर्य (वनं) अन्तरिक्षस्थ जल को (अरुहत्) बढ़ाता है और (जिह्वया) अपने ग्रहण-साधन किरण समूह द्वारा (दृषदं) पत्थर की भांति कठोर बादल को (अवधीत्) छिन्न-भिन्न करता है ॥४॥

भावार्थः—सूर्य के ताप से अन्तरिक्षस्थ वायु उत्तप्त होता है और वह ताप सुदूर भूमि तक पहुँचकर जहां-तहां की आर्द्रता को वाष्प में परिणत कर मेघ के रूप में एकत्र करता है और फिर वही एकत्रित बादल छिन्न-भिन्न होकर वर्षा में परिणत होकर अन्न के उत्पादन का कारण बनता है; इसी कारण अन्तरिक्षस्थ अग्नि 'वयोधाः' है ॥४॥

चरन्वत्सो रुशन्निह निदातारं न विन्दते ।

वेति स्तोतव अम्ब्यम् ॥५॥

पदार्थः—(चरन्) अन्तरिक्ष में विचरण करते, (रुशन्) दीप्ति से चमकते हुए, (वत्सः) सूर्य के चपल किरणसमूह को अथवा विद्युत् को कोई भी (निदातारं) निरोधक शक्ति (न) नहीं (विन्दते) पकड़ती; यह किरणजाल अथवा विद्युत् (स्तो-

तवे) अपने गुणवर्णन करने के लिये (अम्यं) स्तोता अर्थात् गुणवर्णन करनेवाले विद्वान् की (वेति) कामना करता है ॥५॥

भावार्थः—अन्तरिक्ष में अपनी चमक के साथ व्याप्त विद्युत् रूप अग्नि के गुणों का अध्ययन कर उसका वर्णन करना और उससे लाभ उठाना विद्वानों का कर्त्तव्य है ॥५॥

उतो न्वस्य यन्महदश्वावद्योजनं बृहत् ।
दामा रथस्य ददृशे ॥६॥

पदार्थः—(उतो) और यह बात भी है कि (नु) शीघ्र ही (अस्य) इस आदित्य का (महत्) महान् (बृहत्) व्यापक (अश्वावत्) रथ में जोड़े गये घोड़ों के संयोजन की भांति सूर्य की रमणीय किरणों के समूह में बलशाली वेगादि गुणों का (योजनं) संयोजन, (रथस्य दामा) सूर्य रूपी रथ को चारों ओर घेरे हुई विद्युत्-पंक्ति के रूप में दिखायी देता है ॥६॥

भावार्थः—जैसे-जैसे आदित्य गतिशील होता है—इसका आभा-वितान स्पष्ट दिखायी देने लगता है ॥६॥

दुहन्ति सप्तैकामुप द्वा पञ्च सृजतः ।
तीर्थे सिन्धोरधि स्वरे ॥७॥

पदार्थः—उस समय (सिन्धोः) हृदयसमुद्र के (अधि स्वरे) मुखर (तीर्थे) सुगमता से दुःखों से पार उतारनेवाले स्थान पर अर्थात् हृदय-देश में उपासक की (सप्त) पांचों ज्ञानेन्द्रिय तथा मन एवं बुद्धि—ये सातों ऋत्विज् (एकां) परमेश्वर रूपिणी माता को (दुहन्ति) दुहती हैं; उनमें से (द्वा) दो, मन और बुद्धि (पञ्च) पांच दूसरे ऋत्विजों—पांच कर्मेन्द्रियों को (सृजतः) प्रयुक्त करते हैं ॥७॥

भावार्थः—सूर्य की प्रातःकालीन आभा के दर्शन होते ही उपासक अपने हृदय देश में, अपने अन्तःकरण की वृत्तियों की शक्ति से, भगवान् का ध्यान करता है और साथ ही वह अपनी कर्मेन्द्रियों को भी उसी अनुभव के अनुसार प्रयुक्त करता है। साधक की ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि शक्तियों का परस्पर सामञ्जस्य होने पर ही हृदयदेश में भगवान् के दर्शन होते हैं ॥७॥

आ दशभिर्विवस्वत इन्द्रः कोशमचुच्यवीत् ।
खेदया त्रिवृता दिवः ॥८॥

पदार्थः—जिस प्रकार (इन्द्रः) सूर्य (त्रिवृता) तिहरे (खेदया) उत्तापक रश्मि-जाल के द्वारा (कोशं) मेघ को (दिवः) अन्तरिक्ष से (आचुच्यवीत) नीचे पृथिवी पर चुवा देता है; वैसे ही (दशभिः) दसों इन्द्रियों द्वारा (विवस्वतः) अर्चित परमेश्वर की संरक्षा में स्थित (इन्द्रः) ऐश्वर्य का साधक उपासक (दिवः कोशं) प्रकाश लोक के कोश को (त्रिवृता) तिहरे—ज्ञान, कर्म और उपासना के—(खेदा) तप द्वारा (आ अचुच्यवीत) चुआ लेता है ॥८॥

भावार्थः—अपनी रश्मियों द्वारा उत्तप्त करके सूर्य मेघ का छेदन-भेदन करता है; उपासक अपनी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा भगवान् की सेवा करके और इस प्रकार ज्ञान, कर्म एवं उपासना द्वारा तपः-साधन के द्वारा अपने लिये ज्ञान के प्रकाश के कोश को प्राप्त कर लेता है ॥८॥

परि त्रिधातुरध्वरं जूर्णिरेति नवीयसी ।

मध्वा होतारो अञ्जते ॥९॥

पदार्थः—(त्रिधातुः) सत्त्व, रज और तमस्—तीनों गुणों के समन्वय से समन्वित, अथवा ज्ञान, कर्म और उपासना—तीनों से ध्रियमाण (जूर्णिः) वेगवान् कर्मिष्ठ उपासक (नवीयसी=नवीयस्या) नव्यतर सामर्थ्य के द्वारा (अध्वरं परि एति) अहिंसनीय हो जाता है; (होतारः) उसकी हृदयवेदी पर यज्ञ करनेवाले इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि होता (मध्वा) मधुर दिव्य आनन्द द्वारा (अञ्जते) परम प्रभु की शक्ति को व्यक्त करते हैं ॥९॥

भावार्थः—ज्ञान, कर्म और उपासना द्वारा सत्त्व, रज और तमोगुण के आनुपातिक समन्वय से समन्वित साधक को एक नई-सी अद्भुत शक्ति प्राप्त हो जाती है, फिर वह मानो अहिंसनीय हो जाता है और सुसम्पादित दिव्य आनन्द द्वारा प्रभु के सामर्थ्य को प्रकट करता है ॥९॥

सिञ्चन्ति नमसावतमुच्चाचक्रं परिज्मानम् ।

नीचीनबारमक्षितम् ॥१०॥

पदार्थः—साधक उपासक (उच्चा चक्रं) उच्चतम स्थिति में गतिशील, (परिज्मानम्) सब ओर व्याप्त (नीचीनबारं) नीचे की ओर प्रवेशद्वार वाले, (अक्षितम्) अक्षीण (अवतं) जलाधार कूप के समान दिव्य आनन्द के आधारभूत परम प्रभु को (नमसा) अपनी भक्ति-भावना से (सिञ्चन्ति) तृप्त करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—भगवान् अक्षय दिव्य आनन्द के आधार और स्रोत हैं;

किसी ऐसे कूप को सींचना कठिन होता है कि जिसका मुँह उलटा हुआ हो; झुक कर ही उसमें अपना अंश डाला जा सकता है। दिव्य आनन्द के स्रोत प्रभु भी सुगमता से प्राप्य नहीं हैं; उपासक भक्तिभाव से, नम्र होकर ही उनको सन्तृप्त कर उनकी कृपा का पात्र बन सकता है ॥१०॥

अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु ।

अवतस्य विसर्जने ॥११॥

पदार्थः—(अवतस्य) दिव्य आनन्द के स्रोत रूप निम्न स्थान की निम्नता के (विसर्जने) हट जाने पर, इस खाई के पट जाने पर (पुष्करे) पुष्टिकर दिव्य आनन्द रस के भण्डार में (निषक्तं) भरे हुए (मधु) मधुर आनन्द की (अभि) ओर (अद्रयः) मेघरूपी चित्तवृत्तियां (आरम्) गमन करती हैं ॥११॥

भावार्थः—उपासक भक्तिभावना का अपना अंश प्रदान कर जब कठिनता से उपासनीय प्रभु को सन्तृप्त करने में सफल हो जाता है तब उस दिव्यानन्द से लबालब भरे आनन्द-स्रोत से आनन्द का पान करने के लिये उसकी चित्तवृत्तियां उसकी ओर चल पड़ती हैं ॥११॥

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा ।

उभा कर्णा हिरण्यया ॥१२॥

पदार्थः—ये जो (गावः) गौएँ, (उभा कर्णा) जिनकी दोनों कार्यसाधिका शक्तियां—ज्ञान एवं कर्म शक्तियां (हिरण्यया) अति प्रशस्त हैं; और जो (मही) आदरणीय हैं; (यज्ञस्य) यज्ञीय भावना को (रप्सुदाः) रूप प्रदान करनेवाली हैं, वे (अवतं) कूप के समान दिव्य-आनन्द-रस के स्रोत को (उप अवत) स्नेह करें।

[उप—अव्=स्नेह करना] ॥१२॥

भावार्थः—भगवान् ने मनुष्य को ज्ञान एवं कर्मेन्द्रिय—ये दो प्रकार के अति प्रशस्त साधन प्रदान किये हुए हैं; इनके द्वारा मनुष्य विभिन्न रूपों में यज्ञीय भावना को बढ़ाता रहता है; परन्तु ये साधन दिव्य आनन्द के परम स्रोत से ही शक्ति ग्रहण करते हैं—उपासक की प्रार्थना है कि ये सदा उस परम स्रोत भगवान् से स्नेह करते रहें ॥१२॥

आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् ।

रसा दधीत वृषभम् ॥१३॥

पदार्थः—(सुते) दिव्य आनन्द के निष्पन्न हो जाने पर (रोदस्योः) भू लोक एवं अन्तरिक्ष लोक—दोनों की (अभिश्रियं) आश्रयभूत [अभिश्रीः अभिश्रयणीयः—नि० ७-२१] (श्रियम्) [श्रीर्हि मनुष्यस्य सुवर्गो लोकः—तै० सं० ७, ४, ४, २] उत्तम वर्ग की अवस्था को (आ सिञ्चत) उस आनन्द रस से सींचो, शुद्ध करो। (रसा) आनन्द के उपभोक्ता उपासको! (वृषभं) सेचन सामर्थ्य को (वधीत) धारण करो ॥१३॥

भावार्थः—संसार के सभी प्राणी चाहते हैं कि उनकी सांसारिक स्थिति सुखपूर्ण एवं उत्तम वर्ग की हो—सभी का आश्रय-लक्ष्य-उत्तम स्थिति है। जब उपासक अपने अन्तःकरण में दिव्य आनन्द रस समेट लेता है तब यह स्थिति आनन्ददायक भी बन जाती है। परन्तु उपासक को इस मन्त्र द्वारा यह चेतावनी भी दी है कि रसावस्था को अपने आप तक सीमित मत करो; इसकी वर्षा करके वृषभ बनो ॥१३॥

ते जानत स्वमोक्यं३सं वत्सासो न मातृभिः ।

मिथो नसन्त जामिभिः ॥१४॥

पदार्थः—(ते) वे उपासक (स्वं ओक्यं) अपने निवास के लिये हितकर को (जानत) जानते हुए (जामिभिः मिथः) अपने सरीखे अन्य ज्ञाताओं के साथ (नसन्त) जाते हैं—निवास करते हैं—ऐसे ही (न) जैसे (वत्सासः) छोटे बालक (मातृभिः) माताओं के साथ (सं) रहते हैं—उनका साथ नहीं छोड़ते। ['जामिः' शब्द यहां 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न है] ॥१४॥

भावार्थः—उपासक इस बात को जानते हैं कि उनको भलीभान्ति वास देनेवाला ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही है; वे उसका संग नहीं छोड़ना चाहते और उपासना के माध्यम से उसका सान्निध्य बनाये रखते हैं ॥१४॥

उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि ।

इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥१५॥

पदार्थः—(स्रक्वेषु) मुख आदि शरीरांगों के हितार्थ परमप्रभु की सृष्टि के विविध पदार्थों का (उप बप्सतः) उपभोग करते हुए साधक (दिवि) ज्ञान के प्रकाश को (धरुणं) अपना धारक बल। (कृण्वते) बनाते हैं और इस प्रकार (इन्द्रे) सब ऐश्वर्यों के स्वामी तथा (अग्ना अग्नौ) ज्ञानप्रदाता अग्रणी परमेश्वर के प्रति (स्वः) परमसुख को (नमः) नम्रता से समर्पित करते हैं ॥१५॥

भावार्थः—परम प्रभु ने सृष्टि में विविध पदार्थों की रचना इस प्रयोजन से की है कि मनुष्य उनका समुचित उपभोग अपनी पाचनशक्ति के अनुसार कर अपना शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक बल बढ़ाये—यही परमैश्वर्यवान् इन्द्ररूप परमात्मा की उपासना है; इस उपभोग में उपयुक्तता तभी बरती जा सकती है जबकि यह उपभोग ज्ञान के प्रकाश में किया जाय—प्रत्येक पदार्थ के गुणों का ज्ञान प्राप्त कर उनसे समुचित लाभ उठाया जाय। यही ज्ञानस्वरूप अग्नि (परमेश्वर) की उपासना है। इन्द्र और अग्नि रूप में परम प्रभु की इस प्रकार उपासना करने से प्राप्त होने वाले दिव्य सुख को हम इस प्रकार उसी को समर्पित कर देते हैं ॥१५॥

अधुंक्षत्पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपंदीमरिः ।

सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः ॥१६॥

पदार्थः—(अरिः) परमेश्वर (सप्तपदीं) सात अवयवों वाली सृष्टि का दोहन (सूर्यस्य) सूर्य की (सप्तरश्मिभिः) सात प्रकार की किरणों द्वारा करके (पिप्युषीं) पुष्टिकारक (इषं) अन्न को तथा (ऊर्जं) उसकी सारभूत ओजस्विता को (अधुक्षत्) निकाल लेता है। [अरिः ऋच्छति इति अरिः ईश्वरः नि० ५-७। सप्तपदीम्= पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-विराट्-परमाणु-प्रकृति नाम के सात पदार्थों से युक्त] ॥१६॥

भावार्थः—प्रभु सृष्टि के विभिन्न पदार्थों का दोहन करके मानो, जीव को विविध प्रकार की ऊर्जा प्रदान कर रहे हैं, जिससे प्राणियों का जीवन चलता है। प्रगतिशील उपासक इस संकेत से सृष्टि के विविध पदार्थों से उपयोग ग्रहण करना सीखे ॥१६॥

सोमस्य मित्रावरुणोदिता सूर आ ददे ।

तदातुरस्य भेषजम् ॥१७॥

पदार्थः—हे (मित्रावरुणा) स्नेह एवं न्यायभावना के प्रतीक प्रभो! (सूरे उदिते) सूर्य के उदित होने पर, मैं (सोमस्य) सोम नाम की बलकारक औषधि के रस को (आददे) ग्रहण करूं या सेवन करूं; कारण कि (तत्) वह औषधि (आतुरस्य) रोगी की (भेषजं) दवाई है अथवा पौष्टिक अन्न आदि के सारभूत वीर्य को अपने शरीर में खपादूं; वह पीड़ित की दवाई है ॥१७॥

भावार्थः—पौष्टिक अन्नों का रस, विशेषतया सोम नामक औषधि का सार सर्व रोगों की दवाई है; विभिन्न ओषधियों के गुणों का यत्नपूर्वक अध्ययन कर उनका यथाविधि सेवन करना चाहिये ॥१७॥

उतो न्वस्य यत्पदं हर्यतस्य निधान्यम् ।
परि द्यां जिह्वयातनत् ॥१८॥

पदार्थः—(उतो) और फिर (अस्य हर्यतस्य) प्रभु के इस प्रेमी उपासक का (यत्) जो (निधान्यं) संग्रह करने योग्य (पदं) प्रतिफल था उसको विद्वान् उपासक (जिह्वया) वाणी से (द्यां परि) समस्त आकाश अथवा वायुमण्डल में (आतनत्) फैलाता है ॥१८॥

भावार्थः—प्रेमपूर्वक प्रभु की उपासना करनेवाले भक्त को भगवान् का बोध ही प्रतिफल के रूप में प्राप्त होता है; उस प्रतिफल को, ईश्वर विषयक प्रबोध को, वह अपने लिये संगृहीत करके नहीं रखता अपितु उसका अपने वातावरण में सर्वत्र प्रचार करता है ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह बहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टादशर्चस्य त्रिसप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१८ गोपवन आत्रेयः सप्तवध्रिर्वा ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, २, ४, ५, ७, ९—११, १६—१८ गायत्री । ३, ८, १२—१५ निचृद् गायत्री । ६ विराड् गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

इस सूक्त में राजकर्त्तव्य का उपदेश देते हैं ॥

उदीराथामृतायते युञ्जाथामश्विना रथम् ।
अन्ति षद्भूतु वामवः ॥१॥

पदार्थः—(अश्विना) हे शोभनाश्वयुक्त राजा और सचिव ! (ऋतायते) सत्याचारी और प्रकृतिनियम वेत्ता के लिये आप (उदीराथाम्) सदा जागृत हूजिये और (रथम्) रथ को (युञ्जाथाम्) जोड़िये । इस प्रकार (वाम्) आप दोनों का (अवः) रक्षण (अन्ति) हमारे समीप में (सद् भूतु) विद्यमान होवे ॥१॥

भावार्थः—राजा और अमात्यादिकों को इस प्रकार प्रबन्ध करना चाहिये कि प्रजा अपने समीप में सम्पूर्ण रक्षा की सामग्री समझे ॥१॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

निमिषश्चिज्जवीयसा रथेना यातमश्विना ।
अन्ति षद्भूतु वामवः ॥२॥

पदार्थः—(अश्विना) हे प्रशस्ताश्वयुक्त राजा और मन्त्री! (निमेषः चित्) क्षणमात्र में आप सत्याचारी पुरुष के लिये (जवीयसा रथेन) अतिशय वेगवान् रथ के द्वारा (आ यातम्) आइये। (अन्ति) अन्ति इत्यादि का अर्थ प्रथम मन्त्र में देखो ॥२॥

भावार्थः—राजा व उसके अमात्य प्रजा-रक्षण के लिये सदा सन्नद्ध रहें ॥२॥

राजा के प्रति द्वितीय कर्त्तव्य का उपदेश ॥

उपं स्तृणीतमत्रंये हिमेनं घर्ममंश्विना।

अन्ति षद्भूंतु वामवंः ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे प्रशस्ताश्वयुक्त महाराज तथा मन्त्री! आप दोनों (अत्रये) मातृपितृभ्रातृविहीन जन के (घर्मम्) सन्तापक भूख आदि क्लेश को (हिमेन) हिमवत् शीत अन्नादिक से (उप स्तृणीतम्) शान्त कीजिये। (अंति) इत्यादि पूर्ववत् ॥३॥

भावार्थः—अत्रि० १—ईश्वर को छोड़कर तीनों लोकों में जिसका कोई रक्षक नहीं है वह अत्रि। यद्वा–२—त्रि=त्र=रक्षण रक्षार्थक त्रै धातु से त्रि बनता है जिसका रक्षण कहीं से न हो वह अत्रि। ३—यद्वा माता, पिता और भ्राता ये तीनों जिसके न हों वह अत्रि। ऐसे आदमी की रक्षा राजा करे यह उपदेश है ॥३॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

कुहं स्थः कुहं जग्मथुः कुहं श्येनेवं पेतथुः।

अन्ति षद्भूंतु वामवंः ॥४॥

पदार्थः—हे अश्विद्वय (राजा और सचिव) इस समय (कुह) कहां आप दोनों (स्थः) हैं (कुह) कहां गए हुए हैं। (कुह) कहां (श्येना इव) दो श्येन पक्षियों के समान उड़कर बैठे हुए हैं; व्यर्थ इधर-उधर आपका जाना उचित नहीं। जहां कहीं हों वहां से आकर प्रजाओं की रक्षा कीजिये। अन्ति० ॥४॥

भावार्थः—प्रजाओं के निकट यदि राजा या राज-साहाय्य न पहुंचे तो जहां वे हों वहां से उनको बुला लाना चाहिये। राजा सर्वकार्य को छोड़ इस रक्षा-धर्म का सब प्रकार से पालन करे ॥४॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

यद॒द्य कर्हि॒ कर्हि॑ चिच्छुश्रू॒यात॑मि॒मं हव॑म् ।

अन्ति॒ षद्भू॑तु वा॒मव॑: ॥५॥

पदार्थः—हे महाराज तथा अमात्य ! (यद्) जिस कारण इस समय आपकी स्थिति का ज्ञान हम लोगों को नहीं है अतः (अद्य) आज आप दोनों (कर्हि कर्हि चित्) कहीं कहीं होवें वहां से आकर (इमम्) हमारी इस (हवम्) प्रार्थना को (शुश्रूयातम्) पुनः पुनः सुनें ॥५॥

भावार्थः—राजा व उसके अमात्यों का प्रथम और अन्तिम कर्त्तव्य प्रजा-पालन ही है ॥५॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं ॥

अ॒श्विना॑ याम॒हूत॑मा॒ नेदि॑ष्ठं याम्या॒प्यम् ।

अन्ति॒ षद्भू॑तु वा॒मव॑: ॥६॥

पदार्थः—मैं एक जन प्रार्थी (यामहूतमा) समय-समय पर अतिशय पुकारने योग्य (अश्विना) महाराज और अमात्य के निकट (यामि) जाता हूँ। तथा उनके (आप्यम्) बन्धुत्व को मैं प्राप्त होता हूँ। हे मनुष्यो ! आप भी उनके निकट जाकर निज क्लेश का वृत्त सुनावें और शुभाचरण से उनके बन्धु बनें। अन्ति० ॥६॥

भावार्थः—प्रजा भी राजा व उनके अमात्यों के समीप जाने में संकोच अनुभव न करे ॥६॥

तृतीय कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अव॑न्त॒मत्र॑ये गृ॒हं कृ॑णु॒तं यु॒वम॑श्विना ।

अन्ति॒ षद्भू॑तु वा॒मव॑: ॥७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजा वा अमात्य! (युवम्) आप दोनों (अत्रये) मातृ-पितृभ्रातृविहीन जनसमुदाय के लिये (अवन्तम्) सर्वप्रकार से रक्षक (गृहम्) गृह को (कृणुतम्) बनवावें। जिस गृह में पोषण के लिये अन्नपान और विद्यादि का अभ्यास हो। अन्ति० ॥७॥

भावार्थः—राजा अनाथों के लिये गृह आदि का प्रबन्ध करे ॥७॥

वरे॑थे अ॒ग्निमा॒तपो॒ वद॑ते व॒ल्ग्वत्र॑ये ।

अन्ति॒ षद्भू॑तु वा॒मव॑: ॥८॥

पदार्थः—हे अश्विद्वय राजा और अमात्य ! आप दोनों (वल्गु) मनोहर सुवचन(वदते) बोलते (अत्रये) मातापितृभ्रातृविहीन शिशु समुदाय को(आतपः) तपाने वाले भूख प्यास आदि (अग्निम्) अग्नि ज्वाला को (वरेथे) निवारण कीजिये। आपके राज्य में यह महान् कार्य साधनीय है। अन्ति० ॥८॥

भावार्थः—राजा अनाथों के खान-पान की व्यवस्था करे ॥८॥

प्र स॒प्तव॑ध्रिरा॒शसा॒ धारा॑म॒ग्नेर॑शायत।

अन्ति॒ षद्भू॑तु वा॒मव॑ः ॥९॥

पदार्थः—हे अश्विद्वय ! आपके राज्य में (सप्तवध्रिः) काव्यों में सप्त छन्दों के बांधने वाले महाकवि महर्षि (आशसा) ईश्वर की स्तुति की सहायता से (अग्नेः) प्रजाओं की बुभुक्षा, पिपासा आदि अग्नि समान सन्तापक रोग की (धाराम्) महा ज्वाला को (प्र अशायत) प्रशमन करते हैं। आप भी धन और रक्षा की सहायता देकर वैसे कीजिये। अन्ति० ॥९॥

भावार्थः—राज्य के आप्त पुरुष भी प्रजारक्षण को अपना कर्त्तव्य समझें ॥९॥

अब राजा के कर्त्तव्य को कहते हैं॥

इ॒हा गतं॑ वृषण्वसू शृणु॒तं म॑ इ॒मं हव॑म्।

अन्ति॒ षद्भू॑तु वा॒मव॑ः ॥१०॥

पदार्थः—(वृषण्वसू) हे बहुधनदाता राजा और अमात्य ! आप दोनों (इह) इस मेरे स्थान में (आगतम्) आवें और आकर (मे) मेरे (इमम् हवम्) इस आह्वान=प्रार्थना को (शृणुतम्) सुनें। अन्ति० ॥१०॥

भावार्थः—राजा व राजपुरुष प्रार्थी प्रजा के दुःख दूर करने के लिये उससे घनिष्ठ सम्पर्क करें ॥१०॥

फिर उसी अर्थ को कहते हैं॥

किमि॒दं वां॑ पुरा॒णव॒ज्जर॑तोरिव शस्यते।

अन्ति॒ षद्भू॑तु वा॒मव॑ः ॥११॥

पदार्थः—हे राजा और अमात्य ! (वाम्) आप दोनों के विषय में (पुराणवत्) अतिवृद्ध (जरतोः इव) जराजीर्ण दो पुरुषों के समान (इदम्, किम्) यह क्या अयोग्य वस्तु (शस्यते) कही जाती है जैसे अति वृद्ध जीर्ण पुरुष वारंवार आहूत

होने पर भी कहीं नहीं जाते। तद्वत् आप दोनों के सम्बन्ध में यह क्या किम्वदन्ती है। इसको दूर कीजिये। अन्ति० ॥११॥

भावार्थः—राजा को सदा निरालस्य होना चाहिये। वे प्रजाकार्य्यों में सदा जागरित होवें। यह शिक्षा इससे दी जाती है ॥११॥

समानं वां सजात्यं समानो बन्धुरश्विना ।

अन्ति षद्भूतु वामवः ॥१२॥

पदार्थः—(वाम्) आप दोनों राजा और अमात्य का प्रजाओं के साथ (समानम्) समान ही (सजात्यम्) सजातित्व है। अतः आप गर्व मत करें। आप प्रजाओं के रक्षण में दासवत् नियुक्त हैं। पुनः सब ही जन आपके (समानः बन्धुः) समान ही बन्धु हैं। अतः प्रजाओं का हित सदा करो। अन्ति० ॥१२॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि सर्व प्रजाओं में समान बुद्धि करे। समान बन्धुत्व दिखलावे। स्वयं राजा भी प्रजाओं के समान ही है। वह राजा कोई अविज्ञात ईश्वर प्रेरित देव है और इतर जन मर्त्य हैं यह नहीं जानना चाहिये। किन्तु सबही अल्पज्ञ विविध दोष दूषित, कामादिकों के वशीभूत राजा और इतर जन समान ही हैं यही इससे दिखलाया गया है ॥१२॥

यो वां रजांस्यश्विना रथो वियाति रोदसी ।

अन्ति षद्भूतु वामवः ॥१३॥

पदार्थः—हे राजा और अमात्य ! (वाम्) आप दोनों का (यः रथः) जो रथ (रजांसि) विविध लोकों में तथा (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी के सर्व भागों में (वियाति) विशेषरूप से जाता आता है उस परम वेगवान् रथ के द्वारा हमारे निकट आवें। अन्ति० ॥१३॥

भावार्थः—विमान या रथ वैसा बनावे जिसकी गति तीन लोक में अहत हो ॥१३॥

आ नो गव्येभिरश्व्यैः सहस्रैरुप गच्छतम् ।

अन्ति षद्भूतु वामवः ॥१४॥

पदार्थः—हे राजा और अमात्य ! आप दोनों (सहस्रैः) बहुत (गव्येभिः) गो-समूहों और (अश्व्यैः) अश्व-समूहों के साथ अर्थात् हम लोगों को देने के लिये बहुत

सी गौवों को और घोड़ों को लेकर (नः) हमारे निकट (उपागच्छतम्) आवें। अन्ति० ॥१४॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि वह प्रजाहित-साधक कार्य्यों में बहुत धन लगावे। और देश को धनधान्य से पूर्ण रक्खे; प्रजा कभी दुर्भिक्षादि से पीड़ित न हो ॥१४॥

मा नो गव्येभिरश्व्यैः सहस्रेभिरति ख्यतम्।
अन्ति षद्भूतु वामवः ॥१५॥

पदार्थः—हे राजा और अमात्य! (सहस्रेभिः) बहुत (गव्येभिः) गो-समूह से तथा (अश्व्येभिः) अश्वसमूह से (नः) हमको (मा अति ख्यतम्) वियोजित मत कीजिये, दूर मत कीजिये। अन्ति० ॥१५॥

भावार्थः—पशुओं की भी न्यूनता देश में न हो वैसा प्रबन्ध राजा व राजपुरुष करें ॥१५॥

अरुणप्सुरुषा अभूदकर्ज्योतिर्ऋतावरी।
अन्ति षद्भूतु वामवः ॥१६॥

पदार्थः—हे राजा व अमात्य! सृष्टि की विभूति देखिये। (उषाः) प्रातः कालरूपा देवी (ऋतावरी) परम सत्या है; एक निश्चित समय पर वह सदा आती है। आलस्य कभी नहीं करती। (अरुणप्सुः) वह शुभ्रवर्णा (अभूत्) हुई है और (ज्योतिः) प्रकाश (अकः) करती है। ऐसे पवित्र काल में आपकी ओर से रक्षा अवश्य होनी चाहिये। अन्ति० ॥१६॥

भावार्थः—राजा और राजपुरुष प्रभातकाल से शिक्षा लेकर समय-पालक बनें ॥१६॥

अश्विना सु विचाकशद्वृक्षं परशुमाँ इव।
अन्ति षद्भूतु वामवः ॥१७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजा व अमात्य! सूर्य्य का कार्य्य देखिये! (सु) अच्छे प्रकार (विचाकशत्) विशेषरूप से दीप्यमान यह सूर्य्य अन्धकार निवारण कर रहा है। ऐसे ही (इव) जैसे (परशुमान्) उत्तम कुठारधारी पुरुष (वृक्षम्) वृक्ष को काटता है। तद्वत् सूर्य्य भी मानो, तमोवृक्ष को काट रहा है। तद्वत् आप भी प्रजाओं के क्लेशों को दूर कीजिये। अन्ति० ॥१७॥

भावार्थः—राजा व राजपुरुष सूर्यवत् नियम से अपना कर्त्तव्य पालन करें ॥१७॥

पुरं न धृष्णवा रुज कृष्णया बाधितो विशा ।
अन्ति षदभूतु वामवः ॥१८॥

पदार्थः—(धृष्णो) हे वीर मनुष्यसमुदाय ! तू जब-जब (कृष्णया) कृष्णवर्ण पापिष्ठ (विशा) प्रजा से (बाधितः) पीड़ित हो, तब-तब (पुरम् न) दुष्ट नगर के समान उस पापिष्ठ प्रजा को (आरुज) विनष्ट कर । अन्ति० ॥१८॥

भावार्थः—हे मनुष्यवर्ग ! केवल नृपों के ऊपर सर्व भार मत दो किन्तु स्वयमपि उद्योग करो, इससे यह शिक्षा देते हैं ॥१८॥

अष्टम मण्डल में यह तिहत्तरवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चदशर्चस्य चतुस्सप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१५ गोपवन आत्रेय ऋषिः ॥ देवता :—१—१२ अग्निः । १३—१५ श्रुतवर्ण आर्क्ष्यस्य दानस्तुतिः । छन्दः—१, १० निचृदनुष्टुप् । ४, १३—१५ विराडनुष्टुप् । ७ पादनिचृदनुष्टुप् । २, ११ गायत्री । ५, ६, ८, ९, १२ निचृद् गायत्री । ३ विराड् गायत्री ॥ स्वरः—१, ४, ७, १०, १३—१५ गान्धारः । २, ३, ५, ६, ८, ९, ११, १२ षड्जः ॥

विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) आप सब मिलकर (विशः विशः) समस्त मानव जातियों का (अतिथिम्) अतिथिवत् पूज्य (पुरुप्रियम्) सर्वप्रिय (अग्निम्) सर्वाधार महेश्वर की (वाजयन्तः) ज्ञान की कामना करते हुए पूजा करो (वयम्) हम उपासकगण (वः) सबके (दुर्य्यम्) शरण (वचः) स्तवनीय ईश्वर की (मन्मभिः) मननीय स्तोत्रों के द्वारा (शूषस्य) सुख के लाभ के लिये (स्तुषे) स्तुति करते हैं ॥१॥

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने ज्ञान के अनुसार उसकी स्तुति प्रार्थना और तद्द्वारा विवेक लाभ की चेष्टा करे ॥१॥

उसका महत्त्व दिखलाते हैं ॥

यं जनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम् ।
प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥२॥

पदार्थः—(हविष्मन्तः) घृतादिसाधन सम्पन्न (जनासः) मनुष्य (प्रशस्तिभिः) उत्तमोत्तम विविध स्तोत्रों से (सर्पिरासुतिम्) घृतादि पदार्थों को उत्पन्न करने वाले (यम्) जिस जगदीश की (मित्रम् न) मित्र के समान (प्रशंसन्ति) प्रशंसा स्तुति और प्रार्थना करते हैं उसकी भी हम पूजा करें ॥२॥

भावार्थः—ईश्वर को निज मित्र जान उससे प्रेम करें और उसी की आज्ञा पर चलें ॥२॥

पन्यांसं जातवेदसं यो देवतात्युद्यता । हव्यान्यैरयद्दिवि ॥३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (पन्यांसम्) स्तवनीय और (जातवेदसम्) जिससे समस्त विद्याएं और सम्पत्तियां उत्पन्न हुई हैं उस देव की प्रार्थना करो (यः)जो महेश्वर (देवताति) सम्पूर्ण पदार्थ पोषक, (दिवि) जगत् में (उद्यता) उद्योगवर्धक और आन्तरिक बलप्रद, (हव्यानि) हव्यवत् उपयोगी और सुमधुर पदार्थों को (ऐरयत्) दिया करता है । अतः वही देव सर्वपूज्य है ॥३॥

भावार्थः—दिवि=यह सम्पूर्ण जगत् दिव्य सुरम्य और आनन्दप्रद है । उद्यत्=इसमें जितने पदार्थ हैं वे उद्योग की शिक्षा दे रहे हैं । परन्तु हम मनुष्य अज्ञानवश इसको दुःखमय बनाते हैं । अतः जिससे सर्व ज्ञान की उत्पत्ति हुई है उसकी उपासना करो जिससे सुमति प्राप्त हो ॥३॥

आगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो अनीक एधते ॥४॥

पदार्थः—हे विज्ञानि जनो ! हम सब ही (वृत्रहन्तमम्) निखिल विघ्नों और उपद्रवों को विनष्ट करनेवाले (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ (आनवम्) मनुष्य हितकारी (अग्निं) सर्वाधार जगदीश की ओर (आगन्म) जायं, (अस्य अनीके) जिसकी शरण में रहता हुआ (श्रुतर्वा) श्रोतृजन और (बृहन्) महान् जन और (आर्क्षः) मनुष्य-हितकारी (एधते) इस जगत् में उन्नति कर रहे हैं ॥४॥

भावार्थः—श्रुतर्वा=जो ईश्वर की आज्ञाओं को सदा सुना करते हैं और उनपर चलते हैं । आर्क्ष=ऋक्षमित्र । यहां ऋक्ष शब्द मनुष्यवाची है ॥४॥

अमृतं जातवेदसं तिरस्तमांसि दर्शतम् । घृताहवनमीड्यम् ॥५॥

पदार्थः—हे ज्ञानिजनो ! (अमृतम्) अविनश्वर और मुक्तिदाता (जातवेदसम्) जिससे सर्व विद्या धनादि उत्पन्न हुए हैं और हो रहे हैं जो (तमांसि तिरः) अज्ञान-

रूप अन्धकारों को दूर करने वाला है (दर्शतम्) दर्शनीय (घृताऽऽहवनम्) घृतादि पदार्थ-दाता और (ईड्यं) स्तवनीय है; उसकी कीर्ति गाओ ॥५॥

भावार्थः—अमृत=जिस कारण उसकी कभी मृत्यु नहीं होती; अन्धकार से वह परे है और उसे निर्मूल करने वाला है और सर्व वस्तु प्रदाता है; अतः वही पूज्य है ॥५॥

सबाधो यं जना इमे३ऽग्निं हव्येभिरीळते ।

जुह्वानासो यतस्रुचः ॥६॥

पदार्थः—(सबाधः) विविधरोग-शोकादि-बाधासहित अतएव (जुह्वानासः) याग आदि शुभकर्मों को करते हुए और (यतस्रुचः) स्रुवा शाकल्य आदि साधनों से सम्पन्न होकर (इमे जनाः) ये मनुष्य (यम् अग्निम्) जिस सर्वाधार परमात्मा की (हव्येभिः) प्रार्थनाओं से (ईळते) स्तुति करते हैं उसकी प्रार्थना हम सब करें ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा की प्रार्थना से निखिल बाधाएं दूर होती हैं; अतः हे मनुष्यो ! अग्निहोत्रादि शुभकर्म करते हुए उसकी कीर्ति का गान करो ॥६॥

इयं ते नव्यसी मतिरग्ने अधाय्यस्मदा ।

मन्द्र सुजात सुक्रतोऽमूर दस्मातिथे ॥७॥

पदार्थः—(मन्द्र) हे जीवों के आनन्दकर, (सुजात) हे परम विख्यात, (सुक्रतो) हे जगत् सर्जनादि शुभकर्मकारक, (अमूर) सर्वज्ञानमय, (दस्म) सर्वविघ्नविनाशक, (अतिथे) हे अतिथिवत् पूज्य, (अग्ने) हे सर्वाधार भगवन् ! (ते) आपने अपनी कृपा से (अस्मत्) हम लोगों में (इयं) यह (नव्यसी) नवीनतर (मतिः) कल्याण बुद्धि (आ अधायि) स्थापित की है जिससे हम लोग आपकी स्तुति करते हैं ॥७॥

भावार्थ—जो सदा ईश्वर की आज्ञा पर चलते हैं उनको परमात्मा सुबुद्धि देते हैं जिससे वे कभी विपत्तिग्रस्त नहीं होते ॥७॥

सा ते अग्ने शन्तमा चनिष्ठा भवतु प्रिया ।

तया वर्धस्व सुष्टुतः ॥८॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार जगदीश ! (ते) आपकी कृपा से प्राप्त (सा) वह सुमति (शन्तमा) जगत् में कल्याणकारिणी (चनिष्ठा) बहु अन्नवती (प्रिया) और लोकप्रिया (भवतु) होवे (तया) उस कल्याणी बुद्धि से (सुष्टुतः) अच्छे प्रकार प्रार्थित होकर तू (वर्धस्व) हम लोगों को बढ़ा ॥८॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! यदि उसकी कृपा से तुममें नवीन और तीव्र बुद्धि उत्पन्न हो तो उससे जगत् का कल्याण और ईश्वर की स्तुति करो ॥८॥

सा द्युम्नैर्द्युम्निनी बृहदुपोप श्रवसि श्रवः । दधीत वृत्रतूर्ये ॥९॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से प्राप्त (सा) वह मति (द्युम्नैः) विज्ञानों से (द्युम्निनी) विज्ञानवती होवे । तथा (श्रवसि) यशःकल्याणकारी (वृत्रतूर्ये) विघ्नविनाशक कार्य में (बृहत्) बहुत (श्रवः) यश (उपोप दधीत) हम लोगों के समीप स्थापित करे ॥९॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! ईश्वर से प्राप्त सुबुद्धि द्वारा हम लोग विज्ञान और यश प्राप्त करें, किसी को हानि न पहुँचावें ॥९॥

अश्वमिद्गां रथप्रां त्वेषमिन्द्रं न सत्पतिम् ।
यस्य श्रवांसि तूर्वथ पन्यंपन्यञ्च कृष्टयः ॥१०॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो (सत्पतिम्) सज्जनों का पालक (त्वेषम्) तेजस्वरूप (रथप्रां)संसार को विविध सुखों से पूर्ण करने वाला (गाम्) गमनीय=गानीय (अश्वमित्) और जो सर्वव्यापक ही है उस (इन्द्रं न) परमात्मा को गाओ (यस्य श्रवांसि) जिसके यश सर्वत्र फैले हुए हैं (कृष्टयः) हे मनुष्यो ! (पन्यम्पन्यं च) उस परम प्रार्थनीय की (तूर्वथः) कीर्ति गान करो ॥१०॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जिसकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त है उसका गान करो और का नहीं ॥१०॥

यं त्वा गोपवनो गिरा चनिष्ठदग्ने अंगिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥११॥

पदार्थः—(अंगिरः) हे सम्पूर्ण जगत् में अंगों के रस पहुँचाने वाले, (पावक) हे शुद्धिकारक, (अग्ने) सर्वाधार जगदीश ! (यं त्वा) जिस तुझको (गोपवनः) रक्षक श्रेष्ठ तत्ववेत्ता ऋषिगण (गिरा) निज-निज स्तुति द्वारा (चनिष्ठत्) स्तुति करते हैं (सः) वह तू (हवम्) हम लोगों की प्रार्थना (श्रुधि) सुनिये ॥११॥

भावार्थः—जो इस संसार का रसस्वरूप और संशोधक है उसी की स्तुति प्रार्थना ऋषिगण करते आए हैं; हम लोग भी उनका अनुकरण करें ॥११॥

यं त्वा जनांस ईळते सबाधो वाजसातये।

स बोधि वृत्रतूर्ये ॥१२॥

पदार्थः—(सबाधः) नाना रोगशोकादि सहित (जनासः) मनुष्यगण (यं त्वा) जिस तुझको (वाजसातये) ज्ञान और धनादिकों के लाभ के लिये (ईळते) स्तुति करते हैं (सः) वह तू (वृत्रतूर्ये) निखिल विघ्न विनाश के कार्य्य के लिये (बोधि) हम लोगों की प्रार्थना सुन ॥१२॥

भावार्थः—जिस कारण मानव जाति रोगशोकादि अनेक उपद्रवों से युक्त है अतः उन सब की निवृत्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करें ॥१२॥

अहं हुवान आर्क्षे श्रुतर्वणि मदच्युति।

शर्धांसीव स्तुकाविनां मृक्षा शीर्षा चतुर्णाम् ॥१३॥

पदार्थः—(अहम्) मैं उपासक (आर्क्षे) सामान्यतया मनुष्य के निमित्त, (श्रुतर्वणि) श्रोतृजनों के निमित्त और (मदच्युति) मनुष्य जाति में आनन्द की वर्षा के लिये (हुवानः) ईश्वर से प्रार्थना कर रहा हूँ और मनुष्यमात्र के जो (स्तुकाविनाम्) ज्ञानविज्ञान सहित (चतुर्णाम्) नयन, कर्ण, घ्राण और रसना ये चारों ज्ञानेन्द्रिय हैं उनके (शीर्षा) शिर (शर्धांसि इव) परम बलिष्ठ होवें और (मृक्षा) शुद्ध और पवित्र होवें ॥१३॥

भावार्थः—अहं=इस पद से केवल एक ऋषि का बोध नहीं किन्तु जो कोई ईश्वर से प्रार्थना करे उस सबके लिये अहम् पद आया है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक ज्ञानीजन अपनी जाति के कल्याण के लिये ईश्वर से प्रार्थना करे जिससे मनुष्यमात्र के ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति के लिये चेष्टा करें ॥१३॥

मां चत्वार आशवः शविष्ठस्य द्रवित्नवः।

सुरथासो अभि प्रयो वक्षन्वयो न तुग्र्यम् ॥१४॥

पदार्थः—(शविष्ठस्य) परम बलवान् परमात्मा की कृपा से प्राप्त (आशवः) अपने-अपने विषय में अति निपुण (द्रवित्नवः) आलस्य रहित, (सुरथासः) शरीर रूप सुन्दर रथयुक्त (चत्वारः) चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना रूप चार ज्ञान इन्द्रिय (माम्) मुझको (प्रयः) विविध सुख (अभि वक्षन्) पहुँचा रहे हैं, ऐसे (न) जैसे (वयः) नौकायें (तुग्र्यम्) भोज्यादि पदार्थ को इधर-उधर पहुँचाती हैं ॥१४॥

भावार्थः—जो कोई अपने ज्ञानेन्द्रिय के तत्त्वों को समझ उनको काम में लगाते हैं वे ही जगत् में परम धनाढ्य होते हैं ॥१४॥

सत्यमित्त्वा महेनदि परुष्ण्यव देदिशम् ।

नेमापो अश्वदातरः शविष्ठादस्ति मर्त्यः ॥१५॥

पदार्थः—(महेनदि) हे विविध शाखायुक्ते ! (परुष्णि) हे सुखों को पहुँचाने वाली बुद्धि देवि ! (आपः) हे गमनशील इन्द्रियगण ! (सत्यम्इत्) सत्य ही (त्वा) तुझको (अवदेदिशम्) कहता हूँ कि (शविष्ठात्) परम बलवान् परमात्मा की अपेक्षा अधिक (अश्वदातः) अश्वादि पशुओं और हिरण्यादि धनों को देने वाला (मर्त्यः) मनुष्य (नेम्) नहीं है अतः आप सब मिलकर उसी की प्रार्थना उपासना करें ॥१५॥

भावार्थः—जिस कारण परमदेव सब प्रकार से हम लोगों को सुख पहुँचा रहा है और धनादि उपार्जन के लिये बुद्धि विवेक पुरुषार्थ देता है, अतः हम उसकी आज्ञा पर चलकर कल्याणाभिलाषी होवें ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह चौहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षोडशर्चस्य पञ्चसप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१६ विरूप ऋषिः ॥ अग्निर्देवता ॥ छन्दः—१, ४, ५, ७, ९, ११ निचृद् गायत्री । २, ३, १५ विराड् गायत्री । ८ आर्ची स्वराड् गायत्री । ६, १०, १२—१४, १६ गायत्री ॥ षड्जः स्वरः ॥

पुनः परमात्मदेव की महिमा दिखलायी जाती है ॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव ।

नि होता पूर्व्यः सदः ॥१॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार जगदीश ! (देवहूतमान्) प्राणियों को अतिशय सुख देने वाले (अश्वान्) सूर्य्यादि लोकों को (युक्ष्व हि) अच्छे प्रकार कार्य में नियोजित कीजिये, ऐसे ही जैसे (रथीः इव) रथी स्वकीय घोड़ों को सीधे मार्ग पर चलाता है । हे ईश आप (होता) महादाता या हवनकर्ता हैं । (पूर्व्यः) सबके पूर्व या पूर्ण हैं; वह आप (निः सदः) हमारे हृदय में बैठें ॥१॥

भावार्थः—वह जगदीश सूर्य्यादि सम्पूर्ण जगत् का शासक, दाता और पूर्ण है उसको अपने हृदय में स्थापित कर स्तुतिं करें ॥१॥

अग्निनाम से ईश्वर की स्तुति कहते हैं ॥

उत नो देव देवाँ अच्छा वोचो विदुष्टरः ।

श्रद्विश्वा वार्या कृधि ॥२॥

पदार्थः--(उत) और भी (देव) हे देव=ईश ! (देवान्) तेरी आज्ञा पर चलने के कारण शोभन कर्मवान् और (विदुष्टरः) जगत् के तत्त्वों को जानने वाले (नः) हम उपासकों को (अच्छ) अभिमुख होकर (वाचः) उपदेश दें और (विश्वा) समस्त (वार्य्या) वरणीय ज्ञानों और धनों को (श्रद् कृधि) सत्य बनायें ॥२॥

भावार्थः—भगवान् हमारे हृदय-प्रदेश में उपदेश देता है और इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ भी मनुष्यों को सदुपदेश दे रहे हैं परन्तु इस तत्त्व को विरले ही विद्वान् समझते हैं। हे मनुष्यो ! इसकी शरण में आकर इस जगत् का अध्ययन करो ॥२॥

वही पुनः प्रार्थित होता है ॥

त्वं ह यद्यविष्ठ्य सहसः सूनवाहुत ।

ऋतावा यज्ञियो भुवः ॥३॥

पदार्थः—(यविष्ठ) हे जगन्मिश्रणकारी, (सहसः सूनो) हे जगदुत्पादक ! (आहुत) हे संसार में प्रविष्ट ! (यद्) जिस कारण (त्वम् ह) तू (ऋता वा) सत्यवान् और (यज्ञियः भुवः) परम पूज्य है; अतः तू सर्वत्र प्रार्थित होता है ॥३॥

भावार्थः—यविष्ठ्य—जीव से जगत् को और सूर्य्यादि लोकों को परस्पर मिलाने वाला होने से वह यविष्ठ्य कहाता है। आहुत; इसको उत्पन्न कर परमात्मा ने इसमें अपने को होम कर दिया ऐसा वर्णन बहुधा आता है अतः वह आहुत है। अन्यत् स्पष्ट है ॥३॥

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः ।

मूर्धा कवी रयीणाम् ॥४॥

पदार्थः—(अयम् अग्निः) यह सर्वत्र प्रसिद्ध जगदाधार जगदीश (शतिनः) शत संख्याओं से युक्त, (सहस्रिणः) सहस्र पदार्थों से युक्त (वाजस्य) धन और विज्ञान का पति है। (रयीणाम्) सर्वप्रकार के ऐश्वर्य का भी वही अधिपति है और (मूर्धा) सम्पूर्ण जगत् का शिर और (कविः) परम विज्ञानी है ॥४॥

भावार्थः—जो परमात्मा सम्पूर्ण ज्ञान और धन का अधिपति है वह हमको धन और ज्ञान दे ॥४॥

तं नेमिमृभवो यथा नमस्व सहूतिभिः । नेदीयो यज्ञमङ्गिरः ॥५॥

पदार्थः—हे विद्वद्गण (सहूतिभिः) समान प्रार्थनाओं से (तं) उस ईश्वर को (आनमस्व) नमस्कार करो (यथा) जैसे (ऋभवः) रथकार (नेमिम्) रथ का सत्कार करते हैं तद्वत् । (अंगिरः) हे अंगों का रसप्रद (यज्ञम्) शुभकर्म (नेदीयः) हम लोगों के निकट कीजिये ॥५॥

भावार्थः—सदा ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये जिससे हम लोग शुभ कर्म में सदा प्रवृत्त रहें ॥५॥

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया ।

वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥६॥

पदार्थः—(विरूप) हे विविध रंगरूप भाषादियुक्त मानवगण ! तू (तस्मै) उस परमात्मा की (सुष्टुतिम्) शोभन स्तुति (नित्यया वाचा) नित्य वेदरूप वाणी से (चोदय) कर जो (नूनम्) अवश्य (अभिद्यवे) चारों ओर प्रकाशमान हो रहा है जो (वृष्णे) आनन्द की वर्षा दे रहा है ॥६॥

भावार्थः—जो परमेश्वर सर्वत्र प्रकृति मध्य विराजमान हो रहा है उसकी स्तुति प्रार्थना करो ॥६॥

कमु ष्विदस्य सेनयाग्नेरपाकचक्षसः ।

पणिं गोषु स्तरामहे ॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! हम सब (अपाकचक्षसः) सर्वद्रष्टा सर्वनियन्ता (अस्य अग्नेः) इस सर्वाधार जगदीश की (सेनया) कृपा से (गोषु) गौओं के (कं स्वित्) निखिल (पणिं) चोरादिक उपद्रवों को (स्तरामहे) पार उतरने में समर्थ होवें ॥७॥

भावार्थः—जिस कारण परमात्मा सर्वद्रष्टा और सर्वशासक है इस हेतु अपनी सम्पूर्ण वस्तु उसके निकट समर्पित करे और उसकी इच्छा पर अपना कल्याण छोड़े ॥७॥

मा नो देवानां विशः प्रस्नातीरिवोस्राः ।

कृशं न हासुरघ्न्याः ॥८॥

पदार्थः—(देवानां) सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवों से सुरचित और सुरक्षित (विशः) प्रजागण (नः) हम लोगों को (माहासुः) मत त्यागें । ऐसे ही (इव) जैसे (प्रस्नातीः) शीतलता और प्रकाश को फैलाती हुई (उस्राः) उषाएं जीवों को नहीं

त्यागतीं और जैसे (अघ्न्याः) अहन्तव्या गौएँ (कृशं) अपने वत्सगण को (न हासुः) नहीं त्यागतीं ॥८॥

भावार्थः—हम मनुष्य शुद्धाचरण, सत्य ग्रहण, कपटादि दोष राहित्य तथा ईश्वर की आराधनादि, सद्गुण उपार्जन करें, जिससे सज्जनगण हमको न त्यागें ॥८॥

मा नः॑ सम॒स्य दू॒ढ्यः॑ परि॑द्वेषसो अंह॒तिः ।
ऊ॒र्मिर्न नाव॒मा व॑धीत् ॥९॥

पदार्थः—(समस्य) समस्त (दूढ्यः) दुर्बुद्धियों और (परिद्वेषसः) जगत् के महा द्वेषियों का (अंहतिः) हननास्त्र अथवा पाप (नः) हम लोगों का (मा अवधीत्) वध न करे । (न) जैसे (ऊर्मिः) समुद्र तरंग (नावम्) नौकाओं को छिन्न-भिन्न कर नष्ट कर देती है ॥९॥

भावार्थः—दुर्बुद्धियों और द्वेषी पुरुषों से हम सदा पृथक् रहें । ऐसा न हो कि उनका संसर्ग हम लोगों को भी कुपथ में लेजाकर नष्ट करदे । जैसे कुपित समुद्र-तरंग जहाजों को तोड़कर डुबा देती है ॥९॥

नम॑स्ते अग्न॒ ओज॑से गृ॒णन्ति॑ देव कृ॒ष्टयः॑ । अमै॑र॒मित्र॑मर्दय ॥१०॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वाधार ! (देव) दिव्यगुण सम्पन्न ईश ! (कृष्टयः) प्रजागण (ओजसे) बलप्राप्ति करने के लिये (ते) तुमको (नमः गृणंति) नमस्कार करते हैं । वह तू (अमैः) अपने नियमों से (अमित्रम्) जगत् के शत्रुओं को (अर्दय) दूर कर ॥१०॥

भावार्थः—प्रत्येक आदमी को उचित है कि वह परस्पर द्रोह की चिन्ता से अलग रहे तब ही जगत् का शत्रुसमूह चूर्ण हो सकता है ॥१०॥

कु॒विल्सु नो॒ गवि॑ष्टय॒ेऽग्ने॑ सं॒वेषि॑षो र॒यिम् । उरु॑कृदु॒रु ण॑स्कृधि ॥११॥

पदार्थः—(अग्ने) हे जगदाधार, तू (गविष्टये) गौ आदि पशुओं की प्राप्ति के लिये (कुवित्) बहुत (रयिम्) सम्पत्ति (नः) हम लोगों को (सुसंवेषिषः) दे । हे भगवन् ! तू (उरुकृत्) बहुत करनेवाला है, इसलिये (नः) हम लोगों की सब वस्तु को (उरु) बहुत (कृधि) कर ॥११॥

भावार्थः—हम मनुष्य गौ आदि पशुओं को पाल कर उनके दुग्ध घृत आदि से यज्ञकर्म करके लोकोपकार करें ॥११॥

मा नो॑ अ॒स्मिन्म॑हाध॒ने परा॑ वर्ग्भार॒भृद्य॑था ।
सं॒वर्ग॒ सं र॒यिं ज॑य ॥१२॥

पदार्थः—हे ईश ! (अस्मिन् महाधने) इस नाना धनयुक्त संसार में (नः) हम लोगों को असहाय (मा परा वर्क्) मत छोड़ (यथा) जैसे (भारभृत्) भारवाही भार को त्यागता है तद्वत्; किन्तु (संवर्गं) अच्छिद्यमान अर्थात् चिरस्थायी (रयिं) मुक्तरूप धन (संजय) दे ॥१२॥

भावार्थः—महाधन=इस संसार में जिस ओर देखते हैं सम्पत्तियों का अन्त नहीं पाते, तथापि मनुष्य अज्ञानवश दुर्नीति के कारण दुःख पारहा है, इससे ईश्वर इसकी रक्षा करे ॥१२॥

अ॒न्यम॒स्मद्भि॒या इ॒यमग्ने॒ सिष॑क्तु दु॒च्छुना॑ ।
व॒र्धा नो॒ अम॑व॒च्छवः॑ ॥१३॥

पदार्थः—(अग्ने) हे भगवन् ! (इयम्) यह (दुच्छुना) विस्फोटक हैजा, प्लेग महामारी अन्य आपकी स्तुति प्रार्थना से रहित चोर डाकू आदिकों को(भियै सिषक्तु) भय दे और नाश करे किन्तु (अस्मत्) जो हम लोग आपकी कीर्ति गाते हैं उनको न डरावें । (नः) हम लोगों के (शवः) आन्तरिक बल को (अमवत्) दृढ़, धैर्य्ययुक्त (वर्ध) कर और बढ़ा ॥१३॥

भावार्थः—हे ईश ! तेरा कोप महामारी आदि रोग हम लोगों पर न आ गिरे, किन्तु जो जगत् के शत्रु और तेरी स्तुति आदि से रहित हैं उनको भय दिखलावे ॥१३॥

यस्याजु॑षन्नम॒स्विनः॒ शमी॒मदु॑र्मखस्य वा । तं घेद॒ग्निर्वृ॒धाव॑ति ॥१४॥

पदार्थः—(यस्य नमस्विनः) जिस परमात्मभक्त के (वा) अथवा (अदुर्मखस्य) अच्छे शुभ कर्म करने वाले के (शमीम्) कर्म में विद्वद्गण (अजुषत्) जाते और उसके कर्म को शुद्ध करवाते हैं (तं घ इत्) उसी पुरुष को (अग्निः) परमात्मा (वृधा) सर्व वस्तु को वृद्धि करके (अवति) बचाता है ॥१४॥

भावार्थः—प्रत्येक शुभकर्म में विद्वानों का सत्कार और उनसे शुद्ध-कर्म करवावे तभी कल्याण होता है ॥१४॥

पर॑स्या॒ अधि॑ सं॒वतोऽव॑राँ अ॒भ्याति॑र । यत्रा॒हमस्मि॒ ताँ अ॑व ॥१५॥

पदार्थः—हे भगवन् ! (परस्याः) अन्य (संवतः) चोर डाकू आदिकों की सभा को (अधि) छोड़ और नष्ट कर (अवरान्) तेरे अधीन हम लोगों की (अभ्यातर)

ओर आ और जिन मनुष्यों में (यत्र अहं अस्मि) मैं उपासक होऊं (तान् अव) उनकी सहायता कर ॥१५॥

भावार्थः—जहां पर ईश्वरभक्त ऋषिगण विराजमान होते हैं वहां अवश्य कल्याण होता है ॥१५॥

विद्मा हि ते पुरा व॒यम॑ग्ने पि॒तुर्यथाव॑सः ।
अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे ॥१६॥

पदार्थः—(अग्ने) हे सर्वशक्ते ! (यथा) जैसे (पितुः) पिता का पालन पुत्र जानता है वैसे (वयं) हम लोग (पुरा) बहुत दिनों से (ते) तुम्हारा (अवसः) रक्षण और साहाय्य (विद्म) जानते हैं (अध) इस कारण (ते) तुमसे (सुम्नं) सुख की (ईमहे) याचना करते हैं ॥१६॥

भावार्थः—हे ईश जिस हेतु आपका साहाय्य बहुत दिनों से हम लोग जानते हैं इस हेतु आप से उसकी अपेक्षा करते हैं ॥१६॥

अष्टम मण्डल में यह पचहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य षट्सप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१२ कुरुसुतिः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, २, ५, ६, ८—१२ गायत्री । ३, ४, ७, निचृद् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

अब प्राण मित्र परेश की महिमा का गान कहते हैं ॥

इ॒मं नु मा॒यिनं॑ हुव॒ इन्द्र॒मीशा॑न॒मोज॑सा । म॒रुत्व॑न्तं॒ न वृ॒ञ्जसे॑ ॥१॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! मैं उपासक (न) इस समय (वृञ्जसे) अन्तःकरण और बाहर के निखिल शत्रुओं के निपातन के लिये यद्वा (न वृञ्जसे) मुझको और अन्यान्य निखिल प्राणियों को न त्याग करने के लिये किन्तु सबको अपने निकट ग्रहण के लिये (इमम् नु इन्द्रम्) इस परमैश्वर्य्य सम्पन्न जगदीश की (हुवे) प्रार्थना और आवाहन करता हूं तुम लोग भी इसी प्रकार करो। जो (मायिनम्) महाज्ञानी, सर्वज्ञ और महामायायुक्त है, (ओजसा) स्व अचिन्त्यशक्ति से (ईशानम्) जगत् का शासन करता है और (मरुत्वन्तम्) जो प्राणों का अधिपति और सखा है ॥१॥

भावार्थः—जिस कारण वह इन्द्रवाच्य ईश्वर प्राणों का अधिपति, मित्र और जगत् का शासक महाराजा है, अतः सब मित्र उसकी स्तुति करें ॥१॥

उसका उपकार दिखलाते हैं ॥

अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः । वज्रेण शतपर्वणा ॥२॥

पदार्थः—(अयम् इन्द्रः) यह इन्द्रवाच्य जगदीश जिस कारण (मरुत्सखा) प्राणों का सखा है अतः (शतपर्वणा) बहुविध पर्वविशिष्ट (वज्रेण) वज्र से (वृत्रस्य) प्राणों के अवरोधक अज्ञान के (शिरः) शिर को (वि अभिनत्) काट लेता है ॥२॥

भावार्थः—वेदों में आलङ्कारिक वर्णन बहुत है। यहां जीव का सखा ईश्वर है। उसमें मनुष्य सखावत् आरोप करके वर्णन है। जैसे इस लोक में सखा हितकारी होता और अपने मित्र के विघ्ननाश के लिये चेष्टा करता है, तद्वत् मानो वह जगदीश भी करता है। इस हेतु वज्र आदि शब्द ईश्वर-पक्ष में अन्य अर्थ का द्योतक है। अर्थात् उसके जो न्याय और नियम हैं वे ही शतपर्व वज्र हैं। भाव इसका यह है कि जो निष्कपट होकर उसकी शरण में जाता है वह सुखी होता है ॥२॥

उसके कार्य्य का गान करते हैं ॥

वावृधानो मरुत्सखेन्द्रो वि वृत्रमैरयत् । सृजन्त्समुद्रिया अपः ॥३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! यह (मरुत्सखा) प्राणों का सखा (वावृधानः) त्रिभुवनों के हितों को बढ़ाता हुआ और (समुद्रियाः) आकाश में गमन करने वाले मेघरूप (अपः) जलों को (सृजन्) रचता हुआ (इन्द्रः) परमात्मा (वृत्रम्) उनके विघ्नों को (वि ऐरयत्) दूर करता है। अतः वही स्तवनीय है ॥३॥

भावार्थः—इस ऋचा में विशेष बात यह दिखलाई गई है कि जल के परमाणुओं को मेघरूप में रचने वाला जगदीश ही है। कैसा आश्चर्य्यमय प्रबन्ध है आकाश में मेघ दौड़ रहे हैं, हे मनुष्यो ! इसकी अभुदत कला देखो ॥३॥

पुनः उसके कार्य्य का गान कहते हैं।

अयं ह येन वा इदं स्वर्मरुत्वता जितम् । इन्द्रेण सोमपीतये ॥४॥

पदार्थः—(वै) निश्चय (येन मरुत्वता) जिस प्राण सखा (इन्द्रेण) परमात्मा ने (सोमपीतये) निखिल पदार्थों की रक्षा के लिये (अयम् ह) इन जीवगणों को अपने वश में किया है और (इदम् स्वः) इन सम्पूर्ण सुखों और जगतों को जीत लिया है, वह मनुष्यों का पूज्य है ॥४॥

भावार्थः—जिस हेतु सम्पूर्ण चराचर जगत् को वह अपने अधीन रखता है जिससे अव्यवस्था न होने पावे। अतः वह महान् देव स्तुत्य है ॥४॥

मरुत्वन्तमृजीषिणमोजस्वन्तं विरप्शिनम् । इन्द्रं गीर्भिर्हवामहे ॥५॥

पदार्थः—हम उपासकगण (इन्द्रम्) परमात्मवाची इन्द्रदेव की महती कीर्ति को (गीर्भिः) स्वस्व भाषाओं के द्वारा (हवामहे) गावें। जो (मरुत्वन्तम्) प्राणों का स्वामी (ऋजीषिणम्) सत्यों और ऋजु पुरुषों का इच्छुक, (ओजस्वन्तम्) महाशक्तिशाली और (विरप्शिनम्) महानों में महान् है ॥५॥

भावार्थः—मानवजातियां अपनी-अपनी भाषा से उसकी स्तुति प्रार्थना करें ॥५॥

इन्द्रं प्रत्नेन मन्मना मरुत्वन्तं हवामहे । अस्य सोमस्य पीतये ॥६॥

पदार्थः—हे कविगण (अस्य सोमस्य पतिये) इस जगत् की रक्षा के लिये (मरुत्वन्तम्) प्राणों के सहायक (इन्द्रम्) परमेश्वर की (प्रत्नेन मन्मना) वेदरूप प्राचीन स्तोत्र से यद्वा पूर्ण स्तव से (हवामहे) स्तुति प्रार्थना और आवाहन करें ॥६॥

भावार्थः—सोम=संसार="षूङ् प्राणिगर्भविमोचने"। ईश्वर इस जगत् की पुत्रवत् उत्पत्ति और पालन करता है अतः इसको सोम भी कहते हैं। पीति=पा रक्षणे ॥६॥

परमात्मा की स्तुति ॥

मरुत्वाँ इन्द्र मीढ्वः पिबा सोमं शतक्रतो । अस्मिन्यज्ञे पुरुष्टुत ॥७॥

पदार्थः—(मीढ्वः) हे आनन्द की वर्षा देने वाले! (शतक्रतो) अनन्त कर्मन्! (पुरुष्टुत) हे बहुस्तुत! (इन्द्र) हे महेन्द्र! (अस्मिन् यज्ञे) इस सृजन पालन संहरण दयादर्शन आदि क्रिया के निमित्त (सोमम् पिब) इस संसार की रक्षा कर अथवा समस्त पदार्थों को कृपादृष्टि से देख। जिस हेतु तू (मरुत्वान्) प्राणों का सखा है ॥७॥

भावार्थः—इस जगत् में सृजन, पालन, दया, रक्षा, परस्पर साहाय्य और संहार आदि जो व्यापार हो रहे हैं, वे सब ही ईश्वरीय यज्ञ हैं। इस को हे मनुष्यो! तुम भी पूर्ण करो ॥७॥

तुभ्येदिन्द्र मरुत्वते सुताः सोमासो अद्रिवः ।
हृदा हूयन्त उक्थिनः ॥८॥

पदार्थः—(अद्रिवः) हे जगत्स्वामिन् (इन्द्र) हे महेन्द्र ! (मरुत्वते) प्राणों के सखा (तुभ्य इत्) तूने ही (सोमासः) ये समस्त पदार्थ या लोक (सुताः) बनाये हैं। इस हेतु विद्वद्गण (हृदा) हृदय से इनको (हूयन्ते) आदर करते हैं। जो पदार्थ (उक्थिनः) स्तुतिवत् या वेदवत् पवित्र हैं ॥८॥

भावार्थः—ईश्वर ने इन पदार्थों को बनाया है अतः ये भी प्रशंसनीय हैं, इनके आदर से उसका आदर होता है ॥८॥

पिबेदिन्द्र मरुत्सखा सुतं सोमं दिविष्टिषु ।

वज्रं शिशान ओजसा ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ओजसा) स्वशक्ति से (वज्रम्) अपने न्यायदण्ड को (शिशानः) तीक्ष्ण करता हुआ तू (दिविष्टिषु) इस संसार पालनरूप क्रिया में (सुतम्) स्वयमेव शुद्ध कर बनाए हुए (सोमम्) निखिल पदार्थ की (पिब इत्) रक्षा ही करो जिस हेतु तू (मरुत्सखा) समस्त प्राणों का सखा है ॥९॥

भावार्थः—ईश्वर जिस कारण सकल आत्माओं का सखा है और ये आत्मा भोज्यादि पदार्थों के विना नहीं रह सकते। अतः पदार्थों की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य है ॥९॥

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ।

सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥१०॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! इस जगत् को (ओजसा सह) बल से (उत्तिष्ठन्) उठाता हुआ अर्थात् इसको बल से युक्त करता हुआ और (शिप्रे) हनू स्थानीय द्युलोक और पृथिवीलोक को (पीत्वी) उपद्रवों से बचाता हुआ तू दुष्टों को (अवेपयः) डरा। हे प्रभो ! (चमू) इन द्युलोक भूलोकों के मध्य (सुतम्) विराजित (सोमम्) सोम आदि सकल पदार्थों को कृपादृष्टि से देख ॥१०॥

भावार्थः—वही प्रभु सबको बल और शक्ति देता और वही रक्षक है, अन्य नहीं ॥१०॥

पुनः उस अर्थ को स्पष्ट करते हैं ॥

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम् ।

इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥११॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यद्) जब-जब तू (दस्युहा अभवः) इस

संसार के चोर, डाकू महामारी, प्लेग आदि निखिल विघ्नों का विनाश करता है तब तू (उभे रोदसी) ये दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक (ऋक्षमाणम् त्वा) तुझ रक्षक की कीर्ति को (अनु अकृपेताम्) क्रमपूर्वक गावें ॥११॥

भावार्थः—जब-जब मनुष्य के ऊपर आपत्तियां आकर डरायें तब-तब उसको प्रत्येक नरनारी धन्यवाद दे, उसकी कीर्ति गावे और परस्पर साहाय्य कर ईश्वर को समर्पण करे ॥११॥

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् ।
इन्द्रात्परि तन्वं ममे ॥१२॥

पदार्थः—(अहं) मैं (इन्द्रात्) परमेश्वर से (परितन्वं) फैली (अष्टपदीं) ४ वेद तथा ४ उपवेदरूप आठ चरणों वाली तथा (नवस्रक्ति) नौ प्रकार की अथवा प्रशंसनीय रचनावाली (ऋतस्पृशम्) परमात्मा की ओर गमन अथवा उसका दर्शन करने वाली, (वाचं) वाणी को (ममे) अध्ययन द्वारा व्यवस्थित करता हूँ ॥१२॥

भावार्थः—उपासक को परमसत्य का ज्ञान कराने वाले वेद, उपवेद तथा उसके अङ्गभूत शास्त्रवचनों का विधिवत् अध्ययन करना चाहिये ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह छिहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकादशर्चस्य सप्तसप्ततितमस्य सूक्तस्य १–११ कुरुसुतिः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३, ४, ७, ८ गायत्री । २, ५, ६, ९ निचृद् गायत्री । १० निचृद् बृहती । ११ निचृत् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१—९ षड्जः । १० मध्यमः । ११ पञ्चमः ।

अब राजकर्त्तव्य कहते हैं ॥

जज्ञानो नु शतक्रतुर्वि पृच्छदिति मातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥१॥

पदार्थः—जब राजा (जज्ञानः) अपने कर्म सदाचार और विद्या आदि सद्गुणों से सर्वत्र सुप्रसिद्ध हो (नु) और (शतक्रतुः) बहुत वीरकर्म करने योग्य हो तब (मातरम्) व्यवस्था निर्माणकर्त्री सभा से (इति) यह (पृच्छत्) जिज्ञासा करे कि हे सभे ! सभास्थ जनो ! (इह) इसलोक में (के उग्राः) कौन राजा-महाराजा अपनी शक्ति से महान् गिने जाते हैं (के ह शृण्विरे) और कौन यश प्रताप आदि से सुने जाते हैं अर्थात् विख्यात हो रहे हैं ॥१॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि सभा के द्वारा देश के सम्पूर्ण वृत्तान्त और दशाएं अवगत करे और अपने शत्रु मित्र को पहिचाने ॥१॥

आदीं शवस्यब्रवीदौर्णवाभमहीशुवम् ।

ते पुत्र सन्तु निष्टुरः ॥२॥

पदार्थः—(आद् ईम्) तदनन्तर इन्द्र से जिज्ञासिता (शवसी) वह बलवती सभा (अब्रवीत्) इस प्रकार उत्तर करे (पुत्र) हे पुत्र राजन् ! (और्णवाभम्) मकड़ी के समान मायाजाल फैलाने वाला और (अहीशुवम्) सर्पवत् कुटिलनामी ये दो प्रकार के मनुष्य जगत् के शत्रु हैं; इनको आप अच्छे प्रकार जानें । अन्य भी जगत्-द्वेषी बहुत से हैं । हे पुत्र ! (ते) वे सब तेरे (निष्टुरः) शासनीय (सन्तु) होवें ॥२॥

भावार्थः—राजा को उचित है कि प्रजा में उपद्रवकारी जनों को सदा निरीक्षण में रक्खे और उन्हें सुशिक्षित बनावे ॥२॥

समित्तान्वृत्रहाखिदत्खे अराँ इव खेदया ।

प्रवृद्धो दस्युहाभवत् ॥३॥

पदार्थः—(वृत्रहा) निखिल विघ्नों का विनाशक वह राजा (तान्) उन चोर डाकू आदि जगत् के शत्रुओं को (सम् अखिदत्) रगड़ डाले अर्थात् उन्हें निर्मूल कर दे । ऐसे ही (इव) जैसे कि (खे) किसी छिद्र में रखकर (खेदया) रस्सी से (अरान्) छोटे-छोटे डंडों को रगड़ते हैं । इस प्रकार जो राजा (दस्युहा) जगत् के उपद्रवकारी चोर, डाकू, आततायी आदिकों को दंड देकर सुपथ में लाया करता है वही (प्रवृद्धः) इस जगत् में उत्तरोत्तर उन्नत (अभवत्) होता जाता है ॥३॥

भावार्थः—राजा निरालस्य होकर प्रजाओं के सम्पूर्ण विघ्नों को दूर करने के लिये पूर्ण चेष्टा करे तभी वह प्रजाप्रिय हो सकता है ॥३॥

एकया प्रतिधापिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम् ।

इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रः) आदित्य (एकया) एक (प्रतिधा) घूंट से, एक ही वार में (सोमस्य) जल के (त्रिंशतं) तीसियों (काणुका) मनभाते (सरांसि) जलाशयों को (साकं) एक साथ (अपिबत्) पी लेता है; ख़ाली कर देता है ॥४॥

भावार्थः—उत्तप्त सूर्य मानो अपनी एक ही किरण के द्वारा एक साथ जल के भरे तीसियों जलाशयों को सोख लेता है । इसी प्रकार नानाविध ऐश्वर्य के इच्छुक उपासक को चाहिये कि वह शारीरिक, मानसिक एवं

आत्मिक बल के साधनभूत वीर्य को सम्यक्तया निष्पन्न करे और उसको यथेष्ट मात्रा में अपनी बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा अपने भीतर विलीन करले ॥४॥

अभि गन्धर्वमतृणदबुध्नेषु रजःस्वा ।
इन्द्रो ब्रह्मभ्य इद्वृधे ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रः) जो राजा (ब्रह्मभ्यः इद् वृधे) वेदों, सद्धर्मों और धर्म्म-ग्राही पुरुषों की वृद्धि के लिये ही (अबुध्नेषु) मूलरहित निराधार (रजःसु) लोकों में (गन्धर्वम्) केवल शरीरपोषक स्वार्थपरायण विषयी पुरुषों को (अभि आ अतृणत्) फेंक देता है वह प्रशंसनीय होता है ॥५॥

भावार्थः—राजा का यह एक मुख्य कार्य्य है कि धर्म्म के प्रचारार्थ तदविरोधियों का शासन किया करे। परन्तु इसके पूर्व धर्म्म क्या वस्तु है इसको अपने अनुभव और विज्ञान-बल से निश्चित करे ॥५॥

निराविध्यद्गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम् ।
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ॥६॥

पदार्थः—जो (इन्द्रः) महाराज (स्वाततम्) अतिविस्तृत (बुन्दम्) बाण आदि आयुधों को हाथ में लेकर (गिरिभ्यः) अतिशय सघन पर्वतों, वनों और ईदृग् अन्यान्य स्थानों से छिपे हुए चोर डाकू आदि दुष्टों को (निराविध्यत्) निकाल बाहर करते रहते हैं और प्रजा के लिये (पक्वम् ओदनम्) पके भात रोटी आदि भोज्य पदार्थ सदा (आधारयत्) प्रस्तुत रखते हैं वे ही प्रजाओं में विख्यात होते हैं ॥६॥

भावार्थः—गिरि=यह शब्द उपलक्षक है। बहुत से दुष्ट पर्वतादि अगम्य स्थान में जा छिपते हैं। वहां भी उन्हें न रहने देवे और जब-जब प्रजाओं में अन्न की विकलता होवे तब-तब राजा उसका पूरा प्रबन्ध करे ॥६॥

अब राजा की प्रशंसा करते हैं ॥

शतब्रध्न इषुस्तव सहस्रपर्ण एक इत् ।
यमिन्द्र चकृषे युजम् ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! आप (यम्) जिस बाण को (युजम्) अपने सहायक और प्रयोग में लावें वह ऐसा होवे कि (शतब्रध्नः) जिसमें बहुत से

अग्रभाग हों और (सहस्रपर्णः) जिसमें सहस्र पंख लगे हों ऐसा यदि (एकः इत्) एक ही (तव इषुः) तेरा बाण हो तो भी अच्छा ॥७॥

भावार्थः—राजा के सर्व आयुध तीक्ष्ण और स्थायी हों ॥७॥

तेन॑ स्तो॒तृभ्य॒ आ भ॑र॒ नृभ्यो॒ नारि॑भ्यो॒ अत्त॑वे ।

स॒द्यो जा॒त ऋ॑भुष्ठिर ॥८॥

पदार्थः—(ऋभुष्ठिर) हे पर्वतवत् स्थिर ! हे भयङ्कर युद्धों और आपत्तियों में अचल राजन् ! (सद्यः) तत्काल ही (जातः) परमोत्साही होकर (तेन) उस आयुध की सहायता से (स्तोतृभ्यः) धर्मपरायण स्तुतिपाठक (नृभ्यः) पुरुष-जातियों और (नारिभ्यः) स्त्रीजातियों के (अत्तवे) भोग के लिये पर्य्याप्त अन्न (आभर) लाइये ॥८॥

भावार्थः—जब-जब दुर्भिक्ष आदि आपत्ति आवे तब-तब राजा उसके निवारण का पूरा प्रबन्ध करे ॥८॥

ए॒ता च्यौ॒त्नानि॑ ते कृ॒ता वर्षि॑ष्ठा॒नि॒ परी॑णसा ।

हृ॒दा वी॒ड्व॑धारयः ॥९॥

पदार्थः—हे राजन् ! (ते) तुमने (एता) मनुष्यों के इन व्यवहार सम्बन्धी वस्तुओं को (च्यौत्नानि) सुदृढ़ और नियमों से सुबद्ध (कृता) किया है; (वर्षिष्ठानि) अतिशय उन्नत किया है और (परीणसा) और जो अनम्र दुष्कर और कठिन काम थे उनको नम्र सुकर और ऋजु कर दिया है। क्योंकि तुम (हृदा) हृदय से (वीळु) स्थिर करके (अधारयः) उनको रखते हो अर्थात् यह अवश्य कर्त्तव्य है ऐसा मन में स्थिर करके रखते हो ॥९॥

भावार्थः—जो राजा मन में दृढ़ संकल्प रखता है वह उत्तमोत्तम कार्य्य करके दिखलाता है ॥९॥

विश्वेत्ता विष्णु॒राभ॑रदुरुक्र॒मस्त्वेषि॑तः ।

श॒तं म॑हि॒षान्क्षी॑रपा॒कमो॑द॒नं व॑रा॒हमिन्द्र॑ एमु॒षम् ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे महाराज ! (त्वेषितः) आप से सुप्रार्थित (उरुक्रमः) सर्वत्र स्थित (विष्णुः) परमात्मा भी (तान्) उन-उन आवश्यक (विश्वा इत्) समस्त वस्तुओं को (आ भरत्) देता है। वह ईश्वर आपके राज्य में (शतम् महिषान्) अपरिमित भैंस, गौ, अश्व, मेष और हाथी आदि पशु देता है। और (क्षीरपाकम् ओदनम्)

दूध में पका भात और (एमुषम्) जलप्रद (वराहम्) मेघ देता है । यह आपकी ही प्रार्थना का फल है अतः आप धन्य और प्रशंसनीय राजा हैं ॥१०॥

भावार्थः—मेघ से घासों और अन्नों की वृद्धि होती है, उनसे पशुओं की और पशुओं से दूध दही आदि की । जिसके राज्य में सदा वर्षा होती है और मनुष्य निरामय सुखी हों तो समझना कि राजा धर्मात्मा है ॥१०॥

तुविक्षं ते सुकृतं सुमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः ।
उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा ॥११॥

पदार्थः—हे राजन् महाराज (ते धनुः) तुम्हारा धनुष् (तुविक्षम्) बाणों के बहुत दूर फेंकने वाला, (सुकृतम्) सुविरचित और (सुमयम्) सुखकारी है (बुन्दः) तुम्हारा बाण (साधुः) उपकारी और (हिरण्ययः) सुवर्णमय और दुःखहारी है (ते उभा) तुम्हारे दोनों (बाहू) हाथ (रण्या) रमणीय (सुसंस्कृता) सुसंस्कृत (ऋदूपे) सम्पत्तिरक्षक और (ऋदुवृधा) सम्पत्तिवर्धक हैं ॥११॥

भावार्थः—राज्याधीश के सर्व आयुध प्रजारक्षक हों और शरीर मन और धन उनके ही हितकारी हों । अर्थात् राजा कभी स्वार्थी भोगविलासी और आलसी न हो ॥११॥

अष्टम मण्डल में यह सतहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्याष्टासप्ततितमस्य सूक्तस्य १—१० कुरुसुतिः काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ३ निचृद्गायत्री । २, ६—९ विराड् गायत्री ॥ ४, ५ गायत्री । १० बृहती ॥ स्वरः—१—९ षड्जः । १० मध्यमः ॥

पुनः ईश्वर की प्रार्थना करते हैं ॥

पुरोळाशं नो अन्धस इन्द्र सहस्रमा भर ।
शता च शूर गोनाम् ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा, सर्वशक्ते, हे महेन्द्र ! (नः) हम प्राणियों को (पुरोळाशम्) जो आगे में दिया जाय अर्थात् खाने-पीने योग्य (अन्धसः) अन्न (सहस्रम्) सहस्रों प्रकारों का (आभर) दो (च) और (गोनाम् शता) बहुविध गौ, महिष, अश्व, मेष और अज आदि पशु दीजिये ॥१॥

भावार्थः—ईश्वर सर्व पदार्थ का दाता है; अतः अपनी आवश्यक वस्तु उससे मांगनी चाहिये ॥१॥

आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्।
सचा मना हिरण्यया ॥२॥

पदार्थः—हे ईश ! तू (नः) हम मनुष्यों को (व्यञ्जनम्) विविध शाक पत्र आदि, (गाम्) गौ, मेष आदि पशु, (अश्वम्) अश्व हाथी आदि वाहन और (अभ्यञ्जनम्) तेल आदि तथा (सचा) इन पदार्थों के साथ (मना) मननीय (हिरण्यया) सुवर्णमय उपकरण (आभर) दे ॥२॥

भावार्थः—जो आवश्यक वस्तु हों वे ही ईश्वर से मांगें ॥२॥

उत नः कर्णशोभना पुरूणि धृष्णवा भर।
त्वं हि शृण्विषे वसो ॥३॥

पदार्थः—(उत) और (धृष्णो) हे दुष्टघर्षक, हे शिष्टग्राहक, देव ! (त्वम् हि) तू ही परमोदार (शृण्विषे) सुना जाता है; अतः (वसो) हे सबको वास देनेवाले ईश ! (नः) हम प्राणियों और मनुष्य जातियों को (कर्णशोभना) कानों, देहों और मनों को शोभा पहुँचाने वाले (पुरूणि) बहुत से आभरण और साधन (आभर) दो ॥३॥

भावार्थः—जो ईश सबको वास देता है और प्राणियों पर दया रखता है वही प्रार्थनीय है ॥३॥

नकीं वृधीक इन्द्र ते न सुषा न सुदा उत।
नान्यस्त्वच्छूर वाघतः ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा, सर्वरक्षक, महेश ! त्वद्भिन्न कोई भी (वृधीकः) अभ्युदयवर्धक (नकीम्) नहीं है; (ते) तुझसे बढ़कर कोई भी (सुसाः न) नाना पदार्थों का विभाग करनेवाला नहीं है। (उत) और (न सुदाः) न कोई सुदाता है; (शूर) हे शूर ! (त्वत् अन्यः) तुझसे बढ़कर (वाघतः) धार्मिक पुरुषों का नेता नहीं ॥४॥

भावार्थः—ईश्वर से बढ़कर कोई जीव नहीं; अतः वही उपास्यदेव है ॥४॥

नकीमिन्द्रो निकर्तवे न शक्रः परिशक्तवे।
विश्वं शृणोति पश्यति ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर को (निकर्तवे) तिरस्कार (नकी=नैव) कोई भी नहीं कर सकता । जिस हेतु वह (शक्रः) सर्वशक्तिमान् है अतः (न परिशक्तवे) उनका अन्य कोई भी पराभव नहीं कर सकता । वह (विश्वम् शृणोति) सबकी सुनता (पश्यति) और देखता है ॥५॥

भावार्थः—जिस कारण वह सर्वद्रष्टा सर्वश्रोता है अतः उसको कोई भी परास्त नहीं करता । हे मनुष्यो ! उसी की उपासना करो ॥५॥

स मन्युं मर्त्यानामदब्धो नि चिकीषते ।
पुरा निदश्चिकीषते ॥६॥

पदार्थः—(अदब्धः) अहिंसित अविनश्वर सदा एकरस (सः) वह परमात्मा (मर्त्यानाम् मन्युम्) मनुष्यों के क्रोध और अपराध को (नि चिकीषते) दबा देता है और (निदः पुरा) निन्दा के पूर्व ही (चिकीषते) निन्दक को जान लेता है अर्थात् जो कोई उसकी निन्दा करना चाहता है उसके पूर्व ही उसको वह दण्ड दे देता है ॥६॥

भावार्थः—जिस हेतु ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वान्तर्य्यामी है; अतः सबके हृदय की बात जान शुभाशुभ फल देता है । इस हेतु हृदय में भी किसी का अनिष्ट चिन्तन न करे ॥६॥

क्रत्व इत्पूर्णमुदरं तुरस्यास्ति विधतः ।
वृत्रघ्नः सोमपाव्नः ॥७॥

पदार्थः—(तुरस्य) सर्व विजेता (विधतः) विधानकर्ता (वृत्रघ्नः) निखिल-विघ्नविहन्ता (सोमपाव्नः) समस्त पदार्थ पाता उस परमात्मा का (उदरम्) उदर अर्थात् मन (क्रत्वः इत्) कर्म से ही (पूर्णम् अस्ति) पूर्ण है ॥७॥

भावार्थः—परमात्मा मनुष्य के सुकर्म से ही प्रसन्न होता है । इसलिये उसकी इच्छा के अनुसार मनुष्य सन्मार्ग पर चले ॥७॥

त्वे वसूनि सङ्गता विश्वा च सोम सौभगा ।
सुदात्वपरिह्वृता ॥८॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वपदार्थमय देव ! (त्वे) तुममें (विश्वा) सर्व प्रकार के (वसूनि) धन (सङ्गता) विद्यमान हैं और सर्वप्रकार के (सौभगा) सौभाग्य तुम में संगत हैं । इस हेतु से हे ईश ! (सुदातु) सब प्रकार के सुदान (अपरिह्वृता) तेरे लिये सहज हैं ॥८॥

भावार्थः—जिस कारण सम्पूर्ण संसार का अधिपति वह परमात्मा है अतः उसके लिये दान देना कठिन नहीं। यदि हम मानव अन्तःकरण से अपना अभीष्ट मांगें तो वह अवश्य उसको पूर्ण करेगा ॥८॥

त्वामिद्यवयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः । त्वामश्वयुरेषते ॥९॥

पदार्थः—(युवयुः) जौ, गेहूँ, मसूर आदि चाहने वाला, (गव्युः) गो, महिष, अजा आदि पशुकामी, (हिरण्ययुः) सोना, चान्दी आदि धातुओं का अभिलाषी (अश्वयुः) घोड़ा, हाथी आदि वाहनाभिलाषी, (मम कामः) मेरा काम (त्वाम् इत्) तुझको ही, अन्य को नहीं, किन्तु (त्वाम्) तुझको ही (एषते) चाहता है ॥९॥

भावार्थः—हम लोगों की इच्छा सब पदार्थ चाहती है यह मनुष्य का स्वाभाविक गुण है ॥९॥

तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना ददे ।
दिनस्य वा मघवन्त्सम्भृतस्य वा पूर्धि यवस्य काशिना ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (तव इत्) तुम्हारी ही (आशसा) आशा से (अहम्) मैं (हस्ते) हाथ में (दात्रं चन) काटने के लिये हँसुआ आदि लेता हूँ। (मघवन्) हे सर्वधन सम्पन्न ! (दिनस्य वा) प्रतिदिन (सम्भृतस्य) एकत्रित (यवस्य) जौ आदि खाद्य पदार्थों की (काशिना) मुष्टि से हमारे घर को भरो ॥१०॥

भावार्थः—परमात्मा से हम मनुष्य उतने ही पदार्थ मांगें जिनसे हम अपना निर्वाह अच्छी तरह कर सकें ॥१०॥

अष्टम मंडल में यह अठहत्तरवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ नवर्चस्यैकोनाशीतितमस्य सूक्तस्य १—९ कृत्नुर्भार्गव ऋषिः ॥ सोमो देवता । छन्दः—१, २, ६ निचृद्गायत्री । ३ विराड् गायत्री । ४, ५, ७, ८ गायत्री । निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—१-८ षड्जः । ९ गान्धारः ॥

अयं कृत्नुरगृभीतो विश्वजिदुद्भिदित्सोमः ।
ऋषिर्विप्रः काव्येन ॥१॥

पदार्थः—(अयं) प्रकृतियों में प्रत्यक्षवत् भासमान यह परमात्मा (कृत्नुः) जगत् का कर्त्ता (अगृभीतः) किन्हीं से किसी साधन द्वारा ग्रहण योग्य नहीं, (विश्वजित्) विश्वविजेता, (उद्भिद् इत्) जगत् का उत्थापक, (सोमः) सर्वप्रिय, (ऋषिः)

सर्वद्रष्टा, (विप्रः) सन्तों के मनोरथ का पूरक और (काव्येन) काव्य द्वारा स्तुत्य है ॥१॥

भावार्थः—परमात्मा सर्वगुणसम्पन्न है अतः वही स्तुत्य और प्रार्थनीय है ॥१॥

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत्तुरम् ।
प्रेमन्धः ख्यन्निः श्रोणो भूत् ॥२॥

पदार्थः—(यन्नग्नं) जो नग्न है उसको वह परमात्मा (अभ्यूर्णोति) वस्त्र से ढांकता है (यत् विश्वम् तुरम्) जो सब रोगग्रस्त है उसको (भिषक्ति) चिकित्सा करता है (अन्धः) नेत्रहीन (प्र ख्यत् ईम्) अच्छी तरह से देखता है। (श्रोणः) पङ्गु (निः भूत्) चलने लगता है ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा की शक्ति अचिन्त्य है; इस कारण विपरीत बातें भी होती हैं इसमें आश्चर्य्य करना नहीं चाहिये ॥२॥

त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यः ।
उरु यन्तासि वरूथम् ॥३॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वप्रिय देव ! (त्वं) तू साधुओं को (अन्यकृतेभ्यः द्वेषोभ्यः) अन्य दुष्ट पुरुषों की दुष्टता और अपकार आदि से बचाकर (उरु) बहुत (वरूथं) श्रेष्ठ रक्षण (यन्तासि) देता है। (तनूकृद्भ्यः) जो शरीर और मन को दुर्बल बनाते हैं उनसे तू रक्षा करता है ॥३॥

भावार्थः—जो परमात्मा की आज्ञा पर चलते हैं वे ईर्ष्या, द्वेष आदियों से स्वयं रहित हो जाते हैं। इसलिये उनकी भी कोई निन्दा नहीं करता। इस प्रकार परमात्मा सज्जनों को दुष्टता से बचाते रहते हैं ॥३॥

त्वं चित्ती तव दक्षैर्दिव आ पृथिव्या ऋजीषिन ।
यावीरघस्य चिद् द्वेषः ॥४॥

पदार्थः—(ऋजीषिन्) सज्जन साधुजनों के रक्षक और अभिलाषिन् (त्वं) तू (चित्ती) अपनी अचिन्त्य शक्ति और मन से (तव दक्षैः) अपने महान् बल से (दिवः) द्युलोक से (आ) और (पृथिव्याः) पृथिवी पर से (अघस्य) पापी जनों के (द्वेषः) द्वेषों को (यावीः) दूर कर दे ॥४॥

भावार्थः—इससे यह शिक्षा दी जाती है कि मनुष्यमात्र द्वेष और निन्दा आदि अवगुण त्याग दे तब ही जगत् का कल्याण है ॥४॥

अर्थिनो यन्ति चेदर्थं गच्छानिद्ददुषो रातिम् ।
ववृज्युस्तृष्यतः कामम् ॥५॥

पदार्थः—हे ईश ! जगत् में आपकी कृपा से (अर्थिनः) धनाभिलाषी जन (अर्थं यन्ति चेत्) धन प्राप्त करें और दीन पुरुष (ददुषः) दाता से (रातिं) दान (गच्छान् इत्) पावें और (तृष्यतः) धन और पानी के पिपासुजन के (कामम्) मनोरथ को (ववृज्युः) लोग पूर्ण करें ॥५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम परस्पर साहाय्य करो न जाने तुम्हारे ऊपर भी अचिन्त्य आपत्ति आवे और सहायता की आकांक्षा हो । इसलिये परस्पर प्रेम और भ्रातृभाव से वर्ताव करो ॥५॥

विदद्यत्पूर्व्यं नष्टमुदीमृतायुमीरयत् । प्रेमायुस्तारीदतीर्णम् ॥६॥

पदार्थः—हे भगवन् ! आपका उपासक (यत्) जो वस्तु (पूर्व्यं) पहले (नष्टम्) नष्ट हो गया हो उसको (विदत्) प्राप्त करे और (ऋतायुं) सत्याभिलाषी जन को (ईं) निश्चित रूप से (उदीरयत्) धनादि सहायता से बढ़ावे और (अतीर्णम्) अवशिष्ट (ईम् आयुम्) इस विद्यमान आयु को (प्रतारीत्) बढ़ावें ॥६॥

भावार्थः—उपासक धैर्य्य से ईश्वर की उपासना करें सज्जनों की रक्षा, अपनी आयु बढ़ावें ॥६॥

सुशेवो नो मृळयाकुरदृप्तक्रतुरवातः । भवा नः सोम शं हृदे ॥७॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वप्रिय देव ! ध्यान के द्वारा (हृदे) हृदय में धारित तू (नः) हम लोगों का (शं) कल्याणकारी (भव) हो; (नः) हम लोगों का तू (सुशेवः) सुखकारी है । (मृळयाकुः) आनन्ददायी वा (अदृप्तक्रतुः) शान्तकर्मा और (अवातः) वायु आदि से रहित है ॥७॥

भावार्थः—जब उपासना द्वारा परमात्मा हृदय में विराजमान होता है तब ही वह सुखकारी होता है ॥७॥

मा नः सोम सं वीविजो मा वि बीभिषथा राजन् ।
मा नो हार्दि त्विषा वधीः ॥८॥

पदार्थः—(सोम) हे सर्वप्रिय देव ! (नः) हम लोगों को (मा सं वीविजः) अपने स्थान से विचलित मत कर । (राजन्) हे भगवन् ! हम लोगों को (मा वि

वीभिषथा) भययुक्त मत बना और (नः हार्दि) हमारे हृदय को (त्विषा) क्षुधा पिपासा आदि ज्वाला से (मा वधीः) हनन मत कर ॥८॥

भावार्थः—मनुष्य जब पाप और अन्याय करता है तब ही उसके हृदय में भय उत्पन्न होता और क्षुधा से शरीर जलने लगता है; इसलिये वैसा काम न करे ॥८॥

अव यत्स्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे ।
राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥९॥

पदार्थः—हे देव ! (यत्) जब-जब (स्वे सधस्थे) अपने स्थान पर (देवानां दुर्मतीः) सज्जनों के शत्रुओं को (अव ईक्षे) देखूं तब-तब (राजन्) हे राजन् (द्विषः) उन द्वेषकारी पुरुषों को (अपसेध) दूरकर और (स्रिधः) हिंसक पुरुषों को हम लोगों के समाज से (अप सेध) दूर फेंक दे ॥९॥

भावार्थः—हम लोग जब-जब सज्जनों को निन्दित हुए देखें तो उचित है कि उन निन्दकों को उचित दण्ड देवें ॥९॥

अष्टम मण्डल में यह उनासीवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्याशीतितमस्य सूक्तस्य १–१० एकद्यूनौंधस ऋषिः ॥ १–९ इन्द्रः । १० देवा देवताः ॥छन्दः—१ विराड् गायत्री । २, ३, ५, ८ निचृद् गायत्री । ४, ६, ७, ९, १० गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

नह्य१न्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो । त्वं न इन्द्र मृळय ॥१॥

पदार्थः—(शतक्रतो) हे अनन्तकर्म्मा सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! तुझसे (अन्यं) दूसरा कोई (मर्डितारम्) सुखकारी देव (नहि) नहीं है । (अकरं) यह मैं अच्छी तरह से देखता और सुनता हूं । (बळा) यह सत्य है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । हे (इन्द्र) इन्द्र ! इस हेतु (नः) हम लोगों को (त्वं) तू (मृळय) सुखी बना ॥१॥

भावार्थः—ईश्वर ही जीवमात्र का सुखकारी होने के कारण सेव्य और स्तुत्य है ॥१॥

यो नः शश्वत्पुराविथामृध्रो वाजसातये । स त्वं न इन्द्र मृळय ॥२॥

पदार्थः—हे ईश्वर ! (यः) जो तू (अमृध्रः) अविनश्वर चिरस्थायी देव है इसलिये तू (शश्वत्) सर्वदा (पुरा) पूर्वकाल से लेकर आजतक (वाजसातये) ज्ञान

और धन प्राप्ति के लिये (नः) हम लोगों को (आविथ) बचाता आया है। (सः त्वं) वह तू (नः) हम लोगों को (मृळय) सुखी बना ॥२॥

भावार्थः—ईश्वर सदा जीवों की रक्षा किया करता है इसलिये अन्तःकरण से अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये उससे प्रार्थना करे ॥२॥

किमङ्ग रध्रचोदनः सुन्वानस्यावितेदसि। कुवित्स्विन्द्र णः शकः ॥३॥

पदार्थः—(अङ्ग) हे (इन्द्र) परमात्मन्! (किम्) मैं तुझसे क्या निवेदन करूं तू स्वयं (रध्रचोदनः) दीनों का पालक है और (सुन्वानस्य) उपासकजनों का (अविता इत्) सदा रक्षक ही है। क्या (नः) हम लोगों को (इन्द्र) हे इन्द्र! (कुवित्) बहुधा (सु) अच्छे प्रकार (शकः) समर्थ बनावेगा? ॥३॥

भावार्थः—वह देव दीनों और उपासकों की रक्षा किया करता है अतः क्या वह हमारी रक्षा न करेगा ॥३॥

इन्द्र प्र णो रथमव पश्चाच्चित्सन्तमद्रिवः।

पुरस्तादेनं मे कृधि ॥४॥

पदार्थः—हे इन्द्र! सर्वद्रष्टा परमेश्वर! (नः) हम लोगों के (रथम्) रथ को महासंग्राम में (प्र अव) बचा तथा (पश्चात् चित् सन्तम्) पीछे विद्यमान भी (मे एनं) मेरे इस रथ को (पुरस्तात्) अग्रसर (कृधि) कर ॥४॥

भावार्थः—महा संग्राम में विजय प्राप्ति के लिये उसी से प्रार्थना करे ॥४॥

हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि। उपमं वाजयु श्रवः ॥५॥

पदार्थः—हे इन्द्र! (हन्तो) यह खेद की बात है कि तू (नु) इस समय (किं आससे) क्यों चुपचाप है; (नः) हम लोगों के (रथं) रथ को (प्रथमम्) सबसे अग्रसर (कृधि) कर तथा (वाजयु) विजय सम्बन्धी (श्रवः) यश (उपमं) समीप कर ॥५॥

भावार्थः—हम इस तरह ईश्वर से प्रार्थना करें कि महासंग्राम में भी विजयी होवें ॥५॥

अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित्परि।

अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृधि ॥६॥

पदार्थः—हे इन्द्र! (नः) हम लोगों के (वाजयुं) विजयाभिलाषी (रथं) रथ को (अव) बचा। (ते) तुम्हारे लिये (किं इत्) सर्व कर्म (परि) सर्व प्रकार से (सुकरं) सहज है अर्थात् तुम्हारे लिये अशक्य कुछ नहीं। इस हेतु महासंग्राम में (अस्मान्) हम लोगों को (जिग्युषः) विजेता (सुकृधि) अच्छे प्रकार कीजिये ॥६॥

भावार्थः—ईश्वर हम लोगों के रथ को विजयी और हमको विजेता बनावे ॥६॥

इन्द्र दृह्यस्व पूरसि भद्रा त एति निष्कृतम् ।
इयं धीर्ऋत्वियावती ॥७॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! हम लोगों को शुभकर्मों में (दृह्यस्व) दृढ़ कर, क्योंकि तू (पूः असि) भक्तों के मनोरथ का पूरक है और (निष्कृतम्) सबके भाग्य को स्थिर करने वाले (ते) तेरी और हम लोगों की (इयं ऋत्वियावती) यह सामयिक (धीः) स्तुति, प्रार्थना और शुभकृपा (एति) जाती है ॥७॥

भावार्थः—यह स्वाभाविक बात है कि जीवों का झुकाव उस परमात्मा की ओर है। इसलिये प्रत्येक विद्वान् का समग्र शुभकर्म उसी की ओर और उसी के उद्देश्य से होता है ॥७॥

मा सीमवद्य आ भागुर्वी काष्ठा हितं धनम् ।
अपावृक्ता अरत्नयः ॥८॥

पदार्थः—हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों को (अवद्ये) निन्दा, अपयश, ईर्ष्या आदि दुर्गुण (सीम्) किसी प्रकार (मा भाक्) प्राप्त न हों। (काष्ठा) जीवन की अन्तिम दशा (उर्वी) बहुत विस्तीर्ण है। अर्थात् जीवन के दिन अभी बहुत हैं अतः हम लोगों को कोई अपकीर्ति प्राप्त न हो। हे ईश ! (धनं हितम्) अपने इस जगत् में बहुत धन स्थापित किया है (अरत्नयः) जगत् के असुखकारी जन(अपावृक्ता) जन-समाज से पृथक् होवें ॥८॥

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि किसी स्वार्थवश किसी की निन्दा वा स्तुति न करे, अन्यथा संसार में अनेक अशान्तियां फैलती हैं ॥८॥

तुरीयं नाम यज्ञियं यदा करस्तदुश्मसि । आदित्पतिर्न ओहसे ॥९॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (यद्) जो (यज्ञियम्) यज्ञसम्बन्धी (तुरीयम्) चतुर्थ (नाम) नाम हम लोगों का करता है (तद् उश्मसि) उस नाम को हम चाहते हैं। क्योंकि (आद् इत्) उसके पश्चात् ही तू (नः पतिः) हम लोगों का पति (ओहसे) होता है। अर्थात् तबही यज्ञ करते हुए हम लोग तुझको अपना पति=पालक समझते और मानने लगते हैं ॥९॥

भावार्थः पितृनाम, मातृनाम, आचार्यनाम और यज्ञसम्बन्धी नाम ये चार नाम होते हैं। सोमयाजी आदि यज्ञिय नाम हैं। मनुष्य जब शुभकर्म में प्रवेश करता है तबसे ही ईश्वर को अपना स्वामी समझने लगता है ॥९॥

अर्वांवृधद्वो अमृता अमन्दीदेकद्यूर्देवा उत याश्च देवीः ।

तस्मा उ राधः कृणुत प्रशस्तं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥१०॥

पदार्थः—(अमृताः) हे मरणरहित (देवाः) दिव्यगुण सहित पुरुषो ! (वः) आपको (उत) और (याः च देवीः)जो आप लोगों की स्त्रियां हैं उनको भी (एकद्यूः) दैनिक यज्ञकर्ता सदा (अवीवृधत्) बढ़ाते और (अमन्दीत्) आनन्दित करते हैं । अतः (तस्मै उ) उसको (प्रशस्तम् राधः) प्रशस्त धन विज्ञान आदि दो और (धियावसुः) हृदयज्ञान और क्रिया में निवासी परमेश्वर हमारे निकट (मक्षू) शीघ्र और (प्रातः) प्रातःकाल ही (जगम्यात्) आवे ॥१०॥

भावार्थः—गृहस्थ स्त्री-पुरुष प्रतिदिन यज्ञ करें । वे प्रतिदिन प्रातः-काल प्रभु की उपासना इस प्रकार करें कि उसका सान्निध्य अनुभव हो॥१०॥

अष्टम मण्डल में यह अस्सीवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ नवर्चस्यैकाशीतितमस्य सूक्तस्य १—९ कुसीदी काण्व ऋषिः ॥ इन्द्रो देवता ॥ छन्दः—१, ५, ८ गायत्री । २, ३, ६, ७ निचृद् गायत्री । ४, ९ विराड् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

पुनरपि परमात्मा की प्रार्थना आरम्भ करते हैं ॥

आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय ।

महाहस्ती दक्षिणेन ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे सर्वद्रष्टा परमेश्वर ! जिस कारण तू (महाहस्ती) महाशक्तिशाली है, इसलिये (दक्षिणेन) महाबलान् हस्त से (नः) हमारे लिये (क्षुमन्तम्) प्रशस्त (चित्रम्) चित्र विचित्र नाना प्रकारयुक्त (ग्राभम्) ग्रहणीय वस्तुओं को (संगृभाय) संग्रह कीजिये ॥१॥

भावार्थः—वेद आरोप करके कहीं वर्णन करते हैं; अतः यहां हस्त का निरूपण है । ज्ञानादिक जो प्रशस्त धन है उसकी याचना उससे करनी चाहिये ॥१॥

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम् ।

तुविमात्रमवोभिः ॥२॥

पदार्थः—हे इन्द्र ! (अवोभिः) आपकी महती रक्षा के द्वारा हम मनुष्य

(विद्म हि) इस बात को अच्छे प्रकार जानते हैं कि (त्वा) तू (तुविकूर्मिम्) सर्वकर्मा महाशक्ति, (तुविदेष्णम्) सर्वदाता महादानी, (तुविमघम्) सर्वधन, (तुविमात्रम्) सर्वव्यापी है। ऐसा तुझे हम जानते हैं अतः हम पर कृपा कर ॥२॥

भावार्थः—ईश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वधन सर्वदाता है अतः वही प्रार्थ्य और स्तुत्य है ॥२॥

उसका महत्त्व दिखलाते हैं ॥

नहि त्वा शूर देवा न मर्तासो दित्सन्तम् ।
भीमं न गां वारयन्ते ॥३॥

पदार्थः—(शूर) हे महावीर सर्वशक्ते ईश ! (दित्सन्तम्) इस जगत् को दान देते हुए (त्वा) तुझको (देवाः नहि वारयन्ते) देवगण निवारण नहीं करसकते; (न मर्तासः) मनुष्यगण भी तुझको निवारण नहीं कर सकते। (न) जैसे (भीमम्) भयानक (गाम्) सांड को रोक नहीं सकते ॥३॥

भावार्थः—वह ईश्वर सबसे बलवान् है और अपने कार्य्य में परम स्वतन्त्र है; अतः वहां किसी की शक्ति काम नहीं करती ॥३॥

एतो न्विन्द्रं स्तवामेशानं वस्वः स्वराजम् ।
न राधसा मर्धिषन्नः ॥४॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (एत) आइये। हम सब मिलकर (नु) इस समय (इन्द्रम् स्तवाम) उस परमात्मा की कीर्ति का गान और स्तवन करें जो (वस्वः ईशानम्) इस जगत् और धन का स्वामी और अधिकारी है और (स्वराजम्) स्वतन्त्र राजा और स्वयं विराजमान देव है। जिसकी स्तुति से अन्य कोई भी (नः)हम लोगों को (राधसा) धन के कारण (न मर्धिषत्) बाधा नहीं पहुँचा सकता ॥४॥

भावार्थः—जो जन ईश्वर में विश्वास कर उसकी आज्ञा पर चलता रहता है उसको बाह्य या आन्तरिक बाधा नहीं पहुंच सकती ॥४॥

प्र स्तोषदुप गासिषच्छ्रवत्साम गीयमानम् ।
अभि राधसा जुगुरत् ॥५॥

पदार्थः—मनुष्यगण उस परमात्मा की (प्र स्तोषत्) अच्छे प्रकार स्तुति करें, उसका (गसिषत्) गान करें, (गीयमानम् साम) गीयमान स्तुति को (श्रवत्) सुनें और (राधसा) अभ्युदय से युक्त होकर (अभि जुगुरत्) सर्वत्र ईश्वरीय आज्ञा का प्रचार करें ॥५॥

भावार्थः—सब प्रकार उसमें मन लगावें यह इसका आशय है ॥५॥

आ नो भर दक्षिणेनाभि सव्येन प्र मृश।

इन्द्र मा नो वसो र्निर्भाक् ॥६॥

पदार्थः—हे भगवन्! (दक्षिणेन) दक्षिण हस्त से (नः) हम लोगों को (आ भर) धनधान्य से पूर्ण कर; (सव्येन) बायें हाथ से (अभि प्रमृश) चारों ओर रक्षा कर। हे इन्द्र (नः)हम लोगों को (वसोः) धन और वास से (मा निःभाक्)मत अलग कर ॥६॥

भावार्थः—यहां पुरुषत्व का आरोप करके वर्णन किया गया है। इसलिये दक्षिण और सव्य शब्द का प्रयोग है। ईश्वर हम लोगों का चारों ओर भरण-पोषण कर रहा है और विस्तृत धन वास दे रहा है अतः वही मनुष्यों का पूज्य देव है ॥६॥

उप क्रमस्वा भर धृषता धृष्णो जनानाम्।

अदाशूष्टरस्य वेदः ॥७॥

पदार्थः—(उप क्रमस्व) हे भगवन्! सबके हृदय में विराजमान होओ (धृष्णो) हे निखिल विघ्नविनाशक (धृषता) परमोदार चित्त से (जनानाम्) मनुष्यों के हृदय को (आ भर) पूर्ण कर; (अदाशूष्टरस्य) जो कभी दान प्रदान नहीं करता उसके (वेदः) धन को छिन्न-भिन्न कर दे ॥७॥

भावार्थः—धनसम्पन्न रहने पर भी जो असमर्थों को नहीं देता उसका धन नष्ट हो जाय ॥७॥

इन्द्र य उ नु ते अस्ति वाजो विप्रेभिः सनित्वः।

अस्माभिः सु तं सनुहि ॥८॥

पदार्थः—हे इन्द्र! (यः उ) जो (वाजः) विज्ञान और धन (विप्रेभिः) बुद्धिमान् जनों से (सनित्वः) अभिलषित (ते नु अस्ति) तेरे निकट है (तं) उस धन को (अस्माभिः) हम लोगों के मध्य (सु सनुहि) वितीर्ण कर ॥८॥

भावार्थः—सब कोई भगवान् से यह प्रार्थना करें कि प्रत्येक मनुष्य को तुल्य अधिकार मिले ॥८॥

सद्योजुवस्ते वाजा अस्मभ्यं विश्वश्चन्द्राः।

वशैश्च मक्षू जरन्ते ॥९॥

पदार्थः—हे भगवन् (सद्योजुवः) तत्काल उपकारी (विश्वश्चन्द्राः) सबों के आनन्दप्रद (वाजाः) धन (अस्मभ्यं) हम लोगों को (ते) तू दे क्योंकि (वशैः च) विविध कामनाओं से युक्त होकर ये मनुष्यगण (मक्षू) शीघ्रता के साथ (जरन्ते) स्तुति करते हैं।९॥

भावार्थः—ईश्वर हम लोगों को वह धन दे जिससे जगत् में उपकार आनन्द हो ॥९॥

अष्टम मण्डल में यह इक्यासीवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ नवर्चस्य द्व्यशीतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—९ कुसीदी काण्वः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१, ७, ९ निचृद्गायत्री। २, ५, ६, ८ गायत्री। ३, ४ विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आ प्र द्रव परावतोऽर्वावतश्च वृत्रहन्।
मध्वः प्रति प्रभर्मणि ॥१॥

पदार्थः—(वृत्रहन्) कार्यसिद्धि में आ पड़नेवाले विघ्नों के विध्वंसक उपासक! (प्रभर्मणि) पुष्टि और सहायता अनुकूलता-अनुग्रह आदि के प्रयोजन से (परावतः) दूर से (च) और (अर्वावतः) समीप से भी (मध्वः प्रति) आत्मा की ओर, अपने आत्मतत्त्व की ओर (आ प्र द्रव) दौड़कर आ ॥१॥ [आत्मा वै पुरुषस्य मधु—तै० सं० २-३-२-९]

भावार्थः—जीवन में सर्वविध ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि साधक अपने आत्मा को एक क्षणभर के लिये भी न भूले; आत्मतत्त्व को उसके यथार्थस्वरूप में जानता रहे। और इस साधना के बाधक कारणों को सदा नष्ट करता रहे ॥१॥

तीव्राः सोमास आ गहि सुतासो मादयिष्णवः।
पिबा दधृग्यथोचिषे ॥२॥

पदार्थः—(मादयिष्णवः) हर्षोत्पादन गुणवाले (तीव्राः) अपने गुणों में प्रबल (सोमासः) ऐश्वर्य प्रापक विविध पदार्थ प्रभु द्वारा (सुतासः) उत्पादित विद्यमान हैं; (आ गहि) आ, और (यथा ओचिषे) जितनी मात्रा में तू उपयुक्त समझे उतनी मात्रा में, (दधृक्) निर्भय होकर, (पिब) उनका उपभोग कर ॥२॥ [ओचिषे=उच् समवाये; To be suitable आप्टे]

भावार्थः—प्रभु ने विविध पदार्थ साधक के उपयोग के लिये बना कर

रखे हैं; वे सभी हर्षोत्पादक हैं—हर्ष उत्पन्न करना उनका धर्म ही है; परन्तु साधक उनका उपभोग उपयुक्तमात्रा में तो निर्भय होकर करे—वे हर्षोत्पादक ही रहेंगे; विवेकशून्य उपभोक्ता के लिये वे हानिकारक ही हो सकते हैं ॥२॥

इषा मन्दस्वादु तेऽरं वराय मन्यवे ।

भुवत्त इन्द्र शं हृदे ॥३॥

पदार्थः—(इषा) सुखवर्षक अन्न आदि की वृष्टि के द्वारा (मन्दस्व) तृप्त हो; (आत्) अनन्तर (उ) ही प्रभुरचित पदार्थ (ते) तेरे (वराय) वरणीय श्रेष्ठ (मन्यवे) क्रोध के लिये (अरं) पर्याप्त अथवा उसको उत्पन्न करने में समर्थ (भुवत्) हों; हे (इन्द्र) साधक ! वे (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) कल्याणकारी हों ॥३॥

[मन्युना वै वीर्यं क्रियते, इन्द्रियेण आयति—मैत्रा० २-२-१२ । वृष्टचै तदाह यदाहेषे पिन्वस्वेति—शत० १४-२-२-२७]

भावार्थः—अन्न आदि प्रभुरचित पदार्थों का उपभोग इस रीति से करे कि वे सुख की वर्षा करें—इस प्रकार मनुष्य की इन्द्रियों को वीर्य-पराक्रम तथा बल मिलेगा और वीर्यवती इन्द्रियों के साधन से साधक जीव को जीवन-संघर्ष में विजय-प्राप्त होगी ॥३॥

आ त्वंशत्रवा गहि न्युक्थानि च हूयसे ।

उपमे रोचने दिवः ॥४॥

पदार्थः—हे (अशत्रो) विश्वमैत्री भावना से भावित होने के कारण अथवा दुर्भावनाओं को सर्वथा दूर रखने में समर्थ होने के कारण—शत्रुरहित साधक ! (तु) शीघ्र ही (आ गहि) आ; (च) और तीन सवनों में से एक, (दिवः) ज्ञान प्राप्त्यर्थ किये जानेवाले, (उपमे) उपमाभूत, श्रेष्ठ अथवा आदर्श (रोचने) सवन—सत्कर्मरूप यज्ञ के सफल सम्पादन के लिये (उक्थानि) उपदेश देने योग्य वेदस्थ सब स्तोत्रों को लक्ष्य में रखकर (नि, हूयसे) आहूत किया जा रहा है ॥४॥ [सवनानि वै त्रीणि रोचनानि—श० ८-७-३-२१ ; सवने=सत्कर्मणि—ऋ० द० ऋ० ४-३३-११]

भावार्थः—ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति के प्रयोजन से जो सत्कर्म किये जाते हैं, वे एक प्रकार से 'दिवः सवन' हैं; उनमें साधक का एक कर्त्तव्य यह है कि वह वेदादि शास्त्रोक्त स्तोत्रों का पाठ करे। वेदवचनों में प्रभु के गुणों का गायन प्रभु के स्वरूप को समझने का और इस प्रकार प्रभु-प्राप्ति का एक उपयुक्त साधन है ॥४॥

तुभ्यायमद्रिंभिः सुतो गोभिः श्रीतो मदाय कम् ।
प्र सोमं इन्द्र हूयते ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के इच्छुक साधक ! (अयं) यह (अद्रिभिः) अदरणीय विद्वानों द्वारा (सुतः) विद्या और सुशिक्षा द्वारा निष्पादित (गोभिः) ज्ञान-विज्ञान आदि द्वारा (श्रीतः) परिष्कृत-संस्कृत, (कं) सुखपूर्वक (मदाय) हर्षदायक होने के प्रयोजन से (सोमः) ऐश्वर्यप्रद, प्रभु द्वारा रचित पदार्थ-समूह (तुभ्य = तुभ्यं) तेरे लिये (प्र, हूयते) [उपर्युक्त ज्ञानयज्ञ में] हवि बनाया जा रहा है; तू इससे लाभ उठा ॥५॥

भावार्थः—अदरणीय=अखण्डनीय । विद्वान् विद्या एवं सुशिक्षा द्वारा प्रभु द्वारा सृष्ट ऐश्वर्य प्रद पदार्थों का सारभूत ज्ञानरस निकालते हैं; उस ज्ञान-रूप रस को ज्ञान-यज्ञ में सबके हितार्थ, हवि बनाते हैं । इसका लाभ साधक को उठाना चाहिये ॥५॥

इन्द्रं श्रुधि सु मे हवमस्मे सुतस्य गोमंतः ।
वि पीतिं तृप्तिमंश्नुहि ॥६॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसाधक ! (मे) मेरी (हवं) पुकार को (सु, श्रुधि) भलीभांति सुन ले । (अस्मे) हममें से विद्वानों द्वारा (सुतस्य) सार रूप में निचोड़े हुए, (गोमतः) ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित, प्रभुविरचित ऐश्वर्यप्रद पदार्थों के सारभूत विज्ञान की (पीतिं) पान क्रिया को (वि, अश्नुहि) विविध प्रकार से व्याप्तकर; उसको विविधरूप से आत्मसात् कर और (तृप्ति) तृप्ति प्राप्त कर ॥६॥

भावार्थः—प्रभुरचित सृष्टि के पदार्थ ऐश्वर्य के साधक हैं और उनका ज्ञान साररूप में विद्वान् प्राप्त करते हैं । साधक को चाहिये कि विद्वानों द्वारा सम्यक्तया उपस्थापित ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात् करे और इस प्रकार तृप्ति अनुभव करे ॥६॥

य इंन्द्र चमसेष्वा सोमंश्चमूषु ते सुतः ।
पिबेदंस्य त्वमींशिषे ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसाधक ! (यः सुतः सोमः) विद्वानों द्वारा विद्या व सुशिक्षा द्वारा निष्पादित जो प्रभु-सृष्ट पदार्थों का सारभूत पदार्थबोध (ते) तेरे (चमसेषु) पांच ज्ञानेन्द्रियों एवं मन तथा बुद्धिरूप चमसों को लक्ष्य करके तथा

(चमूषु) शत्रुओं एवं शत्रुभूत भावनाओं के बल को पी जानेवाली कर्मेन्द्रियों के लक्ष्य करके (सुतः) निष्पन्न किया है, उसको तू (पिबेत्) आत्मसात् कर ले; (अस्य) इस सारे पदार्थ-बोध का (त्वं) तू (ईशिषे) स्वामी है, अधिकारी है ।।७।।

भावार्थः—प्रभु द्वारा सृष्ट ऐश्वर्यसाधक पदार्थों का जो बोध विद्वान् गुरु साधक को प्रदान करते हैं, साधक उसको आत्मसात् करले—ऐसा करने में वह भलीभांति समर्थ है ।।७।।

[ऋषयोऽदुह्र (गां) चमसेन; चमन्ति अदन्ति शत्रुबलानि याभिः ताः चम्वः - ऋ० द०]

यो अप्सु चन्द्रमा इव सोमश्चमूषु ददृशे ।

पिबेदस्य त्वमीशिषे ।।८।।

पदार्थः– (यः) जो (सोमः) पदार्थबोध (अप्सु) अन्तरिक्ष में (चन्द्रमा इव) चन्द्र की भांति(चमूषु) कर्मेन्द्रियों में—साधक की कर्मशक्तियों में—चमकता (ददृशे) दिखाई पड़ता है उसको तू (पिबेत्) आत्मसात् करले; (अस्य त्वं ईशिषे) इस पर तेरा अधिकार है ।।८।।

भावार्थः—जिस प्रकार अन्तरिक्ष में विचरता चन्द्र सबको आह्लाद देता दिखाई देता है, वैसे ही साधक अपने कर्मों के द्वारा सबका आह्लादक बनता है ।।८।।

यं ते श्येनः पदाभरत्तिरो रजांस्यस्पृतम् ।

पिबेदस्य त्वमीशिषे ।।९।।

पदार्थः—(यं) जिस (अस्पृतं) अजेय पदार्थ-बोध को (ते) तुझ साधक के लिये (श्येनः) विद्वान् [श्यायति विज्ञापयतीति श्येनो विद्वान्-यजुः २१-३५–ऋ०द०] (पदा) ज्ञान के प्रकाश की किरण द्वारा [पदः–The ray of light. आप्टे](रजांसि) अज्ञानान्धकार को (तिरः) पार करके (अभरत्) ला देता है (अस्य) उसका तू स्वामी है; (पिब इत्) निश्चय ही उसका उपभोग कर ।।

भावार्थः –विद्वान् पुरुष साधक को ज्ञान का वह प्रकाश लाकर देता है कि जो अजेय सिद्ध होता है; साधक को चाहिये कि वह बड़े ध्यान से उसको ग्रहण करे ।।९।।

अष्टम मण्डल में यह बियासीवां सूक्त समाप्त हुआ ।।

अथ नवर्चस्य त्र्यशीतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१–९ कुसीदी काण्वः ॥ देवताः—विश्वेदेवाः । छन्दः—१, २, ५, ६, ९ गायत्री । ३ निचृद्गायत्री । ४ पादनिचृद् गायत्री । ७ आर्चीस्वराड्गायत्री । ८ विराड्गायत्री । स्वरः—षड्जः ॥

देवानामिदवो महत्तदा वृणीमहे वयम् । वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥१॥

पदार्थः—(वयं) हम (अस्मभ्यं ऊतये) अपने लिये संरक्षण, साहाय्य आदि के प्रयोजन से(वृष्णां) सुख आदि बरसाने वाले (देवानां) मूर्त एवं अमूर्त, जड़ एवं चेतन दिव्यगुणी पदार्थों का (इत्) ही (महत्) महत्त्वपूर्ण जो(अवः) संरक्षण, साहाय्य आदि है (तत्) उसको (आ, वृणीमहे) स्वीकार करें ॥१॥

भावार्थः—प्रभु की सृष्टि में अनेक जड़, चेतन, मूर्त, अमूर्त दिव्यगुणी पदार्थ विद्यमान हैं; वे हमें सुख देते हैं, बशर्ते कि हम सावधान होकर उनकी देन को स्वीकार करें ॥१॥

ते नः सन्तु युजः सदा वरुणो मित्रो अर्यमा ।

वृधासश्च प्रचेतसः ॥२॥

पदार्थः—(वरुणः) जल, वायु, चन्द्र, उत्तम विद्वान्, नियन्ता परमेश्वर आदि सब वरुण; (मित्रः) न्यायकारी होते हुए भी स्नेहशील परम प्रभु और सूर्य, (अर्यमा) विद्युत्, न्यायाधीश, कर्म के अनुसार फल देकर जीव की गतिविधि का नियमनकारी प्रभु आदि देव (वृधासः) बढ़ाने वाले (च) और (प्रचेतसः) प्रकृष्ट रूप से [अपने गुणों द्वारा] चेताने वाले हैं; (ते) वे (सदा) सभी समय सब स्थानों पर (नः) हमारे (युजः) सहायक (सन्तु) बने रहें ॥२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में प्रथम मन्त्रोक्त देवताओं में से कुछ के नाम और गुण गिनाकर यह संकल्प दुहराया गया है कि उपासक इन गुणों को अपने सदा के साथी बनायें ॥२॥

अति नो विष्पिता पुरु नौभिरपो न पर्षथ ।

यूयमृतस्य रथ्यः ॥३॥

पदार्थः—हे (ऋतस्य) यथार्थ ज्ञान, कर्म, विचार आदि के (रथ्यः) नेताओ ! [यो रथं वहति सः रथ्यः—ऋ० २-३१-७ ऋ० द०] (यूयं) आप सब (नौभिः अपः) जैसे नौकाओं से जलप्रवाहों—नदी, तड़ाग, समुद्र आदि को जीतते अथवा पार करते हैं वैसे ही, (नः) हमें (पुरु) बहुत से (विष्पिता=विष्पितानि) इधर से उधर तक फैले हुए (अपः) कर्मों के (पर्षथः) पार उतारते हो ॥३॥

भावार्थः—प्राणी संसार में आकर विविध कर्म करता है; इस कर्म-जाल में घिरा मनुष्य दिव्य पदार्थों की सहायता से ही पार उतर पाता है—जैसे नौका की सहायता से नदी आदि जल-प्रवाह सुगमता से पार किये जाते हैं। अतः साधकों को प्रभु के दिये दिव्य पदार्थों की सहायता लेनी चाहिये ॥३॥

वामं नो अस्त्वर्यमन्वामं वरुण शंस्यम् ।
वामं ह्यावृणीमहे ॥४॥

पदार्थः—हे (अर्यमन्) न्यायकारी प्रभो ! (वामं) सेवन करने योग्य ऐश्वर्य (नः अस्तु) हमारा हो; हे (वरुण) श्रेष्ठ ! (शस्यं) प्रशंसनीय ऐश्वर्य (नः) हमारा हो; कारण कि हम (हि) निश्चय ही (वामं) सेवन करने योग्य और प्रशंसनीय ऐश्वर्य की ही आप से मांग करते हैं ॥४॥

भावार्थः—सभी दिव्य गुणी विद्वानों से श्रेष्ठ, प्रशंसनीय, अतएव सेवन करने योग्य ऐश्वर्य के प्रबोध की प्रार्थना करनी चाहिये ॥४॥

वामस्य हि प्रचेतस ईशानासो रिशादसः ।
नेमादित्या अघस्य यत् ॥५॥

पदार्थः—हे (प्रचेतसः) प्रकृष्ट ज्ञान से युक्त, (रिशादसः) हिंसक भावनाओं, प्रवृत्तियों तथा अन्यों को नष्ट कर देने वाले (आदित्याः) अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहकर सुशिक्षा प्राप्त विद्वानो ! आप (वामस्य) प्रशस्त ज्ञानधन के (ईशानासः) स्वामी हैं; (यत्) जो ऐश्वर्य (अघस्य) पाप का है (ईम्) उसको (न) आप प्राप्त नहीं करते, न प्राप्त कराते हैं ॥५॥

भावार्थः—आदित्य ब्रह्मचारी लोगों को जो प्रबोध देते हैं वह प्रशंसनीय और सेवन करने योग्य ही होते हैं; कारण कि पाप करने वाले ज्ञान को वे अपनाते ही नहीं हैं ॥५॥

वयमिद्वः सुदानवः क्षियन्तो यान्तो अध्वन्ना ।
देवा वृधाय हूमहे ॥६॥

पदार्थः—हे (सुदानवः) सुष्ठु दानकर्ता (देवाः) दिव्य जन (वयं) हम उपासक (क्षियन्तः) सनातन नियमों का प्रतिपालन करते हुए, (वः) आपके सुझाये गये (अध्वन्) मार्ग पर (यान्तः) चलते हुए (इत्) भी (वृधाय) और अधिक उन्नति के लिये आप को (आ, हूमहे) पुकार रहे हैं ॥६॥

भावार्थः—भगवान् की सृष्टि में विद्यमान दिव्य गुणी जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त देवताओं की सहायता की अपेक्षा उन साधकों को भी है जो सृष्टि-कर्ता के नियमों के पाबन्द हैं और अपने आप को ठीक मार्ग पर चलता हुआ समझते हैं। उपासक कितना सावधान क्यों न हो, उसे दिव्य गुणियों का सत्संग नहीं छोड़ना चाहिये ॥६॥

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् ।

इता मरुतो अश्विना ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य के प्रदाता विद्वन् ! हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर ! हे (मरुतः) मनुष्यो ! हे (अश्विना) अध्यापक-उपदेशक जनो ! आप (नः) हम उपासकों को भी (एषां) इन्हीं के (सजात्यानां) सजातीय (अधि इत) समझें ॥७॥

भावार्थः—समान समानों के संग ही रहते हैं—यह एक सर्वविदित सनातन नियम है। उपासक को चाहिये कि वह अपने आदर्श विद्वानों की संगति में रहे ॥७॥

प्र भ्रातृत्वं सुदानवोऽध द्विता समान्या ।

मातुर्गर्भे भरामहे ॥८॥

पदार्थः—हे (सुदानवः) सुष्ठुदाता दिव्यजनो ! (भ्रातृत्वं) भाईपना अर्थात् हिस्सा बँटाने और परस्पर पालक होने का गुण (अधा) और साथ ही (समान्या) आदरयुक्त (द्विता) द्वित्वस्वरूप—ये दोनों गुण हम (मातुः) प्रकृति के (गर्भे) आन्तरिक भाग में ही (प्र भरामहे) धारण कर लेते हैं ॥८॥

भावार्थः—सभी दिव्यगुणियों का परस्पर भ्रातृत्व तो है ही पर उनमें द्वित्व भी है जिसका वे परस्पर मान करते हैं; गुणों की भिन्नता के कारण उनमें परस्पर द्वेषभावना नहीं है; अपितु उनकी 'द्विता' होते हुए भी उनमें भ्रातृत्व है; वे एक-दूसरे के पालक हैं आपस में सौहार्द हैं। इस भ्रातृत्व का कारण यह है कि सभी एक माता प्रकृति की सन्तान हैं, उस ही के गर्भ में रहते रहे हैं ॥८॥

यूयं हि ष्ठा सुदानव इन्द्रज्येष्ठा अभिद्यवः ।

अधा चिद्व उत ब्रुवे ॥९॥

पदार्थः—हे (सुदानवः) शोभनदानदाता दिव्यगुणियो ! आप सब (इन्द्रज्येष्ठाः) परमेश्वर-प्रमुख हैं, (अभिद्यवः) दीप्तिमान् और ज्ञानवान् हैं; (अध चित्) यह समझ लेने के पश्चात् मैं उपासक (वः) आपकी (उप ब्रुवे) स्तुति करता हूं; (उत) और फिर स्तुति करता हूं ॥९॥

भावार्थः—सभी देवताओं में प्रमुख देव, महादेव, परमेश्वर हैं । वे जहां बाह्य स्वरूप से प्रकाशमान हैं—वहां वे स्वयं ज्ञानी हैं अथवा ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं अतएव ज्ञान की ज्योति से भी दीप्तिमान् हैं ॥९॥

अष्टम मण्डल में यह तिरासीवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ नवर्चस्य चतुरशीतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१–९ उशना काव्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—१ पादनिचृद्गायत्री । २ विराड्गायत्री । ३, ६ निचृद्गायत्री । ४, ५, ७—९ गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रेष्ठं॑ वो॒ अति॑थिं स्तु॒षे मि॒त्रमि॑व प्रि॒यम् ।
अ॒ग्निं रथं॒ न वेद्य॑म् ॥१॥

पदार्थः—हे मेरे साथी उपासको ! मैं (वः) तुम्हारे और मेरे (मित्रं इव प्रियं) मित्र निःस्वार्थ स्नेही के समान प्यारे, (अतिथिं) समय निश्चित करके प्राप्त न होनेवाले, इसीलिये (प्रेष्ठं) सर्वाधिक प्रिय (रथं न) 'रथ' के समान सब पदार्थों के (वेद्यम्) पहुँचानेवाले तथा उनका ज्ञान करानेवाले (अग्निं) ज्ञानस्वरूप प्रभु के (स्तुषे) गुणों का गान करता हूं ॥१॥

भावार्थः—परमप्रभु अन्तःकरण में प्रकट होते हैं—वे मेरे अतिथि हैं, उनके प्रादुर्भूत होने का समय निश्चित नहीं है, मेरा शरीर मेरा 'रथ' है और 'प्राण' मेरा मित्र है ये मुझे प्रिय हैं; परन्तु परमात्मा इन सबसे अधिक प्यारे हैं । मैं उनका गुणगान करता हूं ॥१॥

क॒विमि॑व॒ प्रचे॑तसं॒ यं दे॒वासो॒ अध॑ द्वि॒ता । नि मर्त्ये॑ष्वाद॒धुः ॥२॥

पदार्थः—(यं) जिस ज्ञान द्वारा अज्ञान निवर्तन करने एवं नेतृत्व गुणविशिष्ट शक्ति को, जो (कविं इव) क्रान्तद्रष्टा एवं क्रान्तकर्मा ऋषि की भान्ति (प्रचेतसं) प्रकृष्टचेता है, (देवासः) विद्वानों ने (मर्त्येषु) मरणधर्मा मनुष्यों में (द्विता) दो प्रकार से—ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय रूप से (नि, आदधुः) स्थापित [निश्चित] किया है—उस द्विरूपा शक्ति के मैं गुणगान करता हूं ॥२॥

भावार्थः—'अग्नि' शक्ति का प्रतीक देव है; मनुष्यों में इसके रूप दो हैं—ज्ञानस्वरूप और कर्मकर्तृत्व रूप । ये ही ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियाँ हैं । प्रत्येक मनुष्य अपनी इन्द्रियों में दिव्यता का आधान करे ॥२॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः ।

रक्षा तोकमुत त्मना ॥३॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ) अधिकतम युवा, ज्ञान एवं नेतृत्व शक्ति की अधिकता से सम्पन्न परमेश्वर ! आप (दाशुषः) दानशील, आत्म समर्पक (नॄन्) मनुष्यों की (पाहि) रक्षा करते हैं और उसके (गिरः) स्तुति वचनों को (शृणुधि) सुनते हैं; (तोकम् उत) हमारी सन्तति की भी (त्मना) स्वयं अपने आप (रक्षा) रक्षा कीजिये ॥३॥

भावार्थः—मानव में निहित ज्ञान एवं कर्तृत्वशक्ति का प्रतीक 'अग्नि' वह शक्ति है जो अपने आप ही हमारी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा हमारी सन्तति तक की रक्षा—देखभाल—करती है । उपासक को अपनी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की इस प्रकार देखभाल करनी चाहिये कि इनकी शक्ति सदा प्रभावशाली बनी रहे ॥३॥

कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम् ।

वराय देव मन्यवे ॥४॥

पदार्थः—हे (ऊर्जो न पात्) ओजस्विता को कम न होने देनेवाले ! (अङ्गिरः) अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त, अङ्गों को रस प्रदान करने वाले ! (देव) देव ! (कया) सुखमयी वाणी से (ते) तेरी (उपस्तुतिं) समीप रहकर स्तुति को हम (वराय) श्रेष्ठ (मन्यवे) क्रोध अथवा तेजस्विता के लिये करते हैं ॥४॥

भावार्थः—मानव को सम्यक् जीवननिर्वाह के लिये तेजस्विता की भी आवश्यकता है । इसीलिये अन्यत्र भी 'मन्युरसि मन्युं मे देहि'—मन्यु की प्रार्थना है । 'मन्यु' का अर्थ वह 'तेजस्विता' है जो मनुष्य को निरा ठंढा' निस्तेज नहीं बना देती । 'अग्नि' इस शक्ति का भी प्रतीक देव है ॥४॥

दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो ।

कदु वोच इदं नमः ॥५॥

पदार्थः—हे (सहसः) विजयी बल के (यहो) पुत्र ! बल को क्षीण न होने

देने वाले ! अग्निदेव ! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य (यज्ञस्य) सत्संग करने योग्य (कस्य) किस देव के सन्मुख (मनसा) हृदय से (दाशेम) आत्म-समर्पण करें ? और (कद् उ) कहाँ अर्थात् किसको लक्ष्य करके (इदं) यह (नमः) नमस्कार (वोचे) कहूँ ? ॥५॥

भावार्थः—ज्ञान एवं कर्मशक्ति का प्रतीक अग्निदेव ही विद्वान् आदि के रूप में वह संगति करने योग्य देव है कि जिसकी सेवा करके, जिसका सत्संग करके साधक अपनी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को बलिष्ठ बना सकता है ॥५॥

अधा त्वं हि नस्करो विश्वा अस्मभ्यं सुक्षितीः ।
वाजंद्रविणसो गिरः ॥६॥

पदार्थः—(अधा) अनन्तर (त्वं हि) निश्चय ही आप विद्वान् (अस्मभ्यं) हमारे लिये (विश्वाः) सबकी सब वे (गिरः) वाणियां अर्थात् उपदेश [सत्य-प्रिया सुशिक्षिता सत्यगुणाढ्या वा वाक्=गीः—ऋ० द० ऋग्वेद भाष्य १-१७३-१२] (करः) कीजिये कि जो (सुक्षितीः) हमें सुखदायी बसने के साधन दे अथवा मनुष्य दे और जो (वाजद्रविणस.) ज्ञान, वेग तथा अन्य सुखप्रापक व्यवहार रूप समृद्धि तथा धन का स्रोत सिद्ध हो ।

भावार्थः—विद्वान् साधकों को ऐसे उपदेश दें कि जिनके अनुसार जीवनयज्ञ करनेवाले उपासक को अपने बसने के सभी साधन उपलब्ध हों; पुत्रपौत्रादि प्रजा प्राप्त हो और विज्ञान आदि ऐश्वर्य भी प्राप्त हो ॥६॥

कस्यं नूनं परीणसो धियों जिन्वसि दम्पते ।
गोषाता यस्यं ते गिरः ॥७॥

पदार्थः—हे (दम्पते) अपनी आश्रयभूत स्थिति को बनाये रखने वाले ज्ञान एवं कर्मशक्ति के प्रतीक अग्निदेव ! आप (नूनं) निश्चय ही (कस्य) किस साधक की (परीणसः) बहुत से कर्मों और चिन्तन शक्तियों को (जिन्वसि) परिपूर्ण करते हैं ? उत्तरः—(यस्य) जिस साधक की की हुई (ते) आपकी (गिरः) स्तुतियां, गुण कीर्तन—(गोषाता:) ज्ञान के प्रकाश से सेवित हों ॥७॥

भावार्थः—जो उपासक अग्नि=परमेश्वर, विद्वान् आदि के गुणों को पूर्णतया जानता हुआ उनके ज्ञान के पूर्ण प्रकाश में उनका कीर्तन करता है, निश्चय ही, उसके कर्म और उसके चिन्तन दैवी ज्ञान एवं कर्म की शक्तियों से भरपूर होते हैं। इस मंत्र में 'दम्पती' पद से यह भी दर्शाया गया है कि परमेश्वर विद्वान् आदि देव अपनी विश्रामदायिनी स्थिति (दम्) से कभी विस्थापित नहीं होते ॥७॥

तं मर्जयन्त सुक्रतुं पुरोयावानमाजिषु ।

स्वेषु क्षयेषु वाजिनम् ।।८।।

पदार्थः—(सुक्रतुं) उत्तम कर्म एवं ज्ञानवाले (आजिषु) संघर्ष के स्थल व समय पर अथवा प्रतिद्वन्द्विताओं में (पुरोयाविनं) आगे-आगे (यावानं) चलनेवाले (तं) उस ज्ञान एवं कर्म शक्ति के प्रतीक अग्नि को उपासकजन (स्वेषु) अपने-अपने (क्षयेषु) गृह रूप हृदयों में (मर्जयन्त) अलंकृत करते हैं ।।८।।

भावार्थः—ज्ञान और कर्म की शक्तियों के प्रतीक अग्नि' को उपासकजन अपने-अपने हृदय में धारण करते और अलंकृत करते हैं। यह 'अग्नि' ज्ञान एवं कर्मस्वरूप परमेश्वर है जो दिव्य आनन्द का स्रोत है; राजा या सेनापति है जिसकी उपासना लौकिक समृद्धि का कारण बनती है; विद्वान् शिक्षक भी है जो विभिन्न प्रकार की शिल्प क्रिया आदि का ज्ञान देकर उपासक के लिये व्यावहारिक समृद्धि का प्रदाता बनता है ।।८।।

क्षेति क्षेमेभिः साधुभिर्नकिर्यं घ्नन्ति हन्ति यः ।

अग्ने सुवीर एधते ।।९।।

पदार्थः—जो उपासक (साधुभिः) लक्ष्यसाधक श्रेष्ठ (क्षेमैः) अर्जित कल्याणों के साथ (क्षेति) निवास करता है—उनको बनाये रखता हुआ [अन्तिम समय की प्रतीक्षा करता है]; (यं) जिसको (न किः घ्नन्ति) कोई भी शत्रुभूत भावना हानि नहीं पहुँचा सकती अपितु (यः) जो स्वयं दुर्भावनाओं को (हन्ति) अपने से दूर रखता है; हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! वह (सुवीरः) सुष्ठु वीर्यवान् पुरुष (एधते) धनधान्य, पुत्र-पुत्रादि द्वारा समृद्ध होता है ।।९।।

भावार्थः—इस मन्त्र में दर्शाया गया है कि उपासक अन्त में ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है जब कि वह बहुत सी कल्याणकारी समृद्धि अर्जित कर लेता है; उस अवस्था में उसे चाहिये कि वह अर्जित को बनाए रखे—यदि उसका यह 'क्षेम' बना रहेगा तो फिर उससे दुर्भावनाएं दूर रहेंगी और वह सब प्रकार से उन्नति करता चला जायेगा : क्षेम शब्द के अर्थ के लिये गीता का यह श्लोक स्मरण रखना चाहिये—

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' ।।९।।

अष्टम मण्डल में यह चौरासीवां सूक्त समाप्त हुआ ।।

अथ नवर्चस्य पञ्चाशीतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः १—९ कृष्णः ॥ देवते—अश्विनौ ॥ छन्दः—१, ९ विराड्गायत्री । २, ५, ७ निचृद्गायत्री । ३, ४, ६, ८ गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आ मे हवं नासत्याश्विना गच्छतं युवम् ।
मध्वः सोमस्य पीतये ॥१॥

पदार्थः—(नासत्या) कभी असत्य सिद्ध न होनेवाले, कभी अपने कर्त्तव्य से न चूकने वाले (युवम्) दोनों (अश्विनौ) शक्तिसम्पन्न प्राण और अपान (मध्वः) माधुर्य आदि गुणयुक्त (सोमस्य) वीर्य शक्ति को मुझ उपासक के (पीतये) [शरीर में] खपाने के लिये (मे) मेरे (हवं) दान-आदान पूर्वक किये जा रहे जीवनयापन रूप यज्ञ में (आ गच्छतम्) आकर सम्मिलित हों ॥१॥

[सोमं यजति रेत एव तद् दधाति—तै० सं० २-६-१०-३]

भावार्थः—अश्वी देवताओं के वैद्य कहे गये हैं। उपासक का जीवन-यापन एक प्रकार का यज्ञ ही है; इस प्रक्रिया में वह अनेक प्रकार से दान भी करता है और ग्रहण भी करता है। शरीर, मन आदि जीवनयापन के साधन अपने कार्य से कभी चूकें नहीं, अस्वस्थ न हों, इसके लिये प्राण और अपान को अचूक बनाना आवश्यक है और इसके लिये आवश्यक है कि वीर्य-शक्ति सदा इन साधनों में ही खपती रहे। 'प्राण' आदान तथा 'अपान' दान अथवा विसर्जन क्रिया का प्रतीक है ॥१॥

इमं मे स्तोममश्विनेमं मे शृणुतं हवम् ।
मध्वः सोमस्य पीतये ॥२॥

पदार्थः—[साधक आचार्य गुरु शिष्यरूप अश्वियों से कहता है] हे (अश्विनौ) अध्यापक एवं अध्येता युगल ! (मध्वः) माधुर्य आदि गुणयुक्त (सोमस्य) ऐश्वर्य-कारक शास्त्रबोध [स्वा० द० ऋ० १-१०१-९] का पान करने के लिये (इमं मे) इस मेरे द्वारा किये जा रहे (स्तोमं) पदार्थों के गुणों की व्याख्यासमूहरूप (हवम्) उपदेश को (शृणुतम्) सुनो ॥२॥

भावार्थः—गुरु और शिष्य भी अपने से अधिक विद्वान् आचार्य के मुख से प्रभुसृष्टि के नाना पदार्थों के गुण सुनकर, उन्हें आत्मसात् करें ॥२॥

अयं वां कृष्णो अश्विना हवते वाजिनीवसू ।
मध्वः सोमस्य पीतये ॥३॥

पदार्थः—(अयं) यह (कृष्णः) [दुर्भावना आदि शत्रुओं के] उखाड़ने में व्यस्त उपासक, (मध्वः) मधुर आदि गुणयुक्त (सोमस्य) [शारीरिक एवं आत्मिक] बल को (पीतये) प्राप्त कराने के लिये (वाजिनीवसू) बल एवं वेगवती क्रियाशक्ति के आश्रयभूत (वां) तुम दोनों (अश्विनौ) प्राण तथा अपान को (हवते) बुलाता है ॥३॥

भावार्थः—जो उपासक अपने मन की दुर्भावनाओं को उखाड़ फेंकना और परिणामस्वरूप शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक बल का निष्पादन करना चाहे वह प्राण और अपान को साधे; अपने नियन्त्रण में करे। प्राण और अपान शरीर को बल एवं स्फूर्ति प्रदान करते हैं ॥३॥

शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा।

मध्वः सोमस्य पीतये ॥४॥

पदार्थः—(नरा) सुशिक्षित स्त्री-पुरुष (मध्वः) माधुर्य आदि गुणयुक्त (सोमस्य) सुखप्रापक शास्त्रबोध का (पीतये) पान करने, उसको प्राप्त करने के लिये (जरितुः) विद्यागुणप्रकाशक [जरित्रे=विद्यागुणप्रकाशकाय—स्वा० द० ऋ० ६-३५-४] (स्तुवतः) गुणवर्णन करते हुए (कृष्णस्य) संशयों का उच्छेदन करनेवाले विद्वान् के (हवम्) वचन को (शृणुतं) सुनें ॥४॥

भावार्थः—जिस उपदेष्टा का नैत्यिक कार्य ही संशय दूर करना है—उसके वचनों को सुनकर स्त्री-पुरुष सुगमता से पदार्थों के गुणों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; अतएव यह प्रयत्न करना आवश्यक है ॥४॥

छर्दिर्यन्तमदाभ्यं विप्राय स्तुवते नरा।

मध्वः सोमस्य पीतये ॥५॥

पदार्थः—(नरा) सुशिक्षित स्त्री-पुरुष (मध्वः सोमस्य पीतये) माधुर्य आदि गुणयुक्त (सोमस्य) शास्त्रबोध की प्राप्ति के लिये अथवा प्रभु द्वारा सृष्ट सुखदायक पदार्थों को भलीभांति समझने के लिये, (स्तुवते) गुण वर्णन करते (विप्राय) बुद्धिमान् विद्वान् के लिये (अदाभ्यं) अहिंसनीय (छर्दिः) आश्रय (यन्त) बनें ॥५॥

भावार्थः—जो सुशिक्षित स्त्री-पुरुष पदार्थों के गुणावगुण को भलीभांति जानना चाहते हैं उन्हें बुद्धिमान् विद्वानों को आश्रय देकर, उनकी सब प्रकार से रक्षा करते हुए, उनसे यह बोध प्राप्त करना चाहिये ॥५॥

गच्छतं दाशुषो गृहमित्था स्तुवतो अश्विना।

मध्वः सोमस्य पीतये ॥६॥

पदार्थः—(अश्विना) उपदेष्टा एवं अध्यापक इन दो वर्गों के बलशाली विद्वान् (मध्वः) माधुर्य आदि गुणयुक्त (सोमस्य) सुखवर्धक पदार्थबोध को (पीतये) देने के लिये (इत्था स्तुवतः) इस प्रकार भलीभांति प्रशंसा करते हुए (दाशुषः) दानशील आत्मसमर्पक उपासक के (गृहं) घर पर (आ, गच्छतम्) आ पहुँचते हैं ॥६॥

भावार्थः—अध्यापकों एवं उपदेष्टाओं के प्रशंसक उपासकों को विविध पदार्थों के गुणों का ज्ञान प्रदान करने के लिये तो अध्यापक व उपदेशक जन स्वयमेव उनके घरों पर पहुँच कर ज्ञान प्रदान करते हैं ॥६॥

युञ्जाथां रासभं रथे वीड्वङ्गे वृषण्वसू ।
मध्वः सोमस्य पीतये ॥७॥

पदार्थः—(वृषण्वसू) बलिष्ठ देहादि को बसानेवाले प्राण और अपान (मध्वः सोमस्य पीतये) माधुर्य आदि गुणसंयुक्त वीर्य शक्ति को खपाने के लिये (वीड्वङ्गे) दृढ़ अवयवों वाले (रथे) जीवनयात्रा के वाहनरूप शरीर में (रासभं) शब्दायमान, स्तोतारूप अश्व को (युञ्जाथाम्) जोड़ते हैं ॥७॥

भावार्थः—प्रभु के गुणकीर्तन द्वारा उपासक का आत्मिक बल बढ़ता है और यह गुणकीर्तन प्राण एवं अपान के नियन्त्रण द्वारा ही सुगम होता है ॥७॥

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेना यातमश्विना ।
मध्वः सोमस्य पीतये ॥८॥

पदार्थः—(अश्विना) बलदायक प्राण और अपान (मध्वः सोमस्य पीतये) माधुर्य आदि गुण संयुक्त वीर्यशक्ति को विलीन करने के लिये (त्रिबन्धुरेण) तीन प्रकार के बन्धनोंवाले—वात, पित्त तथा कफ—इन तीन प्रकृतिवाले पदार्थों से बंधे हुए, (त्रिवृता) सत्व, रज एवं तमस्—इन तत्त्वों के साथ वर्तमान (रथेन) रमणीय यान सदृश शरीर द्वारा (आयातं) प्राप्त हों ॥८॥

भावार्थः—प्राण एवं अपान की गति को नियंत्रित करके वीर्यशक्ति को शरीर में खपाने के लिये शरीररचना का ज्ञान आवश्यक है। यथा–यह शरीर वात, पित्त और कफ प्रकृति इन तीन प्रकार के पदार्थों के आधार पर स्थित है और सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुणी तत्त्व इसमें सदा वर्तमान रहते हैं—इत्यादि। इस शरीर की रचना को भलीभांति जाननेवाला उपासक ही अपने प्राण एवं अपान तत्त्वों को नियंत्रित कर सकता है ॥८॥

नू मे गिरो नासत्याश्विना प्रावतं युवम् ।
मध्वः सोमस्य पीतये ॥९॥

पदार्थः—(मध्वः) माधुर्य आदि गुणसंयुक्त (सोमस्य) सोतव्य दिव्य आनन्द का (पीतये) उपभोग कराने के लिये (नासत्या) अपने कृत्य का सदा सम्पादन करने वाले (अश्विना) अश्व के समान वेग एवं बल गुणयुक्त प्राण तथा अपान (युवम्) दोनों (मे) मेरी (गिरः) वाणियों को (अवतम्) बनाये रखें ॥९॥

भावार्थः—यदि प्राण और अपान के द्वारा गुणकीर्तन करनेवाले उपासक की वाणी बलवान् बनी रहेगी तो वह निरन्तर प्रभु का गुणकीर्तन करता रहेगा और इस प्रकार दिव्य आनन्द का भोक्ता बन सकेगा ॥९॥

अष्टम मण्डल में यह पिच्चासीवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य षडशीतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—५ कृष्णो विश्वको वा कार्ष्णिः ॥ देवते—अश्विनौ ॥ छन्दः—१, ३ विराड्जगती । २, ४, ५ निचृज्जगती ॥ स्वरः निषादः ॥

उभा हि दस्रा भिषजा मयोभुवोभा दक्षस्य वचसो बभूवथुः ।
ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम् ॥१॥

पदार्थः—हे (दस्रा) रोग आदि विघ्ननाशक, (भिषजा) रोगादि से डरे हुओं की रक्षा करने वाले, (मयोभुवा) सुखकारक (उभा) दोनों, प्राण एवं अपान नामक दिव्य गुणियो ! (हि) निश्चय ही तुम (दक्षस्य) समाहितचित्त अथवा एकाग्र, दृढ़ चेता के (वचसः=वचसि) कहने में (बभूवथुः) रहते हो; (तां वां) उन तुम दोनों की, (विश्वकः) सब पर अनुकम्पा करनेवाला विद्वान् भिषक् (तनू कृथे) देह की रक्षा के निमित्त, (हवते) स्तुति करता है—तुम्हारे गुणों का वर्णन करता हुआ उनका अध्ययन करता है। (नः मा वियौष्टं) तुम दोनों हमसे वियुक्त मत होवो; (सख्या) अपनी मित्रता से हमें (मा मुमोचतम्) मुक्त मत करो ॥१॥

भावार्थः—शरीर को स्वस्थ रखने के लिये मनुष्य के प्राण और अपान ही उसके और उसकी इन्द्रियों (देवों) के वैद्य हैं; ध्यान से उनकी गति की जांच करते रहना चाहिये; मनुष्य ऐसा यत्न करे कि वे सदा उसके मित्र, उपकारी बने रहें। प्राण और अपान शरीर में ग्रहण (आदान) और विसर्जन की क्रियायें हैं; ये जब तक शरीर की मित्र हैं, शरीर स्वस्थ बना रहता है ॥१॥

कथा नूनं वां विमना उप स्तवद्युवं धियं ददथुर्वस्य इष्टये ।
ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम् ॥२॥

पदार्थः—(नूनं) निश्चय ही (वां) दोनों, प्राण और अपान की, (विमनाः) चेतनारहित, अनेकाग्र, असमाहितचित्त, व्यक्ति (कथा) किस प्रकार (उप स्तवत्) स्तुति, गुणकीर्तन कर सकता है ? (युवं) तुम दोनों (वस्यः इष्टये) अतिशय मात्रा में ऐश्वर्य का संगम कराने के लिये (धियं) ध्यान की शक्ति को (ददथुः) प्रदान करते हो । शेष पूर्ववत् ॥२॥

भावार्थः—प्राण तथा अपान की गति को नियन्त्रित करके एकाग्र होने की शक्ति प्राप्त होती है और एकाग्रता के बिना कोई भी व्यक्ति अपनी इन दोनों क्रियाओं पर नियंत्रण नहीं रख सकता; फिर इन पर नियंत्रण रखे विना स्वास्थ्य भी नहीं प्राप्त होता ॥२॥

युवं हि ष्मा पुरुभुजेममेधतुं विष्णाप्वे ददथुर्वस्य इष्टये ।
ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम् ॥३॥

पदार्थः—(युवं हि) निश्चय तुम दोनों [प्राण एवं अपान] (वस्यः इष्टये) अतिशयमात्रा में ऐश्वर्य का संगम कराने के लिये (विष्णाप्वे) विद्यापारंगत विद्वानों को प्राप्त बोध में (एधतुं) समृद्धि को (ददथुः) धारण कराते हो । शेष पूर्ववत् ॥३॥

[विष्णाप्वम्=विष्णान् विद्याव्यापिनो विदुष आप्नोति बोधस्तम्; ऋ० द० ऋग्० १-१६०-२३ । एधतु=Prosperity समृद्धिः आप्टे ।]

भावार्थः—विद्वानों से प्रबोध प्राप्त करके तथा उसके अनुसार आचरण करके उपासक प्राण-अपान की क्रियाओं को अपने नियंत्रण में ला सकता है ॥३॥

उत त्यं वीरं धनसामृजीषिणं दूरे चित्सन्तमवसे हवामहे ।
यस्य स्वादिष्ठा सुमतिः पितुर्यथा मा नो वि यौष्टं सख्या मुमोचतम् ॥४॥

पदार्थः—(उत) और (त्यं) उस प्रसिद्ध (धनसां) मूल्यवान् पदार्थों को दिलाने वाले, (ऋजीषिणं) शोधक [ऋ० द० ऋ० ३-३२-१] (वीरं) पुत्रभूत प्राण को [प्राणा वै दशवीराः—श० ६-४-२-१०] (दूरे चित् सन्तं) दूर पर ही विद्यमान को (अवसे) अपनी देखभाल व सहायता के लिये (हवामहे) बुलावें । (यस्य) जिसकी (सुमतिः) शुभमन्त्रणा (स्वादिष्ठा) अतिप्रिय है—वैसी ही जैसी कि (पितुः) परमपिता परमात्मा की सुप्रेरणा । शेष पूर्ववत् ॥४॥

भावार्थः—परमपिता परमात्मा द्वारा रचित हमारे दसों प्राण यदि हमारे समीप रहेंगे हमारी पहुँच में रहेंगे तो उनसे प्राप्त प्यारी-प्यारी प्रेरणायें हमें कभी कुपथ पर नहीं जाने देंगी ॥४॥

ऋतेन॑ दे॒वः स॑वि॒ता श॑माय॒त ऋ॒तस्य॒ शृङ्ग॑मुर्वि॒या वि प॑प्रथे ।
ऋ॒तं सा॑साह॒ महि॑ चित्पृतन्य॒तो मा नो॒ वि यौ॑ष्टं स॒ख्या मु॒मोच॑तम् ॥५॥

पदार्थः—(देवः सविता) ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान, तेजस्वी (सविता) सर्वप्रेरक प्रभु (ऋतेन) अपने यथार्थ नियमसमूह के द्वारा (शमायते) सबका कल्याण करवाता है; वही (ऋतस्य) यथार्थज्ञान के (शृङ्गम्) शिर के उपरिभाग शृङ्ग के समान मुख्य, आश्रयभूत अंश को (उर्विया) बहुत (वि पप्रथे) विविध रूप में विस्तृत करता है। परम प्रभु का (ऋतं) यथार्थ सत्य नियम ही (महि चित्) बड़े-बड़े भी (पृतन्यतः) समूह बनाकर हानि पहुँचाने वालों को (सासाह) पराजित कर देता है। शेष पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थः—प्राण-अपान आदि क्रियायें परमप्रभु के सत्य नियम में बँधी हुई काम करती हैं। यह जानकर उपासक को उन सत्य नियमों की जानकारी प्राप्त कर सब क्रियाओं की आधारभूत प्राणशक्ति पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहिये ॥५॥

इस सूक्त में इन्द्रियों को बलवान् बनाये रखने वाली प्राण-अपान आदि प्राणों की शक्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करने का संकेत है। प्राण-शक्ति द्वारा ही शरीर स्वस्थ रह सकता है ॥

अष्टम मण्डल में यह छियासीवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्चस्य सप्ताशीतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१–६ कृष्णो द्युम्नीको वा वासिष्ठः प्रियमेधो वा ॥ देवते—अश्विनौ ॥ छन्दः—१, ३ बृहती । ५निचृद्बृहती । २, ४, ६ निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५ मध्यमः । २, ४, ६ पञ्चमः ॥

द्यु॒म्नी वां॒ स्तोमो॑ अश्विना॒ क्रिवि॒र्न सेक॒ आ ग॑तम् ।
मध्वः॑ सु॒तस्य॒ स दि॒वि प्रि॒यो न॑रा पा॒तं गौ॒रावि॒वेरि॑णे ॥१॥

पदार्थः—हे (अश्विना) गृहाश्रम व्यवहार में व्याप्त दम्पती ! (वां) तुम्हारा (स्तोमः) गुणप्रकाश अथवा शास्त्रों का अध्ययन एवं अध्यापन कर्म, (सेके) जल की सिंचाई में (क्रिविः) कूप (न) के समान, (द्युम्नी) यशस्वी है; (आ गतम्) आओ;

(सः) वह उपरिकथित तुम्हारा स्तोम (विवि) पदार्थ विज्ञान को प्रकाशित करने के लिये आवश्यक, (मध्वः) मधुर (सुतस्य) निष्पादित पदार्थविद्यासार का (प्रियः) अभीष्ट है; हे (नरा) गृहस्थ स्त्री-पुरुषो (इरिणे) ऊसर प्रदेश में जैसे (गौरौ) दो मृग अतिप्यासे होकर अचानक मिले जल को पीते हैं वैसे तुम, उस पदार्थबोध का (पीतं) उपभोग करो ॥१॥

भावार्थः—गृहस्थ स्त्रीपुरुष शास्त्रों का अध्ययन तथा अध्यापन इस प्रकार करें कि वह सर्वत्र प्रसिद्ध हो; जिस कुएं में पर्याप्त जल होता है; सिंचाई के लिये वह प्रसिद्ध हो जाता है। फिर, उनका अध्ययन व अध्यापन-कर्म पदार्थविज्ञान के सार को निष्पन्न करने में सहायक हो; उस सार को वे इस प्रकार ग्रहण करें जैसे कि ऊसर भूमि में अचानक मिले जल को प्यासे मृग बड़ी अधीरता से ग्रहण करते हैं ॥१॥

पिबतं घर्मं मधुमन्तमश्विना बर्हिः सीदतं नरा ।

ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ नि पातं वेदसा वयः ॥२॥

पदार्थः—हे(अश्विना) गृहाश्रम के कृत्यों में व्यस्त (नरा) गृहस्थ स्त्रीपुरुषो ! तुम (बर्हिः) इस लोक—पृथिवी लोक-पर (सीदतं) स्थिरता से निवास करो; (मधुमन्तं) रुचिकर (घर्मं) ब्रह्मवर्चस् [आत्मिक पवित्रता] का (पिबतं) उपभोग करो; (ता) वे तुम दोनों (मनुषः) मानव के (दुरोणे) गृहरूप शरीर में (मन्दसानाः) हर्षित होते हुए (वेदसा) सुख प्रापक धनादि ऐश्वर्य के द्वारा (वयः) अपनी कमनीय वस्तु जीवन की (आ पातं) रक्षा करो अथवा सुखपूर्वक जीवन का उपभोग करो ॥२॥

भावार्थः—गृहस्थ स्त्री-पुरुष पृथिवीस्थ मानवों के मध्य स्थिरता से निवास करते हुए वेदज्ञान द्वारा प्राप्तव्य आत्मिक पवित्रता का उपभोग करें और इस प्रकार इसी मानव देह में ही सभी प्रकार का ऐश्वर्य अर्जित कर अपने जीवन का उपभोग करें ॥२॥

[बर्हिः-अयं लोको बर्हिः श० १-४-१-२४; ब्रह्मवर्चसं वै घर्मः—तै० सं० २-२-७-२]

आ वां विश्वाभिरूतिभिः प्रियमेधा अहूषत ।

ता वर्तिर्यातमुप वृक्तबर्हिषो जुष्टं यज्ञं दिविष्टिषु ॥३॥

पदार्थः—(विश्वाभिः ऊतिभिः) सभी तथा सभी प्रकार की रक्षा एवं सहायता सामग्रियों के सहित वर्तमान (प्रियमेधाः) बुद्धि के प्रिय—सर्वत्र बुद्धि चाहनेवाले परमेश्वर (वां) तुम दोनों को (आ, अहूषत) बुलाते हैं और कहते हैं (ता) वे तुम

दोनों (वृक्तबर्हिषः) ऋत्विक् के (वर्तिः) मार्गपर (उप यातं) चलो और (दिविष्टिषु) दिव्य कामनाओं की पूर्ति के लिये (यज्ञं) दानादानक्रियायुक्त सत्कर्म को (जुष्टम्) सेवन करो ॥३॥

भावार्थः—सभी गृहस्थ स्त्रीपुरुषों की विवेकबुद्धि को जगाने का इच्छुक परम प्रभु उनको मानो बुलाकर यह कहता हो कि अपने जीवन में यज्ञीय भावना को धारण कर ऋत्विक् बनो और अपनी दिव्य कामनाओं की पूर्ति के लिये सदा दान-आदान पूर्वक सत्कर्म करते रहो ॥३॥

पिबतं सोमं मधुमन्तमश्विना बर्हिः सीदतं सुमत् ।
ता वावृधाना उप सुष्टुतिं दिवो गन्तं गौराविवेरिणम् ॥४॥

पदार्थः—हे (अश्विना) बलशाली गृहस्थ स्त्रीपुरुषो ! (सुमत्) स्वयमेव (बर्हिः) इस लोक में (सीदतं) जमकर बैठो; (मधुमन्तं) मधुरता आदि गुणों से युक्त (सोमं) सकल गुणों और सुख के साधक शास्त्रबोध, धन आदि ऐश्वर्य को (पिबतं) सेवन करो; (ता) वे तुम दोनों (वावृधना) उस ऐश्वर्य से वृद्धि—उन्नति—को प्राप्त होते हुए (दिवः) ज्ञान रूपी प्रकाश की (सुष्टुतिं) शोमन स्तुति को, इस प्रकार (उप-गन्तं) प्राप्त होवो जैसे कि (गौरौ) जंगल में मृगयुगल (इरिणं) अन्न-जल से युक्त स्थान की मन ही मन प्रशंसा करने लगता है ॥४॥ [सुमत्=स्वयमेव निरु० ६-२२]

भावार्थः—गृहस्थ स्त्रीपुरुष अपने जीवन में परमात्मा की सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान अधिकाधिक प्राप्त करें और नाना प्रकार ऐश्वर्यों की प्राप्ति द्वारा उन्नति करते हुए प्रशंसा प्राप्त करें ॥४॥

आ नूनं यातमश्विनाश्वेभिः प्रुषितप्सुभिः ।
दस्रा हिरण्यवर्तनी शुभस्पती पातं सोममृतावृधा ॥५॥

पदार्थः—हे (अश्विना) गृहस्थ स्त्रीपुरुषो ! (प्रुषितप्सुभिः) प्राणबल से सिंचित (अश्वैः) बलवान् इन्द्रियों द्वारा वहन किये हुए (नूनं) निश्चय ही (आ यातं) अपने जीवनयज्ञ में पधारो अपना जीवन-यज्ञ आरम्भ करो। इस जीवन-यज्ञ में तुम (दस्रा) दुःख के विध्वंसक बने हुए, (हिरण्यवर्तनी) हित एवं रमणीय मार्ग पर चलने वाले, (शुभस्पती) कल्याण के पालक, (ऋतावृधा) यथार्थज्ञान को बढ़ाते हुए (सोमं) शास्त्रबोधादिरूप ऐश्वर्य के सार का (पातं) उपभोग करो ॥५॥

भावार्थः—जीवनयात्रा के मुख्य साधक ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियां हैं; इन्हें प्राणशक्ति द्वारा बलवान् रखते हुए ही सुखपूर्वक जीवनयात्रा सम्भव है। इस प्रकार जीवनयात्रा करने वाले स्त्रीपुरुष दुःखों को नष्ट करते हैं, हित-

रमणीय मार्ग पर चलते हैं, अपना यथार्थ ज्ञान बढ़ाते हुए सदा कल्याण को बनाए रखते हैं ॥५॥

[अप्सवः जलानि प्राणा वा; प्रुषितः सिञ्चितः]

वयं हि वां हवामहे विपन्यवो विप्रासो वाजसातये।

ता वल्गू दस्रा पुरुदंससा धियाश्विना श्रुष्ट्या गतम् ॥६॥

पदार्थः—हे (अश्विना) बलवान् इन्द्रिय वाले स्त्री-पुरुषो ! (विपन्यवः) विविध रूप में [ईश्वर के] गुणों का कीर्तन अथवा ईश्वर की स्तुति करनेवाले (वयं) हम (विप्रासः) मेधावीजन (वाजसातये) बल, विज्ञान, धन आदि की प्राप्ति के लिये (वां) तुम दोनों को (हवामहे) पुकारते हैं और कहते हैं कि (ता) वे तुम दोनों (वल्गू) शोभनवाणी वाले (दस्रा) दुर्गुणों को नष्ट करते हुए, (पुरुदंससा) विविध कर्मवाले हुए, (श्रुष्टि) शीघ्र ही (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि के साथ (आगतम्) अपने जीवनरूप यज्ञ में आओ और उसको आरम्भ करो ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वर के विविध गुणों का कीर्तन करनेवाले विद्वान् गृहस्थ स्त्रीपुरुषों को उपदेश देवें कि वे अपने जीवनयज्ञ में शोभन बोलें, शोभन ही विविध कर्म करें और विवेकशक्ति-धारक बुद्धि को कभी पृथक् न करें ॥६॥

अष्टम मण्डल में यह सत्तासीवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्चस्याष्टाशीतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—६ नोधा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१, ३ बृहती। ५ निचृद्बृहती। २, ४ पङ्क्तिः। ६ विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५ मध्यमः। २, ४, ६ पञ्चमः ॥

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।

अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥१॥

पदार्थः—हे उपासको ! (वः) तुम्हारे और अपने (तं) उस (ऋतीषहं) शत्रुओं और शत्रुभूत [परपदार्थप्रापकान् ऋ० १-६४-१५ द०] भावनाओं पर विजय प्राप्त करानेवाले (दस्मं) दर्शनीय (इन्द्रं) परमेश्वर की (गीर्भिः) वाणियों से (अभिनवामहे) स्तुति करते हैं—ऐसे ही जैसे कि (स्वसरेषु) गोगृहों में (धेनवः) गौएं (वसोः अन्धसः मन्दानं) वसाने वाले अन्न से तृप्त होते हुए (वत्सं) अपने बछड़े को (गीर्भिः) अपनी बोलियों से बुलाती हैं ॥१॥

भावार्थः—परमैश्वर्यवान् परमेश्वर का गुणगान उपासक को उतने ही प्रेम और तन्मयता से करना चाहिये कि जितने स्नेह से बछड़े का आह्वान उसकी माता गोष्ठ में पहुँचकर करती है। माता और उसके बालक में पारस्परिक स्नेह दिव्य स्नेह होता है ॥१॥

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।

क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥२॥

पदार्थः—हम उस (वाजं) अन्न, धनादि ऐश्वर्य को (मक्षू) शीघ्र (ईमहे) चाहते हैं कि जो (द्युक्षं) दिव्यता में निवास कराने वाला हो; (सुदानुम्) उत्तम दानशीलताधायक हो; (तविषीभिः) नानाप्रकार की शक्ति से (आवृतं) आच्छादित अथवा भरपूर हो; (गिरिं) मेघ के (न) सदृश (पुरुभोजसं) विशाल पालन-शक्ति से परिपूर्ण हो; (क्षुमन्तम्) प्रशस्त भोगशक्ति से युक्त हो; [प्रशंसायां मतुप्]; (शतिनं, सहस्रिणं) सैंकड़ों-हजारों को लाभ पहुँचाने वाला हो ॥२॥

भावार्थः—इस मंत्र में उस दिव्य ऐश्वर्य की प्रार्थना या चाहना करने का उपदेश है कि जो मनुष्य को दिव्य बना दे; प्रशस्त भोग शक्ति दे; जिसके सहारे साधक सैंकड़ों-हजारों का पालन-पोषण कर सके ॥२॥

न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीळवः ।

यद्दित्ससि स्तुवते मावते वसु नकिष्टदा मिनाति ते ॥३॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य के प्रदाता, प्रभो! (त्वा) तेरे [मार्ग] को (बृहन्तः) बड़े-बड़े (वीड्वः) सुदृढ़ (अद्रयः) पर्वत भी (न) नहीं (वरन्ते) रोकते हैं; (मावते) मेरे सदृश (स्तुवते) गुण कीर्तन करने वाले को (यत् वसु) जो वासक ऐश्वर्य, ज्ञान-धनादि तू (दित्ससि) देना चाहता है (ते न किः तत्) उस तेरे दान को कोई भी नहीं (मिनाति) नष्ट कर सकता है। ॥३॥

भावार्थः—परमैश्वर्य के दाता परमेश्वर को देने से कोई रोक नहीं सकता। वह जिसको जो कुछ देना चाहता है, उस दान को कोई नष्ट नहीं कर सकता ॥३॥

योद्धासि क्रत्वा शवसोत दंसना विश्वा जाताभि मज्मना ।

आ त्वायमर्क ऊतये ववर्तति यं गोतमा अजीजनन् ॥४॥

पदार्थः—(यं) जिस (त्वा) आप परमैश्वर्यवान् को (गोतमाः) शुभगुणों को

धारण किये हुए विद्वान् (अजीजनन्) अपने-अपने हृदय में प्रकट कर लेते हैं उसको (अयं) यह (अर्कः) स्तोता (ऊतये) अपनी रक्षा तथा सहायता—देखभाल के लिये (आ ववर्तति) पुनः-पुनः [गुण-कीर्तन द्वारा] अपने अनुकूल करता है; ऐसे हे परमेश्वर ! आप (क्रत्वा) अपने कृत्यों और प्रज्ञान के द्वारा (योद्धा) सर्व विजयी हैं; (उत) और (दंसना) अपने कर्मों से तथा (मज्मना) अपने भीतर ढक लेने वाले प्रभाव द्वारा (सर्वा) सब (जाता) उत्पन्न पदार्थों और प्राणियों में (अभि) सर्वोपरि हैं ॥४॥

भावार्थः—परमेश्वर ही संसार में सर्वोपरि है; उसके आश्रय से साधक को भी सब कुछ मिलता है; इसीलिए विद्वान् शुभ गुणों को धारण कर हृदयदेश में उसको ही प्रत्यक्ष (अनुभव) करते हैं ॥४॥

प्र हि रि॑रि॒क्ष ओज॑सा दि॒वो अन्ते॑भ्य॒स्परि॑ ।
न त्वा॑ विव्याच॒ रज॑ इन्द्र॒ पार्थि॑व॒मनु॑ स्व॒धां व॑वक्षिथ ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमात्मन् ! (यः) जो आप (ओजसा) अपने आत्मगत प्रभाव से (दिवः) प्रकाशमय दूरस्थलोक की (अन्तेभ्यः) अन्तिम सीमाओं से भी (परि) परे तक, (हि) निश्चय ही (प्र रिरिक्षे) बहुत अधिक अतिरिक्तता से—पृथक् होकर—वर्तमान हैं; (त्वां) आप को (पार्थिवं) पृथिवी क्षेत्र की (रजः) धूल [दोष] (न विव्याच) नहीं व्यपती है। ऐसे आप (स्वधां) अन्न, जल आदि पदार्थ तथा अपनी धारणाशक्ति को (ववक्षिथ) हमें प्राप्त कराइये ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वर की शक्ति और उसका प्रभाव दूर-दूर तक प्रकाशमय लोकों से भी दूर तक व्याप्त है; उस पर पार्थिव धूल और दोष कोई प्रभाव नहीं डाल सकते; वही प्रभु हमें सब प्रकार का निर्दोष ऐश्वर्य प्रदान कर सकता है ॥५॥

नकिः॒ परि॑ष्टिर्मघवन्म॒घस्य॑ ते॒ यद्दा॒शुषे॑ दश॒स्यसि॑ ।
अ॒स्माकं॑ बोध्यु॒चथ॑स्य चोदि॒ता मंहि॑ष्ठो॒ वाज॑सातये ॥६॥

पदार्थः—हे (मघवन्) सन्माननीय ऐश्वर्य के धनी! (यत्) जब (दाशुषे) दानशील को आप (दशस्यति) ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, तब, (ते) आप के (मघस्य) उस पूजनीय दान की (न किः परिष्टिः) कोई [हिंसा] नहीं होती—आप के दान में कोई बाधक नहीं होता। (मंहिष्ठः) पूजनीय तथा (चोदिता) सन्मार्ग में प्रेरक आप (वाजसातये) अन्न आदि ऐश्वर्य के लाभ के लिये (अस्माकं) हमारे लिये (उचियस्य) उचित उपाय को (बोधि) बतलाइये ॥६॥

भावार्थः—शुद्ध अन्तःकरण से प्रभु की उपासना श्रेष्ठ ऐश्वर्य के प्रदाता के रूप में करो; इस प्रकार वह उचित प्रेरणा देगा कि जिसके अनुसार कार्य करने से आदरणीय शुभ ऐश्वर्य प्राप्त होगा ॥६॥

अष्टम मण्डल में यह अट्ठासीवाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्यैकोननवतितमस्य सूक्तस्य ऋषी—१—७ नृमेधपुरुमेधौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१, ७ बृहती । ३ निचृद्बृहती । २ पादनिचृत्पङ्क्तिः । ४ विराट्पङ्क्तिः । ५ विराडनुष्टुप् । ६ निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ३, ७ मध्यमः । २, ४ पञ्चमः । ५, ६ गान्धारः ॥

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥१॥

पदार्थः—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् परमात्मा के प्रति (वृत्रहन्तमम्) अज्ञाननाश के लिये श्रेष्ठतम अथवा मेघहन्ता सूर्य के समान अतिशय प्रभावशाली (बृहत्) बृहत् साम का (गायत) गायन करो : बृहत् साम द्वारा परमेश्वर के गुणगान करो; इस गायन के द्वारा (ऋतावृधः) सनातन नियमों को बढ़ावा देनेवाले विद्वान् (देवाय) दिव्यता का आधान करने के प्रयोजन से (देवं) दिव्य सुख की देनेवाली (जागृवि) जागरूक अर्थात् अतिप्रसिद्ध (ज्योतिः) ज्योति को (अजनयन्) प्रकट करते हैं ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि सर्वदा युक्त आहार-विहार द्वारा शारीरिक एवं आत्मिक विघ्नबाधाओं को दूर करते हुए परमेश्वर के गुणों का कीर्तन बृहत् सामगान द्वारा करें ॥१॥

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याभवत् ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण ॥२॥

पदार्थः—(अशस्तिहा) अकल्याणकर आशंसाओं का विध्वंसक (इन्द्रः) शुभसंकल्पधारी जीव अथवा राजा (अभिशस्तीः) सामने प्रशंसा करनेवाले दम्भियों को [ऋ० द० ऋ० ७-१३-२] (अप, अधमत्) धमकाकर दूर कर देता है। (अथ) अनन्तर वह इन्द्र (द्युम्नी) बहुत से प्रशंसारूप धनवाला (आ भुवत्) हो जाता है। हे (बृहद्भानो) किरणोंवाले सूर्य के समान महातेजस्विन् ! (मरुद्गण) मनुष्यों अथवा पवनों के समूह से कार्यसाधक उपर्युक्त इन्द्र ! (देवाः) दिव्यगुणी इन्द्रियां

अथवा विद्वान् जन (ते) आपकी (सख्याय) मित्रता के लिये (येमिरे) अपना जीवन धारण करते हैं ॥२॥

भावार्थः—परमप्रभु के समान धनाढ्य राजा आदि को चाहिये कि वे चाटुकारी दम्भियों को अपने से दूर रखें। जो सज्जन इस प्रकार दम्भियों की श्रेणी में न रहकर समर्थ पुरुषों के सच्चे मित्र बने रहते हैं, उनकी मित्रता के लिये मानो जीवित रहते हैं, वे परम यशस्वी हो जाते हैं ॥२॥

प्र व॒ इन्द्रा॑य बृह॒ते मरु॑तो॒ ब्रह्मा॑र्चत ।
वृ॒त्रं ह॑नति वृत्र॒हा श॒तक्र॑तु॒र्वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा ॥३॥

पदार्थः—हे (मरुतः) उपासक विद्वान् जनो ! तुम उस (बृहते) महान् (इन्द्राय) परमेश्वर की (ब्रह्म अर्चत) वेदवाणी से स्तुति करो; वह (शतक्रतुः) सैंकड़ों प्रकार के ज्ञानों एवं कर्मों का अध्यक्ष, (वृत्रहा) विघ्नकारकों का विध्वंसक (शतपर्वणा) सैंकड़ों विभागोंवाले वज्ररूप ज्ञान से (वृत्रं) अज्ञान को (हनति) नष्ट करता है ॥३॥

ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के (३३-९६) इसी मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है :—"हे मनुष्यो ! जो (शतक्रतुः) असंख्य प्रकार की बुद्धि व कर्मों वाला सेनापति (शतपर्वणा) असंख्य जीवों के पालन के साधन (वज्रेण) शस्त्रास्त्र से, (वृत्रहन्ता) जैसे मेघहन्ता सूर्य (वृत्रं) मेघ को मारता है वैसे (बृहते) बड़े (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये शत्रुओं को मारता है और (वः) तुम्हारे लिये (ब्रह्म) धन व अन्न को प्राप्त करता है, उसका तुम लोग सत्कार करो ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! सूर्य जैसे मेघ को मारता है वैसे जो लोग शत्रुओं को मारकर तुम्हारे ऐश्वर्य की वृद्धि करते हैं, उनका तुम सत्कार करो। इस प्रकार कृतज्ञ होकर महान् ऐश्वर्य प्राप्त करो ॥३॥

अ॒भि प्र भ॑र धृष॒ता धृ॑षन्मनः॒ श्रव॑श्चित्ते असद् बृ॒हत् ।
अर्ष॑न्त्वापो॒ जव॑सा॒ वि मा॒तरो॒ हनो॑ वृ॒त्रं जया॒ स्वः॑ ॥४॥

पदार्थः—हे (धृषन्मनः) दृढ़चेता उपासक ! (ते) तेरा (श्रवः) गुण-कीर्तन, विद्याश्रवण, भोग [अन्न] आदि सभी कुछ (बृहत्) विशाल (असत्) होगया है; (धृषता) दृढ़ निश्चय से (अभि प्रभर) इसको अनुकूलता से धारण कर। (मातरः) मान्य के कारण (आपः) प्राण (जवसा) वेगपूर्वक (वि, अर्षन्तु) तेरे विविध अंगों में प्राप्त हों; इस प्रकार दृढाङ्ग होकर (वृत्रं) सुगुणों का आगमन रोकनेवाली रुकावट को (हनः) नष्ट कर; (स्वः) स्वर्गलोक, सुखावस्था को (जय) जीत ॥४॥

भावार्थः—उपासक पहले सम्यक्तया शास्त्राध्ययन तथा श्रवण द्वारा ज्ञानधन को उपलब्ध करे; पदार्थविज्ञान द्वारा उत्तमोत्तम योगों की उपलब्धि करे; और इस सारे ऐश्वर्य को दृढ़चित्तता से अपने अनुकूल बनाये रखे। ऐसा करने पर वह गुणधारण करने में आनेवाली सभी रुकावटों को दूर कर सकेगा और अन्त में दिव्य सुखमयी अवस्था प्राप्त कर सकेगा ॥४॥

यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय।

तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उत द्याम् ॥५॥

पदार्थः—हे (अपूर्व्य) अपूर्वगुणी तथा सर्वप्रथम (मघवन्) सम्पदाओं के स्वामिन्! आप (यत्) जब (वृत्रहत्याय) विघ्नों के निवारण करने के लिये (अजायथाः) प्रकट हुए थे (तत्) तभी (पृथिवीं) इस भूमि को (अप्रथयः) विस्तृत करके पृथिवी बनाया (उत) और (द्यां) निराधार से प्रतीत होते अन्तरिक्ष तथा दूसरे प्रकाशमान लोकों को (अस्तभ्ना) थाम्भा; आप उनका आधार बने ॥५॥

भावार्थः—परमेश्वर ही वह दिव्य पदार्थ है जो सबसे पूर्व प्रकट हुआ है; पृथिवी आदि स्वतः अप्रकाशित तथा द्युलोक में स्थित, स्वतः प्रकाशित—दोनों प्रकार के लोकों की रचना करने वाला वही परमेश्वर है ॥५॥

तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः।

तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम् ॥६॥

पदार्थः—(तत्) तभी (ते) तुझसे (यज्ञः) यजन क्रिया—दान+आदानपूर्वक सत्कर्मकरण—(अजायत) उत्पन्न हुई—आरम्भ हुई। (तत्) तभी (हस्कृतिः) प्रकाश क्रिया और साथ ही (अर्कः) अग्नि उत्पन्न हुआ जिसके नाम (घर्म, शुक्र ज्योति और सूर्य हैं) (तत् यत् जातं) वह जो कुछ उत्पन्न हुआ है, (च यत्) और जो कुछ (जन्त्वम्) उत्पन्न होगा उस (विश्वम्) सबका तू (अभिभूः असि) अभिभव करानेवाला, सबसे अधिक उत्कृष्ट है ॥६॥

भावार्थः—इससे पूर्व मन्त्र में बताया गया है कि परमेश्वर से पूर्व कोई भी, कुछ भी नहीं था; पृथिवी, सूर्य आदि लोक उसी ने रचे हैं। फिर संसार में सत्क्रियाएं और अन्धकार को दूर करने की प्रक्रिया व साधन भी उससे ही प्रचलित हुए—वह संसार में सर्वोत्कृष्ट शक्ति है ॥६॥

आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि।

घर्मं न सामन्तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ॥७॥

पदार्थः—(आमासु) अपरिपक्व [ओषधियों आदि] में (पक्वं) परिपक्व [रस] आदि अथवा परिपक्वता को तू ने (ऐरयः) प्रेरित किया; (सूर्यं) सूर्य को (दिवि) प्रकाशमान द्युलोक में (आरोहयः) चढ़ाया । उस (गिर्वणसे) वाणी से सेवन करने योग्य परमैश्वर्यवान् के लिये (जुष्टं) प्रीति के कारणभूत अथवा प्रिय (बृहत् सामन्)बृहत्साम को (घर्मं न) शोषक एवं उष्ण सूर्यताप के समान (तपत) तपो ॥७॥

[सामन्—यद्ध वै शिवं शान्तं वचस्तत् साम । सामन् वदतीति वा आहुः, साधु वदन्तम्—जै० ३-५२]

भावार्थः—परमेश्वर ही सृष्टि में हो रही सभी क्रियाओं का अधिष्ठाता है । अपरिपक्व ओषधियों में रस भी उस शक्ति द्वारा ही आता है—द्युलोक में जो प्रकाशलोक इतनी ऊंचाई पर दिखायी देते हैं—यह भी उस के सामर्थ्य के प्रतीक हैं । वाणी द्वारा उसकी स्तुति करना सर्वथा उचित ही है : बृहत्साम उसका अभीष्ट स्तुतिगान है; विद्वान् उसके द्वारा ही उसका गुणगान करें ॥७॥

अष्टम मण्डल में यह नवासीवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ षड्ऋचस्य नवतितमस्य सूक्तस्य ऋषीः—१—६ नृमेधपुरुमेधौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१ निचृद्बृहती । ३ विराड्बृहती । ५ पादनिचृद्बृहती । २, ४ पादनिचृत्पङ्क्तिः । ६ निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१, ३, ५ मध्यमः । २, ४, ६ पञ्चमः ॥

आ नो॒ विश्वा॑सु॒ हव्य॒ इन्द्रः॑ स॒मत्सु॑ भूषतु ।
उप॒ ब्रह्मा॑णि॒ सव॑नानि वृत्र॒हा प॑रम॒ज्या ऋची॑षमः ॥१॥

पदार्थः—(नः) हमारे (विश्वासु) सभी (समत्सु) अग्रगमन के लिये किये गये संघर्षों में [युद्धों में] (हव्यः) स्तुतियोग्य, (वृत्रहा) विघ्ननिवारक, (परमज्या) उत्कृष्टतम बाधाओं का विध्वंसक, (ऋचीषमः) स्तुति [गुणकीर्तन] के अनुरूप, इन्द्र परमेश्वर, आत्मा अथवा ऐश्वर्य-सम्पन्न श्रेष्ठ व्यक्ति (ब्रह्माणि) वेदवचनों को (उप आ भूषतु) समीप आकर अलंकृत करे ॥१॥

भावार्थः—साधक की उन्नति-यात्रा में जब कभी विघ्न पड़े तो वह सर्वश्रेष्ठ विघ्नहन्ता, परमेश्वर, [अथवा विद्वान् अथवा समर्थव्यक्ति] का गुणकीर्तन कर उसके सान्निध्य का अनुभव करे; इस प्रकार निर्भय हो जाय ॥१॥

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! (त्वं) आप ही (राधसां) सिद्धिकारक ऐश्वर्यों—ज्ञान, धन आदि—के (प्रथमः) सबसे पहले (दाता) देने वाले हैं । आप ही (सत्यः) सच्चे (ईशानकृत्) उसपर दूसरों का प्रभुत्व स्थापित करानेवाले—ऐश्वर्य देनेवाले—हैं । इसीलिये हम (तुविद्युम्नस्य) बहुत धन तथा ऐश्वर्यवान्, (शवसः पुत्रस्य) अति बलवान् (महः) महान् आप से (युज्या) युक्त या आपके योग्य वस्तुओं की (वृणीमहे) प्रार्थना करते हैं ॥२॥

भावार्थः—सृष्टिरचयिता भगवान् ही प्रथम दाता है–वास्तविक स्वामी वही है; अतएव वह ही किसी को कुछ देने का अधिकारी है । उससे ही यश दिलानेवाला ऐश्वर्य, बल आदि प्राप्त करने की इच्छा करे; वह भी वही जो उसके योग्य हो; प्रभु के गुणों के अनुरूप हो ॥२॥

ब्रह्मा त इन्द्र गिर्वणः क्रियन्ते अनतिद्भुता ।
इमा जुषस्व हर्यश्व योजनेन्द्र या ते अमन्महि ॥३॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) योगियों की योगसंस्कारयुक्त वाणियों से वर्णन करने योग्य (इन्द्र) परमेश्वर ! (ते) आप के लिये (अनतिद्भुता) अतिशयोक्तिरहित अर्थात् यथार्थ (ब्रह्म) स्तुतिवचन [वेद में] (क्रियन्ते) किये गये हैं । हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (या) जिन वेदोक्त स्तुतिवचनों का हम (ते) आपके लिये (अमन्महि) उच्चारण करते हैं, (इमाः) इन (योजना) सम्यक्तया आपके लिये उपयुक्त स्तुतिवचनों को, हे (हर्यश्व) सुख लानेवाली वेगवती अश्वसदृश शक्तियों वाले परमप्रभु आप, (जुषस्व) सेवन कीजिये ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर के गुणों का जो वर्णन वेदवाणी में हुआ है, वह किसी भी प्रकार अनोखा नहीं है; वह सर्वथा स्वाभाविक है । जब साधक उन्हीं वैदिक शब्दों में प्रभु के गुणों की स्तुति करता है, तब उसको यह आशा होनी स्वाभाविक है कि उन गुणों को धारण करने का यत्न करने वाले साधक को भगवान् की सायुज्यता प्राप्त होगी ही ॥३॥

त्वं हि सत्यो मघवन्ननानतो वृत्रा भूरि न्यृञ्जसे ।
स त्वं शविष्ठ वज्रहस्त दाशुषेऽर्वाञ्चं रयिमा कृधि ॥४॥

पदार्थः—हे (मघवन्) प्रशंसनीय ऐश्वर्य वाले, प्रभो! (हि) निश्चय ही (त्वं) आप (सत्यः) सचमुच के (अनानतः) अपरिजेय रहे हैं; इसीलिये (भूरि) अत्यधिक भी (वृत्रा) विघ्नों=रुकावटों अतएव राक्षसों को (नि, अञ्जसे) सम्यक्तया भून डालते हैं—नष्ट कर देते हैं। (स त्वं) वह आप, हे (शविष्ठ) अतिशय बलवन्! (वज्रहस्त) दुष्ट भावनाओं को निषेध करने की शक्तिवाले (दाशुषे) आत्मार्पित करनेवाले उपासक के लिये (रयिं) ऐश्वर्य को (अर्वाञ्चं) उसके सन्मुख (कृधि) कीजिये ॥४॥

भावार्थः—ज्ञान, बल, धन आदि समृद्धि की प्राप्ति में अनेक रुकावटें आती हैं—उपासक इनको भगवान् की सहायता से ही दूर कर सकता है। कैसे? जब कि वह भगवान् के गुणों का कीर्तन करता हुआ और उनको अपने अन्तःकरण में धारण करने का यत्न करता हुआ भगवान् के प्रति समर्पित हो जाय ॥४॥

त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पते ।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इदनुत्ता चर्षणीधृता ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! बलवान् विद्वन्! राजन्! (त्वं) तू (यशः असि) इस कीर्तिवाला है कि तू (ऋजीषी) सरलस्वभाव, सरलमार्ग से ले चलने वाला है; हे (शवसस्पते) बल को बनाये रखने वाले! (त्वं) तू (एक इत्) अकेला ही (अप्रतीनि) अदम्य (अनुत्ता) किसी अन्य द्वारा अतिरस्कृत (वृत्राणि) मार्ग में आनेवाली विघ्न-बाधाओं को (चर्षणीधृता) मनुष्यों की धारक शक्ति के द्वारा (हंसि) नष्ट कर देता है ॥५॥

भावार्थः—बस उपासक को चाहिये कि वह भगवान् की सायुज्यता प्राप्त करने का यत्न करे—उसके गुणों का गान इसी उद्देश्य से किया जाता है। उसके नेतृत्व में दिव्य सुख की प्राप्ति का सरलतम मार्ग मिल जाता है—जो सब विघ्न-बाधाओं से रहित होता है ॥५॥

तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नवन् ॥६॥

पदार्थः—हे (असुर) प्राणवन्! शक्तिसम्पन्न! (तम् उ) उसी (प्रचेतसं) प्रकृष्टज्ञानवान् (त्वा) आप से, (नूनं) निश्चय ही (राधः) सफलतादायक ऐश्वर्य को (भागं इव) अपने दायभाग के समान मानते हुए (ईमहे) आपसे मांगते हैं, हे (इन्द्र) इन्द्र (ते) आप की, (कृत्तिः) कीर्ति (मही) बड़ी (शरणा इव) आश्रय-स्थली के समान

है; (ते) आप के (सुम्ना) सुख (नः) हमको (प्र अश्नवन्) प्रकृष्ट रूप में व्याप्त हों ॥६॥ [कृत्तिः यशो वा निरु० ५-२२]

भावार्थः—परमेश्वर निश्चय ही सफलतादायक ऐश्वर्य का धनी है; हम दायभाग के रूप में उससे ऐश्वर्य की कामना करें—अर्थात् अपने आपको उसका सच्चे उत्तराधिकारी पुत्र के रूप में समझें; और एक उत्तराधिकार के रूप में ऐश्वर्य की चाहना करें ॥६॥

अष्टम मण्डल में यह नब्बेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्यैकाधिकनवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—७ अपालात्रेयी ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१ आर्चीस्वराट्पङ्क्तिः । २ पङ्क्तिः । ३ निचृदनुष्टुप् । ४ अनुष्टुप् । ५, ६ विराडनुष्टुप् । ७ पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, २ पञ्चमः । ३—७ गान्धारः ॥

कन्या३ वारवायती सोममपि स्रुताविदत् ।

अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा ॥१॥

पदार्थः—(वार्) [पति द्वारा] वरण को (अवायती) स्वीकार करती हुई (कन्या) कन्या, जो (स्रुता) [शारीरिक दृष्टि से] निचुड़ गई हो वह, (सोमं) सोम-लता आदि ओषधियों के रोगनाशक रस को (अपि) निश्चय ही (अविदत्) प्राप्त करे और प्राप्त करके (अस्तं भरन्ती) घर आती हुई उस रस के प्रति मन ही मन यह (अब्रवीत्) कहे कि (त्वा) तुझ सोम को मैं (इन्द्राय) रोगादि दुःख विदारकता के लिये (सुनवै) निष्पादित करती हूँ; (शक्राय) समर्थ होने के लिये (सुनवै) सम्पादित कर रही हूँ ॥१॥

भावार्थः—जो कन्या किसी रोगादिवश शरीर से निर्बल और निस्तेज हो उसको विवाह से पूर्व सोमलता आदि रोगनाशक ओषधियों का रस सेवन कराके पहले समर्थ और शक्तिशाली बनाना चाहिये; ऐसा कर चुकने पर ही वह वस्तुतः पति को स्वीकार करने योग्य बनती है ॥१॥

[यदवृणोत् तस्माद् वाः—शतपथ ६-१-१-९ । अवायती=अव्+इ+घञ्; अवायः=स्वीकृति—आप्टे । इन्द्रः=रोगादिकं दारयतीति ।]

असौ य एषि वीरको गृहंगृहं विचाकशत् ।

इमं जम्भसुतं पिब धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ॥२॥

पदार्थः—(असौ) वह जो (वीरकः) [पूर्णशरीरात्मबलप्रदः—ऋ० द० ऋ० १-४०-३] शरीर एवं आत्मा को पूर्ण बलशाली बनाने वाला [सोम रस] (गृहं गृहं) प्रत्येक घर अर्थात् जीवात्मा के निवासभूत शरीर को (विचाकशत्) विशेष रूप से कान्तिमान् बनाता हुआ (एषि) सक्रिय है; (इमं) इसको, हे इन्द्र ! रोगादि दुःखों को काटने के लिये कृतसंकल्प मेरे आत्मन् ! (पिब) सेवन कर; यह जो (जम्भसुतम्) औषधि को मुख में ग्रसकर निकाला गया है; (धानावन्तं) पुष्टिप्रद है [धानम्=पौष्टिक-धाञ् धारण पोषणयोः+ल्युट्], (करम्भिणम्) सभी दिव्य पदार्थों से मिश्रित है [विश्वेषां व एतद् देवानां रूपं यत्करम्बः=करम्भः तैत्ति० ब्राह्मण ३-८-१४-४], (अपूपवन्तम्) सड़ने अर्थात् दुर्गन्धित न होने के पदार्थ से युक्त है [अपूपः=न पूयते विशीर्यते—पूयी विशरणे दुर्गन्धे च], और जो (उक्थिनम्) उक्थ अर्थात् प्राण की शक्ति से संयुक्त है, शरीर को स्फूर्ति देता है [प्राणः—शरीरं-प्राविशत्, तत्-शरीरं—प्राणे प्रपन्ने उदतिष्ठत्, तदुक्थमभवत्; प्राण उक्थ-मित्येव विद्यात्—ऐ० आ० २; १, ४ । शरीर को उठानेवाली, प्राणशक्ति का नाम ही उक्थ है—सोमरस में भी वह शक्ति विद्यमान है] ॥२॥

भावार्थः—सोमलता आदि औषधियों का जो रस—सोम यहाँ अभि-प्रेत है—वह मुंह में चबाया जाता है; उसमें पौष्टिक एवं दिव्य गुण वाले पदार्थों का मिश्रण है; साथ ही वह ताप आदि से विश्लिष्ट होकर दुर्गन्ध नहीं देता—सड़ता नहीं है और प्राणशक्ति का प्रदाता है । निर्बल कन्या को पतिवरण से पूर्व ऐसे सोम का सेवन करना चाहिये ॥२॥

आ च॒न त्वा॑ चिकित्सामो॒ऽधि॑ च॒न त्वा॒ नेम॑सि ।

शनै॑रिव शन॒कैरि॒वेन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑ स्रव ॥३॥

पदार्थः—हे (इन्दो) सोमरस की आह्लादक बूंद ! [उन्दति=क्लेदयति यत्, चन्द्र इवार्द्र स्वभावः—ऋ० द० यजु० १८-५३] (शनैः इव शनकैः इव) धीरे ही धीरे (इन्द्राय) रोगादि दुःखनिवारक शक्ति प्रदान करने के लिये (परिस्रव) स्रवित हो; [हम (त्वा) तेरे (न+चन+अभि+ईमसि) गुणावगुणों को नहीं जानते यह नहीं, भलीभांति जानते हैं । इसलिये (त्वा) तुझ पर (चिकित्सामः चन) नियन्त्रण भी रखते हैं ॥३॥

भावार्थः—सोमरस की मात्रा पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिये । यह बलप्रद औषधि बूंद-बूंद करके सर्वथा नियंत्रित मात्रा में दी जानी चाहिये — यह धीरे-धीरे प्रभावी होती है ॥३॥

[चिकित्सा=Control आप्टे]

कुविच्छकत्कुविस्करत्कुविन्नो वस्यसस्करत् ।
कुवित्पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहै ॥४॥

पदार्थः—यह सोम (कुवित् शकत्) बहुत अधिक समर्थ बनाये; (कुवित् करत्) हमें खूब परिष्कृत कर दे; (नः) और हमको (कुवित्) बहुत (वस्यसः) बसाने वाली शक्तियों से (करत्) सम्पन्न कर दे। (कुवित्) ताकि (पतिद्विषः) [दुर्बलता आदि के कारण] पतियुक्त होने की भावना से ही मानो द्वेष करनेवाली हम (यतीः) क्रियाशील होकर (इन्द्रेण) शक्तिशाली वीर्यवान् [वरण किये पति] के साथ (संगमामहै) संगम कर सकें ॥४॥

भावार्थः—सोमलता आदि औषधियों के रस का सेवन करके दुर्बल और रोगिणी कन्यायें भी, जो किसी को पतिवरण करने के विचारमात्र से दूर भागती थीं, शक्तिसम्पन्न होकर वीर्यवान् पति को चाहने लगती हैं ॥४॥

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय ।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) शक्ति एवं ऐश्वर्य के इच्छुक मेरे जीवात्मन् ! (इमानि त्रीणि) ये तीन (विष्टपा—विष्टपाणि) अपने में व्याप्त होने वाले को बचा रखने वाले—बर्तन या पात्र हैं [विष्लृ व्याप्तौ—विष्+क्त=विष्ट+पा रक्षणे विष्टपम्=A Vessel आप्टे] [शरीर की तीन गुहाएं हैं—शिरो गुहा, उरो गुहा और उदर गुहा] (तानि) इन तीनों को (विरोहय) स्वस्थ करके वृद्धिशील, उन्नतिशील कर। इनमें से (ततस्य) इस सन्तति रूप में निरन्तर चलने वाले [तन्+क्त] शरीर का (शिरः) शिरोभाग है—[दूसरी गुहा] (उर्वराम्) [प्राण से फैलने वाली] उरो गुहा है; [तथा तीसरी गुहा] (इदं मे उपोदरं) मेरे शरीर के मध्य भाग में स्थित उदर गुहा है। [उप=in=में आप्टे] ॥५॥

भावार्थः—शरीर तीन क्षेत्रों अथवा गुहाओं में बंटा हुआ है—शिरोगुहा, उरोगुहा और उदरगुहा। पुत्रपौत्रादि रूप में फैलने वाला—आगे चलने वाला शरीर है—उसका ही यहां 'तत' से संकेत है। इसकी दो गुहायें शिर और 'उदर' तो यहां स्पष्ट ही संकेतित हैं—'उर्वरा' तथा 'उरस्' शब्द का मूल [उर् गमने सौत्रो धातुः है अथवा 'ऋ' धातु है] उरो गुहा में हृदय, फेफड़े तथा धमनियां है, जो प्राण आदि द्वारा निरन्तर गतिशील हैं। इस

प्रकार इन तीनों क्षेत्रों—तीनों गुहाओं—की शुद्धि से शरीर शुद्ध होकर सशक्त बनता है ॥५॥

असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम ।

अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि ॥६॥

पदार्थः—इसी बात को पुनः स्पष्ट करते हैं। (च) और (असौ या नः उर्वरा) वह जो हमारी उरो गुहा है उसको (आत्) तथा (इमां) इस (मम) मेरी जो (तन्वं) पतली-दुबली सूक्ष्म सी उदरगुहा है—उसको, (अथ उ) तथा च (ततस्य) शरीर का (यत्) जो (शिरः) शिरोभाग, मस्तिष्कगुहा है—(सर्वा ता) उन सभी स्थानों को (रोमशा) लोमयुक्त—वर्धनशील—कर ॥६॥

भावार्थः—शिरोगुहा में स्थित मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियां, उरोगुहा के हृदय, फेफड़े तथा उदर गुहा में स्थित आंतें, गुर्दे आदि अंग वृद्धिशील एवं सशक्त हों तो मनुष्य स्वस्थ रहता है ॥६॥

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।

अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम् ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सोमरस के उपभोग से शक्तिशाली बने हुए मेरे आत्मन्! (शतक्रतो) सैंकड़ों कर्मों के कर्ता तथा विज्ञानवान्! (अपालां) मुझ पालन-पोषण से रहित कन्या को (रथस्य) इस रमणीय वाहन शरीर के (खे) छिद्र अर्थात् दोष में से, (अनसः) [अन् प्राणने+असुन्, अनः—जो समर्थ बनाता है वह प्राण।] प्राण के (खे) दोष में से तथा (युगस्य) पर्याप्त समय से चले आये (खे) अन्य दोष में से [अथवा इन्द्रियों व आत्मा को जोड़ने वाले मन के दोष में (हरिशरण सि०अ०)] इस प्रकार से निर्दोष करके (त्रिष्पूत्वी) तीन प्रकार से निर्दोष करके (सूर्यत्वचम्) सूर्य के समान तेजस्वी त्वचा वाली (कृणुहि) कर दे ॥७॥

भावार्थः—सोमलता आदि ओषधियों के रस का विधिवत् उपयोग करने से शरीर के सभी प्रकार के दोष, प्राणापान आदि क्रियाओं के दोषों के कारण उत्पन्न रोग सब मिट जाते हैं। पोषण के अभाव में रिक्त एवं खोखला हुआ शरीर पुनः कान्तिमान् हो उठता है ॥

अष्टम मण्डल में यह इक्यानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशदृचस्य द्विनवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—३३ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१ विराडनुष्टुप्। २, ४, ८—१२, २२, २५—२७, ३० निचृद्गायत्री। ३, ७, ३१,३३ पादनिचृद्गायत्री। ५ आर्ची स्वराड्गायत्री। ६, १३—१५, २८ विराड्गायत्री। १६—२१, २३, २४, २९, ३२ गायत्री ॥ स्वरः—१ गान्धारः। २—३३ षड्जः ॥

पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥

पदार्थः—(वः) तुम प्रजाजनों द्वारा (अन्धसः) समर्पित अन्न अथवा कर आदि भोग्य का (आ पान्तं) सर्वात्मना भोग करते हुए, (विश्वासाहं) सब शत्रुओं के विजेता (शतक्रतुं) बहुत प्रकार के ज्ञान के जानने वाले तथा अनेक कर्म करने वाले (चर्षणीनां मंहिष्ठं) अपने ऐसे गुणों के कारण समझ-बूझवाले मनुष्यों के भी अतिशय माननीय (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा की (अभि प्र गायत) प्रकृष्ट स्तुति करो ॥१॥

भावार्थः—जो राजा स्वयं बलवान् अतएव शत्रुजेता, स्वयं विद्वान्, प्रजा की भलाई के अनेक कार्यों का कर्ता होता है, विवेकशील मनुष्यों का भी वह माननीय होता है और प्रजा उसे कर-रूप में अनेक प्रकार के भोग्य प्रदान करती है ॥१॥

पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यं१ सनश्रुतम्।
इन्द्र इति ब्रवीतन ॥२॥

पदार्थः—ऐश्वर्यवान् इन्द्रपदवाच्य राजा कौन है ? उत्तर देते हैं—(पुरुहूतं) बहुतों द्वारा अपनी सहायता के लिये पुकारे गये, (पुरुष्टुतं) बहुत से जानने वालों द्वारा जिसकी स्तुति—गुणगान की गई है, जो (गाथान्यं) प्रशंसनीय उपदेशों का नेता है, (सनश्रुतम्) सनातन शास्त्र जिसने सुने हुए हैं—ऐसे राजपुरुष को (इन्द्र इति) 'इन्द्र'— ऐश्वर्यवान् राजा के नाम से (ब्रवीतन) पुकारो ॥२॥

भावार्थः—इस मन्त्र में राजा की परिभाषा बतायी गई है—अर्थ स्पष्ट है ॥२॥

इन्द्र इन्नो महानां दाता वाजानां नृतुः।
महाँ अभिज्ञ्वा यमत् ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रः इत्) पूर्वोक्त लक्षणों वाला राजा ही (नः) हमें (महानां वाजानां दाता) आदरणीय बल, विज्ञान, धन आदि ऐश्वर्यों को दिलाने वाला, (नृतुः)

विविध रूप में, नट की भांति, कर्मकर्ता अथवा सबका नेता [नृ नये—औणादिकस्तु प्रत्ययः]हमें (महाम्)महान् ऐश्वर्य (अभिज्ञु) नम्रता पूर्वक (आयमत्) प्रदान करे ॥३॥

भावार्थः—राजा यों तो राजा ही है, परन्तु वही राजा वस्तुतः महान् एवं उदार है जो नम्र होकर प्रजा में अपना ऐश्वर्य बांट देता है ॥३॥

अपा॑दु शि॒प्र्य॑न्ध॑सः सु॒दक्ष॑स्य प्रहो॒षिणः॑ ।

इन्दो॒रिन्द्रो॒ यवा॑शिरः ॥४॥

पदार्थः—(शिप्री) मुखनासिका आदि से सुन्दर तथा मुकुटधारी, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजपुरुष (सु-दक्षस्य) उत्तम ज्ञान एवं बल से युक्त, (प्रहोषिणः) प्रकृष्ट रूप से समर्पित किये हुए (यवाशिरः) यव आदि को मिलाकर पकाये हुए, (इन्दोः) आनन्ददायक, (अन्धसः) स्वादु अन्न का (अपात्) पान करे और उसकी रक्षा करे ॥४॥

भावार्थः—इस मन्त्र में राजा के कर्त्तव्य का और उसके लक्षण का संकेत दिया है; अर्थ स्पष्ट है ॥४॥

तम्व॒भि प्रार्च॒तेन्द्रं॒ सोम॑स्य पी॒तये॑ । तदिद्ध्य॑स्य॒ वर्ध॑नम् ॥५॥

पदार्थः—हे प्रजा के मनुष्यो ! (सोमस्य पीतये) सृष्ट पदार्थों के ज्ञान तथा उनकी (पीतये) रक्षा के लिये, उन्हें बनाये रखने के लिये (तं) उस पूर्वोक्त (इन्द्रं) राजपुरुष की (अभि प्रार्चत) स्तुति करो; रक्षार्थ उसी से प्रार्थना करो; (तत् इति) यह स्तुति कर्म ही (अस्य वर्धनम्) इस सोम को बढ़ाने वाला भी है ॥५॥

भावार्थः—राष्ट्र में पूर्वोक्त मन्त्र से वर्णित राजा ही राष्ट्र के ऐश्वर्य का उत्तम रखवाला हो सकता है। सब प्रजाजन ऐसे राजा को ही रक्षा के लिये नियुक्त करें ॥५॥

अ॒स्य पी॒त्वा मदा॑नां दे॒वो दे॒वस्यौज॑सा ।

विश्वा॒भि भुव॑ना भुवत् ॥६॥

पदार्थः—(देवः) दिव्यगुणी राजा (अस्य) प्रजा द्वारा समर्पित इस कर आदि के (मदानां) हर्षदायक आनन्द का (पीत्वा) पान करके उस (देवस्य) समर्पित दिव्य धन आदि से प्राप्त (ओजसा) ओजस्विता द्वारा (विश्वा भुवना अभिभुवत्) सभी लोकस्थ शक्तियों को पराभूत कर देता है ॥६॥

भावार्थः—प्रजा द्वारा प्रसन्नता से समर्पित कर आदि धन से राजा न केवल हर्षित रहता है, अपितु, वह उसके बल पर सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वविजयी भी हो जाता है ॥६॥

त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् । आ च्यावयस्यूतये ॥७॥

युध्मं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम् । नरमवार्यक्रतुम् ॥८॥

पदार्थः—हे राजा के प्रशंसक प्रजाजन ! (त्यं उ) उस ही (सत्रासाहं) बहुतों पर विजय प्राप्त करने वाले, (वः) प्रजाजनों की (विश्वासु) सभी (गीर्षु) वाणी द्वारा गाये गये स्तोत्रों में (आयतं) विस्तृत, (युध्मं सन्तं) योद्धा होने के कारण (अनर्वाणं) अन्यों—शत्रुओं की पहुँच से बाहर, (सोमपां) विविध पदार्थों के भोक्ता अतएव (अनपच्युतं) अहिंसित तथा (अवार्य क्रतुं) अनिवारणीय कृत्यों वाले (नरं) नेता राजा को (ऊतये) रक्षा, देखभाल व सहायता के लिये (आ च्यावयसि) लिवाकर लाता है ॥७, ८॥

भावार्थः—दोनों मन्त्रों का एक साथ अर्थ किया गया है। प्रजाजन किन गुणों से विशिष्ट राजपुरुष को अपना रक्षक नियुक्त करें—यह इनमें दर्शाया गया है। मंत्रों का अर्थ स्पष्ट है ॥७, ८॥

शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम ।

अवा नः पार्ये धने ॥९॥

पदार्थः—प्रजाजनों के मध्य वर्तमान ऐश्वर्यशाली—इन्द्रपदवाच्य राजा से प्रजापुरुष प्रार्थना करते हैं—हे (ऋचीषम) स्तुति के सर्वथा योग्य ! (विद्वान्) सारी बात से खूब परिचित आप (इन्द्र) राजपुरुष ! (नः) हमें (रायः) दातव्य ऐश्वर्य (पुरु) बहुत वार (शिक्षा) प्रदान करें; (पार्ये) निर्णायक—पार पहुँचानेवाले— (धने) ऐश्वर्य की प्राप्ति तक (नः अव) हमारी रक्षा कर ॥९॥

भावार्थः—राजा ऐश्वर्यवान् है; वह अनेक अवसरों पर प्रजा को ऐश्वर्य के साधन देकर उन्हें ऐसा ऐश्वर्य प्रदान करता है कि जो प्रजा को सब रुकावटें पार कराके, लक्ष्य तक पहुंचाता है ॥९॥

अतश्चिदिन्द्र ण उपा याहि शतवाजया ।

इषा सहस्रवाजया ॥१०॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजपुरुष ! (अतः चित्) अपने वर्तमान स्थान से ही, (शतवाजया) सैंकड़ों बलों वाली, (सहस्रवाजया) हजारों सामर्थ्यवाली (इषा) समृद्धि के साथ (णः=नः) हमारे (उप) समीप (आयाहि) चलकर आ ॥१०॥

भावार्थः—राजा की जो समृद्धि—ज्ञान, बल, धन आदि का भण्डार है

उससे अनेक उपयोगी काम बन सकते हैं—राजा प्रजाजनों के मध्य जब पहुँचे, उस समय उसका यह भण्डार—दान के लिये खुला हो ॥१०॥

अयाम धीवतो धियोऽर्वद्भिः शक्र गोदरे ।

जयेम पृत्सु वज्रिवः ॥११॥

पदार्थः—हे (शक्र) समर्थ ! (वज्रिवः) शस्त्र-अस्त्र आदि साधनों वाले, (गोदरे) भूमि तथा पर्वत आदि के विदारण सरीखे प्रयत्नसाध्य कर्मों द्वारा धन-धान्य प्राप्त करने वाले राजपुरुष ! (धीवतः) प्रशस्त कर्म एवं ज्ञान वाले पुरुषों की (धियः) ज्ञान एवं कर्म-शक्तियों को (अयाम) प्राप्त करें और (पृत्सु) संघर्ष स्थलों में (जयेम) विजयी बनें ॥११॥

भावार्थः—राजपुरुष के आदर्श को सामने रखकर हम भी उसी के समान नाना विद्याओं को जानने वाले और कर्मकुशल बनें और इस प्रकार राजा-सहित हम सभी अपनी विघ्नबाधाओं पर विजयी हों ॥११॥

वयमु त्वा शतक्रतो गावो न यवसेष्वा ।

उक्थेषु रणयामसि ॥१२॥

पदार्थः—(यथा) जिस प्रकार (गावः) गाय आदि पशुओं को (यवसेषु) भक्ष्य तृण घास आदि से आनन्दित करते हैं, वैसे ही, हे (शतक्रतो) विविध कर्म शक्तियुत, नेता राजपुरुष (वयम् उ) हम ही (त्वा) आप को (उक्थेषु) कथन करने योग्य प्रशंसा वचनों द्वारा हर्षित करते हैं ॥१२॥

भावार्थः—राजपुरुष की प्रजा द्वारा उचित शब्दों में प्रशंसा राजपुरुष को प्रजा की भलाई के लिये प्रोत्साहित करती है—अतः वह करनी ही चाहिये ॥१२॥

विश्वा हि मर्त्यत्वनानुकामा शतक्रतो ।

अगन्म वज्रिन्नाशसः ॥१३॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) अपरिमित ज्ञान एवं कर्मशक्तिशालिन् ! (वज्रिन्) कठोर शस्त्रास्त्रादि साधनसम्पन्न ! राजपुरुष ! तेरी कृपा से हम (विश्वा हि) प्रायः सभी (मर्त्यत्वना) मानवोचित (अनुकामा) कामनाओं को और (आशसः) आशाओं को (अगन्म) प्राप्त करें ॥१३॥

भावार्थः—समाज के अति ज्ञानी व कर्मिष्ठ जन राजपद के योग्य होते

हैं। साधारण जन उनकी कृपा से अपनी सभी मानवोचित कामनाओं और आशाओं की सफल प्राप्ति कर पाते हैं ॥१३॥

त्वे सु पुत्र शवसोऽवृत्रन् कामकातयः ।

न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥१४॥

पदार्थः—हे (शवसः) बल के (पुत्र) रक्षक ! अथवा बल के द्वारा बहुतों के रक्षक राजपुरुष ! (कामकातयः) कामनाओं की पूर्ति के अभिलाषी जन (त्वे) तुझ पर (सु, अवृत्रन्) भलीभांति निर्भर रहते हैं। हे (इन्द्र) शक्तिसम्पन्न राजपुरुष ! (त्वां) तुझ से कोई भी (न अतिरिच्यते) बढ़ाचढ़ा नहीं है ॥१४॥

भावार्थः—समाज में सर्वोत्कृष्ट एवं सबसे अधिक शक्तिशाली पुरुष को उच्चतम राजपद दिया जाता है। साधारण जन अपने सुख-साधनों के लिये, स्वभावतः उसी पर निर्भर रहते हैं ॥१४॥

स नो वृषन्त्सनिष्ठया सं घोरया द्रवित्न्वा ।

धियाविड्ढि पुरन्ध्या ॥१५॥

पदार्थः—हे (वृषन्) बलिष्ठ एवं सुखप्रापक राजपुरुष ! (सः) वह तू (सनिष्ठया) स्थिर अथवा हमारे प्रति घनिष्ठ अनुराग रखनेवाली, (घोरया) महा तेजस्विनी अतएव आदरणीया, (द्रवित्न्वा)) शीघ्रता से कार्यसाधिका, (पुरन्ध्या) संसार भर की रक्षिका(धिया) प्रज्ञा एवं कर्मशक्ति के साथ (नः) हमारे समाज में (अविड्ढि) प्रवेश कर ॥१५॥

भावार्थः—समाज जिस व्यक्ति को राजपुरुष चुनती है उसकी विचार-शक्ति एवं कर्मशक्ति शीघ्रकार्य करने वाली तो होनी ही चाहिये,साथ ही उस पुरुष का समाज के प्रति अनुराग भी हो और वह इतना तेजस्वी भी हो कि सब स्वभाव से उसका आदर करें; अति परिचयदोष के कारण वह मान-हानि का शिकार न हो ॥१५॥

यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः ।

तेन नूनं मदे मदेः ॥१६॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रकार के प्रज्ञान एवं क्रिया शक्ति से समृद्ध (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (नूनं) निस्सन्देह (यः) जो (ते) आपका (द्युम्नितमः) अत्यन्त यशस्वी (मदः) हर्ष है; (तेन मदे) उस हर्ष में (नूनं) अब (मदेः) हमें भी हर्षित कर ॥१६॥

भावार्थः—हर्षित होना तो सभी चाहते हैं; ऐश्वर्यवान् व्यक्ति अपनी समृद्धि के बल पर हर्ष में डूबे रहते हैं; परन्तु उपासक तो परमेश्वर से वही हर्ष मांग रहा है कि जिस हर्ष से परम प्रभु हर्षित रहते हैं—अर्थात् अत्यन्त यशस्वी हर्ष। इस लोक के ऐश्वर्यवान् जन ऐसे हर्ष भी मनाते हैं, जिन्हें रँगरलियां कहते हैं और जो उनके अपयश को सूचित करते हैं। ऐसे हर्षों से उपासक को बचना चाहिये ॥१६॥

यस्ते चित्रश्रवस्तमो य इन्द्र वृत्रहन्तमः ।

य ओजोदातमो मदः ॥१७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! उस हर्ष में अब हमें भी हर्षित कर कि (यः) जो (ते) तेरा हर्ष (चित्रश्रवस्तमः) अत्यन्त आश्चर्यरूप से अतिशय श्रवण करने योग्य अथवा प्रशंसनीय है; (यः) जो (वृत्रहन्तमः) विघ्नकारी, गुणों को रोकनेवाली शक्तियों को खूब नष्ट कर सकता है और (यः) जो (ओजोदातमः) ओजस्विता का आधान करने में अत्यधिक समर्थ है ॥१७॥

भावार्थः—निश्चय ही इस मंत्र में वर्णित ईश्वरीय हर्ष सर्वथा निष्पाप ही होना सम्भव है; मनुष्यों को ऐसे ही हर्ष का सेवन करना चाहिये ॥१७॥

विद्मा हि यस्ते अद्रिवस्त्वादत्तः सत्य सोमपाः ।

विश्वासु दस्म कृष्टिषु ॥१८॥

पदार्थः—हे (अद्रिवः) मेघ के समान उदारों के तथा पाषाणवत् दृढ़ एवं शत्रुनाशक जनों के स्वामिन् ! (सत्य) न्यायनिष्ठ ! एवं (दस्म) अज्ञानान्धकार के नाशक ! (सोमपाः) ऐश्वर्य के पालक ! (यः) जो (त्वादत्तः) अपका दिया हुआ हर्ष (विश्वासु) समस्त (कृष्टिषु) मनुष्यों में विद्यमान है। हम उसको (ते) अपका (हि) ही (विद्म) जानें ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वर सब प्रकार के विविध ऐश्वर्यों के निधि हैं—और साथ ही जैसे मेघ उदारता से जल प्रदान करता है, वैसे ही वे भी अपना ऐश्वर्य मनुष्यों में बांट देते हैं। अपने चारों ओर ऐश्वर्यवानों को प्रसन्न देखकर हम यह अनुभव करें इनकी प्रसन्नता तभी तक है जब तक कि ये परमेश्वर की भांति निष्पाप हर्ष के भागी हों—सपाप हर्ष टिकाऊ नहीं रह सकता ॥१८॥

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः ।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥१९॥

पदार्थः—(मद्वने) आनन्द में विभोर आनन्दशील (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् के लिये (सुतं) निष्पादित दिव्य आनन्द की (नः गिरः) हमारी वाणियां (परि, स्तोभन्तु) सर्वतः प्रशंसा करें। पुनश्च इस (अर्कं) सारभूत सोम तत्व की (कारवः) कर्म में दक्ष—परम लक्ष्य के कुशल साधक ही (अर्चन्तु) सेवा करते हैं—इसको प्राप्त करते हैं ॥१९॥

भावार्थः—भगवान् आनन्दस्वरूप हैं; हमें उनके आनन्दी होने का मर्म समझना चाहिये और उसकी प्रशंसा कर उसको प्राप्त करने की अभिलाषा मन में जगानी चाहिये। हां, कुशल साधना से ही यह दिव्य आनन्द प्राप्त किया जा सकता है ॥१९॥

यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः ।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥२०॥

पदार्थः—(संसदः) सम्यक् स्थिरता से टिकने वाली (सप्त) सात इन्द्रियां अथवा सप्तऋषि (विश्वाः) सभी (यस्मिन् अधिश्रियः) जिस अधिष्ठाता का आश्रय लेते हैं उस (इन्द्रं) ज्ञानघन के ईश्वर मन को (सुते) योगयज्ञ में ऋतम्भरा की सिद्धि के प्रयोजन से (हवामहे) पुकारते हैं ॥२०॥

भावार्थः—पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि ये सातों ऋषि जीवात्मा के अधिष्ठातृत्व में ज्ञानयज्ञ का सम्पादन कर रहे हैं। इस ज्ञान एवं योगयज्ञ का सम्पादन करते हुए ऋतम्भरा प्रज्ञा की सिद्धि होने पर जीवात्मा को दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है ॥२०॥

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत ।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ॥२१॥

पदार्थः—(देवासः) दिव्य इन्द्रियां (त्रिकद्रुकेषु) तीन स्थितियों—अर्थात् शरीर-आत्मा-मन की पीड़ाओं की स्थितियों—में (यज्ञं) उपासकों के संगमनीय—गमनार्ह—अथवा पूजनीय (चेतनम्) ज्ञान आदि गुणोंवाले परमेश्वर का (अतन्वत) विस्तार करते हैं—उसका विस्तार से मनन अथवा ध्यान करते हैं। (तं इत्) उस ही मनन को (नः) हमारी (गिरः) वाणियां (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥२१॥

भावार्थः—किसी भी प्रकार की पीड़ा की अवस्था में मानव परम चेतन परमेश्वर की शक्ति को ध्यान में लाता है। यदि हम वाणी से प्रभु के गुणों का कीर्तन करते रहें तो उक्त तीन पीड़ा की अवस्थाओं से अतिरिक्त अवस्थाओं में भी हमें प्रभु का सान्निध्य-सा प्राप्त होता है ॥२१॥

आ त्वां विशन्त्विन्दंवः समुद्रमिंव सिन्धंवः ।

न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥२२॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (सिन्धवः) नदी, नद आदि के जल जैसे (समुद्रं आ विशन्ति) समुद्र में ही समा जाते हैं, कुछ भी अतिरिक्त शेष नहीं रहता; वैसे ही तुझ परमेश्वर में (इन्दवः)सभी आनन्दकर ऐश्वर्यरूप पदार्थ (आ विशन्ति) चारों ओर से आ-आ-कर प्रविष्ट हो जाते हैं; (त्वां अति) तुझ परमेश्वर को लांघकर (न अतिरिच्यते) कोई वस्तु अतिरिक्त नहीं रहती ॥२२॥

भावार्थः—सृष्टि के सभी पदार्थों से मिलनेवाला आनन्दरस उनके रचयिता परमेश्वर में ही निहित है; उससे बाहर व उससे बढ़कर कोई पदार्थ या उससे प्राप्त होनेवाला आनन्द भी नहीं है। सृष्टिरचित पदार्थों से मिलने वाला आनन्द परमात्मा के अपने दिव्य आनन्द से भिन्न या अधिक या उत्कृष्ट नहीं होता ॥२२॥

विव्यक्थं महिना वृषन्भक्षं सोमंस्य जागृवे ।

य इंन्द्र जठरेषु ते ॥२३॥

पदार्थः—हे (वृषन्) सुखवर्षक! (जागृवे) जागरूक! सदा सावधान! (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (यः) जो (ते) तेरे (जठरेषु) उदर की भांति अन्तर्हित सुखाधिष्ठानों में (सोमस्य) ऐश्वर्य का (भक्षं) मेरा भक्षणीय अथवा सेवनीय अंश है उसको तूने (महिना) अपनी बुद्धि से (विव्यक्थ) व्याप्त कर रखा है ॥२३॥

भावार्थः—प्रभु की सृष्टि के पदार्थों में मनुष्य का जितना सेवनीय अंश विद्यमान है—उस पर प्रभु की बुद्धि का अधिकार है। परमात्मा मनुष्यों के कर्मानुसार अपनी विवेक बुद्धि से भोग्य पदार्थों का मानो बंटवारा करते हों ॥२३॥

अरं त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन् ।

अरं धामंभ्य इन्दंवः ॥२४॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्) विघ्न दूर करनेवाले! (इन्द्र) परमेश्वर! (सोमः) ऐश्वर्य (ते) तेरे (कुक्षये) उदर की भांति अन्तर्हित अधिष्ठान के लिये—कोश के लिये (अरं) पर्याप्त (भवतु) होता है। (इन्दवः) सभी आनन्दप्रद पदार्थ तेरे (धामभ्यः) परिवारी जनों [धामन्-गृहनिवासियों पारिवारिकों के लिये] (अरं) पर्याप्त हैं ॥२४॥

भावार्थः—पूर्व मंत्र के अनुसार परमप्रभु दिव्यानन्द का निधान है; उसके ये कोश उसमें स्थापित हैं और उदर की भांति अन्तर्हित हैं। इस मन्त्र में यह बात कही गई है कि इस कोश के लिये पर्याप्त ऐश्वर्य निष्पन्न होता रहता है—और केवल उसके लिये ही नहीं, इस ब्रह्माण्डरूप उसके नानाविध प्रतिष्ठानों में रहनेवाले संसारीजन उसके आत्मीय ही हैं; उनके लिये भी पर्याप्त ऐश्वर्य उसके कोश में संचित रहता है ॥२४॥

अरमश्वाय गायति श्रुतकक्षो अरं गवे ।

अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥२५॥

पदार्थः—(श्रुतकक्षः) वैदिकज्ञान को सुरक्षित किये हुआ विद्वान् (इन्द्रस्य) परमेश्वर सम्बन्धी (अश्वाय) शीघ्र गमनागमनशक्ति, अर्थात् कर्मशक्ति के लिये (अरं) पर्याप्त, (गवे) ज्ञानशक्ति के लिये (अरं) पर्याप्त और (धाम्ने) परमेश्वर की आधारशक्ति के लिये (अरं) पर्याप्त (गायति) स्तुति करता है ॥२५॥

भावार्थः—पहले मन्त्रों में बताया कि परमेश्वर में दिव्य आनन्द के कोश स्थापित हैं। इन आनन्दमय कोशों से मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाकर कर सकता है ॥२५॥

अरं हि ष्मा सुतेषु णः सोमेष्विन्द्र भूषसि ।

अरं ते शक्र दावने ॥२६॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न राजपुरुष! (सोमेषु) ऐश्वर्यप्रापक पदार्थों के (नः) हमारे द्वारा (सुतेषु) विद्या एवं सुशिक्षा द्वारा निष्पन्न कर लिये जाने पर, उनका शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आप (हि अरं भूषसि स्म) निश्चय ही समर्थ हो जाते हैं। हे (शक्र) दानसमर्थ! (ते) तेरी (दावने) दानशीलता के लिये भी (अरम्) वह शुद्ध ज्ञान पर्याप्त अथवा समर्थ होता है ॥२६॥

भावार्थः—ईश्वर-भक्त मनुष्य जब विद्या एवं सुशिक्षा द्वारा सृष्टि के विभिन्न पदार्थों का सार उपलब्ध कर लेता है तब उसके राष्ट्र के अध्यक्ष

राजपुरुष की दानशक्ति भी पर्याप्त हो जाती है। प्रजा का ज्ञानबल बढ़ने पर राष्ट्र की शक्ति भी बढ़ती है ॥२६॥

परा॒काच्चि॑दद्रिव॒स्त्वां न॑क्षन्त॒ नो॒ गिरः॑ ।

अरं॑ गमाम ते व॒यम् ॥२७॥

पदार्थः—हे (अद्रिवः) मेघवत् उदार एवं पाषाणवत् शक्तिशालिन् इन्द्र ! (नः) हमारी (गिरः)वाणियां(त्वां)तुझको (पराकात् चित्) दूर से भी दूर से(न क्षन्त) पहुँच जाती हैं। (वयम्) हम (ते) तुझे (अरं) पर्याप्त (गमेम) प्राप्त करलें—समझलें ॥२७॥

भावार्थः—भगवान् से अधिक से अधिक विमुख व्यक्ति भी उसके गुणकीर्तन द्वारा उसको पर्याप्त समझ लेता है। स्पष्ट है कि प्रभु के गुणों की स्तुति अर्थ समझते हुए करनी चाहिये ॥२७॥

ए॒वा ह्यसि॑ वीर॒युरे॒वा शूर॑ उ॒त स्थि॒रः ।

ए॒वा ते॒ राध्यं॒ मनः॑ ॥२८॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य की साधना करनेवाले जीव ! (हि वीरयुः एव असि) तू वीरों और वीरता का प्रेमी, चाहनेवाला, तो निश्चय है ही; फिर तू (शूरः उत स्थिरः) दुष्ट दोषों का निवारक और निश्चल प्रकृति है। (एवा) इसी प्रकार (ते) तेरा मन भी (राध्यम्) संशोधित करने योग्य है ॥२८॥

भावार्थः—वीर और वीरता का प्रेमी साधक शूर और निश्चल एवं दृढ़ स्वभाव का तो होता ही है; यदि वह प्रभुभक्ति के दिव्य आनन्द का रस लेना चाहता है तो उसको अपने मन को संस्कृत करना चाहिये ॥२८॥

ए॒वा रा॒तिस्तु॑वीमघ॒ विश्वे॑भिर्धायि धा॒तृभिः॑ ।

अधा॑ चिदिन्द्र मे॒ सचा॑ ॥२९॥

पदार्थः—हे (तुवीमघ) विविध ऐश्वर्य के धनी परमेश्वर ! (विश्वेभिः) सभी (धातृभिः) पोषणकर्ताओं द्वारा (रातिः एवा) दानशीलता ही (धायि) धारण की गई है; (अधा) इसके अतिरिक्त तो (इन्द्र) हे शक्तिशाली ! तू (नः) हमारा (सचा) साथी मित्र ही है ॥२९॥

भावार्थः—परमेश्वर पोषणकर्ता प्रसिद्ध है; और पोषणकर्ता कोई भी हो, वह दानशील तो होगा ही, अन्यथा पोषणसामर्थ्य कैसे देगा ! फिर सच्चे

भक्त का तो परमेश्वर सदा का साथी, मित्र ही होता है—वह अपने साथी हमको पोषणसामर्थ्य क्यों न देगा ? ॥२९॥

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते ।

मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥३०॥

पदार्थः—हे (वाजानां पते) ज्ञान, बल, धन आदि ऐश्वर्यों के संरक्षक राज-पुरुष ! (ब्रह्मा इव) योगिराज चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् जैसे (तन्द्रयुः) आलसी नहीं होता वैसे तू भी (मा सु भवः) तन्द्रालु मत बन, सदा जागता रह । चौकन्ना रह कर ऐश्वर्यों की रक्षा कर । (सुतस्य) निष्पादित (गोमतः) प्रशस्त स्तोताओं वाले ऐश्वर्य में (मत्स्व) हर्ष मना ॥३०॥

भावार्थः—योगिराज चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् की भांति राजपुरुष को भी कभी आलसी नहीं होना चाहिये; राष्ट्र के ऐश्वर्य की रखवाली में वह सदा सावधान रहे और इस प्रकार विविध स्तोताओं द्वारा प्रशंसित ऐश्वर्य में मग्न रहे ॥३०॥

मा नं इन्द्राभ्या३ दिशः सूरो अक्तुष्वा यमन् ।

त्वा युजा वनेम तत् ॥३१॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) राजन् !(अक्तुषु) रात्रि के अन्धकार के समयों में(दिशः) किसी भी दिशा से आकर कोई (सूरः) छापा मारनेवाला चोर, उचक्का आदि (नः) हम प्रजाओं को (न आ यमत्) दबोच न ले । अथवा हे मेरे दिव्य मन ! अज्ञान की अवस्थाओं में कोई दुष्ट प्रेरणा देनेवाला दुर्भाव आदि हमको दबोच न ले । (त्वा युजा) तुझसे संयुक्त हुए, मिले हुए हम (तत्) उस आक्रमण को (वनेम) जीत लें ॥३१॥

भावार्थः—राजा सजग रहे तो रात में भी उसकी प्रजा किसी अप्र-त्याशित आक्रमणकारी का शिकार नहीं होती; प्रजा और राजा मिलकर ऐसे आक्रमण के समय विजयी रहते हैं । ऐसे ही यदि मनुष्य का मन सजग रहे तो दुर्भावनाएं मनुष्य को दबोच नहीं सकतीं; दिव्य मन, संकल्पशक्ति की सहायता से मनुष्य की दुर्भावनाओं पर विजयी हो जाता है ॥३१॥

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।

त्वमस्माकं तव स्मसि ॥३२॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) राजन् और दिव्य मन ! (त्वया युजा इत्) तुझ सहयोगी के साथ ही हम (स्पृधः) स्पर्धा करनेवाले शत्रुओं और शत्रुभावनाओं की चुनौती का (प्रति ब्रुवीमहि) प्रत्युत्तर देते हैं। हे (इन्द्र) राजन् एवं मेरे दिव्य मन ! (त्वं अस्माकम्) तू हमारा रह और हम (तव स्मसि) तेरे रहें ॥३२॥

भावार्थः—राजा और प्रजा परस्पर मित्र एवं सहायक रह सभी ईर्ष्यालुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे ही यदि मन और इन्द्रियां परस्पर सहायक एवं मित्र रहें तो दुष्ट भावनायें मानव के जीवन को नष्ट नहीं कर पातीं ॥३२॥

त्वामिद्धि त्वायवोऽनुनोनुवतश्चरान् । सखाय इन्द्र कारवः ॥३३॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) राजन् ! और दिव्य मन ! (कारवः) कर्म कुशल प्रशंसक प्रजाजन तथा कर्मकुशल इन्द्रियां (त्वायवः) तुझे प्राप्त करना चाहते हुए, तेरी मित्रता की कामना करते हुए (त्वां इत् हि) निश्चय ही तुझे ही (अनुनोवतः) प्रणाम करते हुए (चरान्) जीवनयापन करें ॥३३॥

भावार्थः—राष्ट्र में राजा के प्रशंसक कर्मकुशल व्यक्ति राजा के अनुशासन में भक्तिभाव से रहें तो राष्ट्र का जीवन सुखमय बना रहता है और दिव्य मन और इन्द्रियों का परस्पर श्रद्धापूर्ण सहयोग बना रहता है तो मनुष्य का जीवन सुखपूर्ण रहता है ॥३३॥

अष्टम मण्डल में यह बानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ चतुस्त्रिंशदृचस्य त्रिनवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—३४ सुकक्षः ॥ देवता—१—३३ इन्द्रः । ३४ इन्द्र ऋभवश्च ॥ छन्दः—१, २४, ३३ विराड्गायत्री । २—४, १०, ११, १३, १५, १६, १८, २१, २३, २७—३१ निचृद्गायत्री । ५—९, १२, १४, १७, २०, २२, २५, २६, ३२, ३४ गायत्री । १९ पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् । अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥

पदार्थः—हे (सूर्य) प्रेरक परमात्मन् ! आप (श्रुतामघं) अपनी अन्तः प्रेरणा से समृद्ध, (वृषभं) ज्ञानवर्षक, (नर्यापसं) मनुष्यों के हितकारक कार्यों की सम्पादक, (अस्तारं) काम, क्रोध आदि तामस भावनाओं के फेंक देनेवाली प्रज्ञाशक्ति की (अभि घ-इत्) लक्ष्य करके ही निश्चय (उत् एषि) उदय होते हैं ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर से प्रेरणा प्राप्त करके मनुष्य का मन अर्जित ज्ञान के उपदेश, यज्ञ आदि सर्व हितकारी कार्यों और काम, क्रोध आदि दुष्ट भावनाओं को फेंक देने आदि में प्रवृत्त होता है॥१॥

नव यो नंवतिं पुरों बिभेदं बाह्वोंजसा ।

अहिं च वृत्रहावंधीत् ॥२॥

स न इन्द्रः शिवः सखाश्वांवद् गोमद्यवंमत् । उरुधांरेव दोहते ॥३॥

मंत्र संख्या २ तथा ३ का सम्मिलित अर्थ इस प्रकार है—

पदार्थः—(यः) जिस इन्द्र अर्थात् मनुष्य की प्रज्ञा ने (बाह्वोजसा) दूर-दूर तक प्रभावशाली अपने ओज से (नव नवतिं) ९×९०=८१० अर्थात् अनेक (पुरः) शत्रुभावनाओं की बस्तियों को (बिभेद) छिन्न-भिन्न किया और उस (वृत्रहा) मेघ-हन्ता सूर्य के समान (अहिं) सांप-जैसी दुष्टभावनाओं तथा रोगादिकों का (अवधीत्) बध किया [अहिः=निर्ह्रसित उपसर्ग आहन्तीति (सर्पः)—निरु० २-१७](सः) वह (नः) हमारी (शिवः) कल्याणकारिणी, (सखा) मित्र (इन्द्रः) प्रज्ञा (अश्वावत्) कर्म-बलयुक्त, (गोमत्) ज्ञानबलयुक्त (यवमत्) और दोनों के मिश्रणभूत फल को (उरु-धारेव) बड़ी विशालधाराओं में ही (दोहते) दूध के समान प्रदान करती है॥२, ३॥

भावार्थः—जब साधक अपनी मननशक्ति के द्वारा दुर्भावना, रोग आदि विघ्नों को दूर कर देता है तो उसकी कर्मेन्द्रियां एवं ज्ञानेन्द्रियां निर्विघ्न होकर समृद्धि का अर्जन करती हैं॥२, ३॥

यदुद्य कच्चं वृत्रहन्नुदगां अभि सूर्य । सर्वं तदिंन्द्र ते वशे ॥४॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्, सूर्य) मेघहन्ता सूर्य के समान तामस वृत्तियों को नष्ट करनेवाली मेरी परमेश्वर प्रेरित प्रज्ञे! (अद्य) आज (यत्, कत्, च) जिस किसी को (अभि) लक्ष्य करके (उत् अगाः) तेरा उदय हुआ हो, (इन्द्र) हे मेरी प्रज्ञे! (सर्वं तत्) वह सब (ते) तेरे (वशे) आधीन हो॥४॥

भावार्थः—सूर्य मेघ को छिन्न-भिन्न करता है; ऐसे ही मनुष्य की प्रज्ञा, तामस वृत्तियों को काटती है; मनुष्य संकल्प करे कि उसकी प्रज्ञा जिस तामसवृत्ति को नष्ट करने के लिये जब उद्यत हो तभी वह उसको सफलतापूर्वक काट डाले॥४॥

यद्वां प्रवृद्ध सत्पते न मंरा इति मन्यंसे । उतो तत्सत्यमित्तवं ॥५॥

पदार्थः—(वा) अथवा हे (प्रवृद्ध) बढ़ी हुई (सत्पते) सद्भावनाओं की रक्षिका बनी हुई मेरी प्रज्ञे ! (यत्) जब तू (न मरा=न मरै) मैं न मरूं (इति) यह (मन्यसे) समझने लगती है (उतो) अनन्तर, तब ही (तत्) वह तेरा मानना=समझना (इत्) ही (तव सत्यम्) तेरा वास्तविक स्वरूप है ॥५॥

भावार्थः—जब हमारी मननशक्ति, सद्भावनाओं से ओतप्रोत हुई अमर प्रतीत होने लगती है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है। सद्भावनाओं से ओत-प्रोत मन एक प्रकार की अमर शक्ति है ॥५॥

ये सोमा॑सः परा॒वति॒ ये अ॑र्वा॒वति॑ सुन्वि॒रे ।

सर्वा॑ँ॒स्ताँ इ॑न्द्र गच्छसि ॥६॥

पदार्थः—(ये) जो (सोमासः) सुसम्पादित पदार्थबोध (परावति) दूरस्थकाल अथवा देश में और (ये) जो पदार्थबोध (अर्वावति) समीपस्थ काल अथवा प्रदेश में (सुन्विरे) सम्पन्न किये गये हों (तां) उन सब को, हे (इन्द्र) प्रज्ञे! तू (गच्छसि) प्राप्त होती है ॥६॥

भावार्थः—दूरस्थ देश में अथवा किसी समीपस्थ देश में अभी या बहुत पहले या बाद में पदार्थों का जो भी बोध प्राप्त हुआ; होता है अथवा होगा—वह सब हमारी प्रज्ञा को ही प्राप्त होगा। प्रज्ञा ही पदार्थबोध को वहन करती है ॥६॥

तमिन्द्रं॑ वाजयामसि म॒हे वृ॒त्राय॒ हन्त॑वे ।

स वृषा॑ वृ॒षभो॑ भुवत् ॥७॥

पदार्थः—(महे) बड़ी (वृत्राय) ज्ञान की अवरोधक तामस प्रवृत्ति को (हन्तवे) नष्ट करने के लिये हम (तं) उस पूर्वोक्त (इन्द्रं) प्रज्ञा को (वाजयामसि) बलवती बनाते हैं। (सः) हमारा मन (वृषा) ज्ञान की वर्षा के द्वारा (वृषभः) सुखों की वर्षा करनेवाला (भुवत्) होवे ॥७॥

भावार्थः—तामस वृत्तियों का हनन मन की संकल्प शक्ति को बलवान् बना कर किया जा सकता है। प्रबल संकल्प ही सुखों का कारण है ॥७॥

इन्द्रः॒ स दाम॑ने कृ॒त ओजि॑ष्ठः॒ स मदे॑ हि॒तः ।

द्यु॒म्नी श्लो॒की स सो॒म्यः ॥८॥

पदार्थः—(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [प्रज्ञा], जो (दामने कृतः) कुटिलताओं को

दमन करने में समर्थ बनाया गया है; जो (ओजिष्ठः) अति ओजस्वी है; और (सः) वह (बले) बल के कार्यों में (हितः) नियुक्त है; जो (द्युम्नी) प्रभु की प्रेरणा प्राप्त अतएव बली है; (श्लोकी) प्रशंसित है और (सः) वह (सोम्यः) सौम्य गुणयुक्त है ॥८॥

भावार्थः—जब मनुष्य अपने मन में कुटिलताओं को उभरने नहीं देता—तब वह उस समर्थ मननशक्ति के द्वारा स्वयं ओजस्वी, बली और बल के कार्यों को करनेवाला, अतएव, यशस्वी हो जाता है ॥८॥

गिरा वज्रो न सम्भृतः सबलो अनपच्युतः ।

ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥९॥

पदार्थः—(वज्रः न) युद्ध अर्थात् संघर्ष के कठोर साधन के समान (गिरा) वेदवाणी द्वारा (सम्भृतः) कठोर अर्थात् समाहित=अनन्यवृत्ति हुआ [संभृत= Concentrated आप्टे]; (सबलः) बलवान्; (अनपच्युतः) कुटिल वृत्तियों द्वारा अपने स्थान से न गिराया गया=सुदृढ़; (ऋष्वः) ज्ञान हेतु [स्वा० द० ऋक् १-६४-२]; (अस्तृतः) अबाधित मन (ववक्षे) अपने कार्य का निर्वाह करे ॥९॥

भावार्थः—वेदवाणी में भगवान् के गुणकीर्तन द्वारा मन समाहित होकर कुटिलताओं से लोहा लेने के लिये ऐसा ही कठोर हो जाता है जैसा वज्र। समाहित मन, बलवान् और अडिग बन जाता है। इस प्रकार के एकाग्रमन के द्वारा ही कुटिलताओं का अपहार किया जा सकता है ॥९॥

दुर्गे चिन्नः सुगं कृधि गृणान इन्द्र गिर्वणः ।

त्वं च मघवन् वशः ॥१०॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) वेदवाणी द्वारा स्तुत (इन्द्र) मेरे मन ! (दुर्गे चित्) ऊबड़खाबड़ प्रदेश में (नः) हमारे लिये (सुगं) सुखपूर्वक जाने योग्य मार्ग (कृधि) बना दे। (त्वं च) और तू, हे (मघवन्) आदरणीय ऐश्वर्य-बुद्धि के धनी मेरे मन ! (वशः) मेरा वशवर्ती बन ॥१०॥

भावार्थः—मनुष्य की जीवनयात्रा का प्रदेश नानाविध कठिनाइयों एवं रुकावटों के कारण ऊबड़-खाबड़ है—समतल नहीं है ['दुर्गः' है]; उसमें चलने के लिये सरल मार्ग समाहित मन द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। और यह भी तब जब समाहित मन भी जीवात्मा का वशवर्ती रहे ॥१०॥

यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्यम् ।

न देवो नाध्रिगुर्जनः ॥११॥

पदार्थः—हे मेरे दिव्य मन ! (यस्य) जिस तेरे (आदिशं) आदेश को और (स्वराज्यम्) प्रतिद्वन्द्वितारहित अपने निजी प्रशासन को (न मिनन्ति) कोई भी विध्वस्त नहीं करता; (न देवः) न तो कोई इन्द्रियवशी विद्वान् ही और (न) न ही (अध्रिगुः) अधीरता से काम करनेवाला (जनः) मनुष्य ही ॥११॥

भावार्थः—मनुष्य का मन, उसकी मननशक्ति इतनी प्रबल है कि मानव के जीवन में उसके शासन का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है; मनुष्य के जीवन में वह सर्वेसर्वा है; भले ही मनुष्य दिव्यगुणी इन्द्रियजयी विद्वान् हो अथवा अधीर प्रकृति मनुष्य । इसलिये मन को समर्थ बनाना आवश्यक है ॥११॥

अधा ते अप्रतिष्कुतं देवी शुष्मं सपर्यतः ।
उभे सुशिप्र रोदसी ॥१२॥

पदार्थः—(अधा) पुनश्च हे (सुशिप्र) शोभन व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सुखों के स्रोत मेरे मन ! (उभे) दोनों (देवी) द्योतमान (रोदसी) द्यावा पृथिवी के मध्य वर्तमान प्राणी (ते) तेरे (अप्रतिष्कुतं) विरोधी शक्तियों द्वारा अपराजित(शुष्मं) बल को (सपर्यतः) पूजते हैं—उसका आदर करते हैं ॥१२॥

भावार्थः—मानव के मन का बल कहीं भी पराजित नहीं होता-सभी प्राणी उसके सन्मुख नतमस्तक हैं ॥१२॥

त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च ।
परुष्णीषु रुशत् पयः ॥१३॥

पदार्थः—(त्वं) तू ही (कृष्णासु) तुझ मस्तिष्क से आदेश, प्रेरणा, आदि का आकर्षण करनेवाली (च) और (रोहिणीषु) शारीरिक अनुभूति को लेकर मस्तिष्क में आरोहण करनेवाली (परुष्णीषु) कुटिलगामिनी—टेढ़ी-मेढ़ी चलती—वातनाड़ियों में (रुशत्) उष्ण (पयः) तरल पदार्थ को (अधारयः) धारण कराता है ॥१३॥

[परुष्णी=पर्ववती=कुटिलगामिनी निरु० ९-२६]

भावार्थः—शारीरिक क्रियायें वातनाड़ियों द्वारा उत्पन्न होती हैं। इनके भीतर एक तरल पदार्थ और ऊपर सूत्रतन्तु होता है। प्रत्येक तन्तु के दो सिरे होते हैं—एक सिरा मस्तिष्क में और दूसरा भिन्न-भिन्न अंगों में होता है। ये दो प्रकार के होते हैं—एक के द्वारा इन्द्रियों की अनुभूति मस्तिष्क तक पहुँचती है और दूसरे प्रकार के सूत्रों द्वारा मस्तिष्क की प्रेरणायें अंगों तक पहुंचती हैं। उष्ण तरल पदार्थ इनके जीवित होने का

लक्षण है । इस प्रकार मस्तिष्क ही इन दो प्रकार के वातसूत्रों द्वारा शरीर के चैतन्य का धारक बना रहता है ॥१३॥

वि यदहेरध त्विषो विश्वे देवासो अक्रमुः ।

विदन्मृगस्य ताँ अमः ॥१४॥

पदार्थः—(अध) अनन्तर (यत्) जब (विश्वे) सभी (देवासः) दिव्य अङ्ग (अहेः) सर्पवत् कुटिल भावना की (त्विषः) प्रचण्डताओं को (वि अक्रमुः) लांघ जाते हैं, उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं तब तू (तान्) उनको (मृगस्य) शिकार करने वाले पशु, सिंह, का उसके बल के बराबर का (अमः) बल (विदन्) प्रदान कर देता है ॥१४॥

भावार्थः—मस्तिष्क सभी अङ्गों को इतना बल देता है कि कुटिल-भावनायें अथवा दुर्बलता, रोग आदि उपसर्ग उनको पीड़ित नहीं करते। रोग अथा अन्य घातक उपसर्गों से बचने के लिये चेतना का केन्द्र मस्तिष्क बलवान् होना चाहिये ॥१४॥

आदु मे निवरो भुवद्वृत्रहादिष्ट पौंस्यम् ।

अजातशत्रुरस्तृतः ॥१५॥

पदार्थः—(उ) और (आत्) इसके पश्चात् (मे) मेरा (अजातशत्रुः) शत्रुत्व-भावना जिसमें कभी उत्पन्न ही नहीं होती—सबका मित्र; (अस्तृतः) बलवान् होने के कारण अहिंसित मन (निवरः) कुटिलताओं का निवारण करने वाला; (वृत्रहा) विघ्नबाधाओं को दूर करनेवाला (भुवत्) हो जाता है और (पौंस्यम्) बल (आदिष्ट) प्रदान करता है ॥१५॥

भावार्थः—जो बलशाली मनःशक्ति स्वयं दुर्भावनाओं की शिकार नहीं हुई होती वह अपने सुमार्ग की सब विघ्नबाधाओं को नष्ट करती हुई शरीरादि को बल प्रदान करती है ॥१५॥

श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम् ।

आ शुषे राधसे महे ॥१६॥

पदार्थः—(चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (आशिषे) कामना की पूर्ति के लिये और (महे) बड़ी (राधसे) सफलता के लिये (श्रुतं) विख्यात; (वृत्रहन्तमम्) अति श्रेष्ठ विघ्नविनाशक (वः) अपने मनोबल को (प्र) प्रकृष्ट बनाओ ॥१६॥

भावार्थः—इस मन्त्र का आशय स्पष्ट है। मनुष्यों का अपना मनोबल ही है जो उसकी कामनाओं की पूर्ति एवं जीवन में सफलता दिला सकता है। उसी को दृढ़ बनाना चाहिये ॥१६॥

अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत ।

यत्सोमेसोम आभवः ॥१७॥

पदार्थः—हे (पुरुणामन्) अनेक नामों से प्रसिद्ध ! (पुरुष्टुत) बहुतों से स्तुत मेरी मननशक्ति ! (अया) इस रीति से (च) तथा (गव्यया) ज्ञान अथवा प्रबोध चाहने वाली (धिया) कर्तृत्व बुद्धि के साथ (सोमे सोमे) प्रत्येक ऐश्वर्य के इच्छुक जन में [सोमः=ऐश्वर्यमिच्छुः—स्वा० द० यजु० ९-३१] (आभुवः) अपने अस्तित्व को प्रकट कर ॥१७॥

भावार्थः—ज्ञान, बल आदि ऐश्वर्य का इच्छुक प्रत्येक जन अपने मस्तिष्क को ऐसा जागरूक बनावे कि ज्ञान प्राप्त करने एवं प्रेरणा देने की—दोनों प्रकार की शक्तियों का साथ कभी न छोड़े ॥१७॥

बोधिन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः ।

शृणोतु शक्र आशिषम् ॥१८॥

पदार्थः—(नः) हम मनुष्यों में जो (बोधिन्मनाः) बोधयुक्त मननशक्तिवाला है वह (इत्) ही (वृत्रहा) विघ्नापहारक और (भूर्यासुतिः) प्रभूत निष्पन्नता=सफलता वाला (अस्तु) होता है। ऐसा (शक्र) समर्थ मन (आशिषं) कामना को (शृणोति) सुनता है ॥१८॥

भावार्थः—जब मननशक्ति प्रबोध एवं कर्तृत्व शक्ति से सम्पन्न हो जाती है तब तो जीवन-पथ की सभी रुकावटें दूर हो जाती हैं और प्रभूत सफलता प्राप्त होती है ॥१८॥

कया त्वं न ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन् ।

कया स्तोतृभ्य आ भर ॥१९॥

पदार्थः—हे (वृषन्) सुख आदि की वर्षा करने वाले, समर्थ प्रभो ! आप (कया) किस अद्भुत (ऊत्या) रक्षा व सहायता के द्वारा (नः) हमें (अभि प्र मन्दसे) आनन्दित करते हैं ! और (कया) किस उत्तम रीति से (स्तोतृभ्यः) गुणकीर्तन करने वाले साधकों को (आ भर) सब ओर से परिपूर्ण करते हैं ! ॥१९॥

भावार्थः—मनःशक्ति का वर्णन करता हुआ भक्त उसके प्रदाता भगवान् की महिमा का उल्लेख करता है। इस सृष्टि में जीवात्मा को परमात्मा द्वारा जो संरक्षण एवं साहाय्य, मननशक्ति आदि के माध्यम से प्राप्त हो रहा है, वह सचमुच अवर्णनीय है॥१९॥

कस्य॒ वृषा॑ सु॒ते सचा॑ नि॒युत्वा॑न्वृष॒भो र॑णत्।

वृ॒त्र॒हा सोम॑पीतये॥२०॥

पदार्थः—(नियुत्वान्) शुभगुणों से अत्यधिक युक्त अथवा अपनी वाहक शक्तियों वाला, (वृषभः) इसीलिये बलवान् अथवा श्रेष्ठ (वृत्रहा) विघ्नों को नष्ट करने के सामर्थ्यवाला साधक मन (सोमपीतये) दिव्य आनन्दरस का पान करने के लिये (वृषा) सर्वप्रकार के सुख वर्षक, (कस्य) सुखस्वरूप परमेश्वर के (सुते) उत्पादित संसार में उसके (सचा) संयोग द्वारा (रणत्) रमण करता है॥२०॥

भावार्थः—सुखस्वरूप परमप्रभु ही सर्वसुखों के वर्षक हैं; उनसे संयुक्त होकर ही साधक संसार में आनन्दित होता है; परन्तु वह भी तभी जब कि उसकी अपनी शक्तियां विघ्नबाधाओं को दूर करने में उसका साथ दे रही हों॥२०॥

अ॒भी षु ण॒स्त्वं र॒यिं म॑न्दसा॒नः स॑ह॒स्रिण॑म्।

प्र॒य॒न्ता बो॑धि दा॒शुषे॑॥२१॥

पदार्थः—हे परमेश्वर! (मन्दसानः) आनन्दविभोर (त्वं) आप (नः अभी) हमारी ओर (सहस्रिणं) हजारों सुखों से युक्त (रयिं) ऐश्वर्य को (सु) भलीभांति प्रेरित करें। (प्रयन्ता) पथप्रदर्शक बने हुए आप (दाशुषे) आत्मसमर्पक भक्त को (बोधि) प्रबोध प्रदान करें॥२१॥

भावार्थः—परमेश्वर सुखस्वरूप हैं—उनसे ही सुखों से युक्त ऐश्वर्य की याचना करना उचित है। सुखस्वरूप परमेश्वर के गुणों का अध्ययन करने से मार्गदर्शन मिलता है और यह समझ प्राप्त होती है कि वास्तविक ऐश्वर्य कैसे प्राप्त होता है॥२१॥

पत्नी॑वन्तः सु॒ता इ॒म उ॒शन्तो॑ यन्ति वी॒तये॑।

अ॒पां जग्मि॑र्निचुम्पु॒णः॥२२॥

पदार्थः—(पत्नीवन्तः) शुभशक्तिसम्पन्न, (सुताः) उनके विज्ञानरूपी सार के रूप में निष्पन्न, (इमे) ये ऐश्वर्यप्रापक ईश्वर रचित पदार्थ (उशन्तः) अभीष्ट बने

हुए (वीतये) साधक के भोग के लिये (यन्ति) उसको प्राप्त हो रहे हैं। जिस प्रकार (अपां) जलों का (जग्मिः) ग्रहणशील (निचुम्पुणः) शनैः शनैः पी जाने वाला समुद्र है—वैसे ही (अपां) पदार्थों के रस अर्थात् सारभूत विज्ञान को [रसो वा आपः—शत० ३-३-३-१८] ग्रहण करनेवाला साधक (निचुम्पुणः) शनैः शनैः प्राप्तज्ञान कहलाता है। [नितरां चोपति मन्दं मन्दं चलति; निचुम्पुण इति पदनामसु पठितम्। निघं० ४-२ अनेन प्राप्तज्ञानो मनुष्यो गृह्यते।—स्वा० द० यजु० ३-४८] ॥२२॥

भावार्थः—जिस प्रकार समुद्र शनैः शनैः जलों को पीकर 'निचुम्पुण' कहलाता है ऐसे ही साधक को चाहिये कि वह धीरता से परमेश्वर-रचित पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करे; इस प्रकार ग्रहण किये हुए द्रव्य उसके लिये ऐश्वर्य के साधन बनते हैं ॥२२॥

इष्टा होत्रां असृक्षतेन्द्रं वृधासों अध्वरे ।

अच्छांवभृथमोजंसा ॥२३॥

पदार्थः—(अध्वरे) जीवनयज्ञ में (इष्टाः) अभीष्ट की प्राप्ति के लिये आहुति देनेवाले (इन्द्रं) मनःशक्ति को (वृधासः) बढ़ाते हुए—उसको सशक्त करनेवाले (होत्राः) यजमान=इन्द्रियशक्तियां (ओजसा) अपनी ओजस्विता के द्वारा (अवभृथम्) शोधक यज्ञान्त स्नान को (अच्छ) सम्यक् रीति से (असृक्षत) रचकर पूर्ण करते हैं ॥२३॥

भावार्थः—ईश्वर-रचित द्रव्यों से ऐश्वर्य की साधना के लिये उनका ज्ञान-ग्रहण रूप जो यज्ञ साधक अपने जीवन में रच रहा है उसमें उसकी इन्द्रियां ही यजमान हैं जो अपनी-अपनी आहुतियों द्वारा अपने अधिष्ठाता मन की शक्तियों को निरन्तर बढ़ाकर उसको बलवान् बनाती हैं और धैर्य-पूर्वक इस यज्ञ को पूर्ण करती हैं ॥२३॥

इह त्या संधमाद्या हरी हिरंण्यकेश्या ।

वोळ्हामभि प्रयों हितम् ॥२४॥

पूर्ववर्ती २३वें मन्त्र में साधक की इन्द्रियों को ज्ञानयज्ञ का यजमान कहा है। इस अभिप्राय को निम्नलिखित मन्त्र में और अधिक स्पष्ट किया है ॥

पदार्थः—(त्या) वे (सधमाद्या) साथ-साथ प्रसन्न होनेवाली, (हिरण्यकेश्या) [ज्योतिर्वै हिरण्यम्=शत० ४-३-१-२१] ज्योतिर्मय सूर्य आदि की किरणों के समान तेजःकिरणों से युक्त=तेजस्विनी, (हरी) [हरणशील] जीवन का भलीभांति निर्वाह करने में समर्थ—दोनों—ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियां (हितं) हितकारी, पथ्य, (प्रयः) पदार्थ-

ज्ञान आदि इष्ट भोग्य और उससे प्राप्त सुख-ऐश्वर्य (अभि) की ओर जाकर (इह) इस जीवन में (वोळ्हा) उठाकर लावें ॥२४॥

भावार्थः—मानव-जीवन में ईश्वर-रचित द्रव्यों के यथावत् ज्ञान एव व्यवहार द्वारा आध्यात्मिक सुख की वाहिका हमारी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियां हैं। प्रभु से प्रार्थना है कि ये सदा पथ्य अथवा हितकारक भोग्य का ही सेवन करें। यहां यह संकेत भी है कि वृष्टिसुख के वाहक विद्युत् और वायु संसार में हितकारी वृष्टि जल वर्षावें तथा राजा एवं प्रजाजन राष्ट्र में हितकारी भोग्य जुटावें ॥२४॥

तुभ्यं॒ सोमा॑ः सु॒ता इ॒मे स्ती॒र्णं ब॒र्हिर्वि॑भावसो ।

स्तो॒तृभ्य॒ इन्द्र॒मा व॑ह ॥२५॥

पदार्थः—हे (विभावसो) विविध ज्योतियों को वसानेवाले प्रभो! (इमे) ये सब ऐश्वर्य के साधन पदार्थ (तुभ्यं) आपको प्राप्त करने के लिये ही (सुताः) निचोड़े गये हैं—इनका सारभूत ज्ञान प्राप्त किया गया है; आप के लिये (बर्हिः) हृदयरूपी आसन (स्तीर्णं) बिछा हुआ है; (स्तोतृभ्यः) अपने गुणकीर्तन करनेवालों को (इन्द्रं) ऐश्वर्य को (आ, वह) लाकर दीजिये ॥२५॥

भावार्थः—परमात्मा द्वारा रची गई सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करने का अन्तिम लक्ष्य परमेश्वर ही है। उसके गुणानुवाद से उसकी महिमा हृदय पर अंकित होती है–और हम उसके अधिकाधिक निकट होते जाते हैं ॥२५॥

आ ते॒ दक्षं॒ वि रो॑च॒ना दध॒द्रत्ना॒ वि दा॒शुषे॑ ।

स्तो॒तृभ्य॒ इन्द्र॑मर्चत ॥२६॥

पदार्थः—हे परमेश्वर! (रत्ना) जीव को आनन्द प्रदान करने वाले (विरोचना) विशेष दीप्तिमान् सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक (ते दक्षं) आप के बल व सामर्थ्य को ही (दाशुषे) आत्मसमर्पक भक्त के लिये (विदधत्) विविध रूप में धारण करते हैं। हे मनुष्यो! (स्तोतृभ्यः) स्तोता के लाभ की दृष्टि से (इन्द्रं) उस परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की (अर्चत) पूजा करो ॥२६॥

भावार्थः—सूर्य, चन्द्र, पृथिवी तथा अन्य रुचिकर पदार्थों में जो बल है वह परमेश्वर का ही बल है; इन पदार्थों को अपने प्रयोगों में लगानेवाला भक्त उपासक इनसे जो बल प्राप्त करता है वह परमात्मा का ही बल है। भगवान् की अर्चा इसीलिये की जाती है कि पूजक व्यक्ति एक उत्तम स्तोता बन जाय ॥२६॥

आ तं दधामीन्द्रियमुक्था विश्वा शतक्रतो ।
स्तोतृभ्य इन्द्र मृळय ॥२७॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) नानाविध प्रज्ञा एवं कर्मशक्तियुत प्रभो ! मैं (ते) आपके दिये (इन्द्रियं) सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति के ज्ञान के साधक उपायों को और (विश्वे) सभी (उक्था) वेदविद्याओं को (दधामि) धारण करने का संकल्प धारण करता हूँ । हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् ! (स्तोतृभ्यः) स्तोताओं को (मृळय) आनन्दित कीजिये ॥२७॥

भावार्थः—किसी भी कार्य का आरम्भ संकल्प से ही होता है । प्रस्तुत मंत्र में सुखप्राप्ति का मूल वेद में वर्णित पदार्थविद्याओं को जानने के संकल्प को बताया गया है ॥२७॥

भद्रम्भद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो ।
यदिन्द्र मृळयासि नः ॥२८॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) विविधकर्मा (इन्द्र) परमेश्वर (यत्) जब आप (नः) हमें (मृडयासि) सुखी करते हैं तो (नः) हमें (भद्रं भद्रं) कल्याणकारी ही कल्याणकारी (इषं) ज्ञान द्वारा प्रेरणा और (ऊर्जं) पदार्थों के सारभूत ज्ञानबल से (आभर) पूर्ण भर दीजिये ॥८॥

भावार्थः—मनुष्य जब प्रभु की प्रेरणा से उस द्वारा सृष्ट पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध कर उनको यथोचित रीति से उपयुक्त करने लगता है तब उसे शनैः-शनैः अन्य ऐश्वर्य भी प्राप्त होने लगते हैं ॥२६॥

स नो विश्वान्या भर सुवितानि शतक्रतो ।
यदिन्द्र मृळयासि नः ॥२९॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) नानाकर्मकर्ता परमेश्वर ! (यत्) चूंकि आप (नः) हमें (मृडयासि) सुखी रखते हैं, इसलिये (सः) वह आप (नः) हमें (विश्वानि) सम्पूर्ण (सुवितानि) सुष्ठुतया प्रेरित कर्म प्रदान कर(आ, भर)पूर्णतया पालन कीजिये ॥२६॥

भावार्थः—परमप्रभु द्वारा प्रेरित सुकर्मों में व्याप्त रहनेवाला जीव ही सुखी रहता है—यह मन्त्र का आशय है ॥२६॥

त्वामिद्वृत्रहन्तम सुतावन्तो हवामहे। यदिन्द्र मृळयासि नः ॥३०॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्तम) जीवनयज्ञ के मध्य आनेवाले विघ्नों एवं रुकावटों को दूर करने में (इन्द्र) अति समर्थ परमेश्वर ! (यत्) चूंकि (नः) आप हमें (मृडा-

असि) सुखी रखते हैं इसलिये (सुतावन्तः) ऐश्वर्य से सम्पन्न हुए हम (त्वां इत्) आपका ही (हवामहे) आह्वान करते हैं ॥३०॥

भावार्थः—संसार के विविध पदार्थों का प्रदान कर सुखी रखने का सामर्थ्य परमेश्वर का ही है; इसलिये एकमात्र वही प्रार्थनीय है ॥३०॥

उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तं या॒हि म॑दानां पते ।
उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तम् ॥३१॥

पदार्थः—हे (मदानां) दिव्य आनन्दों के (पते) संरक्षक हमारे मन ! अथवा मेरे आत्मन् ! (नः हरिभिः) जीवन का निर्वाह करने वाली हमारी अपनी शक्तियों द्वारा (सुतं) निष्पन्न ज्ञानरस को (उप याहि) प्राप्त हो; उस (हरिभिः सुतं) इन्द्रियों द्वारा उत्पादित ज्ञानरस का (उप याहि) भोग कर ॥३१॥

भावार्थः—शुद्ध मन से साधना करनेवाले भक्त की इन्द्रियां ही ऐसी दिव्य शक्तियां होती हैं कि वे भगवान् की सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में दिव्य आनन्द का अनुभव करती हैं ॥३१॥

द्वि॒ता यो वृ॑त्रहन्त॑मो वि॒द इन्द्रः॑ श॒तक्र॑तुः ।
उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तम् ॥३२॥

पदार्थः—(यः) जो यह (इन्द्रः) समर्थ, ऐश्वर्यसम्पन्न हमारा आत्मा (वृत्रहन्तमः) अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा आवरक अज्ञान का अतिशय विनाशक तथा कर्मशक्ति के द्वारा(शतक्रतो) विविध कर्मों का कर्ता—इस प्रकार (द्विधा) दो रूपों से—दो प्रकार से (विदेः) जाना गया है—प्रसिद्ध है। दो प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न, मेरे आत्मन् ! तू [इन्द्रियों द्वारा] निष्पादित ज्ञानरस को (उप याहि) प्राप्त कर ॥३२॥

भावार्थः—परमप्रभु परमेश्वर तो विघ्ननाशक और विविध कर्मकर्ता हैं ही, मेरा आत्मा भी इन्द्रियों द्वारा निष्पादित ज्ञानरस और दिव्य आनन्द का आनन्द लेकर दोनों प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न हो सकता है ॥३२॥

पूर्वोक्त मन्त्र में वर्णित विषय के विशेष महत्त्व का प्रतिपादन इस मन्त्र में हुआ है ॥

त्वं हि वृ॑त्रहन्नेषां पा॒ता सोमा॑नाम॒सि ।
उप॑ नो॒ हरि॑भिः सु॒तम् ॥३३॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्) अज्ञानान्धकार आदि रुकावटों को दूर करनेवाले समर्थ मेरे आत्मन् ! (त्वं हि) निश्चय तू ही (एषां) इन सृष्टि में प्रत्यक्ष दृश्यमान (सोमानां) सुखसाधक पदार्थों का (पाता असि) इनके ज्ञान द्वारा इनका रखवाला—संरक्षक है। [अपने इस गुण को बनाये रखने के लिये] (हरिभिः) जीवनयापन समर्थ इन्द्रियों द्वारा (सुतं) निष्पादित ज्ञानरस को (उप याहि) प्राप्त कर ॥३३॥

भावार्थः—जीवनचक्र ऐसा है कि इसमें ज्ञान एवं अन्य नानाविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति के मार्ग में अनेक रुकावटें—विशेषतया—अज्ञानजन्य रुकावटें—आती ही रहती हैं। इनको रोकने का उपाय यह है कि साधक अपनी दोनों प्रकार की इन्द्रियशक्तियों को प्रबल बनाये रखे और उनके द्वारा ज्ञानरस का निरन्तर पान करता रहे ॥३३॥

इन्द्रं इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम् ।

वाजी ददातु वाजिनम् ॥३४॥

पदार्थः—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (इषे) हमारी कामनाओं की पूर्ति के प्रयोजन से (नः) हमें (ऋभुक्षणं=उरुक्षयणं) व्यापक आधार प्रदान करनेवाले, (ऋभुं) [ऋभु=दक्ष Handy आप्टे] सुगमता से प्रयुक्त किये जा सकने योग्य (रयिं) सुख के साधनों—धन, विद्या, बल, पुत्र आदि को (ददातु) प्रदान करे। (वाजी) ज्ञान, बल, धन आदि का स्वामी परमेश्वर हमें (वाजिनं) ज्ञान-बल-धन आदि ऐश्वर्ययुक्त जनसमाज (ददातु) प्रदान करे ॥३४॥

भावार्थः—हमारी कामनाओं की पूर्ति स्वयं ऐश्वर्यवान् परमेश्वर ही कर सकते हैं—अर्थात् उनके गुणों का कीर्तन करते हुए भक्त उन गुणों को धारण करने का यत्न करके स्वयं ऐश्वर्यवान् बन सकते हैं। इस प्रकार प्रभु सारे समाज को ऐश्वर्ययुक्त होने की प्रेरणा देकर मानो बलवान् समाज के ही प्रदाता होते हैं ॥३४॥

अष्टम मण्डल में यह तिरानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य चतुर्नवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः १—१२ बिन्दुः पूतदक्षो वा ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—१, २, ८ विराड्गायत्री । ३, ५, ७, ९ गायत्री । ४, ६, १०—१२ निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।

युक्ता वह्नी रथानाम् ॥१॥

पदार्थः—(मघोनां) ऐश्वर्यवान् (मरुतां) मनुष्यों की (माता) माता के समान निर्माण करनेवाली, (रथानां) रमणीय एवं सुखदायी पदार्थों को (वह्नी) वहन करने वाली तथा (युक्ता) उनसे संयुक्त (गौः) पृथिवी (अवस्युः) उनको अन्न, बल, धन और कीर्ति से युक्त बनाने का संकल्प लिये हुई (धयति) पालन करती है ॥१॥

भावार्थः—धरती मनुष्यों की माता के स्थान पर है। इस पर तथा इसमें नाना रमणीय एवं सुखदायी पदार्थ विद्यमान हैं। इन पदार्थों के द्वारा यह मनुष्यों का निर्माण करती है। यह माता मनुष्य को अन्न आदि द्वारा न केवल बलवान् ही और विविध पदार्थों द्वारा ऐश्वर्यवान् ही बनाती है अपितु मनुष्य को इन पदार्थों के समुचित प्रयोग द्वारा संसार में यशस्वी भी बनाती है ॥१॥

यस्या देवा उपस्थे व्रता विश्वे धारयन्ते ।

सूर्यामासा दृशे कम् ॥२॥

पदार्थः—(यस्याः) जिस पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (विश्वे) सभी (देवाः) क्रीड़ा करनेवाले—रमण करनेवाले—मनुष्य (व्रता) कर्मों को (धारयन्ते) धारण करते हैं। तथा (सूर्यामासा) सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ज्योतिर्मय लोक भी (दृशे) दर्शनक्षमता प्रदान करने के लिये (कम्) सुखी स्थिति को धारण करते हैं ॥२॥

भावार्थः—धरती की गोद में बैठकर सभी मनुष्य नानाविध पदार्थों में मौज करते हैं—इस समय ज्योतिर्मय लोक इनको दर्शन-क्षमता प्रदान करते हैं ॥२॥

तत्सु नो विश्वे अर्य आ सदा गृणन्ति कारवः ।

मरुतः सोमपीतये ॥३॥

पदार्थः—(तत्) तदनन्तर (विश्वे) सभी (अर्यः) आगे बढ़नेवाले, प्रगतिशील, (कारवः) स्तुत्य=प्रशंसनीय कर्मों के करनेवाले अथवा स्तोता—वेदवाणी द्वारा गुणकीर्तन करनेवाले, (मरुतः) मनुष्य (सु सोमपीतये) परमात्मा द्वारा उत्पादित [सोमः=उत्पादितः पदार्थः—ऋ० द०] पदार्थों के सुष्ठु व्यवहार के लिये (नः) हमें (आ गृणन्ति) भलीभांति उपदेश देते हैं ॥३॥

भावार्थः—सृष्टि-रचयिता परमेश्वर के गुणों का कीर्तन उस द्वारा रचे गये सुखदायी पदार्थों के सुष्ठु व्यवहार का उपदेश है। यह समझते हुए ही हमें भी उसके गुणों का कीर्तन व श्रवण करना चाहिये ॥३॥

अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।

उत स्वराजो अश्विना ॥४॥

पदार्थः—(अयं) यह (सोमः) ऐश्वर्य (सुतः) उत्पादित (अस्ति) विद्यमान है। (स्वराजः) धर्माचरणों में स्वयं शासन करनेवाले—प्रशंसित (मरुतः) मनुष्य (अस्य) इसके (पिबन्ति) व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (उत) और (अश्विना) कर्मठ एवं ज्ञानी साधक भी। [अश्विनाविति पदनामसु पठितम् ।—निघ० ५-६ । अनेनापि गमनप्राप्तिनिमित्ते अश्विनौ गृह्येते—ऋ० द० ऋग्वेद १-३-१] ॥४॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर द्वारा रचित पदार्थों का समुचित व्यवहार करते हैं, वे धर्माचरण में मन लगाते हैं। ऐसे ही स्त्री-पुरुष फिर कर्मठ और ज्ञानी प्रसिद्ध होते हैं ॥४॥

पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुणः ।

त्रिषधस्थस्य जावतः ॥५॥

पदार्थः—(मित्रः) सबका मित्र, (अर्यमा) दानशील, (जा-वतः) अपना विस्तार किये हुए (त्रिषधस्थस्य) तीनों लोकों में पक्षपातरहित इसीलिये (पूतस्य) अपवित्रता-रहित का (तना) पुत्र (वरुण) न्यायकारी—ये सब पदार्थों के व्यवहारज्ञान का पान करते हैं ॥५॥

[मित्रः—'सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम्'—श० ५-३-२-७; अर्यमा—'एष वा अर्यमा यो ददाति'—काठ० ११-४; जाः=अपत्यम् निघ० ३-९]

भावार्थः—विविध पदार्थों के व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करनेवाला मनुष्य ही मित्रता, दानशीलता एवं अतिशय पक्षपातरहितता अर्थात् न्याय-कारिता आदि गुणों से युक्त हो सकता है ॥५॥

उतो न्वस्य जोषमाँ इन्द्रः सुतस्य गोमतः ।

प्रातर्होतेव मत्सति ॥६॥

पदार्थः—(उतोनु) और निश्चय ही (अस्य) इस (सुतस्य) सम्पादित (गोमतः) प्रशस्तज्ञानयुक्त व्यवहार-बोध का (जोषं) प्रीतिपूर्वक सेवन कर (इन्द्रः) आत्मा, (प्रातः होता इव) प्रातःकाल आहुतिदाता के समान (मत्सति) प्रसन्न हो उठता है ॥६॥

भावार्थः—जब मनुष्य को सृष्टि के विविध पदार्थों का बोध मिलता है और वह उसको सस्नेह ग्रहण करता है, तब उसे एक प्रकार का अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है ॥६॥

कदत्विषन्त सूरयस्तिर आप इव स्रिधः ।

अर्षन्ति पूतदक्षसः ॥७॥

पदार्थः—(पूतदक्षसः) अपने सामर्थ्य को निर्दोष बनाये हुए, (सूरयः) विद्वान् मनुष्य जैसे (आपः) जलों को (तिरः) तिर्यक् गति से सुगमता से पार करते हैं वैसे ही सुगम रीति से (स्रिधः) सद्व्यवहार के विरोधियों को अभिभूत करते हुए जो (अर्षन्ति) आगे बढ़ते हैं वे (कद्) कितने (अत्विषन्तः) कान्तिमान्=सुशोभित होते हैं ! ॥७॥

भावार्थः—परमेश्वर की सृष्टि में विद्यमान पदार्थों का उनके गुणधर्म के अनुकूल ठीक-ठीक व्यवहार (न्याययुक्त) करके तथा सभी चेतनों के साथ भी उनकी सामर्थ्य, गुण, धर्म के अनुसार व्यवहार करके, न्यायकारी बने, वरुण-पुरुष बहुत अधिक यशस्वी बनते हैं ॥७॥

कद्वो अद्य महानां देवानामवो वृणे ।

त्मना च दस्मवर्चसाम् ॥८॥

पदार्थः—साधक अपने मन ही मन उन विद्वानों से प्रश्न करता है कि मैं (वः) आप (महानां) सम्माननीय (च) और (त्मना) अपने आप ही (दस्म वर्चसां) असाधारणतया दर्शनीय, अति सुन्दर व्यक्तित्ववाले (देवानाम्) दिव्यगुणी विद्वानों की (अवः) देख-रेख अथवा सहायता को (अद्य) अभी आज ही (कद् वृणे) कैसे प्राप्त करूं ? ॥८॥

भावार्थः—सामान्य जन विद्वान् जनों के दर्शनीय एवं सुन्दर व्यक्तित्व को देखकर उनसे ईर्ष्या न करे अपितु यह विचार करे कि मैं किस प्रकार इनके संरक्षण में रहकर ऐसे ही गुणों को प्राप्त कर सकता हूँ ॥८॥

आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन्रोचना दिवः ।

मरुतः सोमपीतये ॥९॥

त्यान्नु पूतदक्षसो दिवो वो मरुतो हुवे ।

अस्य सोमस्य पीतये ॥१०॥

पदार्थः—(ये) जिन (मरुतः) बलवान् मनुष्यों ने (सोमपीतये) सृष्ट-पदार्थों के समुचित व्यवहार के बोध रूपरस का पान करने के लिये (विश्वा) सभी, (पार्थि-

वानि) भौतिक=स्वतः प्रकाशरहित तथा (दिवः रोचना) अपनी द्युति से प्रकाशित=स्वतः प्रकाशयुक्त, रचनाओं को (आ पप्रथन्) विस्तृत किया है ॥९॥ (त्यान्) उन (नु) ही (पूतदक्षसः) अपनी सामर्थ्य को निर्दोष बनाये हुए (वः) आप (मरुतः) मनुष्यों को, (अस्य सोमस्य पीतये) इस सोम का पदार्थों के व्यवहार का बोध प्रदान करने के लिये (हुवे) आमन्त्रित करता हूँ ॥१०॥

भावार्थः—पदार्थों के व्यवहार का बोध पदार्थों को फैलाकर, उनका विश्लेषण करके, उनको प्रकट करके, उनका प्रदर्शन करके, उनमें वृद्धि करके किया जाता है। जो मनुष्य अपने सामर्थ्य को निर्दोष रखते हुए उस ज्ञान को प्राप्त करते हैं–उनसे ही दूसरों को वह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥९, १०॥

त्यान्नु ये वि रोदसी तस्तभुर्मरुतो हुवे।

अस्य सोमस्य पीतये ॥११॥

पदार्थः—(ये) जो (मरुतः) मनुष्य (रोदसी) पृथिवी एवं द्युलोक—दोनों में स्थित पदार्थों को (वितस्तभुः) विशेष रूप से थाम्भ रखते हैं (त्यान् नु) निश्चय उन्हीं को मैं (अस्य) इस पदार्थ-व्यवहार-बोध का (पीतये) पान करने के लिये=उसको जानने के लिये (हुवे) निमंत्रित करता हूँ ॥११॥

भावार्थः—संसारभर के पदार्थों का ज्ञान तात्विक रूप से जाननेवाले विद्वान् ही उनका बोध दूसरों को करा सकते हैं ॥११॥

त्यं नु मारुतं गणं गिरिष्ठां वृषणं हुवे।

अस्य सोमस्य पीतये ॥१२॥

पदार्थः—(अस्य सोमस्य पीतये) इस पूर्वोक्त सोम का पान करने व कराने के लिये मैं (गिरिष्ठां) उच्च स्थिति पर आसीन (वृषणं) [कमनीयों की] वर्षा करने वाले (त्यं नु) उसी (मारुतं गणं) मनुष्यों के समूह का (हुवे) आह्वान करता हूँ ॥२१॥

भावार्थः—पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न मनुष्यों का समूह (संगठित होकर) पदार्थ-ज्ञान रूपी दानादान क्रिया (यज्ञ=सत्कर्म) को सफल कर सकता है ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह चौरानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ नवर्चस्य पञ्चनवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—९ तिरश्चीः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१—४, ६, ७ विराडनुष्टुप् । ५, ९ अनुष्टुप् । ८ निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

आ त्वा गिरो॑ र॒थीरि॒वास्थुः॑ सु॒तेषु॑ गिर्वणः ।

अ॒भि त्वा॒ सम॑नूष॒तेन्द्र॑ व॒त्सं न मा॒तरः॑ ॥१॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) वेदवाणियों से सुसंस्कृत हमारी की हुई वन्दनाओं द्वारा सेवित परमेश्वर ! (सुतेषु) [विद्या सुशिक्षा आदि द्वारा] सृष्टि के पदार्थों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिये जाने पर (रथीः इव)[रथशब्दान्मत्वर्थे 'ई' प्रत्ययः] प्रशस्त वाहनसाधनवाले यात्री के समान मेरी (गिरः) वाणियां (त्वा) आप में (आ अस्थुः) सम्यक्तया स्थित रहती हैं। हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (मातरः) माताएँ स्नेह के साथ जैसे (वत्सं न) अपने प्रिय शिशु के (अभि) प्रति (सं अनूषत) झुक जाती हैं वैसे ही मेरी वाणियाँ (त्वा) आप के प्रति नम्र होकर आपके गुणों का वर्णन करें ॥१॥

भावार्थः—उपासक जब सृष्टिकर्ता द्वारा सृष्ट पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह उसकी महत्ता का यथार्थ प्रशंसक होता है। तब तो वह उसी को अपना गन्तव्य लक्ष्य मानने लगता है और उसका गुणकीर्तन करता हुआ उसकी प्राप्ति का यत्न करने लगता है ॥१॥

आ त्वा॑ शु॒क्रा अ॑चुच्यवुः सु॒तास॑ इन्द्र गिर्वणः ।

पिबा॒ त्व१॒॑स्यान्ध॑स॒ इन्द्र॒ विश्वा॑सु ते हि॒तम् ॥२॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) प्रशंसनीय मेरे आत्मन् ! (सुतासः) सुसम्पादित पदार्थ-विज्ञान (शुक्राः) जो निर्दोष होने के कारण अतीव शोभित हैं वे (त्वा) तुझ मेरे आत्मा की ओर (आ अचुच्यवुः) चारों ओर से क्रमशः प्राप्त हुए हैं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्य की प्राप्ति के अभिलाषी मेरे आत्मन् ! (विश्वासु) सभी ओर (ते हितं) तेरे लिये परमेश्वर द्वारा स्थापित (अस्य) इस (अन्धसः) प्राप्तव्य रस [पदार्थविज्ञान रूपी रस] को (नु) शीघ्र ही (पिब) ग्रहण कर ॥२॥

भावार्थः—प्रभु की सृष्टि का ठीक-ठीक ज्ञान ग्रहण करना ही एक प्रकार से सोम का सम्पादन है; इन्द्रियों द्वारा यह सब आत्मा के हितार्थ किया जाता है। प्रत्येक जीव को यह प्राप्तव्य रस शीघ्रातिशीघ्र ग्रहण कर लेना चाहिये ॥२॥

पिबा सोमं मदाय कमिन्द्र श्येनाभृतं सुतम्।
त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि ॥३॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के इच्छुक मेरे आत्मन्! तू (सुतं) विद्यासुशिक्षा आदि द्वारा सुसम्पादित (श्येनाभृतं) प्रशंसनीय गति एवं पराक्रम से संयुक्त श्येन पक्षी के समान प्रशंसनीय आचरण एवं सामर्थ्यवाले इन्द्रिय रूप अश्वों से धारण कराये=लाकर दिये हुए (कं) सुख के हेतुभूत (सोमं) ऐश्वर्यकारक पदार्थ-बोध का (मदाय) अपनी तृप्ति के लिये—इतना कि तू तृप्त हो जाय—(आ पिब) उपभोग कर। (त्वं हि) निश्चय ही तू तो (विशां) [विद्योद्यम, बुद्धि, धन, धान्यादिबलयुक्त] मनुष्यों में (राजा) शुभ गुणों से प्रकाशमान अध्यक्षवत् वर्तमान तथा (शश्वतीनां) उन प्रवाहरूप से अनादि प्रजाओं का (पतिः) स्वामी है ॥३॥

भावार्थः—साधक मनुष्य विद्या, बुद्धि, बल तथा धन आदि से युक्त होना चाहता है। इस प्रयोजन से उसे चाहिये कि सृष्टि को अधिक से अधिक जानकर पदार्थों का समुचित प्रयोग करे। यह आत्मा का सोमपान है ॥३॥

श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥४॥

पदार्थः—साधक पुनः परमेश्वर से याचना करता है। हे (इन्द्र) परमेश्वर! (यः) जो साधक (तिरश्च्या) अन्तर्ध्यान की क्रिया द्वारा (त्वा) आपका (सपर्यति) समागम करता है, उस (सुवीर्यस्य) उत्तमबलयुक्त, (गोमतः) इन्द्रियजयी, संयमी साधक की (हवं) पुकार को (श्रुधि) सुनिये और (रायः) उसको ऐश्वर्य से (पूर्धि) पूर्ण कीजिये; (महान् असि) आप तो उदार हैं ॥४॥

भावार्थः—अन्तर्ध्यान द्वारा परमात्मा का समागम होता है; निरन्तर उसकी चाकरी की जाती है; तब वह परमात्मा पुकार सुनता है—अर्थात् अन्तर्ध्यान द्वारा ही हम परमेश्वर के गुणों को ग्रहण करने में समर्थ होकर उसके अच्छे एवं सतत सेवक बन सकते हैं ॥४॥

इन्द्र यस्ते नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत्।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम् ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (यः) जो उपासक (ते) आपकी प्राप्ति के उद्देश्य से (नवीयसीं) नित्य-प्रति की जाने के कारण नई—नितनई—(मन्द्रां) हर्ष-जनक (गिरं) गुणवन्दना को (अजीजनत्) प्रकाश में लाता है; उस उपासक की

(धियं) बुद्धि को आप (चिकित्विन्मनसम्) मनन अथवा आन्तरिक विचारधारा की पहचान करानेवाली (प्रत्नां) पुरातनी (ऋतस्य पिप्युषीम्) सत्यनियम के ज्ञान से परिपूर्ण कर देते हैं ॥५॥

भावार्थः—प्रतिदिन परमेश्वर के गुणों का गान करनेवाला उपासक सृष्टिकर्ता के उन सत्य नियमों को जान जाता है कि जिनके अनुसार यह सृष्टि रची गयी है ॥५॥

तमु ष्टवाम यं गिर इन्द्रमुक्थानि वावृधुः ।
पुरूण्यस्य पौंस्या सिषासन्तो वनामहे ॥६॥

पदार्थः—हम उपासक (तम् उ इन्द्रं) उस ही परमेश्वर की (स्तुवाम) गुण-वन्दना करें (यं) जिस परमेश्वर को (गिरः) वेदवाणी से सुसंस्कृत हमारी वाणियां (उक्थानि) तथा हमारे प्रशंसनीय कर्म (वावृधुः) बढ़ाते रहते हैं। फिर हम (अस्य) इस परमेश्वर के (पुरूणि) बहुत से (पौंस्या) बलों और ऐश्वर्यों को (सिषासन्तः) प्राप्त करना चाहते हुए (वनामहे) उसका भजन करते हैं ॥६॥

भावार्थः—भगवान् के गुणों की निरन्तर वन्दना से उसके प्रति उपासक का उत्साह बढ़ता है—यही परमेश्वर का बढ़ना है। हमारे सुकर्म परमेश्वर के प्रति हमारी आस्था को दृढ़कर उसे बढ़ाते हैं ॥६॥

एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु ॥७॥

पदार्थः—(आ एत उ नु) आओ तो, उपासको ! हम उपासक (शुद्धं) शुद्ध (इन्द्रं) परमेश्वर की (शुद्धेन) शुद्ध सामगायन द्वारा (स्तवाम) स्तुति करें। (शुद्धैः) शुद्ध (उक्थैः) स्तुति वचनों द्वारा (वावृध्वांसं) वर्धनशील को (शुद्धः आशीर्वान्) शुद्ध कामनावाला उपासक (ममत्तु) हर्षित करे ॥७॥

भावार्थः—सदा पवित्र परमात्मा की उपासना अविद्यादि दोषरहित शुद्ध हृदय के द्वारा की जानी सम्भव है। शुद्ध स्तुति के लिये वचन भी, सामवेदादि वेदवचन ही, शुद्ध वचन ही होने चाहियें। परमेश्वर के गुणों की वन्दना, जब वेद के शुद्ध वचनों में की जायगी, तभी उसका शुद्ध स्वरूप वन्दना करनेवाले के शुद्धहृदय पर अंकित होगा ॥७॥

इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः ॥८॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (शुद्धः) पवित्र आप (नः) हमें (आ, गहि) आ पकड़िये । (शुद्धः) पवित्र आप (शुद्धाभिः) अपनी निर्दोष (ऊतिभिः) रक्षण आदि क्रियाओं के साथ हमारा हाथ पकड़िये । (शुद्धः) पवित्र परमैश्वर्यवान् आप ही (रयिं) ऐश्वर्य को (निधारय) धारण कराइये । हे (सोम्य) सोमगुणसम्पन्न, मेरे आत्मन् ! (शुद्धः) अविद्यादि दोषों से रहित होकर ही तू (ममद्धि) हर्षित हो ॥८॥

भावार्थः—परमपवित्र परमात्मा का ही आश्रय लेना उचित है; उसकी प्रेरणा से हम जो क्रियायें करेंगे, वे शुद्ध होंगी और इस प्रकार हम शुद्ध होकर ही शुद्ध हर्ष प्राप्त करने की इच्छा करें ॥८॥

इन्द्रं शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥९॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (शुद्धः हि) निश्चय परमपवित्र रूप ही, (नः रयिं) हमें ऐश्वर्य तथा (शुद्धः) परमपवित्र रूप में ही (दाशुषे) समर्पक भक्त को (रत्नानि) विविध रमणीय पदार्थ तथा (शुद्धः) परम पवित्र रूप में ही (वाजं) अन्न, बल आदि (सिषाससि) प्रदान करना चाहते हैं । (शुद्धः) परम पवित्र ही आप (वृत्राणि) विघ्नों को (जिघ्नसे) कष्ट करना चाहते हैं ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वर मनुष्य को सभी कुछ देते हैं– अन्न, बल, धन आदि जो कुछ परमेश्वर हमें प्रदान करते हैं—वह सब हम तभी प्राप्त करते हैं जब कि उसके शुद्ध रूप को भलीभांति अपने हृदयपटल पर अंकित करके उसकी प्रेरणा से प्रेरित कर्मों के अनुसार अपना व्यवहार बना लेते हैं ॥९॥

अष्टम मण्डल में यह पिच्यानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथैकविंशत्यृचस्य षण्णवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१–२१ तिरश्चीर्द्युतानो वा मारुतः ॥ देवता—१—१३, १६—२१ इन्द्रः : १४ इन्द्रः मरुतश्च । १५ इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—१, २, ५, १३, १४ निचृत्त्रिष्टुप् । ३, ६, ७, १०, ११, १६ विराट्त्रिष्टुप् । ८, ९, १२ त्रिष्टुप् । १५, १८, १९ पादनिचृत्त्रिष्टुप् । ४, १७ पङ्क्तिः । २० निचृत्पङ्क्तिः । २१ विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१—३, ५—१६, १८, १९ धैवतः । ४, १७, २०, २१ पञ्चमः ॥

अस्मा उषास आतिरन्त याममिन्द्राय नक्तमूर्म्याः सुवाचः ।
अस्मा आपो मातरः सप्त तस्थुर्नृभ्यस्तराय सिन्धवः सुपाराः ॥१॥

पदार्थः—(अस्मा इन्द्राय) इस ऐश्वर्य के इच्छुक पुरुषार्थी मनुष्य के लिये (उषासः) प्रबोधदायिनी शक्तियां (यामं) अपने विचरण की अवधि को (आतिरन्त) बढ़ा देती हैं; (नक्त) रात्रि में (ऊर्म्याः) रात्रियां (सुवाचः) उत्तम वाणियों से युक्त होती हैं। (अस्मा) इसके लिये (आपः) सबकी आधार [आपो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा—शतपथ० ४, ५, २, १४] (सप्त) सात (मातरः) निर्माणकर्ता तत्व—१. पृथिवी, २. अग्नि, ३. सूर्य, ४. वायु, ५. विद्युत्, ६. उदक एवं ७. अवकाश] (तस्थुः) विद्यमान रहते हैं; (सिन्धवः) शीघ्र गतिशील एवं दुस्तर समुद्र, नदी आदि के समान फुर्तीले दुर्जय शत्रुभूत दुर्भावनायें (सुपाराः) सुख से पार उतरने—जीतने योग्य—हो जाते हैं ॥१॥

भावार्थः—ऐश्वर्य की साधना करनेवाले पुरुषार्थी को प्रातःकाल से जागरण तथा उद्बोधन की प्रेरणा मिलती हैं; तथा रात्रियां भी अपने अन्तिम समय में पाठ की गई सूक्तियों द्वारा शुभ कर्म की प्रेरणा देती हैं ॥१॥

अतिविद्धा विथुरेणा चिदस्त्रा त्रिः सप्त सानु संहिता गिरीणाम् ।
न तद्देवो न मर्त्यस्तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभश्चकार ॥२॥

पदार्थः—(गिरीणाम्) वृत्रों के शरीरों=शयनस्थानों अर्थात् उन्नति के मार्ग में विद्यमान नानाप्रकार के विघ्नों के [तस्य (वृत्रस्य) एतच्छरीरं यद्गिरयो यदश्मानः।] (संहिता) एकत्रित (त्रि × सप्त) २१ (सानु) शिखरवत् वर्तमान ऊंचे होकर बाधा देनेवाली भावनाओं को (विथुरेण) दुःखदायी (अस्त्रा) अस्त्र से, पीड़क शक्ति से (अतिविद्धा) बींध दिया। इस प्रकार (प्रवृद्धः) शक्ति में बढ़े हुए (वृषभः) प्रबल व्यक्ति ने (यानि) जो [आश्चर्यजनक कार्य] किये (तद्) वैसा कार्य (न) न तो कोई (देवः) दिव्यशक्तियुक्त (तुतुर्यात्) करे [तुरी गतित्वरणहिंसनयोः] और (न) न कोई (मर्त्यः) मरणधर्मा ही कर सके ॥२॥

भावार्थः—उन्नति के मार्ग में आनेवाले विघ्नों को नष्ट कर जब मनुष्य आगे बढ़ता है तो उसकी प्रबलता को देखकर आश्चर्य होता है ॥२॥

इन्द्रस्य वज्र आयसो निमिश्ल इन्द्रस्य बाह्वोर्भूयिष्ठमोजः ।
शीर्षन्निन्द्रस्य क्रतवो निरेक आसन्नेषन्त श्रुत्या उपाके ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) ऐश्वर्य के इच्छुक पुरुषार्थी जन का (वज्रः) वीर्य—शुक्र (आयसः) लौह निर्मित-सा कठोर एवं (निमिश्लः) शरीर में भलीभांति मिला हुआ—

विलीन—होता है; इन्द्र की (बाह्वो:) बाहुओं में—उसके क्रियासाधनों में (भूयिष्ठं) बहुत (ओजः) तेज होता है। (इन्द्रस्य) इस इन्द्र के (शीर्षन्) उत्तमांग—मस्तिष्क—में (नि्रेके) संशयरहित (क्रतवः) संकल्प होते हैं; (आसन्) मुखोपलक्षित वाणी में (उपाके) समीप से (श्रुत्यं) सुनने-सुनाने के लिये प्रेरणायें (आ+ईषन्त) आती हैं अथवा (एषन्त) दौड़कर आती हैं ॥३॥ [वीर्यं वै वज्रः—शतपथ ३-४-४-१५—ओजो वा इन्द्रियं वीर्यम्—ऐत० १-५ एषन्ते=आ+ईष् गतिहिंसादानेषु अथवा एषृ प्रयत्ने]

भावार्थः—ऐश्वर्य के इच्छुक साधक को इतने संयम से जीवन व्यतीत करना चाहिये कि उसका वीर्य उसके शरीर में खपकर उसे हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को तेजस्वी बनाये। उसकी संकल्प शक्ति बलवान् बने और उसकी प्रेरणाशक्ति प्रबल हो ॥३॥

मन्ये॑ त्वा य॒ज्ञियं॑ य॒ज्ञिया॑नां॒ मन्ये॑ त्वा॒ च्यव॑नम॒च्यु॑तानाम् ।
मन्ये॑ त्वा॒ सत्व॑नामिन्द्र के॒तुं मन्ये॑ त्वा वृष॒भं च॑र्षणी॒नाम् ॥४॥

पदार्थः—पूर्व मन्त्र में वर्णित पुरुषार्थी साधक के विषय में मानो सामान्य जन कह रहा है—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के इच्छुक पुरुषार्थी साधक! मैं (त्वा) तुझे (यज्ञियानां) सत्संगति करने योग्यों में अधिक (यज्ञियं) संगति के योग्य (मन्ये) समझता हूँ। मैं (त्वा) तुझे (अच्युतानां) स्थिर—अडिग—समझे जाने वाले दुर्भावों को भी (च्यवनम्) डिगानेवाला (मन्ये) मानता हूँ। मैं (त्वा) तुझे (सत्वनाम्) बलिष्ठों का (केतुं) पूजनीय—मुखिया—[चायृ पूजा निशामनयो:+तु; की आदेश] मानता हूँ और (त्वा) तुझे (चर्षणीनाम्) [चर्षणि:=चायिता द्रष्टा; निरु० ५-२४; चायृ+तृ अथवा कृष् विलेखने+अनि; आदि को च] विवेकशील एवं पुरुषार्थी मनुष्यों में (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ ॥४॥

भावार्थः—जो मनुष्य संयम का अभ्यासी हो जाता है, सामान्यजन उसकी संगति करना चाहते हैं, वह अपनी अडिग समझी जाने वाली दुर्भावनाओं को भी उखाड़ फेंकता है और विवेकशील पुरुषार्थी मनुष्यों में उसको सर्वोत्तम पद प्राप्त हो जाता है ॥४॥

आ यद्वज्रं॑ बा॒ह्वोरि॑न्द्र॒ धत्से॑ मद॒च्युत॒मह॑ये॒ हन्त॒वा उ॑ ।
प्र पर्व॑ता॒ अन॑वन्त॒ प्र गावः॒ प्र ब्र॒ह्माणो॑ अभि॒नक्ष॑न्त॒ इन्द्र॑म् ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) शक्तिसम्पन्न! मानव! (यत्) जब तू (अहये हन्तवा) हिंसक भावनाओं के हनन के लिये (मदच्युतं) उन हन्ताओं के मद को दूर करनेवाले

(वज्रं) बल-वीर्य को (धत्ते) धारण करलेता है तब (पर्वताः) पर्वत अर्थात् पर्वतों—सरीखे अगम्य स्थानों पर स्थित [शत्रुभूत दुर्भाव] (इन्द्रं) तुझ इन्द्र की शरण में प्र अनवन्त) आ जाते हैं [नव्=गतौ] (गावः) गौएं अर्थात् इसी भूमि-स्थल पर स्थित [शत्रुभूत दुर्भाव] (प्र अनवन्त) तेरी शरण में आ जाते हैं और (ब्रह्माणः) सभी प्रकार के बल [बलं वै ब्रह्मा तैत्ति० ब्रा० ३-८-५-२] (अभि) तेरी ओर (नक्षन्त) चल पड़ते हैं ॥५॥

भावार्थः—जब ऐश्वर्य-साधक वीर्य को शरीर में खपा लेता है और उसकी कर्मेन्द्रियां सतेज हो जाती हैं तो वह अपने शत्रुभूत दुर्भावों को जीत लेता है और उसे शारीरिक, मानसिक, सांसारिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रकार के बल प्राप्त हो जाते हैं ॥५॥

तमुं ष्टवाम् य इमा जजान विश्वा जातान्यवराण्यस्मात् ।
इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुपो नमोभिर्वृषभं विशेम ॥६॥

पदार्थः—सभी साधक संकल्प करें कि हम (तम् उ) उस ही की स्तुति करें (यः) जिसने (इमाः) इन समस्त पदार्थों को प्रकट किया है। क्योंकि (विश्वाः) समस्त (जातानि) प्रकट हुए पदार्थ (अस्मात्) इससे (अवराणि) अर्वाचीन हैं—इसके पश्चात् के हैं अथवा हीन हैं। उक्त (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवान् प्रभु के (मित्रं) मित्रता को (दिधिषेम) धारण किये रहना चाहें। (उ) और (गीर्भिः) वचनों द्वारा (नमोभिः) विनीतभावों द्वारा (वृषभं) उस सर्वश्रेष्ठ के (उप विशेम) समीप आसन लेने योग्य हो सकें।—उस प्रभु की सायुज्यता प्राप्त कर सकें ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वर, जीव और प्रकृति अनादि एवं अनन्त हैं। परन्तु जीव और प्रकृति का उदभव, मनुष्यादि जीवों एवं जड़ पदार्थों के रूप में उदभावन, परमेश्वर ही करते हैं। इस कारण प्राचीनतम परमेश्वर ही है; वही हमारी स्तुति का लक्ष्य है ॥६॥

वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः ।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के साधक मेरे आत्मन्! (वृत्रस्य) [तेरी विजय-यात्रा में] विघ्नभूत आवरक शक्ति के (श्वसथात्) फूत्कार—असन्तोषसूचनामात्र—से ही (ईषमाणाः) पलायन करते हुए (विश्वे देवाः) सभी दिव्यगुण, (ये सखायः) जो तेरे मित्र हैं वे (त्वा अजहुः) तुझे छोड़ जाते हैं। इस कारण (मरुद्भिः) मरुतों—

विभिन्न प्राण-अपान आदि शक्तियों से (ते सख्यं) तेरी मित्रता (अस्तु) हो; (अथ) परिणामतः (इमाः विश्वाः पृतनाः) इन सभी [शत्रुभूत दुर्भावनाओं की] सेनाओं को (जयासि) तू जीत लेगा ॥७॥

भावार्थः—दिव्यगुण यों तो जीवात्मा के मित्र हैं, परन्तु वे मन में उद्भूत दुर्भावों के तो श्वासमात्र से ही जीव को छोड़ भागते हैं। यदि मनुष्य अपनी प्राणशक्तियों को अपना मित्र बना ले तब उसके मन में दुर्भावनाएं उद्भव नहीं होतीं और वह दिव्यगुण धारण करने में समर्थ हो जाता है ॥७॥

त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधाना उस्रा इव राशयो यज्ञियासः ।
उप त्वेमः कृधि नो भागधेयं शुष्मं त एना हविषा विधेम ॥८॥

पदार्थः—(त्रिः षष्टिः) तरेसठ (यज्ञियासः) संगति के योग्य (मरुतः) प्राण अपान आदि प्राण शक्तियां (राशयः) समूह रूप में विद्यमान (उस्राः, इव) गौओं के समान (त्वा) तुझ जीवात्मा [की शक्ति] को (वावृधानाः) बढ़ाती हुई, बलवान् बनाती हैं। हम ऐसे शक्तिशाली (त्वा उप इमः) तुझ आत्मा के समीपवर्ती होते हैं; (नः) हमारा (भागधेयं) भाग (कृधि) नियत कर; (एना हविषा) इस [प्राप्त भाग रूप] हवि से [इसको तुझे ही सौंपकर] (ते) तेरा (शुष्मं) शोषक बल तुझे (विधेम) प्रदान करें। [विधतिर्दानकर्मा० निरु० १०-२३] ॥८॥

भावार्थः—प्राण अपान आदि नानाप्रकार के मरुतों की सहायता से जीव को बल मिलता है। मनुष्य का शरीर एवं शरीरस्थ इन्द्रियों को मरुतों द्वारा प्रदत्त प्राणशक्ति में से अपना-अपना भाग मिलता है और ये अंग अपने प्राप्त बल को जीवात्मा को सौंपकर उसको बलवान् बनाते हैं ॥८॥

तिग्ममायुधं मरुतामनीकं कस्त इन्द्र प्रति वज्रं दधर्ष ।
अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अप वप ऋजीषिन् ॥९॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के साधक मेरे आत्मन्! (मरुतां) प्राणशक्तियों का (अनीक) बल ही [अन्—प्राणने+ईकन्—जीवन का साधन] (ते) तेरा (तिग्मं) पैना [तिज्+निशाने+मक्] (आयुधं) युद्ध का साधन [आयुध्+क—घञर्थे] (वज्रं) वज्र है। (कः प्रति वज्रं) कौन है जो उसके विरोधी वज्र को (दधर्ष) धारण करता हो? (असुराः) निरी स्वार्थता आदि दुष्प्रवृत्तियां रूप असुर [स्वेष्वेवास्येषु जुह्वानश्चेरुः—असुराः—शतपथ ११-१-८-१] तो (अनायुधासः) युद्ध-संघर्ष के साधनों से रहित हैं; [निर्वीर्य] वे (अदेवाः) तेजस्विता से भी रहित हैं। (ऋजीषिन्) [यत्सोमस्य

पूयमानस्यातिरिच्यते रसादन्यत् असारं तत् ऋजीषम्] बचे-खुचे का सेवन करनेवाले फिर भी बलवान् इन्द्र ! उनको तू (अप वप) [अप+डुवप् बीज सन्ताने] छिन्न-भिन्न कर दे ॥९॥

भावार्थः—बलवान् ज्ञान-कर्मेन्द्रियादि पैने आयुध-साधनों से सम्पन्न जीवात्मा निश्चय ही भाग्यशाली है; क्योंकि स्वार्थ, हिंसा आदि दुर्भाव तो स्वतः ही मरे हुए एवं निस्तेज हैं। यह जानकर हम अपने आत्मा को उत्साहित करें कि बचेखुचे सोमरस को उपभोग करके भी तू दुर्भावनाओं को शीघ्र नष्ट कर सकता है ॥९॥

महे उग्राय तवसे सुवृक्तिं प्रेरय शिवतमाय पश्वः ।
गिर्वाहसे गिर इन्द्राय पूर्वीर्धेहि तन्वे कुविदङ्ग वेदत् ॥१०॥

पदार्थः—हे साधक तू (महे उग्राय) बड़े तेजस्वी, (तवसे) बलशाली, (पश्वः) दृष्टिशक्तियुक्त दो पाये चौपाये सभी के (शिवतमाय) अधिकतम कल्याणकारी (इन्द्राय) अपने आत्मा के लिये (सुवृक्ति) सुष्ठुतया दुष्कर्म छोड़ने की क्रिया की (प्रेरय) प्रेरणा कर। हे साधक (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् आत्मा के लिये (पूर्वी.) बहुत सी (गिरः) स्तुतियां (धेहि) धारणकर [परिणामतः] (तन्वे) [कुलविस्तारक] पुत्र अथवा अपने शरीरादि के लिये (कुवित्) पुष्कल ऐश्वर्य (वेदत्) प्राप्त कर ॥१०॥

भावार्थः—जब साधक अपनी आत्मा को दुष्कर्मों से पृथक् रहने की प्रेरणा मधुरवाणी से किये गये स्तुतिवचनों द्वारा करेगा तो निश्चय यह जीवात्मा उग्र, बलशाली और अधिकतम कल्याणकारी बनेगा ॥३॥

उक्थवाहसे विभ्वे मनीषां द्रुणा न पारमीरया नदीनाम् ।
नि स्पृश धिया तन्वि श्रुतस्य जुष्टतरस्य कुविदङ्ग वेदत् ॥११॥

पदार्थः—हे स्तोता साधक ! (उक्थवाहसे) उत्थापक [उक्थम्—एष हि सर्वमुत्थापयति—शत० १०-५-२-२०] गुणों के वाहक तथा (विभ्वे) आत्मनियंत्रित बनने के लिये (मनीषां) मनन बुद्धि को (ईरय) प्रेरितकर—(नदीनां पारं) नदियों के पार (द्रुणा न) जैसे कि काष्ठनिर्मित नौका आदि द्वारा जाते हैं। (तन्वि=आत्मनि) आत्मा में (जुष्टतरस्य) अतिप्रिय (श्रुतस्य) ज्ञान को (धिया) धारणावती बुद्धि के द्वारा (नि स्पृश) पूर्णतया संयुक्त कर अथवा प्राप्त कर। हे (अंग) प्रिय साधक ! (कुवित्) इस प्रकार बहुत कुछ (वेदत्) उपलब्ध कर ॥११॥

भावार्थः—मनुष्य का मन मनन द्वारा ही नियंत्रित एवं शुभगुणों का

वाहक बनता है। तथा ज्ञान उसको धारणावती बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार उसको 'बहुत' मिलता है ॥११॥

तद्विविड्ढि यत्त इन्द्रो जुजोषत्स्तुहि सुष्टुतिं नमसा विवास ।

उपं भूष जरितर्मा रुवण्यः श्रावया वाचं कुविदङ्ग वेदत् ॥१२॥

पदार्थः—हे साधक ! (तत्) उस [कर्म] में (विविड्ढि) प्रवेशकर—उस कृत्य में व्यापत हो कि (यत्) जो (ते) तेरा (इन्द्रः) इन्द्रियवशी—जीव (जुजोषत्) खूब चाहता है। (सुष्टुतिं) शोभना—शुभगुणवाहिका स्तुतिवाले परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति कर और उसी की (नमसा) विनयपूर्वक (विवास) सेवा कर। हे (जरितः) स्तोता साधक ! (उपभूष) उसके समीप रह; (मा रुवण्यः) ऐसा करने पर तुझे पछताना नहीं पड़ेगा। (वाचं) उसको अपना कथ्य (श्रावय) सुना; इस प्रकार हे (अंग) प्रियस्तोता ! तू (कुवित्) बहुत-सा ऐश्वर्य (वेदत्) प्राप्त कर ॥१२॥

भावार्थः—साधक को चाहिये कि आत्मसंयम द्वारा पहले अपनी इन्द्रियों को संयत कर उन्हें बलवान् बनावे। और फिर अपने आत्मसंयमी जीव के प्रिय कार्यों को करे। इस प्रकार साधक को परम प्रभु का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है और उसकी देखरेख में उसे किसी पदार्थ का अभाव नहीं रहता ॥१२॥

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः ।

आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥१३॥

पदार्थः—(कृष्णः) [एतद्वै पाप्मनो रूपं यत् कृष्णम् । कृष्ण इव हि पाप्मा मैत्रा० सं० २-५-६ काठक सं० १३-२] पापी अर्थात् हानिकारक (द्रप्सः) गर्वित करनेवाला रस—दर्पकारी वीर्य—[दृप् हर्षविमोहनयोः] (दशभिः सहस्रैः) अपने दस सहस्र अर्थात् असंख्य सहायकों—दुर्भावों—के साथ (इयानः) आकर (अंशुमतीम्) [अंशुः शं+अष्टमात्रो भवति; शं (कल्याणकारी) अशूङ् व्याप्तौ से अष्ट अर्थात् व्याप्त; जो व्याप्त होकर कल्याणकारी हो अर्थात् शुभवीर्य] शुभ वीर्यवती जीवननदी पर (अव अतिष्ठत्) अधिकार करके बैठ गया (धमन्तं) [ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः] गर्वोद्धत करते हुए (तं) उस दूषित वीर्य को (इन्द्रः) [इदि परमैश्वर्ये] उत्कृष्ट ऐश्वर्य का इच्छुक जीव (शच्या) अपनी श्रेष्ठ कर्मशक्ति के द्वारा [क्रत्वा शचीपतिः—तैत्ति० सं० ४-४-८-१] (आवत्) अपने स्वामित्व में ले [अवतिरनेककर्मा]; (नृमणाः) कर्म के नेतृत्व की शक्तियों का प्रिय [नृमणाः—कर्म-नेतृषु मनो यस्य-सायण] (स्नेहितीः) मित्र भावनाओं को (अप, अधत्त) ढक कर धारण करे ॥१३॥

भावार्थः—'द्रप्स' अथवा बूंद-बूंद कर शरीर में खपने वाले शुक्र-वीर्य का एक रूप श्वेत—बढ़ानेवाला—और हर्षदायक है तो दूसरा 'कृष्ण' गर्वित करने वाला रूप है। साधक अपनी कर्मठता से अपने वीर्य को कृष्ण नहीं बनने देता और इस प्रकार मित्रभावनाओं की रक्षा करता है ॥१३॥

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः ।

नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥१४॥

पदार्थः—उक्त (द्रप्सं) दूषित वीर्य को मुझ साधक ने (अंशुमत्याः नद्यः) शब्द करती जीवन नदी के (विषुणे) शरीर में व्याप्त [ऋ० द० ऋक् ७-२१-५] (उपह्वरे) टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर (चरन्तं) विचरते हुए को (अपश्यम्) अनुभव किया है। (इष्यामि) मैं चाहता हूँ कि (वृषणः वः) मेरी बलवान् प्राण शक्तियो ! तुम(नभः न) [नभ् हिंसायाम्] हिंसक के समान विद्यमान (आजौ) संघर्ष स्थल पर (अवतस्थिवांसम्) जमकर स्थिर हुए इस (कृष्णं) पापात्मा दूषित वीर्य से (युध्यत) युद्ध करो ॥१४॥

भावार्थः—ऐश्वर्य साधक जब यह अनुभव करे कि उसके शरीर के मर्मस्थानों तक में दूषित वीर्य प्रभाव जमा रहा है तो वह संकल्पपूर्वक अपनी सभी शक्तियों के द्वारा उसका कायापलट करने का यत्न करे ॥१४॥

अध द्रप्सो अंशुमत्या उपस्थेऽधारयत्तन्वं तित्विषाणः ।

विशो अदेवीरभ्या३ चरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ॥१५॥

पदार्थः—(अध) अनन्तर (तित्विषाणः) देदीप्यमान (द्रप्सः) शुद्धवीर्य (अंशुमत्याः) शुद्धवीर्यवती जीवन नदी की (उपस्थे) गोद में (तन्वं) अपने आप [self-आप्टे] (अधारयत्) रहने लगा। (इन्द्रः) ऐश्वर्येच्छु जीवात्मा ने (बृहस्पतिना) पावक वायु[अयं वै बृहस्पति र्योयं (वायुः) पवते—शत० १४-२-२-१०] अर्थात् प्राण अपान आदि मरुद्गण से (युजा) सहयोग किये हुए ने (अभि, आचरन्तीः) सामना करने के लिये आती हुई--विरोधिनी--(अदेवीः) दिव्यतारहित (विशः) प्रजाओं--मात्र-नाओं----को (ससाहे) पराजित किया ॥१५॥

भावार्थः—गर्वोत्पादक वीर्य को शरीर में स्थान न देकर हर्षोत्पादक वीर्य को स्थान देना चाहिये; वही हमें वास्तविक उन्नति प्रदान करता है। प्राण-अपान आदि वायु न केवल शरीर की शुद्धि करते हैं अपितु वे हमारी दुर्भावनाओं को भी दूर करते हैं ॥१५॥

त्वं ह॒ त्यत्स॒प्तभ्यो॒ जाय॑मानोऽश॒त्रुभ्यो॑ अभवः॒ शत्रु॑रिन्द्र ।
गू॒ळ्हे द्यावा॑पृथि॒वी अन्व॑विन्दो विभु॒मद्भ्यो॒ भुव॑नेभ्यो॒ रणं॑ धाः ॥१६॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) जीवात्मन् ! (त्वं ह) तू निश्चय ही (अशत्रुभ्यः) मित्र भूत (सप्तभ्यः) सात प्राणों से (जायमानः) प्रकट होकर (त्यत्) उस समर्थ (अभवत्) रूप में आता है। पुनश्च (गूह्ळे) रहस्यात्मक (द्यावापृथिवी) द्युलोक एवं पृथिवी लोकस्थ सभी पदार्थों को (अनु, अविन्दः) अनुक्रम से सम्पादित कर लेता है। (विभु-मद्भ्यः) शक्तिशालियों वाले (भुवनेभ्यः) निवास स्थानों से (रणं) रमण को (धाः) प्राप्त करता है ॥१६॥

भावार्थः—जब साधक जीवात्मा की शक्तियाँ सप्त प्राणों के संयम से प्रकट होजाती हैं तब तो साधक दोनों लोकों में स्थित पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जहां-जहां शक्तिशालियों का निवास है, वहां से उसे प्रसन्नता उपलब्ध होती है ॥१६॥

त्वं ह॒ त्यद॑प्रति॒मा॒नमोजो॒ वज्रे॑ण वज्रिन्धृषि॒तो ज॑घन्थ ।
त्वं शुष्ण॒स्यावा॑तिरो॒ वध॑त्रै॒स्त्वं गा इ॑न्द्र॒ शच्येद॑विन्दः ॥१७॥

पदार्थः—हे (वज्रिन्) वीर्यवन् ! (त्वं ह) निश्चय तूने (त्यत्) वह (अप्रतिमानं) अनुपम (ओजः) ओज, (वज्रेण) वीर्य द्वारा (धृषितः) विजयी होकर (जघन्थ) प्राप्त किया था। (त्वं) तूने (वधत्रैः) संघर्ष साधनों द्वारा (शुष्णस्य) शोषक के ओज को (अव+ अतिरः) जीता और (त्वं) तूने, हे (इन्द्र) इन्द्र ! (शच्या) अपने ज्ञान एवं कर्तृत्व द्वारा (गाः) ज्ञान एवं कर्म इन्द्रियों को प्राप्त किया ॥१७॥

भावार्थः—शरीरधारी जीवात्मा को वीर्य द्वारा ही ओजस्विता मिलती है और फिर जीवन यात्रा में मिले संघर्षसाधनों की सहायता से वह अपनी इन्द्रियों को वश में करता है ॥१७॥

त्वं ह॒ त्यद्वृ॑षभ चर्षणी॒नां घ॒नो वृ॒त्राणां॑ तवि॒षो ब॑भूथ ।
त्वं सिन्धूँ॑रसृजस्तस्त॒भा॒नान् त्वम॒पो अ॑जयो दा॒सप॑त्नीः ॥१८॥

पदार्थः—(त्वं ह त्यत्) निश्चय ही तू वह (चर्षणीनां) विवेकशील एवं कर्तृत्व-शक्तिसम्पन्न मनुष्यों में, हे (वृषभ) बलवान् तथा श्रेष्ठ साधक ! (तविषः) बलवान् तथा (वृत्राणां) विघ्नों का, रुकावटों का (घनः) विध्वंसक (बभूव) विद्यमान था। (त्वं) तू ने (तस्तभानान्) रोक लेने वाले आशयों को (सिन्धून्) स्रवणशील

(असृजः) बनाया । और इस प्रकार (दासपत्नी) [दसु उपक्षये] नष्ट करने वाले द्वारा अपने अधिकार में रक्षित (अपः) कर्मशक्तियों को (अजयः) तू जीत लाया ॥१८॥

भावार्थः—जीवन-प्रवाह में रुकावटें भी आती ही हैं। विवेकशील एवं कर्मठ व्यक्ति अपनी शुभ सामर्थ्य के द्वारा उन रुकावटों को छिन्न-भिन्न कर प्रवाह को पुनः प्रसरणशील बनाता है और उसकी कर्मशक्ति पुनः अपने मार्ग पर अग्रसर होने लगती है ॥१८॥

स सुक्रतु रणिता यः सुतेष्वनुत्तमन्युर्यो अहेव रेवान् ।
य एक इन्नर्यपांसि कर्ता स वृत्रहा प्रतीदन्यमाहुः ॥१९॥

पदार्थः—(सः) वह इन्द्र (सुक्रतुः) शोभन संकल्प एवं कर्मों का कर्ता है (यः) जो (सुतेषु) पदार्थबोध रूप सारग्रहण के कर्मों में (रणिता) रमण करने वाला है और (अनुत्तमन्युः) [नञ्+उन्दी क्लेदने+क्त] अजेय साहसी एवं (यः) जो (अहा इव) दिवसों के समान चमकता (रेवान्) ऐश्वर्यवान् है। (यः) जो (एकइत्) अकेला ही (नर्यापांसि) पौरुषयुक्त [पुरुषोचित] कर्मों का (कर्ता) कर्ता है; (सः) वह (वृत्रहा) विघ्नों का नाशक है; उसी इन्द्र को (इत्) ही (अन्यं) सब दूसरों का—शत्रुओं का (प्रति) विरोधी (आहुः) कहते हैं ॥१९॥

भावार्थः—जो साधक सुकर्मा हो, शौक से साहसपूर्वक पदार्थज्ञान प्राप्त करता हो, और पौरुष कर्मों में ढील न देता हो वह निश्चय अपने सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है ॥१९॥

स वृत्रहेन्द्रश्चर्षणीधृत्तं सुष्टुत्या हव्यं हुवेम ।
स प्राविता मघवा नोऽधिवक्ता स वाजस्य श्रवस्यस्य दाता ॥२०॥

पदार्थः—दूसरे सभी साधक पूर्ववर्णित ऐश्वर्येच्छु के विषय में कहते हैं—(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र (वृत्रहा) विघ्नों का नाशक है; (चर्षणीधृत्) विवेकशील मनुष्यों को धारण करता है; (तं हव्यं) उस स्तुत्य पुरुष को हम (सुष्टुत्या) शोभन गुणवर्णन द्वारा (हुवेम) तृप्त करें। [जुहोति—अग्निं प्रीणाति—महाभाष्य २-३-३] (सः) वह (नः) हमारा (प्र, अविता) प्रकृष्ट प्यारा; (अधिवक्ता) उपदेष्टा हो और (सः) वह [अपने मार्ग दर्शन द्वारा] (श्रवस्यस्य) यश का तथा (वाजस्य) सुखप्रद ऐश्वर्य का (दाता) प्रदाता हो ॥२०॥

भावार्थः—ऐश्वर्येच्छु साधक जब दूसरों का मार्गदर्शन कराने की स्थिति में पहुंच जाय तो निश्चय ही वह दूसरों का मार्गदर्शक बने ॥२०॥

स वृ॑त्र॒हेन्द्र॑ ऋभु॒क्षाः स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो हव्यो॑ बभूव ।

कृ॒ण्वन्नपां॑सि॒ नर्या॑ पु॒रूणि॒ सोमो॒ न पी॒तो हव्य॒ः सखि॑भ्यः ॥२१॥

पदार्थः—(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र (वृत्रहाः) विघ्नापहर्ता (ऋभुक्षाः) मेधावियों का आश्रयदाता [मेधाविनः क्षाययति] (जज्ञानः) प्रकट होकर (सद्य.) तत्काल (हव्यः) स्तुत्य (बभूव) हो जाता है । (पुरूणि) बहुत से (नर्या) पुरुषोचित, नर हितकारी पौरुष के (अपांसि) कर्म करता हुआ वह (पीतः सोमः नः) पान किये गये सोमलतादि के रस के समान सेवित वह वीर्यवान् (सखिभ्यः) मित्रों के लिये (हव्यः) स्तुत्य हो जाता है ॥२१॥

भावार्थः—ऐश्वर्य का साधक पुरुष ज्यों ही सिद्ध अवस्था में पहुँचता है—सब साधक उसके स्तोता और उसके गुणों के अनुकर्ता बन जाते हैं ॥२१॥

विशेष—इस सूक्त में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार मनुष्य अपने वीर्य का सदुपयोग करके स्वयं उन्नत होता है और किस प्रकार दूसरे साधकों का मार्गदर्शन कर सकता है ।

अष्टम मण्डल में यह छियानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चदशर्चस्य सप्तनवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—१५ रेभः काश्यपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१, ११ विराड्बृहती । २, ६, ९, १२ निचृद्बृहती । ४, ५, ८ बृहती । ३ भुरिगनुष्टुप् । ७ अनुष्टुप् । १० भुरिग्जगती । १३ अतिजगती । १५ ककुम्मतीजगती । १४ विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, २, ४—६, ८, ९, ११, १२ मध्यमः । ३, ७ गान्धारः । १०, १३, १५ निषादः । १४ धैवतः ॥

या इ॑न्द्र॒ भुज॒ आभ॑रः॒ स्व॑र्वाँ॒ असु॑रेभ्यः ।

स्तो॒तार॒मिन्म॑घवन्नस्य वर्धय॒ ये च॒ त्वे वृ॒क्तब॑र्हिषः ॥१॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (स्वर्वान्) बहुसुखयुक्त आप (असुरेभ्यः) [सूर्य, वायु, मेघ, प्रज्ञा आदि स्वरचित] प्राणद पिण्डों से (याः) जिन (भुजः) भोग्यों को (आभरः) लाकर प्रदान करते हैं—(अस्य) उस भोग्य समूह के (स्तोतारं इत्) प्रशंसक को ही, हे (मघवन्) सम्मानित ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप, (वर्धय) बढ़ाइये (च) और उन लोगों को बढ़ाइये (ये) जो (त्वे) आपके लिये (वृक्तबर्हिषः) अपना शुद्ध अन्तःकरणासन बिछाये हुए हैं॥१॥

भावार्थः—यों तो परमेश्वररचित सारे ही भोग्य पदार्थ सदा उपस्थित रहते ही हैं परन्तु वस्तुतः वे उन्हें ही आमोद प्रदान करते हैं जो उनके गुणों को जानकर उनका सदुपयोग करते हैं और उनके दाता परम प्रभु को सदा अपने अन्तःकरण में प्रत्यक्ष देखते हैं ॥१॥

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ ॥२॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) आप (यं) जिस (गां, अश्वं, अव्ययं भागं) गाय, अश्व आदि से उपलक्षित ऐश्वर्य के अविनश्वर वितीर्यमाण अंश को वितरणार्थ (दधिषे) धारण करते हैं (तं)उस अंश को (तस्मिन्) उस प्रसिद्ध (सुन्वति) पदार्थों के बोध रूप सार का निष्पादन करनेवाले, और साथ ही (दक्षिणावति) दानशील व्यक्ति में (धेहि) स्थापित कर, (मा पणौ) क्रय-विक्रय करनेवाले कंजूस में मत स्थापित कीजिये ॥२॥

भावार्थः—जो विद्वान् परमेश्वर-रचित पदार्थों के गुणावगुणों को जान कर, उस बोधरूप सार को दूसरे में बांटते हैं, वे ही वस्तुतः प्रभु के दिये ऐश्वर्य के सच्चे भागीदार हैं; ज्ञान का लेन-देन करनेवाले पदार्थों के वास्तविक भोग से वंचित रह जाते हैं ॥२॥

य इन्द्र सस्त्यव्रतोऽनुष्वापमदेवयुः ।
स्वैः ष एवैर्मुमुरत्पोष्यं रयिं सनुतर्धेहि तं ततः ॥३॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यः) जो व्यक्ति (अव्रतः) सुकर्महीन है; (अदेवयुः) अपनी इन्द्रियों को अपना बनाकर नहीं रखता, अथवा उन्हें दिव्यगुणी नहीं बनाना चाहता और (अनुष्वापं) निद्रा—आलस्य के साथ-साथ (सस्ति) सोता रहता है; (सः) वह (स्वैः) अपने ही (एवैः) कृत्यों एवं आचरणों से (पोष्यं) पुष्टियोग्य (रयिं) ऐश्वर्य को (मुमुरत्) नष्ट कर डालता है; (तं) उस अकर्मण्य व्यक्ति को (ततः सनुतः) उस सनातन दान से परे (धेहि) पकड़िये अर्थात् हटा लीजिये ॥३॥

भावार्थः—प्रभु के दान तो सदातन और सनातन हैं। सुकर्महीन व्यक्ति के हिस्से से वे निकल जाते हैं। हीनकर्मी व्यक्ति को परमेश्वर के दिये सत्य, सनातन भोग भी प्राप्त नहीं होते ॥३॥

यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आ विवासति ॥४॥

पदार्थः—हे (शक्र) सर्वसमर्थ ! (वृत्रहन्) विघ्ननिवारक ! परमेश्वर ! आप (यत्) जिस (परावति) दूर देश में या (यत्) जिस (अर्वावति) समीपस्थ देश में विराजमान हैं, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (अतः) उस स्थान से (द्युगत्=द्युगद्भिः) अन्तरिक्ष में सर्वत्र फैलती हुई (केशिभिः) सूर्यरश्मियों के समान किरणोंवाली (गीर्भिः) स्तुतिवाणियों द्वारा (सुतावान्) पदार्थबोध को प्राप्त किये हुआ साधक (त्वा) आप को (आ विवासति) बुला लाता है ॥४॥

भावार्थः—यों तो परमेश्वर सर्वव्यापक है अतएव किसी से दूर नहीं है। परन्तु उसके गुणों को न जाननेवाला व्यक्ति उसका सायुज्य नहीं कर पाता; स्तोता, गुणगान करके—उसके गुणों का भलीभांति मनन करके—उसकी महत्ता को समझ लेता है—यही उसका अपने समीप आह्वान है ॥४॥

यद्वासि रोचने दिवः समुद्रस्याधि विष्टपि ।
यत्पार्थिवे सदने वृत्रहन्तम् यदन्तरिक्ष आ गहि ॥५॥

पदार्थः—पुनः दूसरे शब्दों में उसी भाव का प्रकथन किया गया है। हे परमेश्वर ! (यद्वा) अथवा यदि आप किसी (दिवः रोचने) द्युलोक के किसी ज्योतिष्मान् लोक में हैं; अथवा (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (विष्टपि अधि) किसी लोक में अधिष्ठित हैं। हे (वृत्रहन्तम) विघ्नों के अतिशय नाशक ! आप (यत्) यदि किसी (पार्थिवे सदने) भूलोक के स्थान में या (यद्) यदि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष स्थान में—कहीं भी हो, (आ गहि) आकर हमें सहारा दें ॥५॥

भावार्थः—जब तक व्यक्ति परमेश्वर की शक्ति को अनुभव नहीं कर पाता तबतक वह उसके लिये एक रहस्य ही रहता है—न जाने वह कहाँ हो। विघ्ननाशक परमात्मा का साहाय्य प्राप्त करना आवश्यक है ॥५॥

स नः सोमेषु सोमपाः सुतेषु शवसस्पते ।
मादयस्व राधसा सूनृतावतेन्द्र राया परीणसा ॥६॥

पदार्थः—हे (सोमपाः) जगत् में उत्पन्न पदार्थों द्वारा सबके रक्षक ! (शवसस्पते) बल के पालक ! (सः) वह आप (नः सोमेषु सुतेषु) पदार्थबोध रूप उनके सार के निचोड़ लिये जाने पर, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (राधसा) सिद्धिदायक, (सूनृतावता) सत्यवाणी युक्त, (राधसा) सुखसाधन, (परीणसा) बहुत से, (राया) सब प्रकार की विद्या से सम्पन्न पदार्थबोध रूप धन द्वारा (नः) हमें (मादयस्व) हर्षित करें ॥६॥ [रायः=सर्वविद्याजनितस्य बोध धनस्य य० ७-१४ ऋ० द०]

भावार्थः—परमेश्वर स्वोत्पादित पदार्थों द्वारा सबकी रक्षा करते हैं। परन्तु इसका माध्यम यही है कि मनुष्य उन पदार्थों का बोध प्राप्त करे, पदार्थबोध द्वारा मनुष्य पदार्थों का सदुपयोग करता है—यही परमात्मा का दिया हुआ धन होता है ॥६॥

मा नं इन्द्र परां वृणग्भवां नः सधमाद्यः।

त्वं नं ऊती त्वमिन्न आप्यं मा नं इन्द्र परां वृणक् ॥७॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (नः) हमारा (मा) मत (परा वृणक्) परित्याग कीजिये; (नः) हमारे (सधमाद्यः) साथ-साथ हर्षित होनेवाले होइये। (त्वं न ऊती) आप ही हमारे रक्षणादि क्रियायुक्त हैं; (त्वं इत्) आप ही (नः) हमारे (आप्यं) प्राप्त करने योग्य सखा हैं। हे (इन्द्र न मा परावृणक्) परमेश्वर ! हमारा त्याग मत कीजिये ॥७॥

भावार्थः—उपासक को मन में सदा इस बात की चिन्ता बनी रहनी चाहिये कि कहीं वह भटककर परमेश्वर को न छोड़ जाय। सर्वव्यापक परमात्मा तो जीव को क्यों कर छोड़ेगा ! परन्तु जीव ही है जो परमेश्वर के गुणों से अपना ध्यान हटाकर उससे विचलित हो जाता है। इस चिन्ता में विकल जीव दुबारा संकल्प करता है कि ऐसा न हो कि मैं परमात्मा को छोड़ दूं ॥७॥

अस्मे इंन्द्र सचां सुते नि षंदा पीतये मधुं।

कृधी जंरित्रे मंघवन्नवों महदस्मे इंन्द्र सचां सुते ॥८॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् ! (सुते) पदार्थबोध रूप सारग्रहण की क्रिया निष्पन्न कर लेने पर (मधु पीतये) उसके रस का उपभोग करने के लिये (अस्मे सचा) हमारे साथ (निषदा) बैठिये ! (मघवन्) हे आदरणीय ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (जरित्रे) अपना गुणगान करनेवाले उपासक के लिये (महद्) व्यापक (अवः) रक्षण व देखभाल (कृधी) कीजिये ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वर की सृष्टि में उत्पन्न पदार्थों का बोध प्राप्त कर लेने पर जो हर्ष प्राप्त होता है, उसका हर्ष भी उसे तभी प्राप्त होता है जब कि वह परमेश्वर को अपना सदा का साथी समझता रहे। दुःख में तो सभी उसको पुकारते हैं, सुख में भी उसके साथ की अभिलाषा बनी रहनी चाहिये ॥८॥

न त्वा देवास आशत न मर्त्यासो अद्रिवः ।
विश्वा जातानि शवसाभिभूरसि न त्वा देवास आशत ॥९॥

पदार्थः—हे (अद्रिवः) अदरणीय अखण्ड ऐश्वर्ययुक्त अथवा विघ्नविनाशक सामर्थ्ययुक्त परमेश्वर ! (त्वा) आपको (न) न तो (देवासः) अपने आप को दिव्य एवं अमर हुआ समझनेवाले ही (आशत) प्राप्त करते हैं और (न) न ही (मर्त्यासः) अपने आपको मरणशील समझने वाले आपको प्राप्त करते हैं। आप अपने (शवसा) बल से (विश्वा जातानि) उत्पन्न सभी पदार्थों और प्राणियों से (अभि भूः असि) बढ़-चढ़कर हैं ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वर के साथ सायुज्यता वे ही साधक प्राप्त कर सकते हैं कि जिन्हें न तो अपनी शक्तियों का घमण्ड हो और न जिनमें हीनभावना हो ॥९॥

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥१०॥

पदार्थः—(पृतनाः) मानव प्राणी (सजूः) एक साथ मिलकर (विश्वाः) सभी को (अभिभूतरं) पराजित करनेवाले (नरं) नेता को (ततक्षुः) घड़ कर बनाते हैं तथा (राजसे) राज्य करने के लिये उसको (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् (जजनुः) बना डालते हैं। फिर कैसे नेता को इन्द्र बनाते हैं—कि जो (क्रत्वावरिष्ठं) अपने कृत्य से श्रेष्ठ है; (वरे) चुनाव के प्रयोजन से (आमुरिं) अनभीष्टों का विध्वंसक है (उत) साथ ही (उग्रं) तेजस्वी है; (ओजिष्ठं) पराक्रमी है; (तवसं) बलकारक है और स्वयं (तरस्विनं) बलशाली है ॥१०॥

भावार्थः—इन्द्र पद से वेद में मनुष्यों के नेता राजा का वर्णन भी मिलता है। इस मन्त्र में यह विचार दिया गया है कि श्रेष्ठकर्मा, शत्रुविध्वंसक, बलशाली पुरुष को इस प्रकार से शिक्षित करके अपना नेता चुनना चाहिये कि वह सर्वातिशायी हो ॥१०॥

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥११॥

पदार्थः—(ईं) इस (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा को (रेभासः) बहुश्रुत स्तोता विद्वान्, (सोमस्य पीतये) ऐश्वर्य की रक्षा के लिये (सम्, अस्वरन्) सम्यक्तया

पुकारते हैं । तथा च (यत्) जब (इं) इस (स्वर्पतिं) धनस्वामी से (वृधे) अपने वर्धन के लिये प्रार्थना करते हैं तब (धृतव्रतः) कर्मठ बना हुआ वह राजा (हि) निश्चय ही (ओजसा) बल एवं (ऊतिभिः) पालन शक्तियों से (सम्) युक्त होता है ॥११॥

भावार्थः—प्रजाजन पूर्वमन्त्रोक्त गुणसम्पन्न राजा से राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा की प्रार्थना करते हैं । वह भी कर्मठ बनकर, ओजस्वी एवं पालक बनकर, राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा करता है ॥११॥

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।

सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥१२॥

पदार्थः—(विप्राः) बुद्धिमान् प्रजाजन (नेमिं) परिधि के समान प्रजा के रक्षक (मेषं) सुखवर्षक राजा को (अभिस्वराः) उसकी उपस्थिति में पुकारते हुए (चक्षसा=नमन्ति) आदर दृष्टि से देखते हैं । (सुदीतयः) शोभन विद्या-प्रकाश से दीप्त, (अद्रुहः) द्रोहरहित (वः अपि) शेष आप लोग भी जो (कर्णे) कर्तव्य कर्म में (तरस्विनः) बलशाली एवं आलस्य-रहित हैं, (ऋक्वभिः) प्रशंसनीय सत्कर्मों द्वारा (सं) उसका समादर करते हैं ॥१२॥

भावार्थः—राष्ट्र की परिधि बना हुआ राजा उसकी सब ओर से रक्षा करता है—इसी कारण बुद्धिमान् प्रजाजन उसकी उपस्थिति में ही उसका आदर करते हैं तथा दूसरे प्रजाजनों से भी आग्रह करते हैं कि वे सत्कर्म कर के ही उसके प्रति आदर प्रदर्शित करें ॥१२॥

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि ।

मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥१३॥

पदार्थः—[मैं उपासक तो] (तं) उस प्रसिद्ध (मघवानं) अति आदरणीय ऐश्वर्य के अधिपति, (उग्रं) तेजस्वी, (सत्रा) सत्य=अविनाशी (शवांसि) बलों से (दधानं) युक्त, (अप्रतिष्कुतं) निर्विरोध विद्यमान (इन्द्रं) परमेश्वर से (जोहवीमि) बार-बार प्रार्थना करता हूँ । वह (मंहिष्ठः) अतिशय उदारदानी है (च) और (गीर्भिः) पवित्र वाणियों द्वारा (यज्ञियः) संगति करने योग्य (आ ववर्तत्) सर्वथा विद्यमान रहता है । वह (वज्री) न्यायरूप दण्डधर (राये) दानशीलता के प्रयोजनवाले ऐश्वर्य के लिये (नः) हमारे (विश्वा) सभी (सुपथा) शुभमार्ग (कृणोतु) सिद्ध करता है ॥१३॥

भावार्थः—प्रजा तो ऐश्वर्य के लिये राजा की सहायता चाहे । परन्तु

व्यक्तिशः उपासक राजाओं के भी राजा परमेश्वर का ही गुणगान करे। प्रभु तो सर्वोपरि है ही; उसके गुणों को धारण करने का यत्न करनेवाला साधक स्वयं जान जाता है कि आदरणीय ऐश्वर्य किन-किन शोभन मार्गों से प्राप्त हो सकता है ॥१३॥

त्वं पुर॑ इन्द्र चि॒किदे॑ना॒ व्योज॑सा शविष्ठ शक्र नाश॒यध्यै॑ ।

त्वद्विश्वा॑नि॒ भुव॑नानि वज्रि॒न् द्यावा॑ रेजेते पृथि॒वी च॑ भी॒षा ॥१४॥

पदार्थः—हे (शविष्ठ) अतिशय बलशाली ! (शक्र) सर्व समर्थ ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) आप (पुरः) दुष्टताओं के भरे-पूरे नगरों का (ओजसा) अपने प्रभाव से ही (वि, नाशयध्यै) विध्वंस करना (चिकित्) भलीभांति जानते हैं। हे (वज्रिन्) दुर्भेद्य साधनसम्पन्न ! (विश्वानि भुवनानि त्वत्) यों तो सारे ही लोक आपके हैं—आपके शासन में है, (च) परन्तु (द्यावा पृथिवी) ये हमारे सामने प्रत्यक्ष, विद्यमान द्युलोक पृथिवी लोक तो (भीषा) भय से (रेजते) मानो कांपते ही हैं ॥१४॥

भावार्थः—परमेश्वर दुष्टताओं के सभी अड्डों से परिचित है और उसके प्रभाव से वे नष्ट होते रहते हैं। सभी लोक-लोकान्तर उसके शासनाधीन हैं तो हमारी इस शरीररूपी नगरी में विद्यमान हमारे शत्रु उससे कैसे बचे रह सकते हैं ? ॥१४॥

तन्म॑ ऋ॒तमि॑न्द्र शूर चित्र पात्व॒पो न व॑ज्रिन्दुरि॒ताति॑ प॑र्षि॒ भूरि॑ ।

क॒दा न॑ इन्द्र रा॒य आ द॑शस्येर्वि॒श्वप्स्न्य॑स्य स्पृह॒याय्य॑स्य राजन् ॥१५॥

पदार्थः—हे (शूर) दुष्ट दोषों को नष्ट करनेवाले ! (चित्र) पूजनीय ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (तत्) आपका वह (ऋतं) सत्य सनातन नियम (मा) मुझको (पातु) अपना संरक्षण दे। हे (वज्रिन्) न्यायरूप दण्ड के धारक प्रभो ! आप (भूरि) हमारे बहुत से (दुरिता) पापों को (अपः) जलों के समान (अतिपर्षि) पार करा दीजिये। हे (इन्द्र राजन्) हे सर्वोपरि ऐश्वर्यवान् प्रभो ! आप (विश्वप्स्न्यस्य) सभी रूपों में विद्यमान (स्पृहयाय्यस्य) स्पृहणीय (रायः) धन को (नः) हमें (कदा) कब (दशस्येः) देंगे ? ॥१५॥

भावार्थः—उपासक को एकमात्र आशा भगवान् से ही है। परन्तु वह यह भी समझता है कि सारा संसार उसके सत्य-अबाधित नियमों में बंधा है। वह जानता है कि यदि भगवान् की सहायता मिले तो सारी दुर्भावनाओं, दुष्ट विचारों से सरलता से छुटकारा मिल सकता है ॥१५॥

अष्टम मण्डल में यह सत्तानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्याष्टनवतितमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—१२ नृमेधः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—१, ५ उष्णिक्। २, ६ ककुम्मतीउष्णिक्। ३, ७, ८, १०—१२ विराडुष्णिक्। ४ पादनिचृदुष्णिक्। ९ निचृदुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।

धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥१॥

पदार्थः—हे स्तोताओ! तुम उस (विप्राय) विविधरूप से हमें भरपूर कर रहे, [विशेषेण प्रातीति विप्रः], (बृहते) विशाल, (धर्मकृते) धारणा के साधन=नियमों के निर्माता, (विपश्चिते) विविध ज्ञान एवं कर्मशक्तियों के पालक, (पनस्यवे) स्तुति-योग्य (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (बृहत् साम) बृहत्साम का (गायत) गायन करो ॥१॥

भावार्थः—परमेश्वर हमें नानापदार्थ देकर भरपूर किये हुए है; वह उन शाश्वत नियमों व सिद्धान्तों का निर्माता है कि जिनके आधार पर यह संसार टिका हुआ है। उसका सामगायन द्वारा विस्तृत गान या वर्णन तो हो; जिससे उसका सन्देश मिलता रहे ॥१॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः।

विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥२॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (त्वं) आप (अभिभूः असि) सामर्थ्य में सबको पराजित कर विद्यमान हैं; (त्वं सूर्यं अरोचयः) सूर्य आदि ज्योतिष्पुञ्जों को भी आपने प्रकाश दिया है; आप (विश्वकर्मा) संसारभर के शिल्पी, [सभी प्रकार के पदार्थों के निर्माता] और (विश्वदेवः) संसारभर के पदार्थों को दिव्यता प्रदान करने वाले हैं; अतः आप (महान् असि) महान् हैं ॥२॥

भावार्थः—सूर्य आदि चमकते पिण्ड हमें कितने प्रिय लगते हैं—उनके विना हमारा कोई भी काम नहीं चल सकता। परन्तु सूर्य आदि चमकते पिण्डों का प्रकाशक भी तो परमेश्वर ही है। इसलिये उससे बढ़कर कोई नहीं है ॥२॥

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः।

देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥३॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर! आप अपनी (ज्योतिषा) ज्योति द्वारा

(विभ्राजन्) देदीप्यमान हैं; आप (दिवः) प्रकाशलोक को भी (रोचनं) प्रकाश देने वाले अर्थात् उससे भी अधिक प्रकाशित (स्वः) परम सुख को (अगच्छः) पहुँचाते हैं। हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (देवाः) विद्वान्, इसीलिये (ते) आपके साथ (सख्याय) मित्रता के लिये (येमिरे) यत्न करते हैं ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर न केवल इस लोक का ऐश्वर्य एवं सुख ही प्रदान करता है अपितु दिव्य सुख का दाता भी वही है। इसीलिये सभी विद्वान् उसकी मित्रता के इच्छुक रहते हैं ॥३॥

एन्द्रं नो गधि प्रियः संत्राजिदगोह्यः ।

गिरिर्न विश्वतंस्पृथुः पतिर्दिवः ॥४॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप जो (सत्राजित्) सत्य गुण, कर्म, स्वभाव द्वारा सर्वविजयी हैं; (अगोह्यः) जिस आपकी सत्ता सदा प्रकट है; (गिरिः न) पर्वत की भांति (विश्वतः पृथुः) सब ओर से विशाल हैं; (दिवः पतिः) प्रकाश लोक के पालक हैं; वे आप (नः) हमें (आ गधि) बोध प्राप्त कराइये ॥४॥

भावार्थः—विराट् शक्तिमान् परमेश्वर अद्भुत सृष्टि के माध्यम से ही प्रकट है; उसे भला कौन नहीं अनुभव करता ! हां, उचित बोध, प्रेरणा के विना मनुष्य उसको देखता हुआ भी नहीं देखता ॥४॥

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।

इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥५॥

पदार्थः—हे (सत्य) सनातन ! परमेश्वर ! आप (सोमपाः) इस सारे पदार्थ-वैभव के रक्षक हैं; (रोदसी) द्युलोक एवं भूलोकस्थ (उभे) दोनों में विद्यमान सभी से (अभि बभूथ) अधिक श्रेष्ठ हैं। हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (सुन्वतः) सब पदार्थों के बोधरूप सार को ग्रहण कर रहे साधक को (वृधः) उत्साहित करते हैं; आप (दिवः पतिः) ज्ञानरूप प्रकाश के स्वामी धनी हैं ॥५॥

भावार्थः—सृष्टि में जो कुछ भी विद्यमान है—प्रभु के आधीन है। जो साधक सृष्टि के पदार्थों का बोध प्राप्त करने में व्यस्त रहता है, उसको ज्ञान-रूप प्रकाश का कुबेर वह परमेश्वर उत्साहित करता है ॥५॥

त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि ।

हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥६॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) आप (शश्वतीनां) प्रवाहरूप से अनादि एवं अनन्त (पुरां) [मानव की उन्नति में बाधक दुर्भावनाओं की] सब प्रकार से भरी-पूरी बस्तियों के (वर्त्ता) तोड़मोड़ देनेवाले हैं और (दस्योः) उपतापक दुर्भावनाओं को (हन्ता) नष्ट कर देनेवाले हैं; (मनोः वृधः) मननशील को उत्साहित करते हैं और (दिवः पतिः) प्रकाशलोक के संरक्षक हैं ॥६॥

भावार्थः—मानव के अन्तःकरण में दुर्भावनाओं की अनेक बस्तियां हैं; उन्हें अपने भरण-पोषण के लिये वहीं सब कुछ प्राप्त होता रहता है—परमेश्वर के मनन से अन्तःकरण में परमेश्वर को विराजमान कर सकने वाला साधक ही इन बस्तियों का विध्वंस कर पाता है। फिर ये बस्तियां प्रवाहरूप से अनादि-अनन्त हैं—वार-वार टूट-टूटकर फिर जुड़ जाती हैं। इसलिये मनन भी वार-वार लगातार करना आवश्यक है ॥६॥

अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान्महः ससृज्महे ।

उदेव यन्त उदभिः ॥७॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) स्तुतियोग्य परमेश्वर ! (अध हि) अब तो हम (त्वा उप) आप के सान्निध्य में (महः) बड़ी-बड़ी (कामान्) अभिलाषाओं की (ससृज्महे) सृष्टि करलें—(इव) जैसे कि (उदभिः) जलों—नदी समुद्र आदि द्वारा (यन्तः) यात्रा करने वाले (उदा) जलों द्वारा अपनी अभिलाषाओं की वृद्धि किया करते हैं ॥७॥

भावार्थः—जल से भरे जलागारों के साथ जानेवाले जलों से पूरी हो सकने वाली अभिलाषाओं की सृष्टि कर सकते हैं। परमेश्वर तो सभी ऐश्वर्यों से भरपूर है—फिर उसके सान्निध्य में तो साधक का किसी भी कामना की पूर्ति की आशा रखना सम्भव ही है ॥७॥

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।

वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥८॥

पदार्थः—हे (अद्रिवः) अखण्ड ऐश्वर्यवान् (न) जैसे (वाः) जल (यव्याभिः) जल पहुँचाने वाली नदियों के द्वारा दिन प्रति दिन बढ़ने वाले जलाधिपति को ही बढ़ाते हैं ऐसे ही हे (शूर) बलवन् ! (ब्रह्माणि) वाणियां (यव्याभिः) आप तक पहुँचने वाली स्तुतियों द्वारा (दिवे दिवे) दिन-प्रति-दिन (वावृध्वांसं चित्) वृद्धिशील ही आप को (वर्धन्ति) बढ़ाती हैं ॥८॥

[सा या सा वाक्, ब्रह्मैव तत्—जै० उ० २-५-१-२]

भावार्थः—जलों से समुद्र बढ़ता है—यह सर्वथा प्रत्यक्ष है। ऐसे ही परमेश्वर की वृद्धि अर्थात् हमारे अन्तःकरण में उसकी अधिकाधिक दृढ़ता से स्थिति, हमारी वाणियों द्वारा—हम जो उसके गुणों का उच्चारण कर उनका अध्ययन करते हैं—उनसे होती है ॥८॥

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे ।

इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥९॥

पदार्थः—(वचोयुजा) वाणी से युक्त अर्थात् वश्य, (स्वर्विदा) सुखप्रापक, (इन्द्रवाहा) जीव के वाहनभूत दो घोड़े—[ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियां] (उरौ रथे) इस बहुमूल्य रथरूप देह में—(उरौ युगे) इसके दृढ़ जुए में (इषिरस्य) सर्वप्रेरक परमेश्वर की (गाथया) स्तुतिरूप बन्धनी द्वारा (युञ्जन्ति) जुड़े रहते हैं ॥९॥

भावार्थः—परमेश्वर की स्तुति के माध्यम से हमारी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियाँ आत्मा के वश में इस प्रकार बनी रहती हैं कि वे रथी आत्मा को परमसुख तक पहुँचा देती हैं ॥९॥

त्वं न इन्द्रा भरँ ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।

आ वीरं पृतनाषहम् ॥१०॥

पदार्थः—हे (शतक्रतो) विविध सैकड़ों कर्मों के साधक, सैकड़ों प्रज्ञाओं वाले ! (विचर्षणे) सर्वद्रष्टा ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) आप (नः) हमें (ओजः) ओजस्विता (नृम्णं) साहस से (आ भर) भरपूर कर दीजिये। और हमें (पृतना-सहं) अनेकों पर विजय प्राप्त कराने वाले (वीरं) वीरतादायक बल से भी (आ) परिपूर्ण कीजिये ॥१०॥

भावार्थः—परमेश्वर की गुणवन्दना उसके गुणों के सदृश गुणों के ग्रहण के लिये साधक का साहस बढ़ाती है ॥१०॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।

अधा ते सुम्नमीमहे ॥११॥

पदार्थः—हे (वसो) वसाने हारे परमेश्वर ! (त्वं हि) आप ही (नः) हम सबके (पिता) पालक तथा हे (शतक्रतो) विविध प्रज्ञा एवं कर्मविशिष्ट प्रभो आप ही हमारे (माता) निर्माणकर्ता (बभूविथ) होते हैं। (अध) इसी कारण (ते) आप से (सुम्नं) सुख की (ईमहे) याचना करते हैं ॥११॥

भावार्थः—चारों ओर से साधन जुटाकर बसानेवाला पिता और सारी देखरेख करके शरीर एवं चरित्र का निर्माण करनेवाली माता—ये दोनों ही—पुत्र के सुख के कारक होते हैं। परमेश्वर में ये दोनों शक्तियां निहित हैं—इनके द्वारा ही वह सारे संसार को सुख पहुँचानेवाला है ॥११॥

त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो ।

स नो रास्व सुवीर्यम् ॥१२॥

पदार्थः—हे (शुष्मिन्) बलशाली ! (शतक्रतो) अपरिमित ज्ञान एवं कर्म-शक्ति से सम्पन्न, (पुरुहूत) बहुतों से प्रेमपूर्वक बुलाये गये परमेश्वर ! (वाजयन्तं) सत्यासत्य का ज्ञान कराते हुए (त्वां) आप से (उपब्रुवे) प्रार्थना करता हूँ कि (सः) वह आप (नः) हमें (सुवीर्यं) शोभन वीर्य और बल (रास्व) प्रदान कीजिये ॥१२॥

भावार्थः—मनन, ध्यान एवं निदिध्यासन द्वारा परमेश्वर के सान्निध्य में प्राप्त आत्मा अनुभव करता है कि परमेश्वर अब मुझे सत्यासत्य का ज्ञान प्रदान करेंगे। उस समय भी साधक को यह नहीं भूलना चाहिये कि वही बल-वीर्य वह परमेश्वर से चाहे जो शोभन हो; सबके कल्याण का साधन बने, किसी को सताने में प्रयुक्त न हो ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह अठानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथाष्टचंस्यैकोनशततमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—८ नृमेधः । देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१ आर्चीस्वराड् बृहती । २ बृहती । ३, ७ निचृद्बृहती । ५ पाद-निचृद्बृहती । ४, ६, ८ पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१—३, ५, ७ गान्धारः । ४, ६, ८ पञ्चमः ॥

त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन्वज्रिन्भूर्णयः ।

स इन्द्र स्तोमवाहसामिह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१॥

पदार्थः—हे (वज्रिन्) शक्तिशाली मन ! (भूर्णयः) तेरा भरणपोषण करने वाले (नरः) साधक मनुष्यों ने (त्वां) तुझे (इदा) आज भी (ह्यः) पहले भी (अपीप्यत) तृप्त किया था। वह तू इन्द्र ! (स्तोमवाहसः) तुझे प्रशंसित बनाने वाले साधकों की बात (श्रुधि) सुन; (इह उपस्वसरं) यहां अपने घर को (आ, गहि) आ पकड़ ॥१॥

भावार्थः—श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि योग-क्रियाओं द्वारा

मनुष्य मन को ही शक्तिशाली बनाये—और इधर-उधर न जाने देकर उसको इस अपने शरीर आदि रूप घर का अधिष्ठाता बनाये ॥१॥

मत्स्वा सुशिप्र हरिवस्तदीमहे त्वे आ भूषन्ति वेधसः ।

तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्या सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥२॥

पदार्थः—हे (सुशिप्र) ज्ञान द्वारा प्रदीप्त एवं शोभित, (हरिवः) इन्द्रियवशी (इन्द्र) मेरे मन ! तू, (मत्स्व) मग्न हो; (तं ईमहे) इस स्वरूपवाले ही तुझको हम चाहते हैं; (त्वे) इस रूपवाले ही तुझे (वेधसः) ज्ञान से युक्त [इन्द्रियां] (भूषन्ति) भूषित करती हैं । हे (गिर्वणः इन्द्र) हे स्तुत्य इन्द्र ! (सुतेषु) [परमसत्य को सम्पन्न करने के लिये किये गये] यज्ञों में (तव) तेरी (श्रवांसि) अन्तः प्रेरणाएँ (उक्था) प्रशंसनीय और (उपमानि) आदर्श हैं ॥२॥

भावार्थः—जब मनुष्य का मन ज्ञानवान् होकर इन्द्रियों पर पूरा अधिकार कर लेता है तो वह एक विशेष प्रकार के आनन्द में मस्त रहता है । ऐसे मन की अन्तःप्रेरणायें मानव को परमसत्य की ओर ले जाती हैं ॥२॥

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।

वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥३॥

पदार्थः—[हे मनुष्यो !] (सूर्यं श्रायन्तः इव) सूर्य का आश्रय लेते हुए [सूर्य-किरणों के समान] हम प्रेरक प्रभु का आश्रय लेते हुए (जाते) इस उत्पन्न हुए तथा (जनमाने) भविष्य में उत्पन्न होनेवाले संसार में (विश्वा इत्) सभी (वसूनि) वासक धन, बल, ज्ञान आदि ऐश्वर्यों का, (इन्द्रस्य ओजसा) परमेश्वर की शक्ति के द्वारा ही (भक्षत) उपभोग करते हैं । [उस उपभोग का हम] (प्रतिभागं न) अपने-अपने अंश के समान ही (दीधिम) ध्यान करें—मनन करें ॥३॥

भावार्थः—जैसे सूर्य की किरणें सूर्य के आश्रय में स्थित हैं; वैसे ही हम जीवात्मा परमेश्वर के आश्रय में स्थित होकर संसार के पदार्थों से उपकार लेते रहें—परन्तु पदार्थों से उपकार लेते हुए अथवा उनका उपभोग करते हुए हम केवल अपने-अपने भाग—हिस्से को ही ध्यान में रखें । वेद में अन्यत्र कहा है—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'—किसी दूसरे के हिस्से को ललचाई दृष्टि से मत देख ॥३॥

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।

सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥४॥

पदार्थः—[हे मनुष्य !] (अनर्शरातिं) निर्दोष दानशील, (वसुदां) ऐश्वर्य प्रदाता [प्रभु] की (उपस्तुहि) उसमें उपगत=विद्यमान गुणों द्वारा स्तुति कर; (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् के (रातयः) दान (भद्राः) कल्याणकारी हैं। (सः) वह परमात्मा (विधतः अस्य) यथावत् विविध व्यवहार करने वाले इस साधक के (मनः) मन को (दानाय चोदयन्) दानशीलता के लिये प्रेरित करता है और इस प्रकार इसकी (कामं) कामना=अभिलाषा को (न) नहीं (रोषति) मारता है ॥४॥

भावार्थः परमात्मा ऐश्वर्य देता है परन्तु उसका दान सदा निर्दोष एवं कल्याणकारी होता है। अपने भक्त अर्थात् कर्मशील को भी वह ऐसा ही दानशील होने की प्रेरणा देता है; जो ऐसा दानी बनता है उसकी सभी कामनाएं पूर्ण होती हैं ॥४॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥५॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (त्वं) आप (प्रतूर्तिषु) हमारे आध्यात्मिक संघर्षों में (विश्वाः स्पृधः) आत्मा को कलुषित करने वाली सभी दुर्भावनाओं को (अभि असि) ललकार देते हैं। आप (अशस्तिहा) अनिष्ट-कल्याण न करने वाली—अभिलाषाओं को नष्ट कर देते हैं; और (जनिता) कल्याणकारक कामनाओं के जनक हैं; (वृत्रतूः असि) तथा विघ्नों के विध्वस्त करने वाले हैं। (त्वं) आप (तरुष्यतः) आक्रान्ता [दुर्भावनाओं] को (तूर्य) शीघ्र नष्ट कीजिये ॥५॥

भावार्थः—श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा परमात्मा के सामर्थ्य को अपने अन्तःकरण में अनुभव करने वाला साधक उसकी प्रत्यक्षता से लाभ उठाता है; परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति उसे सभी दुर्भावनाओं को परे रखने में और धृष्टता से आक्रमण कर ही देने वाली अकल्याणकर भावनाओं को नष्ट करने में सहायता देती है ॥५॥

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥६॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इव) जैसे (मातरा) माता-पिता [अपने] (शिशुं) अविद्या आदि दोषों को कम करने में यत्नशील तथा शासनीय प्रिय पुत्र के (अनु ईयतुः) अनुकूल चलते हैं ऐसे ही (क्षोणी) द्युलोक से पृथिवी लोक तक के सभी प्राणी (ते) आपके (तुरयन्तं) शीघ्र चलाने वाले (शुष्मं) शत्रुभावनाओं को सुखाने

वाले बल वीर्य के (अनु ईयतुः) अनुकूल चलते हैं। हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (यत्) जब आप (मन्यवे) प्रदीप्ति=उत्साह के उत्पन्न करने के प्रयोजन से (वृत्रं) विघ्नकारी अज्ञान को (तूर्वसि) नष्ट कर देते हैं तब (ते) आप के (विश्वाः) सभी (स्पृधः) स्पर्धालु, काम-क्रोध आदि हमारे दुर्भाव (श्नथयन्त) शिथिल हो जाते हैं—मर जाते हैं ॥६॥

भावार्थः—माता-पिता अपने शासनाधीन परन्तु अपने दोषों को क्षीण करने में लगे शिशु के अनुकूल आचरण करते हैं। संसार के सभी प्राणी अब परमेश्वर के बल के अनुकूल अपना आचरण बना लेते हैं—परमात्मा की शक्ति को सदा अपने साथ विद्यमान अनुभव करने लगते हैं तब मनुष्य का अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह आगे बढ़ने के लिये उत्साहित होता है। इस प्रकार उसके अन्तःकरण की सभी दुर्भावनाएं शिथिल पड़ जाती हैं ॥६॥

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम् ॥७॥

पदार्थः—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारी अपनी (ऊती) रक्षा, सहायता व देखभाल हो—इस प्रयोजन से तुम (अजरं) सदा युवा=समर्थ, (प्रहेतारं) सब के प्रेरक परन्तु स्वयं (अप्रहितम्) अप्रेरित=स्वतन्त्र, (आशु) व्यापक होने के कारण सर्वत्र शीघ्र प्राप्त, (जेतारं) इसी कारण जयशील (हेतारं=होतारं) दानशील (रथीम्) रथ के स्वामी—अर्थात् उत्तम अधिष्ठाता, (अतूर्तं) अहिंसित=अमर (तुग्र्यावृधं) दुर्भावनाओं की हिंसा में हितकारी बल को प्रदान करके बढ़ाने वाले परमेश्वर की शरण में (इत) पहुँचो ॥७॥

भावार्थः—मनुष्य की देखभाल और किसकी शरण में हो सकती है ? स्पष्ट है कि अजर, अमर परमेश्वर की शरण में। अपने अन्तःकरण में उसकी अनुभूति प्रत्यक्ष करना ही उसकी शरण में पहुंचना है ॥७॥

इष्कर्तारमनिष्कृतं सहस्कृतं शतमूर्तिं शतक्रतुम् ।
समानमिन्द्रमवसे हवामहे वसवानं वसूजुवम् ॥८॥

पदार्थः—[हम] (अवसे) अपनी रक्षा=देखभाल तथा सहायता के लिये (इष्कर्तारं) इच्छा पूर्ति करने वाले, (अनिष्कृतं) स्वतःपापरहित=किसी अन्य द्वारा पापमुक्त न किये गये, (सहस्कृतं) सब बलों के रचयिता, (शतमूर्तिं) अपरिमित रक्षासाधनों से युक्त (शतक्रतुं) अपरिमित प्रज्ञा एवं कर्मवाले, (समानं) सब के

प्रति समान, (वसवानं) सब पर अपना आच्छादक = करुणाहस्त रखने वाले (वसूजुवम्) सभी वस्तुओं के प्रेरक (इन्द्रं) परमात्मा को (हवामहे) पुकारते हैं ॥८।

भावार्थः—इस सृष्टि में सबसे अधिक शक्तिशाली परमात्मा ही है; वही हमारी देखभाल भलीभांति कर सकता है। उसको आमंत्रित करना, अपने अन्त:करण में उसको श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन आदि साधनों से आविर्भूत करना ही मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है ॥८॥

अष्टम मण्डल में यह निन्यानवेवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य शततमस्य सूक्तस्य—ऋषिः—१—१२ नृमेधः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—१ आर्चीस्वराड् बृहती । २ बृहती । ३, ७ निचृद्बृहती । ५ पादनिचृद्बृहती । ४, ६, ८ पङ्क्तिः ॥ स्वरः—१—३, ५, ७ गान्धारः । ४, ६, ८ पञ्चमः ॥

अयं त एमि तन्वा पुरस्ताद्विश्वे देवा अभि मा यन्ति पश्चात् ।
यदा मह्यं दीधरो भागमिन्द्रादिन्मया कृणवो वीर्याणि ॥१॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (यदा) जब आपने (मह्यं) मेरे लिये (भागं)[अपने अपार ऐश्वर्य में से कर्मानुसार मेरे] भोग्य अंश को (दीधरः = अदीधरः) अपनी विचारधारा का विषय बनाया [ध्यै चिन्तायाम्]; (आदित्) और उसके पश्चात् (मया) मेरे द्वारा (वीर्याणि) वीरोचित नाना कार्य (कृणवः) करवाने लगे तब मैं (तन्वा) अपने सारे ताने-बाने के साथ (ते) आपके (पुरस्तात्) सामने (अयं) अभी = तत्काल (एमि) आता हूँ और (पश्चात्) मेरे पीछे-पीछे (विश्वे देवाः) सभी दिव्यता के इच्छुक स्तोता (मा) मेरे (अभि यन्ति) आश्रय में आ जाते हैं ॥१॥

भावार्थः—भगवान् के स्तोता को जब यह निश्चय हो जाता है कि मुझे भगवान् के ऐश्वर्य में से अपने कर्मफल के अनुकूल हिस्सा मिल रहा है तो उसके न्याय से सन्तुष्ट श्रोता वीरता के नाना कार्यों को करने के लिये उत्साहित होता है; वह भगवान् का हृदय से गुणगान करता है तथा दूसरे विद्वान् भी उसके समान ही स्तोता बन जाते हैं ॥१॥

दधामि ते मधुनो भक्षमग्रे हितस्ते भागः सुतो अस्तु सोमः ।
असश्च त्वं दक्षिणतः सखा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ॥२॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! (ते) आपके दिये हुए (मधुनः) हर्षदायक [मदी

हर्षे] भोगों में से (भक्षं) अपने भोग्य अंश को (दधामि) धारण करता हूँ। पुनश्च (सुतः) [उस भोग्य अंश का] साररूप से गृहीत (सोमः) सुखदायक (भागः) अंश भी (ते अग्रे) आपके सन्मुख रख देता हूँ। (च) और (त्वं) आप (मे) मेरे (दक्षिणतः) दाँयी ओर से (सखा) मित्र (असः) हो जाते हैं। (अधा) अनन्तर हम दोनों (भूरि) बहुत संख्या में (वृत्राणि) विघ्न-राक्षसों को (जङ्घनाव) बार-बार मारते हैं ॥२॥

भावार्थः— परमात्मा ने अपनी सृष्टि में नाना प्रकार के भोग प्रदान किये हैं। जीव का यह कर्त्तव्य है कि उनका सार—बोध—प्राप्त कर प्रभु को ही समर्पित करने की भावना से उसको ग्रहण करे। इस प्रकार वह परमेश्वर का शक्तिशाली मित्र—दाँया हाथ--अनुकूल सहायक बनकर प्रभु के सहयोग से अपने जीवनपथ में आने वाले विघ्नों को दूर करने लगता है ॥२॥

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥३॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (यदि सत्यं अस्ति) [यदि वेदों तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा तुम्हारे मन में यह बात निश्चित हुई है तो (वाजयन्तः) तुम ऐश्वर्य की कामना करते हुए (सत्यं) सचमुच ही (इन्द्राय) परमेश्वर को लक्ष्य करके (सु स्तोमं) श्रेष्ठ स्तुतिसमूह को (प्र, भरत) समर्पित करो (इन्द्रः न अस्ति) परमेश्वर नहीं है यह बात तो (त्वः) कोई (नेमः) अधूरा अपरिपक्व ज्ञानी ही (आह) कहता है। वह शंका प्रकट करता है कि (ईम्) उसको (कः ददर्श) किसने देखा है ? इस कारण हम (कं) किसकी (अभिस्तवाम) प्रत्यक्ष रूप से स्तुति करें ? ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर के अस्तित्व का सचमुच निश्चय किये हुए ही स्तोता उसकी स्तुति कर सकता है। अपरिपक्व ज्ञानी तो उसके अस्तित्व के प्रति शंकालु ही रहता है ॥३॥

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥४॥

पदार्थः—शंकालु स्तोता को अन्तर्यामी परमेश्वर विश्वास दिलाते हैं—हे (जरितः) स्तोता ! (अयमस्मि) यह मैं प्रत्यक्ष ही तुम्हारे सन्मुख हूँ--(पश्य मा इह) मुझे यहीं अनुभव कर। (मह्ना) अपने महान् सामर्थ्य से, मैं (जातानि) सृष्टि में प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध भी सभी पदार्थ (अभि अस्मि) अपने वश में किये हुए हूँ। (मा) मुझ को (ऋतस्य) यथार्थ ज्ञान अथवा यज्ञ के (प्र, दिशः) उपदेष्टा

अथवा मार्गदर्शन कराने वाले (मा) अपने उपदेश आदि के द्वारा मेरे महत्त्व को (वर्धयन्ति) बढ़ाते हैं। (आदर्दिरः) आदरणशील [सायण] मैं (भुवनाः) सब सत्ताधारियों को—(दर्दरीमि) पुनः पुनः छिन्न-भिन्न करता हूँ ।।४।।

भावार्थः—प्रभु का सच्चे हृदय से गुणगान करने वाला साधक सर्वोपरि तो है ही; वह प्रभु का यथार्थ अधिवक्ता भी है और इस प्रकार उसके महत्त्व का व्यापक प्रचार करता है ।।४।।

आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे ।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः ।।५।।

पदार्थः—(हर्यतस्य) प्रेप्सित (ऋतस्य) दिव्य सत्य अथवा यथार्थ बल के (पृष्ठे) आधार पर [वीर्यं पृष्ठम्--जै० ब्रा० १, ३०९] (आसीनं) अवस्थित (एकं) अद्वितीय (मा) मुझ को (वेनाः) चाहने वाले विद्वान् (यत् मा आरुहन्) जब मुझ पर आरूढ हो जाते हैं तब (हृदः) मेरे अन्तःकरण से ही मानो (मे) मेरी (मनः) विचार-धारा (आ, प्रति, अवोचत्) उत्तर देती है कि (शिशुमन्तः) [शिशुं = अविद्यादिदोषाणां तनूकर्ता० (ऋ० १-१५-३ ऋ० द०) अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः] दोष दूर करने वाली प्रशस्त प्राणशक्ति से सम्पन्न (सखायः) मित्रों ने मुझे (अचिक्रदन्) पुकारा है ।।५।।

भावार्थः—प्रभुप्राप्ति की उत्कट अभिलाषा लेकर स्तुति करने वाले स्तोता जब तन्मयता से प्रभु की स्तुति में लग जाते हैं; और वे अपने प्राण-बल से अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न भी साथ-साथ करते हैं तो मानो परमेश्वर भी उनकी पुकार सुन लेता है ।।५।।

विश्वेत्ता ते सवनेषु प्रवाच्या या चकर्थ मघवन्निन्द्र सुन्वते ।
पारावतं यत्पुरुसम्भृतं वस्वपावृणोः शरभाय ऋषिबन्धवे ।।६।।

पदार्थः—हे (मघवन्) सत्करणीय ऐश्वर्य से युक्त, (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (सवनेषु) ऐश्वर्य प्राप्ति के अथवा सुखसाधन के लिये सम्पन्न किये जा रहे अथवा सत्कर्मरूप यज्ञों में (सुन्वते) उन कर्मों के सम्पादक के हितार्थ (या) जो सहायतारूप कर्म आप (चकर्थ) करते रहे हैं (ते) आपके वे (विश्वा इत्) सब ही (प्रवाच्या) शिक्षणीय हैं। (पारावतं) [अन्तो वै परावतः--ऐत० ब्रा० ५-२] अन्तिम अवस्था-मोक्षावस्था--से सम्बद्ध (यत्) जो (पुरुसम्भृतं) बहुतसा एकत्रित (वसु) ऐश्वर्य है उसको आप (ऋषिबन्धवे) श्रम एवं तप द्वारा स्वर्गावस्था को प्राप्त होने वाले—[ऋषयो ह वै स्वर्गलोकं जिग्युः श्रमेण तपसा व्रतचर्येण—जैमि० ब्रा० २-२१७]

ऋषि बन्धु—स्नेही (शरभाय) [शृ हिंसायाम्+अरम् उणादि] तप द्वारा आत्म-पीड़क के लिये (अपअवृणो) अपने संरक्षण में, ढक कर, रखते हैं ॥६॥

भावार्थः—परमप्रभु ऐश्वर्य के साधक की अनेक प्रकार से सहायता करते हैं। वे श्रम एवं तप द्वारा अपने आप तक को पोड़ा देने वाले साधक को दिव्य सुख--परमसुख--देते हैं ॥६॥

प्र नूनं धावता पृथङ्नेह यो वो अवांवरीत् ।

नि षीं वृत्रस्य मर्मणि वज्रमिन्द्रो अपीपतत् ॥७॥

पदार्थः—हे उपासक जीवो ! (इह) यहां तुम्हारे जीवन-पथपर (यः) जो (वः) तुम को (न) नहीं (अव अवरीत्) स्वीकार करता—तुम्हारा मित्र बन नहीं रहता, (नूनं) निश्चय ही उससे तुम (पृथङ्) पृथक् होकर (प्रधावत) अपने मार्ग पर आगे दौड़ चलो। (इन्द्रः) परमेश्वर तो (वृत्रस्य) विघ्नमात्र के सभी विघ्नों या विघ्नकारी शक्तियों के (मर्मणि) मर्मस्थल पर (सीं) सब ओर से (वज्रं) अपने बल रूप वज्र को (नि, अपीपतत्) वार-वार गिराता है--अपने बल से विघ्नों को जीतता है ॥७॥

भावार्थः—जो अपने जीवन में मित्रतापूर्वक सहायक हो, उसकी ही संगति करनी चाहिये। ऐसा मित्र परमेश्वर ही है ! वह लोगों के शत्रुभूत विघ्नों पर घातक चोट करता है ॥७॥

मनोजवा अयमान आयसीमतरत्पुरम् ।

दिवं सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत् ॥८॥

पदार्थः—(मनोजवाः) मन के सदृश वेगवान्, (अयमानः) आगे बढ़ता हुआ (सुपर्णः) शोभनगति युक्त [सुपतनः--निरु० १०-४६] (आयसीं) लोहे के समान अतिकठोर तत्वों से बनी (पुरम्) इस पुरी को (अतरत्) पार कर जाता है। पुनश्च (दिवं गत्वाय) दिव्यता को प्राप्त होकर वह (वज्रिणे) वीर्यवान् इन्द्र के लिये (सोमं) दिव्यसुख को (आभरत्) ले आता है ॥८॥

भावार्थः—इस मन्त्र में 'सुपर्ण' तथा 'आयसीं पुरम्' ये दो शब्द विशेषतया विचारणीय हैं। मनुष्य के शरीर को 'पुरी' कहा गया है--'आयसी' यह इस कारण कहाती है कि यह दुष्प्रवेश्य है। अथर्ववेद (१०-२-३१) में इसे 'अष्टचक्रा नव द्वारा' आदि बताया गया है। यह पुरी 'चेतन तत्व' आत्मा का निवास स्थान है। इसमें प्रवेश करना इस को भली-भांति समझना है। इसको समझकर ही साधक जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता

है। 'सुपर्णं' का एक अर्थ ज्ञानवान् है; ज्ञानवान् चेतन साधक इस पुरी को भली-भांति जानकर दिव्यता प्राप्त कर अपने जीवात्मा को दिव्यसुख प्राप्त कराता है। 'देहस्वचित्, पुरुषोऽयं सुपर्णः'; यह पुरुष जब सुपर्ण=सुपतन (पत्लृ गमने)=शोभन ज्ञान प्राप्ति से युक्त होता है तब यह 'पुरी' को जानकर इसके भीतर विद्यमान चितिशक्ति के दर्शन अथवा आत्मदर्शन अर्थात् अपने को भली-भांति समझ पाता है ॥८॥

स॒मु॒द्रे अ॒न्तः शं॑यत उ॒द्ना वज्रो॑ अ॒भीवृ॑तः ।

भर॑न्त्यस्मै सं॒यतः॑ पु॒रः प्र॑स्र॒वणा॑ ब॒लिम् ॥९॥

पदार्थः—(उद्‌ना) जल के समान सौम्यता एवं व्यापनशीलता के गुण से (अभीवृतः) सर्वात्मना आच्छादित (वज्रः) वीर्यरस (समुद्रे अन्तः) जलकोश के समान रस के कोश शरीर के भीतर (अधिशेते) निवास करता है; (अस्मै) इसके लिये (संयतः) सम्यङ् नियमित (पुरः प्रस्रवणाः) प्रत्यक्ष प्रवहमान [नाड़ियां] (बलिं) उपहार (भरन्ति) प्रदान करती हैं ॥९॥

भावार्थः—यह शरीर वीर्यरस का महान् कोश अथवा समुद्र ही है। इस शरीर के भीतर अन्ननलिकायें, धमनियां, शिरायें, वायुनलिका, वायु प्रणलिकायें, वात नाडिकायें आदि नदियों के समान नाना रसों के प्रस्रवण-मार्ग हैं, जो अपना-अपना हव्य—अपना लाया हुआ रस—इस समुद्र को भेंट करते रहते हैं और जिन सभी रसों का अन्तिम परिणाम, शरीर का वीर्य, बढ़ता है। इस सारी व्यवस्था को समझना चाहिये ॥९॥

यद्वाग् वद॑न्त्यविचेत॒नानि॒ राष्ट्री॑ दे॒वानां॑ निष॒साद॑ म॒न्द्रा ।

चत॑स्र॒ ऊर्जं॑ दुदुहे॒ पयां॑सि॒ क्व॑ स्विदस्याः पर॒मं ज॑गाम ॥१०॥

पदार्थः—(यत्) जब (वाक्) सब पदार्थों को समझाने की शक्ति (अविचेतनानि) अज्ञात अर्थ वाले शब्दार्थों को [निरु० ११-२८] (वदन्ती) स्पष्ट कहती हुई, (मन्द्रा) आनन्दित करती हुई (देवानां) दिव्य शक्तियों में (राष्ट्री) उनकी राज्ञी के रूप (निषसाद) अवस्थित हो जाती है तब (चतस्रः) चारों दिशायें अथवा चारों वेदवाणियां (ऊर्जं) पराक्रम अन्नादि प्रद (पयांसि) विविध ज्ञानों को (दुदुहे) दुहती हैं (अस्याः) इस वाक्शक्ति का—व्याख्या करने की शक्ति का (परमं) अन्त अथवा अन्तिम लक्ष्य, देखो! (क्वसित्) कहां तक (जगाम) गया है ॥१०॥

भावार्थः—ऐश्वर्य का इच्छुक जीवात्मा वाक्शक्ति का अधिष्ठाता

भी है—जब उसकी यह पदार्थों की व्याख्या करने की शक्ति जागरूक होकर अधिष्ठित हो जाती है तो अविज्ञात अर्थ वाले शब्दों का अभिप्राय और उन शब्दों से ज्ञात पदार्थों का बोध मनुष्य को प्राप्त होता है। चारों ओर से मनुष्य के लिये ज्ञानरूप दुग्ध दुहा जाने लगता है अथवा चारों वेदवाणियाँ उसको ज्ञान देने लगती हैं पदार्थों की व्याख्या अथवा उनका विस्तृत बोध कराने वाली शक्ति (अथवा वेदवाणी) का अन्तिम लक्ष्य तो अत्यन्त दूर तक गया है। दिव्य वाक्शक्ति बोध कराती ही रहती है--उसका अन्त नहीं होता ॥१०॥

दे॒वीं वाच॑मजनयन्त दे॒वास्तां वि॒श्वरू॑पाः प॒शवो॑ वदन्ति ।
सा नो॑ म॒न्द्रेष॒मूर्जं॒ दुहा॑ना धे॒नुर्वाग॒स्मानुप॒ सुष्टु॒तैतु॑ ॥११॥

पदार्थः—(देवाः) विद्वान् (देवीं) ज्ञान प्रदात्री (वाचं) पदार्थों की स्पष्ट परिभाषा व्याख्या करने की शक्ति को (अजनयन्त) प्रकट करते हैं; (विश्वरूपाः) सभी रूपों के--नानाविध स्पष्ट तथा अस्पष्ट भाषण-शक्ति वाले (पशवः) प्राणी (तां) उसी को (वदन्ति) बोलते हैं (सा) वह (वाक्) वाणी (नः) हमें (मन्द्रा) हर्षप्रदान करती हुई तथा (इषं) इष्ट (ऊर्जं) दुग्ध के रूप में पराक्रम-अन्न-बल आदि (दुहाना) टपकाती-चुवाती हुई (धेनुः) [वेदचतुष्टयी वाक् -ऋषिदया०] दूध देने वाली गाय के समान अथवा चार वेदों की वाणी (सुष्टुता) सुष्ठुतया सेविता (अस्मान्) हम को (उप एतु) प्राप्त हो ॥११॥

भावार्थः—विद्वान् अपनी वाक्शक्ति को प्रादुर्भूत करते हैं और उस द्वारा प्रभुरचित पदार्थों का बोध प्राप्त करके नानाविध ऐश्वर्य अर्जित करते हैं। वेदचतुष्टय के रूप में वर्तमान उस वाणी का हमें भली-भांति सेवन करना चाहिये ॥११॥

सखे॑ विष्णो वित॒रं वि क्र॑मस्व॒ द्यौर्दे॒हि लो॒कं वज्रा॑य वि॒ष्कभे॑ ।
हना॑व वृ॒त्रं रि॒णचा॑व॒ सिन्धू॒निन्द्र॑स्य यन्तु प्रस॒वे विसृ॑ष्टाः ॥१२॥

पदार्थः—जीवात्मा मानो अपने ही पुरुषार्थी मानव शरीरधारी से कह रहा हो—हे(सखे) [सब दुःखों का नाश करने में प्रयत्नशील अतएव] मेरे सहायक मित्र! (विष्णो) विद्या-विज्ञान में व्यापनशील ! (वितरं) विविधतया दुःखों से तारने वाले [कर्मों] को (वि क्रमस्व) विशेष रूप से निष्पन्न करने का प्रयत्न कर; (द्यौः) ज्ञान का प्रकाश (वज्राय) कर्मों के साधन वीर्य को (विष्कभे) स्थिर होने के लिये (लोकं) प्रकाश अथवा आकाश=स्थान (देहि) प्रदान करे। इस प्रकार सशक्त

हुए हम दोनों (वृत्रं) विघ्नराक्षस को (हनाव) नष्ट कर दें; (सिन्धून्) स्वभाव से प्रवहणशील पर अब रुकावटों के कारण रुके हुए (सिन्धून्) जलों, शक्ति स्रोतों को (रिणवाव) गतिशील करें—चलादें[रिवि गत्यर्थः]; (विसृष्टाः) मुक्त हुए [वे शक्ति-स्रोत], (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की (प्रसवे) प्रेरणा में (यन्तु) चलें ॥१२॥

भावार्थः—वही पुरुषार्थी मनुष्य अपने आत्मा का सहायक होता है जो विविध पदार्थ विज्ञान को प्राप्त करता हुआ दुःख दूर करने वाले सुकर्म करता है इस प्रकार वह अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक सभी बाधाओं को नष्ट कर देता है और अपने शक्तिस्रोतों को निरन्तर गतिशील बनाकर परमेश्वर से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ सर्वात्मना सुखी रहता है ॥१२॥

अष्टम मण्डल में यह सौवां सूक्त समाप्त हुआ।

अथ षोडशर्चस्यैकाधिकशततमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—१६ जमदग्निर्भार्गवः ॥ देवते—१—४ मित्रावरुणौ। ५ मित्रावरुणावादित्याश्च। ६ आदित्याः। ७, ८ अश्विनौ। ९, १० वायुः। ११, १२ सूर्यः। १३ उषाः सूर्यप्रभा वा। १४ पवमानः। १५, १६ गौः ॥ छन्दः—१ निचृद्बृहती। ५ आर्चीस्वराड्बृहती। ६, ७, ९, ११ विराड्बृहती। १० स्वराड्बृहती। १२ भुरिग्बृहती। १३ आर्चीबृहती। २, ४, ८ पङ्क्तिः। ३ गायत्री। १४ पादनिचृत्त्रिष्टुप्। १५ त्रिष्टुप्। १६ विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, ५—७, ९—१३ मध्यमः। २, ४, ८ पञ्चमः। ३ षड्जः। १४—१६ धैवतः ॥

ऋध॑गि॒त्था स मर्त्यः॑ शश॒मे दे॒वता॑तये ।
यो नू॒नं मि॒त्रावरु॑णाव॒भिष्ट॑य आच॒क्रे ह॒व्यदा॑तये ॥१॥

पदार्थः—(यः) जो मनुष्य (नूनं) निश्चय ही (अभिष्टये) अपने इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयोजन से (हव्यदातये) ग्रहण करने योग्य भोग्य की प्राप्ति एवं त्यागने योग्य को त्यागने के लिये (मित्रावरुणौ) प्राण एवं उदान को (आ, चक्रे) अपने अभिमुख=अनुकूल कर लेता है (सः) वह (मर्त्यः) मनुष्य (इत्था) इस प्रकार (ऋधक्) सचमुच ही (देवतातये) [देव एव देवतातिः] दिव्यता की प्राप्ति के लिये (शशमे) शान्त हो जाता है, दुष्प्रवृत्तियों से उपराम हो जाता है ॥१॥

भावार्थः—प्राण व उदान को अपने अनुकूल करने से मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियां शान्त हो जाती हैं और मनुष्य दिव्यगुणों के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। पुनश्च शनैःशनैः उसको अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती है ॥१॥

वर्षिष्ठक्षत्रा उरुचक्षसा नरा राजाना दीर्घश्रुत्तमा ।

ता बाहुता न दंसना रथर्यतः साकं सूर्यस्य रश्मिभिः ॥२॥

पदार्थः—(ता नरा) वे स्त्रीपुरुष जो [मित्रावरुणौ हैं] मित्रता एवं श्रेष्ठत्व के गुणों को साथ-साथ निबाहते हैं, अथवा दिन और रात के समान जिनकी जोड़ी है, (वर्षिष्ठक्षत्रा) अतिशय बढ़े हुए बल से युक्त, (उरु चक्षसा) व्यापक दृष्टि=दीर्घदर्शी, (राजाना) तेजस्वी, (दीर्घश्रुत्तमा) दीर्घकाल तक वेदादि शास्त्रों को सुननेवालों में सर्वोपरि,(बाहुता न)दोनों भुजाओं के सदृश (सूर्यस्य रश्मिभिः साकं) सूर्य की किरणों के साथ-साथ (दसना) कर्मों पर आरूढ़ हो जाते हैं ॥२॥

भावार्थः—मानव की भुजाएं बाधाओं की उपस्थिति में अपना काम करती रहती हैं; रात और दिन निरन्तर अपना-अपना कृत्य करते रहते हैं। इसी प्रकार जो स्त्री-पुरुष अपना-अपना कर्तव्य निबाहते रहते हैं वे अतिशय बलवान्, दीर्घदर्शी और दीर्घश्रुत बने रहते हैं ॥२॥

प यो वां मित्रावरुणाजिरो दूतो अद्रवत् ।

अयःशीर्षा मदेरघुः ॥३॥

पदार्थः—हे (मित्रावरुणा) स्त्रीपुरुषो (वां) तुम दोनों में से (यः) जो(अजिरः) [अजिरं=ज्ञानवन्तं—ऋ० द० ऋ० १-१३८-२] ज्ञानवान् है वह (अयःशीर्षा) गतिशीलमस्तिष्क वाला, (मदेरघुः) हर्षित अतएव फुर्तीला; (दूतः) [वारयत्यनर्थान्—निरु० ५-१] जीवन पथ पर आने वाले विघ्नों को दूर करने वाला (प्र, अद्रवत्) प्रकृष्ट गमनशील रहता है ॥३॥

भावार्थः—जीवनपथ के यात्री स्त्री-पुरुषों में से पुरुष साथी ज्ञान एवं मननशील हो; अनर्थों को अपने मार्ग से दूर करनेवाला हो और दोनों में से अपेक्षया अधिक दौड़-दौड़ कर काम करे ॥३॥

न यः संपृच्छे न पुनर्हवीतवे न संवादाय रमते ।

तस्मान्नो अद्य समृतेरुरुष्यतं बाहुभ्यां न उरुष्यतम् ॥४॥

पदार्थः—(यः) जो (न) न तो (संपृच्छे) प्रश्नोत्तर विधि में (रमते) रुचि लेता है; (पुनः न) न ही फिर (हवीतवे) हवन अर्थात् दान+आदान क्रिया में रुचि लेता है और (न) न (संवादाय) संवाद के लिये तैय्यार होता है; (नः अद्य) अभी-अभी हमें—समाज को [हे सहयोगपूर्वक जीवनयात्रा करने वाले स्त्री-पुरुषो! तुम]

(तस्मात्) उससे आने वाली (समृतेः)[सम्+ऋ+ति] टक्कर से (ऊष्यतम्) बचाओ; (बाहुभ्यां) बल एवं पराक्रम की प्रतीक इन भुजाओं के द्वारा (नः, उरुष्यतम्) हमें बचा रखो ॥४॥

भावार्थः—जीवनपथ पर साथ-साथ चलनेवालों में मतभेद सम्भव हैं; परन्तु प्रश्नोत्तर से उनका विश्लेषण करके, कुछ लेकर और कुछ देकर तथा अन्त में प्रत्यक्ष रूप से वाद-विवाद द्वारा समझौता कर परस्पर टक्कर से बचा जा सकता है। जीवनयात्रा के साथियों को चाहिये कि वे इसीप्रकार से आपसी टक्कर से बचें, कभी संघर्ष या युद्ध का अवसर न आने दें ॥४॥

प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो।
वरूथ्यं वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥५॥

पदार्थः—हे (ऋतावसो) यथार्थतारूपधन से धनी पुरुषार्थी पुरुषो! (मित्राय) मित्र के लिये (सचथ्यं) सामूहिक (वरुथ्यं) पारिवारिक एवं (छन्द्यम्) प्रीतिकर (स्तोत्रं वचः) स्तुतिवचन का (प्र, गायत) गायन करो; इसी प्रकार (अर्यम्णे) दानशील के लिये (प्र) गायन करो; (वरुणे) श्रेष्ठ के प्रति और (राजसु) दीप्तिशीलों के प्रति स्तुति वचन कहो ॥५॥

भावार्थः—पुरुषार्थी मनुष्य अपने जीवन में स्नेहशील, दानशील, श्रेष्ठ एवं दीप्तिवान् बनने के लिये परमेश्वर के उन-उन गुणों का गायन करे ॥५॥

ते हिन्विरे अरुणं जेन्यं वस्वेकं पुत्रं तिसृणाम्।
ते धामान्यमृता मर्त्यानामदब्धा अभि चक्षते ॥६॥

पदार्थः—(ते) वे विद्वान् (तिसृणां) तीनों—मित्र, अर्यमा तथा वरुण—के (एकं) एकसमान (पुत्रं) पालित संरक्षित उस पुत्र को जो (अरुणं) तेजस्वी है; (जेन्यं) जयशील है,(हिन्विरे)प्रेरणा प्रदान करते हैं। (ते अमृताः) वे अपनी कीर्ति से अमर अथवा आत्मविज्ञानी [ऋ० द० ऋग्० ५-२-१२] विद्वान् प्रेरक (अदब्धाः) [अनलसाः—ऋ० द० ऋग्वे० भा० भू० पृ० ८८] सदा चौकन्ने रहकर (मर्त्यानां) मरणधर्मा मनुष्यों को (धामानि) उनके आश्रय स्थान, निर्भर करने योग्य बलों का (अभि, चक्षते) उपदेश देते हैं ॥६॥

भावार्थः—जो पुरुष मित्रता, दानशीलता तथा श्रेष्ठता आदि गुणों का पालन करता है—निश्चय ही आत्मविज्ञानी विद्वान् उसे प्रेरित करते रहते हैं—वे उसको ऐसे गुणों का उपदेश देते हैं कि जिनको धारण करने से वह सुख से जीवन व्यतीत कर सकता है ॥६॥

आ मे वचांस्युद्यता द्युमत्तमानि कर्त्वा ।
उभा यातं नासत्या सजोषसा प्रति हव्यानि वीतये ॥७॥

पदार्थः—उपदेष्टा विद्वान् कहता है कि हे (नासत्या) कभी असत्य आचरण न करनेवाले ज्ञानी स्त्री-पुरुषो ! (उभा) तुम दोनों (मे) मेरे (उद्यता) कहे हुए (द्युमत्तानि) यथार्थ-ज्ञान रूपी प्रकाश से भलीभांति प्रकाशित (वचांसि) उपदेश वाक्यों को (कर्त्वा) कार्यरूप में परिणत करोगे तो (सजोषसा) परस्पर प्रीतिपूर्वक संगत हुए (वीतये) भोग के लिये (हव्यानि) हवनार्ह—देने और लेनेयोग्य—पदार्थों की (प्रतियातम्) ओर ही गमन करोगे ॥६॥

भावार्थः—उपदेष्टा आप्त विद्वान् के यथार्थ ज्ञान से भरे उपदेशों को कभी न टालनेवाले स्त्री-पुरुष यदि उनके अनुसार एक-दूसरे को साथ लेते हुए चलें तो उन्हें उचित भोग्य पदार्थों की कमी न रहेगी ॥७॥

रातिं यद्वामरक्षसं हवामहे युवाभ्यां वाजिनीवसू ।
प्राचीं होत्रां प्रतिरन्ताविंत नरा गृणाना जमदग्निना ॥८॥

पदार्थः—हे (वाजिनीवसू) उषा के समान प्रकाश एवं वेग में बसने वाले ज्ञानी स्त्री-पुरुषो ! (यत्) जब हम (युवां) तुम दोनों की (रातिं) दानशीलता को (अरक्षसं) स्वार्थ की रक्षा तथा परार्थ की हिंसा से शून्य वृत्तिपूर्वक (हवामहे) अपने लिये चाहते हैं तब (नरा) नेतृत्व गुण विशिष्ट तुम दोनों (जमदग्निना) प्रज्वलिताग्नि विद्वान् द्वारा (गृणानाः) स्तूयमान (प्राचीं) उत्कृष्ट [foremost—आप्टे] (होत्रां) स्तुतियज्ञ को (प्रतिरन्तौ) अधिककाल तक चालू रखते हुए (इतं) यहां आओ ॥८॥

भावार्थः—जिन स्त्रीपुरुषों के आचरण की विशेष-विशेष गुणान्वित विद्वान् भी प्रशंसा करते हैं, अन्यजन चाहें कि उनके द्वारा किया गया सामूहिक स्तवन और अधिक काल तक चले, ताकि उनमें अधिकाधिक व्यक्ति भाग ले सकें ॥८॥

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः ।
अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानो३यं शुक्रो अयामि ते ॥९॥

पदार्थः—हे (वायो) [वाति प्रापयति योगबलेन व्यवहारानिति वायुः—ऋ० द०] योगबल से व्यावहारिक कार्य करने वाले पुरुष ! (त्वं) तू (नः) हमारे (दिविस्पृशं) प्रकाशस्वरूप परमात्मा के साथ स्पर्श कराने वाले (यज्ञे) स्तुति यज्ञ में

(सुमन्मभिः) शोभन विचारों अथवा विज्ञानों को साथ लिये हुए (आ) उपस्थित हो (शुक्रः) शुद्ध आचारवान् (अयम्) यह मैं उपासक (ते उपरि) तुझ पर (श्रोणानः) निर्भर रहता हुआ, (पवित्रे अन्तः) तेरे शुचि=शुद्ध अन्तःकरण में (अयामि) स्थान प्राप्त करूं ॥९॥

भावार्थः—साधक इस सूक्त में वर्णित योगी पुरुष को अपने प्रभु के गुणकीर्तन यज्ञ में उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित करे और अपने सुकृत्यों द्वारा उसके हृदय में स्थान प्राप्त करने का यत्न करे ॥९॥

वेत्यध्वर्युः पथिभी रजिष्ठैः प्रति हव्यानि वीतये ।

अधा नियुत्व उभयस्य नः पिब शुचिं सोमं गवाशिरम् ॥१०॥

पदार्थः—(वीतये) भोग्यों की प्राप्ति के लिये (अध्वर्युः) [आत्मनोऽध्वरम-हिंसनमिच्छुः—ऋ० द० ऋक्० १-१६२-५] स्वयं हानिरहित बने रहने का इच्छुक पुरुष (रजिष्ठैः) [ऋजुतमैः—निरु० ८-१०] अत्यन्त सरल (पथिभिः) मार्गों द्वारा (हव्यानि प्रति) दानादानयोग्य पदार्थों की ओर (वेति) चलता है (अधा) किं च हे (नियुत्व) नितरां शुभगुणी शक्तियों से युक्त साधक ! (नः) हमारे (उभयस्य) उभय-विध (शुचि) शुद्ध एवं (गवाशिरः) [गवा आश्रीयते पच्यते] ज्ञान के साथ पकाये गये (सोमं) प्रेरणा नाम के व्यवहार [ऋ० द० यजुः २०·६३] का भी (पिब) भोग कर ॥१०॥

भावार्थः—अपने आपको किसी भी प्रकार हानि से बचाकर चलने वाले व्यक्ति को सरलतम मार्गों से तो चलना ही चाहिये । परन्तु साथ ही वह विद्वानों की ज्ञानयुक्त शुद्ध प्रेरणा को भी अवश्य ग्रहण करे ॥१०॥

बण्महाँ असि सूर्य बळादित्य महाँ असि ।

महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥११॥

पदार्थः—हे (सूर्य) प्रेरक प्रभो ! (बट्) सचमुच (त्वं) आप (महान् असि) अत्यन्त तेजस्वी हैं; (आदित्य) हे अविनाशी परमेश्वर ! (त्वं) आप (महान् असि) अत्यन्त बलवान् हैं । (महः सतः ते) महान् होते हुए आपके (महिमा) महत्त्व की (पनस्यते) स्तोता स्तुति करते हैं । (अद्धा) सचमुच (देव) हे दिव्य परमात्मन् ! आप (महान्) महान् हैं ॥११॥

भावार्थः—गुणों से महान् परमेश्वर अपनी प्रेरक शक्ति के कारण अति पूजनीय है । अपने जीवनपथ पर चलते हुए स्त्री-पुरुष उसकी महत्त्व-पूर्ण प्रेरणा को कभी न भुलायें ॥११॥

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥१२॥

पदार्थः—हे (सूर्य) प्रेरक प्रभु आप (बट्) सत्य ही (श्रवसा) कीर्ति के कारण (महान्) पूजनीय हैं। (देव) हे दिव्य! आप (सत्रा) सचमुच ही (महान् असि) महान् हैं। (देवानां) दिव्यों में से आप (मह्ना) अपनी शक्ति के कारण (असुर्यः) [असुराणां प्राणेषु रमतां यन्ता नियन्ता] स्वार्थी-पेटुओं के नियामक, (पुरोहितः) हितोपदेष्टा हैं; (ज्योतिः) आप का तेज (विभु) व्यापक और (अदाभ्यं) अक्षुण्ण है ॥१२॥

भावार्थः—जीव अथवा साधक जिस महान् प्रेरक से प्रेरणा लेता है—उसका यश भी प्रचुर है; दिव्यवस्तुओं में भी दुष्टभावनायें हैं उनको नियन्त्रण में रखने के लिये उसका गुणगान करना चाहिये। उसका तेज बहुत व्यापक है ॥१२॥

इयं या नीच्यर्किणी रूपा रोहिण्या कृता।
चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्य१न्तर्दशसु बाहुषु ॥१३॥

पदार्थः—उस प्रेरक प्रभु की (इयम्) यह (या) जो (नीची) प्रभु से नीचे को आई (अर्किणी) ज्योतिष्मती, (रूपा) रोचमाना (रोहिणी) सूर्य की उदय होने की क्रिया से (कृता) बनायी गई है—वह (दशसु) दस (बाहुषु) भुजाओं के समान अवस्थित दस दिशाओं के (अन्तः) मध्य (आयती) आती हुई (चित्रा इव) अद्‌भुत सी (प्रत्यदर्शि) दिखायी देती है ॥१३॥

भावार्थः—परम प्रभु की प्रेरक शक्ति का यह आलंकारिक वर्णन, प्रतिदिन उदीयमान सूर्य की प्रभा के वर्णन के समान किया गया है। मनुष्य को प्रभु की रोचक प्रेरणा की ओर आकर्षणार्थ यह रोचक वर्णन है ॥१३॥

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्य१न्या अर्कमभितो विविश्रे।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश ॥१४॥

पदार्थः—(तिस्रः) तीन प्रकार की [उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट प्रकार की] (प्रजाः) कार्यरूपा सृष्टियां [कारणरूपा प्रकृति आदि] तो (अत्यायं ईयु) लुप्त हो गई थीं; (अन्याः) दूसरी (अर्कं) उस स्तुत्य के (अभितः) चारों ओर (नि, विविश्रे) निविष्ट हो गई। (ह) निश्चय वह (बृहत्) विशाल (पव-

मानः) पवित्र करता हुआ (भुवनेषु अन्तः) लोकों के भीतर (हरितः) दिशाओं में (आ, विवेश) अधिकारारूढ़ हो गया ॥१४॥

भावार्थः—इस प्रभु की सृष्टि में उत्कृष्ट, मध्यम एवं निकृष्ट तीन प्रकार की रचनायें हैं जो विनाशशील हैं; शेष कारणरूपा शक्तियां बनी रहती हैं; वह प्रभु सभी लोकों में सभी दिशाओं-प्रदिशाओं में व्याप्त है ॥१४॥

पुरुषार्थी पुरुष के जीवन में वेदवाणी किस प्रकार सहायता करती है—यह अगले दो मन्त्रों में दर्शाया गया है । परमेश्वर की ओर से कथन है कि—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥१५॥

पदार्थः—जो वेदवाणी (रुद्राणां) ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले विद्वानों की(माता)'माता' है;(वसूनां)२४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वालों की (दुहिता)'दुहिता' है और(आदित्यानां) ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक विद्याध्ययन करनेवालों की (स्वसा)'स्वसा' है और (अमृतस्य) धर्मार्थकाममोक्ष नामवाले अमृत= अविनाशी सुख की(नाभिः)बान्धनेवाली [न हननमेव नाभिः]केन्द्रबिन्दु है । उसवेदवाणी का (चिकितुषे) बुद्धिमान्=समझदार (जनाय) जन को (नु) ही, मैं (प्रवोचम्) उप-देश करता हूँ । हे मनुष्यो ! (अनागां) इस निष्पाप (अदितिं) ज्ञान की अक्षय अक्षीण भण्डार रूपा (गां) वेदवाणी को (मा) मत (वधिष्ट) विलुप्त करो ॥१५॥

भावार्थः—वसु विद्वानों से यह 'दूरे हिता'—दूर रखी हुई होने के कारण अथवा उनकी शक्ति को (दोग्ध्रे र्वा) दुहती रहने के कारण दुहिता है; इसके पश्चात् ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन करने वालों की यह 'माता' है—झुककर उन्हें अपना दूध (ज्ञान) पिलाती है । पुनश्च 'आदित्यों' की यह 'स्वसा' सुष्ठुतया अज्ञान को परे फेंक देने वाली (स्वसा= सु+अस्-ऋन्) साध्वी विद्या होती है और अन्त में धर्मार्थकाम मोक्ष की केन्द्रबिन्दु है । इस प्रकार इस वेदवाणी को मनुष्य कभी विलुप्त न होने दे ॥१५॥

वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम् ।
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः ॥१६॥

पदार्थः—जो (वचोविदम्) वेदितव्य को जतलानेवाली है; (वाचं) वाक्-

शक्ति को (उदीरयन्तीम्) प्रेरित करके प्रकट रूप में लाने वाली है; (विश्वाभिः) सभी (धीभिः) बुद्धि के धारक=बुद्धिमानों द्वारा (उपतिष्ठमानाम्) सेवित की जा रही है; (देवीम्) ज्ञान द्वारा सभी पदार्थों का स्पष्ट बोध करा देनेवाली है—उस (गाम्) वेदवाणी को जो (देवेभ्यः) विद्वानों से (मा) मुझको (पर्येयुषीम्) प्राप्त हुई है; उसको (दभ्रचेताः) कम समझ (मर्त्यः) मनुष्य ही (आवृक्त) छोड़ देता है ॥१६॥

भावार्थः—व्यक्त एवं अव्यक्त बोलने वाले सभी प्राणियों की वाक्-शक्ति इसी वेदवाणी से प्रेरित है; संसार में जो भी वेदितव्य है उसको यह जतलाती है—इसीलिये बुद्धिमान् इसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह मनुष्य नासमझ ही कहलायेगा जो इसे छोड़ देता है ॥१६॥

अष्टम मण्डल में यह एकसौएकवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ द्वाविंशत्यृचस्य द्व्यधिकशततमस्य सूक्तस्य ऋषिः—१—२२ प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः। अथवाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सुतौ तयोर्वान्यतरः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—१, ३—५, ८, ९, १४, १५, २०—२२ निचृद्गायत्री। २, ६, १२, १३, १६ गायत्री। ७, ११, १७, १९ विराड्गायत्री। १०, १८ पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

त्वमग्ने बृहद्वयो दधासि देव दाशुषे। कविर्गृहपतिर्युवा ॥१॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सर्वप्रकाशक परमात्मन्! (देव) हे ज्ञानप्रदाता! (त्वं) आप (दाशुषे) आत्मसमर्पक भक्त को (बृहत्) व्यापक (वयः) कमनीय चिरजीवनसुख को (दधासि) देते हैं। आप (कविः) सर्वज्ञ हैं; (गृहपतिः) ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं; और (युवा) संयोजक एवं वियोजक हैं ॥१॥

भावार्थः—जो प्रभु सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक, ब्रह्माण्डभर का पालनकर्ता, नानाप्रकार के संयोग-वियोग रचकर विविध सृष्टि का रचयिता है एक मात्र उसके भक्त को संसार में क्या उपलब्ध नहीं हो सकता! परन्तु शर्त यही है कि भक्त भगवान् के इन गुणों को समझे और इनके अनुसार ही अपना जीवन बनाने का यत्न करे। स्वयं क्रान्तदर्शी, अपने शरीर तथा गृह का स्वामी और विविध पदार्थों की जोड़-तोड़ से नाना पदार्थों का रचयिता भी हो ॥१॥

स न ईळानया सह देवाँ अग्ने दुवस्युवा।
चिकिद्विभानवा वह ॥२॥

पदार्थः—हे (चिकित्) ज्ञानवान् तथा (विभानो) विविधतया गुणों से प्रकाशमान (अग्ने) ज्ञानस्वरूप प्रभो ! (सः) वह आप (अनया) इस प्रसिद्ध, (दुवस्युवा) आपका सेवन करना चाहती हुई (ईडा सह) सुशिक्षित मधुर वाणी के साथ (नः) हमें (देवान्) सद्गुणों को (आ, वह) प्राप्त कराइये ॥२॥

भावार्थः—सुशिक्षित एवं मधुरवाणी से प्रभु का भजन—उसका गुणगान—करने पर ही प्रभु के विविध गुण भक्त के अन्तःकरण में स्फुरित होते हैं और तभी हम सद्गुण के ग्राहक बनते हैं ॥२॥

त्वया॑ ह स्विद्युजा व॒यं चोदि॑ष्ठेन यविष्ठ्य ।

अ॒भि ष्मो॒ वाज॑सातये ॥३॥

पदार्थः—हे (यविष्ठ्य) पदार्थों के अणु-परमाणुओं का खूब संयोग-वियोग करनेवाले परम बलवान् प्रभो ! (चोदिष्ठेन) अपने गुणों द्वारा अतिशय प्रेरणा देने वाले (त्वया युजा स्वित्) आपके सहयोग के द्वारा ही (वयं) हम उपासक (वाजसातये) विविध प्रकार के ज्ञान, बल, धन आदि, ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अभि ष्मः) सर्वथा समर्थ होते हैं ॥३॥

भावार्थः—विविध प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति का यत्न, उसके लिये पुरुषार्थ, मनुष्य तभी करता है, जब कि उसे कहीं से ऐसा करने की प्रेरणा मिले । मनुष्य का सबसे अधिक अच्छा प्रेरक, मात्रा में भी और गुणों में भी, परमपिता परमात्मा ही है ॥३॥

औ॒र्व॒भृ॒गु॒वच्छुचि॑मप्नवान॒वदा हु॑वे । अ॒ग्निं स॑मु॒द्रवा॑ससम् ॥४॥

पदार्थः—मैं (और्वभृगुवत्) विस्तृत एवं परिपक्व विज्ञानयुक्त तपस्वी की भांति एवं (अप्नवानवत्) बाहु अर्थात् कर्मशक्तिसम्पन्न साधक के समान [अप्नवान् इति बाहुनामसु पठितम् कर्मवन्तौ हि बाहू—निघ० २-४] (समुद्रवाससं) हृदयान्तरिक्ष में रहने वाले (अग्निं) ज्ञानस्वरूप प्रभु को (आहुवे) पुकारता हूं ॥४॥

भावार्थः—साधक को चाहिये कि वह अपने अन्तःकरण में 'अग्नि' को बसाये । दृढ़ संकल्प की आग को तो धारण करे ही, साथ ही प्रभु के ज्ञान एवं कर्म-प्रधान स्वरूप को आदर्श रूप में अपने अन्तःकरण में धारण करे ॥४॥

हु॒वे वात॑स्वनं क॒विं प॒र्जन्य॑क्रन्द्यं॒ सहः॑ ।

अ॒ग्निं स॑मु॒द्रवा॑ससम् ॥५॥

पदार्थः—(वातस्वनं) गन्दगी को बहा ले जाने वाले शोधक वेगवान् वायु जैसा ही जिसका, 'स्वन' शब्द अर्थात् उपदेश है; जो (कविं) सर्वज्ञ है; जो (पर्जन्यक्रन्द्यं) तृप्त करनेवाला, पापियों को पराजित करनेवाला तथा उसके समान गर्जना करने वाला—एक प्रकार से घोषणापूर्वक इस गुण को प्रकट करनेवाला; (सहः) बलस्वरूप प्रभु है, मैं उस (समुद्रवाससं) अपने हृदयान्तरिक्ष में वास करनेवाले को (हुवे) पुकारता हूँ ॥५॥

भावार्थः—साधक यदि यह चाहता हो कि उसकी पाप-भावनायें बह जायं और वह स्वयं सब प्रकार से तृप्त हो जाय तो वह अपने अन्तःकरण में साक्षात् बलस्वरूप परमेश्वर को बसाये ॥५॥

आ सवं सवितुर्यथा भगस्येव भुजिं हुवे ।
अग्निं समुद्रवाससम् ॥६॥

पदार्थः—(भगस्य) परम सौभाग्य=मोक्षसुख के (भुजिं) भुगानेवाले (इव) के समान (सवितुः) सर्वप्रेरक की (सवं) प्रेरणा को (यथा) सही ढंग से भुगानेवाले उस प्रभु को मैं (समुद्रवाससं अग्निं) हृदयान्तरिक्ष में वास करने वाले के रूप में (आ हुवे) पुकारता हूं ॥६॥

भावार्थः—परमप्रभु की ज्ञान प्रापक एवं कर्मप्रेरक अद्भुत शक्ति को अपने अन्तःकरण में इस प्रयोजन से प्रज्वलित करना चाहिये कि उससे प्रेरणा मिलती रहे; फिर मोक्षसुख तो मिलता ही है ॥६॥

अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥७॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! (सहस्वते) बलशाली (नप्त्रे) बन्धन अर्थात् बन्धुत्व की स्थापना के लिये (वः) तुम्हारे (अध्वराणां) अहिंसनीय व्यवहारों को (पुरूतमम्) अतिशय रूप से (वृधन्तम्) प्रोत्साहित कर रहे (अग्निं) ज्ञानस्वरूप अग्रणी परमप्रभु को (अच्छ) प्राप्त हो ॥६॥

भावार्थः—परमपिता अपने उदाहरण से हमें अहिंसामय व्यवहार करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। उस नेता के साथ हमारा जो बन्धुत्व स्थापित हो जाता है वह अतिशय दृढ़ होता है। हमें उस नेता के साथ अपना बन्धुत्व स्थापित करना चाहिये ॥७॥

अयं यथा न आभुवत्त्वष्टा रूपेव तक्ष्या ।
अस्य क्रत्वा यशस्वतः ॥८॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (त्वष्टा) बढ़ई (तक्ष्या) घड़ने अथवा रचने योग्य(रूपा) आकृतियों को (आभुवत्) प्रकट करता या रचता है; (इव) वैसे ही (अयं) यह ज्ञान एवं कर्मस्वरूप नेता ही (नः आभुवत्) हमें विविधरूप प्रदान करने में समर्थ है। (अस्य) इस परमेश्वर के (क्रत्वा=कृत्य) सभी कार्य (यशस्वतः) यशस्वी के कार्यों के समान हैं ॥८॥

भावार्थः—परमेश्वर की सृष्टि सारी ही बुद्धिपूर्वक की हुई है। जैसे कि एक कुशल बढ़ई विवेकपूर्णरीति से अपनी रचनायें करता है ऐसे ही परमात्मा की सृष्टि के सभी अंग उसके विवेक का परिचय देते हैं; वे सभी सप्रयोजन हैं; हमें भले ही कोई तुच्छ एवं निष्प्रयोजन लगे ॥८॥

अयं विश्वा अभि श्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते ।
आ वाजैरुप नो गमत् ॥९॥

पदार्थः—(अयं अग्निः) यह ज्ञानस्वरूप अग्रणी देव (देवेषु) दिव्य पदार्थों के मध्य (विश्वा) सभी (श्रियः) शोभाओं को (अभि, पत्यते) प्राप्त होता है; वह परमेश्वर (वाजैः) सब प्रकार ऐश्वर्यों—ज्ञान, बल, धन आदि के साथ (नः उप आगमत्) हमें प्राप्त हो ॥९॥

भावार्थः—सभी दिव्य पदार्थों में परमेश्वर ही सबसे अधिक श्रीसम्पन्न हैं; वह सब देवों का अधिदेव है। हम उस देवाधिदेव को अपने अन्तःकरण में प्रदीप्त करें ॥९॥

विश्वेषामिह स्तुहि होतॄणां यशस्तमम् ।
अग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥१०॥

पदार्थः—(इह यज्ञेषु) यहां यज्ञों में, सत्कर्म करने के सभी अवसरों पर (विश्वेषां) सभी (होतॄणां) दानादान गुणविभूषित(विश्वेषां) समस्त देवों में से (यशस्वितमं) सबसे अधिक यशस्वी (पूर्व्यं) सबसे अधिक पूर्वतः विद्यमान (अग्नि) ज्ञानस्वरूप एवं कर्मठनेता परमेश्वर का (स्तुहि) गुणगान कर ॥१०॥

भावार्थः—प्रभु की सृष्टि में नानाप्रकार के देव—दिव्य पदार्थ—हैं; उनसे हम अनेक उपकार ग्रहण करते हैं और उनकी गुणवन्दना करते हैं।

परन्तु इनमें सबसे अधिक पूर्ववर्ती तथा सब प्रकार से यशस्वी तो परमेश्वर ही है; मानव उसके गुणों का गायन करे ॥१०॥

शीरं पावकशोचिषं ज्येष्ठो यो दमेष्वा ।
दीदाय दीर्घश्रुत्तमः ॥११॥

पदार्थः—(यः) जो परमेश्वर (शीरम्) सर्वत्र व्यापक है; (पावकशोचिषं) जो अपनी सन्निधि द्वारा अग्नि के समान पावक— दोषों का दाहक तथा कान्तिकारक है; (ज्येष्ठः) सब देवों में जेठा है; (दीर्घश्रुत्तमः) दीर्घकाल से अति प्रसिद्ध चला आया है; वह (दमेषु) हमारे शरीररूपी घरों में (आ, दीदाय) सर्वतः प्रकाशमान हो ॥११॥

भावार्थः—भौतिक अग्नि भौतिक मलों को भस्म करके भौतिक पदार्थों—सुवर्ण आदि वस्तुओं को शुद्ध कर देता है; सर्वव्यापक ज्ञानस्वरूप, कर्मप्रेरक परमेश्वर का बल ही हम उपासकों में व्याप्त है; हम उस सर्वशक्तिमान् की संगति में निश्चय ही निर्दोष हो सकते हैं ॥११॥

तमर्वन्तं न सानसिं गृणीहि विप्र शुष्मिणम् ।
मित्रं न यातयज्जनम् ॥१२॥

पदार्थः—हे (विप्र) बुद्धिमान् मनुष्य ! तू (तं) उस प्रसिद्ध, (अर्वन्तं न) लक्ष्य पर शीघ्र पहुँचानेवाले अश्व की भांति (सानसिं) शीघ्र ही अर्जित करानेवाले, (मित्रं न) स्नेही मित्र की भांति (जनं) मानव को (यातयत्) उद्योग कराते हुए—उद्योग के लिये प्रेरणा देते हुए—अग्नि का—ज्ञानस्वरूप नेता परमेश्वर का —(गृणीहि) गुणगान कर ॥१२॥

भावार्थः—परमात्मा के गुणों की वन्दना करनेवाले, उसके दिव्य गुणों को शीघ्र ग्रहण करने का प्रयत्न करनेवाले मनुष्य को परमेश्वर भी मित्र की भांति सहायता करते हैं और उसे शीघ्रातिशीघ्र लक्ष्य पर पहुंचाते हैं ॥१२॥

उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः ।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥१३॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! (हविष्कृतः) गुणगान अर्थात् स्तुतिरूप हवि प्रदान करती हुई, (जामयः) ज्ञानयुक्त [जामिः=ज्ञानवन्ती; जमतीति गतिकर्मा [ऋ०

द०] (गिरः) वेदवाणियां (त्वां) आप का (उप देदिशतीः) वार-वार वर्णन करती हुई (वायोः) प्राण के (अनीके) बल पर (अस्थिरन्) स्थिर हो जाती हैं ॥१३॥

भावार्थः—ज्ञान अथवा प्रबोध से आपूर्ण वेदवाणियों द्वारा परमेश्वर का गुणगान करो और प्राणायाम द्वारा प्राण की गति को नियमित करके स्थिरता से गुणगान करते रहो ॥१३॥

यस्य॑ त्रि॒धात्ववृ॑तं ब॒र्हिस्त॒स्थावसं॑न्दिनम् ।
आप॑श्चि॒न्नि द॑धा प॒दम् ॥१४॥

पदार्थः—(यस्य) जिस ऐसे गुणगान करनेवाले स्तोता का (त्रिधातु) सत्व, रज तथा तम—इन तीन गुणों का धारक, (अवृतं) विन ढंपा, (बर्हिः) अन्तःकरण-रूप आसन, (असन्दिनम्) बन्धनरहित (तस्थौ) स्थित रहता है; उस अन्तःकरण में (आपः) शान्ति (चित्) निश्चय ही (पदम्) अपना निवासस्थान (निदधा) बना लेती है ॥१४॥

[शान्तिर्वा आपः—ऐ० ७-५; शान्तिरापः—श०-१-२-२-११]

भावार्थः—वेदवाणी में प्रभु का गुणगान करनेवाले उपासक का अन्तः-करण शनैः-शनैः शान्ति का आवासस्थान बन जाता है ॥१४॥

प॒दं दे॒वस्य॑ मी॒ळ्हुषोऽना॑धृष्टाभिरू॒तिभिः॑ ।
भ॒द्रा सूर्य॑ इवोप॒दृक् ॥१५॥

पदार्थः—(मीळ्हुषः) सुखवर्षक (देवस्य) दिव्य प्रभु का (पदं) यह आवास-स्थान—शान्ति सदन—(अनाधृष्टाभिः) अपराजेय (ऊतिभिः) रक्षा एवं सहायताओं सहित (सूर्य इव) सबके द्रष्टा सूर्य के समान (भद्रा) कल्याणकारी (उपदृक्) उपनेत्र होता है ॥१५॥

भावार्थः—जिस अन्तःकरण में शान्ति का निवास होता है, निश्चय ही वह सुखवर्षक प्रभु का ही आवासस्थान बन जाता है और फिर ज्ञान-स्वरूप प्रभु सूर्य की भांति ऐसे साधक को सभी कुछ दिखला देते हैं—सारा ज्ञान करा देते हैं। मनुष्य देखता तो अपनी दर्शनशक्ति अथवा आंखों से ही है, परन्तु सूर्य उसमें सहायक होता है—वह उपदृक् अथवा उपनेत्र का कार्य करता है। अन्तःकरण में स्थित ज्ञानस्वरूप प्रभु की शक्ति भी संसार को दिखाने के लिये उपासक के लिये उपनेत्र बनती है ॥१५॥

अग्ने घृतस्य धीतिभिस्तेपानो देव शोचिषा ।

आ देवान्वंक्षि यक्षि च ॥१६॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् ! (देव) दिव्यगुण का धारण करने के इच्छुक ! साधक ! (घृतस्य) विद्या के प्रदीप्त बोध के (धीतिभिः) अनेक वार मनन करके (शोचिषा) पवित्र विज्ञान द्वारा (तेपानः) तपता हुआ तू (देवान्) दिव्यगुणों को (आवक्षि) प्राप्त कर (च) और (यक्षि) उनका दूसरों से संगम करा [घृत=विद्या-बोधः; शोचिषा=पवित्रेण विज्ञानेन; स्वा० द० ऋ० १-४५-४] ॥१६॥

भावार्थः—पदार्थ बोध का वार-वार मनन करने से विद्वान् दिव्य गुणों को धारण करने तथा उपदेश द्वारा उन्हें दूसरों को प्रदान करने योग्य होता है ॥१६॥

तं त्वाजनन्त मातरः कविं देवासो अङ्गिरः ।

हव्यवाहममर्त्यम् ॥१७॥

पदार्थः—हे (अङ्गिरः)=[अंगति जानाति यो विद्वांस्तत् सम्बुद्धौ—ऋ० द० ऋक्—१-११२-८] विद्वन् ! (तं) उस पूर्वोक्त प्रकार से साधना करते हुए (त्वा) तुझको (मातरः) निर्माणकर्ता—माता के समान स्नेह से निर्माण करनेवाले (देवासः) दिव्यगुणी विद्वान् (कविं) क्रान्तदर्शी, (हव्यवाहम्) दानाऽऽदान करने योग्य, (अमर्त्यं) कीर्ति से मरणधर्मरहित [स्वा० द० ऋग् १-१२६-१०] के रूप में (आजनन्त) प्रकट करते हैं ॥१७॥

भावार्थः—दिव्यगुणी विद्वानों की संगति में रहकर विद्वान् गुणग्रहण करना तथा गुणों को दूसरों को देना आदि गुण सीखता है और इस प्रकार उसकी कीर्ति अमर हो जाती है ॥१७॥

प्रचेतसं त्वा कवेऽग्ने दूतं वरेण्यम् ।

हव्यवाहं नि षेदिरे ॥१८॥

पदार्थः—हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् ! (अग्ने) विद्वन् ! (प्रचेतसं) प्रकृष्ट ज्ञान से युक्त, (दूतं) उत्तम ज्ञान व गुण देने वाले, (वरेण्यम्) श्रेष्ठ, (हव्यवाहं) दानाऽऽ-दानशील (त्वा) तेरी हम (निषेदिरे) प्रतिष्ठा करते हैं ॥१८॥

भावार्थः—जो विद्वान् सुदूरदर्शी और जिसका ज्ञान प्रकृष्ट होता है तथा जो अपने गुण दूसरों को प्रदान करता है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा होती है ॥१८॥

नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति।
अथैतादृग्भरामि ते ॥१९॥

पदार्थः—(हि मे) निश्चय ही मेरी (न) न तो (अघ्न्या) पाप-विध्वंस करने की शक्ति, प्रबोध की किरण (अस्ति) विद्यमान है और (न) न ही (स्वधितिः) अपने आपको धारण करने की शक्ति ही (वनन्वति) उपस्थित है; (अथ) तो भी (एतादृक्) इतना—थोड़ा सा भी (ते) आप के लिये लाता हूँ ॥१९॥

भावार्थः—जो व्यक्ति अभी ज्ञान के प्रकाश से पूर्णतया प्रबुद्ध न भी हुआ हो, और जो अभी अपनी कर्मशक्ति को भी न जगा पाया हो—उसे भी परमेश्वर की गुणवन्दनारूप हवि तो—जैसी और जितनी भी वह दे सके देनी ही चाहिये ॥१९॥

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि।
ता जुषस्व यविष्ठ्य ॥२०॥

पदार्थः—(यत्) जब हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप अग्रणी प्रभो! (कानि कानि चित्) किन्हीं-किन्हीं भी (दारूणि) चीरने और विध्वस्त करने योग्य अपने दुर्गुणों, दुर्भावनाओं को (ते) आपकी विध्वंसक शक्तियों में (दध्मसि) हम झोंक दें, तब आप (ता) उनको, हे (यविष्ठ्य) बलवन्! (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये—अर्थात्=नष्ट करने चीरने के लिये स्वीकार कीजिये ॥२०॥

भावार्थ—जिस प्रकार भौतिक अग्नि विदारणीय काष्ठखण्डों को विदीर्ण करके रख देता है—और उनका भक्षण कर जाता है; इसी प्रकार यदि हम निष्कपटता से अपने सभी विदारणीय दोषों और दुर्भावनाओं को प्रभु को अर्पित कर दें—अपने सब अवगुणों को उस प्रभु के गुणों के प्रकाश में प्रत्यक्ष देख लें तो हमारे अवगुण स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। आत्मनिरीक्षण से आत्मशुद्धि होती है ॥२०॥

यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति।
सर्वं तदस्तु ते घृतम् ॥२१॥

पदार्थः—(यत्=या) जो (उपजिह्विका) गन्ध से आकृष्ट होकर भीतर प्रविष्ट होकर खाने वाला कीट खाता है और (यत्=या) जो (वम्री) अपने भक्षणीय काष्ठ आदि को मिट्टी से ढककर भीतर ही भीतर खाजाने वाली—दीमक (अतिसर्पति)

आक्रमण करती हैं—(सर्वं तद्) वे सभी हिंसक दोष (ते) आप परमेश्वर के (घृतं) घृत के समान सेवनीय बनें। उनका आप सेवन कीजिये ॥२१॥

भावार्थः मानव के शरीर में, मन में तथा इनके द्वारा उसके आत्मा में भी ऐसे दोष, दुर्भाव प्रविष्ट हो जाते हैं जो घुण के समान इसको जर्जरित कर देते हैं—उनसे बचाव परमेश्वर की शरण में जाने से—उसके गुणों का निरन्तर वर्णन करने से—होता है ॥२१॥

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः ॥२२॥

पदार्थः—(मर्त्यः) मानव (अग्नि) यज्ञार्थ भौतिक अग्नि को (इन्धानः) प्रदीप्त करता हुआ; (मनसा) अपनी मनन शक्ति द्वारा (धियं) अपनी धारणावती बुद्धि को इस प्रकार (सचेत) सम्बुद्ध करे—मन ही मन अपना ऐसा विचार करे कि मैं तो (विवस्वभिः) विविध स्थानों पर पहुँचनेवाली, अन्धकार को दूर करने वाली किरणों—ज्ञानज्योतियों द्वारा (अग्नि) ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर को ही (इन्धे) अपने अन्तःकरण में प्रदीप्त=जागृत कर रहा हूँ ॥२२॥

भावार्थः—यज्ञाग्नि, उस ज्योतिःस्वरूप परमाग्नि का ही प्रतीक है। इसको यज्ञार्थ प्रदीप्त किया जाता है। इसे प्रदीप्त करते हुए मानव को परम ज्योति परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। वह हमारे अज्ञानान्धकार को दूर भगाता है। उसकी स्तुति करना, उसे प्रदीप्त करना है ॥२२॥

अष्टम मण्डल् में यह एकसौ-दोवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्दशर्चस्य त्र्यधिकशततमस्य सूक्तस्य—ऋषिः—१—१४ सोभरिः काण्वः ॥ देवता—१—१३ अग्निः । १४ अग्निर्मरुतश्च ॥ छन्दः—१, ३, १३, विराड्बृहती । २ निचृद्बृहती । ४ बृहती । ६ आर्चीस्वराड्बृहती । ७, ९ स्वराड्-बृहती । ५ पङ्क्तिः । ११ निचृत्पङ्क्तिः । ८ निचृदुष्णिक् । १२ विराडुष्णिक् । १० आर्चीभुरिग्गायत्री । १४ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—४, ६, ७, ९, १३ मध्यमः । ५, ११ पञ्चमः । ८, १२ ऋषभः । १० षड्जः । १४ गान्धारः ॥

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः ।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्त नो गिरः ॥१॥

पदार्थः—(यस्मिन्) [जिस पथप्रदर्शक के अनुसन्धान करने के लिये] (व्रतानि) संकल्पाधारित कर्मों ब्रह्मचर्यपालन आदि, को (आ दधुः) हमने धारण किया था वह (गातुवित्तमः) सर्वोत्तम मार्गवित्(अदर्शि) दिखाई देगया। (सु जातं) सम्यक्तया समिद्ध (आर्यस्य वर्धनं) उन्नतिपथ के पथिक के प्रोत्साहक, (अग्निं) इस ज्ञानरूपी तेजःस्वरूप परमेश्वर को (अस्माकं गिरः) हमारी वाणियां (उपो नक्षन्त) उसके समीप पहुँच ही जाती हैं ॥१॥

भावार्थः—प्रभु प्राप्ति का हठ संकल्प लेकर उसके लिये प्रयत्न करने वाले का मार्गदर्शन स्वयं भगवान् कराते हैं। उस मार्गदर्शक को अपने समीप प्राप्त कराने का साधन, निश्चय ही, उसका गुणानुवाद ही है ॥१॥

प्र दैवोदासो अग्निर्देवाँ अच्छा न मज्मना।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि ॥२॥

पदार्थः—(दैवोदासः) प्रकाश का देने वाला (अग्निः) सूर्य (न) मानो कि (मज्मना) अपने बल के द्वारा नहीं अपितु स्वभावतया ही (नाकस्य) स्वर्लोक की (सानौ) चोटी पर (तस्थौ) बैठा हो; वह (अनु) अनुक्रम से (मातरं पृथिवीं अच्छा) निर्मात्री पृथिवी की ओर (देवान्) अपनी प्रकाश-किरणों को (प्र) प्रकृष्टता से (वि वावृते) चक्राकार रूप में लौटाता है॥ अथवा—ज्ञान-प्रकाश का दाता परमेश्वर, जो बल से नहीं, स्वभावतः ही परम सुख की उच्च स्थिति में विद्यमान है, अनुक्रम से निर्मात्री पृथिवी पर स्थित मनुष्यों को अपनी ज्ञान-किरणें लौटाता है ॥२॥

भावार्थः—जैसे पृथिवी लोक पर भौतिक प्रकाश स्वर्लोक स्थित सूर्य से प्राप्त होता है वैसे ही मनुष्यों को ज्ञान का प्रकाश उच्चतम सुखमयी स्थिति में विद्यमान परमेश्वर से मिलता है; ज्ञानरूपी प्रकाश प्राप्त करने के लिये उस से ही याचना करनी चाहिये ॥२॥

यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः।
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं धीभिः सपर्यत ॥३॥

पदार्थः—(चर्कृत्यानि) बार-बार कर्त्तव्य कर्मों को (कृण्वतः) करते हुए (कृष्टयः) कर्मरूप बीज की कृषि करते हुए मनुष्य (यस्मात्) जिसके कारण (रेजन्ते) चमकते हैं—उस (अग्निं) परमेश्वर को, जो (सहस्रसां) अनन्तदान देता है, (मेधसातौ इव) मानो कि पवित्रता के बंटवारे के अवसर पर ही, (त्मना) अपने आप (धीभिः) मनन क्रियाओं द्वारा (सपर्यत) सेवन करो ॥३॥

भावार्थः—परम प्रभु ने नाना प्रकार के दान दिये हैं–उसके गुणों के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा मनुष्य की बुद्धि, उसकी विचारधारा, पवित्र होती है, पवित्र बुद्धि वाला साधक अपने कर्त्तव्य कर्मों को करता हुआ एक अभूतपूर्व आभा से आलोकित हुआ रहता है ॥३॥

प्र यं राये निनीषसि मर्तो यस्ते वसो दाशत् ।

स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥४॥

पदार्थः— हे (वसो) [अपने प्रदान किये, बल, विज्ञान, धन आदि द्वारा] बसाने वाले प्रभो ! (यः मर्तः) जो मरणशील मनुष्य (ते) आप को (दाशत्) आत्म-समर्पण कर देता है तथा आप (राये) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (यं निनीषसि) जिसका पथ प्रदर्शित करते हैं; हे (अग्ने) ज्योतिः-स्वरूप ! (सः) वह उपासक (उक्थशंसिनं) वेदवचनों के वक्ता, (सहस्रपोषिणं) सहस्रों के पोषक (वीरं) वीर पुत्र को (धत्ते) प्राप्त करता है ॥४॥

भावार्थः— परमेश्वर सब को बसाता है—ऐश्वर्य-प्राप्ति का मार्ग भी वही दिखाता है—वीर सन्तान भी उसी की कृपा से प्राप्त होती है ॥४॥

स दृळ्हे चिदभि तृणत्ति वाजमर्वता स धत्ते अक्षिति श्रवः ।

त्वे देवत्रा सदा पुरूवसो विश्वा वामानि धीमहि ॥५॥

पदार्थः—हे(पुरुवसो) बहुतों को बसाने वाले ! परमेश्वर ! जिसने आप को अपना सब कुछ सौंप दिया है। (सः) वह उपासक (दृळ्हेचित्) सुदृढ़ स्थान या स्थिति से भी, सुरक्षित स्थान में से (वाजं)ऐश्वर्य को (अभि तृणत्ति) ग्रहण कर लेता है। हम उपासक भी (देवत्रा त्वे) परमदानी आपके आश्रय में (विश्वा वामनि) सब उत्तम-उत्तम पदार्थ (सदा धीमहि) सदा प्राप्त करते रहें ॥५॥

भावार्थः—इस मन्त्र में भी प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण की भावना की प्रशंसा की गयी है। अर्थ स्पष्ट है ॥५॥

यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।

मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये ॥६॥

पदार्थः—(यः) जो परमेश्वर (वसु होता) ऐश्वर्य का दान करने वाला, (विश्वाः दयते) सबका पालन करता है और इस प्रकार (जनानां) मनुष्यों का सुख-कारी बना हुआ हैं (अस्मै) उस (अग्नये) ज्योतिःस्वरूप नेता परमेश्वर को ही (मधोः

पात्रा न) मधु से मेरे पात्रों की भांति मधुरतापूर्ण हमारी (प्रथमानि स्तोमा) पहली स्तुतियां प्राप्त हों ॥६॥

भावार्थः—परमेश्वर ही मूल दानी है; उसके गुणगान से उपासक भी दानशील बनता है—यह दानशीलता उसके ऐश्वर्य का कारण बनती है ॥६॥

अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।

उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम् ॥७॥

पदार्थः—(सुदानवः) दानभावना से भावित (देवयवः) अपने लिये दिव्यता चाहने वाले उपासक (गीर्भिः) अपनी वाणियों द्वारा (रथ्यं) सुवाहक (अश्वं) अश्व-की भांति वाहनसमर्थ आपकी (मर्मृज्यन्ते) आराधना करते हैं [मृज्=to curry आप्टे] । वह आप, हे (दस्म) वर्णनीय ! (विश्पते) प्रजाओं के पालक ! (तोके) पुत्र और (तनये) पौत्र (उभे) दोनों ही में (मघोनाम्) उदारों के (राधः) सफलता-रूप ऐश्वर्य को (पर्षि) पहुँचाइये ॥७॥

भावार्थः—प्रभु से दिव्यगुणों की अभिलाषा स्वयं दानशीलता से भावित होकर ही करनी चाहिये; दानशीलों को ही सफलतारूपी ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥७॥

प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।

उपस्तुतासो अग्नये ॥८॥

पदार्थः—हे (उप स्तुतासः) स्तुति क्रिया द्वारा स्वयं स्तुति के पात्र बने हुए उपासको ! (मंहिष्ठाय) परमदानशील, (ऋताव्ने) सत्य नियमों का ज्ञान कराने वाले, (बृहते) विशाल, (शुक्रशोचिषे) विशुद्ध ज्योतिः पुञ्ज (अग्नये) दिव्य अग्नि=पर-मेश्वर=के गीत (प्रगायत) गाओ ॥८॥

भावार्थः—संसार के सत्य, त्रिकालाबाधित नियमों की प्राप्ति=उनका ज्ञान भी परमेश्वर के गुणों का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने से ही प्राप्त होता है ॥८॥

आ वंसते मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः ।

कुविन्नो अस्य सुमतिर्नवीयस्यच्छा वाजेभिरागमत् ॥९॥

पदार्थः—(द्युम्नी) अज्ञानान्धकार की निवृत्ति द्वारा स्वयं प्रकाशमान, (आहुतः) स्तुतिरूप आहुतियां जिसको दी गई हैं तथा (समिद्धः) इस प्रकार जागृत

किया गया (मघवा) उदार ऐश्वर्यशाली परमेश्वर (वीरवत्) वीरताशाली कीर्ति (आ वंसते) पहुँचाता है। (अस्य) इस, उद्भावित ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की, (नवीयसी) सदा प्रस्तुत की जाने के कारण नित नयी (सुमतिः) अनुग्रह बुद्धि (नः अच्छा) हमारी ओर (वाजेभिः) सभी समृद्धियों सहित (आगमत्) प्राप्त हो ॥९॥

भावार्थः—वेदवाणी द्वारा नित्य गुणगान करके प्रभु की शक्ति की अनुभूति अन्तःकरण में उद्बुद्ध की जाती है। अन्तःकरण में उद्भावित प्रभु उपासक पर नित्य नये-नये अनुग्रहों की वर्षा करता है ॥९॥

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम्।
अग्निं रथानां यमम् ॥१०॥

पदार्थः—हे (आसाव) अभिषव करने वाले, सृष्ट पदार्थों का सार तथा उन का ज्ञानरूपी रस निचोड़ने वाले साधक! (रथानां) आनन्दों के (यमं) नियामक—[जीव को उसके कर्मानुसार] नियन्त्रित आनन्द देने वाले—,(प्रियाणां) प्यारों में (प्रेष्ठम्) सबसे अधिक प्रिय (अतिथिं) अचानक ही, विना किसी नियत समय के अन्तःकरण में उद्भूत हो जाने वाले (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति कर ॥१०॥

भावार्थः—ज्ञानस्वरूप परमेश्वर के गुणों का निरन्तर श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते रहना चाहिये—साधक को उसे ही अपना सबसे अधिक प्रिय समझना चाहिये—पदार्थों के ज्ञान के साथ-साथ उसका महत्त्व जब हृदयङ्गम होगा तो वह भी अचानक उद्भूत हो जायेगा ॥१०॥

उदिता यो निदिता वेदिता वस्वा यज्ञियो ववर्तति।
दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो धिया वाजं सिषासतः ॥११॥

पदार्थः—(वेदिता) ज्ञान प्रदाता, (यज्ञियः) पूजनीय परमेश्वर (निदिता) इस सृष्टि में निहित (वसु) वसाने वाले पदार्थों को (उदिता) हमारे अन्तःकरण में उदिता = उद्भूत होने पर (आ, ववर्तति) वार-वार लौटबदल कर रखता है।(धिया) धारणावती, शुभगुणों का आधान कराने वाली प्रज्ञा के साथ-साथ (वाजं) बोध तथा अन्य विविध ऐश्वर्यों को (सिषासतः) देना चाहते हुए (यस्य) जिस ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की (ऊर्मयः) आच्छादक कृपायें (प्रवणे) भक्त पर (दुष्टराः) प्रशस्यतम रूप में बरसती हैं—(इव) जैसे कि (प्रवणे) ढालू तल पर पड़ने वाली (ऊर्मयः) जल धारायें (दुष्टराः) अजेय होती हैं ॥११॥

भावार्थः—परमेश्वर तो स्वरचित सारे ऐश्वर्य को वार-वार हमारे

सन्मुख फिराता रहता है और उनका ज्ञान देना चाहता है। भक्त को वह धारणावती प्रज्ञा भी देता है जिसकी सहायता से वह परमेश्वर की इस प्रशस्ततम कृपावृष्टि को सहन कर उससे लाभ उठाता है॥११॥

मा नो हृणीतामतिथिर्वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः।

यः सुहोता स्वध्वरः ॥१२॥

पदार्थः—(यः) जो (एषः) यह (पुरुप्रशस्तः) बहुत प्रकार प्रशंसनीय, (सुहोता) सुष्ठु दाता एवं आदाता, (स्वध्वरः) इसीलिये उत्तम यज्ञकर्ता है; (वसुः) बास देने वाला (अग्निः) ज्ञान एवं ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर है उस (अतिथिम्) अतिथिवत् अचानक हमारे अन्तःकरण में समुद्भूत हो जाने वाले को (नः) हम में से कोई भी (मा हृणीथाः) रुष्ट न करे ॥१२॥

भावार्थः—बोधदाता परमेश्वर ज्ञानयज्ञ का श्रेष्ठ 'होता' है, वह हमें देता ही रहता है; परन्तु यह तो भक्त की श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने की शक्ति पर निर्भर है कि वह कब उसके अन्तःकरण में आ विराजमान होता है। वह जब भी आवे, उसका स्वागत करो—रुष्ट मत करो ॥१२॥

मो ते रिषन्ये अच्छोक्तिभिर्वसोऽग्ने केभिश्चिदेवैः।

कीरिश्चिद्धि त्वामीट्टे दूत्याय रातहव्यः स्वध्वरः ॥१३॥

पदार्थः—हे (अग्ने) ज्ञान व तेजःस्वरूप (वसो) वासप्रदाता परमेश्वर ! जो साधक (अच्छोक्तिभिः) शोभन वचनों द्वारा, और (कैः) सुखकर (एवैः चित्) प्रशस्त कर्मों द्वारा भी आपकी स्तुति करते हैं (ते) वे (मोरिषन्) कभी कष्ट नहीं पाते। क्योंकि (कीरिः चित्) तेरा गुणगान करने वाला तो (रातहव्यः) देनेयोग्य अपना सर्वस्व आपको समर्पित किये हुए, इसीलिये (स्वध्वरः) यज्ञ का सुष्ठु अनुष्ठाता बना हुआ (दूत्याय) दिव्य गुण धर्मों के सन्देशवाहकत्व के लिये (त्वां ईट्टे) आपको ऐश्वर्य का हेतु बनाता है ॥१३॥

भावार्थः—परमेश्वर अपने आदर्श से दिव्यगुणों का सन्देशवाहक है। उसके गुणों का गान साधक को दिव्य गुण धारण करने की प्रेरणा देता है। इसीलिये परमेश्वर की सच्चे मन से स्तुति करने वाले ऐसा कोई कर्म नहीं करते जो उन्हें हानि पहुँचावे ॥१३॥

आग्ने याहि मरुत्सखा रुद्रेभिः सोमपीतये ।
सोभर्या उप सुष्टुतिं मादयस्व स्वर्णरे ॥१४॥

पदार्थः—हे (अग्ने) ज्ञान व तेज:स्वरूप प्रभो ! आप (मरुत्सखा) इन्द्रियों के मित्र हैं; (सोमपीतये) सृष्ट पदार्थों का पान करने वाले मुमु साधक के हितार्थ [सोमानां, सूयन्ते ये पदार्था स्तेषां पीतिः पानं यस्य तस्मै ऋ० द० ऋ० १-२-३] (रुद्रैः सह) रुद्रों [प्राण अपान आदि दस प्राणों और जीवात्मा के साथ](आ याहि) मेरे अन्त:करण में उद्भूत होइये । पुनश्च (सोभर्याः) सुष्ठुतया निर्वाह समर्थ, (स्वर्णरे) दिव्यसुखयुक्त मुमु नेतृत्वगुण विशिष्ट साधक के अन्त:करण में (सुष्टुतिं) मेरे द्वारा की गई शोभन स्तुति = गुणगान = को लक्ष्य करके (मादयस्व) प्रसन्न होइये ॥१४॥

भावार्थः—जो साधक सृष्ट पदार्थों का बोध प्राप्त करने के लिये अपनी ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियों को परमेश्वर की आज्ञानुसार संचालित करता है, प्राणशक्तियां उसके नियन्त्रण में आजाती हैं और फिर परमेश्वर को वह अपने शुद्ध एवं बलशाली अन्त:करण में प्रदीप्त कर लेता है। उस दिव्य-सुख से सुखी अन्त:करण से प्रतिध्वनित परमेश्वर के गुणगान मानो पर-मेश्वर को ही आनन्दित करते हैं ॥१४॥

अष्टम मण्डल में यह एकसौतीनवां सूक्त समाप्त हुआ ॥

॥अष्टमं मण्डलं समाप्तम् ॥

* ओ३म् *

वेदभाष्य के लिए दानदाता महानुभाव

जिन्होंने ५०००) रुपया प्रदान किया

१. श्री मन्त्रीजी आर्यसमाज काकड़वाड़ी, गिरगांव, वी० पी० रोड बम्बई ५०००)

२. श्री जयदेवजी आर्य, ३१० सत्य बिल्डिंग, शीर्ष सर्किल, बम्बई-२२ ५०००)

३. श्री ओ० पी० गोयल—मैसर्स एयर ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन,
३/५ आसफअली रोड, नई दिल्ली-१ ५०००)

४. मैसर्स रैनबक्सी लेबोरेट्रीज प्रा० लिमिटेड, ओखला, नई दिल्ली ५०००)

५. श्री सरदारीलालजी अग्रवाल, C/O वेल्डन इलैक्ट्रिकल्स बम्बई ५०००)

६. श्री सेठ योगेन्द्र भाई मफतलालजी बम्बई ५०००)

७. श्री आदित्य प्रतापसिंह शूरजी, कच्छ कैसल, वी० पी० रोड, बम्बई ५०००)

८. श्री मैसर्स मोहन मिकिन ब्रुरीज, मोहननगर-गाजियाबाद ५०००)

९. श्री सदाजीवितलालजी, पंजाबी चन्दू हलवाई, बम्बई ५०००)

१०. श्री पी० डी० सिंहजी, राजगृह, २९ रास्ता, बान्द्रा, बम्बई ५०००)

११. श्री मा० शिवचरणदास जी, ११३ दरयागंज, दिल्ली-६ ५०००)

जिन्होंने ३२००) रु० प्रदान किया

१. श्री सेठ धरमसी मूलराज खटाऊ, दि खटाऊ मकनजी स्पिनिंग
एण्ड वीविंग कं० लि०, लक्ष्मी बिल्डिंग, बेलार्ड स्ट्रीट, बम्बई-१ ३२००)

जिन्होंने २०००) रु० प्रदान किया

१. श्री आर० के० मेहरा चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा श्री मोहनलाल
भयाना, सी० ५४ महारानी बाग, नई दिल्ली-१४ २०००)

जिन्होंने १००१) रु० प्रदान किया

१. श्री जगदीश चड्ढा जी द्वारा पावर इंजीनीयरिंग कम्पनी,
४९५ । ४९७ कालबादेवी रोड, बम्बई-२ — १००१)
२. मैसर्स मोहिन्द्रनाथ एण्ड कम्पनी, डब्ल्यू ९०, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली — १००१)
३. श्री के० एस० दिग्विजय सिंह जी, दरबारगढ़ खरेड़ी, जामनगर — १००१)
४. श्री जोशी बुढ़ा काका महिम हलवा वाला बम्बई — १००१)
५ श्री मैसर्स ब्रजवासी दुग्धालय प्रा० लि० कालबादेवी रोड बम्बई — १००१)

जिन्होंने १०००) रु० प्रदान किया

१. श्री डा० दु:खनराम जी, ब्रजकिशोर पथ, पटना (बिहार) — १०००)
२. श्री बा० सोमनाथ जी मरवाहा एडवोकेट, ८ मलकागंज, दिल्ली-७ — १०००)
३. श्री दीवान रामशरणदास जी मण्डी केसरगंज, लुधियाना — १०००)
४. श्री सेठ भगवतीप्रसाद जी गुप्त, सागर विहार होटल, बम्बई — १०००)
५. श्री बाबूलालजी गुप्त, बुद्धिभवन, सूबे की गोठ, लश्कर (ग्वालियर) — १०००)
६. श्री पं० मनोहर जी विद्यालंकार, ईश्वरभवन, खारीबावली, दिल्ली-६ — १०००)
७. श्री ला० ज्योति प्रसादजी प्रधान आर्यसमाज दीवानहाल, दिल्ली-६ — १०००)
८. श्री गजानन्द जी आर्य, ९६ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता-७ — १०००)
९. श्री राय साहब चौधरी प्रतापसिंह जी, माडल टाऊन, करनाल — १०००)
१०. श्री ला० दीवानचन्द जी २३ बी पूसा रोड, नई दिल्ली-५ — १०००)
११. श्री सत्याचरण शर्मा, रिटायर्ड फोरेस्टरेंजर पाटी गली के
आगे, मुहल्ला छपेटी, इटावा (उ० प्र०) — १०००)
१२. श्री स्वामी देवानन्द जी महाराज ग्राम कुनकुरा पो० इचौली (मेरठ) — १०००)
१३. श्रीमती प्रेमदेवी दर्गन, द्वारा श्री आसकरन दास सरदाना,
८, सरक्यूलर एवेन्यू, ईस्ट नांगल टाऊन शिप (पंजाब) — १०००)
१४. श्री गोविन्द भाई के० नन्दवाना, २५६ वी० पी० मार्ग बम्बई-४ — १०००)
१५. श्री ओम्प्रकाश जी मेहरा, प्रेम कुटीर, थर्ड फ्लोर, मैरिन ड्राईव, बम्बई — १०००)
१६. श्री रतनचन्द जी सूद, श्री रतनचन्द चैरीटेबल ट्रस्ट,
१९ गार्फलिक रोड, नई दिल्ली-३ — १०००)
१७. श्री गुलजारीलाल जी आर्य, ८०।८२ नागदेवी स्ट्रीट, बम्बई-३ — १०००)
१८. श्री गण्डाराम जी मेहता, भारत टिम्बर, रे० रोड, बम्बई-१० — १०००)
१९. श्री जीवनदास जी चरला, मलकागंज, दिल्ली-७ — १०००)

२०. श्री श्रवणकुमार जी विद्यालंकार, देसरी (बिहार) १०००)
२१. श्री हरिश्चन्द्र जी खन्ना, म० न० ३४७, गली परजा, अमृतसर १०००)
२२. श्री डा० जगन्नाथ जी, भगवती देवी, कूचा घासीराम, दिल्ली-६ १०००)
२३. श्रीमती माता जानकी देवी जी तथा पुत्र श्री किशनदास जी,
२६५ कूचा घासीराम, फतेहपुरी, दिल्ली-६ १०००)
२४. मै० अमर डाई स्टफ्स कम्पनी, अतुल प्रोडक्ट्स, क्लाथमार्केट दिल्ली-६ १०००)
२५. श्री मन्त्री जी आर्यसमाज, आर्यसमाज रोड, जामनगर (गुजरात) १०००)
२६. श्री रामजीप्रसाद जी गुप्त, पूर्णमासी भवन, मुगलसराय (वाराणसी) १०००)
२७. श्री आचार्य जी गुरुकुल सूपा (जि० नवसारी) गुजरात १०००)
२८. मैसर्स हरिनगर शुगर मिल्स बम्बई, द्वारा श्री राजा नारायण लाल,
मालावार हिल, बम्बई १०००)
२९. श्री डा० नारायण दास जी, फिजीशियन एण्ड आई स्पेशलिस्ट,
फैंसी बाजार, गोहाटी (आसाम) १०००)
३०. श्री लेखराज जी गुप्त, ४७ ए जैसावाला फोर्ट, बम्बई १०००)
३१. श्री राजेश गुप्ता जी, १०३२८ मोतियाखान, नई दिल्ली-५५ १०००)
३२. श्री जगदीशचन्द्र भयाना जी, आर ४१ ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली-४८ १०००)
३३. मैसर्स कंवर किशन सिंह भयाना एण्ड कं०, सी० ५४ महारानी बाग,
नई दिल्ली-१४ १०००)
३४. पन्नालाल जी मित्तल, सुभाष नगर, देहरादून (उ० प्र०) १०००)
३५. श्री मन्त्री जी आर्यसमाज दीवानहाल, दिल्ली-६ १०००)
३६. श्री मन्त्री जी आर्यसमाज बाजार श्रद्धानन्द, अमृतसर (पंजाब) १०००)
३७. श्री मन्त्री जी, आर्य केन्द्रीय सभा, १५ हनुमानरोड, नई दिल्ली-१ १०००)
३८. श्री मन्त्री जी आर्यसमाज, १९ विधानसरणि, कलकत्ता-६ १०००)
३९. श्री मन्त्रीजी आर्यसमाज, ९४ रवीन्द्रसरणि, बड़ा बाजार, कलकत्ता १०००)
४०. श्री मन्त्री जी आर्यसमाज, बोकारो स्टील सिटी (धनबाद) बिहार १०००)
४१. श्री गुरुदास राम भण्डारी, ८३ ब्रज्यूक्रीसेण्ट एस० यू० कैलगरी,
१४ अलबर्टा, कनाडा १०००)
४२. श्री एल० के० नन्दवाना जी, प्यूपिल्स बैंक बिल्डिंग, थर्ड फ्लोर,
भद्र, अहमदाबाद-६ १०००)
४३. श्री ओंकारनाथ जी, १५४ रे० रोड, बम्बई-१० १०००)
४४. श्री छगनलाल जी विजयवर्गीय, बेगम बाजार, हैदराबाद १०००)
४५. श्री बनवारीलाल राधेमोहन जी, श्रद्धानन्द बाजार, दिल्ली-६ १०००)

४६. श्री मन्त्री जी आर्यसमाज करौलबाग, नई दिल्ली-५ १०००)
४७. श्री वीरेन्द्र जी एम० ए० जालन्धर १०००)
४८. श्री नारायणदास जी जुनेजा, बान्द्रा, बम्बई १०००)
४९. श्री ला० रामगोपाल जी शालवाले मोती बाजार चांदनी चौक दिल्ली १०००)
५०. श्री आनन्दीलाल पोद्दार चैरीटेबल ट्रस्ट, ३६ चौरंगी रोड कलकत्ता १०००)
५१. श्री राधा कृष्ण जी जालान, जालान हाऊस, झरिया १०००)
५२. श्री बालगोविन्द जी एडवोकेट, राँची
(द्वारा श्री डा० डी० राम जी सभाप्रधान) १०००)
५३. श्री रघुवीरप्रसाद गुप्त २२३/डी० विधानसरणि कलकत्ता-६ १०००)
५४. श्री लक्ष्मीनारायण राधाकिशन कटरा प्यारेलाल चांदनी चौक दिल्ली १०००)
५५. श्री शिवचरणलाल जी, बम्बई १०००)

सभी दान दाताओं का हार्दिक धन्यवाद

ओम्प्रकाश त्यागी

मन्त्री—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, नई दिल्ली-१

गुरुकुल भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वाराणसी।
आगत क्रमांक....1466....
दिनांक....18/12/80....

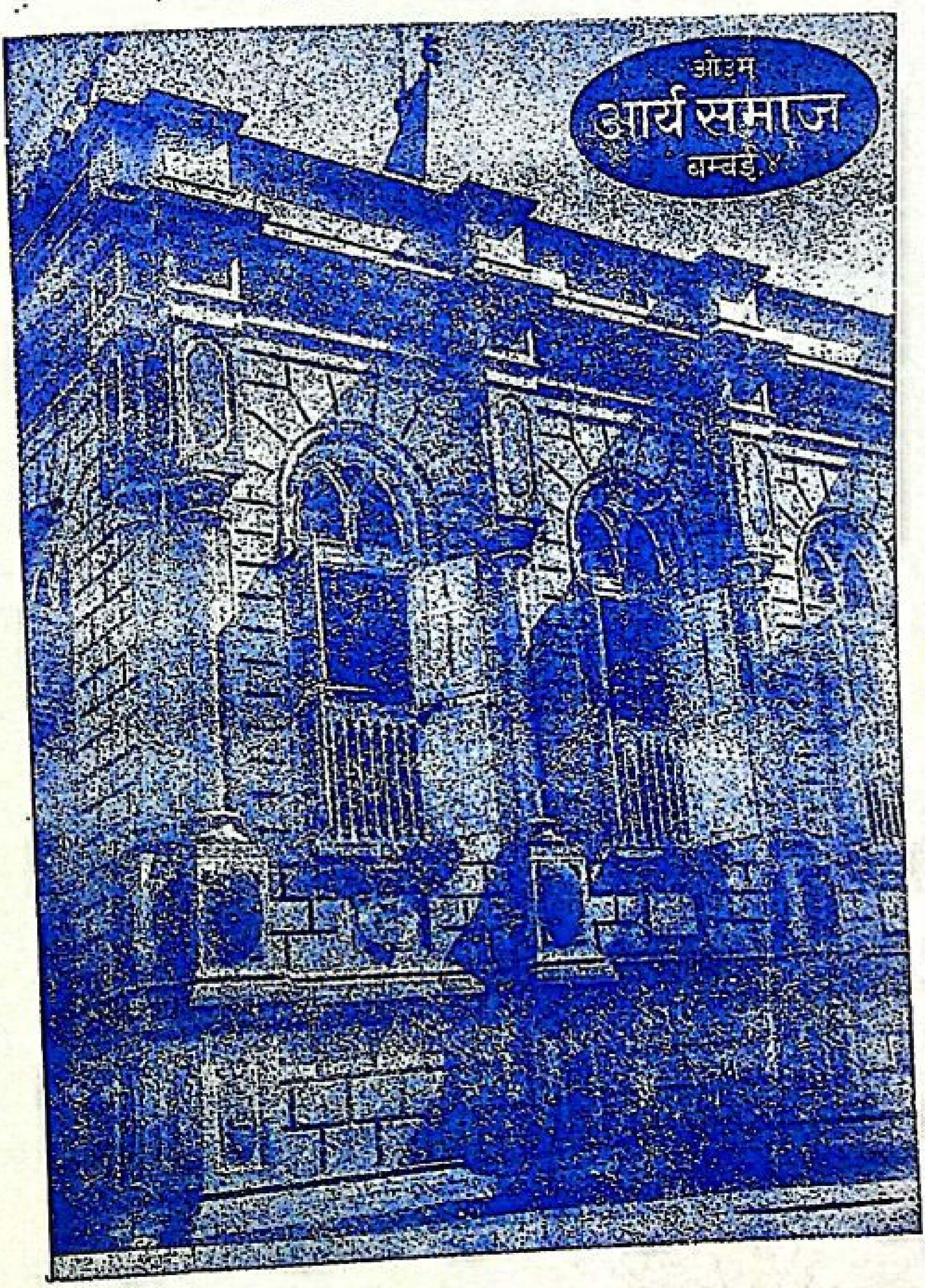

आर्यसमाज काकड़वाड़ी

विट्ठलभाई पटेल रोड, बम्बई-४ ने वेदभाष्य प्रकाशनार्थं
पाँच हजार रुपये प्रदान किये—धन्यवाद !

पाँच हजार रुपया वेदभाष्य प्रकाशनार्थ देने वाले महानुभाव

श्री ओ० पी० गोयल जी दिल्ली

श्री जयदेव जी आर्य बम्बई

माननीय श्री सेठ प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास बम्बई ने
अपने चि० सुपुत्र श्री आदित्य जी के शुभ विवाह के
अवसर पर ५०००) रुपये सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि
सभा नई दिल्ली को वेदभाष्य के प्रकाशन में
सहायतार्थ प्रदान किये ।

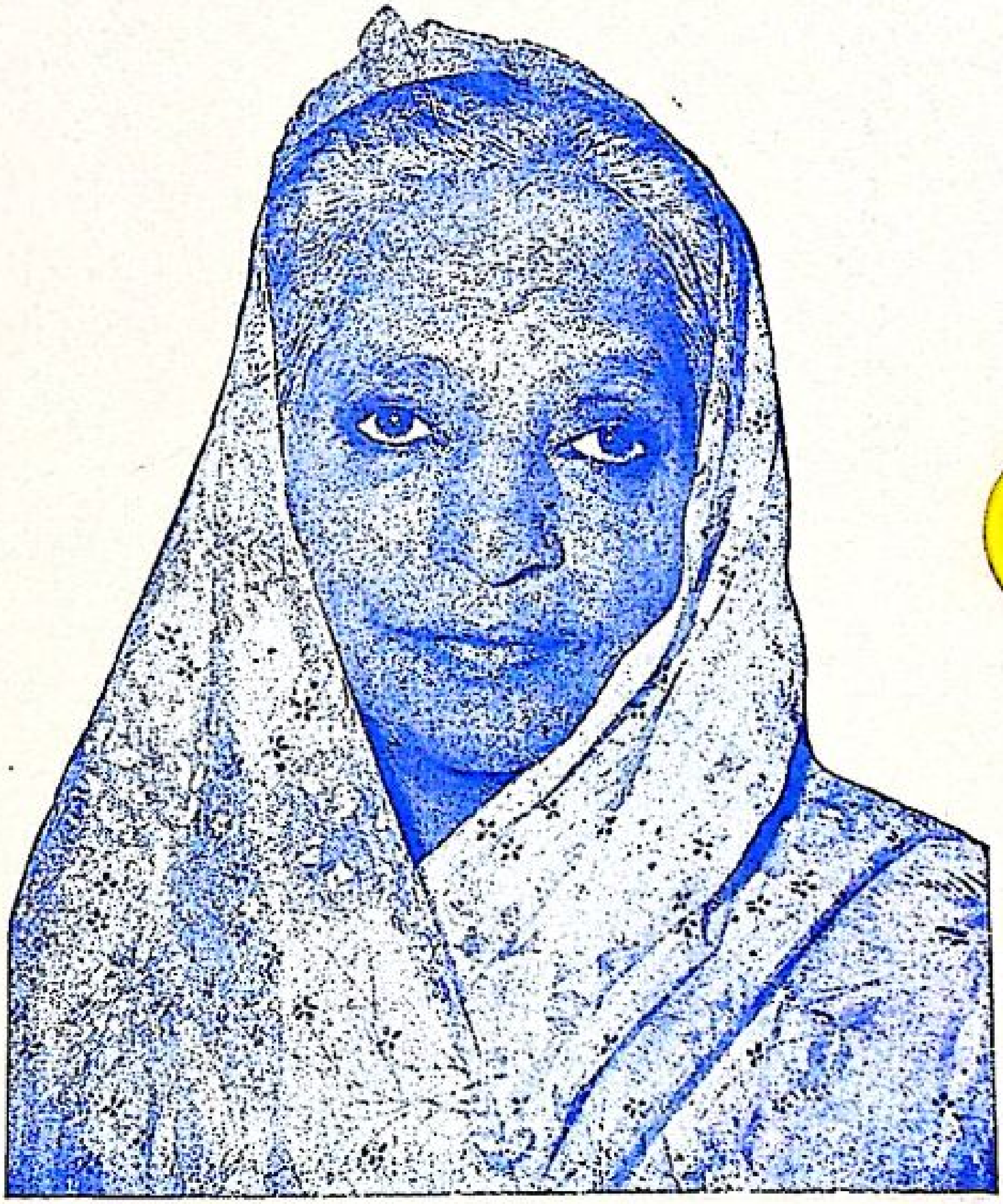

धर्मपरायणा स्व० श्रीमती राजदेवी जी

(धर्मपत्नी श्री प्रद्युम्नसिंह जी बम्बई)

आपका ३१-८-७२ को बम्बई में स्वर्गवास हो गया। आपने अपने जीवनकाल में ही वेदभाष्य की सहायतार्थ सभा को ५०००) रुपये प्रदान करने का संकल्प किया था।

श्रीयुत भाई ज्ञानचन्द जी

आपके सुपुत्र श्री भाई मोहनसिंह जी, मैनेजिंग डायरेक्टर रैनबक्सी लेबोरेट्रीज ओखला दिल्ली ने ५०००) वेदभाष्य के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली को सहायतार्थ प्रदान किये।

वेद वेदांग विद्यालय
ग्रन्थालय

श्री स्वामी चिन्मयानन्द जी महाराज

आपके श्रद्धालु भक्त श्री सदा-जीवितलाल जी बम्बई निवासी ने पांच हजार रुपये वेदभाष्य के लिए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली को प्रदान किये।

श्री मास्टर शिवचरणदास जी

दरियागंज दिल्ली ने वेदभाष्य की सहायतार्थ पांच हजार रुपये प्रदान किये।